श्री

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान—मानवाश्रम के

प्रधान—संरक्षक

महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग

के

समर्थ करकमलों में

संस्थान की ओर से सम्मान पूर्वक

समर्पित



महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

अपनी सहजसिद्धा संस्कृतिनिष्ठा के सहज आकर्षण से 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के 'प्रधानसंरक्षक' बन जाने की जिस अनुमति से संस्थान को आपने अनुगृहीत किया है, तत्कृतज्ञता—ज्ञापनार्थ ही 'बुद्धियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड) नामक प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीमान् के समर्थ करकमलों में अत्यन्त सम्मान, तथा विनयपूर्वक समर्पित किया जारहा है।

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर)
माघशुक्ल-वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०१५

आत्यन्तिकरूप से विनम्र—
मोतीलाल शर्म्मा
आङ्गिरस भारद्वाज
(जयपुर)



गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक–तृतीय खण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षा' ('ग' विभागात्मक)

पूर्वखण्ड

"बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त' सतत भव"

निबन्धा—

मोतीलालशर्म्मा–वेदवीथीपथिकः–

आङ्गिरसो भारद्वाज

जयपुरमाभिजनः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा
प्रकाशित

एवं—श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा–जयपुर के द्वारा
मुद्रित

★★★

बुद्धियोगसंस्मरणम्—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ॥
"बुद्धिं" तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥१॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ॥
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२॥ (कठोपनिषत् १।३।३,९)।
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ॥
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो 'बुद्ध्या' शुभया संयुनक्तु ॥३॥ (श्वे० ३।४)।
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ! ॥
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४॥ (गीता २।४१)।
दूरेण ह्यवरं कर्म्म 'बुद्धियोगात्' धनञ्जय ! ॥
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥५॥ (गीता २।४९)।
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥६॥ (गीता २।५२)।
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥७॥ (गीता २।५३)।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥८॥ (गीता २।६५)।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि 'बुद्धियोगं' तं येन मामुपयान्ति ते ॥९॥ (गीता १०।१०)
'बुद्धियुक्तो' जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥१०॥ (गीता २।५०)।
चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥
'बुद्धियोग' मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥११॥ (गीता १८।५७)।



श्री

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बुद्धियोगपरीक्षा
पूर्वखण्ड की
प्रस्तावना, परिलेख तथा विषयसूची



श्री —

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'सर्वान्तरतमपरीक्षा' त्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड ग विभाग)

के सम्बन्ध में

किमपि प्रास्ताविकम्—

'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत्' नामक गीताशास्त्र भारतीय ज्ञान–विज्ञानकोश का एक वैसा अमूल्य भण्डार है जिसे हम प्राजापत्यशास्त्र (वेदशास्त्र) के ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक रहस्यपूर्ण विषयों का 'सूचीग्रन्थ' कह सकते हैं। वेदशास्त्र की तात्त्विक परिभाषायें ब्रह्म, तथा यज्ञ भेद से दो स्वतन्त्र धाराओं में प्रवाहित हैं। ब्रह्मतत्त्व का विश्लेषण करनें वाली परिभाषायें ज्ञानप्रधाना हैं एवं 'यज्ञतत्त्व' का विश्लेषण करनें वाली परिभाषायें विज्ञानप्रधाना हैं। 'ज्ञान' का ब्रह्म से सम्बन्ध है, एवं विज्ञान का यज्ञ से सम्बन्ध है। एकत्वनिबन्धन ज्ञानैकघन ब्रह्म ही नानात्वनिबन्धन विज्ञानैकघन यज्ञ की प्रतिष्ठा माना गया है, जैसाकि–'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत ब्रा० ६। १। १। ८) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अनन्त–असख्य–भावात्मक यह सम्पूर्ण चराचर विश्व ही 'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' लक्षण के अनुसार विज्ञान का मूर्त्त स्वरूप है, यही ईश्वरीय प्राकृतिक नित्य यज्ञ की स्वरूप–व्याख्या है। निश्चयेन नानाभावापन्न विज्ञानात्मक यज्ञस्वरूप इस विश्व का इसप्रकार अनेकरूप से उस ज्ञानैकघन एक ब्रह्म के आधार पर ही वितान हुआ है। यह सम्पूर्ण यज्ञवैभव उस एक ही ब्रह्म का मूर्त्त वैभव है, जिस वैभव का श्रुति ने यों यशोगान किया है—

> एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूत ।
> एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
>
> —ऋक्संहिता ८। ५८। २।

इसी दृष्टिकोण के आधार पर वेदविद्या को ब्रह्मविद्या, यज्ञविद्या, भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है किया गया है। मूलविद्या ब्रह्मविद्या है, तूलविद्या यज्ञविद्या है। केन्द्रविद्या मूलविद्या है, पृष्ठविद्या तूलविद्या है। ज्ञानप्रधाना एकत्वनिबन्धना इयमा ब्रह्मविद्या ही 'मन्त्रविद्या' है एवं विज्ञानप्रधाना नानात्वनिबन्धना पृथ्या यज्ञविद्या ही 'ब्राह्मणविद्या' है।

मन्त्रविद्यात्मक वेदभाग ही मूलवेद है, सूत्रवेद है। एवं ब्राह्मणविद्यात्मक वेदभाग ही तूलवेद है, व्याख्यावेद है। ब्रह्म की व्याख्या ही ब्राह्मण है। और यों —'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि आर्ष-आप्त-सिद्धान्तानुसार मन्त्रब्राह्मणात्मक, किंवा ब्रह्मब्राह्मणात्मक, किंवा ज्ञानविज्ञानात्मक वेदशास्त्र ही भारतीय 'विद्याशास्त्र' का संक्षिप्त स्वरूप-परिचय बन रहा है। महाविद्यात्मिका ब्रह्म विद्या के आधार पर प्रतिष्ठिता, दूसरे शब्दों में एकत्वभावनिबन्धना ज्ञानविद्या के आधार पर प्रतिष्ठिता सत्य-सत्यात्मिका ब्रह्मविद्या, किंवा नानात्वनिबन्धना विज्ञानविद्या ही सम्पूर्ण विद्याओं का फलितार्थ है। दोनों के अतिरिक्त विद्या की और कोई स्वरूप-व्याख्या शेष नहीं रह जाती। दोनों के परिज्ञानानन्तर अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता। यही वेदशास्त्र की परिपूर्णता है, जिसका सर्वात्मना एकमात्र गीताशास्त्र ही प्रतिबिम्ब बन रहा है जैसा कि इसके निम्न लिखित प्रतिज्ञासूत्र से प्रतिध्वनित है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

—गीता ७।२।

*धर्म—ज्ञान—वैराग्य—ऐश्वर्य—यश—श्री, इन ६ प्रकार की 'भग-सम्पत्तियों' से सर्वात्मना समन्वित अतएव 'भगवान्' + नाम से प्रसिद्ध पूर्णेश्वर पूर्णावतार वासुदेव श्रीकृष्ण के मुखपद्म से गीयमान—विशदीकृत-ब्रह्मब्राह्मणात्मक ज्ञानविज्ञान ही गीताशास्त्र का स्वरूप-निरूपण है। ज्ञानप्रधाना ब्रह्मविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित विज्ञानप्रधाना योगविद्या ही सम्पूर्ण गीताशास्त्र की स्वरूप-व्याख्या है जैसा कि गीताध्यायों के 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां—योगशास्त्रे०' इत्यादि उपसंहारवाक्य से स्पष्ट प्रमाणित है।

विज्ञानात्मक विश्व ही 'योग' का स्वरूप-परिचय है, जो कि यह विश्वात्मक योग पूर्वकथनानुसार ब्रह्म पर ही प्रतिष्ठित है। इधर वह ब्रह्मतत्त्व अपने विभूतिभाव से क्रमशः—

*ऐश्वर्यस्य च समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः, श्रियः ।
ज्ञान—वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरिणा ॥
+उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

अव्ययब्रह्म, अक्षरब्रह्म, आत्मक्षरब्रह्म, विश्वसृट्ब्रह्म, भेद से चार महिमाभावों में परिणत हो रहा है। इसी आधार पर–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' (श्रुति) मूलक चतुष्पाद्ब्रह्म के स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है वेदशास्त्र में। 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष , पादोऽस्येहाभवत्पुन , (यजु) के अनुसार अपने अव्यय, अक्षर आत्मक्षर, रूप तीन पादों से असंस्पृष्ट रहता हुआ ब्रह्म चौथे विश्वसृट् नामक पाद से ही विज्ञानयोगात्मक विश्व का उपादान बना करता है। विश्व को स्वमहिमा से उत्पन्न कर चतुष्पाद्ब्रह्म 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार विश्वगर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। प्रतिष्ठारूप से, अव्ययदृष्टि से वही ब्रह्म 'विश्वाधार' है, अक्षरदृष्टि से वही 'विश्वकर्त्ता' है, आत्मक्षरदृष्टि से वही 'विश्वस्रष्टा' है, एवं विश्वसृट् दृष्टि से वही 'विश्वमूर्त्ति' है। ऐसे इस ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित विज्ञानविज्ञ घन विश्वयोग का निरूपण करना ही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। यही 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' का फलितार्थ है।

'योग' के आधारभूत ब्रह्म के तथाकथित चार विवर्त्तों के कारण 'योग' भी चतुर्धा विभक्त हो रहा है। अव्ययब्रह्म से समन्वित वही योग 'वैराग्ययोग' कहलाया है। अक्षरब्रह्म से समन्वित वही योग 'ज्ञानयोग' माना गया है। आत्मक्षरब्रह्म से समन्वित वही योग 'ऐश्वर्य्ययोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं विश्वसृड्ब्रह्म से संयुक्त वही योग 'धर्म्मयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। इन चार योगों से समन्विता ब्रह्मविद्या भी चार विद्याओं में परिणत हो रही है। जो चारों विद्याएँ वेदशास्त्र की परिभाषा में जहाँ क्रमशः अव्ययविद्या, अक्षरविद्या, आत्मक्षरविद्या, विश्वसृड्विद्या, इन नामों से उपवर्णित हैं वहाँ ये ही चारों विद्याएँ गीताशास्त्र की परिभाषा में क्रमशः 'राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या, इन नामों से निरूपित हैं। अव्यय-विद्यात्मिका वैराग्यविद्या ही राजर्षिविद्या है। इस प्रथमा ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित वैराग्ययोग ही गीतापरिभाषा में 'बुद्धियोग' कहलाया है। अक्षरविद्यात्मिका ज्ञानविद्या ही सिद्धविद्या है। इस द्वितीया ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग ही गीतापरिभाषा में 'ज्ञानयोग' है। आत्मक्षरविद्यात्मिका ऐश्वर्य्यविद्या ही राजविद्या है। इस तृतीया ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्य्ययोग ही गीतापरिभाषा में 'भक्तियोग' है। विश्वसृड्विद्यात्मिका धर्म्मविद्या ही आर्षविद्या है। इस चतुर्थी ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित धर्म्मयोग ही गीतापरिभाषा में 'कर्म्मयोग' है। आरम्भ के ६ अध्यायों में (१ से ६ पर्य्यन्त) राजर्षिविद्यानुगत 'बुद्धियोग' का निरूपण हुआ है। तदुत्तर दो अध्यायों में (७–८) सिद्धविद्यानुगत 'ज्ञानयोग' का प्रतिपादन हुआ है। तदुत्तर ४ अध्यायों में (९ से १२

पर्य्यन्त) राजविद्यानुगत 'भक्तियोग' का स्पष्टीकरण हुआ है। एवं तदुत्तर सप्तक के ६ अध्यायों में (१३ से १८ पर्य्यन्त) आर्षविद्यानुगत 'कर्म्मयोग' का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। यों 'ब्रह्मविद्याओं' के फलितार्थरूप—'अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-विश्वसृट्-ब्रह्मविद्याओं' को आधार बना कर गीताशास्त्र ने 'योगों' के फलितार्थरूप 'बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों' रूप से चारों योगों का ही निरूपण किया है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१—अव्ययब्रह्म— तद्विद्या वैराग्यविद्या—राजर्षिविद्या वा—	तद्योग—वैराग्ययोग— बुद्धियोगो वा।
२—अक्षरब्रह्म—तद्विद्या ज्ञानविद्या—सिद्धविद्या वा—	तद्योग—ज्ञानयोग—ज्ञानयोगो वा।
३—आत्मक्षरब्रह्म—तद्विद्या ऐश्वर्य्यविद्या—राजविद्या वा—	तद्योग—ऐश्वर्य्ययोग—भक्तियोगो वा।
४—विश्वसृड्ब्रह्म—तद्विद्या धर्म्मविद्या—आर्षविद्या वा—	तद्योग—धर्म्मयोग—कर्म्मयोगो वा।
सैषा चतुर्विधा ब्रह्मविद्या (४)	सोऽयं चतुर्विधो योग (४)

सैषा ब्रह्मविद्यानुगता—योगप्रतिपादनपरा श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादशाध्यायी

स एष—वैज्ञानिकविषयविभागः

वेदयुगात्मक सत्ययुग में (जिसे कि पुराणशास्त्र ने 'देवयुग' भी कहा है) स्वयं अव्ययेश्वर पुरुषोत्तम भगवान् ने ही किसी अन्य शरीरविशेषावच्छिन्न योगमायामय मानवस्वरूप से सर्वप्रथम भारतीय सम्राट् विवस्वान् को ही ब्रह्मविद्यात्मक योग का उपदेश दिया था जो परम्परया राजर्षि सम्प्रदाय में सम्भवतः त्रेतायुग पर्य्यन्त निरवच्छिन्नरूप से प्रचलित रहा। आगे चल कर (संशयात्मक द्वापरयुग में) यह योगनिष्ठा कपिल की सांख्यनिष्ठा से तथा हिरण्यगर्भ की कर्म्मनिष्ठा से अभिभूत होती हुई अपने अध्यात्मनिबन्धन समन्वयभाव से सर्वथैव पराङ्मुख बन गई। इस पराङ्मुखता का प्रधान कारण बना वेदतत्त्ववाद की विस्मृति। यही कारण है कि द्वापर के अन्त में तथा कलि के आरम्भ में आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के महाभारतयुग में वेदमर्म्मज्ञनकर्त्ता

भगवान् व्यास को अपने-'सुदुर्लभा वेदविद्वांस' (महाभारत) ये उद्गार अभिव्यक्त करने पड़े। वैदिक-तत्त्ववाद के अभिभव ने ही तथाकथित बुद्धियोगसिद्धान्त को महाभारतयुग के आते आते तो सर्वथा ही विस्मृत ही करा दिया। फलस्वरूप वेदसिद्ध निष्ठापथ के स्थान में सांख्य-कर्म्म प्रतिद्वन्द्वितात्मक-धर्म्मविप्लव उपस्थित हो पड़ा तद्युग में जिसके उपराम के लिए पुनः उसी गीताशास्त्रोपदेष्टा पूर्ण पुरुष को मानुषावतार धारण करना पड़ा। देवयुग में जहाँ गीतायोग के प्रथम शिष्य विवस्वान् बने थे वहाँ महाभारत-युग में उसी योग के प्रथम शिष्य बने नरावतार इन्द्रपुत्र अर्जुन। इसी ऐतिहासिक चिरन्तन तथ्य की दृष्टि से हम महाभारत-युगानुगत गीतोपदेश को गीता का पुनःसंस्करण ही मान सकते हैं, माना जाना चाहिए।

सम्भवतः २ सहस्र वर्ष पर्य्यन्त भारतराष्ट्र इस गीतापथ का अनुगामी बना रहा तभतक, जबतक कि भारतीय प्रज्ञा वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक तात्त्विक अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त रही। नियतिचक्र के निग्रह से पुनः आगे चल कर वेदनिष्ठा शिथिल हो पड़ी। एवं तत्स्थान में लोकभावुकताओं का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया। परिणामस्वरूप पुनः गीता की बुद्धियोगनिष्ठा तो हो गई अभिभूत, एवं कल्पित मतवादों की भावुकतापरम्परा बन गई प्रधाना। मतवादाभिनिवेश-मूला इसी भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से गीताशास्त्र का वेदसम्मत दृष्टिकोण सर्वथा ही विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया, जो एकान्तवेदनिष्ठ आचार्य्यप्रवर स्व० श्रीमधुसूदनजी महाराज के अनुग्रह से पुनः नवीनरूप से व्यक्त होने जा रहा है।

वैदिक तत्त्ववाद ही इस व्यक्तिभाव की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि प्रस्तुत गीतासाहित्य से सर्वात्मना विस्पष्ट है। यह केवल मान्यता ही नहीं है, अपितु श्रद्धासमन्विता पूर्णा आस्था है कि वैदिक तत्त्ववाद को आधार बनाए बिना गीता के एक अक्षर का भी समन्वय सम्भव नहीं है। यही कारण है कि, विगत शताब्दियों में गीता पर जो भाष्य-टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं, वैदिक-तत्त्ववाद से असंसृष्ट रहने के कारण उन सभी का मान्यतानुबन्धी मतवादात्मक वैय्यक्तिक दृष्टिकोणों पर ही पर्य्यवसान है। व्याख्याताओं नें अपनी मान्यताओं के अनुसार गीता के सम्बन्ध में अपना एक सिद्धान्त बना लिया है। एवं तदनन्तर अपने इस सिद्धान्त के समन्वय के लिए ही ये व्याख्याता गीतार्थ के समन्वय में प्रवृत्त हुए हैं। उदाहरण के लिए शाङ्करों की दृष्टि में गीता यदि शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिपादिका है, तो रामानुजीय महानुभाव इसे विशिष्टाद्वैत-परक ही उद्घोषित कर रहे हैं। उधर माध्व यदि इसके द्वारा द्वैतवाद स्थापित करने के लिए आतुर हैं, तो वेदान्तनिष्ठ इसे विशुद्ध ज्ञानयोगगम्य ही मान रहे हैं। किसी एक ही निश्चित तत्त्वार्थ का प्रतिपा-

एक भी गीताशास्त्र स्वप्रतिष्ठामूल वेदशास्त्र के सैद्धान्तिक आधार से पृथक् बनाया जाकर आज यों विभिन्न वादों का अनुगामी बनता हुआ किंवा बनाया जाता हुआ 'यच्छ्रेय स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' घोषणा से सर्वथा विपरीत संशयनिवृत्ति के स्थान में संशयप्रवृत्ति का ही उपोद्बलक बनता जा रहा है अथवा तो बन गया है।

और आज तो यही गीताशास्त्र एक वैसा लौकिक साधारण साहित्य ही प्रमाणित हो गया है, जिसके परिज्ञान के लिए वेदशास्त्र की चर्चा कहें, संस्कृतभाषा का बोध भी आवश्यक नहीं समझा जा रहा। केवल अपनी काल्पनिक अनुभूति अपने मनस्तन्त्रानुवर्त्ती यथेच्छ शब्दप्रयोग, एवं आस्था-श्रद्धा-शून्य तर्क बुद्धिवाद ही गीतार्थसमन्वय के लिए पर्याप्त साधन बने हुए हैं। अपनी इन्हीं काल्पनिक मान्यताओं के कारण वर्त्तमान युग के उन अभिनव व्याख्याताओं ने-(जिनका न तो भारतीय निगमागमपुराणस्मृत्यादि शास्त्रों से ही कोई सम्पर्क है न संस्कृतभाषा का ही जिन्हें सम्यक् ज्ञान है)-अनासक्तियोग, निष्कामकर्म्मयोग, साम्यवाद, [illegible] जीवनवाद, आदि आदि अनेक ऐसे मतवादों का ही सर्जन कर डाला है, जिनका गीताशास्त्र से यत्-किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। ऐसे कल्पित वादों से तो गीता के अक्षरार्थ का भी समन्वय सम्भव नहीं है। फिर रहस्यपूर्ण पारिभाषिक तत्त्वार्थ की तो कथा ही विदूर है। गीताशास्त्र के अनेक स्थल तो ऐसे हैं जो विस्पष्टरूप से वेदवचनों के ही अनुवाद हैं।

उदाहरण के लिए- महर्षि-'दीर्घतमा' की सावित्र्यविद्या से सम्बन्ध रखने वाले आत्मगति-विज्ञान का जिस 'आतिवाहिक-त्रिलोकी' के रूप में स्वयं मूलसंहिता में विस्तार हुआ है, उसका एक मन्त्र है—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
—ऋक्संहिता १०।८८।१५।

उपर्युक्त मन्त्र का यही अर्थ है कि-"हमने पितरों, देवताओं एवं मरणधर्म्मा मनुष्यों की दो ही अवगतियाँ सुन रक्खी हैं। इस पार्थिव-विश्वप्रतिष्ठा को छोड़ कर विकम्पित होने वाले प्राणी-मात्र इन्हीं दोनों गतियों में से किसी एक गति का (कर्म्मानुसार) अनुगमन करते रहते हैं जो कि माता पृथिवी तथा द्यु पिता के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं"। उपनिषत् ने इन्हीं दोनों मार्गों का क्रमशः अर्चिमार्ग, तथा धूममार्ग, नामों से विश्लेषण किया है। उत्तरायणपथात्मक और-ज्योतिर्म्मय मार्ग अर्चिमार्ग है यही गीता के शब्दों में 'शुक्लमार्ग' है। दक्षिणायनपथात्मक

वारुण तमोमय मार्ग 'धूममार्ग' है, यही 'कृष्णमार्ग' है। मन्त्र-श्रुति ने-'द्वे सृती अशृणवम्' से इन्हीं दोनों का स्पष्टीकरण किया है, जिसका अनुवाद हुआ है गीता में इस रूप से—

शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते ॥
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥१॥
नैते सृती पार्थ ! जानन्योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥२॥

—गीता ८।२६, २७।

एवमेव गीताशास्त्र का प्रत्येक सिद्धान्त सर्वात्मना वैदिक सिद्धान्तों से ही अक्षरशः अनुप्राणित है जिस इस आर्ष-दृष्टिकोण की पुरातन-नूतन-सभी व्याख्याताओं ने आत्यन्तिक उपेक्षा कर ज्ञानविज्ञानकोशात्मक इस गीताशास्त्र को एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ ही बना डाला है। भारतीय प्रजा सम्प्रदायवाद-निरपेक्ष विशुद्ध तत्त्ववाद के आधार पर गीताशास्त्र का समन्वय कर तन्मूला आचारनिष्ठा के द्वारा अपनी भावुकता का परित्याग कर ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय-निःश्रेयसमय का अनुशीलनात्मक (अनुकरणात्मक नहीं) अनुसरण करे, एकमात्र इसी कामना से राष्ट्रभाषा हिन्दी में यह गीतासाहित्य अनुमानतः २० (बीस सहस्र) पृष्ठों में उपनिबद्ध हुआ है जिसमें से अबतक केवल ३ तीन सहस्र पृष्ठात्मक गीतासाहित्य ही प्रकाशित हो पाया है। दो शब्दों में गीतासाहित्य की रूपरेखा से भी नैष्ठिक पाठकों को अवगत करा दिया जाता है।

गीताभूमिका, गीताभाष्यस्वरूपपरिचय, गीताविज्ञानभाष्य, इस रूप से गीतासाहित्य तीन स्वतन्त्र महाखण्डों में विभाजित हुआ है जिन इन तीनों महाखण्डों के प्रत्येक के क्रमशः ६-११-३१ य अवान्तर खण्ड हुए हैं। सम्भूय ४८ अड़तालीस अवान्तर खण्डों में, तथा तीन महाखण्डों में गीतासाहित्य सम्पन्न हुआ है। अबतक 'गीताभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड के अवान्तर ६ भूमिका-खण्डों में से केवल पाँच ही खण्ड प्रकाशित हुए हैं, जिनमें पाँचवाँ यही 'बुद्धियोगपरीक्षात्मक पूर्वखण्ड' माना जा सकता है। 'माना जा सकता है'-यह इसलिए कहा गया कि वस्तुतः यह पूर्वखण्ड क्रमगणना के अनुसार ८ वाँ खण्ड है। आरम्भ में चार खण्ड तो कुछ वर्ष पूर्व हमने क्रमशः ही प्रकाशित किए थे। तदनन्तर अपनी असमर्थता के कारण सभी प्रकाशन प्रवृत्तियाँ विगत २-३-वर्षों से सर्वथा अवरुद्ध ही हो गई थीं। विगत वर्ष में पुनः 'राजस्थान वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के अनुग्रह से प्रकाशन प्रवृत्ति प्रक्रान्त हुई। इस संस्थान के प्रधान सञ्चालक मन्त्री महाभाग की इच्छा के कारण क्रमपथ की उपेक्षा कर हमें प्रस्तुत ८ वें भूमिकाखण्ड का ही प्रकाशन करना पड़ा। 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' न्याय से कुछ न होने से जो कुछ हो रहा है संस्थान के अनुग्रह से उसे ही श्रेयःपन्था मान लिया गया है। शीघ्र लिखी तालिका से यथार्थवित गीतासाहित्य की रूपरेखा से पाठक भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

एक भी गीताशास्त्र स्वप्रतिष्ठामूल वेदशास्त्र के सैद्धान्तिक आधार से पृथक् बनाया जाकर आज यों विभिन्न वादों का अनुगामी बनता हुआ किंवा बनाया जाता हुआ 'यच्छ्रेय स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' घोषणा से सर्वथा विपरीत संशयनिवृत्ति के स्थान में संशयप्रवृत्ति का ही उपोद्बलक बनता सा रहा है, अथवा तो बन गया है।

आज आज तो यही गीताशास्त्र एक ऐसा लौकिक साधारण साहित्य ही प्रमाणित हो गया है, जिसके परिज्ञान के लिए वेदशास्त्र की कौन कहे, संस्कृतभाषा का बोध भी आवश्यक नहीं समझा जा रहा। केवल अपनी काल्पनिक अनुभूति अपने मनस्तन्त्रानुवर्त्ती यथेच्छ शब्दप्रयोग एवं आस्था-श्रद्धा-शून्य रूक्ष बुद्धिवाद ही गीतार्थसमन्वय के लिए पर्य्याप्त साधन बने हुए हैं। अपनी इन्हीं काल्पनिक मान्यताओं के कारण वर्त्तमान युग के इन अभिनव व्याख्याताओं ने-(जिनका न तो भारतीय निगमागमपुराणस्मृत्यादि शास्त्रों से ही कोई सम्पर्क है न संस्कृतभाषा का ही जिन्हें सम्यक् ज्ञान है)-अनासक्तियोग, निष्कामकर्म्मयोग, साम्यवाद, [illegible]समाकुलित [illegible], आदि आदि अनेक ऐसे अवादों का ही सर्जन कर डाला है, जिनका गीताशास्त्र से यत्-किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। ऐसे कल्पित वादों से तो गीता के अक्षरार्थ का भी समन्वय सम्भव नहीं है। फिर रहस्यपूर्ण पारिभाषिक तत्त्वार्थ की तो कथा ही दूर है। गीताशास्त्र के अनेक स्थल तो ऐसे हैं जो निःसन्दिग्धरूप से वेदवचनों के ही अनुवाद हैं।

उदाहरण के लिए महर्षि-'दीर्घतमा' की सावित्र्यविद्या से सम्बन्ध रखने वाले आत्मगति विज्ञान का जिस 'आतिवाहिक-त्रिलोकी' के रूप में स्वयं मूलसंहिता में विस्तार हुआ है, उसका एक मन्त्र है—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
—ऋक्संहिता १ ।८८।१२।

अक्षरार्थ मन्त्र का यही है कि- 'हमने पितरों देवताओं एवं मरणधर्मा मनुष्यों की दो ही प्रसृतियाँ सुन रक्खी हैं। इस पार्थिव-विश्वप्रतिष्ठा को छोड़ कर विकम्पित होने वाले प्राणी-मात्र इन्हीं दोनों गतियों में से किसी एक गति का (कर्म्मानुसार) अनुगमन करते रहते हैं जो कि प्राणी माता पृथिवी तथा द्यु पिता के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं"। उपनिषत् ने इन्हीं दोनों मार्गों का क्रमशः अर्चिमार्ग, तथा धूममार्ग, नामों से विश्लेषण किया है। उत्तरायणपथात्मक भास्वर-ज्योतिर्मय मार्ग अर्चिमार्ग है यही गीता के शब्दों में 'शुक्लमार्ग' है। दक्षिणायनपथात्मक

चान्द्र-तमोमय मार्ग 'धूममार्ग' है, यही 'कृष्णमार्ग' है। मन्त्र-श्रुति ने-'द्वे सृती अशृणवम्' से इन्हीं दोनों का स्पष्टीकरण किया है, जिसका अनुवाद हुआ है गीता में इस रूप से—

शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते ॥
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥१॥
नैते सृती पार्थ! जानन्योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन! ॥२॥
—गीता ८। २६-२७।

एवमेव गीताशास्त्र का प्रत्येक सिद्धान्त सर्वात्मना वैदिक सिद्धान्तों से ही अक्षरशः अनुप्राणित है जिस इस व्याप-दृष्टिकोण की पुरातन-नूतन-सभी व्याख्याताओं ने आत्यन्तिक उपेक्षा कर ज्ञानविज्ञानकोशात्मक इस गीताशास्त्र को एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ ही बना डाला है। भारतीय प्रजा सम्प्रदायमतवाद-निरपेक्ष विशुद्ध तत्त्ववाद के आधार पर गीताशास्त्र का समन्वय कर तन्मूला आचारनिष्ठा के द्वारा अपनी भावुकता का परित्याग कर ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय-निःश्रेयस-पथ का अनुशीलनात्मक (अनुकरणात्मक नहीं) अनुसरण करे, एकमात्र इसी कामना से राष्ट्रभाषा हिन्दी में यह गीतासाहित्य अनुमानतः २००० (बीस सहस्र) पृष्ठों में उपनिबद्ध हुआ है जिसमें से अबतक केवल ... तीन सहस्र-पृष्ठात्मक गीतासाहित्य ही प्रकाशित हो पाया है। दो शब्दों में गीतासाहित्य की रूपरेखा से भी नैष्ठिक पाठकों को अवगत करा दिया जाता है।

गीताभूमिका, गीताभाष्यस्वरूपपरिचय, गीताविज्ञानभाष्य, इस रूप से गीतासाहित्य तीन स्वतन्त्र महाखण्डों में विभाजित हुआ है, जिन इन तीनों महाखण्डों के प्रत्येक के क्रमशः ६-११-... य अवान्तर खण्ड हुए हैं। सम्भूय ४८ अड़तालीस अवान्तर खण्डों में तथा तीन महाखण्डों में गीतासाहित्य सम्पन्न हुआ है। अबतक 'गीताभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड के अवान्तर ६ भूमिका-खण्डों में से केवल पाँच ही खण्ड प्रकाशित हुए हैं जिनमें पाँचवाँ यही 'बुद्धियोगपरीक्षात्मक पूर्वखण्ड' माना जा सकता है। 'माना जा सकता है'—यह इसलिए कहा गया कि वस्तुतः यह पूर्वखण्ड क्रमगणना के अनुसार ८ वाँ खण्ड है। आरम्भ में चार खण्ड तो कुछ वर्ष पूर्व हमनें क्रमशः ही प्रकाशित किए थे। तदनन्तर अपनी असमर्थता के कारण सभी प्रकाशन प्रवृत्तियाँ विगत ५-६-वर्षों से सर्वथा अवरुद्ध ही हो गई थीं। विगत वर्ष में पुनः 'राजस्थान वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के अनुग्रह से प्रकाशन-प्रवृत्ति प्रक्रान्त हुई। एवं संस्थान के प्रधान सञ्चालक मन्त्री महाभाग की इच्छा के कारण क्रमपथ की उपेक्षा कर हमें प्रस्तुत ८ वें भूमिका-खण्ड का ही प्रकाशन करना पड़ा। 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' न्याय से कुछ न होने से जो कुछ हो रहा है संस्थान के अनुग्रह से उसे ही श्रेयःपन्था मान लिया गया है। नीचे लिखी तालिका से तथाकथित गीतासाहित्य की रूपरेखा से पाठक भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

(१) 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड

(तदन्तर्गत अवान्तर ९ भूमिका—खण्ड)

१	१—गीताभूमिका—बहिरङ्गपरीक्षात्मक—प्रथमखण्ड	,,	(बहिरङ्गपरीक्षा)
	२—गीताभूमिका—अन्तरङ्गपरीक्षात्मक—'द्वितीयखण्ड'	का 'क' विभाग	(आत्मपरीक्षा)
२	३—गीताभूमिका ,, ,,	का 'ख' विभाग	(ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा)
	४—गीताभूमिका ,, ,,	का 'ग' विभाग	(कर्म्मयोगपरीक्षा)
	५—गीताभूमिका ,, ,,	का 'घ' विभाग	(ज्ञानयोगपरीक्षा)
	६—गीताभूमिका—सर्वान्तरङ्गपरीक्षात्मक तृतीयखण्ड	का 'क' विभाग	(भक्तियोगपरीक्षा—पूर्वखण्ड)
३	७—गीताभूमिका ,, ,,	का 'ख' विभाग	(भक्तियोगपरीक्षा—उत्तरखण्ड)
	८—गीताभूमिका ,, ,,	का 'ग' विभाग	(बुद्धियोगपरीक्षा—पूर्वखण्ड)
	९—गीताभूमिका ,, ,,	का 'घ' विभाग	(बुद्धियोगपरीक्षा—उत्तरखण्ड)

त्रिखण्डात्मिका-गीताभूमिका-अवान्तर ९ खण्डात्मिका

तद्रूप—'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक

प्रथम महाखण्ड

१

गीताभूमिका के उक्त ६ खण्डों की पृष्ठ-सख्या का अनुपात निम्न लिखित है—

१—बहिरङ्गपरीक्षा	६००	(प्रकाशित)
२—आत्मपरीक्षा (क)	५००	(,,)
३—ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा (ख)	६००	(,,)*
४—कर्म्मयोगपरीक्षा (ग)	६००	(,,)*
५—ज्ञानयोगपरीक्षा (घ)	५००	(अप्रकाशित)
६—भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड (क)	८००	(,,)
७—भक्तियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (ख)	८००	(,,)
८—बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड (ग)	७००	(प्रस्तुत प्रकाशन)
९—बुद्धियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (घ)	८००	(अप्रकाशित)

५६ ० पाँच हजार नौ सौ पृष्ठात्मक प्रथम महाखण्ड

१

२—'गीताचार्य्यस्वरूपपरिचय' नामक द्वितीय महाखण्ड
(तदन्तर्गत अवान्तर ११ आवान्तरखण्ड)

१—गीताकृष्णरहस्य	४००	अप्रकाशित
२—परात्परकृष्णरहस्य	४००	,,
३—पुरुषकृष्णरहस्य	४००	,,
४—सत्यकृष्णरहस्य	४००	,,
५—ईश्वरकृष्णरहस्य	४००	,,
६—प्रतिष्ठाकृष्णरहस्य	४००	,,
७—ज्योतिःकृष्णरहस्य	४००	,,

* चिह्नाङ्कित ३-४ दोनों खण्ड अब अप्राप्य हैं। अतएव ये भी पुनः प्रकाशन-सापेक्ष हैं।

याथाथ्यान्वेषण से भी भारतीय शास्त्रों का समन्वय सम्भव बन सकता है । वेदशास्त्र की संक्षिप्त सूची बने हुए गीताशास्त्र ने वास्तव में सङ्ग्रहरूप से सभी वैदिक विषयों का संकलन कर लिया है । एवं यही गीताशास्त्र की भारतीय अन्य दर्शनादि शास्त्रों की तुलना में अपूर्वता है, जिसके आधार पर ही यह आभाणक प्रसिद्ध हुआ है कि—

> गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
> या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥

गीता न तो ज्ञानयोगशास्त्र है, न भक्तियोगशास्त्र है एवं न कर्मयोगशास्त्र ही है । अपितु गीता तो विशुद्ध 'बुद्धियोगशास्त्र' है । बुद्धिवादात्मक वर्त्तमान युग में 'बुद्धि' शब्द बड़ा ही भावुक बना हुआ है । सभी तो आज के युग में अपने आप को बुद्धिवादी मान रहे हैं । सब अपने अपने बुद्धिवाद के आधार पर ही तो भारतीय शास्त्रों की व्याख्या के लिए सन्नद्धीभूत हैं । इसीलिए तो आज-'हम समझलेंगे, तब मानेंगे' इस तर्क को अग्रणी बना कर बुद्धितुला के माध्यम से ही बुद्धिवादी शास्त्र की स्वरूप-व्याख्या में प्रवृत्त देखे सुने जा रहे हैं । और ऐसी दृष्टि-प्रवृत्ति को ही आज नाम दिया जा रहा है—तत्त्वशोध (रिसर्च) । १०-२ ग्रन्थों को सामने बखेर कर इधर-उधर से कुछ संग्रह कर-कहीं की ईंट-कहीं का रोड़ा-इकट्ठा कर अपने बुद्धिवाद के बल पर, दूसरे शब्दों में कल्पना के द्वारा जोड़-तोड़ बैठा कर अपने आप को तत्त्वद्रष्टा (द्रष्टा-डॉक्टर) मान बैठना ही वर्त्तमान युग के बुद्धिवाद का 'इतिश्री' है, जिसका भारतीय तत्त्वदृष्टि से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है । सम्भव है-'बुद्धियोग' शब्द से भी कुछ ऐसी ही भ्रान्त कल्पना कर ली जाय इस गीतासिद्धान्त के सम्बन्ध में भी । अतएव दो शब्दों में वेदशास्त्र-सम्मत बुद्धियोग-स्वरूप-व्याख्या का भी प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण अनिवार्य्य बन रहा है ।

लोकदृष्टि से बुद्धियोग का फलितार्थ निकलता है-'बुद्धिपूर्वक कार्य्य करना' । शास्त्रीय दृष्टि में इस फलितार्थ का प्रवेश भी निषिद्ध है । अपितु इस दिशा में तो 'बुद्धियोग' का यही फलितार्थ निकलेगा कि-"अपनी बुद्धि का स्वतन्त्ररूप से कोई उपयोग न कर शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुसार स्वकर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा में प्रवृत्त रहना ही गीता का एकमात्र निर्णीत सिद्धान्त है । एवं यही सिद्धान्त 'बुद्धियोग' कहलाया है" । 'बुद्धियोग' शब्द से ऐसा फलितार्थ कैसे क्यों निकल आया ? इस प्रश्न के समाधान के लिए अवश्य ही श्रद्धाशील मानव अपनी बुद्धि का शास्त्रीय तत्त्वविषय के साथ योग कर सकते हैं । इस प्राप्य बुद्धियोग (बुद्धिमानी) के द्वारा अवश्य ही आस्था-श्रद्धा-परिपूर्ण जिज्ञासा के

द्वारा सिद्ध बुद्धियोग (बुद्धि से अतीत योग) के तटस्थरूप से दर्शन किए जासकते हैं । कैसे ?, श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ! ।

सम्पूर्ण विश्व में ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-अर्थशक्ति-इन तीन शक्तियों का ही साम्राज्य व्याप्त हो रहा है। बुद्धितन्त्र की चरम सीमा पर पहुँचे हुए नितान्त बुद्धिमान भी मानव अपनी बुद्धि के द्वारा सुसूक्ष्म ईक्षण करते हुए इन तीन शक्तियों से अतिरिक्त चौथी शक्ति का समन्वय करने में सर्वथा असमर्थ ही बने रहते हैं। मानव का बुद्धियोग ज्ञान-क्रिया-अर्थ-इन तीन शक्तियों पर ही विश्रान्त है। तीनों शक्तियें क्रमशः आधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत इन तीन तन्त्रों से अनुप्राणित हैं। ज्ञानक्षेत्र आधिदैवत है, क्रियाक्षेत्र अध्यात्म है, एवं अर्थक्षेत्र अधिभूत है। इन तीन क्षेत्रों के आधार पर ही लोकनिष्ठ बुद्धिमान मानवों नें अपने बुद्धिबल पर मानव की सुख-शान्ति के लिए क्रमशः ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-नामक तीन योग आविर्भूत कर लिए हैं, जो योग बुद्धिमान् विद्वत्समाज में सुप्रसिद्ध हैं।

जिस योग में साधन भी अधिभूत हों साध्य भी (प्रासव्य) भी अधिभूत हों उसी का नाम 'कर्म्मयोग' है। जिस योग में साधन तो भौतिक हों, किन्तु साध्य आधिदैवत हों, उसी का नाम 'भक्तियोग' है। एवं जिस योग में साधन भी आधिदैविक हों एवं साध्य भी आधिदैविक ही हों उसी नाम-'ज्ञानयोग' है। भौतिक-भौतिक कर्म्मयोग का मानव के अर्थशक्ति (भूतशक्ति) प्रधान पार्थिव शरीर से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। दैविक-भौतिक-भक्तियोग का मानव के क्रियाशक्ति प्रधान आन्तरीक्ष्य चान्द्र मनस्तन्त्र से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। एवं दैविक-दैविक-ज्ञानयोग का मानव के ज्ञानशक्तिप्रधान दिव्य सौर बुद्धितन्त्र से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। और यों तीनों योग मानव के बुद्धि-मन शरीर-तन्त्रों से समन्वित रहते हुए मानव के लोक-स्वरूप के व्यवस्थापक बने हुए हैं। ये ही तीनों तन्त्र क्रमशः मानव के उस सुप्रसिद्ध प्राकृतिक जीवभाव के स्वरूपाधार बने हुए हैं, जिस पराप्रकृति (अक्षर) रूप जीवभाव की तीनों कलाएँ क्रमशः 'वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ' नाम से प्रसिद्ध हैं।

अर्थशक्ति-प्रधान पार्थिव अग्नि से अनुप्राणिता 'वैश्वानर'-कला पार्थिव शरीर से अभिन्न रहती हुई कर्म्मयोग से समन्वित है। क्रियाशक्ति-प्रधान आन्तरीक्ष्य वायु से अनुप्राणिता 'तैजस'-कला आन्तरीक्ष्य चान्द्र मनस्तन्त्र से अभिन्न रहती हुई भक्तियोग से समन्वित है। एवं ज्ञानशक्तिप्रधाना दिव्या-सौरी-बुद्धि से अनुप्राणिता 'प्राज्ञ'-कला दिव्य सौर

बुद्धितन्त्र से अभिन्न रहती हुई ज्ञानयोग से समन्वित है। इसप्रकार जिस सीमापर्य्यन्त लोकनिष्ठ मानव की बुद्धिमानी अनुधावन कर सकती है, उस सीमापर्य्यन्त इन तीन लौकिक योगों से अतिरिक्त सचमुच किसी चौथे बुद्धि से अतीत अपूर्व बुद्धियोग की कल्पना भी कर लेना ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्ति-समन्वित प्राकृत बुद्धिमान् मानव के लिए सच का असम्भव ही तो है। ऐसी स्थिति में यदि बुद्धिमान् भारतीय व्याख्याताओं नें गीताशास्त्र के 'योग' शब्द से 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म' इन तीनों योगों का ही ग्रहण करते हुए गीताशास्त्र को 'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगग्रन्थ' मान लिया था, तो इन बुद्धिमानों का कोई अपराध नहीं माना जासकता। इसी लोकसंग्रह दृष्टि-से लोकभावुकता के संरक्षण के अनुबन्ध से हम भी थोड़ी देर के लिए एक बुद्धिगम्य समन्वय के आधार पर गीताशास्त्र को इन लोकप्रचलित तीनों योगों का प्रतिपादक लौकिक ग्रन्थ ही मान लेते हैं जिस त्रितन्त्रात्मक बुद्धिवादपूर्ण समन्वय का नीचे लिखी तालिका से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है।

१—अधिभूतम्—(अर्थमयम्)—तदनुगता अर्थशक्तिः—पार्थिवी-आग्नेयी

२—अध्यात्मम्—(क्रियामयम्)—तदनुगता क्रियाशक्तिः—चान्द्री-वायव्या

३—अधिदैवतम्—(ज्ञानमयम्)—तदनुगता ज्ञानशक्तिः—सौरी-ऐन्द्री



१—पार्थिवं—शरीरतन्त्रम् (अग्निप्रधानम्)—तत्समन्विता—वैश्वानरकला—आग्नेयी

२—चान्द्रं—मनस्तन्त्रम् (वायुप्रधानम्)—तत्समन्विता—तैजसकला—वायव्या

३—सौरं—बुद्धितन्त्रम् (इन्द्रप्रधानम्)—तत्समन्विता—प्राज्ञकला—ऐन्द्री



१—अर्थशक्तियुता—वैश्वानरकला—कर्मयोगेन समन्विता (सोऽयं कर्मयोगः)

२—क्रियाशक्तियुता—तैजसकला—भक्तियोगेन समन्विता (सोऽयं भक्तियोगः)

३—ज्ञानशक्तियुता—प्राज्ञकला—ज्ञानयोगेन समन्विता (सोऽयं ज्ञानयोगः)



इसप्रकार बुद्धिपूर्वक 'योग' के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त प्राकृत मानव को प्राकृतिक विश्व में तदाश्रित तीन ही तो बुद्धियोग (बुद्धिमत्ता-पूर्ण योग) उपलब्ध हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में 'बुद्धियोग'

शास्त्र के द्वारा इन तीन बुद्धिव्याख्या-सम्मत योगों के अतिरिक्त चौथे अबुद्धियोगात्मक अभुत अदृष्ट-पूर्व बुद्धियोग की कल्पना भी कैसे कर सकते थे गीता के व्याख्याता ये लोकमानव । इसीलिए तो देवयुगात्मक सत्ययुग से आरम्भ कर आज पर्य्यन्त सुगुप्ततम 'बुद्धियोग' सिद्धान्त यदि व्याख्याताओं के लिए परोक्ष ही बनता आ रहा हो तो इसमें बुद्धिमान् व्याख्याताओं का कोई भी तो दाप नहीं माना जा सकता ।

कैसे अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग का स्वरूप-बोध हो ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान है—'पुरुषार्थ का अनुगमन । पुरुषार्थ से मानव अवश्यमेव परोक्ष तत्त्व का अनुग्रह प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है । मानव का अपना (जीवभाव का) प्रयास-प्रयत्न-चेष्टा-आदि का नाम क्या पुरुषार्थ है ? । नहीं कदापि नहीं । मानव 'पुरुष' है कहाँ ? । यह तो अपने वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप जीवभाव से अक्षरप्रकृतिरूप ही बना हुआ है । ऐसे जीवभावात्मक प्राकृत मानव का प्रयास तो 'प्रकृत्यर्थ' ही माना जायगा जिसे भ्रान्तिवश मानव 'पुरुषार्थ' कहता चला आ रहा है प्राकृतिक व्यामोहन के कारण । 'पुरुष नाम है लोकातीत-विश्वातीत उस अव्ययात्मा का, जो गीता के ही शब्दों में— 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' के अनुसार मानवीय बुद्धि से सर्वथा परे है, अतीत है । बुद्धि से अतीत अव्ययपुरुष ही वास्तविक पुरुष है । इस पुरुष से सम्बद्ध प्रयास ही 'पुरुषार्थ' है, जो कि किया नहीं जाता, अपितु स्वत: हो रहा है । इस स्वतः प्रवृत्त पुरुषार्थ के साथ मानवीय प्रकृत्यर्थरूप जीव के प्रयासों का सर्वात्मना समर्पण ही मानव की कृतकृत्यता है, जिसका गीता ने इन शब्दों में स्वरूप—विश्लेषण किया है—

यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोसि, ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥१॥
मन्मना भव, मद्भक्तो, मद्याजी, मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥२॥

आरम्भ में पार्थिव शरीर, तदनन्तर इन्द्रिय, एवं इन्द्रियार्थ । तदुपरि चान्द्र मन । तदुपरि सौरी बुद्धि । प्राकृत मानव के प्राकृत जीवभाव से सम्बन्ध रखने वाली वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूपा अग्नि-वायु-इन्द्र-लक्षणा अर्थ-क्रिया-ज्ञान-शक्तियों का पर्य्यवसान इस सौरी बुद्धि पर पर्य्यवसित है । जबतक मानव इन तीनों तन्त्रों के व्यामोहन में आसक्त बना रहता है, तबतक इसे कदापि बुद्धि से पर अवस्थित अव्ययपुरुष' का अनुग्रह उसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता, जैसे कि त्रिलोक्य के अधिपति अग्नि-वायु इन्द्र नामक तीनों देवता अपनी ज्ञान क्रिया अर्थ शक्तियों को ही दूसरे

शब्दों में इस शक्तिमात्रसमन्विता बुद्धिमानी को ही सर्वस्व मानते हुए—'अस्माकमेवेद खलु भुवनम्' कहते हुए विश्वविजय का अपना ही विजय मान बैठते हुए इसी स्वस्वरूप-व्यामोहन से लोकातीत अव्ययब्रह्म के स्वरूप-बोध से वञ्चित थे। आगे चल कर 'हैमवती उमा' के अनुग्रह से इन का यह प्राकृत व्यामोहन दूर होता है एवं इस महाशक्ति महामाया के अनुग्रह से ही इन्हें—'ब्रह्मणो वा विजय महीयध्वम्' (केनोपनिषत्) रूप से उद्बोधन प्राप्त होता है। पीताम्बरा हैमवती उमा माहेश्वरी से अभिन्न साक्षी महेश्वरावतार पीताम्बरधारी पूर्णेश्वर अव्ययकृष्ण ने इसी औपनिषद सिद्धान्तबिन्दु का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
—गीता ७।१४

मायाशक्तिरूपिणी चिच्छक्ति के अनुग्रह से ही मानव का प्राकृत व्यामोहन–पाश टूटता है। एवं तभी–पाश–विमुक्त मानवपशु अव्ययपुरुषानुग्रह से 'पुरुष' बनता हुआ लोकातीत बुद्धियोगसिद्धान्त का अनुगामी बनने पाता है। अपने बुद्धितन्त्र को लोकातीत अव्ययपुरुष के प्रति सर्वात्मना समर्पित कर देने वाला बुद्धिवादात्मक-व्यामोहनों से पृथक् बन जाने वाला मानव ही अपने बुद्धितन्त्र को अव्ययपुरुष के अनुग्रह से समन्वित कर सकता है। यही इसका अबुद्धियोगात्मक सिद्धान्तव्यापक सहज वह 'बुद्धियोग' है, जिसका लोकानुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गीता) के अनुसार स्वयं अव्ययेश्वर के अनुग्रह से ही यह पुरुषार्थरूप बुद्धियोग प्राप्त हुआ करता है। इसी बुद्धियोगानुबन्ध से गीताशास्त्र तत्त्वतः 'बुद्धियोग-शास्त्र' ही बना हुआ है, जिसका आस्थाश्रद्धाशून्य रूक्ष बुद्धिवादों से, एवं तदनुप्राणिता बुद्धिमानियों से कोई सम्पर्क नहीं है।

अव्ययपुरुषानुगत स्वतःसिद्ध नित्य बुद्धियोग का स्वरूप कैसा है ?, गीताशास्त्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। तात्पर्य-जिस बुद्धियोग के द्वारा सिद्ध बुद्धियोग से मानव अनुगृहीत होता है उस साधनभूत बुद्धियोग का स्वरूप-विश्लेषण करना ही इस 'बुद्धियोगशास्त्र' (गीताशास्त्र) का एकमात्र मुख्य उद्देश्य है। मानवीय बुद्धि के साथ अव्ययपुरुष का योग तो स्वतः सिद्ध है। प्रश्न केवल यही है कि मानव अमुक दोषों के कारण तुच्छ एवं दोषप्रद संस्कारों

(कुसंस्कारों) के आवरण से अपनी बुद्धि को आवृत करता हुआ स्वतःसिद्ध भी इस अव्ययपुरुष विभूतियोग से अपने आपको (जीव-भाव को) पृथक् कर लेता है। बुद्धि के उन असत्य दोषों का शास्त्र ने 'अविद्या-अस्मिता-आसक्ति-अभिनिवेश' इन चार प्रधान दोषों में अन्तर्भाव मान लिया है। इन चारों दोषों की समष्टि दर्शनभाषा में जहाँ 'क्लेश' ॐ कहलाई है वहाँ विज्ञानभाषा में इन्हें 'कलिल' कहा गया है। बुद्धि जबतक इन चारों में से किसी एक भी कलिलदोष से युक्त रहती है, तबतक इस का साक्षाद्रूप से अव्ययात्मा के साथ योग सम्भव नहीं। इन चारों कलिलों को हटाने के लिए चार प्रकार के 'भग' भावों का बुद्धि को अनिवार्यरूप से अनुगमन करना पड़ता है। 'अविद्या' नामक कलिल हटता है 'ज्ञान' नामक भग से। 'अस्मिता' कलिल का पलायन होता है 'एश्वर्य्य भग' से। 'आसक्ति' कलिल निवृत्त होता है 'वैराग्यभग' से। एवं अभिनिवेश' कलिल विनष्ट होता है 'धर्म्मभग' से। इन चारों भगों का जब बुद्धि में उदय हो जाता है, तो स्वेय यश, और श्री, नामक दो भग और उदित हो जाते हैं। प्राकृतिक विश्व में इन ६ ओं भगों के कौन से प्रमुख स्थान हैं ? इस प्रश्न का भी दो शब्दों में समन्वय कर लीजिए।

सत्यलोकाधिष्ठाता अव्यय स्वयम्भू का 'वैराग्य' से प्रधान सम्बन्ध है। तपोलोकाधिष्ठाता ब्रह्मात्मा का 'ज्ञान' से प्रधान सम्बन्ध है। जनल्लोकाधिष्ठाता परमेष्ठी का 'ऐश्वर्य्य' से प्रधान सम्बन्ध है। महः-एवं स्वर्लोकाधिष्ठाता सूर्य्य का 'धर्म्म' से प्रधान सम्बन्ध है। भुवर्लोकाधिष्ठाता चन्द्रमा का 'यशः' से प्रधान सम्बन्ध है। एवं भूलोकाधिष्ठात्री पृथिवी का 'श्रीः' से प्रधान सम्बन्ध है। इसप्रकार सप्तलोकात्मक विश्व में इस क्रम से ६ ओं भग प्रतिष्ठित हैं। इस महाविश्व के केन्द्र में सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि —'नैवोदेता-नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता' (छान्दो० उप०) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। सूर्य्य ही आधिदैविक विश्व की 'बुद्धि' है। केन्द्रभाव के कारण सम्पूर्ण विश्व-पर्गों का केन्द्रस्थ बुद्धिस्थानीय सूर्य्य में समन्वय हो रहा है। अतएव यह षड्विध भगसम्पत्ति बुद्धि से समन्वित मान ली गई है।

ॐ—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

—पातञ्जलयोगसूत्र

— नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनं चैव दर्शनादर्शनं रवेः॥

—पुराण

का अपना सम्बन्ध है चौथा अव्ययब्रह्मानुगत 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक योग' जिसे भगवान् ने गीताशास्त्र में यत्र तत्र 'योग' नाम से भी व्यवहृत किया है। यही गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य 'बुद्धियोग' है जिसके कारण गीताशास्त्र तत्त्वतः 'बुद्धियोगशास्त्र' ही प्रमाणित हो रहा है।

कामनात्यागात्मक संशोधित कर्म्मयोगात्मक 'धर्म्मबुद्धियोग' के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक भूमिकाखण्ड उपनिबद्ध हुआ है। कामनात्यागात्मक संशोधित भक्ति-योगात्मक-'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' के स्वरूपनिरूपण के लिए ही खण्डद्वयात्मिका 'भक्तियोगपरीक्षा' समन्वित हुई है। कर्म्मसंग्रहात्मक संशोधित ज्ञानयोगात्मक-'ज्ञानबुद्धियोग' के समन्वय के लिए ही 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक भूमिकाखण्ड उपनिबद्ध हुआ है। शेष रह जाता है भगवत्सम्मत गीतासिद्धान्तरूप अव्ययब्रह्मयोगानुगत 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक 'बुद्धियोग'। इसी के स्वरूप विश्लेषण के लिए प्रस्तुत 'बुद्धियोगपरीक्षा'–पूर्वखण्ड बुद्धियोगनिष्ठ मानवश्रेष्ठों के अनुरञ्जन के लिए प्रस्तुत हो रहा है जिसके प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करते हुए प्रास्ताविक उपरत किया जा रहा है।

विखण्डात्मिका 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' के तृतीय-'सर्वान्तरतमपरीक्षा' नामक तृतीय-खण्ड के 'क-ख-ग-घ' इन चार अवान्तर खण्डों में से मध्य का 'बुद्धियोगपरीक्षा—पूर्वखण्ड' नामक क्रमप्राप्त आठवाँ 'ग' विभागात्मक अवान्तर खण्ड है जिसमें प्रधानरूप से निम्न लिखित तीन प्रकरण समाविष्ट हैं—

१—बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन—१ पृष्ठ से ३७६ पृष्ठपर्यन्त
२—बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन—३७७ पृष्ठ से ६४४ पृष्ठपर्य्यन्त
३—बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार—६४५ पृष्ठ से ६६२ पृष्ठ पर्य्यन्त

'बुद्धियोगस्वरूप-निर्वचनात्मक' प्रथम प्रकरण में चार अवान्तर स्तम्भ हैं। इन चारों अवान्तर स्तम्भों में प्रत्येक में क्रमशः १४–१४१–४६–७४–अवान्तर परिच्छेद हैं। चौदह (१४) अवान्तर-परिच्छेदात्मक 'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रथम स्तम्भ में पूर्व सन्दर्भसङ्गतिपूर्वक भूमिका-खण्डों के निरूपित तथा निरूपणीय विषयों की रूपरेखा का स्पष्टीकरण हुआ है।

एकसौ इकतालीस (१४१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप निरूपण' नामक द्वितीय स्तम्भ में बुद्धियोगाधिष्ठाता आनन्द-विज्ञान-मन प्राण-वाङ्मय-पञ्चकल अव्ययात्म

नामक सच्चिदानन्दब्रह्म की आनन्दकला-चित्कला-सत्ताकला का सुविशद वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए सर्वयोगाधिष्ठाता-सर्वयोगप्रवर्त्तक योगेश्वर षोडशी विश्वेश्वर प्रजापति का ही उपबृंहण हुआ है।

छप्पन (५६) अवान्तर परिच्छेदात्मक तीसरे-'योगेश्वरानुगत योग का स्वरूप निरूपण' नामक स्तम्भ में योगेश्वर के अव्यय-अक्षर आत्मक्षर-विश्वसृट् (विकारक्षर) नामक चार पार्वों से अनुप्राणित सिद्ध योगचतुष्टयी का, तथा वैराग्यबुद्धियोग-ज्ञानबुद्धियोग-ऐश्वर्य्य बुद्धियोग-धर्म्मबुद्धियोग-इन चार साम्य बुद्धियोगों का क्रमशः स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

पिचहत्तर (७५) अवान्तर परिच्छेदात्मक चौथे-'बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन' नामक स्तम्भ में प्रज्ञान मन की स्वरूप-व्याख्या करते हुए प्रज्ञान मन पर प्रतिबिम्बरूप से प्रतिष्ठित 'विज्ञान' नामक 'बुद्धि'-तत्त्व का ही तात्त्विक नैगमिक स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। सर्वान्त में इसी चतुर्थ स्तम्भ में १-बुद्धि, २-मनीषा, ३-धिषणा, ४-धी, ५-प्रज्ञा, ६-शेमुषी, ७-मति, ८-प्रेक्षा, ९-उपलब्धि, १०-चित्, ११-संवित्, १२-प्रतिपत्, १३-ज्ञप्ति, १४-चेतना १५-विज्ञान बुद्धिस्वरूप समाहक इन पन्द्रह शब्दों का वैज्ञानिक विभिन्न इतिहास बतलाते हुए बुद्धि-सम्बन्धी 'योग' शब्द के ही तात्त्विक स्वरूप का समन्वय हुआ है। यों इन चार स्तम्भों में प्रस्तुत खण्ड का प्रथम प्रकरण उपरत हुआ है।

(१)—'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण—

१—सन्दर्भसङ्गति (१४ अवान्तरपरिच्छेदात्मक प्रथमस्तम्भ)।
२—योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप निरूपण (१५१ परि० द्वितीयस्तम्भ)
३—योगेश्वरानुगत 'योग' का स्वरूपनिरूपण (५६ परि० तृतीयस्तम्भ)।
४—'बुद्धि'तत्त्व स्वरूप दिग्दर्शन (७५ परि० चतुर्थस्तम्भ)।

२

—•—

'बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूप निर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण में भी चार ही अवान्तर स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं, जिनमें प्रत्येक में क्रमशः १२१-४१-६४-४८-अवान्तर परिच्छेदों का समावेश हुआ है।

एकसौ इक्कीस (१२१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'धर्म्मबुद्धियोगानुगत आर्षविद्या-स्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम खण्ड में ज्ञानानुगता शास्त्रविद्या, पौरुषानुगता शस्त्रविद्या, परिग्रहसंग्रहात्मिका वाणिज्यविद्या, एवं गुणभावान्विता शिल्पविद्या, इन चार विद्याओं का दिग्दर्शन कराया गया है। आगे चल कर भारतीय राष्ट्रकल्पना विविध विद्यास्वरूप-परिचय धर्म्मानुगत स्वधर्म्म-परधर्म्म-भयावहादि का स्वरूपपरिचय, आदि आदि अवान्तर अनेक विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए निष्कामकर्म्म की वैज्ञानिक स्वरूप-व्याख्या हुई है। एवं तदाधार पर ही धर्म्मबुद्धियोगानुगता 'आर्षविद्या' के स्वरूप-समन्वय की चर्चा हुई है।

इकतालीस (४१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूप निर्वचन' नामक द्वितीय खण्ड में ऐश्वर्य्य-प्रवर्त्तक 'ईश्वर' के अनेक विवर्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। अभिमान और अतिमान की स्वरूपव्याख्या प्रस्तुत करते हुए मन और वाक् के अहंमेवोभाव का चिरन्तन इतिहास व्यक्त हुआ है। आगे चल कर ईश्वर के परैश्वर्य्य, जीव के ऐश्वर्य्य का स्वरूप परिचय कराते हुए विभूति-महिमा-ब्राह्मी-पुनश्च विवर्त-आदि भावों का स्वरूप-समन्वय हुआ है। अध्यात्मतन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले चार प्रकार के मनस्तत्त्वों का दिग्दर्शन कराते हुए ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विनी 'अस्मिता' का स्वरूप-निरूपण हुआ है। सर्वान्त में विकास के स्वाभाविक, तथा आगन्तुक स्वरूपों का दिग्दर्शन कराते हुए ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या की ही स्वरूपव्याख्या हुई है।

चौबीस (२४) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूप-निर्वचन' नामक तृतीय खण्ड में सर्वप्रथम ज्ञानात्मक 'आवरण' का स्वरूप परिचय कराया गया है। हिरण्यगर्भ सूर्य्य के चार 'पाप्मा' विवर्तों का दिग्दर्शन कराते हुए योगत्रयी के आधारभूत आत्म-विवर्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। गुण-स्वरूपपरिचय क्लेश-स्वरूपपरिचय मोह-स्वरूपपरिचय, त्रैगुण्य संघर्ष, आदि आदि अवान्तर विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए सर्वान्त में मोक्षलक्षण-निवर्त्तिका ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का ही स्वरूपोपवर्णन हुआ है।

अड़तालीस (४८) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्या-स्वरूप-निर्वचन' नामक चतुर्थ खण्ड में सर्वप्रथम 'वैराग्य', और 'आसक्ति' (रागासक्ति एवं द्वेषासक्ति) शब्दों के लोकप्रचलित अर्थों का दिग्दर्शन कराया गया है। अनन्तर गीता में पठित 'त्याग'

शब्द की स्वरूपव्याख्या हुई है। आगे चलकर तपस्वी-योगी-ज्ञानी-कर्मठ आदि के विभिन्नमार्गों का तात्त्विक स्वरूपसमन्वय हुआ है। तदनन्तर राग-द्वेष-मोह-भावों का वैज्ञानिक स्वरूप-परिचय कराते हुए रागाकर्षणात्मक प्रेम के श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-नामक पाँच भेदों की स्वरूप व्याख्या हुई है। रजोगुणानुगामी तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले रजोगुण के त्रिगुणभावों का स्वरूप परिचय कराते हुए वैराग्य के गीतासम्मत तात्त्विक स्वरूप का समन्वय हुआ है। सर्वान्त में भावस्थानत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले सम विषम-योगों का स्वरूप दिग्दर्शन कराते हुए वैराग्य-बुद्धियोगानुगत 'राजर्षिविद्या' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय हुआ है। और यों इन चार स्तम्भों में प्रस्तुत खण्ड का द्वितीय प्रकरण सम्पन्न हुआ है।

(२)—'बुद्धियोगानुगत—विद्यास्वरूप—निर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण—

१—धर्मबुद्धियोगानुगत—आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन (१२१ परिच्छेदात्मक प्रथमस्तम्भ)।
२—ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगत—राजविद्यास्वरूपनिर्वचन (४१ परिच्छेदात्मक द्वितीयस्तम्भ)।
३—ज्ञानबुद्धियोगानुगत—सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन (३४ परिच्छेदात्मक तृतीयस्तम्भ)।
४—वैराग्यबुद्धियोगानुगत—राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन (४८ परिच्छेदात्मक चतुर्थस्तम्भ)।

२

तीसरा 'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक प्रकरण है, जिस में अवान्तर १० दस परिच्छेद समाविष्ट हैं। तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि-मुक्ति—नाम की गुणचतुष्टयी की स्वरूपव्याख्या तदनुगता बुद्धियोगचतुष्टयी पुरुषविद्यानुगता पुरुषयोगचतुष्टयी प्रकृत्यनुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी, विकृति-विद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी आदि आदि परिशिष्ट विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए विविध तालिकाओं के माध्यम से सिंहावलोकनदृष्टया अष्टस्तम्भात्मक उक्त दोनों प्रकरणों का स्वरूपोप-संहार ही हुआ है। और यों इन तीन प्रकरणों—आठ स्तम्भों—तथा ५५० (पाञ्चसौ पचास) अवान्तर परिच्छेदों से स्थूलशरीरी प्रस्तुत बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड बुद्धिनिष्ठों की सेवा में प्रणत-भाव से उपस्थित हो रहा है। विशिष्ट वैज्ञानिक विषयों के स्पष्टीकरण के लिए लगभग १० रेखाचित्र, तथा २७ के लगभग (तालिकारूप से) परिलेख भी समाविष्ट हुए हैं। शोधसंस्थान की आर्थिक सीमाओं के अनुबन्ध से जिनके चित्र प्रकाशित नहीं किए जा सके जो कि विभक्त विषयों की दृष्टि से आवश्यक थे। एवमेव प्रेस-प्रतिलिपि-संशोधन-आदि आदि में

सर्वथा एकाकीरूप से व्यस्त रहने के कारण प्रकाशन भी जैसा व्यवस्थित-सुन्दर होना चाहिए था, नहीं हो सका है, जिन इन अवश्यंभाविनी त्रुटियों के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं ।

कृतज्ञ हैं हम उस 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के प्रति जिसके अनुग्रह से अनेक वर्षों से अवरुद्ध प्रकाशनप्रवृत्ति को पुनः प्रक्रान्त करने में हम समर्थ बन सके हैं । कृतज्ञ हैं इस संस्थान के मान्य मन्त्री 'श्रीवासुदेवशरण' अग्रवाल महाभाग के प्रति जिन की प्रेरणा से गतवर्ष 'तत्त्वशोधसंस्थान' स्थापित हुआ । एवं सर्वात्मना कृतज्ञ हैं हम उस बुद्धिप्रवरत्रयी के प्रति जिसने आज से एक वर्ष पूर्व अपनी मुक्तहस्तता का परिचय प्रदान करते हुए इस सद्योजात संस्थान को यथावधि जीवित रख सकने का महत्पुण्यार्जन किया है ।

जिस राजस्थान-प्रान्त के परम पावन क्रोड में यह साहित्यसाधना प्रक्रान्त है उस 'राजस्थान-सत्ता' के प्रति भी 'कृतज्ञता' अभिव्यक्त कर देना इसलिए हम अपना नैतिक कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, अपने इस परम-नीतिकुशल मान्य प्रान्तीय सत्तातन्त्र (राजस्थान सरकार) के द्वारा विगत तीन वर्षों से हमारी प्रस्तुत साहित्य-सेवा के प्रति जो उद्बोधन सूत्र हमें उपलब्ध होते रहे हैं, (हो रहे हैं, एवं सम्भवतः भविष्य में भी होते ही रहेंगे) उन्हीं उद्बोधनसूत्रों के बल पर हमारी गुहानिहिता स्वाध्यायनिष्ठा उत्तरोत्तर अन्तर्मुखा ही बनती जा रही है । साम्यमारुतिक, किंवा वातातपिक आक्षेपों से सम्बन्ध रखने वाली जिन बाह्य प्रवृत्तियों के व्यामोहन-मायात्मक पाश-बन्धनों से आबद्ध हो पड़ने वाला हमारा मनस्तन्त्र विगत तीन वर्षों से अपनी इसलिए अनुकम्पमाना अनुपालनवृत्ति से गुहानिहिता-स्वाध्यायनिष्ठा से अधिकांश में वञ्चित ही बनता जा रहा था एकमात्र सत्तातन्त्र के तथाविध सर्वथा तटस्थतात्मक महान् अनुग्रह से ही इस अनुपालन-पाशबन्ध-व्यामोहन से मनस्तन्त्र का परित्राण हो सका है, जिस के उपलक्ष में अपने इस उद्बोधनप्रदाता राजस्थानसत्ता-तन्त्र के प्रति भी अत्यन्त सम्मानपूर्वक कृतज्ञता समर्पित कर देना आत्मबुद्धिसम्मत पथ तो मान ही लेंगे बुद्धियोगनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ।

अब प्रश्न शेष रह जाता है तत्त्वशोधसंस्थान के भविष्य का । तत्सम्बन्ध में इसलिए हम सर्वथा अनुद्विग्न हैं कि एस लोकानुगत संस्थान-माध्यमों से इस प्राच्य आर्षसंस्कृति का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं । यह तो एक ऐसी सामयिक अभ्युत्थान है, जो थोड़ी भी असावधानी से कालान्तर में आक्षेपात्मक महान् व्यामोहन की जननी बन जाया करती है । नापि इस नाममात्र से वैयक्तिकस्वाध्यायनिष्ठा के हिताहित का ही कोई सम्बन्ध । युगधर्मानुपात से इस 'नाम' व्याज से यदि कुछ होता रहता है प्रचारदृष्टि से तो स्वागत है तटस्थरूप से

इस प्रकार का भी। यदि उपरान्त हो जाती है यह प्रचारैषणा, तो भी श्रेयपन्था ही है। क्योंकि इस आर्य-संस्कृति के संरक्षण का उत्तरदायित्व तो स्वयं वेदस्रष्टा उस स्वयम्भू प्रजापति ने अनुप्राणित है, जिसके सम्बन्ध में ये उद्घोष प्रसिद्ध हैं कि—

"अज्ञान् ह वै पृश्नीन्-तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्" ।
"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-
शाश्वतीभ्य समाभ्य" ।-(श्रुति)

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥
—(पुराण)

आत्मा-बुद्धिसंरक्षा मूलनिष्ठाओं के अन्तर्मुख बन आने से, साथ ही मनःशरीर-निबन्धना भावुकताओं के प्रधान बन जाने से जब जब भी इस पुण्य-भूमि-भारतराष्ट्र में ज्ञानविज्ञानलक्षणा-स्मिका आर्षसम्पत्ति पददलित हुई परप्रत्ययनय-गतानुगतिक-भावुक मानवों के द्वारा तब तब ही इस राष्ट्र की अमुक महात-प्रज्ञाओं ने स्वाध्यायनिष्ठा-विरोधी यच्चयावत् प्रलोभन-व्यामोहनों से आत्मत्राण करते हुए, साथ ही युगधर्मानुगत सभी कुपरम्पराओं, अपमानों, एवं तिरस्कारों का स्वागत करते हुए सर्वथा गुहानिहितरूप से अपनी एकान्तनिष्ठ स्वाध्यायसाधना से राष्ट्र के इस मूल-सांस्कृतिक बीज को अपने रक्तदान से आर्द्र-बनाए रक्खा। क्योंकि इसे अपनी चिरन्तन-परम्परा से इस स्वाध्यायनिष्ठा-संरक्षण-के लिए इसी प्रकार के आदेश उपलब्ध होते रहे हैं कि—

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथातथाध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥
—मनु

अर्थात्- 'स्वाध्यायनिरता उस (ब्राह्मणात्म) प्रज्ञा को वैसे यच्चयावत् आर्थिक-सामाजिक-प्रलोभनों का परित्याग ही कर देना चाहिए, जो इसकी स्वाध्यायनिष्ठा में विघ्न उत्पन्न कर देते हैं। युगधर्मानुगत सम्पूर्ण प्रलोभनों से अपने आप को बचाते हुए बड़ा कठिनता से जीवनयात्रामात्र का निर्वाह करते हुए (भारतीयसंस्कृतिसंरक्षक) स्वाध्यायतप को आनुगत्य बनाए रखना ही इत्थंभूता प्रज्ञा की कृतकृत्यता है, अभ्यसाफल्य है"।

युगधर्मानुगत मानसिक प्रभाव से कुछ वर्ष पूर्व हम भी इस लोकात्मक-प्रचार-व्यामोहन पथ के पथिक बन जाने के लिए आतुर हो पड़े थे। फलस्वरूप इस प्रचार-तृष्णा से हमें भी तत्र

पत्र अनुधावन करते रहना पड़ा था, वत्र वत्र केवल अपमान तिरस्कार के और कुछ भी उपलब्धि की सम्भावना न पहिले थी न आज है। अपनी इसी भोग-दुःखानुभूति के अनुग्रह से अन्ततो-गत्वा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि "सचमुच हम भ्रान्त थे सर्वथा सत्यविहीन ही बन हुए थे दूसरे शब्दों में सर्वमारात्मकारिणी मोहमयी लोकैषणा के अदृष्य बनन आरहे थे जिस के रूप भ्रम में ही परवशकर्ता मिथ्याभरीमा-कल्पित आडम्बर प्रातिभासिक प्रदर्शन-आदि आदि आसुरभाव विराजमान रहा करते हैं'। इसी प्रभूत घनानुग्रह से आज हम इस स्तर पर अरनाकलवृत्ति से पूर्ववत पुनः आरूढ़ हैं कि,-"संस्कृति-संरक्षण का एकमात्र मूलमन्त्र अनन्यनिष्ठा से एकान्तनिष्ठ बन कर स्वाध्यायनिरत बने रहना ही है"।

जिन भारतीय चिरन्तन आर्ष-प्रजाओं को इस मूलसंस्कृति के संरक्षण की चिन्ता है, उन शास्त्र-प्रजाओं का अत्यन्त श्रद्धाभाव से आह्वान कर रहे हैं इस अपने इस गुहानिहित ज्ञान-सत्यात्मक-मानवाश्रम में जहाँ न किसी प्रकार का प्रदर्शन है, न बाह्य प्रचार है, न किसी प्रकार के लोकानुबन्धी लोकैषणा-वित्तैषणा-समुत्तेजक अन्यान्य सामयिक प्रलोभन। है केवल सर्वथा परोक्षभावानुगता-स्वाध्यायतपोनिष्ठा। न्यूनतम एक शताब्दी पर्य्यन्त राष्ट्र की प्रमुख प्रजाओं को गुहानिहित बन कर सर्वप्रथम अपनी मूलसंस्कृति के उस ज्ञानविज्ञानात्मक विशुद्ध तात्त्विकरूप को ही पुनः अभिव्यक्त करने में प्राणपण से जुट पड़ना चाहिए, जो मूलसंस्कृति विगत ३-४ हजार वर्षों से विभिन्न मतवादों के आवरण से आवृत होती हुई अपने विशुद्ध मौलिकरूप से सर्वथा ही तिरोहित बनी हुई है।

यह सर्वथा सप्रात्मना सदा संस्मरणीय एवं अनिवार्य्यरूपेण अभिस्मरणीय है कि, केवल-'संस्कृति-साहित्य-ज्ञानविज्ञान-आदर्श' आदि आदि शब्दों की घोषणाओं से कदापि आज के इस भारतराष्ट्र का वास्तविक अभ्युत्थान स्वप्न में भी सम्भव नहीं है, जिस भारतराष्ट्र के आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-चारों ही मानवीय पर्व विगत २-३ सहस्र-वर्षों से नानाविधमतवादात्मक सम्प्रदायवादों से विध्वंसक आततायी वर्ग के द्वारा होती रहने वाली आक्रमणपरम्पराओं से सर्वोपरि विगत शताब्दी में होते रहने वाले वाग्जालचतुर प्रतीच्य (पश्चिमी) राजनैतिकों के सर्वस्वघातक भूतवादों से सर्वात्मना पराभव प्रभावित होचुके हैं। 'अपना' कहने के लिए, अपनाने के लिए भारतराष्ट्र के कोश में प्रत्यक्ष में आज कुछ भी शेष नहीं रह गया है।

स्वतन्त्रस्वतन्त्रता-प्राप्तिकाल के उपक्रम से आरम्भ 'भारतीयता' के महान् उद्घोषों में प्रथम से इति पर्य्यन्त सर्वात्मना सम्पूर्ण प्रतीच्य ही प्रतीच्य प्रमाणित हो रहा है। मानवमात्र

के लिए 'भारतीयता' का तुमुल उद्घोष किन्तु व्यावहारिकदृष्ट्या सभी क्षेत्रों में अभारतीयता का साम्राज्य। वही शिक्षा, वही सभ्यता, वही आदरा, वही आचार-व्यवहार, और सर्वस्वघातक अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहन के माध्यम से सर्वथैव स्वस्वरूपविस्मृतिपूर्वक परस्वरूपों का अन्धानुकरण। ऐसी महाभयावहा संघर्षवेला में मूलसंस्कृति-बीज के अङ्कुरित कर लेने की आशा सर्वथा दुराशा ही मानी जायगी तबतक, जबतक ही यहाँ की अमुक प्रज्ञाएँ अपने आपको यथायावत् सामयिक प्रलोभनों से सावधान पूर्वक बचाते हुए, दूसरे शब्दों में लोकैषणा-वित्तैषणा-प्रवर्त्तक व्यामोहनों से जागरूकता पूर्वक अपने आपको असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए सर्वप्रथम अपनी मूलसंस्कृति के शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं कर लेती। इस स्वरूपबोध के अनन्तर ही (जिसमें अनुमानतः एक शताब्दी का समय अपेक्षित है) भारतराष्ट्र स्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित हो सकेगा। और उस अवस्था में किसी भी वैसे प्रचार-विजृम्भण की कोई भी आवश्यकता शेष नहीं रह जायगी, जिसके लिए आज कतिपय संस्कृतिमक आकुल-व्याकुल बने हुए हैं।

प्रचारव्यूह का आत्यन्तिक निरोध कदापि अभिप्रेत नहीं है। अमुक सुप्रसिद्ध न्याय * के अनुसार गच्छतः स्खलनरूप से कुछ करते रहने से भी शनैः शनैः कुछ तो सम्भव है ही। इसी आधार पर सम्भवतः--'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' आभाणक प्रसिद्ध भी है। अभिप्रेत केवल यही है कि, प्रचार के मूल में सर्वथा तत्त्वस्वाध्यायनिष्ठा ही प्रतिष्ठित रहनी चाहिए। प्राथमिकता स्वाध्याय की एवं अपनी इस स्वाध्यायनिष्ठा का संरक्षण करते हुए, किसी भी प्रवाह में प्रवाहित न होते हुए सत्यधर्मपथ से अनुरूप क्षेत्रों में (आस्थाश्रद्धासमन्वित क्षेत्रों में) ऋजुमार्ग से प्रचार-पथ का अनुगमन। इसी निर्दिष्ट पथ को लक्ष्य बनाते हुए अब वैसे लोकसंग्रहात्मक प्रचारव्यामोहन को सर्वथैव जलाञ्जलि समर्पित कर दी गई है, जहाँ आदि-मध्य-अवसान-तीनों भूमियों में केवल स्व-पर-प्रतारणा के अतिरिक्त और कुछ भी तो सम्भावित नहीं है। यथानुमानतः इसी भावनामयी श्रद्धाभिव्यक्ति के माध्यम से सस्थान के मन्त्री महोदय की बलवती प्रेरणा से हमें आस्था-श्रद्धासमन्वित 'राष्ट्रपति महाभाग' के सम्मुख इस संस्कृति के कतिपय सूत्र रख देने का गौरव प्राप्त हुआ, जिसे हम संस्कृति के भविष्य के लिए प्रशस्त पथ मान सकते हैं। अतएव—

सर्वान्त में सर्वथा प्रशान्तभाव से भारतराष्ट्र के सर्वोच्च पद पर समासीन महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग के प्रति भी कृतज्ञताञ्जलि समर्पित कर देना हम अपना आवश्यक

---

* न हि कल्याणकृत् कश्चिद्-दुर्गतिं तात ! गच्छति।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

कर्तव्य मान रहे हैं, जिन्होंने अपनी सहजस्निग्धा भारतीय प्राच्यसंस्कृति–साहित्यनिष्ठा के आकर्षण से * विगत दिसम्बर मास में निरन्तर पाँच दिवस पर्य्यन्त सम्प्रदायवाद-निरपेक्ष मधुपुराणशास्त्रानुबन्धिनी ज्ञानविज्ञान–परिभाषाओं के विश्लेषण–समय के दान से हमें कृतार्थ बनाया है। साथ ही हमें ऐसा आश्वासन उपलब्ध हुआ है मान्य–राष्ट्रपति महाभाग से कि वे शीघ्र ही ग्रन्थसत्ता का तथा संस्थान सत्ता का ध्यान भी आकर्षित करने का अनुग्रह करेंगे इस ओर।

विगत ३–४ वर्षों से राजस्थानसत्ता के प्रति इस दिशा में हम सर्वात्मना प्रयत्नशील थे। किन्तु सम्भवतः हम किन्हीं अपने ही अज्ञात दोष से निरन्तर प्रयास करते हुए भी राजस्थानसत्ता के तत्कालीन प्रशासक श्री महाधीशों का अनुग्रह प्राप्त न कर सके। अपने ही प्रान्त की इस आत्मीय–सत्ता से इसप्रकार उपेक्षित होने से निरतिशयरूप से उत्पीड़ित होते हुए इस दिशा में तटस्थ बन जाना ही हमने श्रेयपन्था मान लिया था। सहसा गतवर्षीमास के आरम्भ में ही राजस्थान के संस्कृतिनिष्ठ महामान्य श्रीराज्यपाल महाभाग का हमें विशेष अनुग्रह प्राप्त हुआ। एवं आपने यहाँ के ऐक्य से हमारी साहित्यसभा का पर्य्यवेक्षण किया। साथ ही राजस्थानसत्ता के अपने ही घर के इसप्रकार के साहित्यिक कार्य्य के प्रति उदासीन बन रहने के प्रति खेद भी प्रकट किया। और हमें यह आश्वासन प्रदान करने का निःसीम अनुग्रह किया कि, 'राज्यसत्ता शीघ्र ही इस दिशा में राजस्थानसत्ता के सहयोग के लिए कृतसंकल्प है'। तदर्थ कृतज्ञता समर्पित कर रहे हैं हम हृदय से अपने महामान्य श्रीराज्यपाल महाभाग के प्रति भी।

आज से अनुमानतः तीन वर्ष पूर्व माहमयी (बम्बई) के सुविख्यात धनकुबेर श्रेष्ठिवर श्रीगजेन्द्रनाथजी महाभाग सेकसरिया के एकमात्र सुपुत्र श्रेष्ठिवर मानवधर्म भारतीयसंस्कृतिपरायण श्रीरुडीलालजी महाभाग सेकसरिया ने लगभग पचीस सहस्र के व्यय से आत्मविद्या, सापिण्ड्य विद्या से सम्बन्ध रखने वाले दो ग्रन्थ प्रकाशित करवाने का अनुग्रह कर स्वयं अपनी ही ओर से इन्हें विश्व के संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों के समीप भेजा था। जापान-इंग्लैंड-जर्मन अमेरिका आदि के संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों की जैसी सम्मतियाँ हमें इस समय प्राप्त हुई थीं उनके आधार पर सहसा एक बार तो हमारी ऐसी धारणा हो गई थी कि व्यर्थ ही श्रम किया हमने इस भारत देश में जहाँ सरस्वती का मूल्यांकन आज केवल जड़ भौतिकवादों से ही किया जा रहा है। आज से अनुमा-

*–महामहिम राष्ट्रपति महाभाग की प्रेरणा से गत दिसम्बर सन् ६१ की १४-१५-१६-१७-१८-तारीखों में निरन्तर पाँच दिवस पर्य्यन्त राष्ट्रपति महाभाग की समुपस्थिति में जो व्याख्यान हुए थे वे स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित हो गए हैं।

नतः दो वर्ष पूर्व हमारी साहित्य-सेवा से पूर्ण परिचय प्राप्त करने वाले राजस्थान के ही एक सम्मान्य मन्त्री महाभागन अनुग्रह करते हुए हमें यह आश्वासन दिया था कि "यदि राजस्थान सघा एक हजार वार्षिक भी द दे, तो हमें कृतकृत्य बन जाना चाहिए। क्योंकि आरम्भ थोड़ा ही अच्छा है"। यह है हमारे उस देश भारत राष्ट्र की संस्कृतिनिष्ठा, जिसने वेदशास्त्र जैसी महामहनीया लोकोत्तरा संस्कृति को जन्म दिया है। उधर जापान के विश्वविद्यालय के एक सम्मान्य प्रोफेसर ने अपने सम्मतिपत्र में इस साहित्यिक कार्य्य के प्रति अपनी यह धारणा अभिव्यक्त की है कि—"हमारा जापान राष्ट्र युद्धक्षति की पूर्ति न कर सकने के कारण अभी तक इस प्रकार की साहित्य-साधनाओं में सफलता प्राप्त नहीं कर सका है। सचमुच आपका देश (भारतराष्ट्र) धन्य है जिसने आपको ऐसी सुविधा प्रदान की ?, जिसके बल पर आपने अपनी इसप्रकार की साहित्य-साधना को सफल बनाया। अब हमने भी आपके इस साहित्यप्रचार की दृष्टि से अपनी युनिवर्सिटी में हिन्दी के क्लास खोल दिए हैं"।

स्पष्टम है कि विगत तीन हजार वर्षों से भ्रक्रान्त बनी रहने वाली विविध मतवाद-सम्प्रदायवाद-निबन्धना आत्मबुद्धि अनुगता आभ्यन्तरादासता न, तथा विगत एक सहस्र वर्ष से आक्रान्त बनी रहने वाली मनःशरीरनिबन्धना बाह्य दासता ने भारतराष्ट्र की बुद्धियोगनिष्ठा को एकान्तत: अभिभूत हा कर लिया है। हमारी सांस्कृतिक-साहित्यिक चेतना सर्वात्मना प्रसुप्तवत् ही प्रमाणित हो गई है। यदा कदा जब कोई विदेशी विद्वान् यहाँ की संस्कृति, किंवा साहित्य-दिशा के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त करता है, तो एक क्षणमात्र क लिय हमारे देश के महापुरुष एक प्रचवड कोहर से मानो अपना मुख ऊपर करते हैं और पुनः क्षणानन्तर ही उसी मोहारिका के गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं, मानो इन्होंने कुछ सुना ही न हो। भारतराष्ट्र की आत्म-बुद्धि-मन-शरीर-दासतामूला इस सर्वदासता को लक्ष्य बना कर ही कलकत्ता की गान्धीजयन्ती के अवसर पर सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता स्व० श्री जे० एम० सेन गुप्ता महाभाग न अपने ये उद्गार प्रकट किए थे कि—

"जखुन एई पश्चिमरा आमादेर चोखे आँगुल दिए दखे दाय, तखुन आमरा बुभि-एई पड़ो लोक"।

अर्थात् "जब ये पश्चिम के विद्वान् हम भारतीयों की आँखों में अङ्गुली डाल डाल कर हमें यह बतलाते हैं कि, तुम्हारे देश में अमुक विद्याएँ हैं, अमुक श्रेष्ठ कार्य्य हैं,

तब कहीं हमारी समझ में कुछ आता है कि, सचमुच यह राष्ट्र का महान् कार्य्य है"– (सो भी क्षणमात्र के लिए ही–भूतावेशवत्)।

भारतवसुन्धरा के महत्सौभाग्य से भारतराष्ट्र आज मन-शरीरानुबन्धिनी दासता के दारुण पराबन्धन से अहिंसानुशिक्षित विनिर्मुक्त हो चुका है इसमें तो कोई सन्देह नहीं। किन्तु इस तथ्य के साथ भी कदापि गजनिमीलिका नहीं की जा सकती कि भारतीय मौलिक प्राच्य ज्ञान-विज्ञानसंस्कृति के अभाव से हमारी आत्मबुद्धिनिबन्धना आभ्यन्तर दासता अभीतक ज्यों की त्यों सुरक्षित ही बनी हुई है। 'स्वतन्त्रता' के वास्तविक अर्थ के समन्वय के लिए हमें शीघ्र से शीघ्र इस आत्मबुद्धिदासता से राष्ट्र का परित्राण कर लेना है। यह कार्य्य कदापि स्वप्न में भी केवल पश्चिम के अन्धानुकरण से तबतक सम्भव नहीं है जबतक कि हम अपनी मूलसंस्कृति–मौलिक प्राच्य–साहित्य को आधारशिला के रूप में ज्ञानविज्ञानदृष्टि से अपने राष्ट्रीय निर्म्माण कार्य्यों में, विविध योजनाओं में प्रतिष्ठित नहीं कर लेते।

जिस राष्ट्र के ज्ञान व कोश में 'बुद्धियोग' निष्ठा प्रतिपादक 'गीता' जैसा लोकोत्तर शास्त्र सुरक्षित हो वह भी यदि आत्मबुद्धिदासता में निमग्न रहता हुआ अपनी प्रत्येक प्रगतियों में पश्चिम का ही अन्धानुकरण करता रहे, तो सचमुच इस के लिए इससे अधिक लज्जा का और कोई क्षेत्र नहीं माना जायगा। अभिनव स्वतन्त्रता के इस उषाकाल में भारतराष्ट्र इस स्थिति को देखे समझे, एवं अविलम्ब अपने मौलिक साहित्य की ज्ञानविज्ञान–परिभाषाओं के अन्वेषण में प्रवृत्त हो तन्माध्यम से आत्मबुद्धिदासता का परित्याग कर वास्तविक स्वातन्त्र्य-सुख का सफल उपभोक्ता प्रमाणित हो एकमात्र इसी मङ्गलमयी राष्ट्रीय कामना से बुद्धियोगनिष्ठात्मक यह अक्षर-प्रसून राष्ट्र के महामहिम संस्कृतिनिष्ठ राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग के करकमलों में अत्यन्त सम्मान के साथ समर्पित करते हुए आः कथञ्चिदपि यह शुष्कशब्दाडम्बरी आङ्गिरस भारद्वाज मनस्तुष्टि का ही अनुभव कर रहा है।

ओमित्येतत्

भगवतीप्रशुक्ल–वसन्तपञ्चमी
वि॰ सं॰ २०११

मानवाश्रमविद्यापीठ, दुर्गापुरा
(जयपुर राजस्थान),

श्री

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक

सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक 'ग' विभागानुगत

पूर्वखण्ड की

परिलेखसूची, एवं सांक्षिप्त-विषयसूची

८२—आत्मानुगत चतुर्विध-योगविवर्तपरिलेख	२१९
८३—आत्मब्रह्मानुगत योगविवर्तपरिलेख (२२०–२२१ के मध्यम में)	
८४—वाङ्मय भूतात्मानुगत कर्मयोगात्मक कर्मयोग-परिलेख (१)	२२९
८५—प्राणमय भूतात्मानुगत कर्मयोगात्मक भक्तियोग-परिलेख (२)	२३०
८६—मनोमय भूतात्मानुगत कर्मयोगात्मक ज्ञानयोग-परिलेख (३)	२३१
८७—आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मानुगत कर्मयोगात्मक बुद्धियोग-परिलेख(४)	२३२
८८—संग्रहात्मक कर्मयोगपरिलेख	२३३
८९—कलाविभागात्मक कर्मयोगपरिलेख	२३४
९०—सर्वसंग्रहात्मक कर्मयोगपरिलेख	२३५
९१—भक्तियोगात्मक कर्मयोगपरिलेख (१)	२४१
९२—भक्तियोगात्मक भक्तियोगपरिलेख (२)	२४२
९३—भक्तियोगात्मक ज्ञानयोगपरिलेख (३)	२४३
९४—भक्तियोगात्मक बुद्धियोगपरिलेख (४)	२४४
९५—संग्रहात्मक भक्तियोगपरिलेख	२४५
९६—कलाविभागात्मक भक्तियोगपरिलेख	२४६
९७—सर्वसंग्रहात्मक भक्तियोगपरिलेख	२४७
९८—ज्ञानयोगात्मक कर्मयोगपरिलेख (१)—(२५२–२५३ के मध्य में)	
९९—ज्ञानयोगात्मक भक्तियोगपरिलेख (२)—(”)	
१००—ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोगपरिलेख (३)—(”)	
१०१—ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोगपरिलेख (४)—(”)	
१०२—संग्रहात्मक ज्ञानयोगपरिलेख —(”)	
१०३—कलाविभागात्मक ज्ञानयोगपरिलेख	२५३
१०४—सर्वसंग्रहात्मक ज्ञानयोगपरिलेख —	२५४
१०५—बुद्धियोगात्मक कर्मयोगपरिलेख (१)—(२६१–२६२ के मध्य में)	
१०६—बुद्धियोगात्मक भक्तियोगपरिलेख (२)—( )	
१०७—बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोगपरिलेख (३)—(”)	
१०८—बुद्धियोगात्मक बुद्धियोगपरिलेख (४)—(”)	
१०९—संग्रहात्मक बुद्धियोगपरिलेख (”)	
११०—कलाविभागात्मक बुद्धियोगपरिलेख	२६२

१११—सर्वसंग्रहात्मक बुद्धियोगपरिलेख २६३
११२—योगानुगत साध्य-साधन-साधक-विवर्त्त-परिलेख २६५
११३—षोडशविध योगविवर्त्त-परिलेख २६६
११४—षोडशकलाविस्तारानुगत षोडशीपरिलेख २६७
११५—प्रज्ञानात्मस्वरूपविवर्त्त-परिलेख २७१
११६—औपधिरूप-क्रमानुगत-प्रज्ञानविवर्त्तपरिलेख २७६
११७—उक्थ-अर्क-अशीति-विवर्त्त त्रयी-परिलेख ८२
११८—विज्ञान-प्रज्ञान-सम्मत योगपरिलेख ८
११९—पुरुष-प्रकृति-प्रकृतिविकृति-विकृति-विवर्त्त परिलेख २९८
१२०—वेदशास्त्रानुगत-तन्त्र-परिलेख २९९
१२१—सर्व-मनः-प्राण-वाङ्मय-योग-विवर्त्त-परिलेख ३०१
१२२—अव्ययसमतुलिता ज्ञानयोगचतुष्टयी-परिलेख ३०५
१२३—अक्षरसमतुलिता भक्तियोगचतुष्टयी-परिलेख ३०६
१२४—आत्मक्षरसमतुलिता कर्मयोगचतुष्टयी-परिलेख ३ ६
१२५—परात्परसमतुलित-निष्कलाव्ययपुरुषानुगत त्रिपुरुषविज्ञानपरिलेख ३०९
१२६—त्रिसूत्रकरणभक्तिप्रदर्शनपरिलेख ३१०
१२७—आत्मपर्याप्त्यनुगत-सप्तसंस्थाक-परिलेख (३११–३१२ के मध्य में)
१२८—षष्ठानुप्रविष्टभावानुगत प्रजापतिपर्वचतुष्टयी-प्रदर्शनपरिलेख ३१२
१२९—पञ्चपुरुषीरानुगत पञ्चमहाभूत परिलेख ३१६
१३०—सत्त्वरजस्तमोऽनुगत-ईश्वर-जीव-जगत्त्रय-परिलेख ३१८
१३१—वर्णावर्णसृष्टिप्रवर्त्तक आत्मपरिलेख ३२३
१३२—शास्त्रमतानुगत पञ्चाक्षरमूलक यथासर्ग-परिलेख ३२४
१३३—मानव-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-सर्ग-परिलेख ३२६
१३४—सौरविवर्त्त भाव-परिलेख ३३५
१३५—विभूतिलक्षण-भगवत्स्वरूप-परिलेख ३४०
१३६—महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-भूतात्मानुगत धर्म-ऐश्वर्य-यश-श्री-भाव-परिलेख ३४२
१३७—षड्विध-'भग' विभूतिसमन्वित षड्विध आत्म-परिलेख ३४३
१३८—अमृतसौरानुगता विद्याबुद्धिचतुष्टयी-परिलेख ३४४
१३९—मर्त्यसौरानुगता अविद्याबुद्धिचतुष्टयी-परिलेख ३४५

१४०—चित्-प्राण-भूत-अनुगत आत्मविवर्त्त	३५२
१४१—प्रज्ञाबुद्धि-प्राणबुद्धि-भूतबुद्धि-समन्वय-परिलेख	३५३
१४२—संचितस्वरूप-परिलेख	३५७
१४३—प्रविष्टस्वरूप-परिलेख	३५८
१४४—शास्त्र—शास्त्र-व्यवहार-भूत-विद्याचतुष्टयी-परिलेख	३८२
१४५—वर्णधर्म्मविभिन्ना-भारतीयविद्याचतुष्टयीसमन्वय-परिलेख	३८३
१४६—वेदशास्त्रतात्विक-परिलेख	३९०
१४७—अष्टादशपुराणशास्त्र-परिलेख	३९९
१४८—निगम निगमाङ्ग-शास्त्र-परिलेख	४००
१४९—निगमानुगत-सर्वशास्त्रसंग्रह-परिलेख	४०१
१५ —आगमशास्त्रसंस्थान-परिलेख	४०२
१५१—मनोऽनुगता-षोडशविद्या-संख्या-परिलेख	४०३
१५२—ज्ञानेन्द्रियानुगता-षोडशविद्या-संख्या-परिलेख	४०४
१५३—कर्म्मेन्द्रियानुगता-षोडशविद्या-संख्या-परिलेख	४०५
१५४—भूतानुगता-षोडशविद्या-संख्या-परिलेख	४०५
१५५—चतु पष्टिकला (६४) संख्या-परिलेख	४१३
१५६—त्रिष्वप्रसंहार-संख्या-परिलेख	४१५
१५७—भूतरस-संख्या-परिलेख	५१६
१५८—चतु पष्टिकला (६४) संख्या-परिलेख	४२
१५९—स्व-अक्षर-आत्मक्षर-क्षर-क्षेत्रानुगता विद्याचतुष्टयी-परिलेख	४२७
१६०—पञ्चगुणात्मिका महत्प्रकृति-विस्तार-परिलेख	४८३
१६१—शारीरात्मा-परमात्मा-अनुगता परिपूर्णता-परिलेख	५१७
१६२—सर्वविद्या-योग-विभूति परिलेख	५३४
१६३—विभूतिभावानुगत-अमृतमर्त्य-परिलेख	५४०
१६४—सूर्य्यानुगत-विद्या-अविद्या-स्वरूप परिलेख	५४६
१६५—पुरुषानुगत-विद्या-अविद्या-स्वरूप-परिलेख	५५१
१६६—सिद्ध-साध्य योग-चतुष्टयी-परिलेख	५५५
१६७—विद्यासम्पदनुगत-उपक्रमोपसंहार परिलेख	५५६
१६८—अविद्यासम्पदनुगत-उपक्रमोपसंहार-परिलेख	६५७

१६६—आत्मसोपानपरम्परानुगता-अभ्युदयसंस्थात्रयी-परिलेख ५५८
१७०—गीताभिमता योगचतुष्टयी, तदाधारभूत-आत्मविवर्त्त-परिलेख ५५६
१७१—प्राचीनाभिमता संशोधिता-बुद्धियोगात्मिका-योगत्रयी-परिलेख ५६०
१७२—पञ्चविध आत्मज्योति स्वरूप-परिलेख ५६२
१७३—पञ्चविध भूतज्योति स्वरूप-परिलेख ५६४
१७४—उभयज्योतिर्लक्षण गुहात्मा-परिलेख ५६७
१७५—ज्ञानकर्म्मानुगत-आत्मविवर्त्त-परिलेख ५६८
१७६—ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान-भाव-परिचय-परिलेख ५६६
१७७—निगुर्णात्मवैभवस्वरूप-परिलेख ५७१
१७८—तस्योपनिषद्रोम्'-परिलेख ... ५७२
१७६—गुणानुगत विवर्त्तभाव-परिलेख ५७३
१८०—ज्ञान-कर्म्मत्रयी, विज्ञान-विकर्म्मत्रयी-परिलेख ५७५
१८१—अज्ञान अकर्म्मत्रयी-परिलेख ५७६
१८२—गीतासम्मता संशोधिता योगत्रयी-परिलेख ५७६
१८३—प्राचीनाभिमता-योगत्रयी-परिलेख ५७६
१८४—सर्वयोगसंग्रहसमन्वय-परिलेख ५७७
१८५—लोकानुगता योगत्रयी-परिलेख ५७८
१८६—अभ्युदयविधा-अभ्युदययोग-चतुष्टयी-परिलेख ५६८
१८७—प्राचीनाभिमत-गीतायोग-परिलेख ५६८
१८८—वैज्ञानिकाभिमत-गीतायोग-परिलेख ५६६
१८६—गीताशास्त्र-नाम-स्वरूप-परिलेख ५६६
१६०—मार्गविधानिबन्धन-श्रेशनिवचन-परिलेख ६००
१६१—योगी-ज्ञानी-तपस्वी-कर्म्मी-तारतम्य-परिलेख ६०२
१६२—सर्वश्रेष्ठ श्रेष्ठ-उत्तम-मध्यम-प्रथम-योगचतुष्टयी-परिलेख ६०५
१६३—प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-कर्म्मविभाग-परिलेख ६२६
१६४—सत्त्व-रज-तम-सर्व-गुणाकर्षण-परिलेख ६३१
१६५—रागद्वेषलक्षण-परिलेख ६३२
१६६—रागत्रयी-स्वरूप-परिलेख ६३४
१६७—सुख-दुःख-स्वरूप-भावत्रयी-परिलेख ६३५

१९८—प्रतिपादितविषयस्वरूपरेखापरिलेख (१) ६५१

१९९—दृष्टि-वृष्टि-पुष्टि-मुक्ति-गुणचतुष्टयी-परिलेख (२) ६५१

२००—गुणानुगता योगचतुष्टयी-परिलेख (३) ६५३

२०१—पुरुषविद्याचतुष्टय्यनुगता पुरुषयोगचतुष्टयी-परिलेख (४) ६५३

२०२—प्रकृतिविद्याचतुष्टय्यनुगता-प्रकृतियोगचतुष्टयी-परिलेख (५) ६५५

२०३—विकृतिविद्याचतुष्टय्यनुगता विकृतियोगचतुष्टयी-परिलेख (६) ६५६

२०४—सर्वसंग्रहपरिलेख (७) ६५७

२०५—योगी-भावपरिलेख (८) ६५७

२०६—योग-भावपरिलेख (९) ६५८

२०७—विद्या-भावपरिलेख (१०) ६५९

सैषा बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्डानुगता

परिलेखसूची—उपरता



श्री

'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड की संक्षिप्त

विषय-सूची

* –'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड का प्रकरणविभाग–

(१)–बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन (प्रथमप्रकरण)————१ पृष्ठ से ३७६ पर्य्यन्त
(२)-बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूपनिर्वचन (द्वितीयप्रकरण)-३७७ से ६४४ पर्य्यन्त
(३)–बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार (तृतीयप्रकरण)————६४५ से ६६२ पर्य्यन्त

सैषा प्रकरणत्रयात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा

—•—

(१)–'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण के चार स्तम्भ(१से३७६पर्य्यन्त)
१–सन्दर्भसङ्गति (प्रथमस्तम्भ) १ से १८ पर्य्यन्त
२ योगेश्वर का तात्त्विकस्वरूपनिरूपण (द्वितीयस्तम्भ) १६ से २०४ पर्य्यन्त
३–योगेश्वरानुगत 'योग' का स्वरूप निरूपण (तृतीयस्तम्भ) २०५ से २६८ पर्य्यन्त
४–'बुद्धि' तत्त्वस्वरूप दिग्दर्शन (चतुर्थस्तम्भ) २६६ से ३७६ पर्य्यन्त

तदिदं स्तम्भचतुष्टयात्मकं–प्रथमप्रकरणम्

—१—

(२)–'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण के चार स्तम्भ (३७७ से ६४४ पर्य्यन्त)
१–धर्मबुद्धियोगानुगत 'आर्षविद्या'स्वरूपनिर्वचन (प्रथमस्तम्भ) ३७७ से ५०६ पर्य्यन्त
२–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचन (द्वितीयस्तम्भ)५०७ से ५४२ पर्य्यन्त
३–ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन (तृतीयस्तम्भ) ५४३ से ५८८ पर्य्यन्त
४–वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन (चतुर्थस्तम्भ)५८६ से ६४४ पर्य्यन्त

तदिदं स्तम्भचतुष्टयात्मकं–द्वितीयप्रकरणम्

—२—

(३)–बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार———६५५ से ६६२ पर्य्यन्त

सैषा प्रकरणत्रयात्मिका नवस्तम्भानुगता बुद्धियोगपरीक्षा

——३——

स्तम्भचतुष्टयात्मक-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथम-प्रकरण

प्रथमप्रकरणान्तर्गत 'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रथम स्तम्भ के १४ अवान्तर परिच्छेद

(१ पृष्ठ से १८ पृष्ठ पर्य्यन्त)

१–माङ्गलिक संस्मरण १

२–शास्त्रनिष्ठा का शैथिल्य एवं लोकनिष्ठा का प्राबल्य ७

३–मानव का भ्रान्तिमूलक परिताप ७

४–मानव का देवपुरुषार्थहीन उद्बोधन ८

५–कर्म्मकौशलानुगत-शास्त्रीय प्रज्ञा का वैशिष्ट्य ९

६–धर्म्म, और अधर्म्म की स्वरूपव्यवस्थिति १

७–कर्म्मयोगसमन्वितात्मक गीताशास्त्र १

८–अभिनिविष्ट शास्त्रनिष्ठा की अनुपयुक्तता ११

९–सिद्धान्ततः पूर्ण एवं अपूर्व गीताशास्त्र १२

१०–गीता का योगनिषद् भाव १२

११–आत्मविद्या के लोकप्रिय पाँच विषय १३

१२–नव (९)–खण्डात्मिका गीताविज्ञानभाष्य-भूमिका की सन्दर्भसङ्गति १३

१३–विद्या एवं योगानुगत गीताशास्त्रनिष्कर्ष १५

१४–निरूपणीय विषय की सन्दर्भसङ्गति १६

प्रथमप्रकरणान्तर्गत 'सन्दर्भसगति' नामक चतुर्दश (१४) अवान्तरपरिच्छेदात्मक

प्रथमस्तम्भ–उपरत

(१)–१

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–'योगेश्वर का तात्त्विकस्वरूपनिरूपण' नामक

द्वितीय स्तम्भ के १५१ अवान्तर परिच्छेद

(१९ से ७०४ पर्य्यन्त)

१–आर्षीश्रुति का स्वरूपपरिगणन १९

२–आर्षीश्रुतिमूलक योगेश्वर २१

३–योगेश्वर का 'योग' और 'ईश्वर' २१

४–अभिव्यक्तिलक्षण व्यक्तित्व, एवं विश्वस्वरूपपरिगणन २४

५–सामान्य (सांख्य) शास्त्र का अवतरणाभास २४

६–विश्वकारणत्रयी का स्वरूपपरिगणन २५
७–सद्ब्रह्म से उपलब्ध सच्चिदानन्दब्रह्म २६
८–सत्ताब्रह्म का सर्वानुभूत 'सत्' पदार्थ २६
९–सत्ता, धृति, विधृति, नामक सत्ताब्रह्म के तीन विवर्त्त २७
१० ज्ञानपूर्विकारात्मक दृष्टिकोण २८
११–क्रियापूर्वक ज्ञानात्मक दृष्टिकोण २९
१२–उभय दृष्टिकोणों का तात्त्विक समन्वय २९
१३–समन्वयमूलक-'प्रत्यवैकसत्योपनिषत् सिद्धान्त २९
१४–सत्ताब्रह्म का सर्वानुभूत 'चित' पर्व ३०
१५–आत्मज्ञान स्वज्ञान, परज्ञान, नामक चिद्ब्रह्म के तीन विवर्त्त ३०
१६–रसोपलब्धिमूलक 'आनन्द' पर्व ३१
१७–आत्मानन्द स्वानन्द, परज्ञान, नामक आनन्दब्रह्म के तीन विवर्त्त ३२
१८–आनन्दस्वरूपमीमांसा (वैज्ञानिकी) ३३
१९–मूल–तूलानन्दमात्रास्वरूपपरिगणन ३४
२० –परम आनन्दस्वरूपपरिगणन ३५
२१–शतमात्रानुगत–लययानन्दस्वरूपपरिगणन ३७
२२–तैत्तिरीयोपनिषत्सम्मत-आनन्दस्वरूपपरिगणन ३९
२३–मानव की आनन्दलिप्सा, और तत्समाधान–प्रकार ४१
२४–विषयानन्दप्रवृत्ति का आत्यन्तिक मोह ४२
२५–ब्रह्मानन्द के प्रति लोकायतिकों की भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण ४२
२६–रसानन्दस्वरूपपरिगणन ४३
२७–पुत्र–लोक–वित्तैषणा–प्रवर्तक रसानन्द ४४
२८–निरानन्दस्वरूपपरिगणन ४५
२९–आनन्द और सुख का पार्थक्य ४८
३० –भूमानन्दस्वरूपपरिगणन ४९
३१–भूमा और तद्रूप आकाश ५०
३२–शून्य–पूर्ण–स्वरूपपरिगणन ५०
३३–आकाश की आनन्दरूपता ५१
३४–भयप्रवर्तक उदरभाव ५३
३५–साक्षी और भोक्ता सुपर्ण का सम्बन्ध ५३
३६–मानव की सहज आनन्दरूपता ५४
३७–भूमा, और अल्पता का तारतम्य ५५
३८–आत्मानुगत त्यागलक्षण श्रेयोधर्ममार्ग ५६
३९–अध्यात्मानुगत उपनिषत्सम्मत भूमोधर्ममार्ग ५८
४० –सच्चिदानन्दब्रह्म के तीन विवर्त्त ५८
४१–एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ६१
४२–सजातीय–विजातीय–स्वगत–भेदशून्य अखण्ड–अद्वय–ब्रह्म ६१
४३–स्वगतभेदमूला आपत्ति, और तन्निराकरण ६२
४४–सत्–चित्–आनन्द–भावों की अभिन्नता ६२
४५–'अस्ति' 'उपलब्धि' और 'तत्त्वभाव' का समन्वय ६५
४६–गीता का समन्वय और ऐकान्तिक रस ६६
४७–ब्रह्मानुगत 'आम्' और 'अम्व' तत्त्व ६६
४८–ब्रह्मानुगत वाक्यार्थ का समन्वय ६७
४९–नेति नेति, इत्युपनिषत्समन्वय ६७
५० –अवाङ्मनसगोचर अविशेष ब्रह्म ६९
५१–निष्कलब्रह्म और तदनुगत वनब्रह्म ७०
५२–महामाया परमेश्वर की सर्वात्मकता ७१
५३–सर्वकलाविशिष्ट परात्परब्रह्म, एवं सर्वकलोपपन्न पुरुषब्रह्म ७१
५४–नव (९) अवस्थात्मक 'बल' तत्त्व ७१
५५–षड्बलपरिग्रहात्मक आत्मन्वी प्रजापति ७२
५६–'माया'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति ७३
५७–'कला'परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति ७६
५८–'गुण'–'विकार'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी ८२
५९–'आञ्जन'–आवरण –परिग्रहयुक्त आत्मन्वी 'विराट्'–'विश्व प्रजापति ८७
६० –परमविराट् और क्षुद्रविराट् ८८

६१–चतुर्मात्मक पञ्चाक्षर ८८
६२–ब्रह्मप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन ८९
६३–षट्पतिमहापरिभूत षट्ब्रह्म प्रजापति ९
६४–तात्विकमाध्यम से स्वरूपिण्डसमन्वय ९१
६५–प्रतिमात्मोश्वरीप्रजापति के विविध विवर्त ९५
६६–ब्रह्मा, इन्द्र, एवं उपेन्द्र के षोडशीभाव ९७
६७–अमृत–ब्रह्म–शुक्र–त्रयीस्वरूपदिग्दर्शन ९८
६८–पञ्चपुरुषीप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन ९९
६९–त्रि–धामात्मक 'विश्वकर्म्मा' प्रजापति का महिमा विवर्त १ ?
७ –पञ्चानुगत [?] का विस्तृत 'मनोता' भाव १ २
७१–कलाविभागस्वरूपदिग्दर्शन १ ३
७२ तत्व का एकत्वानेकत्वमेवोपनिषत् १ ४
७३–मही, समरागम्या और अदिति १ ४
७४–आत्म–देव–भूत–भेदभिन्ना त्रयी १ ५
७५–विराट्स्म देवसत्य का स्वरूपदिग्दर्शन १ ६
७६–ईश्वरप्रजापति की १४४ कलाविभूतियाँ १ ७
७७–सर्वात्मात्मक सर्वसमन्वय ११
७८–भारतत्रयी से अनुप्राणित संस्थात्रयी १११
७९–अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–गुणत्रयी विश्वरूप का समन्वय ११४
८ –विविध सीमापर्व्वस्वरूपदिग्दर्शन ११५
८१–अधिदैवत उपाधि के अधिकारी 'परमविराट्प्रजापति' ११६
८२–'अध्यात्म उपाधि के अधिकारी शुद्ध विराट्प्रजापति' ११६
८३–'अधिभूत उपाधि के अधिकारी 'त्रिपि- विश्वप्रजापति' ११७
८४–वाक्प्रजविरूपप्रजापति का स्वरूप समन्वय ११७
८५ अनन्तम् साक्षी एवं अनन्तम् मोक्ष ११८
८६–ईश्वरभावानुगत गीतावचनमन्वय ११९
८७–जीवविश्व भावानुगत स्मार्त दृष्टि १२१
८८–भारतत्रयी से अनुप्राणित वाक्त्रयी १२२
८९–उभयविराट्स्वरूपसमर्थक श्रौत-स्मार्त-वचन १२१
९०–जीवानुगत ईश्वर–जीव–जगत्–त्रयी १२५
९१–जीवविराट्पुरुषानुगता 'आत्मभाव' स्वरूपमीमांसा १२५
९२–जीवविराट्पुरुषानुगता 'भूतभाव'– स्वरूपमीमांसा १२९
९३–अध्यात्मानुगत शारीरिक आत्मा, और अध्यात्मम् ११
९४–स्थावर जीव, और चतुर्दश (१४) विध भूतसर्ग १११
९५–भास्करत्रयी से अनुप्राणित आध्यात्मिकी विराट्त्रयी १११
९६–चिदात्मानुगत चिदंश चिदाभास और चित्य विवर्त १११
९७–चित्प्रवाहक 'बीज' तत्व ११४
९८–सूर्य्यप्रकाश माध्यम से चिदंश–विवर्त्तत्रयी का समन्वय ११४
९९–जीव के 'पाप्मा' भावों का सामान्य– स्वरूपदिग्दर्शन ११५
१ –जीवकलाविभूति तथा पाप्मभावों का स्वरूपदिग्दर्शन ११६
१ १–अधिदैवत गृहात्मा, एवं अध्यात्म गृहात्मा ११९
१ २–एकोनविंशति (१९) मुक्त जीवात्मा का स्वरूपविस्तार ११९
१ ३–आत्मस्वरूपस्वरूपसमर्थकवचन १४५
१ ४–प्रतिमात्मोश्वरी में पञ्चेश्वरषोडशी विवर्तों का अन्तर्भाव १५
१ ५–आध्यात्मिक प्रतिमाषोडशी–स्वरूप–स्वरूप- दिग्दर्शन १५
१ ६–आधिदैविक–प्रतिमाषोडशी–स्वरूप– स्वरूपदिग्दर्शन १५२
१ ७–ब्रह्म, और माया की अभिन्नता १५२
१०८ अधिदैवतानुगत उपकर्म, तथा अध्यात्मा- नुगत उपकर्म १५५

१ ९ (क)–सप्तर्षि मनुसम्मत आत्मस्वरूपपरिचय १४७
१ ९ (ख)–शान्ता मत्स्वरूपदिग्दर्शन १४८
११ –मीमांस्य महानात्मा १४९
१११–अव्यक्त स्वयम्भू की दर्शपूर्णमासप्रक्रिया १४९
११२–आकृति–प्रकृति–अहंकृति–जनक दर्शपूर्णमास १५
११३ त्रैगुण्यसमावच्छेदक विधि–अविधि–भाव १५
११४–सप्तभावापन्न पारमेष्ठ्य महान् की महत्ता १५२
११५–त्रिसत्त्वस्वरूपात्मक बीज 'महान्' १५२
११६–सर्वानुगत विविभाव १५२
११७–गुणत्रयसमन्वयात्मक महानात्मा का बीजात्मकत्व १५२
११८–महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन १५३
११९ मातापितृस्नेहमय आत्ममय महानात्मा १५४
१२०–महान् का विशुद्ध सत्त्वात्मक स्वरूप १५५
१२१–महानात्मा की स्वरूपाभिनिष्पत्ति, एवं पार्थक्य १५६
१२२–मनुवचन, और आत्मस्वरूपपार्थक्य १५७
१२३–महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन १५७
१२४–दार्शनिक ११ इन्द्रियाँ, एवं वैदिक ५ इन्द्रियाँ १५८
१२५–इन्द्रियस्वरूप का मूलाधार १६०
१२६–गुहानिहिता सप्तमात्राचतुष्पदी १६१
१२७–अतीन्द्रिय–अनिन्द्रिय–सर्वेन्द्रिय–शाश्वत महान मन १७३
१२८–इन्द्रियों के 'मात्रा' भाव १७४
१२९–मानस ज्ञान कर्म, अर्थ का उदय १७४
१३ –प्रज्ञामात्रा, और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ १७५
१३१–प्राणमात्रा, और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ १७६
१३२ (क)–इन्द्रियव्यापार, और काममय मन का अनिवार्य सहयोग १७७
१३२ (ख)–पञ्चविध इन्द्रियमात्रा–विवर्त १७९
१३३–भूतमात्रा और पञ्च इन्द्रियार्थ १७९
१३४–सर्वमूलभूता महाप्रकृति १८
१३५–कणाद का अणुपरमाणुवाद और कपिल का गुणवाद १८१
१३६–अपूर्व शिल्प, एवं प्रतिरूप शिल्प-द्वारा भूत विकास का समन्वय १८१
१३७–पञ्चभूतों में प्राणमात्रा का समन्वय १८२
१३८ तीनों रूपों का व्याप्तत्व १८३
१३९–चेतन, अचेतन परिभाषा १८३
१४ –'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' का समन्वय १८४
१४१–त्रिपर्वा महानात्मा से त्रिपर्वा भूतात्मा का समतुलन १८५
१४२–आत्मा का उत्क्रमणस्थान एवं उपसंहारस्थान १८६
१४३–श्रौती दृष्टि और गीतादृष्टि का समन्वय १८८
१४४–सप्तात्मानुगता अक्षरात्मस्वरूप-विश्रान्ति १९१
१४५–त्रिविध जीवात्मवर्ग १९२
१४६–एको वा इदं वि बभूव सर्वम् १९३
१४७–आदिमूलस्वरूप का दिग्दर्शन १९४
१४८–त्रिपुरुषात्मक षोडशीपुरुष १९७
१४९–शिर–हृदय–पादमूला त्रिविधविवर्तत्रयी १९८
१५ –ईश्वर, जीव, एवं त्रिविधात्मक देव–आत्म–भूत–विवर्त १९९
१५१–योगेश्वरस्वरूपोपसंहार २ १

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपनिरूपणात्मक

१५१ अवान्तर परिच्छेदात्मक

द्वितीयस्तम्भ—उपरत

(१)—२

प्रथमप्रकरणान्तर्गत—"योगेश्वरानुगत 'योग'स्वरूपनिरूपण" नामक तृतीय स्तम्भ के ५६ अवान्तर परिच्छेद

(२०५ से २६८ पर्यन्त)

१–मीमांस्य योगस्वरूप २०५
२–योगानुगता–प्रश्नावली २०७
३–योगानुगत विश्वस्य आत्मपात और प्राचीन गीताव्याख्याप्रणाली २०७
४–योगस्वरूपसिद्धान्तोपक्रम २०९
५–योगातीत योगेश्वर, योगरूढ़ योगसाधन और तदाधार आत्मविवर्त २१०
६–अधिदैवत, तथा अध्यात्म–अनुगत आत्म–आत्मस्वरूपसम्प्राप्ति २११
७–योगात्मानुगत योगचतुष्टयी २१२
८–भूत–भवत्–भविष्यत्–इति कर्मोद्धार एवं २१३
९–आयतन प्रभाव और स्वभाव २१३
१०–सम्परिग्रहसर्गकृत आत्मप्रजापति २१४
११–ब्रह्म और कर्म–परिभाषा २१४
१२–व्यवस्थित कर्मयोग और कर्मयोग–परिभाषा २१५
१३–भक्तियोग की तात्त्विक परिभाषा २१५
१४ ज्ञानयोगपरिभाषा २१६
१५–सर्वश्रेष्ठ—श्रेष्ठ—'बुद्धियोग' की परिभाषा २१७
१६–योगानुगत यथार्थ दृष्टिकोण २१७

* कर्मात्मिका कर्मयोगचतुष्टयी प्रथमा(१)

१७–वाङ्मय कर्मयोगानुगत लौकिक कर्म–योग (श्रमकर्म) २२०
१८–प्राणमय क्रियायोगानुगत लौकिक भक्तियोग (सेवाकर्म) २२१
१९–मनोमय ज्ञानयोगानुगत लौकिक ज्ञान–योग (निरीक्षण) २२२
२०–भारतदृष्टि और मानव का वर्गीकरण २२३
२१–धर्मानुगत सर्वमय लौकिक बुद्धियोग (प्रवृत्तिप्रधान कर्म) २२३
२२–लौकिक कर्म भक्ति, ज्ञान–योगत्रयी का कर्मयोगत्व २२४
२३–आत्म-लौकिक-बुद्धियोग का आधिभौतिकत्व २२५
२४–परम्परया उद्बुद्ध योगानुगत आत्मा २२५
२५–योगानुगत प्राज्ञ तैजस वैश्वानर आत्मा २२६
२६–भूत-देव-ब्रह्म आत्म-भेदभिन्ना अग्निचतुष्टयी एवं तदनुगता योगचतुष्टयी २२६
२७–कर्मात्मक कर्मयोग का अधिष्ठाता वैश्वानरात्मा (१) २२७
२८–कर्मात्मक भक्तियोग का अधिष्ठाता तैजसात्मा (२) २२७
२९–कर्मात्मक ज्ञानयोग का अधिष्ठाता प्राज्ञात्मा (३) २२७
३०–कर्मात्मक बुद्धियोग का अधिष्ठाता समष्ट्यात्मक महानात्मा (४) २२८

—(१)—

* भक्त्यात्मिका भक्तियोग चतुष्टयी द्वितीया (२)

३१ 'परिचर्या'-भावानुगत वाङ्मय भक्तियोग (१) २२९
३२–'भक्ति'-भावानुगत प्राणमय भक्तियोग (२) २३०
३३–'प्रपत्ति'-भावानुगत मनोमय भक्तियोग (३) २३७
३४–'उपासना'-भावानुगत सर्वमय भक्तियोग (४) २३८

—(२)—

#–ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानयोग–चतुष्टयी तृतीया (३)

३५–वीतानुगत षोडशीपुरुष, और ज्ञानयोग–चतुष्टयी २४८
३६–ज्ञानयोगाधिष्ठात्री आत्मचतुष्टयी २४८
३७–'विधि'–भावानुगत वाङ्मय ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग (१) २४९
३८–'नियति'–भावानुगत प्राणमय ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग (२) २४९
३९–'अनुभूति'–भावानुगत वाङ्मय ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग (३) २५०
४० –'निर्मुक्ति' भावानुगत सत्त्वमय ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग (४) २५०
४१–ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग के साधन-साधक-साध्य-भाव २५१
४२–ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग के साधन-साधक-साध्य-भाव २५२
४३–ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग के साधन-साधक-साध्य-भाव २५२
४४–ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग के साधन-साधक-साध्य भाव २५२

—(३)—

#–बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोग–चतुष्टयी चतुर्थी (४)

४५–लोकप्रचलिता योगत्रयी का गीता के द्वारा संशोधन २५५
४६–योगों के प्रकम्पन, एवं सम्कम्पनभाव २५५
४७–गीताभिमत, और बुद्धियोगचतुष्टयी २५६
४८–'धर्म्म'–भावानुगत वाङ्मय कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग (१) २५९
४९–'ऐश्वर्य्य'–भावानुगत प्राणमय भक्तियोगात्मक बुद्धियोग (२) २५९
५० –'ज्ञान'–भावानुगत मनोमय ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग (३) २६०
५१–'वैराग्य'–भावानुगत सर्वमय बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग (४) २६०
५२ बुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग के साधन-साधक-साध्य-भाव २६१
५३–बुद्धियोगात्मक भक्तियोग के साधन-साधक-साध्य-भाव २६१
५४–बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग के साधन-साधक-साध्य-भाव २६१
५५–बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग के साधन-साधक-साध्य-भाव २६१
५६–षोडशाक्षर प्रजापति के षोडश (१६) मिथ योगविवर्त –४– २६४

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–"योगेश्वरानुगत–'योग'–स्वरूपनिरूपणात्मक"

५६ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

तृतीय स्तम्भ–उपरत

(१)—३

—॥—

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–"बुद्धितत्त्वस्वरूपविगुद्दर्शन" नामक चतुर्थस्तम्भ के ७५ अवान्तर परिच्छेद

(२६९ से ३०६ पर्यन्त)



१–सर्वविध योगों का इन्द्रियव्यापारसापेक्षत्व २६९
२–सर्वविध योगों का प्रज्ञान (मन) व्यापार–सापेक्षत्व २७२
३–नाभि अर–नेमि, और रथचक्र २७३
४–प्रज्ञान का स्वरूपाविर्भाव २७५
५–"किनेषितं पतति प्रेषितं मनः" का वैज्ञानिक समन्वय २७९
६–प्रज्ञान विज्ञान के प्रभव प्रतिष्ठा योनि एवं आयतन–विवरण २८१
७–जाग्रत् स्वप्न–सुषुप्ति–अवस्थापरिचय २८३
८–प्रातस्विक योग और मनोत्थान २८४
९–बुद्धियोगानुगामी महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य २८६
१०–विषयविभागानुगता गीतायोगानुपूर्वी २८७
११–बुद्धियोगसम्मतप्रवक्ता गीताशास्त्र २८८
१२–व्याख्याकर्त्ताओं की संघर्षप्रवृत्ति २९
१३–श्रीगांधीजी और उनका अनासक्तियोग २२९
१४–गीतासिद्धान्तविमर्श २९१
१५–वेदशास्त्र और 'बुद्धि' शब्द २९९
१६ शास्त्रों के प्रतिपाद्य विभिन्न विषय २९९
१७–उपनिषदों की विद्या, और योग २९९
१८–पूर्वापरविरोधनिराकरण ३ ०
१९–बुद्धियोग की प्रतिष्ठाभूमि ३ ३
२०–ज्ञानयोग की प्रतिष्ठाभूमि ३ ४
२१–भक्तियोग की प्रतिष्ठाभूमि ३ ५
२२–कर्मयोग की प्रतिष्ठाभूमि ३ ६
२३ मनःप्रालम्बन का निरूपण, और आत्मनस्त्वाभिमापन ३०७
२४–शारीरपर्य्यायसम्बन्ध की अवैज्ञानिकता ३१२
२५–'बुद्धि' शब्द निर्वचनोपक्रम (१) ३१५
२६–बुद्धितत्त्वप्रधान का विषयप्रवर्तन सूत्र ३१५
२७–[illegible] और सूत्र ३१६
२८–'प्रणीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' ३१७
२९ प्रसङ्गोपात्त 'स्वधर्म' शब्द एवं उसके तीन विवर्त ३१८
३०–अर्थधर्मोपलक्ष विश्वेश्वरधर्मा ३१९
३१–प्राकृत जीवात्मा और उसके स्वधर्म, परधर्म ३१९
३२–प्रकृतिसिद्ध स्वधर्म परधर्म भावों की व्यवस्था ३२
३३–स्फोट–स्वर–वर्ण–निबन्धना [illegible] धर्मसृष्टि ३२१
३४–वर्णविवर्तधर्मस्वरूप की व्यवस्थिति ३२१
३५–स्वधर्मानुगत सामान्य–विशेष भाव ३२२
३६–स्वधर्मानुगत स्वातन्त्र्य, एवं परधर्मानुगत पारतन्त्र्य ३२३
३७–धर्म–अमृत–मायाभिन्न जीवसंस्था ३२४
३८–मनुष्य–पशु–पक्षी–कीट–कृमि–वर्ग, और बुद्धितारतम्य ३२५
३९–पुरुषार्थी मानव और भोगार्थी जीव ३२७
४ –भोगार्थी प्राकृत जीवों की प्राकृत–धर्मानुगति ३२८
४१–प्राकृत–धर्माभिनिवेश [illegible] भोगार्थी मानव ३२९
४२–व्याभिचारिक, धर्मानुगत, भोगानुगत, त्रिविध जीव, और मानव का बुद्धियोग ३३
४३–सूर्य्य के जन्मदाता परमेष्ठी ३३१

४४–परमेष्ठी के अन्नगाता स्वयम्भू एवं सर्व प्रभव आत्मपुरुष ११२
४५–सूर्य का मौलिक, एवं दैविकरूप ११२
४६–ज्योति-गौ-आयु-र्मनोतामय बुद्धिप्रभव सूर्य्य १११
४७–योगेश्वर की भगवत्ताव्यवस्था 'भग विभूति ११५
४८–उपाधिभेदभिन्न षड्विध 'भग'-विभूतिवर्ग ११६
४९–षड्विध विभूतिभावों के समर्थक वचन ११८
५०–विश्वेश्वर के चतुष्पर्वा से जीव के स्वरूपनिर्माण १४
५१–षड्विधात्मक जीव की दुःखप्रवृत्ति के मूलकारण ---- १४१
५ –बुद्धियोगानुवर्तिनी भगचतुष्टयी १४२
५३–अमृतसूर्य्यानुगता विद्याबुद्धिचतुष्टयी, एवं तदभिन्ना 'भग' चतुष्टयी १४२
५४–विज्ञानाभिन्न एक ही बुद्धि के आठ विवर्त १४३
५५–'मनीषा' शब्द-निर्वचन (१) १४४
५६–'धिषणा' शब्द निर्वचन (२) १४६
५७–'धी' शब्दनिर्वचन (४) १४६
५८–प्रज्ञा' शब्दनिर्वचन (५) १४७
५९–'शेमुषी' शब्दनिर्वचन (६) १४९
६ –'मति' शब्दनिर्वचन (७, १५
६१–'प्रेक्षा' शब्दनिर्वचन (८) १५१
६२–'उपलब्धि' शब्दनिर्वचन (९) १५४
६३–'चित्' शब्दनिर्वचन (१०) १५५
६४–संवित्' शब्दनिर्वचन (११) १५६
६५–'प्रतिपत्' शब्दनिर्वचन (१२) १५८
६६–'ज्ञप्ति' शब्दनिर्वचन (१३) १६२
६७–'चेतना' शब्दनिर्वचन (१४) १६४
६८–'विज्ञान' शब्दनिर्वचन (१५) १६६
६९–'योग' शब्दनिर्वचनोपक्रम १६६
७०–गीताशास्त्रानुगत 'योग' शब्द का अन्वेषण १६७
७१–सिद्धबुद्धियोग एवं साम्यबुद्धियोग का तारतम्य ---- - १७०
७२–सिद्धयोगानुगत कृतात्मा, एवं साम्ययोगानुगत विधेयात्मा ---- १७
७३–योगवञ्चित विमूढात्मा और उसका प्राकृत विषम योग ---- १७१
७४–विषमयोगानुगता आत्मपर्वपरम्परा १७२
७५–बुद्धियोगस्वरूपदिग्दर्शन ---- १७२

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–'बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन 'नामक'

७५ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)–४

चतु स्तम्भसमष्ट्यात्मक–'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथमप्रकरण समाप्त

–१–

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीय–प्रकरण

२



द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'धर्मबुद्धियोगानुगत–आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम स्तम्भ के १२१ अवान्तर परिच्छेद

(१७७ से २ १ पृष्ठ पर्यन्त)



अथ–विद्यास्वरूपपरिचयः—

१–भारतीय शास्त्र के चतुर्दश (१४) विवर्त १७७
२–धर्मधर्मानुगत 'शास्त्र-शस्त्र-वाणिज्य-शिल्प' विद्याचतुष्टयी १८१
३–भारतीय चारों विद्याओं की प्रतिष्ठा का उपक्रम १८३
४–यहूदी का व्यामोहन और आत्मसम्पत्ति का ह्रास १८५
५–धर्मस्थापित धर्मव्यवस्थापद्धति और राष्ट्र का पतन — १८५
६–शासक वर्ग के द्वारा प्रजा का निर्मम शोषण — — १८६
७–मित्र और शत्रु की अभिज्ञता से राष्ट्र-वैभव का अभिभव — १८७
८–तात्कालिक उपचारों की व्यर्थता १८७
९–धर्मानुगति, और राष्ट्रस्वरूपसंरक्षण १८८
१ –भारतीय राष्ट्रकल्पना, और तत्स्वरूप-संरक्षक आर्षसूत्र — १८९
११–वर्तमान राष्ट्र की इच्छात्मिका प्रथम मार्ग एवं उसकी आपातरमणीयता १९
१२–वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षा का विकृत स्वरूप १९
१३–राष्ट्रीय विद्याक्षेत्र और तत्सम्बन्धवर्ग १९१
१४–प्रजापति के द्वारा धर्मसृष्टि १९१
१५–राष्ट्रीय वर्णों के पारस्परिक पतन का (दुःखपूर्ण) इतिवृत्त १९३
१६–राष्ट्रीय (ब्रह्मगोप्ता) ब्रह्मणवर्ग की जीवितमृत्यु १९४
१७–सर्वविद्यार्थ शासिका भारतीय-विद्या १९५
१८–अपौरुषेयानुगता निगमागमविद्या (निगमशास्त्रम्) १९६
१९–मन्त्रब्राह्मणात्मक प्राचामस्य शास्त्र (वेदशास्त्र) — १९६
२०–ऋषिमेद से वेदशास्त्र का समन्वय १९७
२१–वेदि वादि से निगमशास्त्र का समन्वय १९८
२२–अष्टादश (१८) विद्यात्मक निगमानुगत भारतीय पुराणशास्त्र १९९
२३–निगमागमानुगत भारतीय दर्शनशास्त्र के षट्त्रिंशत् (३६) विवर्त ४
२४–अपौरुषेयानुगत (भारतीय) आगमविद्या (२–आगमशास्त्रम्) — ४ १
२५–निगमागमविद्यामूला दिव्यविद्या-चतुष्टयी — — ४ २
२६–मनोविद्यानुगत षोडश (१६) विद्या-विभाग — — ४ ३
२७–ज्ञानेन्द्रियविद्यानुगत षोडश (१६) विद्याविभाग — — ४ ४

२८–कर्म्मेन्द्रियविद्यानुगत षोडश (१६) विद्याविभाग ···· ···· ४०५
२९–भूतविद्यानुगत षोडश (१६) विद्याविभाग ···· ···· ४०८
३०–ब्रह्मवीर्य्यानुगता निगमागमविद्याओं का स्वरूपदिग्दर्शन ४०६
३१–क्षत्रवीर्य्यानुगता शास्त्रागमविद्याओं का स्वरूपदिग्दर्शन ···· ४१२
३२–विड्वीर्य्यानुगता कृषिवाणिज्यविद्या का स्वरूपदिग्दर्शन ···· ४१७
३३–पौष्यवर्गानुगता शिल्प-कला-विद्या का स्वरूपदिग्दर्शन ···· ४१७
३४–'विद्या' स्वरूपपरिचयोपक्रम ···· ४२१
३५–'पर' अव्यय, एवं 'अवर' अक्षर से संश्लिष्ट 'क्षर' की परा–अपरा-विद्याएँ ४२१
३६–अपराविद्यात्मिका 'अवरविद्या' के तीन विवर्त्त ४२३
३७–वेद–ब्रह्म–विद्या–लक्षणा 'अवरविद्या', एवं तद्रूपा निगमागमविद्या ४२३
३८–गीताशास्त्रानुगता अव्ययविद्या, एवं तोऽनुगता अवरविद्यात्रयी ···· ४२४
३९–गीताशास्त्र की अव्ययविद्या, एवं तदनुगता योगचतुष्टयी ···· ४२५
४०–गीतापरम्परान्वित 'विद्या' स्वरूपोपसंहार ४२६

इति–विद्यास्वरूपपरिचय—

४१–गीताशास्त्र की प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य ४२७
४२–गीतात्मा की भ्रान्ति का मूलकारण ४२८
४३–गीताशास्त्र का प्रतिपाद्य निष्कर्ष ४२९
४४–गीताशास्त्रानुगत विद्या और योग ४२९
४५–धर्म्म, और नीति का साहचर्य्य ४३
४६–धर्म्मपद्धति, और नीतिपद्धति ···· ४३
४७–मतवाद की महती विभीषिका ४३१
४८–मतवाद का स्वरूपपरिचय ···· ४३२
४९–पश्चिमी साम्यवाद पर एक दृष्टि ४३३
५०–भारतीय साम्यवाद, और धर्म्मदृष्टि ४३५
५१–आत्मानुगत धर्म्मतन्त्र, और शरीरानुगत नीतितन्त्र ···· ···· ४३६
५२–मताभिनिवेश के दुष्परिणाम ४३७
५३–धर्म्म और अधर्म्म का अंशपरिचय ४३८
५४–धर्म्मस्वरूपजिज्ञासा ···· ४४
५५–स्वधर्म्म–परधर्म्म–परिभाषा ४४
५६–धर्म्मोपदेशविप्रतिपत्ति, और तन्निराकरण ४४२
५७–विज्ञानसिद्ध भारतीय धर्म के अवान्तर भेद ४४३
५८–प्राकृतिक विश्वधर्म्म स्वरूप-परिचय ४४४
५९–'निष्काम' शब्द की निरर्थकता ४४६
६०–फलत्यागानुगत निष्काम कर्म्म का महान् व्यामोहन ४४७
६१–कर्म्म और कर्म्मफल-मीमांसा ४४८
६२–अधिकारानुगत कर्म्म ४४९
६३–'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' का समन्वय ४५
६४–इच्छा, और बन्धनमीमांसा ४५
६५–कर्म्म, और बन्धनमीमांसा ४५२
६६–फल और बन्धनमीमांसा ४५३
६७–फलासक्ति और बन्धनमीमांसा ४५४
६८–फलभावस्वरूपनिरोपण ४५५
६९–इच्छानिबन्धना कर्म्ममीमांसा ४५६
७०–आर्षविद्याप्रविध्वंसक मुनिविरुद्ध ४५७
७१–ऋषिभाषा की सर्वात्मकता ४५९
७२–समर्पितलक्षण ऋषिभाष्य का परिचय ४६२
७३–ऋषिभाषात्मिका आर्षविद्या ४६३
७४–मानवऋषिविवरणानुगता आर्षविद्या ४६३
७५–वर्णाश्रमव्यवस्थानुगता आर्षविद्या ४६५
७६–प्राचीनाभिमता कर्म्मयोगनिष्ठा ४६५
७७–भगवत् (गीता) सम्मता 'धर्म्मबुद्धि-योगनिष्ठा' ४६५
७८–धर्म्मबुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग का समन्वय ४६६
७९–ज्ञानकर्म्मात्मिका 'धर्म्म' मीमांसा ४६६
८०–पञ्चकर्मेन्द्रियविधाता कर्म्मतन्त्र ४६०

८१—प्राणेन्द्रियमनोरूप मोहात्मा ४९८

८२—'अनुभव', और 'भ्रम' तत्त्व-परिचय ४९८

८३—विभूति योग बन्धन, सकरुणा सम्बन्ध त्रयी ४९९

८४—अभिनिवेशात्मक संस्कारबन्धन ५०१

८५—विद्या—काम—कर्म्मात्मक 'शुक्र' तत्त्व ५०१

८६—संस्कारात्मक 'भाग्य' तत्त्व ५०२

८७—संस्कारबन्धनप्रपञ्चविकास ५०२

८८—बुद्धिस्वरूपपरिचय के द्वारा विकास का समाधान ५०३

८९—अपेक्षा—उपेक्षा—बुद्धि का तात्त्विक स्वरूप-परिचय ५०३

९०—ईश्वर, एवं जीवानुगत अपेक्षा-उपेक्षा-भावों का तारतम्य ५०४

९१—लौकिक उदाहरणों के माध्यम से अपेक्षा—उपेक्षा-भावों का समन्वय ५०५

९२—भावना-वासना-संस्कारात्मक कर्म्मात्मा, एवं बन्धनविमोचक आर्षीविद्यानुगत धर्म्म-बुद्धियोग ५०६

९३—स्वधर्म्म-परधर्म्मानुगत आत्म-अनात्मभाव ५०७

९४—अन्तरङ्गप्रकृतिविशिष्ट निर्गुण अव्ययपुरुष ५०८

९५—अमृत-मृत्यु-भावात्मक ज्ञानकर्म्मात्मक अव्यय पुरुष ५०८

९६—कामरूपात्मिका धर्म्मरूपात्मिका संस्था-निष्ठा, और अव्ययपुरुष ५०९

९७—विद्या अविद्या-प्रकृतिविशिष्ट अव्ययपुरुष ५८

९८—गुणात्मिका बहिरङ्गभावात्मा 'वेद-प्रकृति' एवं तन्मूलक धर्म्मबुद्धि-योग ५८

९९—बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तधर्म्मित महान् ५८१

१००—बहिरङ्गप्रकृति, और आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति त्रयी ५८२

१०१—वाक्—अन्न—अन्नाद्—मयी षड्गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति ५८२

१०२—मानवकर्मानुगता गुणासक्ति ५८४

१०४—गुणत्रयी का मूलून ५८४

१०५—(क) सत्त्व—रज—तम—प्रकृतिभेदभिन्ना मानवत्रयी ५ ५

१०६—(ख) राजर्षि मनुसम्मत गुणत्रयस्वरूप-दिग्दर्शन ५८६

१०६ गुणात्मिका प्रकृति का भावमूलक त्रिगुणभाव एवं तन्मूलक नव (९) योनि विभाग ५८७

१०७—अपूर्णप्रकृतिलक्षणा गुणत्रयी महत्प्रकृति, एवं तद्बन्धनविमोक ५८९

१०८—नैसर्गिक प्रकृति, एवं सांस्कारिक प्रकृति का स्वरूपदिग्दर्शन ५९

१०९—अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी, तथा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति ५९१

११०—'निग्रह किं करिष्यति' ५९१

१११—पुण्य—पापादि द्वन्द्वों का विश्लेषण ५९२

११२—स्वधर्म्मात्मक परधर्म्म एवं अधर्म्मात्मक परधर्म्म ५९२

११३—धर्म्म, एवं अधर्म्मात्मक द्वन्द्वनिवर्त्तक धर्म्मबुद्धियोग ५९३

११४—भोग प्रतिबन्धकत्व एवं समत्व रक्षक संस्कारनिवर्त्तिका व्यापकत्रयी ५९३

११५–कर्म्मस्वरूपसम्पादिका क्रम–अभिक्रम व्यूहन–त्रयी ४९६
११६–साम्यवाद की जटिल समस्या, और उसका निरीक्षण ४९७
११७–समत्वोपाय की सर्वश्रेष्ठ श्रेष्ठता ५
११८–निष्कामकर्म्मयोगलक्षण समत्वयोग ५ २
११९–धर्म्मयोग, और धर्म्मबुद्धियोग ५ २
१२०–धर्म्ममार्ग, और नीतिमार्ग ५ १
१२१–आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगनिष्कर्ष ५ ५

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–''धर्म्मबुद्धियोगानुगत–आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन''नामक

१२१ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

प्रथमस्तम्भ—उपरत

(२)—१

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–''ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचन''नामक

द्वितीय स्तम्भ के ४१ अवान्तर परिच्छेद

(५ ७ से ५४२ पृष्ठ पर्य्यन्त)

१–अस्मिता के प्रतिद्वन्दी 'ऐश्वर्य्य' का स्वरूपोपक्रम ५ ७
२–पशुर्न्नैव वस्तु अवस्तु वस्तुपिण्ड, एवं साममय वस्तुमण्डलात्मक सर्वमूर्त्ति प्रजापति ५०९
३–ईश्वर के विविध विवर्त, और उसके विविध ऐश्वर्य्यविवर्त ---- ५१
४–विभूति, एवं योगलक्षण ऐश्वर्य्य ५१
५–ऐश्वर्य्य की व्याप्ति, तथा सिद्धावस्थाएँ ५११
६–आत्मविकास की प्रतिबन्धिका अस्मिता ५१२
७–स्मित, हास और अट्टाट्टहास, स्वरूपदिग्दर्शन एवं अस्मिताभाव ५१२
८–आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक स्मितहास, और तद्विरोधिनी अस्मिता ---- ५१२
९–आत्माभिमान एवं आत्माभिमान का स्वरूपदिग्दर्शन ५१३
१०–'उद्धरेदात्मना–आत्मानम्' का समन्वय ५१३
११–ईश्वरेच्छानिबन्धना महती समस्या ५१५
१२–आध्यात्मिक आत्मसोपानपरम्परा ५१६
१३ ईश्वरेच्छासम्बद्ध असद् कर्मों की असम्बन्धता ५१७
१४–ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में समन्वयात्मक प्रश्नोत्थान ---- ---- ५१८
१५–'यथोचकं दुर्गे सृष्टम्' का तात्त्विक समन्वय, एवं प्रतनसमाधि ५१९
१६–'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः'–बुद्धियोगानुष्ठानेन एवं 'आत्मैव रिपुरात्मनः'–आसक्तिबन्धनेन ५२१
१७–'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य' इत्यादि श्लोक समन्वय ५२१
१८–मनोनाद् व 'अहंभेदो भाव'---- ५२२

१९–अभिमान एवं अभिमान–व्यवहारों का पार्थक्य — ५२२
२ –मानाभिमानी दाम्भिक विद्वानों शासकों तथा धनिकों का आत्यन्तिक पराभव (गीता की दृष्टि से) ५२३
२१–स्थिरप्रज्ञानुगत उपांशुभावनिबन्धन आत्मैश्वर्य ५२४
२२–ईश्वर का ऐश्वर्य — ५२५
२३–जीव का ऐश्वर्य ५२६
२४–ईश्वरांशभूत, अतएव ऐश्वर्यशाली भी जीव का अनैश्वर्य — ५२६
२५–लौकिक उदाहरण और अस्मिता ५२६
२६–बाल–युवा–भावानुगता अस्मिता का स्वरूपदिग्दर्शन — ५२७
२७ काम्य ऐश्वर्य की अनित्यता ५२८
२८–ऐश्वर्यकोष का अभाव एवं अस्मिता का आक्रमण तथा तन्मूला दुःखप्रवृत्ति ५२८
२९–आगन्तुक अस्मिता के द्वारा ऐश्वर्य का अभिभव — ५२९
३ –साक्षी सुपर्णसत्ता के सान्निध्य से अस्मिता की निवृत्ति — ५ ९
३१–अस्मितानिवर्तक ईश्वरोपासना ५३
३२ कामभक्तियोगानुगता दोषपरम्परा ५३
३३ ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष — ५३१
३४–प्राचीनाभिमता योगत्रयी का गीताचार्य के द्वारा उद्बोधन ५३१
३५–प्राचीनाभिमता योगत्रयी की भगवान् के द्वारा आत्यन्तिक उपेक्षा ५३२
३६–गीताभिमता योगचतुष्टयी ५३३
३७–(क) अव्ययसंस्था–युक्त चतुर्विध मनस्तन्त्र ५३४
३७–(ख) ऐश्वर्यात्मक विकास के विभिन्नरूप ५३६
३८–महिमा और विकास का पार्थक्य ५३७
३९–चतुर्विध आवरणों के कारण ऐश्वर्य का अभिभव, एवं तन्मूला दुःखप्रवृत्ति ५३८
४ –स्वाभाविक, और आगन्तुक विकास ५३९
४१–ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपोपसंहार — — ५४

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

४१ अवान्तर परिच्छेदात्मक

द्वितीय स्तम्भ—उपरत

(२)—२

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

तृतीय स्तम्भ के ३४ अवान्तर परिच्छेद

(५४१ से ५८८ पृष्ठपर्यन्त)

१–अविद्याक्रुद्धीभूत आवरण ५४१
२–विद्या अविद्यात्मक अव्यय का मूर्त्ति-निबन्धन चार चार विवर्त ५४२
३–विश्वमण्डलस्थ हिरण्यगर्भमूर्ति सूर्य एवं उसके चार विभूति विवर्त — ५४६
४–हिरण्यगर्भ सूर्य के चार 'पद्मा' विवर्त ५४७

५–अमृतविभूतिचतुष्टयी, एवं मर्त्य पाप्मा चतुष्टयी का अनात्म्यर्थात्मक आम्नाय्य (साहचर्य)— — ५४८
६–ईश्वरानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय ५५
७–जीवानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय ५५
८–आधिदैवत–अध्यात्मानुगत आत्मविवर्त्त के उपक्रमोपसंहारभाव — ५५२
९–स्थिर–साम्यावस्थापन्ना बुद्धियोगचतुष्टयी का पार्थक्य — ५५२
१ –प्राचीनाभिमता योगत्रयी के आधारभूत आत्मविवर्त्त — — ५५३
११–गीतासम्मता योगचतुष्टयी के आधारभूत आत्मविवर्त्त — ५५३
१२–अव्ययात्मानुगत एक ही बुद्धियोग के चार विभिन्न योग विवर्त्तों का समन्वय ५५४
१३–पातञ्जलयोगसूत्र के 'अविद्या' शब्द का समन्वय — — ५६
१४–उभय ज्योति प्रवर्तक अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा ५६१
१५–विश्वनिबन्धन पुरुषज्योति–प्रकृतिज्योति विवर्त्त — — ५६२
१६–पुरुषज्योति, एवं प्रकृतिज्योतियों के पाँच पाँच विवर्त्त ५६२
१७–बन्धननिवर्तक–प्रवर्तक पुरुष–प्रकृति–ज्योतिर्विवर्त्त ५६५
१८–शुद्धसत्त्वानुगता (ज्ञानबुद्धियोगानुगता) सिद्धविद्या ५६६
१९–गुणानुगत ज्ञानकर्म्म के विभिन्न द्वन्द्व ५६६
२ –प्राकृतात्मत्रयी, एवं तदनुगता प्राचीनाभिमता योगत्रयी — — ५६८
२१–निरूपिता योगत्रयी की प्रासङ्गिकी विषम–समस्या — — ५६९
२२–आत्मानुगता ज्ञानकर्मत्रयी के सदसच्छिद्र त्रिवृद्भाव — — ५६९
२३–अमृत–ब्रह्म–शुक्र–समष्टिरूप चतुष्पाद् ब्रह्म के मात्रा और अमात्रा–भाव ५७
२४–गुणानुगता ज्ञानकर्म्मत्रयी के त्रिवृद्रूप ५७४
२५–त्रैगुण्य का संघर्ष, एवं तज्जनित मोह ५७८
२६–कामप्रतिबन्धजनित क्षोभ की मोहात्मकता
२७–सङ्ग–काम–क्रोध–संमोह–स्मृतिविभ्रम ५७८
बुद्धिनाश की मोहमूला परम्पराएँ ५७९
२८–कलिला बुद्धि का स्वरूपसमन्वय, एवं मोहपाशानुमुक्त्युपायप्रदर्शन ५८
२९–नवमय का समन्वय ५८१
३ –मोहपरम्परानुगता ज्ञानलवदुर्विदग्धता ५८२
३१–मोहनिवर्तिका ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या ५८३
३२–सिद्धजाति में उत्पन्न सिद्ध कपिल की सिद्ध विद्या, एवं तदनुगत ज्ञानबुद्धियोग ५८३
३३–सिद्धकपिलानुगता सिद्धविद्या ५८५
३४–ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष ५८६

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचना' त्मक
२४ अवान्तर परिच्छेदात्मक
तृतीय स्तम्भ–उपरत

(२)–३

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'वैराग्यबुद्धियोगानुगम–राजर्षिविद्यास्वरूपनिरूपण' नामक चतुर्थ स्तम्भ के ४८ अवान्तर परिच्छेद

(५८६ से ६५४ पृष्ठपर्यन्त)

१ वैराग्य और आसक्ति शब्दों के लोकप्रचलित अर्थ ५८६
२–प्राचीन व्याख्याताओं की वैराग्यदृष्टि और उनका शब्दयोग ५९१
३–वैराग्यभावानुगत 'त्याग' शब्द के तात्त्विक अर्थ का उपक्रम ५९२
४–गीताशास्त्र में प्रयुक्त 'त्याग' शब्दानुगत त्याग एवं त्यक्त शब्दार्थसमन्वय ५९२
५ गीतानुगत 'त्याग' शब्द का निष्कर्षार्थ ५९७
६–गीताशास्त्र का तात्त्विक नामकरण ५९७
७–'मग' चतुष्टयी से अनुप्राणिता मनस्थिता एवं मनसयोग के चार चार विवर्त ५९९
८–वैराग्यानुबन्धी परित्याग का सहज स्वरूपविश्लेषण ६
९–गीता के द्वारा उपदेशिता योगचर्या ६ २
१०–'तपस्विभ्योऽधिको योगी' इत्यादि श्लोकसमन्वय ६ २
१ –ज्ञानयोग, और कर्मयोग के सापेक्ष गौण–मुख्य–भाव ६ ३
१२–कर्मयोग, और भक्तियोग के सापेक्ष गौण–मुख्य–भाव ६ ४
१ –समावर्त, शीतोष्ण, एवं तदनुगत मन्मना–उन्मना–भाव ६ ५
१४–मन्मना अभ्यास, और उन्मना अभ्यास ६ ६
१–उन्मना योगी और उसका बाह्य वातावरण ६०८
१६–मन्मना योगी और उसका बाह्य वातावरण ६
१७–'यागिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि श्लोकसमन्वय ६१
१८– मानवकी) दुःखमूला सन्तापपरम्परा ६१
१९–कामना और आसक्ति ६१२
२ –'राग' का तात्त्विक निर्वचन ६१२
२१ 'द्वेष' का तात्त्विक निर्वचन ६१३
२२–रागद्वेष के अनुकूल–प्रतिकूल–भाव ६१३
२३–रजोगुणमूलक काम–क्रोध–द्वन्द्व ६१४
२४–रागासक्ति का उदाहरण ६१५
२५–कामतत्त्व के चार विवर्त एवं रागासक्ति का समन्वय ६१६
२६–काम–क्रोध–काम–त्रयी का स्वरूप ६२१
२७–'कामात् क्रोधोऽभिजायते' का समन्वय ६२३
२८–'क्रोधाद् भवति सम्मोहः' का समन्वय ६२४
२९–'सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः' का समन्वय ६२४
३ –'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो' का समन्वय ६२४
३१–'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' का समन्वय ६२५
३२–'व्यायच्छा विपयान् पुंस' का तात्त्विक समन्वय ६२५
३३–राग और द्वेष का जन्य–जनकभाव–सम्बन्ध ६२७
३४–राग–द्वेष का स्वरूपसमन्वय ६२८
३५–रागद्वेषात्मक प्रेम के पाँच विभिन्न क्षेत्र ६२८
३६–आकर्षण–विक्षेपणात्मक रागद्वेषद्वन्द्व ६३१
३७–काम–क्रोधानुबन्धी रागद्वेष ६३२
३८–रजोमूलक काम–क्रोध–मोह ६३३
३९–कामक्रोधमूलक राग–द्वेष–मोह ६३४

४० –'रजो रागात्मकं विद्धि' का समन्वय ५३५
४१–त्रिगुणात्मक रजोगुण का विश्लेषण ५३५
४२–वैराग्य का तात्त्विक स्वरूप ५३५
४३–विषयानुगत रागद्वेषमोहत्रयी का अनुमानित साहचर्य्य ५३६
४४–संस्कारानुगता रागद्वेषमोहत्रयी का वास्तविक साहचर्य्य ५३७
४५–मनोऽनुगत राग से युक्त रागद्वेषमोह त्रयी का सात्त्विक साहचर्य्य ५३७
४६–वैराग्यबुद्धियोगानुगता वैराग्यविद्या (राजर्षिविद्या) ५३८
४७–आत्मस्थानत्रयी, और सम-विषम योग, एवं समत्वयोगानुगता राजर्षिविद्या ५३९
४८–श्रेष्ठ–श्रेष्ठ–वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या ५४०

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचना' त्मक

४८ अवान्तर परिच्छेदात्मक

चतुर्थ स्तम्भ—उपरत

(२)—४

चतु स्तम्भसमष्ट्यात्मक–'बुद्धियोगानुगत–विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीय प्रकरण–समाप्त

—२—

---

(३) बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार–(तृतीय प्रकरण)

अत्रैते–अवान्तरपरिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या

(५४५ पृष्ठ से ६६२ पृष्ठ पर्य्यन्त)

१–प्रतिपादित विषय की रूपरेखा ५४७
२–भूमि-तुष्टि-पुष्टि-मुक्ति-गुणचतुष्टयी ५४७
३–मुक्तिगुणानुगत धर्म्मबुद्धियोग ५४८
४–पुष्टिगुणानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग ५४८
५–तुष्टिगुणानुगत ज्ञानबुद्धियोग ५४८
६–भूमिगुणानुगत वैराग्यबुद्धियोग ५४९
७–पुरुषविद्याचतुष्टयी से अनुगत–पुरुषयोग–चतुष्टयी— ५४९
८–प्रकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगत–प्रकृति–योगचतुष्टयी— ५५
९–विकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगत–विकृतियोग–चतुष्टयी— ५५१
१ –पूर्वप्रकरणोपसंहार— ५५९

उपरतञ्चेदं–'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार'–नामकं
तृतीयं प्रकरणं–१० अवान्तरपरिच्छेदात्मकम्

——३——

उपरतं चेदं–बुद्धियोगपरीक्षा–नामकं–पूर्वखण्डस्य
संक्षिप्ता विषयसूची

——•——

श्री

बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड की

संक्षिप्त परिलेख सूची

एवं

विषयसूची-समास



श्री

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा'
नामक पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथम–प्रकरण

१



श्रीः

अथ-बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे

'सन्दर्भसङ्गति-' नामकः

प्रथमः स्तम्भ

(१)-१



श्री

बुद्धियोगपरीक्षाया-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनम्' नाम-प्रथमं प्रकरणम्

प्रथमप्रकरणेऽस्मिन्-'सन्दर्भसङ्गति' नामकः

प्रथम स्तम्भ

१—माङ्गलिकमंत्रस्मरणम्—

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
—ऋक्संहिता १०।११२।९

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋक्संहिता ८।५८।२।

३—यां देवा उपजीवन्ति विश्वे याम् गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
सामीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तरीयब्राह्मण २।८।८।४।

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवं 'आत्मबुद्धिप्रकाशं' मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐतरेय आरण्यक

७—आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ।
'बुद्धिं' तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहु, र्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
—कठोपनिषत् १।३।४ ।

८—यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः-प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
—कठोपनिषत् १।३।८, ९ ।

९—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया 'बुद्ध्या' सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठोपनिषत् १।३।१२।

१०—य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्—वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः, स नो 'बुद्ध्या' शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेता० उप० ४।१।

११—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
—गीता २।४१।

१२—दूरेण ह्यवरं कर्म्म 'बुद्धियोगात्' धनञ्जय ! ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
—गीता २।४९।

१३—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥
—गीता २।५० ।

१४—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि 'बुद्धियोगं' तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गीता १०।१०।

१५—चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
'बुद्धियोगं' मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
—गीता १८।५७।

२–शास्त्रनिष्ठा का शैथिल्य, एवं लोकनिष्ठा का प्राबल्य—

आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक, इन तीन प्रकार के तापों से सन्तप्त पुरुष अपने जन्मक्षण से आरम्भ कर मृत्युक्षण पर्य्यन्त शान्ति–सुख के लिए व्यग्र बना रहता है। इसकी यह व्यग्रता उस समय और भी अधिक प्रवृद्ध हो जाती है, जब कि शान्ति–सुख के लिए पर्य्याप्त प्रयास करने पर भी इसे शान्ति–सुख–नहीं मिलते। यावज्जीवन श्रौत स्मार्त्त कर्म्मों में रत रहने वाले कर्म्मठ पुरुष भी वर्त्तमान युग में आध्यात्मिक शान्ति की कौन कहे, लौकिक सुख से भी वञ्चित होकर इतस्ततः पर्य्यटनपरायण हैं। अहरोत्र नाम ध्वनि का अनुगमन करने वाले भक्त भी लौकिक तापों से त्रस्त देखे सुने जाते हैं। अव्यक्त ज्ञानमार्ग का उद्घोष करने वाले वेदान्तमहानिधि भी अभावचिन्ता से संत्रस्त हैं। भारतीय विद्वान् साभिनिवेश कहा करते हैं कि, शास्त्रीय मार्ग के परित्याग से ही मनुष्य दुःख पाया करता है। ओमित्येतत्। परन्तु, देखा–सुना यह जा रहा है कि, जो शास्त्रीय कर्म्म–भक्ति–ज्ञान-मार्गों के अनुगामी हैं वे उन लौकिक मनुष्यों की अपेक्षा भी कहीं अधिक संत्रस्त हैं जो लौकिक मनुष्य अपनी व्यावहारिकी बुद्धि के बल पर केवल व्यावहारिक मार्ग के अनुगामी बने हुए हैं। यह ठीक है कि, लौकिक मनुष्य भी आत्मशान्ति से तो वञ्चित हैं। और इस दृष्टिकोण से शास्त्रनिष्ठ, एवं लौकिक मनुष्य, दोनों वर्ग समतुलित हैं। परन्तु मानना पड़ेगा कि, योग–क्षेमानुगता लौकिक चिन्ता लोकनिष्ठ व्यवहारदक्ष पुरुष की अपेक्षा शास्त्रनिष्ठ–व्यवहारशून्य–पुरुष को ही अधिक उत्पीड़ित कर रही है। इसप्रकार प्रत्यक्षानुभव यह मानने मनवाने के लिए विवश कर रहा है कि, वर्त्तमान युग की शास्त्रनिष्ठा, एवं लोकव्यवहारनिष्ठा आत्मशान्तिप्राप्ति के स्थान में दुःखविधायिका ही बन रही है। दोनों निष्ठाओं में से यदि योग–क्षेमचिन्ता को प्रधान मान लिया जाता है तो–लोकनिष्ठा ही वर्त्तमानयुग में उपादेय अतएव संमान्य मानी जासकती है। यही आज हो भी रहा है। लोकनीतिकुशल वर्त्तमानयुग के वर्त्तमानलोकशिक्षा पटु महानुभावों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में ऐसा ही कुछ बना हुआ है। उनका कहना है और यह कथन तथ्यपूर्ण भी है कि, शास्त्रनिष्ठा से आत्मशान्ति तो नहीं ही मिलती, शरीरसुख भी योग–क्षेम भी पराहत हो जाते हैं। अतः हमें जीवन के मूलाधारभूत योग–क्षेम की रक्षा के लिए वर्त्तमान में लोकनिष्ठा का ही समादर करना चाहिए, एवं शास्त्रनिष्ठा की उपेक्षा कर देनी चाहिए। फलस्वरूप आज शास्त्रनिष्ठ समाज की संख्या क्रम-क्रमशः घटती जा रही है और बढ़ती जा रही है लोकनिष्ठ–चतुर पुरुषों की संख्या।

३–मानव का भ्रान्तिमूलक परिताप—

क्या आज ही शान्ति-सुख को लेकर भारतवर्ष में यह सर्वथा नवीन प्रश्न उपस्थित हुआ है?। नेति होवाच। आज से पहिले भी यह प्रश्न समय समय पर उपस्थित होता आ रहा है। क्या अतीत युगों में भी उपस्थित इस प्रश्न के संघर्ष में लोकनिष्ठा की ही मान्यता स्वीकार हुई है?, नेति होवाच। वर्त्तमान स्थिति से समानता मिलते जुलते संक्रान्तकाल युगयुगों में जब जब भी उपस्थित हुए, तब तब ही तत्त्वान्वेषकों ने इस सम्बन्ध में अपना यही निर्णय प्रकट किया कि शास्त्रानुगता धर्म्मनिष्ठा उसी दशा में हानि का कारण बनती है, जबकि इसके अनुष्ठान-प्रकारों में किसी भी प्रकार के दोष का समन्वय हो जाता है। साथ ही लोकानुगता अधर्म्मनिष्ठा तमोगुणप्रधान विश्व में थोड़े समय के लिए सुखसमृद्धि का कारण बनती हुई भी अन्ततोगत्वा समूल विनाश

का ही कारण बनता है + । शास्त्रीय धर्मनिष्ठा से यदि सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती, तो विश्वास करना चाहिए, अवश्य ही इसके अनुष्ठान में हमसे कोई भूल हुई है । उस भूल का अन्वेषण कर उसकी चिकित्सा करना ही मानवधर्म्म है । इस भूल का यह अर्थ निकाल बैठना कि, शास्त्रीय पथ ही एक भूल है, महाभूल है । और इस महाभूल से समुत्पन्न परिताप का मानव को यावज्जीवन अनुगमन करना पड़ता है । क्योंकि निष्ठामय के स्वरूपविश्लेषक लोकतन्त्र का यही निष्कर्ष है जो सूत्र इस रूप से प्रसिद्ध है कि— 'भूल देखना मानव की भूल नहीं है, क्योंकि भूल देखना मानवीय मन का सहज स्वभाव है । किन्तु भूल देखने में मानव को कदापि भूल नहीं करनी चाहिए । जो मानव दुराग्रहमूलक क्षणिक आवेश में आकर भूल देखने में भूल कर बैठते हैं, उन्हें यावज्जीवन परिताप का ही अनुगामी बना रहना पड़ता है' *। शास्त्रनिष्ठा का तत्त्ववेत्ताओं ने विरोध नहीं किया, अपितु लोकनिष्ठाओं में मानवीय-कल्पना के आधार पर जिन प्रकृतिविरुद्ध-अशास्त्रीय भावों का समावेश हो जाता है, उनका निष्कासन करते हुए उन्होंने इसे शास्त्रनिष्ठा की अपेक्षा शिला पर प्रतिष्ठित किया है ।

४—मानव का देवयुगकालीन उद्बोधन—

श्रुति हमें सुनाती है कि एक बार भारतीय मनुष्यप्रजा ने यह कहते हुए शास्त्रनिष्ठा का परित्याग कर दिया कि,—"जो शास्त्रीय यज्ञादि कर्म्म करते हैं वे तो दुःख पा रहे हैं एवं जो इन कर्म्मों की उपेक्षा कर स्वच्छन्दाचारविहारपरायण हैं वे लौकिक मनुष्य शास्त्रनिष्ठों की तुलना में सुखसमृद्ध बने हुए हैं । ऐसी स्थिति में हम भी क्यों शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन करें । क्यों नहीं, हम भी लौकिक मनुष्यों की भाँति स्वेच्छाचार विहारपरायण बनते हुए सुखी बनने का प्रयास करें ×" । घटना उस युग की है जो युग भारतवर्ष के लिए स्वर्णयुग माना गया है । वैदिक संस्कृतिप्रधान वह देवयुग जिसमें महर्षिगण् इस पृथिवी पर ही दैवोपम-व्यवस्था व्यवस्थित थी । भारतीय प्रजा की इस मनोवृत्ति के समाचार देवेन्द्र के समीप पहुँचे । देवेन्द्र ने अनुभव किया कि, शास्त्रीय निष्ठा की इस उपेक्षा का कारण अवश्य ही कर्म्मदोष हुआ है । उत्पन्न देवगुरु

×—अधर्म्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
—मनु ४।१७४।

* लेखक-अनुग्रहप्राप्त 'भारतीय हिन्दू मानव और उसकी भावुकता' नामक ग्रन्थ के चतुर्थ स्तवक में इन सब सूत्रों का स्वरूप सोदाहरण स्पष्ट हुआ है ।

×—"स य इमा ईजिरे, ते ह स्मापमर्शी यजन्त । न पापीयांस आसु । अथ य नेजिरे, ते श्रेयांस आसुः । ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्-विवेश—'ये यजन्ते—पापीयांसस्ते भवन्ति । य उ न यजन्ते, श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति । त ह स्मा ऊचुः—बृहस्पतिमाङ्गिरसम् । अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत् , तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति ।"
—शत० ब्रा० १।२।४।२४।

बृहस्पति भारतवर्ष भेजे जाते हैं। वे यहाँ आकर अपने सम्मुख इनसे यज्ञ कराते हैं और देखते हैं कि–अमुक अमुक स्थानों में इनके द्वारा त्रुटि हुई है, एवं यही त्रुटि कर्म्मस्वरूपविघातिका बनती हुई अभद्रा तथा अनिष्ट का कारण बनी है। त्रुटि का विश्लेषण किया जाता है। आस्तिक प्रजा अपना दोष स्वीकार करती है। पुनः उसकी शास्त्रनिष्ठा पर श्रद्धा हो जाती है +।

५–कर्म्मकौशलानुगत–शास्त्रीय प्रकरण का वैशिष्ट्य–

उक्त भारतीयेतिहासपरम्परा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि दोनों निष्ठाओं में शास्त्रनिष्ठा ही त्रिकालाबाधित शान्ति–सुखप्राप्ति का अनन्य–अन्यतम मार्ग है। शास्त्रनिष्ठा तभी हानिप्रदा बनती है यदि उसके अनुष्ठानप्रकार में हम अपनी ओर से कोई असावधानी कर बैठते हैं। शास्त्रनिष्ठा ही क्यों लोकनिष्ठा भी तो इसी प्रकार कौशल का समर्थन कर रही है। यथाप्यपरिपत्तिपूर्वक चातुर्य्य के साथ किया जाने वाला यही लौकिक कर्म्म जहाँ फलप्रद बनता है, वहाँ अनुष्ठानप्रकार की असावधानी कर्म्मस्वरूप को विकृत कर देती है, एवं ऐसे विकृत कर्म्म से कदापि अभीष्ट फलसिद्धि प्राप्त नहीं होती। कर्म्म का कुशलतापूर्वक किया जाने वाला अनुष्ठानप्रकार ही 'कर्म्मकौशल' (कर्म्मचातुर्य्य) है। चाहे शास्त्रीय कर्म्म हो, अथवा तो लौकिक कर्म्म, कौशल ही इस कर्म्म का सौष्ठव है। यही कौशल कर्म्मविभूति का हमारे अध्यात्मजगत् के साथ योग कराने में समर्थ होता है। अतएव तत्त्वाचार्य्यों ने इस कौशल का * 'योग' शब्द से व्यवहार किया है। कुशल पाचक का कौशल पाककर्म्म की सरसता का रहस्य है। कुशल विद्वान् का कौशल स्वाध्यायाध्यापन–कर्म्म की सफलता का बीज है। कुशल याज्ञिक का कौशल यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठा है। ×। कुशल भक्त का कौशल ही भक्तिमार्ग का आलम्बन है। कुशल ज्ञानी का कौशल ही ज्ञानपथ की आधारभूमि है। समन्वयात्मक मार्ग कुशलता–सम्बन्ध से योगात्मक बनते हुए उपादेय हैं, एवं वम्बयात्मक मार्ग कुशलता से वञ्चित रहते हुए अनुपादेय हैं, हेय हैं, अतएव अतिष्कार हैं।

+–"स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरस –'कथा न यजध्व' इति। ते होचु –'किङ्काम्या यजेमहि। ये यजन्ते–पापीयांसस्ते भवन्ति। य उ न यजन्ते–श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति। ××। स होवाच–अनवमर्शं यजध्वम्। तथा श्रेयांसो भविष्यथ–इति। स यो हैवं विद्वान्–अनवमर्शो यजते, श्रेयान् हैव भवति। तस्मान्नवमर्शमेव यजेत"।

—शत० ब्रा० १।७।४।२८।२६

*–बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत–दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व–"योगः कर्म्मसु कौशलम्" ॥ (गी० २।५०)।

×–"तद् होवाच याज्ञवल्क्य–याज्ञिजो हैव दवयजनम्। य आत्मना–शुश्रुवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति, नैव–अह्वला। एतन्न–दिष्टतमामिव मन्यामहे–इति" (शत० ३।१।१।४,५,)।

६–धर्म्म, और अधर्म्म की स्वरूपव्यवस्थिति—

तात्पर्य्य यह निकला कि, धर्म्म, अधर्म्म का कोई नियत स्वरूप नहीं है। वही तत्त्व वही कर्म्म अनुष्ठानप्रकारस्थ कौशल से वञ्चित रहता हुआ अधर्म्म बन जाता है। वही तत्त्व कौशल के सम्बन्ध से धर्म्म बन जाता है। 'देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा' के समन्वय से ही धर्म्म का स्वरूपनिर्म्माता माना गया है +। वही मोदकभक्षण एक स्वस्थ मनुष्य के लिए धर्म्म है सन्निपातरोगग्रस्त व्यक्ति के लिए वही अधर्म्म है। वह शास्त्रनिष्ठ धर्म्मपथ भी उस समय अशास्त्रीय निष्ठा, अधर्म्मपथ बन जाते हैं, जबकि वह निष्ठा वह पथ कौशलरूप योग से वञ्चित हो जाते हैं। साथ ही वह लोकनिष्ठ अधर्म्मपथ भी उस समय शास्त्रीयनिष्ठा, धर्म्मपथ बन जाते हैं जबकि वह निष्ठा, वह पथ योग से युक्त हो जाते हैं +। यहाँ आकर उस पूर्व प्रश्न का सर्वात्मना समाधान हो जाता है कि, "शास्त्रनिष्ठा भी वर्त्तमान में क्यों अभ्युदय–निःश्रेयस के स्थान में आस्तिक प्रजा की अवनति का कारण बन रही है ?, एवं लोकनिष्ठा भी (लौकिक दुरागम के सम्बन्ध से) क्यों योगक्षेमनिर्वाहिका मानी जा रही है ?।"

७–कर्म्मकौशलप्रतिपादक गीताशास्त्र—

जिस कर्म्मकौशलात्मक योग के सम्बन्ध से यच्चयावत् निष्ठाएँ "जननी–अभिलनिर्वाहिका" बन जाती हैं उस योग का उस कर्म्मकौशल का स्वरूप क्या ? एकमात्र इसी प्रश्न के समाधान के लिए 'समाधि' रूप से (बुद्धियोगरूप से) गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। मुग्ध आस्तिक प्रजा यह समझ रही होगी कि, गीता भी श्रौत–स्मार्त्त–सूत्र–ग्रन्थों, तथा मनु–याज्ञवल्क्यादि धर्म्मग्रन्थों की भाँति एक प्रकार का विधि–निषेध–ग्रन्थ होगा आदेशात्मक होगा। इसी भ्रान्ति का यह दुष्परिणाम है कि, आज कितने एक गद्गुवादियों ने गीता को ही स्व–कर्म्म निर्णय का मूलाधारशास्त्र मानते हुए भारतीय अन्य मन्वादि–विधिनिषेधात्मक शास्त्रों की उपेक्षा करने में ही अपना अभ्युदय मान लिया है। गद्गुवादियों की इस गीताभक्ति का हृदय से अभिनन्दन करते हुए भी इस सम्बन्ध में हमें उनके सम्मुख इस अप्रिय–सत्य का उद्घाटन करना ही पड़ेगा कि, यदि वे अपने स्व स्व–कर्म्म के निर्णय के लिए अन्य शास्त्रों की उपेक्षा कर केवल गीताशास्त्र पर इतना उत्तरदायित्व डाल देंगे तो उन्हें इस सम्बन्ध में सर्वथा निराश ही पराजित होना पड़ेगा। 'अमुक कर्म्म करो, अमुक कर्म्म न करो' इत्यादि विधि–निषेधवाक्यों का गीता से कोई सम्बन्ध नहीं

—'देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तु सकलं धर्म्मलक्षणम्'' ॥
—या॰ स्मृ॰ १।६।

—देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृतिः ॥
—या॰ स्मृ॰ ३।२६३।

।—योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
—गीता ५।६।

है । यदि किसी कर्म्म भक्ति, ज्ञान का विधान भी हुआ है, तो उसकी वास्तविक विधि (इतिकर्त्तव्यता) का तो गीताशास्त्र ने स्पर्श भी नहीं किया है । यज्ञकर्म्म के सम्बन्ध में भगवान् ने आदेश तो अवश्य दिया है *। परन्तु अथ से इतिपर्य्यन्त अन्वेषण कर जाइए, कहीं भी यज्ञेतिकर्त्तव्यता का उल्लेख उपलब्ध नहीं होगा । यही स्थिति अन्य शास्त्रीय विधि–विधानों की है । 'कैसे करें, क्यों करें' ? इस कर्म्मकौशलात्मक प्रश्न का समाधान करना ही गीताशास्त्र का मुख्य विषय है । जब गीता से यह पूँछा जाता है कि, 'क्या करें क्या न करें' ?, तो यह विस्पष्ट शब्दों में यही घोषणा कर देती है कि,–'कर्त्तव्य (विधि), अकर्त्तव्य (निषेध) का निर्णय शास्त्र के आधार पर ही करना चाहिए + । ”

८–अभिनिविष्टा शास्त्रनिष्ठा की अनुपयुक्तता—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता ने कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में जिस शास्त्र की ओर सङ्केत किया है उसकी परिभाषा आज अनेक कारणों से दुरूह बन रही है । देश का यह निःसीम दुर्भाग्य है कि जिस किसी भी रस्ते चलने वाले व्यक्ति के द्वारा केवल संस्कृतभाषा में लिखे गए पत्रों ने आज 'शास्त्र' का बाना पहिन कर आस्तिक प्रजा को व्यामोह में डाल रक्खा है । विभिन्न मतवादों का पोषण करने वाले साम्प्रदायिकों ने शास्त्र की वास्तविक परिभाषा को इसप्रकार आवृत कर लिया है कि, सार्वभौम गीताशास्त्र आज मत–विरोधों का ही उपोद्बलक बन गया है, अथवा तो बना दिया गया है । मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र एवं तदनुगामी स्मृतिशास्त्र ही वह मुख्य शास्त्र है जिसका गीतोक्त 'शास्त्र' से संग्रह किया जा सकता है । परन्तु, तत्त्वतः शास्त्र की इस निष्ठा से भी काम चलता दिखाई नहीं देता । 'त्रैगुण्यविषया वेदा'–'श्रुतिविप्रतिपन्ना०' इत्यादि वचनों की ओर जब हमारा + ध्यान जाता है, तो शास्त्र की कुछ और ही परिभाषा माननी पड़ती है । वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादक श्रुति–स्मृतिशास्त्र भी

---

*–यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
—गीता० १८।५।

×–तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥
—गीता० १६।२४।

+–त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
—गीता० २।४५।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
—गीता० २।५३।

व्यावहारिक दशा में राग-द्वेषात्मक का जनक बनता हुआ आत्मपतन का कारण बन जाता है। जब तक इस शास्त्र के मूल में गुणातीत, गुह्यतम + अध्यात्मशास्त्र प्रतिष्ठित नहीं कर दिया जाता तब तक यह मान्य शास्त्र भी अशान्त ही बना रह जाता है। विधि-निषेध के अभिनिवेश से व्याप्त अध्यात्मशास्त्र को सीमित बना कर शास्त्रत्रय का अनुसरण करने वाले अभिनिविष्ट जन केवल त्रिगुणभाव के [illegible] पथिक बने रह जाते हैं। और यह ध्रुव सत्य है कि जब तक हमारी आध्यात्मिक संस्था त्रिगुणभावापन्ना है तब तक शान्ति का अभाव है। एवं जब तक रागद्वेष का साम्राज्य है तब तक वास्तविक शान्ति सुख की प्राप्ति असम्भव है। एवं सम्पूर्णिया अभिनिविष्टा शास्त्रनिष्ठा सर्वथैव अनुपयुक्ता है।

९-विलक्षण-मूल, एवं अमूल गीताशास्त्र—

इन्हीं कारणों से [illegible] की तात्त्विक परिभाषाओं का भेद किया गीताशास्त्र ने। अध्यात्मविद्या ही अध्यात्मशास्त्र है यही ब्रह्मविद्या है। इसे आधार बना कर भगवान् ने कौशलरूप 'योग' का स्वरूप निश्चित किया। इसी योग के द्वारा अन्य शास्त्रों का प्रतिपादन किया। '*ब्रह्मविद्यायां-योगशास्त्रे*' रूप से व्यवहार-संस्कार करते हुए गीताशास्त्र ने ब्रह्मविद्यात्मक आत्मशास्त्र, एवं तदनुगामी योग इन दोनों का ही विश्लेषण किया है। जिनके अनुगमन से, समन्वय से सम्मन्वय से शास्त्रनिष्ठा भी त्रिगुणातीता बन कर शान्ति-सुख की प्रवर्तिका बन जाती है, एवं लोकनिष्ठा भी शान्ति-सुखप्रदायी बन जाती है। सम्बन्धनिष्ठारूप गीताशास्त्र जहाँ भारतीय वर्णाश्रमधर्म के द्वारा भारतीय प्रजा का उपकारक बना रहता है, वहाँ लोकनिष्ठारूपेण सम्पूर्ण विश्व के मानवमात्र का अभ्युदय-पथ बनता हुआ सर्वमैत्र-भावना बना हुआ है। यही इसकी विधि-निषेधात्मक शास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र की विलक्षणता मूलत्व, एवं अमूलत्व है, जिस विलक्षणता-मूलता-अमूलता का गीताभूमिका-प्रथमखण्ड (बहिरङ्गपरीक्षा) में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है।

१०-गीता का उपनिषद्-भाव—

[illegible] से गुह्य तत्त्व को आधार बना कर यहाँ आत्मनिष्ठा का अनुगमन किया गया है [illegible] के अनुसार ही अभ्युदय निःश्रेयस है। इस आधार को लक्ष्य कर [illegible] का समन्वय कर लोकनिष्ठा का पथ निश्चित है। फलतः हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ा कि [illegible] योग ही शान्ति-सुख का अनन्य एवं अन्यतम साधन है। जिस [illegible] में समन्वय किया गया है एवं गीताशास्त्र में जिस का विश्लेषण से स्पष्ट हुआ है। [illegible] इस प्रकार का बुद्धियोगरूप ऐसा हुआ भी भगवद्गीतासूपनिषत्सु [illegible] उपनिषद् नाम से व्यवहृत हुआ है। [illegible] ही 'उपनिषत्' है। [illegible] के विविध पर्वों की, एवं योग के विविध अङ्गों की [illegible] (गोपनीय रहस्य) का ही [illegible] हुआ है। कारण इसे उपनिषत् इस रहस्यभाव-पक्ष से सम्बद्ध माना गया है।

।-इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥
—गी० १५।२०

११—आत्मविद्या के सोपाधिक पाँच विवर्त—

योगतत्त्व को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली अध्यात्मविद्या ही ब्रह्मविद्या है, यही 'आत्मविद्या' है। यह आत्मविद्या ही पहिला, एवं मुख्य दृष्टिकोण है। इस आत्मविद्या के (आत्मा के) 'ब्रह्म-कर्म' नामक दो दिव्यधातु माने गए हैं। सोपाधिक-विद्यानुगत आत्मा का ब्रह्म नामक दिव्यधातु 'ज्ञान' नाम से, कर्म नामक दिव्यधातु 'क्रिया' नाम से व्यवहृत हुआ है। ब्रह्मकर्मात्मक वही आत्मा दिव्यात्मा है, ज्ञानक्रियात्मक वही आत्मा विद्यात्मा है। इसप्रकार उस एक ही आत्मतत्त्व के समष्टिलक्षण 'आत्मा', व्यष्टिलक्षण ब्रह्म-कर्मात्मक 'दिव्यात्मा', एवं व्यष्टिलक्षण ज्ञानक्रियात्मक 'विद्यात्मा' ये तीन विवर्त हो जाते हैं। तीसरे विद्यात्मा के ज्ञान-क्रिया, इन दो विवर्तों के तारतम्य से अवान्तर तीन आत्मविवर्त हो जाते हैं। विशुद्ध ज्ञानप्रधान वही विद्यात्मा 'ज्ञानात्मा' है। विशुद्ध क्रियाप्रधान वही आत्मा 'कर्मात्मा' है, उभयात्मक मध्यस्थ वही आत्मा 'कामात्मा' है। इस दृष्टि से अध्यात्मविद्या के 'आत्मा, ब्रह्मकर्ममय दिव्यात्मा, ज्ञानात्मा, कर्मात्मा, कामात्मा' ये पाँच विवर्त हो जाते हैं। इन पाँच आत्मविवर्तों में से आत्मा और दिव्यात्मा, ये दो आत्म-विवर्त तो योगसम्बन्ध से असंस्पृष्ट हैं। शेष तीनों विवर्त योगसम्बन्ध से संस्पृष्ट हैं। विद्यात्मा के ज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखने वाला योग ही 'ज्ञानयोग' है, कर्मात्मानुगत योग ही 'कर्मयोग' है, एवं कामात्मानुगत योग ही भक्तियोग है। विद्यात्मोपयुक्त ज्ञान-काम-क्रियात्मक जीवात्मा ज्ञानद्वारा भी उस विद्यात्मा के ज्ञानात्मभाग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका ज्ञानयोग है। कामद्वारा भी उसके कामात्मभाग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका भक्तियोग है। एवं क्रियाद्वारा भी यह उसके कर्मात्मभाग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका कर्मयोग है। इन पाँच आध्यात्मिक विवर्तों के स्पष्टीकरण के लिए, एवं विद्यात्मानुगत योग-त्रयी के स्पष्टीकरण के लिए क्रमशः 'आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्मपरीक्षा, कर्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा,' इन पाँच निबन्धों का मूल में विश्लेषण हुआ है।

१—आत्मा——————————आत्मपरीक्षा

२—ब्रह्मकर्ममयो दिव्यात्मा——————ब्रह्मकर्मपरीक्षा

३—ज्ञानप्रधानो विद्यात्मा (ज्ञानात्मा)————ज्ञानयोगपरीक्षा

४—उभयप्रधानो विद्यात्मा (कामात्मा)————भक्तियोगपरीक्षा

५—क्रियाप्रधानो विद्यात्मा (कर्मात्मा)————कर्मयोगपरीक्षा

१२—नव (९) खण्डात्मिका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका की मूलप्रकृति—

कर्म्मात्मा, दोनों विशद अन्तरङ्ग आत्मा हैं। भक्तिपर्व्वानुगत कामात्मा निगूढ़ आत्मा है। इसी आधार पर आत्मा, ब्रह्मकर्म्म कर्म्मात्मा, ज्ञानात्मा, इन चारों की समष्टि का 'अन्तरङ्गपरीक्षा' में अन्तर्भाव मान लिया गया है। कामात्मा, एवं निष्कामात्मा, इन दो निगूढ़ विवर्त्तों से सम्बद्ध परीक्षा 'सर्वान्तरतमपरीक्षा' मान ली गई है। एवं इसी दृष्टिकोण को आलम्बन बना कर गीताशास्त्रपरीक्षा प्रवृत्त हुई है। अन्तरङ्गपरीक्षान्तर्गत-'आत्मपरीक्षा' का 'क' विभागात्मक एक स्वतन्त्र खण्ड में निरूपण हुआ है। ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा एवं कर्म्मयोग-परीक्षा का संयुक्तरूपेण, दोनों का 'ख' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड में, शेष कर्म्मयोगपरीक्षा का 'ग' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड में एवं अन्तरङ्गपरीक्षाभिन्ना अन्तिम ज्ञानयोगपरीक्षा का 'घ' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड में विश्लेषण हुआ है। इसप्रकार अन्तरङ्गपरीक्षात्मक भूमिका द्वितीयखण्ड से सम्बन्ध रखने वाली आत्म-ब्रह्मकर्म्म-कर्म्मयोग-ज्ञानयोग-इन चार परीक्षाओं का क्रमशः क-ख ग-घ- इन चार अवान्तर खण्डों में विश्लेषण हुआ है।

प्रकरणविरोध से ज्ञानात्मा को अन्तरङ्ग आत्मा मान कर तदनुगता ज्ञानयोगपरीक्षा का अन्तरङ्गपरीक्षा में अन्तर्भाव माना लिया गया है। एवं मध्यस्थ रहने वाले भी कामात्मा को प्रकरणविरोध से निगूढ़(सर्वान्तरतम) आत्मा मानते हुए तदनुगता भक्तियोगपरीक्षा का सर्वान्तरतमपरीक्षा में अन्तर्भाव माना गया है। इस भक्ति-योगपरीक्षा के क-ख-क्रम से अवान्तर दो खण्ड हुए हैं। कर्म्मयोगाधिष्ठाता अन्तरङ्ग कर्म्मात्मा ज्ञानयोगाधिष्ठाता अन्तरङ्ग ज्ञानात्मा भक्तियोगाधिष्ठाता सर्वान्तरतम कामात्मा, तीनों से अतीत तीनों में एकरसरूप से व्याप्त बुद्धियोगाधिष्ठाता निगूढ़ निष्कामात्मा ही अन्तिम सात्त्विक आत्मपर्व है। इसीका प्रस्तुत 'ग' विभागात्मक-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक सर्वान्तरतमपरीक्षा के तृतीयखण्ड में विश्लेषण अभीष्ट है। अन्त में 'घ' विभागात्मक चतुर्थ खण्ड में 'गीतासारपरीक्षा' का विश्लेषण हुआ है। इसप्रकार निगूढ़ आत्मानुगत योग-स्वरूप विश्लेषक सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक भूमिका तृतीयखण्ड के भी द्वितीयखण्डवत्-भक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड भक्तिपरीक्षा उत्तरखण्ड बुद्धियोगपरीक्षा गीतासारपरीक्षा ये चार अवान्तर खण्ड हो जाते हैं, जिनका क-ख ग-घ-क्रम से विभाजन हुआ है। सम्भूय निबन्धत्रयाभिन्ना गीतापरीक्षाभिन्ना गीताभूमिका के ९ खण्ड हो जाते हैं जिनमें से ४ खण्ड गतार्थ हैं। ५-६-७-तीन खण्ड अप्रकाशित हैं। ८ वाँ खण्ड प्रस्तुत है। नवम खण्ड प्रतीक्षा बना हुआ है *।

---

*-बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड एवं अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड के आत्मपरीक्षा,-ब्रह्मकर्म्म परीक्षा -कर्म्मयोगपरीक्षा -नामक क-ख-ग-ये तीन अवान्तरखण्ड सम्भूय अद्यावधि ४ चार भूमिका खण्ड प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत खण्ड से पूर्व अभी अन्तरङ्गपरीक्षा का 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक 'घ'-प्रकरणात्मक पञ्चम खण्ड, तथा सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक तृतीयखण्ड के भक्तियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड (क), उत्तरखण्ड (ख)-५-६-७ खण्ड अप्रकाशित हैं।

नवखण्डगर्भिता–त्रिखण्डात्मिका–गीतापरीक्षात्मिका–गीताभूमिका—

१—	१–०—बहिरङ्गपरीक्षा	—बहिरङ्गपरीक्षात्मक–प्रथमखण्ड (१)
२—	१–(क)–आत्मपरीक्षा (आत्मानुगता)	—अन्तरङ्गपरीक्षात्मक–द्वितीयखण्डः (२)
३—	२–(ख)–ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा (ब्रह्मकर्म्मानुगता)	
४—	३–(ग)–कर्म्मयोगपरीक्षा (कर्म्मात्मानुगता)	
५—	४–(घ)–ज्ञानयोगपरीक्षा (ज्ञानात्मानुगता)	
६—	१–(क)–भक्तियोगपरीक्षा (पू०खं०) (कामात्मानुगता)	—सर्वान्तरतमपरीक्षात्मकस्तृतीयखण्डः(३)
७—	२–(ख)–भक्तियोगपरीक्षा (उ०खं०) (कामात्मानुगता)	
८—	३–(ग)–बुद्धियोगपरीक्षा (निष्कामात्मानुगता)	
९—	४–(घ)–गीतासारपरीक्षा (सर्वानुगता)	

१३—विद्या, एवं योगानुगत गीताशास्त्रनिरूपण—

आत्मा के जिन पाँच विवर्तों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है । वस्तुतः एक अन्य दृष्टि से उन का चार विवर्तों पर ही अवलम्बन मानना न्याय्य होगा । चार भी नहीं, दो ही विवर्त, एक निगूढ़ आत्मा, दूसरा विश्वात्मा । निगूढ़ात्मा विश्वातीत आत्मा है, विश्वात्मा विश्वचर है । विश्वचर विश्वात्मा ज्ञान क्रियामय है, विश्वातीत निगूढ़ आत्मा मनःप्राणमय है । मनःप्राणमय निगूढ़ आत्मा दिव्यात्मा है, ज्ञानक्रियामय विश्वात्मा लौकिक आत्मा है । दिव्यात्मा निरुपाधिक है, लौकिक आत्मा सोपाधिक है । निरुपाधिक–आत्मविद्या गुह्यविद्या है, तदनुगत निरुपाधिक योग भी गुह्ययोग है । सोपाधिक आत्मविद्या ब्रह्मविद्या है, तदनुगत सोपाधिक योग भी ब्रह्मयोग है । अतएव आत्मविद्या एवं तदनुगत ब्रह्मयोग, दोनों ही मूलभित्तिरूप गुह्ययोगानुगता गुह्य ज्ञान-विद्या है । यही दिग्दर्शन है । अतएव आत्मविद्या एवं ब्रह्मयोग गीताशास्त्र में विभक्त है । तीनों का आधार क्या तथा मनःप्राणात्मक मनःप्राणयोग निष्पन्न है । इसप्रकार निष्पन्न गुह्य बनता 'आत्मा', ज्ञानात्मा–कामात्मा–कर्म्मात्मा ये चार जो आत्मविवर्त्त हो जाते हैं एवं निष्पन्न निगूढ़ बनता 'बुद्धियोग' लक्षण–ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग ये चार योग हो जाते हैं । 'महाविद्यायाम्' में यही चतुर्विध आत्मविद्या प्रतिष्ठित है । एवं योगशास्त्र में यही चतुर्विध योग प्रतिष्ठित है । यही सम्पूर्ण दिग्दर्शन है ।

१४–निरूपणीय विषय की सन्दर्भसङ्गति—

युगधर्म्मानुसार जब जब मानवा आत्मा से सम्बद्ध मानवा योग (बुद्धियोग) लुप्त हुआ, तब तब ही इस पर प्रतिष्ठित रहने वाली योगमयी की शङ्कुला मर्य्यादा से च्युत होती हुई अनिष्ट का कारण बनी। अनेक बार इस त्रुटि का तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा उत्थान हुआ, काल पा कर उत्थान विच्छिन्न हुआ। महाभारत युग में भगवान् कृष्णद्वारा इसका पुनरुद्धार हुआ। आगे जाकर साम्प्रदायिक युग के अनुग्रह से पुनः यह सिद्धान्त अस्तप्राय हो गया। यही कारण है कि, उपलब्ध होने वाले यावावत् गीताभाष्यों, टीकाओं में ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग की ही साम्प्रदायिक उपलब्ध हो रही है। बुद्धियोगात्मक पक्ष पराङ्मुख से विच्युता योगमयी आज अभ्युदय निःश्रेयस के स्थान में अध:पतन का कारण ही बनी है। शुद्ध बुद्धियोग आज पुनः एकान्ततः गुप्त बन चुका है। बुद्धियोग-निष्ठाविहिता निष्ठामयी आज शान्ति–सुख के स्थान में अशान्ति–दुःख की उत्पादयित्री बन रही है। और इसी आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि, वर्त्तमान–युग के ज्ञानी–भक्त–कर्म्मठ शास्त्रनिष्ठ बन एवं लोकनिष्ठ व्यावहारिक लोग सभी एकमात्र बुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चित रहते हुए प्रयास करने पर भी सुख शान्ति प्राप्त नहीं कर रहे, नहीं बिना बुद्धियोग को आधार बनाए शान्ति–सुख सम्भव। तीनों योग तभी शान्ति–सुख के प्रवर्त्तक बन सकते हैं जबकि इन तीनों को बुद्धियोगस्वरूप में परिणत कर दिया जाय। बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग बु० कर्म्मयोग बु० भक्तियोग, इन तीनों योगों का ही पूर्व में क्रमशः ज्ञानयोगपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा भक्तियोगपरीक्षा-क्रमों में विश्लेषण हुआ है। ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा में दिव्य–गूढ़ात्मा के दिव्य ब्रह्म–कर्म्म पर्वों का विश्लेषण हुआ है। एवं आत्मपरीक्षा में समष्टिरूप से आत्मपरीक्षा हुई है। अब प्रस्तुत परीक्षा–प्रकरण में गीता के मूलसिद्धान्तरूप उस 'बुद्धियोग' का ही स्वरूप विश्लेषण किया जा रहा है जो कि वर्त्तमान भाष्य–टीका–दृष्टियों से सर्वथा अतीत, प्राचीन व्याख्याताओं में से एकमात्र अभिनवगुप्ताचार्य्य के द्वारा ही 'संक्षेप स्वतन्त्र' रूप से समर्थित है। यही प्रस्तुत प्रकरणानुगता सन्दर्भसङ्गति है, जिसे लक्ष्य बना कर ही निरूपणीय विषय का समन्वय करना चाहिए।

१ आत्मा } –(आत्मपरीक्षा)

२ ब्रह्मकर्म्ममयो दिव्यात्मा } —निष्कामात्मा—बुद्धियोगपरीक्षा } –विश्वातीत (१)

–(ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा)

१–ज्ञानात्मा—ज्ञानयोगाधिष्ठाता—ज्ञानयोगपरीक्षा

२–भक्तात्मा—भक्तियोगाधिष्ठाता—भक्तियोगपरीक्षा } –विश्वात्मा (२)

३–कर्म्मात्मा—कर्म्मयोगाधिष्ठाता—कर्म्मयोगपरीक्षा

● ● ● ●

इति–बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमप्रकरणे 'सन्दर्भसङ्गति' नामकः

प्रथमस्तम्भः—उपरत

(१)—१

श्री

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

'सन्दर्भसङ्गति' नामक

प्रथमस्तम्भ—उपरत

(१)—१



श्री

अथ बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मकं प्रथमप्रकरणे

'योगेश्वरस्य तात्त्विक-स्वरूपनिरूपणम्' नामक-

द्वितीयस्तम्भ

(१)-२

श्री

योगेश्वरस्य तात्त्विकस्वरूपनिरूपणम्

द्वितीयस्तम्भ



१—ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदिग्दर्शन—

जिस अलौकिक, अपूर्व पूर्ण, विलक्षण योग (बुद्धियोग) का विश्लेषण अभीष्ट है, प्रथम उस अपूर्व योग के आधारभूत योगेश्वर का स्वरूप ही जिज्ञास्य है। योगतत्त्व की मूलप्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या मानी गई है, एवं इसी को 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है। एक ही आत्मतत्त्व ब्रह्मविद्या, और योगभेद से दो भावों में परिणत हो रहा है। ब्रह्मविद्यानुगत, किंवा ब्रह्मविद्यात्मक वही आत्मा ब्रह्म है, इस ब्रह्म की स्वरूपस्थिति ही 'ब्राह्मी-स्थिति' है। योगानुगत, किंवा योगात्मक वही आत्मा योग है, इस योग की स्वरूपस्थिति ही 'योगस्थिति' है। योगस्थिति ब्राह्मीस्थिति पर प्रतिष्ठित है, ब्राह्मीस्थिति योगस्थिति के सहयोग से निष्क्रिय है। ब्राह्मीस्थिति स्थितिलक्षणा है, योगस्थिति गतिलक्षणा है। गतिलक्षणा योगस्थिति स्थितिलक्षणा ब्राह्मीस्थिति को आधार बना कर स्वयमपि स्थितिभावाभिन्न बन जाती है। ऐसे ब्राह्मस्थितियुक्त योग के लिए ही 'तां योगमिति-मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (कठोपनिषत् ६।११) यह कहा गया है। ठीक इसके विपरीत ब्राह्मीस्थिति-रूप स्थितितत्त्व से वञ्चित गतिरूपा योगस्थिति कर्मकलापरूप स्वानुगत गतिभाव के कारण व्यामोह का कारण बन जाती है। सरलभाषा में यों समन्वय कीजिए कि, ब्राह्मीस्थिति ब्रह्म है, योगस्थिति कर्म्म है। यदि कर्म्म ब्रह्म को आधार बना कर किया जाता है, तो अचल ब्रह्म के आधार बन जाने से कर्म्म जनित संस्कारलेप का आत्मा के सम्बन्ध नहीं होने पाता। आत्मा अपनी स्वाभाविक ब्राह्मीस्थिति में बना रहता है *। यदि ब्रह्माधार का परित्याग कर दिया जाता है तो स्वस्वरूप से च्युत कर्म्म संस्कारलेप-बन्धन का प्रवर्त्तक बनता हुआ आत्मा के स्वाभाविक विकास का आवरक बन दुःखप्रवृत्ति का कारण प्रमाणित हो जाता है। निष्कर्ष यह ब्राह्मीस्थिति का सम्यक् परिज्ञान ही व्यामोहनिवृत्ति का अन्यतम कारण है, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
> स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ (गीता२।७२)।

२—ब्राह्मीस्थितिमूलक योगेश्वर—

इस श्लोक से पहिले अनेक श्लोकों में 'स्थितप्रज्ञता' का निरूपण हुआ है। स्थितप्रज्ञता ही ब्राह्मी-स्थिति है। प्रज्ञान मन का प्रज्ञा भाग अभ्यमय वैषयिक संस्कारों से उसी प्रकार आन्दोलित हो पड़ता है जैसे

---

*—ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गी०५।१०)।

कि एक सरोवर पाषाणप्रक्षेप से। अथवा यों समझिए कि जैसे समुद्रप्रवाह में शान्त-धीरगति से प्रवाहित एक नौका झञ्झावात के प्रत्याघात से डगमगा जाती है अपनी स्वाभाविक गतिरूपा स्थिति छोड़ बैठती है एवमेव सांसारिक कामनामय समुद्र में योगक्षेम-निर्वाह के लिए शान्त-धीरगति से प्रवाहित नौकास्थानीय प्रज्ञानमन रागद्वेषात्मक-इन्द्रियात्मक झञ्झावात के प्रत्याघात से डगमगा जाता है +। सर्वसाधारण की दृष्टि में लौकिक विषय बन्धन के कारण हैं। परन्तु तत्त्वतः कोई भी विषय बन्धन का कारण नहीं है। देहधारी की सत्ता विषयग्रहण पर ही तो निर्भर है तो वह इनका आत्यन्तिक परित्याग कर भी कैसे सकता है। प्राकृतिक-ऐन्द्रियक वेगों का निरोध सर्वथा असम्भव है *। बन्धन का कारण है रागद्वेषात्मिका स्पृहा लिप्सा कामलिप्सता आसक्ति। इन्द्रियों को अपना काम करने दीजिए, आत्मा के साथ मन का योग बनाए रखिए, कोई हानि नहीं है। यही तो प्रसाद की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है ×। रागद्वेषानुगता आसक्ति से मन कामकामी बनता हुआ आत्मयोगलक्षणा ब्राह्मीस्थिति से वञ्चित रहता हुआ अशान्त बन जाता है। अशान्त मन स्वोपरि प्रतिष्ठित बुद्धि को अशान्त कर देता है। अयुक्त मनोऽनुगता ऐसी अस्थिर बुद्धि स्थितिलक्षण स्वस्वरूप को ही खो बैठती है। स्वस्थितिलक्षणा भावना लुप्त हो जाती है, किं कर्तव्यं किं न कर्तव्यं-लक्षणा अशान्ति उद्बुद्ध हो जाती है फलस्वरूप शान्तिमूलक वास्तविक आत्मसुख समाप्त हो जाता है ÷। ठीक इसके विपरीत रागद्वेषविमुक्तिपूर्वक विषयानुगमन करता हुआ भी मन आपूर्यमाणा आत्मधारा की अचलप्रतिष्ठा-लक्षणा ब्राह्मीस्थिति में प्रतिष्ठित रहता हुआ शान्त बुद्धिमन बना रहता है। इसके शान्त रहने से बुद्धि शान्त रहती है बुद्धि के स्वाभाविक व्यवसायात्मकत्व आत्मयोग का विकास रहता है। आत्मविकासरूप आत्मप्रसाद से युक्त ऐसा मन और ऐसी बुद्धि दोनों प्रज्ञायुक्त से युक्त बने रहते हैं ‡। यही ब्राह्मीस्थिति है। प्रज्ञानमन की प्रश

\+ इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ (गी २।६७)।

*—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (गी ३।५)।

×—रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गी २।६४)।

÷—नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गी २।६६)।

‡—प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥ (गी २।६५)। (१)
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (गी०२।७१)। (२)
आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ (गी०२।७०)। (३)

का स्थिर हो जाना ही ब्राह्मीस्थिति है, जिसे गीता में 'स्थितप्रज्ञता' नाम से भी व्यवहृत किया गया है। यह स्थितप्रज्ञता कैसे प्राप्त हो ?, प्रश्न का शास्त्रियों ने भिन्न भिन्न समाधान किये हैं। सभी समाधान स्थितिभेद से संभाव्य हैं। प्रकृत में इस प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में हम अपनी ओर से 'ब्राह्मीस्थिति' का स्वरूप बिना कहे ही अधिक समीचीन समझ रहे हैं। ब्रह्म की तात्त्विक स्थिति (अवस्थान, व्याप्ति) ही ब्राह्मीस्थिति है। निःसंदिग्ध है कि, तत्त्वज्ञान के अभाव से, ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूपज्ञानाभाव से ही असत् में सत् का, एवं सत् में असत् का व्यामोह हो जाता है। एक तत्त्ववादी जिसे सत् मान कर सुख का कारण कह रहा है, अतत्त्ववादी लौकिक मनुष्य की दृष्टि में वही सत् असत् बना हुआ है। जिसे इसने सत् मान लिया है, तत्त्ववादी की दृष्टि में वही असत् है एवं यह भ्रमप्रवृत्ति ही उसकी दुःखप्राप्ति का मूलकारण बन रही है। विवेकज्ञान ही भ्रमस्वरूप का निवर्तक है। सदसद्विवेक ही विवेकज्ञान है, विवेकज्ञान ही ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदर्शक है। अतएव कहा जा सकता है कि ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपज्ञान ही शान्ति की सम्यक्तम प्रतिष्ठा है। ब्राह्मीस्थिति का अर्थ है ब्रह्म की लोक में स्थिति। ब्रह्म जिस रूप से विश्व में स्थित हो रहा है, ब्रह्म की वह विश्वस्थिति ही ब्राह्मीस्थिति है। इस स्थिति का परिज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान ही निःश्रेयस का कारण है— 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' (न्या०सू०)। तत्त्वज्ञानात्मिका ब्राह्मीस्थिति ही ब्रह्म का वास्तविक (तात्त्विक) स्वरूप है। फलतः ब्राह्मीस्थिति का स्वरूप- विश्लेषण ही ब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण है। योगाधिष्ठाता यह ब्रह्म ही योगेश्वर है। योगेश्वर की ब्राह्मीस्थिति का विश्लेषण ही योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण है। उसी की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

३—'योगेश्वर' का 'योग', और 'ईश्वर'—

'योगेश्वर' शब्द में 'योग'-'ईश्वर' इन दो शब्दों का समन्वय है। दोनों में से 'योग' स्वरूप अगले स्तम्भ के लिए छोड़ा जाता है एवं योग के 'ईश्वर' (अधिष्ठाता) रूप 'ईश्वर' शब्द की मीमांसा आरम्भ की जाती है। 'ईश्वर' शब्द पौराणिक है यथाकथञ्चित् दर्शनशास्त्र के द्वारा भी संगृहीत, परन्तु सर्वसाधारण को 'ईश्वर' शब्द से जिस जगदीश्वर-जगन्नियन्ता का बोध होता है, उस अर्थ में ईश्वर शब्द वेदशास्त्र में अप्रयुक्त है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों में ईश्वर शब्द प्रयुक्त अवश्य हुआ है, परन्तु उससे विश्वेश्वर कहीं भी अभिप्रेत नहीं है अपितु—सर्वत्र ईश्वर शब्द से—'समर्थ' अर्थ का ही ग्रहण हुआ है*। वैदिक साहित्य में इस नियन्ता के लिए 'ईश'-'ईशिता'- सर्वज्ञ'- परात्पर -आदि शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। विचार हमें गीता के बुद्धियोग का करना है, अतः अन्य प्रपञ्चों में न पड़ कर हमें गीतादृष्टि से ही 'ईश्वर' शब्द का समन्वय करना है। गीता किसे ईश्वर कहती है ? उत्तर में गीता के ही निम्न लिखित सिद्धान्त पर दृष्टि डालिए—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥

---

*—'गृहा वै दुर्याः । ते हैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य, यो ऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति।
ते प्रपद्यमानस्य प्रख्योतोस्तस्येश्वरा दुर्या विपोज्यो' । (शत०ब्रा०१।१।२।२२) ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥ (गीता१५।१६, १७।)

अभिप्राय यही है कि—'इस लोक में क्षर, अक्षर नाम के ये दो पुरुष हैं। सम्पूर्ण भूत क्षर है, कूटस्थ अक्षर कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो (इन दोनों से) अन्य है जो 'परमात्मा' इस नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं जो अव्यय—ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सब का धारण—पोषण करता है'। जिन गीताप्रेमियों ने गीताभूमिका के पूर्वखण्डों का अवलोकन किया होगा, उनके लिए ये तीनों पुरुष सर्वथा परिचित होंगे। परन्तु व्यावहारिक जगत् की सहज निष्ठा के कारण जिन्हें पर्याप्त समय न मिला होगा, उनके लिए दो शब्दों में इस पुरुष—त्रयी के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करना अनुचित न होगा। साथ ही दृष्टिकोण—भेद से प्रस्तुत स्तम्भ में प्रतिपादित त्रिपुरुषविज्ञान पूर्वोक्त महानुभावों के लिए भी अनुरञ्जक ही प्रमाणित होगा।

४—अभिव्यक्तिलक्षण व्यक्तित्व, एवं विश्वस्वरूपदिग्दर्शन—

अस्तु, अचल—चलात्मक चराचर पाञ्चभौतिक विश्व में व्यक्तिरूपेण जितने भी पदार्थ हमें प्रतीत हो रहे हैं वे सब 'व्यक्ति' नाम से प्रसिद्ध हैं। अणु से आरम्भ कर महान् पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, वे सब पृथक् पृथक् आत्मसत्ता रखते हुए ही अभिव्यक्त हो रहे हैं। इसी आधार पर व्यक्ति का 'व्यक्तिस्तु पृथगात्मता' यह लक्षण किया गया है। यह पृथगात्मता ही जगत्—भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति का कारण है। घटात्मा घटस्वरूप है घटरूप घटस्वरूप है। घटात्मा मनःप्राणवाङ्मयी है। घटरूप घटनाम घटकर्म, तीनों की समष्टि ही घट का स्वरूप है। नामरूप—कर्मात्मक घट का आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है। घटात्मा के मनः पर्व से घटरूप का, प्राणपर्व से घटकर्म का, वाक्पर्व से घटनाम का विकास हुआ है। मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व इसी घट का अमृतरूप है नामरूप—कर्मसमष्टि इसी घट का मर्त्यरूप है। 'घटोऽस्ति' इस वाक्य में 'घट'—'अस्ति' ये दो पर्व हैं। 'घट' यह नामरूपकर्मात्मक मर्त्य पर्व है परिवर्तनशील है। 'अस्ति' यह मनःप्राणवाङ्मय अमृत पर्व है अपरिवर्तनीय है जैसाकि आगे स्पष्ट होने वाला है। सर्वव्यापक अस्ति तत्त्व ही 'सत्' है। यही नामरूपकर्मोपाधिभेद से पृथक्—पृथक् भावों से युक्त होकर पृथक्—पृथक् अभिव्यक्तियों की मूलप्रतिष्ठा बन रही है। सीमारहित सत्यरूप मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व ही नामरूपकर्मात्मिका व्यक्ति की पृथगात्मता है। सभी वस्तु उस समष्टि की अस्तित्वरूपेण अभिव्यक्ति है मान है सत्ता है अस्तित्व है। अतएव कहा जा सकता है कि नामरूपकर्मात्मक भौतिक पदार्थ भी जो अभिव्यक्ति है वह वस्तुतः सदाधार, सदात्मक, अस्तिलक्षण आत्मतत्त्व की ही अभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही पदार्थाभिव्यक्ति है। पदार्थ की अभिव्यक्ति ही उसका व्यक्तित्व है। इसप्रकार एक एक व्यक्ति सभी की पृथक् पृथक् अभिव्यक्ति है। 'व्यक्ति' रूपा अभिव्यक्ति के गर्भ में नामरूपकर्म की भी अभिव्यक्ति है, मनःप्राणवाङ्मय अस्तिभाव की भी अभिव्यक्ति है। दोनों अभिव्यक्तियों के समन्वितरूप का ही नाम 'व्यक्तित्व' है यही कर्म्मात्मक विश्व का समष्टि एवं व्यष्टिरूप से संक्षिप्त स्वरूपपरिचय गया है।

५—भारतीयशास्त्र का 'कारणतावाद'—

'व्यक्ति' लक्षण कर्म्मात्मक विश्व अवश्य ही कार्य है क्योंकि—'यावत् कार्य्यं—तावत् कर्तृजन्यम्' न्याय अपवादरहित न्याय है। घट—पट—मठादि जैसे कारणादि—कारकों के बिना अनुपपन्न हैं, एवमेव सूर्य्य,

चन्द्र, ग्रह, औषधि, वनस्पति, आदि प्राकृतिक कार्य्य भी अवश्य ही किसी न किसी कारण की अपेक्षा रख रहे हैं। इन प्राकृतिक कार्य्यों का कारण कौन है, प्रश्न के उत्तर में प्राचीन विद्वानों ने 'कारण' शब्द ही हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। 'कार्य्यते अनेन' निर्वचनानुसार कार्य्य का पूर्ववर्ती रूप ही 'कारण' कहलाया है। यही कारण कार्य्यात्मक विश्व का कारण है। कारण नामक यही कारण प्राचीन परिभाषा में–'कृ'–कार्य्यस्य प्र–प्रथमावस्था निर्वचन से 'प्रकृति' कहलाया है। जिस प्रकृतिरूप कारण का–'प्रकृति कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तु चेतनः' इन शब्दों में विश्लेषण हुआ है। 'अन्यथासिद्धि शून्यत्वे सति नियतपूर्ववर्त्तित्वम्' ही कारणत्व है, यही प्रकृतित्व है एवं यही दार्शनिक कारणतावाद की विश्रामभूमि है जिसे मान कर ही वैज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हो जाते। प्रकृति के कारणतावाद से अनुराग बनाए रखते हुए भी इस सम्बन्ध में हमें उस वैज्ञानिक कारणतावाद का विश्लेषण करना पड़ेगा जिसके परिचय के बिना न तो कार्य्यस्थिति का ही समन्वय सम्भव, एवं न कार्य्यस्थिति की आधारभूता निरूपणीया भावीस्थिति का ही समन्वय सम्भव।

६–विश्वकारणत्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन—

वर्त्तमान युग के अनन्य सर्वश्रेष्ठ वैदिकविज्ञानाविष्कारक विलुप्त गीतातत्त्व के पुनरुद्धारक प्रातः स्मरणीय श्री श्री गुरुवर का कारणतावाद के सम्बन्ध में जो तात्त्विक विश्लेषण हुआ उसके समन्वय के बिना भावीस्थितिलक्षण योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण असम्भव है अत उसी का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जा रहा है। उक्त विज्ञानाचार्य्य का इस सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ है कि, अभिव्यक्त रहने वाली प्रत्येक व्यक्ति के 'निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी' ये तीन वस्तु आरम्भक (उपादान) बनते हैं। इन्हीं तीनों से व्यक्ति का उद्भव (उत्पत्ति) होता है इन्हीं तीनों पर वस्तु प्रतिष्ठित (स्थिति) रहती है एवं इन्हीं तीनों में व्यक्ति विलीन (लय) हो जाती है। निष्कल षोडशी, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला प्रतिमाषोडशी व्यक्ति का उद्भव बनता है इसी को दार्शनिक भाषा में समवायिकारण (उपादानकारण) कहा जा सकता है। निष्कल और प्रतिमाषोडशी दोनों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला षोडशीतत्त्व व्यक्ति का प्रतिष्ठापक बनता है इसी को दर्शनभाषा में 'निमित्तकारण' कहा जा सकता है। षोडशी, और प्रतिमाषोडशी, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला निष्कलतत्त्व व्यक्ति का लयस्थान बनता है इसी को दर्शनभाषा में 'असमवायिकारण' कहा जा सकता है। असमवायिकारण निष्कल है, निमित्तकारण षोडशी है, समवायिकारण प्रतिमाषोडशी है। और इस दृष्टि से दार्शनिक कारणतावाद का भी इस वैज्ञानिक कारणतावाद के साथ निर्विरोध समतुलन हो जाता है। असमवायिकारणरूप निष्कल तत्त्व आलम्बन (व्यापकरूप आधार) है इसे ही 'किं स्विदासीदधिष्ठानम्' (यजुः १७।१८।२) के अनुसार 'अधिष्ठान' कहा गया है। निमित्तकारणरूप षोडशीतत्त्व कर्त्ता है। एवं समवायिकारणरूप प्रतिमाषोडशीतत्त्व कारण (उपादान) है, यही विज्ञानभाषा में–'आरम्भणं कथमासीत्' के अनुसार 'आरम्भण' नाम से व्यवहृत हुआ है। आलम्बन कर्त्ता, कारण तीनों कारणों को ही कार्य्यरूप व्यक्ति के प्रति कारण माना गया है। इसी आधार पर–'कारणसमुदायस्य कार्य्यं प्रति कारणत्वं न तु कारणस्य' यह न्याय व्यवस्थित हुआ है। यदि कर्म्म के लिए अवश्य ही तीनों कारण अपेक्षित हैं। घटनिर्माणप्रक्रिया को लीजिए न ! आलम्बनरूप चक्र उपादानरूप आर्द्र मृण्मय पिण्ड स्वयं प्रजापति (कुम्भकार) तीनों के समन्वय से घटकार्य्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। निर्माण का आधार, निर्माणसामग्री, निर्माता प्रत्येक कार्य्य में तीन कारण आवश्यक

है। तीनों क्योंकि अविनाभूत हैं, अतएव तीनों को ही तीनों कारणतावादों से युक्त माना जा सकता है। इसी आधार पर हमनें पूर्व में तीनों को व्यक्ति का आरम्भक (उत्पादक) कह दिया है। आलम्बनरूप निष्काम कारण के गर्भ में आरम्भकरूप प्रतिमायोऽव्ययी, निमित्तरूप षोडशी दोनों हैं। अतएव निष्काम को भी आरम्भक, निमित्त कहा जा सकता है, परन्तु प्रधानरूपेण निष्कामपरात्पर का आलम्बन ही माना जायगा। एवमेव षोडशी के गर्भ में भी दोनों हैं इसलिए यह निमित्त के साथ साथ आलम्बन, आरम्भक भी कहा जा सकेगा परन्तु प्रधानरूप से इसे निमित्त ही माना जायगा। एवमेव प्रतिमायोऽव्ययी के गर्भ में भी दोनों युक्त हैं। अतएव यह भी यद्यपि त्रिविध आलम्बन माना जा सकेगा तथापि मुख्यता इसे आरम्भक ही कहा जायगा। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, व्यक्तिरूप कार्य्य के प्रति निष्काम षोडशी प्रतिमायोऽव्ययी, तीनों की कारणता है। इन्हीं तीनों की कारणता का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

७—सहजरूप से उपलब्ध सच्चिदानन्दब्रह्म—

'सर्वे वेदान्तिनः' सर्वे आम्नाय को चरितार्थ करने वाले वर्तमान युग के वेदान्तमहारथी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का उद्घोष करते हुए अपने आपको ब्रह्मतत्त्ववेत्ता मानने का अभिमान कर रहे हैं। जिज्ञासुवर्ग के प्रश्न करने पर कि भगवन्! उस व्यापक ब्रह्म का क्या स्वरूप है?, उत्तर मिलता है 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। तात्पर्य्य—जो कुछ ब्रह्म है वह ब्रह्म व्यापक है, नित्य है, सच्चिदानन्दघन है। यह सत्–चित्–आनन्द–ब्रह्म है?, जब इस प्रश्न पर वेदान्ती की प्रखर प्रतिभा कहाँ और क्यों पलायित हो जाती है?, प्रश्न का समाधान वे वेदान्ती ही कर सकेंगे। जिस भौतिक–दृश्य–अनुभूत विश्व के आधार पर ब्रह्म का बोध सुगमता से सम्भव है वह तो वेदान्ती के द्वारा असत्य-मिथ्या-मायामय घोषित कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि सच्चिदानन्दस्वरूप का जिज्ञासु इस शब्द का कोई भी तत्त्वार्थ न समझ कर अन्धकार में टटोलता सा अपनी श्रद्धा का दुरुपयोग करता हुआ हुआ खड़ा रह जाता है। अन्त में यह कह कर कि, यह सर्वथा अचिन्त्य है निर्गुणातीत है परोक्ष है, अविज्ञेय है यह अकर्मण्य बना रह जाता है। क्या यही वेदान्तनिष्ठा 'वेदान्तनिष्ठा' है?। क्या इसी कल्पित निष्ठा के बल पर सुख–शान्ति निर्भर है? नेति होवाच। अनिर्वचनीयतावादी वेदान्तनिष्ठों ने जिस सच्चिदानन्द को कहीं ऐसा दुरधिगम्य बना दिया है वहाँ एक वैज्ञानिक स्वतन्त्र रूपमात्र का साक्षात्कार करता हुआ प्रत्यक्षम् स्वस्थमपि ब्रह्म के दर्शन कर रहा है और तत्त्वजिज्ञासु को भी दर्शन करा सकता है। सच्चिदानन्द की प्रत्यक्षदृष्टि के लिए न तो दुर्बोध्य वेदान्तग्रन्थों के स्वाध्याय की अपेक्षा है एवं न उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित तत्त्वदर्शी विद्वान् मात्र ही इस बोध के अनन्याधिकारी हैं अपितु साक्षर–अनिश्चित आपामर–विद्वज्जन सब के लिए यह 'सच्चिदानन्द' ब्रह्म अहोरात्र प्रत्यक्ष का विषय बन रहा है। केवल थोड़े दृष्टि के आवरण में विभ्रम है। दृष्टिदोष के कारण हम उसे सदा देखते हुए भी नहीं देख रहे—'पश्यन्नपि न पश्यति'। नामरूपकर्म्मात्मक ने हमारा दृष्टिकोण इस ओर से पराङ्मुख कर रक्खा है। उस पराङ्मुखित दृष्टिकोण को पुनरावर्तित करने मात्र से ही प्रत्यक्षदृष्ट स्वतःसिद्ध सच्चिदानन्दब्रह्म इसी नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक प्रपञ्च में उपलब्ध हो जाता है।

८—सच्चिदानन्दब्रह्म का सर्वानुभूत 'सत्' पक्ष—

'सच्चिदानन्द' शब्द के 'सत्–चित्–आनन्द' ये तीन पर्व इस के लिए विचार्य हैं। तीनों में से सर्वप्रथम 'सत्' पक्ष को ही लक्ष्य बनाइए। एक कर्तव्यपरायणी स्नानादि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर प्रपमो-

पास्य के माध्यम से परमोपास्य की उपासना आरम्भ करता है। संस्कारी बालक भी कुतूहलवश उपासक पिता के समीप एक ओर बैठ जाता है। भगवत्प्रतिमारूप प्रथमोपास्य पर होने वाले पिता के प्रतिमास्नान गन्धानुलेपन पुष्पधारण, धूप, दीप नैवेद्य, आदि उपासनोपचारों को बालक देखता जाता है और मध्य मध्य में प्रश्न करता जाता है–पिताजी ! यह क्या है ?, यह क्या है ? । पिता उत्तर देते जाते हैं–सौम्य ! ये भगवान् हैं अब इनका पूजन होगा। ये पुष्प हैं, यह नैवेद्य है। बालक इन उत्तरों से सन्तुष्ट होता जाता है। इस सन्तुष्टि का कारण है एकमात्र नामरूपकर्म्मानुगत 'अस्ति' तत्त्व। 'भगवान् हैं–पुष्प है–नैवेद्य है' इन वाक्यों में प्रतिमात्मक भगवान् पुष्प, नैवेद्य, यह माध्यम नामरूपकर्म्ममय है एवं इनके साथ सम्बद्ध 'है' तत्त्व ही अस्तित्व है। नामरूपकर्म्मानुगत अस्तित्व के ही नाम 'भगवान् हैं–पुष्प है–नैवेद्य है' ये वाक्य हैं। सर्वथा अबोध भी बालक इसरूप से अस्ति का परिचय प्राप्त कर रहा है। यह 'अस्ति' ही सत् है सत् ही सत्ता है यही प्रतिष्ठातत्त्व है जिसके तात्त्विकों ने 'सत्ता धृति विधृति' ये तीन पर्व माने हैं। तीनों एक ही सत्तातत्त्व के अवान्तर तीन विवर्त हैं। अतः तीनों का एक 'सत्ता रूप से ही, 'अस्तित्व' रूप से ही संग्रह कर लिया जाता है।

६–सत्ता, धृति, विधृति, नामक सत्ताप्रपञ्च के तीन विवर्त्त—

आत्मप्रतिष्ठा सत्ता है, स्वप्रतिष्ठा धृति है एवं परप्रतिष्ठा विधृति है। पार्थिवप्रजा भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड को छोड़ कर अस्मदादि प्राणी अन्तरिक्ष में निरालम्ब नहीं ठहर सकते। पृथिवी की प्रतिष्ठा ने ही पार्थिव प्रजा का विधरण कर रक्खा है। पार्थिव प्राणियों में प्रतिष्ठ पार्थिवप्रतिष्ठा ही परसत्ता (अन्य–भूपिण्ड से आगत-सत्ता) किंवा परप्रतिष्ठा है। यही विधृति' नामक प्रतिष्ठातत्त्व है। 'गृहा वै प्रतिष्ठाः' से यही विधृतिप्रतिष्ठा गृहीत है। मञ्जूषा वस्त्रों की, शरीर अलङ्कारों की, मणीपात्र मणिद्रव्य (रत्नादि) की, मेज पुस्तक की प्रतिष्ठा है। ये सब परप्रतिष्ठा के उदाहरण हैं। परप्रतिष्ठा के निकल जाने से पतन का भय अवश्य है, परन्तु वस्तुस्वरूप का विनाश नहीं है। पार्थिव प्रजा की अपनी भी एक स्वतन्त्र सत्ता है। जब तक वह स्वतन्त्र सत्ता है तभी तक इनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। इस सत्ता के निकल जाने पर व्यक्ति के नाम–रूप–कर्म्म का ही उच्छेद हो जाता है। यही स्वतन्त्रसत्ता व्यक्ति के जीवन की प्रतिष्ठा है। 'पुस्तक है, मनुष्य है घट है पट है' इस रूप से पृथगात्मतालक्षणा जो अस्तित्व व्यवहार (सत्ताव्यवहार) होता है यही स्वसत्तात्मिका स्वप्रतिष्ठा है। इसी के आधार पर वस्तुस्वरूप (नामरूपकर्म्म) धृत है अतएव इसे 'धृति' नाम से व्यवहृत किया गया है। परसत्तात्मिका विधृति, स्वसत्तात्मिका धृति, दोनों व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती हुई सोपाधिक हैं परिच्छिन्न हैं। परन्तु एक सत्ता ऐसी भी है जो समानरूप से, एकरसरूप से भाव-अभाव, सत्–असत्–मूर्त–अमूर्त–निरुक्त–अनिरुक्त सब में व्याप्त रहती हुई सर्वाधार बनी हुई है। सर्व-व्यापक–आत्मा सत्तारूप से सर्वत्र व्याप्त है। यही दार्शनिकों का परमसामान्य है। यही आत्मप्रतिष्ठात्मिका आत्मसत्ता है। इसकी उद्बुद्धावस्था ही विश्व है, सम्मुग्धावस्था ही महाप्रलय है। 'भूपृष्ठ पर पुरुष प्रतिष्ठित है' इस वाक्य में परप्रतिष्ठा और स्वप्रतिष्ठा दोनों का समन्वय है। भूपृष्ठप्रतिष्ठा परप्रतिष्ठा है स्वयं पुरुष स्वप्रतिष्ठात्मक है यही भावप्रतिष्ठा है। पुरुष नहीं रहा। अतएव पुरुषावच्छिन्ना परप्रतिष्ठा भी नहीं रही, स्वप्रतिष्ठा भी नहीं रही। परन्तु व्यापक आत्मप्रतिष्ठा अब भी विद्यमान है जिसका व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव 'पुरुष है' इस भावात्मक व्यवहार की भाँति–'पुरुष नहीं है' इस अभावात्मक

व्यवहार में भी अस्तित्व प्रतिबिम्बित है। घटप्रतिमा सत्ता घट में ही है। परन्तु व्यापक आत्मसत्ता का भिन्न रूप से भावात्मक घट पर अनुग्रह था उसी रूप से अभावात्मक घट पर भी अनुग्रह हो रहा है। 'घटोऽस्ति' में जैसे 'अस्ति' है तथैव 'घटो नास्ति' में भी अस्तित्व अनुगत है। घटोऽस्ति में अस्ति सत्ता घटभाव की अनुग्राहिका है। 'घटो नास्ति' में वही घटाभाव की अनुग्राहिका है। जैसे सामान्यसत्ता अस्तित्व में है, नास्तित्व में भी वह अनुगत है। एक स्थान पर 'है' ने घट को पकड़ रक्खा है, अतएव 'घट है' यह व्यवहार होता है। एक स्थान पर 'है' ने नहीं को पकड़ रक्खा है अतएव 'नहीं-है' व्यवहार होता है। भावाभाव भले ही बदलते रहें अस्तित्व नहीं बदलता। नाम-रूप कर्म बदलते हैं व्यापक सत्ता नहीं बदलती। समस्त विश्वप्रपञ्च में एक भी उदाहरण ऐसा उपस्थित नहीं किया जा सकता जहाँ इस सामान्य-सत्तात्मिका आत्मप्रतिष्ठा का सम्बन्ध न हो। सामान्यसत्तारूप से यह ब्रह्म भगवान सर्वव्यापक बन रहा है जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। तात्पर्य यही है कि आत्मसत्ता स्वसत्ता परसत्ता भेद से सत्तातत्त्व तीन भावों में परिणत हो रहा है। तीनों में आत्मसत्ता निरुपाधिक व्यापक सत्तातत्त्व है। पर-स्वसत्ता दोनों क्रमशः सोपाधिक व्याप्य सत्तातत्त्व हैं। उपाधिसम्बन्ध को पृथक् करके जब आप इन दोनों पर दृष्टि डालेंगे तो केवल निरुपाधिक सत्ता ही शेष रह जायगी।

१०—ज्ञानपूर्विकासत्ता-रूपक दृष्टिकोण—

निरुपाधिक सत्ता के ही लोकाभिव्यक्त स्वरूप सब भावों का अस्तित्व की बोध हो रहा है। उत्पत्ति के साथ ही वही, 'अस्ति' तत्त्व का प्रत्यक्ष अस्तित्वेन अनुगमन है। यही 'सत्' रूप प्रथम पर्व के साक्षात्-दर्शन हैं। "यह सूर्य है, यह पृथिवी है, यह चन्द्रमा है, यह प्राणी है" इत्यादिरूप से सभी को अस्ति का भान हो रहा है। क्या कोई यह कह सकता है कि 'अस्ति' का सुस्पष्ट बोध नहीं। यदि बोध है तो हम कहते हैं कि, 'सच्चिदानन्द' ब्रह्म का 'सत्' पर्व किसी के लिए भी परोक्ष नहीं है। यों कहिए कि, एक तृणमात्र ब्रह्म के स्वरूपबोध से अपने आपको कभी पृथक् नहीं कर सकता। अब शेष रहे-चित् और आनन्द नामक दो विभाग।

जिस प्रकार 'सत्' से अस्तित्वलक्षणा 'सत्ता' अभिप्रेत है तथैव 'चित्' से चेतनालक्षण 'ज्ञान' अभिप्रेत है। ज्ञान ही चेतना है। अस्तित्व का ज्ञान ही चेतना है। केवल प्रतीत सत्ता तब तक अस्तित्वरूप से उन्मुख है जब तक कि उसका हमें ज्ञान न हो जाय। ज्ञान से ही अस्ति का अस्तित्व प्रमाणित होता है। वैज्ञानिक जगत् में यह प्रश्न भी बड़ा महत्त्व रखता है कि—'अस्ति अतो ज्ञायते किंवा ज्ञायते, अतः—अस्ति?'। वस्तु है इसलिए हम उसे जानते हैं अथवा जानते हैं इसलिए वस्तु है? । तात्पर्य प्रश्न का यही है कि 'सत्तापूर्वकं ज्ञानम् आहोस्वित्—ज्ञानपूर्विका सत्ता?'। प्रश्न इसलिए उठा कि, जब तक पुरोऽवस्थित नामरूप कर्मात्मक पदार्थ के अस्तित्व का हमें ज्ञानात्मक भान (प्रत्यय-उपलब्धि) नहीं हो जाता, दूसरे शब्दों में वह अस्तिमान पदार्थ जब तक हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट नहीं हो जाता तब तक 'अमुक-पदार्थोऽस्ति' ये शब्द हमारे मुख से नहीं निकलते। अन्धकार में अथवा तो भित्ति के आवरण के उस ओर भले ही घट-पटादि पदार्थ विद्यमान रहें, परन्तु जब तक प्रकाश के द्वारा अथवा तो भित्त्यावरण-निराकरण द्वारा वे विद्यमान पदार्थ हमारे ज्ञान में नहीं आ जाते तबतक हम उन पदार्थों के सम्बन्ध में अस्ति-'घटोऽस्ति-पटोऽस्ति' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग नहीं कर सकते। हम उन पदार्थों को जान कर ही अस्तित्व

मे उनका अभिनय करते हैं। इस दृष्टिकोण के आधार पर कहा जा सकता है कि-'ज्ञानपूर्विकासत्ता' ही सिद्धान्त है । 'ज्ञायते-अत-अस्ति, न ज्ञायते-अतो नास्ति' ही तत्त्वदृष्टि प्रतीत हो रही है।

११-सत्तापूर्वकज्ञानात्मक दृष्टिकोण—

क्या उक्त प्रतीति का समर्थन किया जा सकेगा ?, क्या हमारे (जीवात्मा) ज्ञान के आधार पर ही वस्तुओं की सत्ता प्रतिष्ठित है ? । अनुभव कहता है-ऐसा तो नहीं है। 'न ज्ञायते, अतो नास्ति' कहना तो साहस है। जब कि, ईश्वरसत्ता का ज्ञान न होने पर भी ईश्वरसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता । हम नहीं जानते, एतावता ही सत्तासिद्ध पदार्थों के अस्तित्व का अभाव कैसे माना जासकता है। यदि सत्तात्मक घट पदार्थ केवल हमारे ज्ञान से ही सत्तात्मक है तब तो इच्छामात्र से हम जिस किसी भी प्रदेश में घट के न रहने पर भी घटज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञानात्मिका इच्छा-मात्र से घटज्ञान हो जाना चाहिए। परन्तु देखते हैं, बिना सत्तासिद्ध पदार्थों के घटादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होसकता। मानना पड़ेगा कि, अस्तित्त्व ही तद्विषयक ज्ञान का जनक है। पदार्थ है, इसलिए उनका हमें ज्ञान होता है। 'अस्ति-अतो ज्ञायते नास्ति चेत् न ज्ञायते, नोपलभ्यते' यही सिद्धान्तपक्ष प्रतीत होता है। 'सत्तापूर्वकज्ञान' ही तत्त्वदृष्टि प्रतीत हो रही है।

१२-उभय दृष्टिकोणों का तात्त्विक समन्वय—

दोनों ही सिद्धान्त अनुभव-तर्क-दृष्टि से प्रमाणित हैं। कैसे दोनों का निर्विरोध समन्वय किया जाय ?। वैज्ञानिक उत्तर देते हैं-अन्तर्जगत् की दृष्टि से प्रथम तत्त्वदृष्टि का समन्वय हो रहा है, बहिर्जगत् की दृष्टि से द्वितीय तत्त्वदृष्टि का समन्वय हो रहा है। पाञ्चभौतिक महाविश्व हमारे ज्ञान के लिए बहिर्जगत् है। यही ईश्वरीय जगत् है। ईश्वरीय ज्ञान से विनिर्मित सत्तासिद्ध ईश्वरीय ज्ञानमय जगत् वास्तव में जीव के लिए बहिर्जगत् है। सत्तासिद्ध यह ईश्वरीय जगत् ज्ञानपूर्वक है। यहाँ ज्ञान आधार है, सत्तासिद्ध बहिर्जगत् आधेय है। इस सत्तासिद्ध जगत् की दृष्टि से कहा जासकता है कि, है इसलिए हम जानते हैं। बहिर्जगत् स्वरूपमात्र है, दृश्य नहीं। हम जो कुछ देखते हैं जानते हैं वह हमारे ज्ञान में प्रविष्ट ज्ञानमय वस्तुमात्र है, यही हमारा अन्तर्जगत् है। सत्तासिद्ध पदार्थ के आधार पर सत्तात्मक जिस पदार्थ का ज्ञान हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट हो जाता है वह ज्ञानात्मिका सत्ता ही हमारा अन्तर्जगत् है। और अवश्य ही यह अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान से अभिन्न है, ज्ञान से उपस्थित है। निष्कर्ष यही निकला कि-हमें जिन सत्तासिद्ध पदार्थों की 'जानामि-ज्ञायते-ज्ञातम्' रूप से प्रतीति होती है वे सब प्रतीत ज्ञान-उपलब्ध पदार्थ अन्तर्जगत् है। इसका निर्माण हमारे ज्ञान से हुआ है। जब तक हम हैं, तब तक हमारा ज्ञानीय जगत् है। इस दृष्टि से 'ज्ञायते-अतोऽस्ति' सर्वात्मना समन्वित है। हमारे ज्ञानीय अन्तर्जगत् का निर्माण हुआ है-ईश्वरीय ज्ञानीय जगद्रूप (जोकि स्वस्वरूपेण ईश्वर का अन्तर्जगत् है) बहिर्जगत् के आधार पर। स्वरूप बहिर्जगत् सत्तासिद्ध है। इसके आधार पर हमारे दृश्य अन्तर्जगत् (दृश्यसत्ता) का निर्माण हुआ है। एवं इस दृष्टि से 'अस्ति-अतो ज्ञायते' यह दृष्टिकोण सर्वात्मना समन्वित है। स्वजगत् सत्ता ज्ञाननिघ्ना है ज्ञाननिघ्ना स्वजगत् सत्ता बहिःसत्तानिघ्ना है, यही निष्कर्ष है।

१३-समन्वयमूलक-'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' सिद्धान्त—

इस से एक नवीन सिद्धान्त और निकल आया जो सिद्धान्त विज्ञानभाषा में-'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुआ है। हमारा अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान से निर्मित होता हुआ जैसे ज्ञानमय है, एवमेव ईश्वरीय

जगत् ईश्वरीय ज्ञान से निर्मित होता हुआ ईश्वरीय ज्ञानमय है। हमारा अन्तर्जगत् जैसे हमारे ज्ञान में उपश्लिष्ट है एवमेव हमारी दृष्टि में बहिर्जगत्, किन्तु ईश्वरीय दृष्टि से अन्तर्जगत्स्वरूप त्रैलोक्य महाविश्व ईश्वर के ज्ञान में उपश्लिष्ट है। ईश्वरज्ञान ही महाविश्वरूप सत्तामात्र में परिणत हो रहा है। और इस नवीन सिद्धान्त की दृष्टि से 'ज्ञानपूर्विकासत्ता' यह प्रथम सिद्धान्त ही प्रधान बन जाता है। अस्तित्व का अपलाप नहीं है, अपितु अस्ति, और ज्ञान का अभेद है। 'ईश्वरीयज्ञानमस्ति', के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान सत्तात्मक है। तभी तो तद्रूप जगत् के लिए 'जगदस्ति' यह व्यवहार होता है। जगत् उसी ज्ञानात्मिका सत्ता का व्यापकरूप है। ईश्वरीय ज्ञान उसी सत्ता का महिमारूप है। *अद्वैत ज्ञान, सत्यसत्ता, तत्त्वतः—ऐसी अभिन्न हैं, एक* हैं। जानते ही अस्तित्व है, अस्तित्व ही जानते हैं।

१४—सच्चिदानन्दब्रह्म का सम्पत्भूत 'चित्' पक्ष—

प्रकृतमनुसरामः। बतलाया गया है कि, लोकविज्ञान की दृष्टि से अस्ति के अस्तित्व का विकास ज्ञान पर ही अवलम्बित है। 'अस्ति' का उच्चारण ही मुख से तब सम्भव है, जब कि वह अस्ति ज्ञानस्वरूप में प्रविष्ट हो जाती है। 'घटोऽस्ति' यह वाक्य ज्ञानीय चेतना का ही अभिनय कर रहा है। उपास्य चित्र के समीप बैठा हुआ बालक 'यह भगवान् है' इस सत्तात्मक वाक्य श्रवण से 'अस्ति' को उपलब्ध कर रहा है। उपलब्धि ही ज्ञान है, सत्तोपलब्धि ही ज्ञान है, यही चित् किंवा चेतना है। इसप्रकार 'अस्ति भगवान' इस वाक्यात्मक शब्दरूप से सत्ता के साथ साथ ही बालक चेतना-पक्ष का भी अनुभव कर रहा है। बालक ही क्या सभी तो इस उपलब्धि (ज्ञान) के अनुगामी बने हुए हैं। सभी अपने मुख से 'अयमस्ति-इदमस्ति-त्वमसि' व्यवहार करते हुए सत्तोपलब्धि (सत्ता के ज्ञान) के अनुगामी बन रहे हैं।

१५—आत्मज्ञान-स्वज्ञान-परज्ञान-नामक चिद्ब्रह्म के तीन विवर्त—

जिस प्रकार सत्तातत्त्व आत्मसत्ता, स्वसत्ता, परसत्ता (तथा भूति विभूति) रूप से तीन विवर्तभावों में परिणत रहता है, एवमेव इस चेतना-तत्त्व (ज्ञान) के भी आत्मज्ञान, स्वज्ञान, परज्ञान भेद से तीन ही विवर्त माने गए हैं। हम जो कुछ जानते हैं, वह सब 'परज्ञान' है, आगन्तुक ज्ञान है। लौकिक-सांसारिक ज्ञान बहिर्जगत् के सम्बन्धित बाह्य विषयों के आधार से उत्पन्न हुआ है। बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। इनसे भावनात्मक ज्ञानीय संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। वे ज्ञानीय संस्कारपुञ्ज ही लोक में 'अनुभव' नाम से व्यवहृत हुए हैं। जिसका जितना अधिक लोकविषयों से सम्पर्क रहेगा, उसका आत्मा उतने ही अधिक भावनासंस्कारों से युक्त रहेगा। साथ ही वह भावसम्भार में उतना ही बड़ा अनुभवी कहलाएगा। अनुभवी मनुष्य ही संस्कारी बीज कहलाता है। जिस प्रकार विषयदर्शनरूप विषयस्पर्श से संस्कार उत्पन्न होते हैं, एवमेव विषयश्रवण (शब्दश्रवण) से भी संस्कार उत्पन्न होते हैं। गोपशु को देखने से भी इसका गोरूप संस्कार से युक्त हो जाता है, 'गौ' शब्द श्रवण से भी गौरूप संस्कार आत्मा में स्थापित हो जाता है। तात्पर्य सांसारिक विषय शब्द अर्थ भेद से दो भागों में विभक्त हैं। इन दोनों का औत्पत्तिक-स्वरूप तादात्म्यसम्बन्ध है *। अतएव अर्थदर्शन से जैसे तद्रूप विषयसंस्कार आहित हो जाता है, एवमेव

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड में द्रष्टव्य है।

तद्वाचक शब्दश्रवण से भी तद्वाच्य विषयाकार उपस्थित हो जाता है। अर्थरूप विषय के आगमन से, सम्पर्क से ज्ञान तदाकाराकारित हो जाता है, यही तात्कालिक विषयज्ञान 'प्रज्ञा' कहलाया है। एवमेव–शब्दजनित शब्दावच्छिन्न तात्कालिक ज्ञान 'मेधा' कहलाया है। प्रज्ञाज्ञान मेधाज्ञान (अर्थज्ञान शब्दज्ञान) दोनों चाञ्चल्यावस्था से कालान्तर में चित्-प्रज्ञानमन में सञ्चित हो जाते हैं, तो यही द्वन्द्व ज्ञान 'संस्कारज्ञान' कहलाने लगता है। यही संस्कारावच्छिन्न ज्ञान 'धिषणा' = कहलाया है। इसप्रकार बाह्य विषयसंसर्ग से उत्पन्न होने वाले आगन्तुक परज्ञान के प्रज्ञा, मेधा, धिषणा, तीन विवर्त हो जाते हैं। त्रिविध भावापन्न यह विषयज्ञान परसत्तात्मिका विभूति की भांति आगन्तुक, अतएव परिवर्तनशील है। संस्कारज्ञान विषयसम्पर्क के तारतम्य से अवश्य ही बदलता रहता है। संस्कारज्ञान का जीवात्मस्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी के तारतम्य से मूर्ख–बुद्धिमान्–ब्राह्मण, क्षत्रिय–वैश्य–आदि भेदभाव व्यवस्थित हुए हैं।

दूसरा है—स्वज्ञान। जिस ज्ञान के आधार पर बाह्यज्ञान (परज्ञान) प्रतिष्ठित होते हैं वही स्वज्ञान है यही उस व्यक्ति की मूल प्रतिष्ठा है, जीवनधारक है। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' के अनुसार इस स्वज्ञान से ही इतर परज्ञान भासित हैं। प्रति व्यक्ति का यह स्वज्ञान उसका अपना ज्ञान है। इसी के द्वारा वह जानता है। पक्षी का ज्ञान पृथक् है पशु का ज्ञान पृथक् है मनुष्य का ज्ञान पृथक् है। अपने अपने क्षेत्र के स्वरूप के अनुसार क्षेत्रज्ञरूप यह स्वज्ञान भिन्नभिन्नधर्म्मा है। यह भेदक ज्ञान व्यक्तक है, व्यक्तक ही व्यक्तिप्रतिष्ठा है। अतएव इसे व्यक्तित्वरूप स्वरूप से समतुलित माना जा सकता है। इन दोनों ज्ञानों से अतिरिक्त तीसरा निरुपाधिक–निर्विकल्पक व्यापक ज्ञान ही आत्मज्ञान है जिसको साक्षी चिद्‌ज्ञानाधारभूत महानात्मा माना गया है। यही तीसरा निरुपाधिक ज्ञान सामान्यसत्ता से समतुलित रहता हुआ सामान्यज्ञान है, यही प्रज्ञसत्त्व–आश्रय–ज्ञान है। यही सत्त्वात्मक जीवसंस्था का आधार बनता हुआ 'स्वज्ञान' है, विषयाधार बनता हुआ परज्ञान है। परज्ञान प्रज्ञानानुमोदित (मनोऽनुगत) है, स्वज्ञान विज्ञानानुमोदित (बुद्ध्यनुगत) है, एवं आत्मज्ञान महदात्मानुमोदित (स्वानुगत) है। इसप्रकार यथाकथञ्चित् चेतनालक्षण ज्ञान के भी तीन ही विवर्त हो जाते हैं। निरुपाधिक ज्ञान के ही सोपाधिक ज्ञानभाव का वाचक यो सोपाधिक ज्ञानाश्रय बोध हो रहा है। उपाधि का सम्बन्ध भले ही रहे, चित् (ज्ञान) का प्रत्यय, किंवा चिद्रूप प्रत्यय चिद्भावत्वेन अक्षुण्ण है। एवं यही 'चित्' रूप द्वितीय पर्व के साक्षात् दर्शन हैं।

सूर्यादि जो ज्योतिर्मय पदार्थ हैं उनको हम जानते हैं, इत्याकारक से सभी को अस्ति की उपलब्धिरूप ज्ञान हो रहा है। उपलब्धिरूप ज्ञान के रहते भी क्या कोई यह कह सकता है कि मुझे 'चित्' का परिज्ञान नहीं। अवश्य ही परिज्ञान है। परिज्ञानात्मिका उपलब्धि ही तो अस्तिभाव की प्रयोजिका है। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि सच्चिदानन्दघन का चित् पर्व भी सत्पर्ववत् सबके लिए प्रत्यक्ष है। यही चित्पर्व की स्वानुभूति का संक्षिप्त निदर्शन है।

१६–रसोपलब्धिमूलक आनन्दपर्व—

अब शेष रह जाता है—सर्वमूलभूत तीसरा आनन्दपर्व। आनन्दानुभवरूप आनन्द–प्रत्यय का विश्लेषण इसलिए अनावश्यक है कि शान्ति–समृद्धिरूप से सभी को इसका प्रत्यक्ष हो रहा है। जिस तरह

= इन दोनों सांसारिक ज्ञानों का विश्लेषण भक्तिपरीक्षा–उत्तरखण्ड के दशमहाविद्या–प्रकरण में किया जा चुका है।

की सत्ता है जिस सत्तासिद्ध वस्तु का हमें ज्ञान होता है सत्ता-ज्ञानानुगत सर्वाधारभूत वही तत्त्व 'आनन्द' है। जो है जिसका ज्ञान है वही आनन्द है। प्रश्न होता है-'क्या है?'। उत्तर मिलता है- पुस्तक है। प्रश्न होता है-किसका ज्ञान है, उत्तर मिलता है 'पुस्तक का ज्ञान'। यह प्रश्नोत्तर-व्यवहार सिद्ध कर रहा है कि जो है एवं जिसका ज्ञान है वही तीसरा विलक्षण तत्त्व 'है' (अस्ति) और जानना (चित्) दोनों में रस बनता हुआ 'रस' नाम से प्रसिद्ध है। यह रस ही आनन्द है। केवल अस्ति से भी पुस्तकरूप आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। केवल ज्ञान से भी आनन्दोद्रेक असम्भव है। जिसकी सत्ता है जिसका ज्ञान है उस रसतत्त्व की प्राप्ति में ही आनन्द है। हम जानते हैं कि राजकोष में प्रचुर सम्पत्ति प्रतिष्ठित है। सम्पत्ति की सत्ता भी है उसका हमें ज्ञान भी है परन्तु जिस रसात्मिका सम्पत्ति की सत्ता है जिसका ज्ञान है जब तक वह हमें मिल नहीं जाती तब तक आनन्द नहीं आता। इसी आधार पर-'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (उपनिषत्) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है।

१७-आत्मानन्द-स्वानन्द-परानन्द-नामक आनन्दभाव के तीन विवर्त—

सत्-चित्-पर्वों की भाँति इस तीसरे आनन्दपर्व के भी आत्मानन्द, स्वानन्द परानन्द भेद से तीन ही विवर्त मानें जायँगे। आत्मानन्द, भूमानन्द है, निस्सीम आनन्द है। स्वानन्द परानन्द, सीमानन्द है। सुस्वादु भोजन सुगन्धित द्रव्य, सुन्दर संगीत, सम्मान्य भोग्य परिग्रह आदि लौकिक विषयों के संसर्ग से जो ऐन्द्रियक क्षणिक सुखोपलब्धि हुआ करती है वही परानन्द है आगन्तुक आनन्द है। अतएव अल्पभावी आनन्द है। विषय के साथ इस आनन्द का आगमन होता है। अतएव जबतक विषयसंस्कारवर्तिता बनी रहती है तभी तक विषयानन्द की प्राप्ति होती है। विषयविनिवृत्ति के साथ विषयानुगत यह रस (विषयानन्द) भी निवृत्त हो जाता है *। इसीलिए इस विषयानन्द को परिणामतः दुःखप्रवर्तक ही माना गया है। कुछ भी हो, विषयानन्द में जो 'आनन्द' का अंश है वह तो स्वरूपतः से आनन्द ही है एवं यह भी आनन्दत्वेन उस आत्मानन्द से अभिन्न ही है अतएव तारतम्य में अन्तर ही क्षम्य है।

१८-आनन्दस्वरूपमीमांसा—

आनन्दस्वरूपविश्लेषण के लिए हमें आनन्द की विस्तृत मीमांसा करनी पड़ेगी। समृद्ध्यर्थक 'नन्द्' धातु (टुनदि समृद्धौ) से 'आनन्द' शब्द निष्पन्न हुआ है। समृद्धि उसी तत्त्व का नाम है जो पूर्व परिग्रह को तो यथापूर्व बनाए रहे, एवं अन्य परिग्रह का संग्रह करती रहे। यदि आय से व्यय अधिक है तो + व्यृद्धि (समृद्ध्यभाव) है। यदि आय-व्यय समतुलित हैं तो योगक्षेमात्मक निर्वाह है। यदि व्यय से आय अधिक है तो समृद्धि है। पूर्वपरिग्रहपूर्वक आय विनियोग ही समृद्धि है। आनन्द का स्वरूप इस समृद्धिभाव से मिलता जुलता है अतएव इसे 'आनन्द' कहना अन्वर्थ बनता है। केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रसतत्त्व अर्करूप से उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है। अपने स्थान (हृदय) में प्रतिष्ठित रहता हुआ आगे बढ़ता है यही

* विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ गी० २।५६।

+ 'व्यृद्धि-पद' वैदिक शब्द है, जो सम्पत्ति के अभाव में प्रयुक्त होता है।

इसका समृद्धिभाव है। वैज्ञानिकों ने आनन्द शब्द का यही निर्वचन किया है। विप्रदेशपर्यन्त आनन्द का रश्मिरूप से अनुधावन होता है। परन्तु उक्थरूप से यह स्वप्रदेश (हृदय) में ही प्रतिष्ठित रहता है। अन्य-प्रदेशानुधावन के द्वारा यही सम्पूर्ण सृष्टियों का स्रष्टा बनता है + परन्तु स्वस्वरूप से अक्षुण्ण बना रहता है। यही आनन्द का आनन्दत्व है यही वास्तविक आनन्द है। प्रकृतिविरुद्ध मद्यपान-स्तेयकर्म-हिंसाकर्म-आदि लौकिक विषयों में मूलप्रतिष्ठा का सम्बन्ध नहीं रहता। नाहीं ऐसे विषयानन्द स्रष्टा ही बनते, अपितु मूलप्रतिष्ठा (हृत्प्रतिष्ठा) के उच्छेदक ही बनते हैं, अत ऐसे विषय आनन्दमर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत रहते हुए दुःखरूप ही माने गए हैं।

मूलप्रदेश से अन्य प्रदेश पर्यन्त आनन्द अनुधावन करता है, इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में मूलप्रदेश, और अन्यप्रदेश जिज्ञास्य हैं। समाधान कर लीजिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण से। स्वायम्भुव पर-माकाश के गर्भ में प्रतिष्ठित और पुराणाकाश आध्यात्मिक शरीराकाश की प्रतिष्ठा है। शरीराकाश के गर्भ में गर्भरूप हृदयाकाश है। इस स्वायम्भुव परमाकाश से समतुलित हृदयाकाश हैं आदि 'दहराकाश -'दहरपुण्ड-रीक आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। यही वह मूल प्रदेश है, जहाँ सत्यसंकल्प भारूप, ज्योतिर्ज्योति', आकाशात्मा, सच्चिदानन्दघनब्रह्म प्रतिष्ठित है*। यही ब्रह्म+'परात्परपुरुष' कहलाता है। इस हृदयाकाशानुगत-स्वरूप-परात्परपुरुषब्रह्म के आगे क्रमश ३ अन्य प्रदेश हैं जिनमें यह मूलप्रदेशस्थ उक्थरूप ब्रह्म अर्करूप से व्याप्त होता है। पुरुष के सन्निकट सर्वप्रथम स्वायम्भुव अव्यक्तात्मप्रदेश है जिस अव्यक्तात्मा को A उपनिषदों

\+ यात्यन्यदेशं त्यजत्स्वदेशं, विज्ञायते किन्तु न हीयते तत।
यदस्ति सृष्ट्, यदति सुख्य-तस्मात्तदानन्दपदं सदाम ॥

*—''मनोमय' प्राणशरीरो भारूप सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध' सर्वरस सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर '' (छां० उप०३।१४।२)
—'एष म आत्माऽन्तर्हृदय अणीयान्, ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य, (छां०३।१४।३)
—''अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश। तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्'' (छां० १।१)। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाश। सर्व तदस्मिन् समाहितम्(छां०८।१।३)।
—यथा नद्य स्यन्दमाना' समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।८

A—यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥(कठोपनिषत् १।३।१३)
यदा स देवो जागर्ति तदेवं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्व निमीलति ॥मनुस्मृति १।५२।

नें एवं स्मृतियों ने 'शान्तात्मा' नाम से भी व्यवहृत किया है। मूलस्थ आत्मानन्द (पुरुषानन्द) का प्रथम-व्याप्तिप्रदेश यही अव्यक्तात्मा है। अव्यक्त के अधिष्ठाता पारमेष्ठ्य महानात्मप्रदेश है, जो सलिलरूप माना गया है एवं सत्त्व का (विशुद्धबुद्धि का) प्रवर्त्तक माना गया है। मूलस्थ आत्मानन्द का अव्यक्तात्मद्वारा यही महानात्मा द्वितीय व्याप्तिप्रदेश है। महान् के अधिष्ठाता विशुद्धसत्त्वात्मक सौर विज्ञानात्म-(बुद्धि)-प्रदेश है। महानात्मद्वारा मूलानन्द का यही विज्ञानात्मा तृतीय व्याप्तिप्रदेश है। विज्ञानात्मा के अधिष्ठाता प्रज्ञानात्म-(सर्वेन्द्रियमन)-प्रदेश है। विज्ञानात्मद्वारा मूलानन्द का यही प्रज्ञानात्मा चतुर्थ व्याप्तिप्रदेश है। प्रज्ञानात्मा के अधिष्ठाता इन्द्रियवर्ग प्रदेश है। प्रज्ञानात्मा के द्वारा मूलानन्द का यही इन्द्रियवर्ग पञ्चम व्याप्तिप्रदेश है। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बाह्य लौकिक विषयप्रदेश है। इन्द्रियद्वारा मूलानन्द का यही विषयप्रपञ्च षष्ठ व्याप्ति-प्रदेश है। सात प्रदेशों में एक मूलप्रदेश है, ६ तूलप्रदेश हैं। मूलप्रदेश स्वप्रदेश है, तूलप्रदेशषट्क अन्य प्रदेश हैं। स्वप्रदेश में वह उक्थरूप से व्याप्त है, अन्य प्रदेशषट्क में अर्करूप से व्याप्त है। साथ ही ६ भी अन्य प्रदेशों में व्याप्त आत्मानन्दमात्रायें उत्तरोत्तर हीयमाना, एवं पूर्व-पूर्वप्रदेश में विकसिता हैं। इस से यह भी स्पष्टसिद्ध है कि, विषयानन्दमात्रापेक्षया इन्द्रियानन्दमात्रा महती है, तदपेक्षया प्रज्ञानान-न्दमात्रा, तदपेक्षया विज्ञानानन्दमात्रा, तदपेक्षया महदानन्दमात्रा, एवं तदपेक्षया अव्यक्तानन्दमात्रा महती है। सर्वान्तरतम आत्मा आनन्दघन है। इसी की अर्करूप आनन्दमात्रायें ले कर सम्पूर्ण संस्थायें उपजीवित हैं। निर्दिष्ट परिलेख से सातों आनन्दसंस्थाओं का भलीभांति स्पष्टीकरण होजाता है।

१६–मूल–तूलानन्दमात्रास्वरूपदिग्दर्शन–

लौकिक विषय अध्यात्मसंस्था का 'वित्त' माना गया है। यह आत्मवित्त अन्तर्वित्त बहिर्वित्त भेद से दो भागों में परिणत रहता है। इन्द्रियों के द्वारा जो विषय संस्काररूप से अध्यात्मजगत् की सीमा में प्रविष्ट होते हुए प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित होकर आत्मा के अन्तर्जगत् रूप में परिणत होजाते हैं वे संस्कारिक विषय (अर्थ) 'अन्तर्वित्त' कहलाए हैं। एवं जो विषय इन्द्रियद्वारा आत्मसीमा में प्रविष्ट न होकर बाहर बने रहते हैं बहिर्जगत्-रूप वे विषय 'बहिर्वित्त' कहलाए हैं। यह भी एक रहस्यपूर्ण विषय है कि, जिस व्यक्ति की अध्यात्मसंस्था में जन्मान्तर से जो अर्थ संस्काररूप से प्रतिष्ठित रहते हैं वर्त्तमान जन्म में वह व्यक्ति उन अन्त-र्वित्तरूप संस्कारिक अर्थों के अनुरूप ही बाह्य बहिर्वित्तों के भोगने में समर्थ होता है। इसी आधार पर जाति आयु, भोग तीनों का जन्मान्तरीय संस्कारों से सम्बन्ध माना गया है। मानव की विविध जातियें (योनियां) अल्पायु-दीर्घायु-आदि आयु, उत्तम-मध्यम-निकृष्ट-भोग आदि सब कुछ जन्मान्तरीय संस्कारजन्यतारतम्य से ही नियत रहते हैं। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादि विषय संस्काररूप से अन्तत: आत्मा में प्रतिष्ठित रहते हैं। इनकी मात्रा-तारतम्य से ही बाह्य विषयभोग व्यवस्थित हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, प्रत्येक व्यक्ति का भोगानुभव पृथक् पृथक् है। कितनें एक व्यक्ति ऐसे हैं–जिन्हें उत्कट गन्ध का भान नहीं होता, स्वादुरस का अनुभव नहीं होता, सुन्दर से सुन्दर आकृति भी उन्हें आकर्षित नहीं कर सकता, अपूर्व सौन्दर्य भी उनके लिए निरर्थक वस्तु बनी रहती है, खर-कोमल स्पर्श के तारतम्य का जिन्हें भेद ही प्रतीत नहीं होता। मानना पड़ेगा कि इनमें उन बाह्य अर्थों के सदृश आभ्यन्तर संस्कारिक अर्थों का विकास नहीं है। यही विषय पदार्थ (मरीचिका आदि) एक की आँखों में आँसू ले आती है, दूसरा उसी को बिना सीत्कार के ही खा जाता है। यह अनुभवभेद संस्का-

रमेव पर ही अवलम्बित है। बाह्य विषयभोग की मूलप्रतिष्ठा अन्नान्तरीय आभ्यन्तर अर्थ (संस्कार) ही है। जिसमें जिस अर्थ का अभाव है, वह तदनुगत बाह्य विषयानन्दग्रहण में असमर्थ है।

उक्त आभ्यन्तर, बाह्य अर्थ, भेद से पूर्वप्रतिपादित क्रमव्यवस्थाक्रम की दो अवस्थाएँ हो जाती हैं उसी के लिए यह विभीमांसा उपस्थित हुई है। अन्तर्वितरूप अर्थ आत्मसीमा में प्रविष्ट हैं। अतएव इस दृष्टि से इन्द्रिय इन्द्रियार्थ मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, पुरुष, यह क्रम माना जायगा। बहिर्वितरूप अर्थ इन्द्रियसीमा से बहिर्भूत हैं। अतः इस दृष्टि से 'अर्थ–इन्द्रिय–मन–बुद्धि–महान्–अव्यक्त–पुरुष, यह क्रम माना जायगा। श्रुति में दोनों ही क्रमों का उल्लेख हुआ है। आध्यात्मिक दृष्टि से प्रथम क्रम प्रधान है सामान्य तत्त्वदृष्टि से द्वितीय क्रम प्रधान है। निम्न लिखित वचन दोनों क्रमों का विभिन्न दृष्टिकोण से समर्थन कर रहे हैं

अन्तर्वितानुगता दृष्टिः–इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥
(आध्यात्मिकी) मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥
महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥
—कठोपनिषत् १।३।१०,११,।

बहिर्वितानुगता दृष्टिः–(अर्था , ततश्च इन्द्रियाणि)—
(तात्त्विकी) इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः सत्त्वमुत्तमम् ॥
सत्त्वादधि महानात्मा, महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥१॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥२॥
—कठो० ६।७,८,।

गीता का प्रधान लक्ष्य बुद्धियोग है। तत्पर्यालोचक ईश्वरीय विभूति के केन्द्र में बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है। पुरुष अव्यक्त महान्, ये तीन पर्व बुद्धि के उस ओर हैं, एवं ये तीनों अमृतप्रधान हैं। मन, इन्द्रियवर्ग अर्थ तीन पर्व बुद्धि के इस ओर हैं, एवं ये तीनों मृत्युप्रधान हैं। मध्यस्थ बुद्धितत्त्व दोनों ओर अनुगत रहता हुआ अमृत–मृत्युमय है। अर्थ पार्थिव है, मन चान्द्र है, इन्द्रियवर्ग उभयात्मक है। बुद्धि सौरी है, महान् पारमेष्ठ्य है अव्यक्त स्वायम्भुव है, पुरुष लोकातीत है। बुद्धि से परे के पुरुष–अव्यक्त–महान् तीनों की समष्टि पुरुषस्वरूप में अन्तर्भूत है। महान् के साथ योग होते ही बुद्धि महद्गर्भित अव्यक्तानुगत पुरुष से युक्त हो जाती है। एकमात्र इसी दृष्टि से बुद्धियोगप्रतिपादक गीताशास्त्र ने बुद्धि से परे की उपनिषत्सम्मता तीनों संस्थाओं का समष्टिरूप से एकसंस्थेयीय संग्रह कर लिया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है–

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥१॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥२॥
—गीता ३।४२,४३ ।

• मूलप्रदेशावच्छिन्नः—पुरुषात्मा	(लोकातीत)	मनानन्द
१–प्रथमोऽव्यप्रदेश——अव्यक्तात्मा	(स्वायम्भुवः)	
२–द्वितीयोऽव्यप्रदेश——महानात्मा	(पारमेष्ठ्यः)	[illegible]
३–तृतीयोऽव्यप्रदेश——विज्ञानात्मा	(सौर)	[illegible]
४–चतुर्थोऽव्यप्रदेश——प्रज्ञानात्मा	(चान्द्रः)	[illegible]
५–पञ्चमोऽव्यप्रदेश ——इन्द्रियाणि	(उभयतस्समानि)	[illegible]
६–षष्ठोऽव्यप्रदेश——अर्थाः	(पार्थिवाः)	

—सैषा मूलतूलानन्दमीमांसा

२०—'परम' आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

एक प्रासङ्गिक आनन्दमीमांसा का समन्वय और कर लीजिए। जितना तत्त्व जितना अधिक निर्मल होगा वह उतनी ही अधिक आनन्दमात्रा से युक्त रहेगा। एवं जितना तत्त्व जितना अधिक मलिन होगा, उसकी आनन्दमात्रा उतनी ही अधिक अल्प–अल्पतर–अल्पतम होगी। यही आनन्दमात्रातारतम्यमीमांसा का मुख्य दृष्टिकोण है। अध्यात्मसंस्था में जो स्थान अव्यक्त, महान्, विज्ञान प्रज्ञान, इन्द्रिय, अर्थ, इन ६ पर्वों का है आधिदैविकसंस्था में वही स्थान स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष पृथिवी, इन ६ पर्वों का है। इन्द्रियपर्व का मन में अन्तर्भाव है जो अन्तरिक्षपर्व का चन्द्रमा में अन्तर्भाव है। फलतः दोनों संस्थाओं में अव्यक्त, महान् विज्ञान प्रज्ञान अर्थ एवं स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य चन्द्रमा पृथिवी, ये पाँच पाँच पर्व ही मुख्य रह जाते हैं। पाँचों पर्वों का अधिष्ठाता पुरुषतत्त्व ही रसानन्दमूर्ति है। इस रसानन्द को अपरिमित परिमित, भेद से दो अवस्था मान लीजिए। स्वयं आत्ममूर्ति आत्मानन्द अपरिमित आनन्द है। यही तत्त्व उपनिषदों में ब्रह्म कहलाया है। यही जीवात्मा की परमा सम्पत् है परम लोक है परम आनन्द है। शेष पाँचों भूत पूर्व इसी अपरिमित आनन्द की परिमित आनन्दमात्रा को लेकर ही उपजीवित हैं। रसानन्दघन इसी आनन्द का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषाऽस्य परमा गतिः, एषास्य परमा सम्पत्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।३२)।

२१—शतमात्रानुगत-खण्डानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

पृथिवी से बड़ा चान्द्र अन्तरिक्ष, इस से बृहत् सूर्य्य सूर्य्य से बृहत् परमेष्ठी, परमेष्ठी से बृहत् स्वयम्भू। इस महत्तावृद्धि के तारतम्य से इन पाँचों में रहने वाला परिमित आनन्द (मात्रानन्द) भी उसी तारतम्य से परिच्छिन्न है। पञ्चपर्वात्मक विश्व सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति है। ब्रह्मस्वयम्भू सब में आहुत है, सब ब्रह्मस्वयम्भू में आहुत हैं। सम्पूर्ण प्रजावर्ग (प्रजासृष्टि) स्वायम्भुव परमाकाशरूप ब्रह्मात्मा में प्रतिष्ठित है। वह भी सब में प्रविष्ट है। यही विश्वयज्ञ की सर्वहुत-यज्ञता है *। दशाक्षराविराट् के दशधा व्यूहन से यह यज्ञमात्रा शतसंख्या पर विश्रान्त मानी गई है। शतसंख्या यज्ञस्वरूप की समाप्तिका है यही तात्पर्य्य है ×। अतएव पाँचों पर्वों में भुक्त मात्रानन्द के तारतम्य का विश्लेषण शतसंख्या के द्वारा ही हुआ है। 'उत्तर उत्तर एषां लोकानां ज्यायान्' (तै०-ब्रा० १४।१०।१) के अनुसार उत्तर-उत्तरलोक पूर्व-पूर्वलोकापेक्षया ज्यायान् ('बृहत्') है। इसी अनुपात से उत्तर-उत्तर लोकसंस्था की आनन्दमात्रा का शत-शतक्रम से विस्तार है।

पृथिवी, चन्द्रमा अन्तरिक्ष, सूर्य्य, इन अवरधामों में भूतभाग का प्राधान्य है। अतएव 'प्रजा वै भूतानि' (शत० २।४।२।१) के अनुसार प्रजा शब्द से इन तीनों लोकों को भूतप्रजा का ही ग्रहण किया जाता है। पार्थिवप्रजा 'मनुष्य' नाम से चान्द्रान्तरीक्ष्य प्रजा 'पितर' नाम से, एवं सौरप्रजा 'देव' नाम से व्यवहृत हुई है—+ इन तीनों प्रजाओं का वास्तविक पिता आपोमय परमेष्ठी है। अतएव इसे 'प्रजापति' कहना अन्वय बनता है ‖। परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू ब्रह्म है यही सर्वलोकपितामह है। इसप्रकार पाँचों विश्वपर्वों में क्रमशः मनुष्य, पितर, देव प्रजापति, ब्रह्म, इन पाँच विवर्तों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यही पञ्च विवर्त मात्रानन्दमीमांसा के मुख्य आधार माने गए हैं।

---

*—"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत—न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्यैत्। स वाऽएष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा विराट्। विराड् कृत्स्नमन्नम्। परमो वा ऽएष यज्ञक्रतूनां—यत् सर्वमेध।" (शत० ब्रा० १३।७।१।१,२,)।

×—"शतान्यन्वहं दीयन्ते। एषा वाव यज्ञस्य मात्रा—यच्छतम्। सैव साऽविच्छिन्ना दीयते। दशतोऽन्वहं दीयन्ते। दशाक्षरा विराट्। वैराजो यज्ञः"।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण २।१६।१७।

+—"त्रया वाव लोकाः—मनुष्यलोकः, पितृलोको, देवलोकः"। इति।

—शत० ब्रा० १४।४।३।२४।

‖"आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी। ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति"। इति।

—शत० ब्रा० ८।२।३।१३।

मनुष्य पार्थिव प्राणी है, पार्थिव प्रजा है। प्राण के विकास के कारण यही इतर पार्थिव प्राणियों की अपेक्षा आनन्दभोक्ता है। अतः श्रुति ने पार्थिवानन्दमीमांसा में केवल मानुषानन्द का ही विश्लेषण किया है। मनुष्य के आनन्द का क्या स्वरूप है, मनुष्य का परमानन्द क्या है, उत्तर है पार्थिव भोगसम्पत्प्राप्ति। पार्थिवसम्पत् पुत्रैषणा लोकैषणा वित्तैषणा, भेद से तीन भागों में विभक्त है। प्रजासम्पत्ति यशःसम्पत्ति वित्तसम्पत्ति तीनों यदि अक्षतरूप से मनुष्य को मिल जाती हैं तो यही मनुष्य का परमानन्द है। अखिल-भूमण्डल का अधिपति वह सम्राट् जो सम्पूर्ण मनुष्यों की अपेक्षा समृद्ध है सब पर निरपेक्षरूप से शासन करता है—यावत् मानुष (पार्थिव) भोगों से सम्पन्न है वही मानुषानन्द का अधिकारी है। यही मानुषानन्द की पराकाष्ठा है, जिसका एक भी उदाहरण वर्तमान युग में अनुपलब्ध है।

पार्थिव मानुषानन्द के अनन्तर चान्द्र–अन्तरिक्ष है। चन्द्रपिण्ड में प्रतिष्ठित सौम्यप्राण 'पितर' हैं। चान्द्र अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित सोमानुप्राणित गन्धर्व प्राण सम्बद्ध हैं। इस दृष्टि से चान्द्रविवर्त में पितर, गन्धर्व ये दो अवान्तर प्रजासर्ग व्यवस्थित हो रहे हैं। जिस मानुषानन्द की पूर्व में मीमांसा की गई है उसे शतगुणित कर दीजिए। ऐसे सौ मानुषानन्द मिल कर पितरों का आनन्द है। ऐसे १०० पितृ आनन्द मिल कर एक गन्धर्वानन्द है। यही चान्द्र–आन्तरिक्ष्य आनन्द की मीमांसा है। चन्द्रमा के अनन्तर सूर्य है। इसकी प्रजा 'देव' नाम से प्रसिद्ध है। वह देवतत्त्व कर्मदेव आजानदेव भेद से दो भागों में विभक्त है। जो मनुष्य कर्म के द्वारा देवात्मातिशय का सम्भूतात्मा में आधान कर लेता है वह कर्मदेव कहलाता है। एवं प्रकृतिसिद्ध नित्य सौरप्राण आजानदेव कहलाए हैं। और कल्पान्तर में मुक्त पार्थिव नाचिकेतस्वर्ग में (निधनानन्तर) कर्मदेव प्रतिष्ठित होते हैं। शतगन्धर्वानन्दों को मिला कर इनका एक आनन्द है। शत कर्मदेवानन्दों की समष्टि एक आजानदेवों का आनन्द है। यही सौर आनन्दद्वयी की मीमांसा है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी प्रजापति है। आजानदेवों के शत आनन्दों की समष्टि एक प्रजापति का आनन्द है। यही पारमेष्ठ्य आनन्द की मीमांसा है। परमेष्ठी से ऊपर अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म है। प्रजापति के शत आनन्दों की समष्टि का एक ब्रह्मलोकानन्द (स्वायम्भुवानन्द) है। यह स्वायम्भुव आनन्द उस कैवल्य आत्मानन्द (ब्रह्मानन्द) के सन्निकट है। अतः इसे भी परमानन्द मान लिया जाता है। अपिच मात्रानन्दों में यही आनन्द परम (अन्तिम) है। इसलिए भी इसे परम आनन्द कह दिया जाता है। यही स्वायम्भुव आनन्द की मीमांसा है यही मात्रानन्द की मीमांसा है जिसका निम्न लिखित परिलेख तथा श्रुति से स्पष्टीकरण हो रहा है—

(१) ब्रह्मलोक–आनन्द]—स्वायम्भुव–आनन्द (५)—सैषा अव्यक्तानन्दमीमांसा
(१) प्रजापतिलोक–आनन्दः]—पारमेष्ठ्य–आनन्दः (४)—सैषा महदानन्दमीमांसा
(२) आजानदेवानामानन्द
(१) कर्मदेवानामानन्द }—सौर आनन्द (३)—सैषा विज्ञानानन्दमीमांसा
(२) गन्धर्वलोक–आनन्द
(१) पितृणामानन्द }—चान्द्र आनन्द (२)—सैषा प्रज्ञानानन्दमीमांसा
(१) मनुष्याणां परम आनन्द]—पार्थिव–आनन्द (१)—सैषा शर्मानन्दमीमांसा

सैषा–मात्रानन्दमीमांसा
—सत्यानन्द–कैवल्यानन्दमीमांसा

(१) पार्थिवानन्दो मानुष –"स यो मनुष्याणां राद्ध समृद्धो भवति, अन्येषामधिपतिः, सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगै सम्पन्नतमः, स मनुष्याणां परम आनन्दः"।

❀ ❀ ❀

(२)-चान्द्रानन्दो पैत्र्य | "अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः, स एकः पितृणामानन्दः।"
,, गान्धर्वः | "अथ ये शतं पितृणामानन्दाः, स एको गन्धर्वलोक आनन्दः।"

❀ ❀ ❀

(३)–सौरानन्दो दैव "अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः, स एकः कर्म्मदेवानामानन्दः"।
"अथ ये शतं कर्म्मदेवानामानन्दाः, स एक आजानदेवानामानन्दः"।

(४)–पारमेष्ठ्यानन्दः प्राजापत्यः "अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एकः प्रजापतिलोक आनन्दः"।

❀ ❀ ❀

(५)–स्वायम्भुवानन्दो ब्राह्मः–"अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दः"।

बृ० आ० उ० ४।३।३३।

२७—तैत्तिरीयोपनिषत्सम्मत–आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

उक्त मात्रानन्दमीमांसा का तैत्तिरीयश्रुति में अन्य दृष्टिकोण से समन्वय हुआ है। प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में उसका भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है। और सब दृष्टियों से तो तैत्तिरीयमीमांसा बृ० आ० मीमांसा से समतुलित है। केवल दैवानन्दमीमांसा में थोड़ा अन्तर है। बृहदारण्यक में जहाँ कर्म्मदेवानन्द की अपेक्षा आजानदेवानन्द विशेष उत्कृष्ट माना गया है वहाँ तैत्तिरीय ने आजानदेवानन्दापेक्षया कर्म्मदेवानन्द को विशेष उत्कृष्ट माना है। साथ ही आजानदेव कर्म्मदेव, दोनों से पृथक् एक देवानन्द की सत्ता और स्वीकार की गई है। एवमेव बृहदारण्यक ने पैत्रानन्द की अपेक्षा जहाँ गन्धर्वानन्द को उत्कृष्ट माना है वहाँ तै० ने गन्धर्वानन्द की अपेक्षा पैत्रानन्द को प्रधानता दी है साथ ही गन्धर्वानन्द मानुषगन्धर्वानन्द, देवगन्धर्वानन्द भेद से द्विधा विभक्त माना है। एवमेव बृ० ने देवानन्द के अव्यवहितोत्तरस्थान में ही जहाँ प्राजापत्य आनन्द की स्थिति बतलाई है वहाँ तैत्तिरीय ने दोनों के मध्य में क्रमशः ऐन्द्र आनन्द, बार्हस्पत्य आनन्द, इन दो मात्रानन्दों का समावेश और माना है। शेषांश दोनों का समतुलित है।

मानुषानन्द दोनों का समतुलित है। बृहदारण्यक का लक्ष्य कर्म्मात्मक पितर है। इष्ट–आपूर्त–दत्त, इन विद्यानिरपेक्ष लघुकर्म्मों के अनुयायी मनुष्य का मानुषात्मा निधनानन्तर कर्म्म पितररूप में परिणत हो जाता है। चान्द्रपितृलोकप्राप्ति ही इस लघुकर्म्म का फल है। 'स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः' (बृ० आ०) से श्रुति कर्म्मपितर को ही लक्ष्य बना रही है। पार्थिव मानुषानन्द के अनन्तर इसी का अवस्थान है।

उभयविध गन्धर्वानन्दों में से मनुष्यगन्धर्वानन्द का बृहदारण्यक ने मनुष्यानन्द में ही अन्तर्भाव मान लिया है। कर्म्मणा गन्धर्वयोनि-प्राप्त मनुष्यात्मा ही 'मनुष्यगन्धर्व है'। इनका स्थान अवश्य ही कर्म्मपितर की अपेक्षा निम्न है। दूसरा है—देवगन्धर्वविभाग। नित्य प्राणात्मक चान्द्र अन्तरिक्षमुक्त गन्धर्व ही देवगन्धर्व हैं। कर्म्मात्मक अनित्य पितरों की अपेक्षा इनका स्थान उच्च है। अतः बृहदारण्यक ने पितर के अनन्तर इन देव-गन्धर्वों की व्यवस्था स्वीकार की है। तात्पर्य्य-'गन्धर्व' से बृहदारण्यक का लक्ष्य नित्य देवगन्धर्व हैं और वे अवश्य ही अनित्य कर्म्म-पितरों की अपेक्षा उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित हैं।

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः" इस निगमश्रुति के अनुसार बृहस्पतितत्त्व पूर्वधामों में अन्तिम है एवं इन्द्रतत्त्व उत्तरधामों में प्रथम है। स्वयम्भूब्रह्म, परमेष्ठी-प्रजापति दोनों पूर्वधाम हैं। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी, तीनों उत्तरधाम (अवरधाम) हैं। सूर्य्यात्मक नवाहस्तोम का २१ वाँ अहर्गण 'अधिनाकस्वर्गः' कहलाता है यही 'महानाकस्वर्ग' है। यह सौम्यचिद्रूप इन्द्रतत्त्वात्मक है। यह इन्द्रतत्त्व ही राजसूयक की प्रतिष्ठा है। यही इन्द्रतत्त्व सूर्य्यादि ऊपर धामों का उपक्रमस्थान है। यही इन्द्रधाम पुराणों में 'यत्र गत्वा न पुनर्निवर्त्तन्ते' निर्वचन से 'अपुनर्मार' लोक कहलाया है। इस परावेष्टि राजसूयमण्डलक, अपुनर्मार-लोकात्मक चिद्-बिन्दु से ऊपर परमेष्ठ्यावरण के केन्द्र में बृहस्पतिधाम प्रतिष्ठित है। स्वयम्भूक १ वें अहर्गण से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त, ३३ अहर्गणों में व्याप्त पारमेष्ठ्य गोलमण्डल ही 'परमेष्ठ्यावरण' कहलाया है। २५ वाँ अहर्गण इस मण्डल का केन्द्र बनता है। यहीं बृहस्पतितत्त्व प्रतिष्ठित है। यही बृहस्पति 'वाजपेययज्ञ' का प्रवर्तक माना गया है। अतएव वाजपेययज्ञ 'बृहस्पतिसव' कहलाया है। बृहस्पतिसव-प्रवर्त्तक यही बार्हस्पत्यधाम पुराणों में 'परोक्षस्वर्ग' कहलाया है *। यही बृहस्पतितत्त्व पूर्वधामों का उपसंहारस्थान है। इसप्रकार सूर्य्य से ऊपर २४ २५, इन दो अहर्गणों के सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य लोक में इन्द्र, बृहस्पति इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। और आजानदेवानन्तर परिणत चिद्-बिन्दु प्रतिष्ठित है तदनन्तर नवमित बृहस्पति प्रतिष्ठित है तदनन्तर परमेष्ठी प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। बृहदारण्यक ने इन्द्र और बृहस्पति का परमेष्ठी प्रजापति में अन्तर्भाव मानते हुए यहाँ आजानदेवानन्तर प्रजापति की व्यवस्था की है वहाँ तैत्तिरीय ने इन्द्र-बृहस्पति दोनों पारमेष्ठ्य तत्त्वों का पृथक्रूप से निरूपण कर दिया है। बृहदारण्यक, तथा तैत्तिरीय की आनन्दमीमांसा में यही अन्तर है, जो तत्त्वतः निर्विरोध है।

---

* यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यच्च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्॥

५	(१) ब्रह्मण आनन्दः (४८)	—स्वायम्भुव (अव्यक्तानन्द ५)।	
४	(३) प्रजापतेरानन्दः (१६) (२) बृहस्पतेरानन्दः (२६) (१) इन्द्रस्यानन्दः (२५)	—पारमेष्ठ्य (महदानन्द ४)।	
३	(३) देवानामानन्दः (२१) (२) कर्मदेवानामानन्दः (१७) (१) आजानदेवानामानन्दः (६)	—सौर (विज्ञानानन्द ३)।	"सैषा आनन्दस्य (मानुषानन्दस्य) मीमांसा भवति" —तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली ८ अनुवाक
२	(३) पितॄणामानन्दः (१५) (२) देवगन्धर्वाणामानन्दः (१५ (१) मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः (१५)	—चान्द्र (प्रज्ञानानन्द)।	
१	(१) मनुष्य आनन्दः (७)	—पार्थिव (प्रज्ञानन्द १)।	

२३—मानव की आनन्दलिप्सा, और तत्समाधानप्रकार—

आनन्दमीमांसा का प्रयोजन क्या ?, उत्तर स्पष्ट है। लोक-भोग-परायण व्यक्ति इसलिए विषयों में प्रवृत्त रहते हैं कि, वे मात्र सुख के कारण बनते हैं। लौकिक विषयानन्दपराङ्मुख व्यक्ति अध्यात्मप्रवणता का यह कहते हुए उपहास किया करते हैं कि लौकिक विषयों में तो हमें आनन्द मिलता है। आत्मचिन्तन करते किया जाए जबकि उनके अनुष्ठान-प्रकारों में विषयानन्द-प्राप्ति का पदे पदे निरोध होता रहता है। आनन्दकामना से विषयों में आसक्त कामकामी पुरुष से श्रुति पूँछती है कि बतलाओ तुम्हें कितना आनन्द चाहिए ?, कामकामी उत्तर देता है—कोई कमी न रहे, यथाकाम् अभिलषित पदार्थ मिल जाँय। श्रुति ने क्रमशः पार्थिवभाग सम्पूर्ण धन

दिए और साथ ही में यह भी उद्घोष कर दिया कि, सम्पूर्ण पृथिवी के समस्त भोगों में तुम जितना आनन्द समझते हो, चान्द्रमहिमा में इससे शतगुण अधिक आनन्द है। उसकी लालसा हुई, क्योंकि भूमा-लालसा स्वाभाविक है। चान्द्र आनन्द के अनन्तर उस सौर आनन्द की ओर आनन्दलिप्सु का ध्यान आकर्षित किया, जो सौर आनन्द चान्द्रानन्दापेक्षया भी शतगुण अधिक है। तदपेक्षयापि शतगुणीकृत पारमेष्ठ्य आनन्द को सम्मुख रक्खा। तदपेक्षया भी शतगुणीकृत स्वायम्भुव आनन्द की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। और अन्ततोगत्वा इस मात्रानन्दमीमांसा से यह आदेश दिया कि, पूर्व-पूर्व-आनन्दमात्रा उत्तर-उत्तर-आनन्दमात्राओं से सीमित है। अतएव पूर्व-पूर्व-आनन्दमात्राओं के अनुगमन से उत्तर-उत्तर-भूमानन्दमात्राओं की कामना बनी रहती है, लालसा बनी रहती है। कामना एक प्रकार का क्षोभ है, अशान्ति है। फलतः इन कामनामय मात्रानन्दों में कभी वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती—'नाशान्तस्य तु—आत्मास्ति चित्ते न'। जिस भूमप्रदेशस्थ (हृदयस्थ) घनानन्दमूर्त्ति निष्काम आत्मानन्द की मात्रा से लेकर भूत पर्य्यन्त आनन्द (आनन्दविवर्त्त) बने हुए हैं, उसे प्राप्त करना ही पुरुष का परमपुरुषार्थ है। तभी दुःख का आत्यन्तिक विमोक सम्भव है *। यहीं क्षोभ का आत्यन्तिक अभाव है, पूर्ण-शान्ति का साम्राज्य है।

२४–विषयानन्दप्रवृत्ति का काल्पनिक मोह—

विषयभोगपरायण अपने मन को भोगप्रधान लोकायतिकों ने आत्मानन्दरूप ब्रह्मानन्द के वास्तविक तत्त्व को न समझते हुए इसका उपहास किया है। वे कहते हैं कि उस आत्मानन्द के अन्वेषण में कौन व्यर्थ का प्रयास करेगा, जिसमें न स्पर्श है, न दृश्य है, न अनुभव है, न अनुभवकर्त्ता है। है, तो केवल जड़भाव। जैसे एक मूर्च्छित मनुष्य चेतना से विमुक्त रहता हुआ जड़वत् निश्चल बना रहता है, वही दशा ब्रह्मानन्दानुगामियों की है। भला कौन ऐसी शान्ति का अनुगमन करेगा। 'चार्वाक' कामप्रयोग में कुशल नारियों की ऐसी ऐसी बातें सुनने में तो बड़ी प्रिय लगती हैं। तत्त्वज्ञानशून्य सभी संसारी तत्क्षण उनके इस प्रलोभन को स्वीकार कर लेंगे, और कह बैठेंगे कि ठीक तो है। सुस्वादु भोजन, रूपदर्शन, मधुरालाप आदि आनन्दों का अनुभव ब्रह्मानन्द में कहाँ है। सचमुच उस एकान्ततः स्थिरवृत्ति में पहुँचना तो अपने आपको जड़ बना लेना है। वहाँ न मोद-प्रमोद, न हास्य-विलास, न मित्रगोष्ठियाँ, न सुन्दर रसवन्तियाँ। है केवल स्तब्धतुल्य निश्चलभाव। क्या अन्तिम आनन्द का यही स्वरूप है?, यही क्या है?। तभी तो सर्वसाधारण की ऐसे कल्पित आत्मानन्द की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। साधारण क्या, कोई भी समझदार प्रत्यक्षप्रलोभनात्मक विषयानन्दों को छोड़ कर कभी उस कल्पनातीत काल्पनिक अव्यावहारिक आत्मानन्द की ओर प्रवृत्त न होगा।

२५–ब्रह्मानन्द के प्रति लोकायतिकों की भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण—

क्या लोकायतिकों का उक्त कथन तथ्यपूर्ण है?, नहीं दीखता। विषयानन्दवादी से ही विचार कीजिए। आनन्द वही वास्तविक आनन्द माना गया है, जिसमें मन की तन्मयता अक्षुण्ण बनी रहती है। जिन विषयानन्दों में मन और विषय का सम्बन्ध पार्थक्य बना रहता है, वे विषयानन्द नीरस से प्रतीत होने लगते हैं।

---

* यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

'आनन्दविभोर' मन ही आनन्दी कहलाया है। एवं यह विभोरता ही मन की तन्मयता कहलाई है। जिस विषयानन्द में यह तन्मयता आ जाती है, वह विषयानन्द द्वैतभाव से पृथक् बना रहता है। विषय, तज्जनित आनन्द, आनन्द-भोक्ता मन, तीनों मिल कर एकाकार बन जाते हैं। मन अपने आपको भुला देता है। उस आत्यन्तिक विषयानन्दचर्व्यणा में थोड़ी देर के लिए मनुष्य ऐसा मुग्ध बन जाता है कि, उस दशा में उसे बाहिर, भीतर, द्रष्टा–दृश्य–आदि भेदों का कुछ भी भान नहीं रहता। चर्वण शान्त होने पर उसे स्वयं को ऐसा भान होता है, जैसे वह गहरी नींद से जगा हो। विषयानन्दों में से तल्लीनता प्रवर्त्तक ऐसे विषयानन्द ही उत्कृष्ट विषयानन्द माने गए हैं। स्वयं विषयानन्दपरायण लौकिक मनुष्य भी ऐसे उत्कृष्ट विषयानन्दों के लिए ही सदा लालायित देखे सुने गए हैं। यही इस बात का प्रमाण है कि, आनन्द वही उत्कृष्ट माना जायगा, जिसमें द्वैतभाव की अधिकाधिक निवृत्ति, एवं तन्मयताप्रवर्त्तक अद्वैतभाव की अधिकाधिक प्रवृत्ति रहेगी।

२६—रत्यानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

यों और और जितने भी विषयानन्द हैं सभी अपनी चरमावस्था पर पहुँच कर तन्मयता के प्रवर्त्तक बनते हुए यद्यपि उत्कृष्ट आनन्दकोटि में आते हुए अद्वैतानन्द से समतुलित हो जाते हैं, तथापि विषयानन्दों में दो ही उदाहरण ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनमें तन्मयतारूप अद्वयभाव सर्वथा प्रस्फुटित रहता है। अतएव ऋषियों नें ब्रह्मानन्द की सर्वोत्कृष्टता का परिचय कराने के लिए उन दो विषयानन्दों को ही उदाहरण माना है। पहिला विषयानन्द रत्यानन्द है, दूसरा विषयानन्द निद्रानन्द है। रत्यानन्द गौण है, निद्रानन्द प्रधान है। रत्यानन्दलक्षण विषयानन्द लौकिक जगत् विषयों में क्यों श्रेष्ठ माना गया ? लौकिक मनुष्य भी इसे क्यों उत्कृष्ट आनन्द मान रहे हैं ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है द्वैतास्पर्शत्व एवं अद्वैतानुभूतत्व। अद्वैतभूतत्व का कारण है—पूर्णता। पूर्णता का कारण है—दो अर्द्धांशों का एकत्र समन्वय। ब्रह्मानन्द आकाशात्मक माना गया है जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है। आकाश परिपूर्ण है, अतएव उसे पूर्णपुरुष कहा जाता है। इस पूर्णपुरुषात्मक आकाश के सूर्य-चन्द्र माध्यम से अहोरात्र द्वारा दृश्य-अदृश्य भेद से दो विभाग हो जाते हैं। सौर अर्द्धाकाश आग्नेय है, यही अहःकाल है, यही दृश्य अर्द्धाकाश है, इसीसे पुरुषसृष्टि का विकास हुआ है। अग्निसम्बन्ध से ही आग्नेय-अर्द्धाकाश से इतात्मा पुरुष आग्नेय अतएव अन्नाद (भोक्ता) कहलाया है। चान्द्र अर्द्धाकाश सौम्य है, यही रात्रिकाल है, यही अदृश्य अर्द्धाकाश है, इसीसे स्त्री–सृष्टि का विकास हुआ है। सोम के सम्बन्ध से ही सौम्य–अर्द्धाकाश से कृतात्मा स्त्रीतत्त्व सौम्य अतएव अन्न (भोग्य) कहलाया है। केवल पुरुष भी अर्द्धाकाश से कृतात्मा बनता हुआ अर्द्धांगल है, अपूर्ण है। केवल स्त्री भी अर्द्धाकाशाभिन्न बनती हुई अपूर्णा है। जब दोनों का दाम्पत्यभाव होता है तो पूर्णता प्रस्फुटित हो जाती है। पुरुष के अर्द्धाकाश की पूर्णता स्त्री के अर्द्धाकाश पर ही निर्भर है। इसी आधार पर—"सोऽयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते"(बृ. आ. १।४।३।) यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। अर्द्धाकाशात्मक पुरुष एवं अर्द्धाकाशाभिन्न स्त्री दोनों का जब दाम्पत्यभाव (मिथुनसम्बन्ध) होता है तो आकाशसम्पत्ति पूर्ण बन जाती है। पूर्णाकाश के सम्पन्न होते ही द्वैतभाव उच्छिन्न हो जाता है, पूर्णात्मक अद्वैतभाव प्रस्फुटित हो जाता है। अतएव उभय-समन्वयात्मिका इस रति में पुरुष–स्त्री, दोनों अपना पार्थक्य भूल जाते हैं, तन्मय हो जाते हैं। परिमित क्षणों तक प्रस्फुटित रहने वाला यही रत्यानन्द विषयानन्दों में से उस उत्कृष्ट विषयानन्द का उदाहरण है जिसे अद्वैतानन्द के परिचय के लिए मध्यस्थ माना जा सकता है। अतिथि–श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह–प्रेम

चारों प्रेमों का इस रतिप्रेम में समन्वय रहता है। यह सर्वोत्कृष्ट-सर्वात्मक प्रेम प्रथम तो भव के साथ ही सम्भव है अथवा तो पत्नी के साथ ही, जैसा कि भक्तिपरीक्षा-उपनिषद् के 'प्रेममीमांसा' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

रसानन्दस्वरूप-विश्लेषण से प्रकृत में हमें उन विषयानन्द-पक्षपातियों से यह पूछना है कि, क्या रसानन्द उन्हें विषयानन्दों में उत्कृष्ट आनन्द प्रतीत नहीं होता? यदि हाँ, तो हम फिर पूछते हैं कि-क्या इसमें मोक्षानन्दादि की भांति द्वैतप्रतीति होती है?, क्या अपने आपका बोध यथानुरूप बना रहता है?, नहीं, तो फिर उनसे पूछा जाता है कि, जब रसानन्द में द्वैतभाव नहीं, अपितु तल्लीनता है अपने आपको भुला देना है तो बरबस से सम्मुखित इस रसानन्द के लिए विषयभोगपरायण वे महानुभाव अतिशयवश में लालायित क्यों?, 'स एव मुख्या:?'। मानना पड़ेगा कि-आनन्द वही वास्तविक आनन्द है जिसमें द्वैत-भाव का आविर्भाव न हो जहाँ तन्मयता का अधिकाधिक विकास हो। यदि क्षणमात्र के लिए प्राप्त रसानन्दात्मक विषयानन्दरूप अद्वैतानन्द की सर्वोत्कृष्टता अनुभवसिद्ध है तो क्या वे विषयानन्दपक्षपाती उस अद्वैतरूपेण परिपूर्ण ब्रह्मानन्द का उपहास कर सकेंगे जिसमें क्षणमात्र के लिए नहीं, अपितु सदा के लिए तल्लीनतारूप आनन्दसम्पत् सञ्चित है। क्या वह मानेंगे उस नित्य-परिपूर्ण-ब्रह्मानन्द को वे ब्रह्मानन्द?। अपने अन्तर्जगत् में वे अद्वैतभावात्मक किन्तु क्षणिक रसानन्द एवं अद्वैतभावात्मक किन्तु नित्य-ब्रह्मानन्द दोनों का समतुलन करें। और फिर ब्रह्मानन्द-की श्रेष्ठतारूपता का निर्णय करें। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने विषयभोगपरायण ऐसे व्यक्तियों के उद्बोधन के लिए ही ब्रह्मानन्दसम्प्रसारविषय के लिए रसानन्द को उदाहरण बनाया है जिस उदाहरण का एकमात्र लक्ष्य है-रसानन्द से सम्बन्ध रखने वाली अद्वैतानुभूति जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

"तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नाऽऽन्तरम्। एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नाऽऽन्तरम्। तद्वा अस्यै-तदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्" (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।२१।)।

७७-पुन-लोक-विशेषता-प्रवर्तक रसानन्द—

रसानन्द के उक्त औपनिषद्-उदाहरण के सम्बन्ध में कुछ एक अतिशय-सम्प्रदायाभिमानी सहृदय विद्वानों ने इसलिए अपनी अरुचि प्रकट की है कि, ब्रह्मानन्द जैसे पवित्रतम-लोकोत्तर आनन्द के साथ रसानन्द-जैसे ऐन्द्रियिक लौकिक क्षणिक आनन्द की तुलना करना समीचीन नहीं। उनकी इस अरुचि का उत्तर पूर्व में दिया जा चुका है। उदाहरण से केवल आनन्दानुभूति अभिप्रेत है। और विषयानन्दों में अद्वैतानन्दानुभूति की प्रतिच्छाया से मिलता जुलता उदाहरण एकमात्र रसानन्द ही है। अपितु उदाहरण के द्वारा श्रुति भी लौकिक मनुष्य के सम्मुख ब्रह्मानन्द की महत्ता उपस्थित करती है। वह यह बतलाना चाहती है कि, अवश्यमेव विषयानन्दों की अपेक्षा ब्रह्मानन्द ही श्रेष्ठ, अत एव, सर्वथा अनुगमनीय है। मानते हैं-रसानन्दातिरिक्त कलादर्शन-सङ्गीत-श्रवण आदि अन्यान्य विषयानन्दों में भी तल्लीनतारूपतया अद्वैतानन्दानुभूति होती है। परन्तु इन और किन्हीं विषयानन्दों को उदाहरण न बना कर रसानन्द को उदाहरण मानने में श्रुति का कुछ और भी प्रयोजन है।

पञ्चधारापत् लौकिक कामनाओं का पुत्रकामना, लोककामना, वित्तकामना, इन तीन कामनाओं में अन्तर्भाव है। एवं आनन्दलिप्सु प्रेमी मन की प्रेमधारा कामना की दृष्टि से श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह, काम, इन चार अवान्तर धाराओं में प्रवाहित है। रत्यानन्द ही एक ऐसा उदाहरण है कि, जिसमें पुत्र–लोक–वित्त इन तीनों सर्वकामनामयी प्रधान कामनाओं का भी समन्वय है, एवं श्रद्धादि चारों प्रेमधाराओं का भी समन्वय है। पुत्रैषणा की पूर्ति रत्यानन्द पर ही निर्भर है। अतएव रत्यानन्द (दाम्पत्य) के फलस्वरूप पुत्र को भी श्रुति ने 'आनन्द' नाम से ही व्यवहृत किया है *। पुत्र ही एकमात्र लोकप्रतिष्ठा का लोकमुक्ति का लोकैषणा का पूरक माना गया है ×। एवं पुत्रार्थ ही पिता की वित्तैषणा की ओर प्रवृत्ति रहती है। बिना पुत्रसम्पत्ति के मनुष्यका वित्तसम्पत्ति से भी विराग हो जाता है। इसप्रकार पुत्रके द्वारा रत्यानन्द तीनों एषणाओं का संग्राहक बना हुआ है। इन्हीं सब उपपत्तियों के आधार पर श्रुति ने रत्यानन्द को ही उदाहरण माना है जिसके तात्त्विक दृष्टिकोण से अपरिचित रहने के कारण ही भूतदृष्टिपरायण प्रतीच्य विद्वान् 'मुखमस्तीति वक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी' को चरितार्थ करते रहते हैं।

२८—निद्रानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

अब दो शब्दों में दूसरे प्रधान निद्रानन्दरूप विषयानन्द की भी मीमांसा कर लीजिए। यह ठीक है कि, अन्यान्य विषयानन्दों की अपेक्षा रत्यात्मक विषयानन्द सर्वानुभूति में प्रधान रहता हुआ तात्त्विक उदाहरण बन रहा है तथापि एक विशेष हेतु से इस उदाहरण को भी ब्रह्मानन्द से सर्वात्मना समतुलित नहीं माना जा सकता। आनन्द का स्वरूपनिर्वचन करते हुए पूर्व में यह बतलाया गया है कि, आनन्दतत्त्व स्व–स्वरूप से स्पन्दरहित स्थिर तत्त्व है। क्रियारूपा स्पन्दनमर्यादा से यह सर्वथा असंस्पृष्ट है। रत्यानन्द रतिक्रियान्वित है। दो तत्त्वों के मिथुनीभाव से तात्कालिक रत्यानन्द प्रादुर्भूत हुआ है। यद्यपि आनन्दरूपेण रत्यानन्द निष्कल

---

*—"काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य ? (इति जनकः पप्रच्छ)। मन एव सम्राट्–इति होवाच (याज्ञवल्क्यः)। मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यति। तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते। स आनन्दः" (बृ०आ०उ०४।१।६।)

×—"यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः ॥१॥
किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः ॥२॥
नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत् सर्वे पशवो विदुः" (ऐ०ब्रा ३३।१।)
पुत्रेण लोकाञ्जयति, पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥
—विष्णुस्मृतिः

इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन भाष्यविज्ञान के खण्ड में देखना चाहिए।

ही है, तथापि इसका क्रियाप्रवृत्ति से सम्बन्ध है। उभयव्यापारात्मक इस कर्म की प्रवृत्ति ही रत्यानन्द का निमित्त बनता है। इसके अतिरिक्त एक ही रत्यानन्द का अनुभव भी विभिन्न बन रहा है। पुरुष का रत्यानन्द स्वतन्त्र है स्त्री का रत्यानन्द स्वतन्त्र है। दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित एक ही रत्यानन्द दोनों का भोग्य बन रहा है। यही द्वैतनिमित्त है। इसके अतिरिक्त रत्यानन्द में प्रवृत्त दोनों को ही यद्यपि बाह्य-आभ्यन्तर प्रपञ्च का बोध नहीं रहता तथापि स्वात्मपार्थक्य बोध अवश्य सुरक्षित है। दोनों रत्यानन्द में लीन रहते हुए भी पृथक् अस्तित्व का अनुभव कर रहे हैं। तभी तो तदनुरूप व्यापार संक्रान्त रहता है। विशुद्ध अद्वैतभाव में तो क्रिया का आत्यन्तिक रूप से निरोध हो जाता है। यही तीसरा द्वैतभाव है। इन्हीं कुछ एक कारणों से रत्यानन्दोदाहरण में 'अपरत' शिथिलता आ रही है। रत्यानन्दोदाहरण की इसी त्रुटि को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने दूसरे 'निद्रानन्द' को उदाहरणरूप से विषयानन्दप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, भेद से तीन अवस्था प्रधान मानी गई हैं। तीनों का क्रमशः प्रज्ञान (मन) विज्ञान (बुद्धि) महान्, इन तीन अध्यात्मविवर्तों से सम्बन्ध है। प्रज्ञान-विज्ञान-महान्, तीनों की जाग्रदवस्था जाग्रदवस्था है। प्रज्ञान-विज्ञान दोनों की जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था है। महान् की जाग्रदवस्था सुप्तावस्था है। एवं महान् की सुप्तावस्था मृत्यु-अवस्था है। आध्यात्मिक चिदात्मा महद्गर्भ में ही प्रतिष्ठित रहता है। इन्द्रियसिक्त-महदवच्छिन्न चिदात्मा ही जीवात्मा है। जब तक महान् स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित है जाग्रत् है तभी तक जीवात्मा शरीरपुर में प्रतिष्ठित है। महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मज्योति से निकलने वाली ज्ञानरश्मियों से विज्ञान प्रकाशित है विज्ञान से प्रज्ञान प्रकाशित है प्रज्ञान से इन्द्रिय-द्वारा विषय प्रकाशित हैं। जबतक प्रज्ञानरश्मियाँ इन्द्रियद्वारा बाह्य विषयों को प्रकाशित करती रहती हैं तभी तक इन्द्रिय व्यापार होता रहता है। यही प्रज्ञान की जाग्रदवस्था है यही प्रज्ञानानुगता प्रथमा जाग्रदवस्था है। जब प्रज्ञानरश्मियाँ सिमट कर प्रज्ञानात्मा में विलीन हो जाती हैं तो इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाता है। यही प्रज्ञान की सुप्तावस्था है। इस अवस्था में प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित सांस्कारिक विषय विज्ञानद्वारा प्रकाशित होते रहते हैं, इसी विज्ञानप्रकाश से प्रज्ञानस्थ सांस्कारिक विषयों का परस्पर सम्बन्धविच्छेदरूप से सम्बन्ध होता रहता है। प्रज्ञान की सुप्तावस्थात्मिका, विज्ञान की जाग्रदवस्थात्मिका यही दूसरी स्वप्नावस्था है। आगे चलकर विज्ञानरश्मियों का भी विज्ञानात्मा में निमज्जन हो जाता है। संस्कार ज्ञानप्रकाश से सर्वथा वञ्चित रह जाते हैं। *प्रज्ञान को अपने गर्भ में रखने वाला विज्ञान (विज्ञानरश्मियाँ) पुरीतत्नाड़ियों के द्वारा हृदयस्थ* महदात्मलक्षण उपशमविज्ञान में विलीन हो जाता है। यही विज्ञान की सुप्तावस्था किन्तु महान् की जाग्रदवस्था है। यही तीसरी सुषुप्त्यवस्था है। महानात्मगर्भित आत्मा 'स्व' है। इस अवस्था में प्रज्ञान-विज्ञान-आदि सब ज्ञानमात्राएँ इस स्व तत्त्व में अपीत हो जाती हैं लुप्त हो जाती हैं अतएव 'स्वमपीतो भवति' निर्वचन से इस अवस्था से युक्त व्यक्ति के लिए 'स्वपिति' कहा जाता है। केवल यही अपने महदात्मस्वरूप से जाग्रत रहता है। निद्रावस्था सांसारिक अवस्था है मुक्तावस्था नहीं, यह विपश्चित् सभी स्वीकार करेंगे। परन्तु देखते हैं-निद्रावस्था में आत्यन्तिक अद्वैत है। यह अद्वैत नहीं, अपितु शान्त अद्वैत। तभी तो निद्रानन्तर 'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुख से सोया) यह वाक्य मुख से निकलता है। प्रज्ञान-विज्ञानबल अवश्य सुषुप्ति में लुप्त है। परन्तु महद्-ज्ञान जाग्रत है। अतएव निद्रानन्दनिमग्न को जड़ नहीं कहा जा सकता। अपितु इसी ज्ञान के कारण सुप्तावस्था में भी श्वास-प्रश्वासादि प्राणव्यापार होता रहता है। इस व्यापारसत्ता से ही

ज्ञानसत्ता स्वीकार करनी पड़ती है क्योंकि बिना ज्ञान के व्यापारप्रवृत्ति असम्भव है । निद्रानन्द में द्वैत का आत्यन्तिक अभाव है । अतएव वहाँ शान्तानन्द का साम्राज्य है । अतः अवश्य ही इसे ब्रह्मानन्दस्वरूप परिचय के लिए मध्यस्थ उदाहरण माना जा सकता है । निद्रानन्द यदि विषयानन्दप्रेमियों की दृष्टि में शान्तिप्रद है, स्वास्थ्यप्रद है, उपादेय है, सर्वभावासंसृष्ट है, तो तत्समतुलित ब्रह्मानन्द भी अवश्य ही पूर्ण शान्ति–शाश्वतशान्ति का अधिष्ठान बनता हुआ अवश्यमेव विषयानन्दापेक्षया सर्वोत्कृष्ट वह आनन्द है, जिसके निद्रावस्थानुगत क्षणिक प्रत्ययमात्र से हमारी अध्यात्मसंस्था के सम्पूर्ण विकार दूर हो जाते हैं । एक बात और । रत्यानन्द ब्रह्मानन्द का साक्षात् उदाहरण न बन कर परम्परया उदाहरण बनता है । साक्षात् उदाहरण तो निद्रानन्द ही है । इत्थंभूत रत्यानन्द निद्रानन्द का उदाहरण है, निद्रानन्द ब्रह्मानन्द का उदाहरण है । श्रुति में इसी रूप से दोनों उदाहरणों का समन्वय हुआ है । निम्न लिखित उपनिषद्वचन इसी निद्रानन्द का स्वरूपविश्लेषण कर रहे हैं—

१—"तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा, सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः–संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति" (बृ० उ० ४।३।१९।)।

२—"अथ यत्र (निद्रावस्थायां) देव इव, राजा–इव–अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते । सोऽस्य परमो लोकः" । (बृ० उ० ४।३।२०।)।

३—"तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्मा–अभयं रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया० । एवमेवायं पुरुषो न बाह्यं वेद, नाऽन्तरम्" (बृ० उ० ४।३।२१।)।

४—"अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता० । तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति" (बृ० उ० ४।३।२२।)।

५—"यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति । न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात् । न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्" ।
(बृ० उ० ४।३।२३।)।

६—"सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोकः सम्राट्–इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः । एषाऽस्य परमा सम्पत्, परमा गतिः, परमो लोकः, परम आनन्दः" ।
(बृ० उ० ४।३।३२।)।

७—"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति । स्वमपीतो भवति । तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते । स्वं ह्यपीतो भवति" (छां० उ० ६।८।१।)।

८—"तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु नाडीषु तदा सृप्तो भवति । तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति । तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति" ।
(छां० उ० ८।६।३।)।

९—"अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद—हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" ।

(बृ० उ० २।१।१९।)।

२६—आनन्द, और सुख का पार्थक्य—

प्रसङ्गोपात्त मात्रानन्दमीमांसा का प्रयोजन, आत्मानन्द के प्रति लोकप्रसिद्धों का आक्षेप, शान्तानन्द–समृद्धानन्दद्वारा–आक्षेपनिराकरण इत्यादि प्रासङ्गिक विषयों की मीमांसा की गई। अब दो शब्दों में आनन्द तत्त्व की सहज परिभाषा का सहजभाषा में विश्लेषण और कर लिया जाता है। आनन्द को सहजभाषा में हम 'सुख' कह सकते हैं। वस्तुतः आनन्द और सुख विभिन्न तत्त्व हैं। 'शान्ति'-लक्षण आत्मानन्द आनन्द है, 'समृद्धि'-लक्षण मात्रानन्द (विषयानन्द) 'सुख' है। आनन्द 'शान्तानन्द' कहलाता है, एवं सुख 'समृद्धानन्द' कहलाता है *। इन्द्रियवर्ग ही 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' (कठ० ४।१) के अनुसार 'ख' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन ख–वर्गों (इन्द्रियवर्गों) की शून्य, पूर्ण दो अवस्था रहती हैं। इन्द्रियरूप ख–भावों में यदि रूप–रस–गन्धादि विषय प्रविष्ट रहते हैं, तो वे 'ख' पूर्ण रहते हैं। यही पूर्णता इन्द्रियों का सौष्ठव है। यही 'ख' का 'सु' भाव है। ऐसी विषयपूर्ण इन्द्रियाँ ही 'सु–ख' हैं। यही 'सुख' की तात्त्विक निरुक्ति है। अपितु अनुकूल रुचिकर–हितकर विषयों से 'ख' सुस्थिर बने रहते हैं। अतएव 'सुस्थिरभावमवलोक्यन्ति अनुकूलविषयैः परिपूर्णानि–इन्द्रियाणि' निर्वचन से भी विषयपूर्ण अतएव सुस्थिर ख–भावों को सुख कहा जा सकता है। ठीक इसके विपरीत–हानिप्रद–अरुचिकर–अहितकर–दुष्ट विषयों के आगमन से ख अशान्त हो जाते हैं। यही दुष्टानि–खानि–रूप दुःख है। विषयागमनाभाव में इन्द्रियवर्ग शून्य है, यह भी ख का दुःस्थ ही है। इसलिए भी इस भाव को 'दुःख' कहना अन्वर्थ बनता है। 'सुष्ठु–पूर्णानि–खानि यत्र तत्' ही 'सुखम्' का निर्वचन है, 'दुष्टानि शून्यानि खानि यत्र तत्' ही 'दुःखम्' की निरुक्ति है।

सुख (ऐन्द्रियक आनन्द) की दृष्टि से समस्त विश्व के यच्चयावत् प्राणियों का आनन्दानुभव समतुलित है। एक निर्धन विषयानन्द से जितना सुखी है, एक सम्राट् भी विषयानन्दरूपेण तत्परिमित ही सुखी है। कल्पना कीजिए, अभी आप निर्धन हैं। किसी से एक लाख रु० आप को मिले। शान्त आत्मानन्दसमुद्र में इन लाख रुपयों के आघात से उसी प्रकार क्षण भर के लिए एक लहर उत्पन्न हो गई, जैसे शान्त सरोवर में पाषाण प्रक्षेप से क्षणमात्र के लिए तरङ्ग उत्पन्न हो जाती है। यही लहर आगन्तुक समृद्धानन्द है (सुख है)। क्षण भर के लिए आपका प्रशान्त–सरोवर उछला, फिर शान्त हो गया। वह शान्ति, और निर्धनावस्था की शान्ति, दोनों समतुलित हैं। लाख–करोड़–अर्बुद–खर्व–पद्म–साम्राज्य–ज्यों ज्यों ये वित्तविभव आपको मिलते जाएँगे, त्यों त्यों उसी अनुपात से प्रशान्तसरोवर क्षण भर के लिए उछल उछल कर शान्त होता जायगा। क्षणिक आह्लादानन्तर वही पूर्वावस्था उदित होती जायगी। और इसप्रकार विषयानन्दरूपेण आप की सम्राडवस्था आपकी निर्धनावस्था से सर्वथा समतुलित रह जायगी। अब अधिक सम्पन्न को अल्पसम्पन्न–

---

*—लक्षणरूपेण सुख और समृद्धि में अन्तर है। तात्कालिक ऐन्द्रियक तुष्टि जहाँ 'सुख' मात्र है, वहाँ दीर्घकालपर्यन्त सुरक्षित अनुभोगानुगति 'समृद्धि' है। दोनों की समष्टि के लिए ही लोक में 'सुखसमृद्धि' शब्द प्रयुक्त है।

पचया अधिक सुख मिलता है ? । निर्धन को भले ही ऐसा प्रतीत मात्र हो, किन्तु वस्तुस्थिति कभी ऐसी नहीं है । भूमानन्दानुभवदृष्ट्या सबका सुखानुभव समतुलित है । कारण स्पष्ट है । विषयानन्द से आत्मानन्द में कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती । हाँ, आत्मानन्द आवृत अवश्य हो जाता है । अतः यह अवश्य कहा जा सकता है कि, जिसके कोश में जितना अधिक वित्त-परिग्रह है वह उतना ही अधिक अशान्त है । आगन्तुक वित्तपरिग्रह से स्वाभाविक आत्मशान्ति का अभिभव अवश्य सम्भव है-विकास नहीं । अतः सम्पत्ति की विपुलता के तारतम्य के आधार पर सुख-दुःख की व्यवस्था करना अतात्त्विक है निमूल है । सम्पत्ति के आधार पर दुःखतारतम्य की ही व्यवस्था की जा सकती है ।

३०—भूमानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

आमोद, प्रमोद मोद, हर्ष, आह्लाद उल्लास, आदि सभी मात्रानन्दलक्षण इस सुखात्मक विषयानन्द के अवान्तर विवर्त हैं । विषयभेददृष्ट्या सब विभिन्न हैं विषयस्वरूपदृष्ट्या सब सुखात्मक हैं । एवं विषयवियोग-दृष्ट्या सुख और आनन्द अभिन्न हैं । इस आनन्दभूमात्व की लक्षणपरिभाषा क्या ? यही वह सहज प्रश्न है, जिसके समाधान के लिए विदित नहीं, भारतीय दार्शनिकेतर दार्शनिकों नें, विवेचकों नें कितने महा निबन्धों से अपनी प्रज्ञा को क्लान्त किया होगा, जबकि भारतीय महर्षियों नें सहजभाषामयी अपनी केवल सात अक्षर की एक पङ्क्ति में ही इस दुरूह तत्त्व का सर्वात्मविश्लेषण कर डाला है । लक्ष्य दीजिए निम्न लिखित पङ्क्ति पर, और मनन कीजिए उसकी ममीर्यमहिमा का—

"यो वै भूमा—तत् सुखम्" (छां० उ० ७।२३।१) ।

जिसे हम लोकभाषा में 'बहुत' कहा करते हैं उसी के लिए वेदभाषा में 'भूमा' शब्द व्यवहृत हुआ है । 'बहोर्भावः-भूमा'—'अतिशयेन बहु-भूयिष्ठ एव भूमा' इत्यादि निर्वचनानुसार बहुत्व का ही नाम भूमा है । यही सुख की वास्तविक वह व्यापक परिभाषा है, जिसके गर्भ में सर्वात्मना सुखविवर्त प्रतिष्ठित हैं । पहिले लोकदृष्टि (विषयदृष्टि) से भूमा की सुखरूपता का समन्वय कीजिए । यदि निवासस्थान विपुल है बड़ा है तो उसमें संकुचित स्थानापेक्षया अधिक सुख मिलता है । भोजन-शयन-चलन-आदि व्यापारों का सुखत्व भी इसी भूमा पर निर्भर है । सम्पत्ति की अधिकाधिक भूमा अधिकाधिक सुखप्रवृत्ति का कारण मानी गई है । पूर्व में हमनें प्राणिमात्र के सुखानुभव को समतुलित बतलाया है । वह कथन आत्मानन्द की दृष्टि से सम्बद्ध मानना चाहिए । आत्मानन्दापेक्षया सभी विषयानन्द समतुलित हैं । किन्तु स्वयं विषयानन्दों की पारस्परिक तुलना में बहुत्वयुक्त विषय अबहुत्वयुक्त विषयापेक्षया भूमानुगत बनते हुए विशेषतः सुखप्रवर्त्तक बनते हैं । विराम दुःख के कारण माने जाते हैं परन्तु तत्त्वतः भूमा का अभाव दुःख का कारण बनता है । एक लक्ष का मिल जाना दुःख का कारण नहीं है, मिल कर छिन जाना दुःख का कारण है । जो जिस स्थिति में पहिले से है वह बहुत्वभाव से युक्त होकर सुखी अवश्य होगा परन्तु दुर्भाग्यवश यदि इसका आगन्तुक बहुत्व न रहेगा तो इसे पूर्वस्थापेक्षया भी अधिक दुःख हो जायगा । पुत्र-पौत्र-धन-धान्य-सभी भूमानुगत बनते हुए सुखप्रवर्त्तक हैं, अल्पत्वानुगामी बनते हुए दुःखप्रवर्त्तक हैं । अतएव दुःख की-'नाल्पे सुखमस्ति' (छां०-उ० ७।२३।१) यह परिभाषा की जाती है । अल्पता ही दुःख-शोक-भय-क्लेशादि पाप्माओं की जननी है, जिसका अनुभव हमें अपने पार्श्ववर्त्ती मार्गस्थ जलपथ के द्वारा प्रतिदिन हुआ करता है । पिपासाकाल में भूमा से युक्त है यही १०-२ क्या, सैकड़ों मनुष्य निर्विरोध प्यास बुझा लेते हैं, किन्तु अल्प लौहनलिका के द्वारा

भावमय समस्त की सत्यकमाता समाजाओं में संघर्ष उत्पन्न कराती रहती है। निदर्शन है। घटपट मे बलपन्न इसमें कूप, कूप मे वापी, तडाग सरोवर, नद महानद, सागर, समुद्र, इनमें उत्तरोत्तर भूमा का समागम है पूर्वपूर्व अल्पता का प्राधान्य है। अल्पता सर्वत्र दुःख है भूमा सर्वत्र सुख है। पार्थिव व्यक्तिरूप विषय समस्त पृथिव्यपेक्षया अल्प हैं पृथिवी भूमा-भावमयी है। अतएव इतर पार्थिवानन्द व्यक्तिरूप अवस्थाओं की अपेक्षा भूमानुगत मनस्य भूमा मनुष्य के लिए परमानन्द है। पृथिव्यपेक्षया आन्तरिक्ष भूमा है, तदपेक्षया सौरमण्डल तदपेक्षया पारमेष्ठ्यमण्डल एवं तदपेक्षया स्वायम्भुवमण्डल भूमा है। निःसीम भूमा ब्रह्मानन्द भूमा है। यही आत्मभूमालक्षण आत्मानन्द है।

३१—भूमा, और शून्य आकाश—

समझ नहीं भूमा का कुछ और विश्लेषण होना चाहिए। भूमा विषय की अल्पता—महत्ता से सम्बन्ध रखती है अथवा संख्या से?। विषयाधारवैपुल्य भूमा मे अभिप्रेत है अथवा विषयसंख्याबहुत्व भूमा से संगत है?। हाँ भी, और ना भी। यदि विषयवैपुल्य मे विषयाधारभूत आकाशप्रदेश अपेक्षित है, तब तो हाँ। यदि विषयवैपुल्य मे मात्र अर परमाणु अभिप्रेत हैं तो ना। एवमेव संख्या से यदि संख्याधारभूत आश्रयात्मिका निरपेक्ष एकत्वसंख्या अभिप्रेत है तो हाँ। यदि विषयसंख्या से सापेक्ष १–२–३–आदि सर्व संख्याएँ अभिप्रेत हैं, तो ना। प्रदेश का नाम भूमा है। प्रदेश वह अवकाश है जिसमें नामरूपात्मक विषय प्रतिष्ठित रहते हैं। अवकाशात्मक प्रदेश 'शून्य' कहा है। आ इसी से परिपूर्ण दूसरे शब्दों में आनन्दमात्रात्मक अवकाश-प्रदेश ही 'शुभ्र शिवम निर्मल मे 'शान्तम' है। यह शून्यम् तत्त्व पूर्ण है। [illegible] मात्रात्मक पूर्णभावमय आकाश है। अवकाशात्मक आकाश ही नामरूपकर्मात्मक सम्यक् सर्व विषयों को स्व-स्वरूपेण स्थिति लय के लिए अवकाश प्रदान करता है जैसा कि—'आकाशमवकाशमप्रदाने' (गर्भोप-निषत् १) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है।

३२—शून्य—पूर्ण—स्वरूपदिग्दर्शन—

भवत्वानुगामियों ने आकाश का नाम शून्य अवश्य रक्खा है और शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' मान रक्खा है। आकाश शून्य अवश्य है परन्तु शून्य का अर्थ है भाराधार-बीजमय अवकाश प्राणात्मक या इन्द्रात्मक तत्त्व जिसका 'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्' (ऋक्सं ३।१ (३०)) इत्यादि मन्त्र से विश्लेषण हुआ है। आकाश का भी अर्थ अनिभावात्मक में शून्यस्थान (खाली जगह) ही समझा जाता है। परन्तु वस्तुतः अवकाश इन्द्रप्राणरूप है। सभी ही शाखा में अवकाश (ब्रा० आ० ८।६) यह श्रुति चरितार्थ होती है। सम्पूर्ण विश्व में कुछ भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ पर बीजमय आकाशात्मा आनन्द व्याप्त न हो 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन'। (ऋक्सं ९।६९।६)। इसी मे सर्वत्र बीजनीय रस मिलता है। निरावरण प्रदेशों में यह आनन्द से निर्भर रहता है। अतएव आवरण—आवरण प्रदेशों मे जहाँ आनन्दमूर्ति प्रसन्न मन आकुला जाता है वहीं निरावरण प्रदेशों में ब्रह्ममय शुभ्र इन्द्रप्राण के सहयोग से मन प्रफुल्लित हो जाता है। पृथ्वी इसी में 'इन्द्रतुरीया मही गृष्टमन्' के अनुसार पद वसुधैव मधुजात मादक आन्तरिक्ष रस रहता है। यही आ समस्त भारते का भी आधार है। उधर नारायण—भान्तरिक्ष—प्राणी—प्रदेशों—इन्हों में—'यह' आत्मा मामि-धानि, समुमय यन्नादेवश्च के अनुसार कचनमयौह पापाधिशाल परमात्मा के प्रागमन मे भीर इन

भी स्वस्वरूप से आवृत रहता है, एवं महत्त्वानिन्द्र (वामव्येन्द्र) का भी प्रवेश निषिद्ध रहता है। अतएव भूमाभावमश्रित यह अवस्था दुःख का कारण बन जाया करती है। अवकाशात्मक आकाश यद्यपि स्वस्वरूप से शून्य है (इन्द्रप्राणात्मक है) तथापि नामरूपकर्मात्मक प्रपञ्च से इसकी शून्यलक्षणा पूर्णता पूर्णलक्षणा-शून्यता में परिणत हो जाती है। 'यद् पूर्ण-तत् शून्यम्, यत् शून्यं-तत् पूर्णम्' ही शून्यपूर्ण का विवेक है। जिन भौतिक प्रपञ्चों से हम आकाश को पूर्ण मान रहे हैं वस्तुतः यह आकाश की शून्यता (अपूर्णता) है क्योंकि यहाँ आकाश की शून्यतालक्षणा पूर्णता विषयों से आवृत रहती है। नामरूपकर्मात्मक इन विषयों को पृथक् कर जब आकाश तत्त्व पर दृष्टि डाली जाती है, तभी आकाश स्वपूर्णतालक्षण शून्यभाव से समन्वित होता है तभी आकाशात्मक भूमाभाव प्राप्त होता है। इसी तत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है-'आकाशं शून्यं कृत्वा' (नामरूपाभ्यां विमुच्येति यावत्)-(अमृतबिन्दूपनिषत् ११)

शुन इन्द्रात्मक आकाश ही पुरुषाकाश है, जो पुरुषाकाश षोडशी कहलाता है जिसका अगले परिच्छेदों में विस्तार से उपवृंहण होने वाला है। केन्द्रगत ब्रह्माकाश में षोडशीपुरुष प्रतिष्ठित है। केन्द्रानुगत आकाशात्मक तत्त्व ही इन्द्र है। अतएव 'इन्द्रो ह वै षोडशी' (शत० ४।२।५।१४) रूप से यह भी षोडशी कहलाया है। यही षोडशी-इन्द्रात्मक आकाशानन्द उत्पत्ति-स्थिति-भङ्ग-का प्रवर्तक बनता है। दूसरे शब्दों में भूमात्मक आकाशानन्द ही विश्व का सर्वस्व है। आकाशानन्द ही रसानन्द का प्रवर्तक है। रसानन्दस्वरूप में परिणत होकर ही यह आकाशानन्द प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सिद्धविषय है कि, जिस दाम्पत्य सम्बन्ध में केवल विषयकामना-तुष्टि की प्रवृत्ति रहती है दम्पती में आनन्दोल्लास नहीं रहता, वैसा निरानन्द दाम्पत्य कभी प्रजोत्पादक नहीं बन सकता। प्रजोत्पत्ति ही क्या, किसी भी लौकिक-पारलौकिक कर्म में बिना आनन्द को आधार बनाए प्रवृत्ति ही नहीं होती-'यदा वै सुखं लभते करोति नासुखं लब्ध्वा करोति' (छां० उ० ७।२२।१)। यही आकाशानन्द भावनादि इतर सोपाधिक आनन्दभावों में परिणत होता हुआ विश्वसर्जन का कारण बनता है। यही आकाशानन्द अपने प्रातिस्विक नामरूपविमुक्त शून्यानन्दभाव में परिणत होता हुआ लय का प्रवर्तक बनता है जैसाकि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

१—"सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणम्। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्ते, आकाशादेव जातानि जीवन्ति, आकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तस्मादाकाशं बीजम् (संसारमहीरुहस्य)"—(नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत् ३।१)।

२—"अस्य लोकस्य (विश्वस्य) का गतिरिति ?। 'आकाश' इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम्"—(छां० उ० १।९।१)।

२३-आकाश की आनन्दरूपता—

भोमित्येतत्। इन्द्रात्मक आकाश पर सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति भङ्ग निर्भर है मान लिया। परन्तु यह आकाश आनन्द है यह प्रश्न तब स्पष्ट न हो सका। प्रमाणानुसार से पहिले अनुभवात्मक समन्वय

कीजिए। आकाश स्वयं नामरूप का प्रवर्तक, किन्तु स्वयं नामरूप से अतीत है। इस सिद्धान्त को मान कर आकाश की आनन्दरूपता का प्रत्यक्ष कीजिए। भोजन से आनन्द आता है, यह सर्वानुभूत विषय है। जिस मुखसुषिर में भोज्यद्रव्य प्रविष्ट होकर आनन्द के कारण बनते हैं, वह सुषिर आकाश ही तो है*। जिस हस्तप्रदेशरूप आकाश में प्राप्त होकर मुखाकाश में डाला जाता है, वह हस्ताकाश आकाश है। मुखाकाश–हस्ताकाश के मध्य में प्रतिष्ठित हस्तक्रियासञ्चाराधारभूत अवकाश आकाश है। भोज्यद्रव्य को पिण्डमात्र बनाने वाला हस्तक्रियाधारभूत अवकाश आकाश है। पिष्ट–चर्वित अन्न को गलाधःकरणानुकूलव्यापार से युक्त बनाने वाली क्रिया का आधारभूत गलनालरूप अवकाश आकाश है। निगीर्ण भोज्यद्रव्य के रसप्रक्रियात्मक संघर्ष-व्यापार का आधारभूत उदररूप अवकाश आकाश है। मलनिर्गमस्थानरूप अवकाश भी आकाश है। अन्न-रसव्याप्तिप्रदेश भी आकाश है। अन्नरसाहृत शरीरधातुओं की प्रतिष्ठारूप अवकाश भी आकाश है। स्वयं अन्नात्मसंस्था का आधारभूत शरीराकाश भी आकाश है। पार्थिव भोज्यद्रव्य के कारण अन्न–गोधूमादि पार्थिव पदार्थ, इनका उपादान पृथिवी, पृथिवी का उपादान आपः (जल) आपः का उपादान तेज तेज का उपादान वायु, वायु का उपादान अमृताकाशात्मक इन्द्रपत्नी नामक वागाकाश (मधुराकाशरूप मर्त्याकाश) वागाकाश का आधारभूत अमृताकाशरूप–आत्माकाश। इस परम्परा से स्वयं भोज्यद्रव्य भी आकाशात्मक ही है ×। "अन्नरूप 'भोजन आनन्द का कारण है' इस वाक्य का निष्कर्ष यही निकलता है कि 'आकाश ही आनन्द का कारण है'। भोजनोदाहरण से ही यथावत् विषयानन्दों की आकाशरूपता व्याख्यात है। दर्शनानन्द, श्रवणानन्द, स्पर्शानन्द, रसनानन्द, घ्राणानन्द, वागानन्द, विनोदानन्द, सम्भाषणानन्द, आदि आदि जितने भी विषयानन्द हैं, सब भौतिक आनन्द हैं। भौतिक पदार्थ पाञ्चभौतिक हैं। सब का मूलप्रभव आकाश नामक महाभूत है। महापुरुष ही महात्मा है। सम्पूर्ण भूत इसी आकाशरूप महाभूत की मात्रा से लेकर उपजीवित हैं। अतएव कहा जा सकता है कि, भूमा आकाश है वही आनन्द है।

जब एक व्यक्ति चारों हाथ पैरों को पसार कर लेटता है, लेट कर अँगड़ाई लेता है, तो उसके मुख से निकल पड़ता है— अहा बड़ा आनन्द आया। बैठे बैठे हम हाथ पैरों को इतस्ततः किया करते हैं। दक्षिणाङ्ग के थक जाने पर वामाङ्ग के सहारे, वामाङ्ग के थक जाने पर दक्षिणाङ्ग के सहारे, कभी सिर के सहारे, कभी पीठ के बल, कभी घुटनों के बल बैठ जाते हैं। सभी क्रियाएँ आनन्दप्रद हैं, शान्तिप्रद हैं। परन्तु इन सबका मूलाधार आकाशानन्द ही है। यदि अवकाशात्मक आनन्द न हो, तो हमारा शयन–आसन व्यापार सर्वथा अवरुद्ध हो जाय। कारागार में भूमाकाश–आनन्द हम से छीन लिया जाता है। व्यापक भूमाकाश को खण्ड बनाने वाली कारागार-दीवारें परिमित भोजन अहर्निश निरुद्धता–द्वारा हमारी भूमाकाशियों का निरोध में

---

* यत्–सुषिरं, तदाकाशम्-(गर्भोपनिषत्) १।

× "तस्माद्वा एतस्मादात्मन (अमृताकाशात्) आकाशः (मर्त्याकाशः, भूताकाशः) सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तै० उप० २।१)।

ये अल्पताएँ ही तो दुःख का कारण बनती हैं। उदाहरणस्वरूप अल्पसीमारूप दुःखात्मक नियन्त्रण से निकल कर जब कर्मचारी अवकाश (छुट्टी) रूप आकाशभूमा में आते हैं, तो उनका चेहरा खिल पड़ता है। जब हम पीछे, सामने, उभय पार्श्वों में, ऊपर दृष्टि डालते हैं, तो सर्वत्र भूमाकाश के ही दर्शन करते हैं। विश्वास कीजिए, यह भूमाकाश ही साक्षात् आनन्द है, जिसकी अनन्तता हमें आनन्दविभोर बना रही है। कल्पना कीजिए, यदि आपके मस्तक के ऊपर एक दो वितस्ति (बिलाद) के अन्तर पर ही ईश्वर के द्वारा कोई आवरण लगा दिया जाता, तो आपकी क्या स्थिति होती ? । दम घुट घुट कर क्या हो जाता, प्रश्न का विचार ही छोड़िये + । तत्वतः निष्कर्ष यही निकला कि, भूमा सुख है, यह भूमा ही आकाश है। आकाश ही आनन्द है। एवं अल्पता ही दुःख है।

३४—भयप्रवर्त्तक उदरभाव—

भूमादृष्टि अमृतदृष्टि है, अल्पदृष्टि मर्त्यदृष्टि है। अमृतदृष्टि एकदृष्टि है, समदृष्टि है, आत्मदर्शन है। मर्त्यदृष्टि नानादृष्टि है विषमदृष्टि विषयदर्शन है। समदर्शनरूप अमृतात्मक भूमाभाव आनन्द का प्रवर्त्तक है, विषमदर्शनरूप मर्त्यात्मक अल्पभाव दुःख का जनक है। भूमोपासना से अभयसम्पत्ति प्राप्त होती है। इस भूमाकाश में जब नामरूपकर्म्ममय विश्वों का समावेश हो जाता है, तो भूमा इस व्यवधान से अल्पता में परिणत हो जाती है। यह मेरा यह पराया यह प्रेमी, यह द्वेषी इत्याकार के उदर (व्यवच्छेद) ही भय के प्रवर्त्तक बनते हैं–'यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भयं भवति'। उत्तरोत्तर अल्पता का अनुगमन अधिकाधिक दुःख प्रवृत्ति का कारण है। उत्तरोत्तर भूमानुगमन अधिकाधिक आनन्दविकास का हेतु है। जिनकी दृष्टि संकुचित है वाणी संकुचित है मनोराज्य संकुचित है, स्वार्थ स्वपरिवारमात्र में सीमित है, वे भूमाकाशलक्षण से वञ्चित रहते हुए दुःखी हैं। ठीक इसके विपरीत उदारदृष्टि, उदारवाणी, उदाराशय, सर्वभूतहिते रताः महामना पुरुष भूमाकाश से युक्त रहते हुए सुखी हैं। अपनी आत्मभूमा ही सुख का कारण है, अपनी आत्माल्पता ही दुःख का कारण है। हम स्वयं ही आत्मभूमा के द्वारा सुखी हैं, आत्माल्पता के द्वारा दुःखी हैं। जो भूमा है, वह अल्प नहीं, जो अल्प है–वह भूमा नहीं। पुनः आत्मतत्व भूमा तथा अल्प, इन दोनों विरुद्ध भावों से कैसे व्यवहृत किया गया ?, यह एक स्वाभाविक प्रश्न है।

३५—साक्षी, और भोक्ता सुपर्णों का समन्वय—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ०' सिद्धान्तानुसार अध्यात्मसंस्था में साक्षी ईश्वरसुपर्ण, भोक्ता जीवसुपर्ण, ये दो तत्व प्रतिष्ठित हैं। साक्षीसुपर्णरूप ईश्वरात्मा सच्चिदानन्दलक्षण परिपूर्ण भूमाकाशरूप है, सर्वत्र अविशेष है, साक्षी है। भोक्ता सुपर्णरूप जीवात्मा अविद्या–काम–कर्म्मादि पाप्माओं से आवृत रहता हुआ अपनी उस-आत्मानुगता स्वतःसिद्ध भी पूर्णता से वञ्चित रहता हुआ अल्पाकाशरूप है। इसकी यह कृत्रिम पाप्मानुगता अल्पाकाशता उस दशा में और भी अधिक प्रबुद्ध हो जाती है, जबकि यह अन्तःप्रज्ञानुगति (भूमाकाशात्मिका ईश्वरात्मप्रपत्ति) को छोड़ कर इन्द्रियद्वारा अल्पविषयानुगति में आसक्त हो जाता है। इसके सामने दो मार्ग हैं। विषयात्मक बन कर यह अपने स्वाभाविक भूमाकाश को अल्प बना कर दुःखी बना रहे, यह एक

+ "को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्"।

मार्ग है। ईश्वरात्मा बन कर यह अपने आपको भूमात्मस्वरूप से विकसित करता हुआ नित्य सुखी बना रहे, यह एक मार्ग है। यह स्वयं 'स्व' (आप) है इस स्व का स्व ईश्वरात्मा है। 'अपने आप ही आत्मा अपना बन्धु है अपने आप ही आत्मा अपना शत्रु है। इस वाक्यसन्दर्भ में पठित 'अपने' शब्द जीवात्मा को लक्ष्य बना रहा है एवं 'आप ही' शब्द ईश्वरात्मा की ओर सङ्केत कर रहा है। उस अपने (जीवात्मा) का आपा यही (ईश्वरात्मा) है, यही 'अपने आप' का रहस्य है। 'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए' यहाँ उद्धार करने वाला ईश्वरात्मा है, उद्धरणीय आत्मा जीवात्मा है। 'आत्मानं-आत्मना उद्धरेत्' का—'जीवात्मानं ईश्वरात्मना उद्धरेत्' ही निष्कर्ष है। 'नात्मानमवसादयेत्' का आत्मानं—जीवात्मानं है। 'आत्मैव' से ईश्वरात्माका ग्रहण है। 'आत्मनो बन्धु' के 'आत्मनः' से जीवात्मा गृहीत है। यही ईश्वरात्मा विषयासक्त जीवात्मा का शत्रु है यही ईश्वरात्मा स्वात्मरत जीवात्मा का मित्र है। जिस जीवात्मा ने ईश्वरात्म-विभूतिद्वारा अपने आपको जीत लिया है विषयासक्ति से पृथक कर लिया है उस जीवात्मा का यह ईश्वरात्मा वास्तव में बन्धु (अनुग्राहक–स्वसंस्कारानुसारक) बन जाता है। जो उस ईश्वरात्मा की उपेक्षा कर विषय सम्बन्धों से अपने स्वरूप को अनात्म विषयवत् जड़ बना लेता है उस जीवात्मा पर कभी ईश्वरात्मा का अनुग्रह नहीं होता। अपितु वह इसके साथ शत्रुवत् ही व्यवहार करने लगता है। तत्स्वरूप-ईश्वरात्मा भी भूमा है तदंशभूत जीवात्मा भी स्वस्वरूप से भूमा ही है। परन्तु यह विषयासक्ति से अल्पता में परिणत होता हुआ दुःखी बन जाता है। आत्मभूमा (ईश्वरभूमा) की अनुगति, विषयासक्ति का परित्याग ही इस विषयासक्त आत्मा की अल्पता की निवारिका है। निम्न लिखित वचन इसी रहस्य का विश्लेषण कर रहे हैं—

> उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१॥
> बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥
> अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ गीता ६।५-६।

३६—मानव की सहज आनन्दरूपता—

हृदयनिष्ठ आत्मानन्द ही घनानन्द है इतर आनन्दमात्रा इसी के लोप-भरूपरूप हैं। मात्रानन्दधारा यहाँ स्थूलानन्दरूप में परिणत हो रहा है घनधारा यहां शान्त्यानन्दरूप में परिणत हो रहा है। शान्त्यानन्द आत्मानन्द है स्थूलानन्द विषयानन्द है। विषयानन्द मीमांस्य है वास्तविक–शान्तिलक्षण आनन्द आत्मानन्द है। इसी की प्रतिच्छाया से ऐन्द्रियक विषय आनन्दप्रवृत्ति के कारण बनते हैं। साधारण मनुष्य समझते हैं कि विषय आनन्द के कारण हैं। तथ्य वास्तव में यह है कि आत्मानन्द को भाग रूप से ले कर विषय आनन्दी बन रहे हैं। स्मरण कीजिए,—उस अव्यक्तादि विषयान्त–परम्परा का जिसमें मूलप्रवेशात्मक घनानन्द-मूर्ति उक्थरूप आत्मानन्द के सर्वरूप मात्रामात्रों का क्रमिक अवतरण बतलाया गया है। वैश्वानर तैजस–प्राज्ञमूर्ति भूतात्मा ही जीवात्मा है। यह आनन्द से उत्पन्न होने के कारण आनन्द का स्वाभाविक इच्छुक है। आनन्द इसका अपना स्वरूप है अतएव आनन्दकामना स्वाभाविक है। यावन्मात्र कर्म–विषय भोगादि प्रवृत्तियों में आनन्दकामना ही कारण है। यदि मनुष्य भी आत्मा का स्वरस होता तो उसके लिए भी आत्मा की प्राप्ति देखी सुनी जाती। एक व्यक्ति आत्मभाव में प्रवृत्त होना चाहता है।

आत्मघात-व्यापार महद् भ्यपूर्ण है। क्या यह प्रवृत्ति भी आनन्दमूला है ?, अवश्य। मृत्यु की अपेक्षा यह आत्मघाती जीवनदशा में अधिक दुःख का अनुभव कर रहा है। अतिशय सांसारिक कष्टों से, दुःखों से त्राण पाना ही आत्मघात का निमित्त बन रहा है। आत्मघात में क्षण भर के लिए जो सुख होता है यह जीवन-दुःखों से कहीं श्रेष्ठ है। उसके सामने यह आत्मघात सुखप्रवर्तक बना हुआ है। इसप्रकार यहाँ भी तत्वतः आनन्द ही तत्कर्मप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। आत्मघात में आत्मघाती की इच्छापूर्वक प्रवृत्ति है। परन्तु ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जहाँ अनिच्छापूर्वक भी मृत्यु के लिए पैर बढाने पड़ते हैं। निरपराध को, किंवा सापराध व्यक्ति को वधदण्ड मिलता है। वधस्थल की ओर बधिक उसे ले जा रहे हैं। वह चुपचाप वधस्थल की ओर पैर बढ़ा रहा है, प्रवृत्त हो रहा है। अनिच्छापूर्वक भी क्या प्रवृत्ति सम्भव है ?, नहीं। बिना इच्छा के, कामना के तो कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। वध्य को अनिच्छा को इच्छारूप में परिणत करना पड़ता है–स्वयं वध्य को ही। क्यों ? आनन्द जो प्रवृत्ति का कारण है। क्या वध से उसे आनन्द मिलेगा ? नहीं। तो क्यों वधस्थल की ओर प्रवृत्ति हुई ?, इसलिए कि–वध्य जानता है–यदि वह चुपचाप बिना उपद्रव किए वधस्थान की ओर अग्रेसर न हुआ तो वध से पहिले ही वह भयङ्कर अनुशासन-व्यसन से ताड़ित किया जायगा। इस प्रासङ्गिक दुःख से त्राण पाने के लिए ही यह वधस्थल की ओर अग्रेसर होता है। इसप्रकार यहाँ भी आनन्द ही प्रवृत्ति का कारण बन रहा है। कर्णकर्णिका सुना जाता है–लोग व्यर्थ अपने आपको 'दुःखी' बताया करते हैं और कहा करते हैं कि, हम बड़े दुःखी हैं। उनका उद्गार निस्तत्व है। मनुष्य मनुष्य ही क्या प्राणिमात्र जब तक जीता है, सुख से ही जीता है। उसका जीवित रहना ही इस बात का प्रमाण है कि, उसके हृदय में आनन्द तत्व अभी तक प्रतिष्ठित है। जिस दिन सोपाधिक आनन्दमात्रा निःशेष हो जायगी, उस दिन विशुद्ध निरुपाधिक शान्तानन्द प्रस्फुटित हो जायगा। शरीर का अवसान हो जायगा। इसप्रकार यह सिद्ध विषय है कि, आनन्द ही सर्वविध प्रवृत्तियों का मूलकारण है। यही इस बात का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है कि, हम आनन्दमय हैं, आनन्द ही हमारा स्वरूप है।

३७–भूमा, और अल्पता का तारतम्य––

अल्पता की पूर्णता के लिए कामना का उदय होता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए भी कामना होती है प्राप्त वस्तु की वृद्धि के लिए भी कामना होती है। आनन्दकामना इस दूसरी कोटि से ही सम्बन्ध रखती है। आत्मा पहिले से ही मात्रानन्द से युक्त है। इस अल्पानन्द की पूर्णता के लिए इसकी आनन्द-कामना का अन्यतम मन के द्वारा निर्गमन होता है। यही बात आगे समझने की है। अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ इन ६ आध्यात्मिक पर्वों में से सुखदुःखसमागमभोक्ता जीवात्मा (भोक्तात्मा) प्रज्ञानमन और इन्द्रियवर्ग इन दोनों चौथे-पाँचवें पर्वों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता है। यह स्वाभाविक-प्राकृतिक स्थिति है। प्रज्ञानरूप मन के द्वारा मध्यस्थ भोक्तात्मा की कामना किस ओर जाय ?, यह विचिकित्सा है। दो मार्ग हैं इस मानस कामना के अनुधावन के। बुद्धिरूप विज्ञान की ओर भी कामना का गमन सम्भव है इन्द्रियद्वारा विषय की ओर भी कामनागमन सम्भव है। विज्ञान की ओर यदि कामना जाती है तो मनोद्वारा जीवात्मा को स्वानुरूप ज्ञानानन्द मिल जाता है। क्योंकि मन की अपेक्षा उत्कृष्टतम विज्ञान (बुद्धि) में अधिक आनन्दमात्रा है। यह भूमानन्द कोशगर्भित है। अतएव तद्युक्त मन शान्त बना रहता है। मान लीजिए–मन विज्ञानानन्द की ओर न जा कर इन्द्रियों के द्वारा विषयानन्द की ओर प्रवृत्त हुआ, जो विषयप्रवृत्ति

पार्थिव शरीरापेक्षया भी प्रधान है एवं निगमनद्वारभूत इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण भी सुगम–स्वाभाविक है,–तो इस बहिर्गमन से मनोद्वारा जीवात्मा को तात्कालिक, अल्प ही अल्पानन्द प्राप्त होता है। क्योंकि मन की अपेक्षा स्थूलतरस्थ इन्द्रियों में अल्पानन्दमात्रा है, तदपेक्षया विषयों में तो और भी स्वल्पानन्दमात्रा है। स्थितिलक्षणा तृप्ति अपने से अधिक आनन्द में भूमानन्द में है। अल्पानन्द की मात्रा से युक्त मन इन्द्रियों की स्वल्पानन्दमात्रा को अनुग्रह रूप से ग्रहण करके स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले विषयों में वह भूमा कहाँ, जो स्वापेक्षया भूमानन्दमात्रामय मन को तृप्त कर सके। अभिलषित भूमानन्द की खोज के लिए मन किसी विषय पर गया वहाँ उस अपने से भी स्वल्पानन्द मिला उसे छोड़ कर अन्य विषय का अनुधावन किया वहाँ से भी इसी कारण से निराश लौटना पड़ा। व्यग्रता बढ़ी। विषयानुधावनवेग प्रवृद्ध हुआ, उसी अनुपात से व्यग्रता भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यही मनश्चाञ्चल्य का कारण बनी। गया था मन अभिलषित भूमानन्द लेने पर वह तो मिला नहीं, मिल भी नहीं सकता था। मिला तो क्षोभ मिला, अशान्ति मिली, जिस अशान्ति को विषयानन्दपिपासा 'तृष्णानन्द' कहा करते हैं। जो सर्वथा दुःखमात्रात्मक बनता हुआ अन्ततोगत्वा दुःखानुभूति का ही प्रवर्त्तक बन जाता है। क्यों तो विषयसुखानन्तर अरति उत्पन्न हो जाती है। बुद्धियोगानुगत आत्मा भूमानन्द है यही अमृत है। विषयभोगानुगत आत्मा अल्पानन्द है, विषयानन्द है यही मृत्यु है। दोनों में कौन उपादेय है ?, प्रश्न का उत्तर विवेकियों पर ही निर्भर है। द्वैतानुभूति, नाम–रूप–कर्माभिन्न नानात्वभावनिबन्धना विषयासक्ति ही अल्पता है यही मर्त्यभाव है। अद्वैतानुभूति ही भूमा है, यही अमृतभाव है +।

३८–आत्मानुगत त्यागलक्षण धीरोदकमार्ग—

उक्त आनन्दस्वरूपमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मूलभवेशरूप आत्मानन्द की प्राप्ति ही दुःखात्यन्तनिवृत्ति का अन्यतम उपाय है। बिना उसके योग के दुःखात्यन्तनिवृत्ति असम्भव है। इसका हमें यह तात्पर्य समझना कि, मात्रानन्दात्मक विषयों का आसक्तिरूप से परित्याग कर देना चाहिए। विषयपरित्यागपूर्वक इन्द्रियसंयम के द्वारा मन का बहिर्गमन रोक देना चाहिए। इसप्रकार सर्वप्रथम इन्द्रियसंयमद्वारा बाह्यतम अर्थों (विषयों) का अर्थसंयमद्वारा मन का संयम करना चाहिए। मन को विज्ञानात्मा में विज्ञानात्मा को महानात्मा में महानात्मा को अव्यक्तात्मा में लीन कर देना चाहिए। सर्वान्त में रह जाएगा शान्तात्मरूप पुरुषात्मा। उसमें जीवभाव का अन्तर्भाव कर देना चाहिए। यही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का एक बुद्धिगम्य–श्रेयस्कर यह उपाय है जिसे 'इन्द्रियभावसंयमयोग' कहा गया है जिसे विज्ञानभाषा में 'धीरोदर्कमार्ग' कहा जाता है। विषयों के परित्यागपूर्वक उत्तर–उत्तर

---

*–पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ २।१।१)

+–"यत्र नान्यत् पश्यति–शृणोति–विजानाति–स भूमा। अथ यत्रान्यत्–पश्यति–शृणोति–विजानाति–तदल्पम्। यो वै भूमा, तदमृतम्। यदल्पं–तन्मर्त्यम्"।
–छां० उ० ७।२४।१।

महदात्मपर्व का पूर्व-पूर्व शान्तात्मपर्व में संयम करते हुए अन्ततोगत्वा अव्यक्तात्मा में लीन हो जाना ही नित्यानन्दप्राप्ति का एक उपाय है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

वीर्योदर्कमार्ग—यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ॥
(अव्यक्तनिष्ठा) ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१॥

—कठ० १।३।१३।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥२॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥३॥

—कठ० ६।१०,११,।

अशब्द-मस्पर्श-मरूप-मव्ययं तथाऽरसं-नित्यमगन्धवच्च ॥
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥४॥

उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! ! प्राप्य वरान्निबोधत ! ! !
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥५॥

—कठ० १।३।१५,१४,।

'न विचेष्टते'-'स्थिरामिन्द्रियधारणाम्'-'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्' इत्यादि वाक्य वीर्योदर्क (वीर्यपरिणाम) का ही समर्थन कर रहे हैं। निवृत्तिपथ ही इस उदर्क का निष्कर्ष है जिसमें क्रमशः सब का परित्याग करते हुए अन्त में निर्विशेषभाव की प्राप्ति है। इस मार्ग के पथिक योगी लोकव्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अपितु लोक-सम्प्रदाय से निवृत्त-शून्य अरण्यों में अभ्यासयोगपूर्वक योगपद्धतियों का अनुगमन करते हुए शरीरमात्रोपजीवी बने रहते हुए अन्त में निर्वाणपद प्राप्त कर अपने आपको मुक्त कर लेना ही इस मार्ग का प्रधान पुरुषार्थ है। संसार को ऐसे योगियों से कोई लाभ नहीं है। साथ ही मार्ग भी सर्वसाधारण के लिए अगम्य है, क्योंकि विषयों का परित्याग कर देना सुगम नहीं है। साथ ही परित्याग की भावना कर पुनः मनसा भी उनका संस्मरण कर लेना पूर्वस्थिति से भी अपने आपको गिरा लेना है। इसी लिए ऋषिगण (महर्षि) इसे क्षुरस्य धारा-निशिता दुरत्यया कहा करते हैं। गीताशास्त्र ने भी निम्न लिखित शब्दों में इस वीर्योदर्कपथ का समर्थन किया है—

(१)—योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥२॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥३॥

—गीता० ६।१०,११,१२,

(७)—सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥१॥

—गीता० ८।१२।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥२॥

—गीता० १२।५।

* * * *

३६—अव्ययात्मानुगत उपनिषत्सम्मत भूमोदर्कमार्ग—

तृतीय है—भूमोदर्कमार्ग। किसी के भी परित्याग की आवश्यकता नहीं है। केवल उस में सदा आत्म भावना—दृष्टि का अनुगमन अपेक्षित है। विषयानन्द हो, अथवा आत्मानन्द, सर्वत्र आनन्द स्वरूपतः में आनन्द ही है। आनन्दरूपेण वही आत्मा विश्व है, दृश्य है। वही विषयी है, द्रष्टा है। विश्व को विषयदृष्टि से न देख कर आत्मानन्ददृष्टि से देखिए। इसके अतिरिक्त जिस मात्रानन्दरूपक की तथा अध्यात्मसंस्था में है, आधिदैवत में है, अधिभूतसंस्था में भी जो वह संस्था विद्यमान है। जिस विश्व को हम सर्वथा बद्ध समझते हैं, उसमें भी मात्रानन्द और भवानन्द दोनों के रूप प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि आगे स्पष्ट किया जाने वाला है। जिस इन्द्रियमय आनन्दमात्रा से जब तक युक्त रहेंगे, तभी तक अतृप्ति रहेगी। यहाँ स्वयं विषयगर्भीभूत भवानन्दलक्षण आत्मानन्द पर दृष्टि गई नहीं कि तृप्तिभाव उदित हुआ नहीं। जब में ग्रहण कीजिए, परन्तु आत्मदृष्ट्या। लोकसंग्राहक अव्ययात्म कर्मों का अनुगमन कीजिए, परन्तु आत्मसमर्पणलक्षण बुद्धियोग के द्वारा। सर्वत्र समदर्शनपूर्वक होने वाला विश्वदर्शन विषयलोकात्मक रहता हुआ भी निर्विषयक बना रहता है। यही प्रवृत्तिमार्ग में निवृत्ति की प्राप्ति है, यही बुद्धियोगपथ है, यही गीताप्रतिपाद्य है, यही भूमोदर्कपथ है, जिसका विश्लेषण ही इस परीक्षाखण्ड का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

४०—सच्चिदानन्दब्रह्म के तीन विवर्तभाव—

प्रासङ्गिक आनन्दमीमांसानन्तर पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया है कि ब्रह्म के सत्–चित् पर्वों की भाँति आनन्दपर्व भी आयतन–भूत–मनिता रूप के लिए अवस्थानुकूल तत्त्व है। इस आनन्दतत्त्व के भी सत् चित–पर्वों की भाँति आत्मानन्द, स्वानन्द, परानन्द, भेद से तीन ही विवर्त हैं। इन्द्रियानुगत–आगन्तुक विषयानन्द परानन्द है, यही अनुकूलवेदनात्मक सुख है, इसे ही हमने पूर्व में स्थूलानन्द कहा है। ईश्वरप्रसादात्मक जीवात्मानुगत जीवनवृत्तिनिमित्त सर्वसंस्थापक—स्वरूप आनन्द स्वानन्द है। एवं कैवल्यरूप पुरुषात्मक भवानन्द आत्मानन्द है। आत्मानन्द भूमानन्द है, यही शान्तानन्द है, नित्यानन्द है। शान्तानन्दरूप आत्मानन्द, एवं स्थूलानन्दरूप विषयानन्द (परानन्द) दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित स्वानन्दलक्षण जीवात्मा यदि भूमानन्दरूप आत्मानन्द का अनुगामी है, तो इसका स्वानन्द आत्मानन्दरूप में परिणत हो जाता है। यदि विषयानन्दरूप

समष्ट्यानन्द का अनुगामी है, जो यही स्वानन्द परानन्दरूप में परिणत हो जाता है। आत्मानन्द ही मात्रा–भरा–क्रम से स्वानन्द बना है। आत्मानन्द ही मात्रारूप से परानन्द बना है। तत्त्वतः आनन्दत्वेन तीनों एक ही आनन्द हैं। एवं तीनों का शान्ति–समृद्धिरूप से हमें अनुभव होता रहता है। स्वस्थदशा की शान्ति आत्मानन्दानुभव है। चित्तपरितोषजनिता समृद्धि का अनुभव विषयानन्दानुभव है। यही ब्रह्म के आनन्दपर्व के साक्षात् दर्शन हैं। यही आनन्दपर्व की सर्वानुभूति का संक्षिप्त निदर्शन है।

सर्वत्र 'अस्तित्व का बोध आप प्राप्त कर रहे हैं'। यही सच्चिदानन्द के दर्शन हैं। 'अस्तित्व' 'सत्' है, बोध चित् है, प्राप्त वस्तु रसात्मक आनन्द है। इस दृष्टि से क्या आप ब्रह्म के साक्षात्रूप से दर्शन नहीं कर रहे?, अवश्य कर रहे हैं। सत्–चित्–आनन्द, तीनों के तीनों पर्व परस्पर समन्वित हैं। परसत्ता, परज्ञान, परानन्द, यही विश्वात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म है। स्वसत्ता, स्वज्ञान, स्वानन्द तीनों की समष्टि जीवात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म है। आत्मसत्ता, आत्मज्ञान, आत्मानन्द, तीनों की समष्टि ईश्वरात्मक सच्चिदानन्द ब्रह्म है। सच्चिदानन्देश्वरलक्षण ही अधिदैवतसंस्था का अध्यक्ष है। सच्चिदानन्दजीव ही अध्यात्मसंस्था का अध्यक्ष है। सच्चिदानन्दशिपिविष्ट ही अधिभूतसंस्था का अध्यक्ष है। इसप्रकार एक ही सच्चिदानन्दघन निष्कल पुरुष अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, रूप से तीन विवर्तभावों में परिणत हो रहा है। अधिभूत विश्व जगत् है, अध्यात्मविश्व जीव है, अधिदैवतविश्व ईश्वर है। यही विशिष्टाद्वैतवादियों का विशिष्टाद्वैत है, जो इस लौकिक दृष्टि से मान्य कहा जा सकता है *। यही तत्त्वत्रयी विज्ञानभाषा में 'त्रिसत्याद्वैतवाद' नाम से प्रसिद्ध हुई है।

---

*–इत्थं स्वरूपात् पृथगस्ति विश्वं जीवात्मकसृष्टानि जगन्ति सन्ति ॥
जीवा जगन्मूलतया च सन्ति प्रभुश्च तेषामयमीश्वरोऽस्ति ॥१॥
जडात्म, जीवात्म, तथेश्वरात्म, त्रिभिर्विशिष्टं यदिहैकरूपम्–॥
तद्ब्रह्म, तच्च द्विविधं परं चापरं च नातः परमस्ति किञ्चित् ॥२॥

सच्चिदानन्दब्रह्मणो–विवर्तमाला –(सर्वं वेद सर्वम्–इति ब्रह्मविदः प्राहुः)

[illegible] (left vertical label)

१
१–आत्मसत्ता (निरपेक्षप्रतिष्ठा–'सत्ता'–ईश्वरानुगता) (अधिदैवतम्)
२–स्वसत्ता (सापेक्षप्रतिष्ठा——'भूति'–जीवानुगता) (अध्यात्मम्)
३–परसत्ता (सापेक्षप्रतिष्ठा——'विभूति'–विषयानुगता) (अधिभूतम्)
} सत् (१)

२
१–आत्मज्ञानम् (निरपेक्षचेतना–'महत्-ज्ञानम्'–ईश्वरानुगतम्)–अधिदैवतम्
२–स्वज्ञानम् (सापेक्षचेतना–'विज्ञानज्ञानम्' जीवानुगतम्)–(अध्यात्मम्)
३–परज्ञानम् (सापेक्षचेतना–'प्रज्ञानज्ञानम्'–विषयानुगतम्)–(अधिभूतम्)
} चित् (२)

३
१–आत्मानन्दः (निरपेक्षरस–'शान्ति'–ईश्वरानुगता)–अधिदैवतम्)
२–स्वानन्दः (सापेक्षरस–'आनन्दः'–जीवानुगत)–अध्यात्मम्)
३–परानन्दः (सापेक्षरस–'समृद्धि'–विषयानुगता)–(अधिभूतम्)
} आनन्द (३)

(१) ईश्वरविवर्त —
१–आत्मसत्ता (सत्)
२–आत्मज्ञानम् (चित्)
३–आत्मानन्दः (आनन्दः)
} ईश्वरः–इति अधिदैवतम्

(२) जीवविवर्त —
१–स्वसत्ता (सत्)
२–स्वज्ञानम् (चित्)
३–स्वानन्दः (आनन्दः)
} जीव–इति अध्यात्मम्

(३) जगद्विवर्त —
१–परसत्ता (सत्)
२–परज्ञानम् (चित्)
३–परानन्दः (आनन्दम्)
} जगत्–इति अधिभूतम्

"तस्मात्–युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततं, आत्मानं मय्यधीश्वरे" ॥
श्रीमद्भागवत ११।७।९

सैषा–जगज्जीवेश्वराख्या त्रयाणामेषाम्–ऐक्यभावना
(सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिसञ्चरविदः प्राहुः) ।

४१–एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म—

सर्वानुभूत सच्चिदानन्दब्रह्म ही निष्कल ब्रह्म है, जिसका सर्वारम्भ में उपक्रम किया गया है। "वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान सभी को आनन्दी बनाता है" यह वाक्य ही सच्चिदानन्दब्रह्म की सर्वानुभूति का स्पष्टीकरण कर रहा है। यह निष्कल ब्रह्म ही विश्व का प्रधान आरम्भक माना गया है। कौनसा सच्चिदानन्द ? । प्रश्न इसलिए हुआ कि पूर्व में निरपेक्ष, सापेक्ष–भेद से इसके तीन विवर्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। वस्त्वानुगत सच्चिदानन्द (आध्यात्मिक), एवं विश्वानुगत सच्चिदानन्द (आधिभौतिक), दोनों ही सापेक्ष हैं, दोनों ही उद्बुद्ध हैं, अनुभूत हैं। निरपेक्ष ईश्वरानुगत सच्चिदानन्द विश्वोपहित है, शेष दोनों विषयावच्छिन्न हैं। विषयावच्छिन्न उद्बुद्ध सच्चिदानन्द केवल व्यष्टिरूप तत्(विश्व का आरम्भक बनता है, समष्टिरूप यथयावत् विश्वों का नहीं। घट का अस्तित्व ज्ञान, रस (आनन्द) पट के अस्तित्वादि से विभिन्न है। घटाभाव में भी पट का अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है। पट के अस्तित्व का, घटानुगत सच्चिदानन्द का घटाभिनय में कोई सम्बन्ध नहीं है। घटविषयक विद्यमान सच्चिदानन्द घट का आरम्भक है पटविषयक विद्यमान सच्चिदानन्द पट का आरम्भक है। अतएव विषयावच्छिन्न–सोपाधिक–नामरूपकर्मानुग्राहक–सापेक्ष–उद्बुद्ध इन सच्चिदानन्द को सम्पूर्ण विश्व का, समष्टि का यथयावत् व्यष्टियों का आरम्भक नहीं माना जा सकता। विश्वोपहित–निरुपाधिक–नामरूपकर्मातीत–निरपेक्ष–अनुद्बुद्ध सच्चिदानन्द ही समष्टि का आरम्भक बन सकता है। यदि यह न रहे, तो कोई भी तत्वत् पदार्थ न रहे। यही भात्यस्ति है, यही अभात्यस्ति है, सर्वत्र एकरसरूपेण व्याप्त है। अस्ति 'नास्ति' सर्वत्र उस का साम्राज्य है। घटसत्ता घट में ही है, घटाभाव, किंवा पटाभाव में घटसत्ता नहीं है। परन्तु यह सामान्य सत्तासत्ता घट में भी है घटाभाव में भी है, पटाभाव में भी है। सर्वत्र एकरसरूप से व्याप्त रहने के कारण ही तो यह अनुद्बुद्ध सच्चिदानन्दब्रह्म 'निष्कल' कहलाया है। नाम–रूप [illegible] कलाभाव के प्रवर्तक हैं। यह इनसे अतीत, अतएव निष्कल है। अतएव इसका 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म–नेह नानास्ति किञ्चन' यह लक्षण किया जाता है।

४२–सजातीय–विजातीय–स्वगत–भेदशून्य अखण्ड–अद्वय–ब्रह्म—

सजातीय, विजातीय, स्वगत तीनों भेदों से यह अतीत है। नानारूप कलाभावों से यह असंस्पृष्ट है अतएव 'एकम्'–'एव'–'अद्वितीयम्' ये तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। एक आम्रवृक्ष अन्य आम्रवृक्ष से विभिन्न है, यही सजातीयभेद है। आम्रवृक्ष कटहल से विभिन्न है, यही विजातीयभेद है। एक आम्रवृक्ष के आम्र–मूल, आम्रशाखा प्रशाखा, मञ्जरी, पत्र, फल, आदि परस्पर भिन्न हैं, यही स्वगत-(अपने आप में रहनेवाला)-भेद है। *मनुष्य–मनुष्य का भेद सजातीयभेद है, मनुष्य–पशु का भेद विजातीयभेद है,* एक ही मनुष्य शरीर में रहने वाला हस्त–पाद–उदर–उर–शिर–कर्ण–नासिका–आदि भेद स्वगतभेद है। व्यापक ब्रह्म जैसे अन्य और किसी ब्रह्म का अभाव है इसलिए यह सजातीयभेदशून्य है। नाहीं ऐसे ही व्यापक अन्य स्वरूपयुक्त किसी अन्य व्यापक ब्रह्म की सत्ता है, अतएव यह विजातीयभेदशून्य है। इसमें स्वयं में भी अवयवाभाव है, अतएव यह निष्कल है अतएवच स्वगतभेदशून्य है। 'एकम्' विशेषण सजातीयभेद का, 'एव' विशेषण विजातीयभेद का, एवं 'अद्वितीयम्' विशेषण स्वगतभेद का व्यावर्तक बन रहा है।

४३–स्वगतभेदमूला आपत्ति, और तन्निराकरण—

माना कि, ब्रह्म सजातीय, विजातीयभेदशून्य है, परन्तु इसे स्वगतभेदशून्य कैसे कहा जा सकता है ?, जब कि इसके–'सत्–चित्–आनन्द' ये तीन अवयव हैं, अंश हैं। अतएव इसे निष्कल भी क्यों कर माना जा सकता है ? । प्रश्न का उत्तर भातिभाव पर निर्भर है। सत्ताभेद का नियामक भातिभेद नहीं, अपितु सत्ताभेद माना गया है। एक ही व्यक्ति अपेक्षया अपने पुत्र का पिता, पिता का पुत्र, सेवक का स्वामी, स्वामी का सेवक, व्यापकत्व का व्याप्यव्यापक आदि अनेकरूप से प्रतीत हो रहा है। इन अनेक भाति–भेदों के रहने पर भी सत्तानुगत ऐक्य सुरक्षित है। पाञ्चभौतिक वस्तु को सूक्ष्म-स्थूल (रूप)–अणु–मिट्टी–पानी–अग्नि–वायु–आकाश–प्राण–मन–विज्ञान–आनन्द–सभी दृष्टियों से देखा जा सकता है। सब का मान सापेक्ष है। क्योंकि पूर्व–पूर्व भाति का आधार उत्तर उत्तर भाति बन रही है। एक ही वाक्यसत्ता पटल पर वृक्ष-लतादि अनेक भातियाँ प्रतिष्ठित हैं। इन अनेक भातियों के रहने पर भी सत्तैक्यात् वस्तु एक ही कहलाता है। भातिभेद कभी भेदक नहीं बनता। भेदक बनता है एकमात्र सत्ताभेद यही निष्कर्ष है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। सत्–चित्–आनन्द ये तीन सत्ता नहीं हैं अपितु एक ही तत्त्व की तीन भातियाँ हैं। वही सत्–चित्–आनन्द, इन भावों से प्रतीत हो रहा है। सत्ता एक है अतएव भातित्रय के रहने पर भी स्वगतभेद को अवसर नहीं मिलता। आम्रफल–आम्रमञ्जरी–आम्रपत्रादि हैं उसी आम्रवृक्ष में परन्तु सब की सत्ता विभिन्न है। अतएव फल–मञ्जरी–पत्रादि का पृथक् रूप से ही उद्भव होता है, नाश भी हो जाता है इनमें वृक्ष का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। अतएव इसे स्वगतभेदयुक्त माना जा सकता है। परन्तु चित् सच्चिदानन्दब्रह्म का अस्तित्व अधारसापेक्ष है अभिन्न है जो स्वयं ही दृष्टिभेदविशेष से सत्–चित्–आनन्द–रूप से प्रतीयमान हो रहा है जिसकी तीनों प्रतीतियाँ अभिन्न हैं, एक प्रतीति के अभाव में तीनों अप्रतीत हैं उस ब्रह्म में स्वगतभेद कैसे माना जा सकता है। त्रिपुटी (इलायची) का उदाहरण इससे अधिक स्पष्टीकृत है। पुट तीन हैं इलायची एक है। भाति तीन हैं, सत्ता एक है। अतएव यहाँ स्वगत् सर्वात्मना अनुपपन्न है।

४४–सत्–चित्–आनन्द–भातियों की अभिन्नता—

तीनों भातियों की अविनाभूतता का भी समन्वय कर लीजिए। पहिले तीनों के अन्योऽन्याविनाभाव पर दृष्टि डालिए। 'अस्ति–अतः वेत्ति'–'है–इसलिए जानता है' इस वाक्य में वेत्ति रूप चित् अस्ति से अविनाभूत है। यदि अस्ति नहीं है, तो वेत्ति भी नहीं है। 'वेत्ति–अतः–अस्ति'–'जानता है–इसलिए वह है' इस वाक्य में अस्तिरूप सत् वेत्तिरूप चित् से अविनाभूत है। यदि चित् नहीं है, तो सत् भी नहीं है। यावदस्ति, यावद्वेत्ति स रसः–'जो है जिसे जानता है वही रस है' इस वाक्य में रसरूप आनन्द अस्ति-रूप सत् वेत्तिरूप चित् दोनों से अविनाभूत है। यदि सत्–चित् नहीं है तो रसानन्द भी नहीं है। इस प्रकार तीनों का स्वरूप एक दूसरे पर आश्रित है। यह तभी सम्भव है जब कि तीनों एक ही तत्त्व की तीन भातियाँ हों।

तीनों की अभिन्नता का भी समन्वय कर लीजिए। (१)–यदस्ति तज्जानाति स रसः–'जो है उसी का ज्ञान है जिसका ज्ञान है–वही रसानन्द है', यह वाक्य त्र्यंशात्मक तीनों की अभिन्नता का समर्थक है। 'अस्ति' सत् है। तज्जानाति रूप से यह अस्तिलक्षण सत् भी चित् है। तेन तृप्ति रूप से अस्तिलक्षण सत्–

ज्ञान ही सद्रूप आनन्द है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द–तीनों सद्रूप हैं। (२)–'यज्ज्ञायते–तदस्ति–स रस'–'जो जाना जाता है, वही है, जो जाना जाता है, जो है, वही रसानन्द है', यह वाक्य चिदपेक्षया तीनों की अभिन्नता व्यक्त कर रहा है। 'ज्ञायते' चित् है। उपस्थितिरूप से यह ज्ञानलक्षण चित् ही सत् है। तेन तृप्तिरूप से चित्लक्षण–ज्ञान ही चिद्रूप आनन्द है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द, तीनों चिद्रूप हैं। (३)–'यो रसः–सोऽस्ति तं जानाति'–'जो रस है वही है, वही जाना जाता है' इस वाक्य से रसापेक्षया तीनों की अभिन्नता प्रमाणित हो रही है। 'यो–रस' आनन्द है। 'रसोऽस्ति' रूप से यह रसलक्षण आनन्द ही अस्तिरूप सत् है। रसलक्षण अस्ति का ही ज्ञान है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द, तीनों आनन्दरूप हैं। अनुभव भी इसी अभिन्नता का पोषण कर रहा है। (१)–है, उसे ही जानते हैं, जिसके अस्तित्व का ज्ञान है, वही तुष्टिलक्षण आनन्द का कारण है। कारण क्या है, उस अस्तित्वलक्षण बोधप्राप्ति का ही नाम तृप्ति है। अस्तित्वबोध के प्रस्फुरित होते ही बुभुक्षा शान्त हो जाती है तृप्ति का उदय हो जाता है। (२) जानते हैं वही है। जो जानते हैं वही ज्ञानतत्त्व तृप्तिलक्षण आनन्द है। (३)–वस्तुतत्त्व ही रस है यही आनन्द है। इस रस का ही अस्तित्व है इसी का बोध है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से सच्चिदानन्दभावों की अभिन्नता के दर्शन किए जा सकते हैं।

अन्योऽन्याविनाभावदृष्टिस्वरूपम्—

अस्तीति यद्वेत्ति—चिदपेक्षानुगामिनी—सत्ता
वेत्ति–यतोऽस्ति——रसापेक्षानुगामिनी–चेतना
योऽस्ति यं वेत्ति——ज्ञानापेक्षानुगामी-आनन्दः
}—सच्चित्त्वमन्योऽन्याविनाभावम्

* * *

(१) सदनुगता–अभेददृष्टि—

१–यदस्ति (सदपि सत्)—सत्यैव सत्
२–तज्जानाति (ज्ञानमपि सत्)—सत्यैव चित्
३–स रस (रसोऽपि सत्)—सत्यैव आनन्द
}—सदभिन्न सच्चिदानन्दः (सद्ब्रह्म)

* * *

(२) चिदनुगता–अभेददृष्टि—

१–यज्ज्ञायते (ज्ञानमपि चित्)–चिदेव चित्
२–तदस्ति (सदपि चित्)–चिदेव सत्
३–स रस (रसोऽपि चित्)–चिदेव आनन्द
}—चिदभिन्न सच्चिदानन्द (चिद्ब्रह्म)

* * *

(३)–आनन्दानुगता–अभेददृष्टिः—

१–यो रस	(रसोऽपि रसः)—रस एव आनन्दः	—आनन्दात्मिका सच्चिदानन्द (आनन्दमय)
२–सोऽस्ति	(सदपि रसः)—रस एव सत्	
३–स जानाति	(चिदपि रसः)—रस एव चित्	

• • •

अयमत्र संग्रह —

अविनाभावः-अस्तीति सत्,–अथ वेत्यतोऽस्ति, यो विषयं वेत्ति स च रसः सः ॥
अथ प्रियो नोऽस्ति–सन्ततलिप्सा, ज्ञानं प्रियो नोऽस्ति सदा बुभुत्सा ॥१॥
बोध्यं सुखं, यत्तु सदस्ति बोध्यं, बोध्यं च बोधादपृथक् प्रबुद्धम् ॥
ज्ञानं सुखं, नास्ति हि वस्तुसत्त्वम्, तस्मात् पृथक्–नास्तिवराभिमानि ॥२॥
त्रिभ्यश्च पश्यामसिदं समग्रं नातस्तुर्यं किमपीह लोके ॥
अन्योऽन्यमेषामपृथक्त्वमीक्षे नैकं विनाऽन्यत् क्वापि सिद्ध्येत् ॥३॥

• • •

अभिन्नभाव -भात्यास्तिरसं खलु, भातिरस्त्या, ताभ्यां रस, स्त्र च रसेन सिद्धे ॥
एतौ न पूर्वापरभावसिद्धिगत्या यथा योगविभागसंस्था ॥१॥
यथोपलब्धिर्यदिहास्ति, यतोपलभ्यते यदिहास्ति सदा ॥
यद्भातिसिद्धाऽस्ति,–रसास्तिमिश्रा भाती, रसस्तूभयसिद्ध एव ॥२॥
न भातिशून्यास्ति,–रसास्तिशून्या न भाति,–ताभ्यां न विनाकृतो वा ॥
रसोऽपि शश्वत्; मतं तदेकमप्याकृतं व्याक्रियते त्रिधा यत् ॥३॥

अस्तीति बोधोऽपि च, सोऽस्ति, बोधो रसः, स बोधोऽपि च बोद्धृ–भाव्य ॥
रसोऽस्मि मयापि रसो, न चान्यदन्यामय, तेन तदेकसत्यम् ॥४॥

१	(१) अस्ति इति बोधस्वरूपम्–अस्तीत्येवं ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनाभूता सत्ता
	(२) बोधः–अस्ति———सदिदं ज्ञानं सत्तावत्	सत्तयानुगृह्यते ज्ञानम्	सत्तयाप्यविनाभूतं ज्ञानम्
२	(३) रसः–इति बोधस्वरूपम्–रस इति कृत्वा ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनाभूतो रसः
	(४) बोधो, बोद्धा बोध्य इति रसः–सदिदं ज्ञानं रसः	रसेनानुगृह्यते ज्ञानम्	रसेनाप्यविनाभूतं ज्ञानम्
३	(५) रसः–अस्ति———सत्ताधारः कश्चिदस्ति	सत्तयानुगृह्यते रसः	सत्तयाप्यविनाभूतो रसः
	(६) सत्ता–रसः———ज्ञानक्रियालम्बनत्वात्	रसेनानुगृह्यते सत्ता	रसेनाप्यविनाभूता सत्ता

• • •

४५–'अस्ति', 'उपलब्धि', और 'तत्त्वभाव' का समन्वय—

सत् 'अस्ति' है, चित् 'उपलब्धि' है, आनन्द 'तत्त्वभाव' है। तत्त्वभावोपलब्धिरूप अस्तित्व ही सच्चिदानन्दब्रह्म है। अस्तिभावोपलब्धिरूप तत्त्वभाव (सच्चिदानन्दभाव) ही प्रसाद का कारण है। अस्ति-भाव से सर्वमहित है। यही सच्चिदानन्दब्रह्म की साक्षात् दृष्टि है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

> नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
> 'अस्ती' ति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥
> 'अस्ती' त्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥
> 'अस्ती' त्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२॥

—कठोपनिषत् ।१२।१३।

१–अस्ति——सत्
२–उपलब्धि–चित्
३–तत्त्वभाव–आनन्द

}–अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः
"अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति"

• • •

४६–गीता का 'समभाव', और 'ऐकान्तिकरस'–

उक्तरूप सच्चिदानन्दलक्षण–ऐकान्त्य–निरपेक्ष–यही निष्कलभाव गीतापरिभाषा में–'समभाव'–'ऐकान्तिकरस' इन दो नामों से व्यवहृत हुआ है। सर्वत्र समरूप से व्याप्त गुणातीत भाव ही समभाव है। यह विशुद्ध रसात्मक है, अतएव इसे 'ऐकान्तिकरस' नाम से व्यवहृत करना भी अन्वर्थ बनता है। सत्यासत्य, क्षराक्षर, मूर्त्तामूर्त्त निरुक्तानिरुक्त, अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत, सर्वत्र यह समभाव से व्याप्त है। बिना इसके क्योंकि कोई भी सापेक्ष विषय अपनी सापेक्ष सत्ता नहीं रख सकता, अतएव सर्वथा असङ्ग भी यह निष्कलभाव सब का आरम्भक मान लिया जाता है। अलक्ष्यत्वाधिष्ठित ही इसका आरम्भकत्व है। सर्वकलारहित विशुद्ध रस ही इसका प्राकृतिक रूप है जिस शुद्ध रस की सत्-चित्-आनन्दरूप से व्याप्ति होती है। रसतत्त्व ही सत्ता का जनक है। रसतत्त्व रसस्वरूप से आनन्द बनता हुआ निष्कल है। आनन्द–प्रवृत्त रस को सत्ता–स्वरूप में परिणत करने वाला मूलबुद्धधन लक्षण सर्व बन ही है। बल नहीं, तो सत्तामात्र नहीं। सत्तामात्र नहीं, तो रूपाभाव नहीं। अतएव सर्वबलोपहित विशुद्ध रसतत्त्व को अवश्य ही निष्कल कहा जा सकता है।

४७–प्रसङ्गानुगत 'आभू', और 'अभ्व' तत्त्व–

प्रकरण से आरम्भ कर अब तक केवल सत्–चित्–आनन्दमय रसतत्त्व का ही निर्वचन हुआ है। इसी की सर्वव्याप्ति का उपोद्घात हुआ है। इसकी आरम्भकता भी केवल अलक्ष्यत्वाधिष्ठितरूप स्वीकृत हो गई है। यह सर्व व्यापक है असङ्ग है निरञ्जन है निरुपाधिक है, परिपूर्ण है, निष्काम है। उसमें कहीं अभाव नहीं, एतावता ही उसे आरम्भक मान लिया जाता है। वस्तुतः 'आरम्भक' शब्द का जो उपादान–अर्थ लोक–वेद में प्रसिद्ध है उस उपादानात्मक आरम्भकभाव से तो उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। व्यापकत्वेन जब वह सर्वात्मक है तो उसका कामना से क्या सम्बन्ध ? क्योंकि कामना अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही हुआ करती है। यह सम्भव है कि, कार्य्यात्मक विश्व में जो अपरिवर्त्तनीय–सामान्य–नित्यभाव है, उसका यह रसतत्त्व कारण हो, परन्तु प्रतिक्षण विलक्षण क्षणिक क्रियाभावों का क्रियाकूटात्मक गुणों का गुणकूटात्मक द्रव्यों का एवं तद्रूप अनित्यभावों का तो यह कथमपि उपादान नहीं बन सकता। वैज्ञानिकोंने इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सर्व कार्य्य के मूलकारण का अनुमान लगाया, एवं उसे बल नाम से व्यवहृत किया। साथ ही यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, कार्य्यात्मक विश्व में समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा परिवर्त्तनीय दो विरुद्ध भावों का एकत्र समन्वय हो रहा है अतः मायामयात्मक कार्य्यरूप विश्व का मूल भी मायामयात्मक ही होना चाहिए, क्योंकि–कारणगुण ही कार्य्यगुण के आरम्भक बना करते हैं। परिवर्त्तनीय भाव का परिवर्त्तनशील मूलकारण ही 'बल' कहलाया, एवं अपरिवर्त्तनीय कार्य्यभाव का अपरिवर्त्तनशील मूलकारण ही 'रस' कहलाया। रस 'आसमन्तात् भवति' निर्वचन से 'आभू' कहलाया बल–अपने विकृतभाव से 'अभवन्–भवति' निर्वचन से 'अभ्व' कहलाया। बलात्मक अभ्व नामरूपकर्म्मात्मक सर्वकार्य्य का कारण बना एवं रसात्मक आभू 'अस्ति' लक्षण उपादान (सोपाधिकता) का आधार बना। इसप्रकार निष्कल रसनिरूपण के साथ साथ बल–रस द्वयरूपता इसी प्रसङ्ग में हमारे सम्मुख और उपस्थित हो गई।

* 'ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे (नामरूपे)'

४८—प्रमानुगत वाक्यार्थबोध का समन्वय—

बलभाव की स्वीकृति से स्वगतभेद का प्रश्न उपस्थित होना चाहिए था, परन्तु नहीं होता। कारण सद्-चित्-आनन्द—तीनों जैसे मातिसिद्ध बनते हुए स्वाद्वैत पर कोई आक्रमण नहीं करते एवमेव मातिसिद्ध बल भी सर्वैक्यात् स्वगतभेद को अवसर नहीं देने पाता। सर्व कार्य्य के कारणभूत इस बल को सुषुप्ति जागृति स्थिति इदुमन्थि ये चार अवस्थाएँ रहती हैं। सुषुप्तिदशा में यच्चयावत् बल रससमुद्र में विलीन रहते हैं। एतदवस्थापन्न रस ही बलोपहित रस कहलाता है। इसी को निष्कलब्रह्म माना गया है। बल है अवश्य। बल सत्ता रस को छोड़ कर जायँगे भी कहाँ? परन्तु रससमुद्र में निमग्न हैं सुप्त हैं। अतएव क्रियाप्रवृत्ति का अभाव है। अतएव च रहते हुए भी बल की उसी प्रकार इस सुप्तदशा—अकम्पस्वरूपता में अविवक्षा कर ली जाती है जैसे परकर्म्मयोगस्पर्शविरहित सत्—वस्तु की स्थिति अभावात्मिका मान ली जाती है। जिसका जो कर्म्म है, वह यदि उसे नहीं करता, तो उसका रहना न रहना ही माना जाता है। अथवा रहते हुए भी बुद्धबल की उसी प्रकार अविवक्षा कर ली जाती है जैसे वाक्यार्थबोध—प्रसङ्ग में वाक्यार्थबोध के समन्वय के लिए अपने ज्ञान में विद्यमान भी घटत्व की अविवक्षा कर 'घटे घटत्वम्' का 'घटत्वोपहिते घटे घटत्वम्' इस रूप से वाक्यार्थबोध कर लिया जाता है। सिद्ध विषय है कि घट में अवश्य ही घटत्व रहता है। यदि घटत्व ही न रहेगा, तो घट कहाँ रह पाएगा। बात तो ठीक है। परन्तु इसे शब्दद्वारा कहा कैसे जाय?। 'घटे घटत्वम्' क्या यह कहा जाय? कह भले ही दिया जाय परन्तु वाक्य अशुद्ध होगा, अभीष्टार्थसिद्धि न होगी। क्यों?। इसलिए कि— 'घटे' का अर्थ होगा 'घटत्वविशिष्ट घटे'। क्योंकि घटत्व के बिना घट शब्द ही अनुपपन्न है। उधर घटत्व घट में रहता है घटत्व घटत्व में नहीं रहता—'सामान्ये सामान्याभावः'। मनुष्य में मनुष्यत्व रहता है, मनुष्यत्व में मनुष्यत्व क्या रहेगा, और कैसे रहेगा? ऐसी स्थिति में 'घटे घटत्वम्' का स्वतःसिद्ध जो—'घटत्वविशिष्टे घटे घटत्वम्' यह अर्थ होगा वह अन्यथा तत्वदृष्टया अनुपपन्न बन जायगा। क्योंकि घटत्वविशिष्ट घट में घटत्व तो पहिले से ही विद्यमान है। फिर उसमें और घटत्व क्या रहेगा। इस अड़चन को दूर करने के लिए तार्किकोंने विद्यमान भी घटत्व की स्वबुद्धि में अविवक्षा मान कर 'घटत्वोपहिते घटे घटत्वम्' यह वाक्यार्थ—समन्वय कर लिया है। ठीक यही व्यवस्था यहाँ समझिए। रस घटस्थानीय है बल घटत्व स्थानीय है। घट जैसे बिना घटत्व के अनुपपन्न है, एवमेव रस भी बिना बल के अनुपपन्न है। ऐसी स्थिति में 'रसे बलत्वम्' का 'बलत्वविशिष्टे रसे बलत्वम्' यह वाक्यार्थ होना चाहिए, किन्तु यह अनुपपन्न है। अतएव इसका 'बलत्वोपहिते रसे बलत्वम्' इसप्रकार समन्वय कर लिया है। तात्पर्य्य—तत्वदृष्ट्या यद्यपि रस बल दोनों का सापेक्ष्य है, तथापि सिद्धान्तविद अपने ज्ञान में बल की अविवक्षा कर शुद्ध रस की भावना कर ली जाती है। बलरहित यह शुद्ध रस ही, जिसे पूर्वकथनानुसार हम उन्मुख सच्चिदानन्दब्रह्म कहेंगे—निष्कलब्रह्म है। 'रसो वै सः' ही इसकी परिभाषा है, 'एव शब्द' ऐकान्तिकभाव का ही सूचक है।

४९—नेति—नेतीत्युपनिषत् का समन्वय—

तादृश सच्चिदानन्दब्रह्म की सर्वसामान्यानुभूता प्रसक्ति का पूर्व में निरूपण हुआ है और तत्-प्रकरण में ही यह बतलाया गया है कि—आकाश—शुद्ध—वनिता—सब का ब्रह्म के तादृश स्वाभाविक उत्कर्ष रूपी के प्रत्यक्ष—दर्शन हो रहे हैं। क्या लौकिक—भौतिक—विषयानुभवी की भाँति इस ब्रह्मानुभूति का भी वाणी के द्वारा (शब्दों में) अभिनय सम्भव है?, प्रश्न का समाधान —'नेति—नेतीत्युपनिषत्' (श्रुति) ही माना

गम्य है। "जब किसी भी स्वकल्पना-कल्पित सिद्धान्त के समर्थन के लिए इन केवलतत्त्ववादी-विज्ञानशून्य भारतीयों को कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता तो ये उसे ही-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय-शब्दातीत-कहते हुए उपरत बन जाते हैं जो कि वस्तुतः इन का पलायनवादात्मक पक्ष ही माना जायगा", इसप्रकार भारतीय तत्त्वसम्मत अनिर्वचनीय, किन्तु स्वानुभवैकगम्य ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में बहुभूतविज्ञानवादियों का जो विज्ञान-सम्मत (!) आक्षेप व्यक्त होता रहता है तत्सम्बन्ध में भारतीय आर्षप्रज्ञा के कोष में इसलिए कोई समाधान नहीं है कि निरानदभिनिवेश से समुत्पन्न इसप्रकार के आक्रोश, एवं तदनुगत देशकालगत लोकानुभव (मूढ़ानुभव) दृष्टि से भी कोई महत्त्व नहीं रखते। अतएव सर्वथा वास्तविकता से समन्वित इनमूलक आक्षेपों की सत्यासत्यस्मृति सर्वथैव व्यर्थजामा है। हाँ, जो वास्तविकता के उपासक हैं, जो दिग्देशकालातीत ब्रह्मतत्त्व की अखण्डव्यापकता से सुपरिचित हैं उन्हें इस दिशा में न कभी सन्देह हुआ न हो सकता। क्योंकि वे जानते हैं कि जब कि गुड़-शर्करा इक्षु-मधु-आदि भौतिक पदार्थों के सर्वथा विभिन्न मधुर-मधुरभावों के तारतम्य भी वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किए जा सकते। केवल रसनेन्द्रिय ही इनके माधुर्य-तारतम्य का अनुभव कर सकती है तो फिर मूलतत्त्व सम्पूर्ण विषयों का आधार है जिसको आधार बनाए बिना कोई भी अनुभूत व्यक्त नहीं हो सकती निरपेक्षानुभवैकगम्य उस स्वानुभवैकगम्य ब्रह्मानन्द का शब्द-द्वारा कैसे अभिनय सम्भव है। 'नेति-नेति' ही उसके अभिनय की आधारभूमि है।

'नेति नेति' का यथार्थ ज्ञान लेना भी आवश्यक है। सच्चिदानन्दब्रह्म के निरपेक्ष सापेक्ष, रूप दो विभाग स्वीकार गए हैं। निरावरण विशुद्ध रसात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म निरपेक्ष है विश्वपरिवेष्टित बलरसात्मक सच्चिदानन्द ब्रह्म सापेक्ष है। जो कुछ प्रतीत होता है वह सापेक्षब्रह्म है। जो इन्द्रिय-प्रतीति से बहिर्भूत है वह निरपेक्ष है। 'नेति-नेति' सापेक्ष दोनों का संग्राहक बना हुआ है। प्रत्येक भौतिक विषय पर, नामरूपकर्मात्मक पदार्थ पर दृष्टि डालते जाइए, और साथ ही न-इति-न-इति बोलते जाइए। निरपेक्ष पर दृष्टि चली जायगी। 'न पदार्थोऽपि न पदार्थोऽपि न, अपितु विश्वातीत-अवाङ्मनसगोचर-अनिर्वाच्य-निरपेक्षविषय' ही 'न इति-न-इति'-अनुगमात्मक। न-न करते जाइए, विश्वसम्बन्धात्मक आपकी तत्त्वभावना अवरुद्ध होजायगी। वही निरपेक्षब्रह्म होगा। इसप्रकार 'नेति-नेति' वाक्य का निषेधात्मक अर्थ निरपेक्षब्रह्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। दूसरा दृष्टिकोण नेति की नीति से सम्बन्ध रखता है। निरपेक्षवादेन वहीं सर्वत्र सम्पूर्ण है। वहीं भी उसका अभाव नहीं है। 'नास्ति' (विद्यमान) रूप से सर्वत्र वही प्रतीत होता है। नहीं। इसे कहना स्वानुभवगम्य ब्रह्म वास्तविक निर्वचन है। अभावात्मक रूप का सद्रूपसमर्थन माना गया है। अभावात्मक शब्दमात्र का वाचक है। नकार का प्रकार सर्वव्याप्ति का समर्थन है। न-इति न-इति (सर्वत्र) ही दूसरे दृष्टिकोण का समन्वय है। 'यह नहीं है' यह बात नहीं है ऐसा सर्वनिषेध नेति-नेति का अर्थ है जिसका पर्यवसान निरपेक्ष है-सर्वात्मक।

सत्यदर्शन होता है-सापेक्ष सच्चिदानन्द का। इस प्रकार मे विश्व और विश्वातीतभूत सच्चिदानन्द दो रूपों का समन्वय है। इनमें से विश्व का तो सत्यनिर्वचन सम्भव है, परन्तु विश्वातीतभूत सच्चिदानन्द का अनुभवद्वारा ग्रहण है। इसका स्वरूपनिर्वचन करना असम्भव है। कारण स्पष्ट है। वह सभी स्वरूप से अतीत बना हुआ निरपेक्ष ही अभिन्न है। हमारा मन्तव्य भी स्थूल एवं परिच्छिन्न इन्द्रियों से सम्बद्ध। और वह सर्वोपरि। इन्द्रियजन्य वस्तुविज्ञान का स्वरूप किन बातों से हो कैसे करें। वह स्वतः

व्यापक धर्म में हमारी बुद्धि–मन–इन्द्रिय सब में व्याप्त है, परन्तु बुद्धि-मन-इन्द्रिय उसमें व्याप्त नहीं है। वह हममें अवश्य है, हम उसमें नहीं हैं। प्रत्येक तरङ्ग में समुद्र व्याप्त है, परन्तु तरङ्गें तो सम्पूर्ण समुद्र की इयत्ता नापने में असमर्थ हैं। तरङ्गें अवश्य सामुद्र हैं किन्तु समुद्र तारङ्ग नहीं है–'सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः'। मैं अवश्य उसका हूँ, परन्तु वह मेरा (ही) नहीं है। व्यापक अवश्य व्याप्यों में रहता है, परन्तु व्याप्य व्यापक का वहन नहीं कर सकते। वह सर्वात्मना एक परिच्छिन्न व्यक्ति में नहीं समा सकता–'न त्वहं–तेषु'। व्यक्ति अवश्य ही सर्वात्मना उस व्यापकधर्म में प्रविष्ट है–'ते मयि'। अपिच–मान लेते हैं–सोपाधिक ब्रह्म की हमें अनुभूति है। फिर भी उस घटत्वव्यावृत्त के निर्वचन के लिए शब्द कहाँ प्राप्त करें। घट का घट शब्द से इसलिए निर्वचन होजाता है कि, घट शब्द घटेतर पटादि पदपदार्थ शब्दों का व्यावर्त्तक है। प्रत्येक शब्द की सङ्केतितपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही शक्ति रहती है। घट इसलिए घट है कि, वह पट नहीं है। पट इसलिए पट है कि, वह घट नहीं है, परन्तु जो घट–पट–मठ–कृष्ण–पीत–हरित–नील–सब कुछ है उसके लिए 'सर्वम्' (जो सर्वम्–नेति नेति का ही रूपान्तर है) के अतिरिक्त और क्या कहा जासकता है। इसी घटत्वव्यावृत्ति से वह अनिर्वचनीय है। हम सोपाधिकरूप से उसका अपने अन्तर्जगत् में अनुभव कर रहे हैं, इसलिए हमारे मुख से-'नहीं जानते' भी नहीं निकलता। उसका स्वरूप से निर्वचन करने में हम असमर्थ हैं इसलिए 'जानते हैं' भी नहीं कहा जासकता। जानते हुए भी नहीं जान रहे, कैसा आश्चर्य है। वह जानना भी क्या जानना है, जिसे जान कर हम अपने आपको ही भूल जाँय–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। अतएव अन्ततोगत्वा श्रुति के 'नेति नेतीति होवाच' आदेश पर ही विश्राम करना पड़ता है, जिस विश्रामभूमि का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है–

> संविदन्ति न यं वेदा, विष्णुर्वेद, न वा विधिः।
> यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

५०–अवाङ्मनसगोचर अविज्ञेय ब्रह्म—

अनुभूत आत्मविषयिणी हो, अथवा लोकविषयिणी, अनुभूति अनुभूति है रसात्मिका है। रस तत्त्व अपने रूपसे ब्रह्म है। अतः उसका निर्वचन असम्भव है। तिक्त-कटु अम्ल-लवण-मधुर-स्वादों की अनुभूति अनुभूति पर विश्रान्त है। इसका शब्द–द्वारा निर्वचन असम्भव है। द्राक्षा, शर्करा इक्षु, शर्करानगद (मिश्री) आदि सभी तो मधुर रस हैं। सबका स्वाद पृथक् पृथक् रूप से अनुभूत होता है। क्या आप उन मधुर-रसों पृथक् स्वादों की पृथगनुभूति का शब्दद्वारा निर्वचन कर सकेंगे। कृष्णमरीचिका, हरितमरीचिका, रक्तमरीचिका आदि के तिक्तस्वादों से अनुभूत होने वाले पार्थक्य का क्या आप स्पष्टीकरण कर सकते ?। असम्भव। विशुद्ध रसानुभूति में आकर यह तत्त्व उस निर्विशेष रस से अभिन्न बन जाता है। अतः उसका निर्वचन असम्भव बन जाता है। सच्चिदानन्दब्रह्म सर्वानुभूत है फिर भी उसका यदि कोई स्वरूपलक्षण पूँछता है तो उससे पहिले विषयस्वादों का निर्वचन कराना चाहिए। यदि वह उनका निर्वचन कर देगा तो हम भी ब्रह्म के स्वरूपनिर्वचन के असम्भव-प्रयास में प्रवृत्त होने की धृष्टता कर लेंगे। भला जब हम इन्द्रियसापेक्ष विषयानुभूतियों का भी स्वरूपनिर्वचन नहीं कर सकते, तो फिर उस निष्कल निरञ्जन, निर्धर्मक, निष्क्रिय, निर्विशेष दिग्देशकाल से अनन्त, किन्तु संख्या में एक, रसैकघन, उन्मुग्ध सच्चिदानन्दब्रह्म का निर्वचन कभी कर ही सकता है। अतएव इसे अवाङ्मनसगोचर अनिर्वचनीय, एवं अविज्ञेय कहा गया है।

५१-निष्कलब्रह्म, और तदनुगत प्रवचन—

उक्त लक्षण निष्कलत्वेन सर्वविशेषणातीत निष्कल ब्रह्म के दो विवर्त भावों की ओर वैज्ञानिकों ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। बलोपहित निष्कलब्रह्म प्रथम विवर्त है एवं बल-विशिष्ट निष्कलब्रह्म द्वितीय विवर्त है। वस्तुगत्या दोनों का स्वरूप अभिन्न है। केवल बल-दृष्टि से तारतम्य है। उसी को विशुद्ध रसरूप से देखना एक दृष्टिकोण है, यही बलोपहित निष्कलब्रह्म है। उसी को बलाविशिष्टरूप से देखना एक दृष्टिकोण है यही बलविशिष्ट निष्कलब्रह्म है। प्रथम विवर्त विज्ञानभाषा में 'निर्विशेष' कहलाता है गीताभाषा में यही 'ऐकान्तिकसुख' नाम से व्यवहृत हुआ है। द्वितीय विवर्त विज्ञानभाषा में 'परात्पर' कहलाता है यही गीताभाषा में-'शाश्वतधर्म्म' कहलाता है। स्मरण कीजिए, हमने पूर्व में (६० पृष्ठ पर) बल की सुप्ति जागृति स्थिति, प्रभृति भेद से चार अवस्था बतलाईं हैं। वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया है कि, रसगर्भ में बल जब सुप्त हो जाते हैं तो विशुद्ध रस का साम्राज्य रह जाता है। और ऐसे बल का रहना न रहने के समान है। यही पहली निर्विशेषावस्था है। बल सुप्तावस्था को छोड़ कर जागरावस्था में तो आगए, परन्तु अभी न तो इनकी स्थिति हुई, न जन्म हुआ अपितु बल स्वस्वरूप अवस्थामात्र से युक्त हैं। स्वस्वरूपसम्बन्धानुगत बल स्थिति एवं जन्मलक्षणा कर्मभिसम्बन्धा से असंस्पृष्ट रहते हुए सत्ताभिसम्बन्धा से एकान्ततः बहिर्मुख हैं। स्वरूपावस्था ही बलों की जागरावस्था है। जागरावस्थायुक्त सर्वबलविशिष्ट सत्ताभिसम्बन्धा बहिर्मुख रस ही परात्पर है। बल ही रस का 'स्व' लक्षण धर्म्म है। अतएव परात्पर को सर्वधर्म्मविशिष्ट कहा जा सकता है। अतएव विज्ञान-प्रधान गीताशास्त्र ने इसे 'शाश्वतधर्म्म' नाम से ही व्यवहृत करना न्यायसङ्गत माना है। तुलया प्रदर्शित बलाविनाभावेन जो तत्त्व निर्विशेष है बलात्मना वही तत्त्व परात्पर है। निर्विशेष बलानपेक्ष है, परात्पर बलापेक्ष है। तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर दोनों का ऐक्यभाव सुरक्षित है। अतएव दोनों को दो न मान कर हम 'निष्कल' रूप से एक ही नाम से उनका ग्रहण कर रहे हैं। यही निष्कल निर्विशेषावस्था अनारम्भक है परात्परावस्था अविज्ञानात्मक आरम्भक है। परात्पर का रसभाग विश्वव्यापकता का आरम्भक है, परात्पर का बलभाग विश्वसर्वस्व का आरम्भक है। यही निष्कल परात्पर महतोमहीयान् है यही अणोरणीयान् है। रसात्मना यही महतोमहीयान्रूप भूमा है। बलात्मना यही अणोरणीयान्रूप अणिमा है। जो भूमा है वही अणिमा है। जो अणिमा है, वही भूमा है। भूमाख्य भी अनन्त है, अणिमाख्य भी अनन्त है। सर्वथा अलक्षण इसी परात्पर को हम प्रकृत प्रकरण का निष्कल नामक प्रथम आरम्भक कहेंगे—जो बलाविच्छिन्न नित्या शान्ति को अपने गर्भ में रखता हुआ भी बलविशिष्ट नित्या शान्ति की अपेक्षा आपूर्य्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ है। इस लिए आत्मतत्त्व की उपासना करने वालों ने इसी निष्कल परात्पर को 'ब्रह्मवन' नाम से व्यवहृत किया है*—

जब परात्पर में बल जागरावस्थापन्न है, एवं बलाभिव्यक्ति का ही नाम कल कहा है, तो परात्पर को निष्कल कैसे माना गया?, यह स्वाभाविक प्रश्न है। स्वाभाविक उत्तर भी स्पष्ट है। कलाभिव्यक्ति स्थितिभाव पर निर्भर है। स्थितिभाव जन्मभाव पर निर्भर है। जन्मभाव हृदयभाव पर निर्भर है। हृदयभाव सीमाभाव पर निर्भर है।

---

*—ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः, ब्रह्माध्यतिष्ठद्-भुवनानि धारयन् ॥
—तै०ब्रा० २।८।९।

जब कि परात्पर असीम है, तो ये सम्पूर्ण निर्भरतायें उसके गर्भ में ही विलीन हो जाती हैं। बलों की चिति, क्रिया ग्रन्थिबन्धन तो तभी सम्भव है जबकि संचरभाव से प्रवाहित बलों को एक दूसरे से टकराने का अवसर मिले। व्यापक परात्पर में ऐसा अवसर मिलना असम्भव है। अतएव चिति भी असम्भव है। अतएव च उसका कलाभाव से सम्बन्ध नहीं होता।

५२–महाकाल परमेश्वर की सर्वारम्भकता—

निष्कल परात्पर ही आगमभाषा में 'महाकाल'–परमेश्वर' कहलाया है। इसी के लिए श्रुतियों में पदे पदे 'अभयं वै ब्रह्म' इत्यादिरूप से 'अभय' नाम प्रयुक्त हुआ है। यह विश्वातीत, परात्पर–परमेश्वर एक है इसके गर्भ में अनन्त (असंख्य) ईश्वर उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जैसे एक एक ईश्वर के गर्भ में असंख्य जीव प्रतिष्ठित हैं। जीवों का परमेश्वर ईश्वर है, ईश्वरों का परमेश्वर परात्पर है। सर्वबलविशिष्टरसमूर्ति परात्परका बलभाग 'मृत्यु' है यही 'मर्त्य' है। रसभाग 'अमृत' है यही 'अभू' है। बल संख्या से अनन्त (असंख्य) किन्तु दिग्देशकाल से सादि सान्त परिच्छिन्न हैं। रस संख्या से एक, किन्तु दिग्देशकाल से अनन्त–अपरि-च्छिन्न है। रस एकान्ततः अपरिवर्तनशील है स्थितिलक्षण है। बल परिवर्तनशील हैं गतिलक्षण हैं। रस नित्य है, सत्लक्षण है आनन्दरसैकघन है पूर्ण है। बल अनित्य हैं, त्यलक्षण हैं, दुःखं–दुःखं हैं,[१] शून्य-शून्य हैं। रस ब्रह्म है, बल कर्मलक्षण कर्म है। रसब्रह्म को प्रधान मानने वाला ब्रह्मानुयायी वर्ग 'ब्राह्मण' है। बलश्रम को प्रधान मानने वाला श्रमानुयायी वर्ग 'श्रमणक' है। अस्तिरूप रसब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण 'आस्तिक' कहलाए हैं। 'नास्ति' रूप बलश्रम के अनुयायी श्रमणक 'नास्तिक' कहलाए हैं। इसप्रकार परात्पर के अस्ति, नास्तिरूप से दो प्रकार के दर्शन हो रहे हैं। इसी आधार पर भारतीय आत्मदर्शन आस्तिकदर्शन, नास्तिकदर्शन भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है, जिसका भूमिका के 'आत्मपरीक्षा-खण्ड' में विस्तार से विश्लेषण किया जाचुका है। पूर्वप्रपञ्च का निष्कर्ष यही निकलता है कि, सर्वबलविशिष्ट अक्षरब्रह्म–ब्रह्म परात्पर का ही नाम निष्कलब्रह्म है, जिसकी निर्विशेष, परात्पर, इन दो विवर्त्तरूपों से भावना की जा सकती है। यही पहिला निष्कल नामक आरम्भक है।

५३–सर्वबलविशिष्ट परात्परब्रह्म, एवं सर्वबलोपपन्न पुरुषब्रह्म—

जिस निष्कल परात्परब्रह्म का पूर्व में निरूपण हुआ है, उसीके आगे चलकर सर्वबलविशिष्ट, सर्व-बलोपपन्न, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। जिसप्रकार उन्मुग्धरसमूर्ति सच्चिदानन्दब्रह्म के सर्वबलविरहित सर्वबलविशिष्ट, ये दो रूप क्रमशः निर्विशेष, परात्पर, नाम से व्यवहृत हुए हैं। एवमेव परात्परब्रह्म के उक्त दोनों विवर्त्त क्रमशः परात्पर, पुरुष, नाम से व्यवहृत हुए हैं। जैसे निर्विशेष और परात्पर तत्त्वतः अभिन्न बतलाये गए हैं, एवमेव परात्पर, और पुरुष भी तत्त्वतः अभिन्न ही हैं। इसी आधार पर परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' यह निगम व्यवस्थित हुआ है। पुरुष अवश्य उससे अभिन्न रहता हुआ परात्पर है, परन्तु स्वयं परात्पर अपने व्यापक स्वरूप से (सर्वबलविशिष्टरूपसे) कभी पुरुष नहीं है। इस मौलिक दृष्टिकोण को आधार बना कर ही 'षोडशी' नामक द्वितीय आरम्भक की मीमांसा करनी चाहिये।

५४–नव (९) अवस्थात्मक पञ्चतत्त्व—

रसैकघन परात्परब्रह्म में जिस क्षणिक बल का अवस्थान बतलाया गया है असृसरत के तारतम्य से उस बल की ९ अवस्था हो जाती हैं, एवं वे ९ अवस्था यत्र तत्र उपनिषदों में– १–शान्तिः, २–तुष्टि,

३–प्रमादः, ४–माया, ५–कला, ६–गुणाः ७–विकारः, ८–अञ्जनम् ९–आवरणम्' इन नामों से प्रसिद्ध हुई हैं। इनमें से ३-३ का एक एक स्वतन्त्र विभाग है। प्रथमत्रयी में रस का प्राधान्य है द्वितीयत्रयी में रस–बल का साम्य है तृतीयत्रयी में बल का प्राधान्य है। रसप्रधाना प्रथमा त्रयी 'अमृतम्' है, इसका निष्कल परात्पर से सम्बन्ध है। समप्रधाना द्वितीया त्रयी 'अमृतमृत्यू' है, इसका षोडशी से सम्बन्ध है। बलप्रधाना तृतीया त्रयी 'मृत्यु' है इसका प्रतिमायोक्षरी से सम्बन्ध है, जैसा कि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट है—

१
१–शान्तिः (सुप्तबलम्) तद्युक्तो शुद्धरसः
२–तृप्तिः (स्वप्नबलम्) बलस्पर्शानुगामी रसः
३–प्रसादः (जाग्रद्बलम्) बलविशिष्टरसः
—निर्विशेष — परात्परः
—अमृतम् (निष्कलः १)

२
१–माया (चित्याधारबलम्)–तद्युक्तोऽव्ययः—पुरुषः } सत्यसत्यम्
२–कला (चितिबलम्)–तद्युक्तोऽक्षरः–पराप्रकृतिः
३–गुणः (चिद्बलम्)–तद्युक्तः क्षरः–अपराप्रकृतिः } सत्यम्
—अमृतमृत्यु (षोडशी२)

३
१–विकारः (ग्रन्थ्याधारबलम्)–तद्युक्तो विश्वसृट्–ब्रह्मप्रजापतिः
२–अञ्जनम् (ग्रन्थिबलम्)–तद्युक्त पुरञ्जनम्–विराट्प्रजापतिः
३–आवरणम् (सूत्रबलम्)–तद्युक्तं पुरम्–विश्वप्रजापतिः
मृत्यु (प्रतिमायोक्षरी ३)

५५–षट्–बलपरिग्रहात्मक आत्मन्वी प्रजापति—

उक्त नवों अवस्थाओं में से शान्ति, तृप्ति, प्रसाद, ये तीन अवस्थायें जो अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–अविशेष–सर्वबलविशिष्ट परात्परब्रह्म निष्कलात्मा से युक्त रहती हुई अचिन्त्य हैं। शेष ६ जो अवस्थायें मायोपाधि के सम्बन्ध से चिन्त्य हैं। इन तीनों का 'आत्मा' से सम्बन्ध है इन ६ का 'आत्मन्वी' से सम्बन्ध है। रसप्रधान तत्त्व 'आत्मा' कहलाता है। बलप्रधान–परिग्रहविशिष्ट तत्त्व 'आत्मन्वी' कहलाता है। आत्मन्वी ही विज्ञानभाषा में 'प्रजापति' कहलाता है। शान्त्यादि तीनों कलायें बलसमेत परिग्रहधानीया बनती हुई भी अचिन्त्य होने से अपरिग्रह हैं। अतः तद्युक्त निष्कल परात्पर को आत्मा ही कहा जायगा। मायादि छह

ये अवस्थाएँ ही वास्तविक परिग्रह हैं। अतः तद्विशिष्ट आत्मा (रस) को ही आत्मन्वी (प्रजापति) माना जायगा। यही निष्कल परात्पर मायादि ६ परिग्रहों के कारण षट्संस्थ बन जाता है, जैसा कि अग्रिम परिच्छेदों से स्पष्ट हो रहा है।

५६–'माया' परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

सबसे पहिला मायापरिग्रह है। जिस निष्कल परात्पर में प्रतिक्षण विलक्षण बल का समन्वय बतलाया गया है, वह बल 'कोशबल मात्राबल,' भेद से दो भागों में विभक्त है। कोशबल १६ हैं इन कोशबलों के गर्भ में प्रतिष्ठित मात्राबल असंख्य है। अनन्त मात्राबलों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले कोशबलों में १५ अभिव्यञ्जक हैं, ये सृष्टिसाक्षी बनते हैं। एवं १ कोशबल विद्याबल है और वह मुक्तिसाक्षी बनता है। विज्ञान भाषा में ये १६ हों बलकोश क्रमशः—विद्या मायादि नामों से प्रसिद्ध हैं जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१—विद्या (१)	२—माया (२)		१०—सत्यम् (१)	
इमे केवलबलाः	३—जाया ( )	६—हृदयम् (१)	११—यज्ञम् (२)	१४—वयः (१)
	४—धारा (३)	७—भूति (२)	१२—अभ्वम् (३)	१५—वयोनाधः (२)
	५—आपः (४)	८—यक्षः (३)	१३—लोक (४)	१६—वयुनम् (३)
	इति समीचीनानि—चत्वारि—अन्यानि	९—सुम्नम् (४)	इति समीचीनानि—चत्वारि—अन्यानि	इति समीचीनानि—त्रीणी अन्यानि
		इति समीचीनानि—चत्वारि—अन्यानि		
१	४	४	४	३
* बलकोशाः				

*—इन सोलहों बलकोशों का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड में देखना चाहिये। यहाँ विस्तारभय से केवल इनके नाम ही उद्धृत कर दिये गये हैं।

१-विद्याकलम् (विभिन्नभावानामेकत्वसम्पादिनी विद्या, ततो ग्रन्थिबन्धविमोकलक्षणा मुक्तिः)।

२-मायाकलम् (एकस्यानेकत्वसम्पादिनी माया, ततः सीमाभावप्रवृत्तिः)।

३-आपाकलम् (अन्यभावप्रवर्तिनी आपा ततः—अद्भुत)।

४-धाराकलम् (बलप्रवाहसम्पादिनी धारा ततः—बलसञ्चर)।

५-आपोकलम् (मध्यमभावप्रवर्तिका:-आपः ततो बलसम्प्राप्तिः)।

६-हृदयकलम् (सत्त्वभावप्रवर्तकं-हृदयम् ततो बलसंग्रहः)।

७-मूर्तिकलम् (वित्त-पशु प्रजा-गोत्र-देवाभिवर्द्धिनी मूर्तिः ततोऽभिवृद्धिर्बलानाम्)।

८-पाककलम् (मोक्षमार्गसमन्वयकर्त्ता पाकः ततो बलानामात्मसात्करण)।

९-सूत्रकलम् (स्थिरभोग्येषु भोक्तुरासक्तिप्रवर्तकं सूत्रम् ततो—बलानां बलेषु ग्रन्थिः)।

१०-सत्यकलम् (ज्ञानक्रियार्थसंयोजकं सत्यम्, ततो नामरूपप्रतिष्ठा)।

११-यज्ञकलम् (कामात्मिकाभिव्यक्तेः प्रवर्तकं यज्ञम्, ततो बलानामभिव्यक्तयः)।

१२-अभ्वकलम् (अमृते मृत्युप्रवेशार्थं बलमभ्वम् ततोऽसतः सद्रूपेणावभानम्)।

१३-मोहकलम् (अभावे भावबुद्धिप्रवर्तको मोहः ततो बलानामध्यासः)।

१४-वयोकलम् (द्रव्यगुणकर्मप्रवर्तकं वयः ततो भावप्रतीतिः)।

१५-वयोनाधकलम् (भावानां सीमाप्रवर्तको वयोनाधः, ततः—आकारप्रतीतिः)।

१६-वयुनकलम् (ज्ञाने विषयसंसर्गप्रवर्तकं वयुनम्—ततः—भूतप्रतीतिः)।

\+ \+ \+

शान्ति, दृष्टि, प्रथम इन तीन अविभक्त भावावरणों का तो मुक्तिप्रवर्तक विद्याकल से सम्बन्ध है। एवं शेष मायादि षड्-परिग्रहों का शेष माया-आपादि पञ्चदश अविद्याकलों से सम्बन्ध है। इन १५ अविद्या-कलों में से प्रथम धारा-आदि चौदह अविद्याकल मायाकल के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन पञ्चदशकल कोशों में मायाकलकोश ही सर्वप्रधान माना गया है। परात्परसमुद्र में ऐसे असंख्य मायाकलकोश हैं—जिन प्रत्येक मायाकलकोश में अनन्त मायाबलगर्भित चतुर्दश चतुर्दश अविद्याकोश प्रतिष्ठित हैं। परात्पर के जिस प्रदेश में मायाबल का उदय होता है तत्प्रदेश सीमित हो जाता है। मायासीमित मायी वही परात्पर सर्वबलोपपन्न परात्पर कहलाया है जो मायातीत सर्वबलविशिष्ट निष्कल परात्पर से अभिन्न है। इसप्रकार अमायी, मायी भेद से एक ही परात्पर के सर्वबलविशिष्ट निष्कल परात्पर, सर्वबलोपपन्न निष्कल परात्पर, ये दो विवर्त हो जाते हैं। और इन दृष्टियों से दोनों निष्कल परात्पर समतुलित हैं। अन्तर केवल यही है कि, मायातीत परात्पर केवल परात्पर है एवं वह संख्या में एक है। परन्तु मायी परात्पर मायापुर के सम्बन्ध से 'परात्परपुरुष' है, एवं मायाबलरूप से यह अनन्त (असंख्य) है। अमायी परात्पर 'ब्रह्मन्' है मायी परात्परपुरुष अव्यय है, जिसे 'महत्स्वरूप' कहा गया है, एवं जिसका महिमपरीक्षा उपक्रमखण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है एवं जिसका निम्न लिखित शब्दों में उपवर्णन हुआ है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

मायाप्रकृतिमात्र से युक्त मायी परात्पर क्योंकि स्वस्वरूप से निष्कल है, वैविध्य का अभाव है, अतएव यह 'अव्यय' नाम से व्यवहृत हुआ है। कलाभाव कलाचिति पर निर्भर है, कलाचिति हृदयकलासापेक्ष है। हृदय अक्षरव्यापारसापेक्ष है। यह ठीक है कि, मायाबल के सम्बन्धमात्र से तत्परिच्छिन्न मायी पुरुष में हृदय-कलानुगत अक्षरव्यापार आरम्भ हो जाता है। चिति का उपक्रम हो जाता है, तथापि इस व्यापार से प्रथमावस्थापन्ना, मायोदय से उत्तरावस्थापन्ना निर्माणात्मिका, अतएव कलाभिन्ना चिति से असंस्पृष्टा जो परात्परावस्था है, उसे निष्कल ही माना जायगा। यही निष्कल परात्परपुरुष इसी कलाभावविधा से एकत्व रखता हुआ 'न वैविध्यमेति' निर्वचन से 'अव्यय' कहलाता है। यही आगे जाकर हृदयलक्षण अक्षरव्यापार का आधार बनता हुआ कलाकर्मप्रवृत्ति का कारण बनता है। दूसरे शब्दों में विशुद्धमायात्मक (ज्ञानात्मक) इसी निष्कल अव्यय से कला नाम के दूसरे परिग्रह से कलाकर्म का उपक्रम होता है। कलानुगता माया बलमाया कहलाई है। खण्ड-अखण्डभिन्न माया उस आदिमाया से युक्त रहती है, अतएव इन्हें 'योगमाया' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। इन अनन्त योगमायाओं का आधार आदिमाया है, वह इन सब की अपेक्षा महती है अतएव उसे 'महामाया' कहना अन्वर्थ बनता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, सर्वकलाविशिष्टरसमूर्ति अमायी-असीम निष्कल परात्पर के अनिर्दिष्ट किस प्रदेश में माया परिग्रह का उदय हुआ। वह मायामय सर्वकला-रहित, कलाभावयुक्त, अतएव निष्कल-अव्यय नाम से प्रसिद्ध, महामाया सम्बन्ध से 'महेश्वर' नाम से उपवर्णित, कलाकर्मप्रवर्तक अतएव अक्षरपरात्परात्मक तत्त्व ही परात्परपुरुष है, जिसे हम अपनी भाषा में 'परमात्मा' कह सकते हैं। अमायी परात्परापेक्षया मायोपाधिक परमात्मा मायाभेद से अनन्त हैं। उस असीम-विशिष्टरसमूर्ति अमायी परात्पर को एक निःसीम पट समझिए। इस पर बिन्दुरूपापरपर्याय असंख्य परमात्मा समझिए। उदाहरण के लिए एक श्वेत पत्र पर छोटे छोटे वृत्त बना दीजिए। वृत्तभिन्न रेखा है-'रेखा हि पुरः' (शत० ९।१।२।२५) के अनुसार मायाभिन्न-कल्पित-रेखात्मक पुर (सीमा) है। रेखा केवल मायाभिन्न है। व्यावहारिक अपारपारीण उस एक ही अखण्ड अमायी पट का साम्राज्य है। यदि रेखात्मक पुर से अवच्छिन्न इन्हीं पर दृष्टि डाली जाती है तो ये पृथक् पृथक् से प्रतीत होते हैं। पृथक्रूप से प्रतीयमान ये मायोपाधिक परात्परपुरुष ही महेश्वर हैं। निम्न लिखित वचन एवं पठित मायापरिग्रहविशिष्ट इसी निष्कल परात्परपुरुष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

१—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।१।८

२—न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरञ्च ।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥
—कैवल्योपनिषत् २।२३, २४ ।

३—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।१ ।

४—भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ श्वे० उप० ५।१४।

५—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्-विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ श्वे० ६।७।

६—सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ गी० भा० पृ० १।२६।

७—ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ गी० १५।१।

८—उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥—गी० १३।२२।

५७—'कला'—परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

जिस प्रकार निष्कलब्रह्म के सर्वकलाविरहितत्व, सर्वकलाविशिष्टत्व, भेद से 'निर्विशेष परात्पर' ये दो विवर्त हैं। परात्पर नामक निष्कलब्रह्म के सर्वकलाविशिष्ट सर्वकलोपपन्न, भेद से परात्पर, पुरुष (अव्यय) ये दो विवर्त हैं एवमेव सर्वकलोपपन्न पुरुष (परात्परपुरुषरूप महेश्वर) के सर्वकलोपपन्न सर्वकर्मविशिष्ट भेद से दो विवर्त हो जाते हैं। सर्वकलोपपन्न महेश्वर अव्ययपुरुष नाम से प्रसिद्ध है एवं सर्वकर्मविशिष्ट महेश्वर षोडशी नाम से प्रसिद्ध है। षोडशी की ही मायापरिग्रहमायावच्छिन्ना अवस्था अव्ययमहेश्वर है षोडशी की ही कलापरिग्रहावच्छिन्ना अवस्था षोडशीमहेश्वर है। साथ ही यह और ध्यान कर लीजिए कि, परात्पर के गर्भ में परात्परपुरुषरूप जिन असंख्य महेश्वरों की सृष्टि बतलाई गई है, उनमें प्रत्येक में माया-कला-गुण-विकारादि ६ ओं विभिन्न परिग्रहों का वैसा ही समन्वय है जैसा समन्वय प्रकृत में केवल एक मायापरिग्रह से युक्त एक महेश्वर की सत्ता के साथ बतलाया जायगा। अनन्त महेश्वरों में से केवल एक महेश्वर को लक्ष्य मान कर ही हमें आगे की प्राजापत्यसंस्थाओं का समन्वय करना है। प्रमाणी— सर्वकलाविशिष्ट रसमूर्ति निष्कल परात्पर के जिस प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ, तदवच्छिन्न रस मायीमहेश निष्कल अव्यय कहलाया, यहाँ तक एक स्थिति का निरूपण हुआ। अब आगे क्या

(शरीरविशिष्ट आत्मा, प्रजापति) कहलाया। इस से पहले केवल आत्मा ही आत्मा था। माया के अभाव से हृदय, और परिच्छिन्न आत्मा, यथा शरीर, इस द्वैभाव का अभाव था। अमायी में हृदय नहीं था इसका तात्पर्य है–कोई नियत हृदय नहीं था अपितु वह सम्पूर्णरूप से हृदयरूप ही था। महान् और अणु का पार्थक्य न था। जो ही महान् था, वही अणु था। परन्तु मायीपुरुष में केन्द्रावच्छिन्न वही तत्त्व आत्मा बन गया, परिध्यवच्छिन्न वही तत्त्व शरीर (आत्ममहिमा) बन गया। परिधिमण्डल में भी वही रस बल, हृदय में भी वही रसबल, रसबल से अतिरिक्त और तीसरा तत्त्व आयेगा कहाँ से। हृदयावच्छिन्न आत्मरूप रसबलसमष्टिलक्षण तत्त्व ही 'श्वोवसीयस्' नामक मन (अव्ययमन) कहलाया जिसका तैत्तिरीय में– 'तदेतच्छ्वोवस्यस ब्रह्म' (तै० ब्रा० २।२।९।१) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। यही अव्ययमन किंवा अव्ययमनोऽनुगत काममाव सृष्टि का प्रथम 'रेत' माना गया है *।

मायाबल के उदित होते ही हृदयबल उत्पन्न हो जाता है। इस हृदयरूप हृदयबल का ही नाम 'प्रकृति' है। हृदयावच्छिन्न पुरुष स्थितिरूप है, हृदयबलरूपा प्रकृति गतिरूपा है। दोनों सदैव प्रादुर्भूत हैं– 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि–अनादी उभावपि'। गतिरूपा इस प्रकृति के गतितारतम्यभेद से स्थिति, गति, आगति, स्थितिगर्भिता गति, स्थितिगर्भिता आगति, ये पाँच विवर्त हो जाते हैं। पुरुष भी रसबलात्मक है, हृदयबलरूपा प्रकृति भी रसबलात्मिका है। दोनों के स्वरूप में अन्तर यही है कि, पुरुष बलगर्भितरसप्रधान है प्रकृति रसगर्भितबलप्रधाना है। रसप्रधान पुरुष स्थितिप्रधान है, बलप्रधाना प्रकृति गतिप्रधाना है। बलप्रधाना इस प्रकृति में रस और बल दोनों हैं। अतएव आगे जाकर इसके भी दो विवर्त हो जाते हैं। बलगर्भिता रसप्रधाना प्रकृति रसप्रकृति है, रसगर्भिता बलप्रधाना प्रकृति बलप्रकृति है। रसप्रधाना प्रकृति रसप्रधान–पुरुष की अनुगामिनी है बलप्रधाना प्रकृति बलप्रधानपुरुष की अनुगामिनी है। रसप्रकृतिविशिष्ट रसपुरुष मुक्तिप्रवर्तक बनता है, बलप्रकृतिविशिष्ट बलपुरुष सृष्टिप्रवर्तक बनता है।

रसप्रधान वही पुरुष अमृतपुरुष है यही परपुरुष है। बलप्रधान वही पुरुष मृत्युपुरुष है, यही अपरपुरुष है। रसप्रधाना वही प्रकृति अमृता प्रकृति है परपुरुषानुगता वही प्रकृति पराप्रकृति है। बलप्रधाना वही प्रकृति मर्त्यप्रकृति है अपरपुरुषानुगता वही प्रकृति अपराप्रकृति है। इसप्रकार रस–बल के तारतम्य से बलप्रधाना–गतिलक्षणा प्रकृति के परा अपरा भेद से दो विवर्त हो जाते हैं। जो पञ्चगति-विभाग पराप्रकृति के हैं वे ही अपरा के हैं। जो नाम पराप्रकृति के पञ्चविभागों के हैं, वे ही नाम अपरा-विभागों के हैं। गतिरूपातिरिक्त स्थिति नामक प्रथम विभाग ब्रह्मा नाम से गतिविभाग इन्द्र नाम से आगति विभाग विष्णु नाम से, स्थितिगर्भित गतिविभाग अग्नि नाम से, एवं स्थितिगर्भित आगतिविभाग सोम नाम से व्यवहृत हुआ है। ये ही पाँच विभाग अपराप्रकृति के हैं। इसप्रकार हृदयबलरूप रस–बलात्मक, गतिलक्षण एक ही प्रकृतितत्त्व के आरम्भ में परा, अपरा दो विभाग, एवं अवान्तर विभागदृष्ट्या दस विभाग हो जाते हैं। यही दशधा विवर्त्त–लक्षण प्रकृतितत्त्व है जिसका आगमशास्त्र में 'दशमहाविद्या'

* कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
—ऋक् सं० १।१२९।४

३–मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।१०।

४–भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥ श्वे० उप० ५।१४।

५–तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्-विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ श्वे० ६।७।

६–सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ गी० भा० पृ० १२६।

७–ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ गी० १५।१।

८–उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥—गी० १३।२२।

१७–'कला'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

जिस प्रकार निष्कलब्रह्म के सर्वकामविरहितरूप, सर्वकामविशिष्टरूप, भेद से 'निर्विशेष परात्पर' में दो विवर्त हैं। परात्पर नामक निष्कलब्रह्म के सर्वकामविशिष्ट, सर्वकामोपरत, भेद से परात्पर, पुरुष (अव्यय) ये दो विवर्त हैं एवमेव सर्वकामोपरत पुरुष (परात्परपुरुषात्मक महेश्वर) के सर्वकामोपरत, सर्वकर्मविशिष्ट भेद से दो विवर्त हो जाते हैं। सर्वकामोपरत महेश्वर अव्ययपुरुष नाम से प्रसिद्ध है एवं सर्वकर्मविशिष्ट महेश्वर षोडशी नाम से प्रसिद्ध है। षोडशी की ही मायापरिग्रहसापेक्षिका अवस्था अव्ययमहेश्वर है, षोडशी की ही कलापरिग्रहसापेक्षिका अवस्था षोडशीमहेश्वर है। आप ही यह और ध्यान दीजिए कि, परात्पर के गर्भ में परात्परपुरुषात्मक जिन असंख्य महेश्वरों की सृष्टि बतलाई गई है, उनमें प्रत्येक में माया–कला–गुण–विकारादि ५ ही विवर्त परिधियों का भेद से समन्वय है। ऐसा समन्वय प्रकृत में केवल एक मायापरिधि से युक्त एक महेश्वर की संस्था के साथ लगाया जायगा। अनन्त महेश्वरों में से केवल एक महेश्वर को लक्ष्य मान कर ही हमें आगे की प्राजापत्यसंस्थाओं का समन्वय करना है। अस्तु सर्वकामविशिष्ट रसमूर्ति निष्कल परात्पर के जिस प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ, तदवच्छिन्न रसबलात्मक मायीप्रदेश निष्कल अव्यय कहलाया, यहीं तक एक स्थिति का निरोधरूप हुआ। अब उससे क्या हुआ?, इस प्रश्न की मीमांसा कीजिए।

मायारेखा के उदित होते ही मायावच्छिन्न परात्पर (पुरुष) प्रदेश में परिधि, केन्द्र, ये दो भाव प्रादुर्भूत हो गए। परिधि में व्याप्त रसबल शरीर है केन्द्रावच्छिन्न रसबल आत्मा है। इसप्रकार मायाबन्धन मात्र से इस मायी पुरुष में शरीर, आत्मा ये दो भाव उत्पन्न हो गए। अतएव यह मायीमहेश्वर आत्मन्वी

(शरीरविशिष्ट आत्मा, प्रजापति) कहलाया । इस से पहले केवल आत्मा ही आत्मा था । माया के अभाव से हृदय, और परिच्छिन्न आत्मा, तथा शरीर, इन तीनों का अभाव था । अभावी में हृदय नहीं था इसका तात्पर्य है—कोई नियत केन्द्र नहीं था अपितु वह सम्पूर्णरूप से हृदयरूप ही था । महान् और अणु का पार्थक्य न था । जो ही महान् था वही अणु था । परन्तु मायोपुरुष में केन्द्रावच्छिन्न वही तत्त्व आत्मा बन गया, परिध्यवच्छिन्न वही तत्त्व शरीर (आत्ममहिमा) बन गया । परिधिमण्डल में भी वही रस बल, हृदय में भी वही रसबल, रसबल से अतिरिक्त और तीसरा तत्त्व आयेगा कहाँ से । हृदयावच्छिन्न आत्मरूप रसबलधर्मविलक्षण तत्त्व ही 'श्वोवसीयस्' नामक मन (अव्ययमन) कहलाया जिसका तैत्तिरीय में— 'वरेयश्छन्दोवस्यस ब्रह्म' (तै० ब्रा० २।२।९।१ ।) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है । यही काममय मन जिसे अव्ययमनोऽनुगत काममाव सृष्टि का प्रथम 'रेत' माना गया है * ।

मायाबल के उदित होते ही हृदयबल उत्पन्न हो जाता है । इस हृदयरूप हृदयबल का ही नाम 'प्रकृति' है । हृदयावच्छिन्न पुरुष स्थितिरूप है हृदयबलरूपा प्रकृति गतिरूपा है । दोनों अजैव प्रादुर्भूत हैं— 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि-अनादी उभावपि' । गतिरूपा इस प्रकृति के गतिपञ्चकभेद से स्थिति, गति, आगति, स्थितिगर्भिता गति, स्थितिगर्भिता आगति ये पाँच विवर्त हो जाते हैं । पुरुष भी रसबलात्मक है, हृदयबलरूपा प्रकृति भी रसबलात्मिका है । दोनों के स्वरूप में अन्तर यही है कि, पुरुष बलगर्भितरसप्रधान है प्रकृति रसगर्भितबलप्रधाना है । रसप्रधान पुरुष स्थितिप्रधान है बलप्रधाना प्रकृति गतिप्रधाना है । बलप्रधाना इस प्रकृति में रस और बल दोनों हैं । अतएव आगे जाकर इसके भी दो विवर्त हो जाते हैं । बलगर्भिता रसप्रधाना प्रकृति रसप्रकृति है, रसगर्भिता बलप्रधाना प्रकृति बलप्रकृति है । रसप्रधाना प्रकृति रसप्रधान-पुरुष की अनुग्राहिका है बलप्रधाना प्रकृति बलप्रधानपुरुष की अनुग्राहिका है । रसप्रकृतिविशिष्ट रसपुरुष मुक्तिप्रवर्तक बनता है, बलप्रकृतिविशिष्ट बलपुरुष सृष्टिप्रवर्तक बनता है ।

रसप्रधान वही पुरुष अमृतपुरुष है यही परपुरुष है । बलप्रधान वही पुरुष मृत्युपुरुष है, यही अपरपुरुष है । रसप्रधाना वही प्रकृति अमृता प्रकृति है परपुरुषानुगता वही प्रकृति पराप्रकृति है । बलप्रधाना वही प्रकृति मर्त्याप्रकृति है अपरपुरुषानुगता वही प्रकृति अपराप्रकृति है । इसप्रकार रस-बल के तारतम्य से बलप्रधाना—गतिलक्षणा प्रकृति के परा अपरा भेद से दो विवर्त हो जाते हैं । जो पञ्चगति-विभाग पराप्रकृति के हैं वे ही अपरा के हैं । जो नाम पराप्रकृति के पञ्चविभागों के हैं, वे ही नाम अपरा-विभागों के हैं । गतित्रयाविरूप स्थिति नामक प्रथम विभाग ब्रह्मा नाम से गतिविभाग इन्द्र नाम से आगति विभाग विष्णु नाम से स्थितिगर्भित गतिविभाग अग्नि नाम से, एवं स्थितिगर्भित आगतिविभाग सोम नाम से व्यवहृत हुआ है । ये ही पाँच विभाग अपराप्रकृति के हैं । इसप्रकार हृदयबलरूप रस-बलात्मक, गतिलक्षण एक ही प्रकृतितत्त्व के आरम्भ में परा, अपरा दो विभाग, एवं क्रमान्तर विभागदृष्ट्या दस विभाग हो जाते हैं । यही दशाक्षर विराट्—लक्षण प्रकृतितत्त्व है जिसका आगमशास्त्र में 'दशमहाविद्या'

---

* कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
—ऋक् सं० १ ।१२९।४

रूप से विश्लेषण हुआ है एवं जिसके इन चारों विवर्तों का भक्तिपरीक्षा–उपरतखण्डान्तर्गत 'निदानविद्यारूप-प्रथमोपाख्य' प्रकरण में विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। प्रकृति के चतुर्विध पञ्चभावों के समन्वय के लिए तत्प्रकरण पर एक बार अवश्य दृष्टि डाल लेनी चाहिए। विस्तारभय से यहाँ उन प्रकृति–पुरुष अवस्थाओं के नाम मात्र उद्धृत कर दिए गए हैं।

हृदयस्थानीया अमृता प्रकृति 'अक्षर' है मर्त्या प्रकृति 'क्षर' है। क्षरगर्भित अक्षर ही 'चिनोति चिनोति वा सा, चीयते अनया सा' निर्वचन से 'चेतना' है। हृदयावच्छिन्न आत्मरूप रसप्रधान मनोमय पुरुष सीमित बनता हुआ 'एकोऽहं बहु स्याम्' कामना से युक्त हो जाता है जिस कामना का- 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक्सं० १०।१२९।४) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। यह कामना रस-बल के तारतम्य से बलगर्भित रसकामना, रसगर्भित बलकामना, भेद से दो भागों में विभक्त हो जाती है। रसकामनाद्वारा हृदयस्थरूपा रसप्रधाना क्षरगर्भिता अक्षरप्रकृति से हृदयस्थ मनोमय पुरुष पर परिच्छिन्न-बलगर्भित रस की चिति होती है। बलकामना के द्वारा हृदयस्थरूपा बलप्रधाना अक्षरगर्भिता क्षरप्रकृति से रसगर्भित बल की चिति होती है। रसकामना मुमुक्षा नाम से बलकामना सिसृक्षा नाम से प्रसिद्ध हुई है। मुमुक्षाकामानुगता रसचिति सत्त्वरजस्तमोयुक्ता–रसचिति सत्त्वबलयुक्ता-रसचिति, भेद से दो भागों में विभक्त रहती है यही अन्तश्चितिरूपा है। यही मुक्ति का आलम्बन है। सिसृक्षानुगता बलचिति आत्मरसयुक्ता–बलचिति मुग्धरसयुक्ता–बलचिति भेद से दो भागों में विभक्त रहती है यही बहिश्चितिरूपा है। यही सृष्टि का आलम्बन है। उभय चिति के मध्य में प्रतिष्ठित, उभयचिति-अवच्छिन्न मनोमय पुरुष ही इन चारों चितियों से चिदात्मा बन रहा है। इसप्रकार आरम्भ में निष्कल बना रहने वाला पुरुष प्रकृतिद्वारा होने वाली चतुर्विध चितियों से पञ्चकल चिदात्मा बन जाता है। इस प्रकृति का भेद बल की चिति–व्यवस्था को ही है जो तृतीय अवस्था मानी गई है। पुरुषावस्था निष्क्रिय से सम्बन्ध रखती थी, प्रकृतिरूपा अक्षरावस्था परात्पर से सम्बन्ध रखती थी एवं चिदात्मा अवस्था इस मायीपुरुष से सम्बन्ध रख रही है (१० पृ०)। मुग्धरसयुक्ता रसचिति 'आनन्द' है, सत्त्वबलयुक्ता रसचिति 'विज्ञानम्' है। आनन्द, विज्ञानचिति ही रसचिति है यही अन्तश्चिति है यही क्षरगर्भित-अक्षरानुगत मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा है यही परपुरुष है तदनुगता परा विद्या ही अक्षरविद्या है यही आगमविद्या है, जिसका आगमशास्त्र में विश्लेषण हुआ है। आत्मरसयुक्ता बलचिति 'प्राण' है मुग्धरसयुक्ता बलचिति 'वाक्' है। प्राणवाक् चिति ही बलचिति है यही बहिश्चिति है यही अक्षरगर्भित-क्षरानुगत सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा है यही अपरपुरुष है, तदनुगता अपराविद्या ही क्षरविद्या है यही निगमविद्या है जिसका निगमशास्त्र में विश्लेषण हुआ है *। इन चारों कलाओं के मध्य में मनोमय तत्त्व प्रतिष्ठित है जिसका 'ऐतरेयोपनिषद्' से उभय चितियों से सम्बन्ध है। आनन्दविज्ञानघन यही अव्ययात्मा ज्ञानात्मा है यही उपनिषद् में 'विद्या' नाम से प्रख्यात है। मनोरूप अव्ययात्मा 'कामात्मा' है यही 'काम' है। प्राणवाग्रूप यही अव्ययात्मा कर्मात्मा है यही 'कर्म' है। प्रकारान्तरेण आनन्दविज्ञानमनोरूप क्षरगर्भित अक्षरानुगत यही अव्ययात्मा मुक्तिसाक्षी है। मनःप्राणवाग्रूप, अक्षरगर्भित क्षरानुगत यही अव्ययात्मा सृष्टिसाक्षी है। आनन्दः 'आनन्द' है।

* देखिए, भक्तिपरीक्षा उपरतखण्ड–निदानप्रथमोपाख्यान्तर्गत 'निदानक्षेत्रभूत–निगमागमपुरुष' नामक परिच्छेद।

विज्ञानं चित् है, मन-प्राण-वाक्-की समष्टि 'सत्' है। एवं यही सच्चिदानन्दब्रह्म, है, यही तद्युक्त सच्चिदानन्दब्रह्म है, जो उन्मुग्ध सच्चिदानन्दस्वरूपेण मायी निष्कल परात्पर से अभिन्न है।

तत्त्व यही निकला कि कलापरिग्रहसंयोग से हृदयकलाभिधा पराप्रकृति (अक्षर) पञ्चकला बन गई, अपराप्रकृति पञ्चकला बन गई, दोनों के व्यापार से होने वाली ग्रन्थिबन्ध से—प्रीतिस्थिति से केन्द्रानुगत मनोमयपुरुष भी पञ्चकल बन गया। सम्भूय मायी—हृदयकलावच्छिन्न पुरुष अपने ही रस-बलों के विविभावों से पञ्चदशकल बन गया। इन १५ हो कलाओं की मूल प्रतिष्ठा स्वयं निष्कल मायी परात्पर पुरुष बना जिसे पूर्व में हमनें कलासर्गप्रवर्तक बतलाया है। स्मरण रहे, ये कलामात्र भावात्मक । क्योंकि 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (गी० १०।५) के अनुसार अव्ययसृष्टि (कलासृष्टि) भाव-सृष्टि ही कहलाते है। संसृष्टिलक्षणा सृष्टि ही वास्तविक सृष्टि है, जिसे गुण-विकार सृष्टि कहा जाता है, एवं जिसका स्पष्टीकरण अनुपद में ही होने वाला है। बलों की प्रतिबन्धनावस्था नाम की एक अवस्था अभी शेष है (१०१)। उसीका सृष्टि (मैथुनीसृष्टि) से सम्बन्ध है। भावप्रधाना पुरुषसृष्टि तो तत्त्वतः आत्म सृष्टिकोटि में आती हुई ज्ञानरूपा मानसीसृष्टि ही मानी गई है। हृदयबलोद्भव से पूर्वावस्थापन्न, माया बलोदय से उत्तरावस्थापन्न जो विशुद्ध-निष्कल परात्पर पुरुष है वही इन १५ कलाभावों का आधार है। परात्परपुरुष अमात्रलक्षणा अर्द्धमात्रा है अलक्ष्य मात्रा है तुरीयपद है विशेषतः अनुवाच्य है। तत्र प्रतिष्ठित पञ्चकल अव्यय अकार है तदनुगत पञ्चकल अक्षर (पराप्रकृति) उकार है तदनुगत तदभिन्न पञ्चकल क्षर (अपराप्रकृति) मकार है समष्टि ओङ्कार है। परात्परपुरुष परात्पर है, पञ्चकल अव्ययपुरुष पुरुष है उभयप्र कृति प्रकृति है। परात्पर, पुरुष, प्रकृतिविशिष्ट एकतत्त्व (षोडशीकलतत्त्व) ही षोडशीप्रजापति है। यही षोडशीपुरुष विश्व का मूल्य आरम्भक है। परात्पराविनाभूत अव्यय विश्व का अधिष्ठान (आलम्बन कारण असमवायिकारण) है अक्षर निमित्तकारण है क्षर समवायिकारण (उपादानकारण) है। यही योगेश्वर के वास्तविक स्वरूप का प्रथम दृष्टिकोण है। षोडशमात्रात्मिका षोडशकला ही इस षोडशी—योगेश्वर की मूलप्रतिष्ठा है। निम्न लिखित वचन इसी षोडशी महेश्वर का स्वरूप-स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ यजु० ३२।५।

२—यस्मान्न जात: परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ यजु० ८।३६।

३—"षोडशकला: सोम्य ! पुरुष:" (छा० उप० ६।७।१)।

४—"इहैवान्त: शरीरे सोम्य ! स पुरुष, यस्मिन्नेता: षोडशकला: प्रभवन्ति ॥
—प्रश्नोपनिषत् ६।२।

'य आविवेश भुवनानि विश्वा' वाक्य को लक्ष्य बनाइए। वह स्वयं षोडशी है एवं वह षोडशी भुवनों में प्रविष्ट है। वे भुवन कौन से, जिनमें वह प्रविष्ट है जिस भुवनप्रवेश का गीता ने भी—'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' (गीता १५।१७) रूप से समर्थन किया है ? प्रश्न का उत्तर

*—प्रतिमाषोडशी विषय अनुपद में ही विश्लेषण होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पाँच पर्वों की समष्टि सहस्रभुवनात्मक एक भुवन है। उस षोडशी के गर्भ में ऐसे एक सहस्र भुवन हैं, जिन साहस्री का मूलकारण वेद–लोक–वाक् नाम के तीन सहस्र विवर्त माने गए हैं *। अन्य निबन्धों में प्रतिपादित साहस्रीविज्ञान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही जान लेना अलं होगा कि, महामायावच्छिन्न हृदयस्थ षोडशीप्रजापति का केन्द्र से परिधिपर्य्यन्त सर्व (रश्मि) रूप से वितान होता है। इन आत्माओं से मायामण्डल उसी प्रकार परिपूर्ण रहता है जैसे सौरमण्डल में सूर्य्यकेन्द्र से विनिर्गत रश्मियाँ व्याप्त रहती हैं। इसी परिपूर्ण रश्मिभाव का वैज्ञानिकों ने कारणविशेष से सहस्र संख्या पर अवसान मान लिया है। प्रतिरश्मि में केन्द्रस्थ षोडशी की अभिव्याप्ति है। रश्म्यवच्छिन्न षोडशी ही प्रतिमाषोडशी है। यही 'उपेश्वर' कहलाता है। जिस प्रकार एक परमेश्वर (अमायी परात्पर) के गर्भ में अनन्त महेश्वर (षोडशी) हैं, एवमेव प्रत्येक महेश्वर के गर्भ में एक एक सहस्र उपेश्वर हैं। इत्थंविध महेश्वर सहस्रभुवनेश्वर है, एवं तादृशविध उपेश्वर अश्वत्थेश्वर है। एक सहस्र अश्वत्थावच्छिन्न एक सहस्र भुवनों में यह अश्वत्थात्मा प्रविष्ट है 'य आविवेश भुवनानि विश्वा' से इसी स्थिति का विश्लेषण हुआ है। इसी सहस्राश्वत्थव्याप्ति का निम्न–लिखित वचन तथा परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है।

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति ।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः ॥ ऋक्सं० ७।३३।९।

---

* सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥
किं तत्सहस्रमिति ?—इमे लोकाः, इमे वेदा, अथो वागिति ब्रूयात् ।
—उपनिषद्भूमिका में इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण देखना चाहिए।

१ ॐ सर्वबलोपपन्नो निष्कलः परात्परपुरुषः] —परात्परः—अर्द्धमात्रा, [1]

२
- १—आनन्दः (१५)—सुखबलयुक्ता रसचितिः
- २—विज्ञानम् (१४)—सहचरबलयुक्ता रसचितिः
  - } —ज्ञानात्मा (विद्या)
- ३—मनः (१३)—चितीनामाश्रयः]— कामात्मा (कामः)
- ४—प्राणः (१२)—आयतूरसयुक्ता बलचितिः
- ५—वाक् (११)—शुक्ररसयुक्ता बलचितिः
  - } —कर्मात्मा (शुक्रम्)

—पञ्चकलोऽव्ययः [2] — आलम्बनम् (पुरुषः) (अकारः)

३
- १—अमृतो ब्रह्मा (१०)—गतिसमन्विताऽगुणा गतिः
- २—अमृतो विष्णुः (९)—विशुद्धा आगतिः
- ३—अमृत इन्द्रः (८)—विशुद्धा गतिः
  - } —अन्तर्यामी
- ४—अमृतोऽग्निः (७)—स्थितिगर्भिता गतिः
- ५—अमृतः सोमः (६ स्थितिगर्भिता आगतिः
  - } —सूत्रात्मा

—पञ्चकलोऽक्षरः— [3] निमित्तम् (पराप्रकृतिः) (उकारः)

४
- १—मर्त्यो ब्रह्मा (५)—गतिसमन्विताऽगुणा प्रतिष्ठा
- २—मर्त्यो विष्णुः (४)—आगतिरूपा अशनाया
- ३—मर्त्य इन्द्रः (३)—गतिरूपा विक्षेपः
  - } —विश्वाधारः
- ४—मर्त्योऽग्निः (२)—उपक्षेपणरूपा विस्रंसः
- ५—मर्त्यः सोमः (१)—स्तम्भनरूपः संकोचः
  - } —विश्वम्भरः

—पञ्चकलः क्षरः— [3] आरम्भकः (अपराप्रकृतिः) (मकारः)

॥ सप्त पञ्चत्रिंशत्-प्रकृतिविशिष्टः पुरुषः षोडशकलो मायी महेश्वरः—षोडशी

४८–'गुण'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी सत्यप्रजापति, एवं 'विकार'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी यज्ञप्रजापति—

निष्कल षोडशी इन दो आरम्भणों के अतिरिक्त 'प्रतिमाषोडशी' शेष रह जाते हैं। दो शब्दों में इनके स्वरूप की भी मीमांसा कर लीजिए। स्मरण कीजिए मायादि पञ्चपरिग्रहों का, जिनका पूर्व में उल्लेख हुआ है। मायापरिच्छेद से मायी किन्तु निष्कल परात्परपुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। कलापरिग्रह से सकल षोडशी का प्रादुर्भाव हुआ, वही सत्यसत्यात्मक परसत्यमूर्त्ति महेश्वरप्रजापति कहलाया। पञ्चरूपेण प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही सकल (षोडशकल) महेश्वर कहलाया। अब क्रमप्राप्त गुण, विकार, नाम के तीसरे चौथे परिग्रहों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

बतलाया गया है कि षोडशीपुरुष की अक्षर–क्षर नाम की दो प्रकृतियाँ हैं। आनन्दमनोविज्ञानरूप रसचितिलक्षणा मुक्तिसाक्षी, परपुरुष से अनुप्राणित अक्षर पराप्रकृति है। एवं मनःप्राणवाग्रूप, बलचितिलक्षणा सृष्टिसाक्षी, अपरपुरुष से अनुप्राणित आत्मक्षर अपराप्रकृति है। महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित कलापरिग्रह योगमायात्मक है। महामाया जहाँ गुणातीता है, वहाँ कलानुगता योगमाया गुणत्रयावच्छिन्ना है। गुणत्रयात्मिका योगमाया के सत्त्व–रज–स्तमो–गुण ही 'गुण' नामक आरम्भपरिग्रह हैं। कलात्मलक्षण पुरुषकलाओं में गुणत्रय उन्मुग्ध रहते हैं। गुणात्मक प्रकृतिकलाओं में ही गुणत्रय का उद्बोधन होता है। अतएव प्रकृति को ही गुणकलाओं का अधिष्ठाता माना गया है। अक्षररूपा पराप्रकृति ही इन गुणत्रयी की जननी है। दूसरा है विकारपरिग्रह। गुणपरिग्रहात्मक अक्षर से गर्भित सर्वव्यापिपञ्चभूतोपेत क्षर विपरिणामी है। इसी से विकारपरिग्रह का उदय हुआ है। क्षर की ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम इन पाँच मर्त्यकलाओं से क्रमशः प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न ये पाँच विकार उत्पन्न होते हैं। जब तक त्रैगुण्य का विकास नहीं होता तब तक विकारोत्पत्ति को अवसर नहीं मिलता। अक्षर-द्वारा गुणत्रयी के उद्भूत होते ही क्षरद्वारा पाँच विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यह पञ्चविकारसमष्टि ही पहिली सृष्टि है। गुणत्रयी के आधार पर उत्पन्न होने से ही यह प्राणादिपञ्चकरूपा विकारसृष्टि 'गुणभूत' नाम से व्यवहृत हुई है। सांख्यपरिभाषा में यह गुणभूत ही 'पञ्चतन्मात्रा' नाम से व्यवहृत हुआ है। प्राण शब्दतन्मात्रा है, आप स्पर्शतन्मात्रा है, वाक् रूपतन्मात्रा है, अन्नाद गन्धतन्मात्रा है, अन्न रसतन्मात्रा है। इसप्रकार प्रकृति के अक्षरभाग से गुणत्रयरूप गुणकला का विकास हो जाता है एवं प्रकृति के क्षरभाग से गुणभूतात्मक विकारकला का विकास हो जाता है। कलात्मलक्षण मायाकलाओं के अधिष्ठाता पुरुष (अव्यय) के आधार पर ही प्रकृति के द्वारा इन दोनों परिग्रहों का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसाकि—"विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्" (गीता १३।१९) इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

१—अव्यय (पुरुषः)——कलासर्गप्रवर्त्तकः (भावसृष्टिः–अव्ययसृष्टिः)	—षोडशी-सर्गः
२—अक्षर–(पराप्रकृतिः)—गुणसर्गप्रवर्त्तकः (गुणसृष्टिः–अक्षरसृष्टिः)	
३—क्षर–(अपराप्रकृतिः)—विकारसर्गप्रवर्त्तकः (विकारसृष्टिः–क्षरसृष्टिः)	

❀ ❀ ❀ ❀

अव्ययात्मा प्रादुर्भूता गुणसृष्टि से युक्त होकर वही षोडशीप्रजापति 'सत्यप्रजापति' कहलाने लगता है। एवं अक्षरात्मा प्रादुर्भूता विकारसृष्टि से युक्त होकर वही सत्यप्रजापति 'यज्ञप्रजापति' कहलाने लगता है। इसप्रकार गुण-विकारपरिग्रह से दो प्राजापत्य-संस्थाओं का जन्म और हो जाता है। सत्यप्रजापति और यज्ञप्रजापति के स्वरूप का थोड़ा विश्लेषण करना पड़ेगा। 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' ही सत्य का तात्त्विक लक्षण है। पूर्वपरिच्छेद में बतलाया गया है कि, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों की समष्टि ही अन्तर्य्यामी है, एवं अग्नि-सोमसमष्टि सूत्रात्मा है। विष्णु आहरण करता हुआ 'हृ' है, इन्द्र विष्णु के द्वारा आगत वस्तु को उपक्रम में परिणत कर बाहिर फेंकता हुआ 'द' है। आदानकर्म्माधिष्ठाता विष्णु 'आहरति' निर्वचन से 'हृ' है। विसर्गकर्म्माधिष्ठाता इन्द्र 'ददाति' निर्वचन से 'द' है। हृ-द, दोनों आदानविसर्गभावों का नियमन करने वाला स्थितिलक्षण ब्रह्मा 'यमयति' निर्वचन से 'यम्' है। 'हृ-द-यम्' रूप विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा की समष्टि ही 'हृदयम्' है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में 'हृदय-पृष्ठ' भेद से दो विभाग रहते हैं। केन्द्रबिन्दु हृदय है। केन्द्राधार पर प्रतिष्ठित भूतपिण्ड (वस्तुपिण्ड) पृष्ठ है। केन्द्ररूप हृदय ही वस्तु का अन्तःस्थान है। अन्तःस्वरूप इसी हृदय (केन्द्र) में हृ-द-यम्-रूप-विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा नामक आगति-गति-स्थिति-तत्त्वों की प्रतिष्ठा है। यही तत्त्वत्रयी हृदय में हृ-द-यम-रूप से (आदान-विसर्ग-प्रतिष्ठारूप से) प्रतिष्ठित रहती हुई पृष्ठपिण्ड का नियमन करती है। अतएव 'अन्तस्मिन्-हृदये-हृ-द-यं-रूपेणावस्थित-सन्-नियमयति वस्तुपृष्ठं' निर्वचन से यह तत्त्वत्रयी 'अन्तर्य्यामी' नाम से व्यवहृत हुए है। पृष्ठ इन्द्राग्नीषोमात्मक है, यही सूत्रात्मा है। इन्द्र और अग्नि सत्यसूत्र हैं, सोम ऋतसूत्र है। उभयसूत्रात्मक पिण्डात्मा ही सूत्रात्मा है। ब्रह्माविष्णुइन्द्र की समष्टि हृदय है यही अन्तर्य्यामी है, यही नियतिचक्र है। सब इसी की मर्य्यादा से आक्रान्त हैं। प्रत्येक पृष्ठ का अन्तर्य्यामी अनुशासन से पृष्ठ का संचालन किया करता है। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी ग्रह-नक्षत्र-मनुष्य-पशु-पक्षी-आदि सब हृदयस्थ-ब्रह्ममूर्ति इसी अन्तर्य्यामी के नियतिदण्ड से दण्डित हैं। इसी महद्भय से सब अपने अपने नियत कर्म्मों में आरूढ हैं *। हम नहीं जानते परन्तु यह भीतर बैठा हुआ सब कुछ अनुशासन कर रहा है ×। पृष्ठ इसका शरीर है। अतएव 'सहृदयं सशरीरम्' परिभाषानुसार गुणभावात्मक इस अव्ययतत्त्व को अवश्य ही सत्यप्रजापति कहा जा सकता है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

> १—"तदेतत् त्र्यक्षरं 'हृदय' मिति। 'हृ' इत्येकमक्षरम्, 'द' इत्येकमक्षरम्, 'यम्' इत्येकमक्षरम्। तदै तदेतदेव तदास सत्यमेव। स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद—'सत्यं ब्रह्मे' ति, जयतीमाँल्लोकान्"।
>
> —(शत० १४।८।४,५ ब्रा०)।

---

*—भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
—तै० उप० २।८।१।

×—"यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी-शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स त आत्मा-अन्तर्यामी-अमृतः"।
—शत० १४।६।७।७।

गतितत्त्व ही अक्षर है। प्राणतत्त्व ही गतितत्त्व है। यह प्राणात्मिका गति मनोमयी स्थिति एवं वाङ्मय-स्तम्भन, दोनों से अविनाभूत है। मनोमयी स्थिति सामवेद है, प्राणात्मिका गति यजुर्वेद है, वाङ्मय स्तम्भन ऋग्वेद है। वाङ्मयी ऋक् मूर्त्तिभाव की, प्राणमय यजुः गतिभाव का एवं मनोमय साम महिमाभाव का (तेजोमण्डल का) प्रवर्त्तक माना गया है। यही अक्षरवेद है, यही ब्रह्मवेद है जिसका उपनिषद्भूमिका में विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है *। अक्षर पर प्रतिष्ठित इन्द्राविष्णु की अनुकृति को लक्ष्य बना कर प्रतिस्पर्धा होती है। इससे आयमान वेद-लोक-वाक्सहस्रीरूप में परिणत हो जाता है (ऋ० सं० ६।६९।८)। इसप्रकार अन्तर्यामी अक्षररूप गुणत्रय वैश्वानर में परिणत हो जाता है। महामायात्मक अव्ययपुरुष गुणातीत बनता हुआ वहाँ निर्गुण + है, वहाँ योगमायात्मक प्रजानिःश्वसितवेदमूर्त्ति, अक्षरलक्षण अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) सगुण है। अतएव अक्षरलक्षण वेद त्रिगुणप्रवर्त्तक माने गए हैं ×। वेदतत्त्व अन्तर्यामी-रूप से अभिन्न है, अतएव प्रजापति का निष्कर्ष निकलता है—'वेदप्रजापति' जैसाकि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

|| "तद्यत्-तत्-सत्यं—'त्रयी सा विद्या' (शत० ९।५।१।१८)।

फलतः, गुणत्रयविशिष्ट (गुणवर्गविशिष्ट) इस अव्ययप्रजापति की गुणत्रयविशिष्ट गुणत्रयोपेतता, वेद से उसी प्रकार की अवस्था हो जाती है जैसेकि सर्वकर्मविशिष्ट पुरुष की सर्वधर्मविशिष्ट (परात्परपुरुष), सर्वकर्मोपरम (अव्ययपुरुष) से ही अवस्था हो जाती है। गुणत्रयविशिष्ट अक्षरप्रजापति के अन्तर्यामी-लक्षण (ब्रह्मेन्द्रविष्णुलक्षण) के आधार पर अक्षरप्रजापति के त्रिधाधारलक्षण की प्रतिष्ठा है एवं सूत्रात्मा के आधार पर त्रिधाम्भरणलक्षण प्रतिष्ठित है। अन्न प्राणात्मिका प्रतिष्ठा मर्त्य विष्णुप्राणात्मक प्रयत्नात्मा मर्त्येन्द्र-लक्षण विशेष, दोनों की समष्टि त्रिधाधार आत्मा है। अमृताग्निरूप सर्वोपपत्त्यात्मक विराट् मर्त्य सोमात्मक अन्नलक्षण संदोह दोनों की समष्टि त्रिधाम्भर है। अन्तर्यामी के आधार पर प्रतिष्ठित त्रिधाधार प्रजापति

—ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
—तै०ब्रा०३।१२।९।१

* उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥
ऋक् सं० ६।६९।८

+ अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते॥ (गी०१३।३१)।

× त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ गी० २।४५।

|| "त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः"

के व्यापार से सूत्रात्मा पर प्रतिष्ठित विश्वम्भर (अन्नाद) द्वारा ही विकारपञ्चक उत्पन्न होता है यही 'यज्ञ' तत्त्व है। विश्वम्भर की अग्नीषोमात्मिका यज्ञकला से ही सूत्रात्मा का विश्व में वितान होता है, जैसाकि— 'त्रयी वा एषा विद्या यज्ञः' (शत० १।१।३।४)—"ते देवा ऊचुः—यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहे" (शत० ६।५।१।१८) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसप्रकार निर्गुण वेदात्ममूर्त्ति सत्यप्रजापति (अक्षर) ही गुणविशिष्ट है। यही अपने मर्त्य यज्ञकर्म से विकारात्मक (क्षरात्मक) बनता हुआ गुणोपपन्न बन कर यज्ञस्वरूप में परिणत हो जाता है। गीतादृष्टि से यों समन्वय कीजिए कि, अक्षरद्वारा ब्रह्म नामक 'क्षर' का विकास हुआ। क्षर से विशेषविध कर्म्म का उद्भव हुआ। कर्म्मद्वारा अन्नान्नादसमन्वयरूप यज्ञ का आविर्भाव हुआ। यज्ञ से सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्वप्रजा का आविर्भाव हुआ, जिस समन्वय का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥२॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥३॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥४॥
—गीता ३।१०, १४, १५, १६ श्लो० ।

निष्कर्ष यही निकला कि, विकारपरिग्रहात्मक क्षरतत्त्व यज्ञप्रजापति है, गुणपरिग्रहात्मक अक्षरतत्त्व सत्यप्रजापति है, कलापरिग्रहात्मक अव्ययतत्त्व सत्यस्य सत्यम् है। प्रतिसञ्चरदशा में १५ हों कलाएं निष्कल षोडशीपुरुष में लीन हो जाती हैं। यज्ञ (क्षर) सत्य (अक्षर) में, सत्य सत्यस्यसत्यम् में विलीन होजाता है। सञ्चरदशा में सत्यस्यसत्यम् (अव्यय) सत्यप्रजापति (अक्षर) का आधार है सत्यप्रजापति यज्ञप्रजापति (क्षर) का आधार है। निम्न लिखित वचन इसी सर्वाधारभूत सत्यस्यसत्यम् का विश्लेषण कर रहे हैं—

(१)—यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियत् संवहन्ति ।
'सत्यस्यसत्य' मनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकं भवन्ति ॥
—ऐतरेय आरण्यक ३।३।८

(२)—गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

(३)—"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत्—'सत्यस्यसत्य' मिति। प्राणा वै (अक्षर—प्रस्था वै) सत्यम्। तेषामेष (अव्यय पुरुषः) सत्यम्"।

—बृ०आ०उप० २।१।२०।

(४)—"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ॥
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्"।

—मुण्डकोपनिषत् १।२।१३।

(५)—"स्तनयित्नुरेवेन्द्रः, यज्ञः प्रजापतिः" (बृ०आ०उप० ३।९।६।)।

* * *

१—कलात्मकोऽव्ययः—सत्यस्यसत्यम्—प्रजापतिः

२—गुणात्मकोऽक्षरः—सत्यप्रजापतिः

३—विकारात्मकः क्षरः—यज्ञप्रजापतिः

* * *

(१) अक्षरो ब्रह्मा]—सत्त्वगुणविशिष्टः

(२) अक्षरो विष्णु
(३) अक्षर इन्द्र } —रजोगुणविशिष्टौ

(३) अक्षर इन्द्रः
(४) अक्षरोऽग्निः
(५) अक्षरः सोम } —तमोगुणविशिष्टाः

} —स एष गुणत्रयविशिष्टो गुणपरिग्रहविशिष्टो वा पञ्चकलोऽक्षरात्मा—सत्यप्रजापतिः

* * *

- १–सत्यो ब्रह्मा–प्राणविकारयुक्तः]—सत्त्वगुणोपपन्नः
- २–सत्यो विष्णुः–आपोविकारयुक्तः, ३–सत्य इन्द्रः–वाग्विकारयुक्तः }—रजोगुणोपपन्नौ
- ३–सत्य इन्द्रः–वाग्विकारयुक्तः, ४–सत्योऽग्निः–अन्नादविकारयुक्तः, ५–सत्यः सोमः–अन्नविकारयुक्तः }—तमोगुणोपपन्नाः

} स एष गुणत्रयोपपन्नः सविकारो विकार परिग्रहविशिष्टो वा क्षरात्मा-यज्ञप्रजापतिः

• • •

- प्राणविकारः——शब्दतन्मात्रा (आकाश)
- आपोविकारः——स्पर्शतन्मात्रा (वायु)
- वाग्विकारः——रूपतन्मात्रा (तेज)
- अन्नाद विकारः——गन्धतन्मात्रा (पृथिवी)
- अन्नविकारः——रसतन्मात्रा (जलम्)

} पञ्च गुणभूतानि पञ्चतन्मात्रा-विकारपरिग्रहः। तद्विशिष्ट-क्षरात्मा-यज्ञप्रजापतिः

• • •

५६–'अञ्जन'–परिग्रहात्मक आत्मन्वी विराट्प्रजापति, एवं 'आवरण'–परिग्रहात्मक आत्मन्वी विश्वप्रजापति—

मात्रापरिग्रह से आरम्भ कर विकारपरिग्रह पर्यन्त आत्मज्योति की विकासावस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होने पाता, स्थूलभाव का समावेश नहीं होने पाता। परन्तु विकारानन्तर विकारों से उत्पन्न वैकारिक आवरणों से आत्मविकास अवरुद्ध हो जाता है। अतएव विकारों से उत्पन्न वैकारिक भावों को अवश्य ही आवरक होने से 'अञ्जन' कहा जा सकता है। यह अञ्जन गुणोपपन्न यज्ञप्रजापति (क्षरात्मा) के आधार पर प्रतिष्ठित है। गुणत्रयभेद के कारण इस अञ्जन के विभूति, पाप्मा,–आवरण, ये तीन भेद हो जाते हैं। सत्त्वगुणानुगत अञ्जन विभूति है, इससे भी आत्मविकासव्यापार में विशेष बाधा नहीं होती। अतएव इस विभूतिरूप प्रथम सत्त्वाञ्जन को अनावरण ही मान लिया जाता है। ईश्वरसंस्था में इसी सत्त्वाञ्जन की प्रधानता है। रजोगुणानुगत अञ्जन पाप्मा है यही अञ्जन 'अञ्जन' कहलाता है। जीवसंस्था में इसी का प्राधान्य माना गया है। तमोगुणानुगत अञ्जन आवरण है, यही आवरण कहलाता है। जगत्संस्था में इसी का प्राधान्य है। श्वेत आदर्श (काच) दीपप्रभा के लिए विभूतिरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभाविकास अवरुद्ध

नहीं होता। कृष्ण आदर्श (काला काच) दीपप्रभा के लिए आवरणरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभा का अवरोध तो नहीं होता किन्तु प्रभा मलिन (कृष्ण) हो जाती है। घन कृष्ण आदर्श (काले रङ्ग से रञ्जित काच) दीपप्रभा के लिए आवरणरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभा का विकास सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। इसप्रकार गुणत्रय-तारतम्य से एक ही अञ्जन तीन भावों में परिणत होता हुआ ईश्वर–जीव–जगद्भावों का अनुग्राहक बन रहा है जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

६०—परमविराट्, और क्षुद्रविराट्—

मायादि पञ्च विकारक्षरात्मक प्रजापति को गुणोपेत कहा गया है। विकारपरिग्रहविशिष्ट गुणसूत्रात्मक इस प्रजापति के विकारविशिष्ट, विकारोपपन्न भेद से उसी प्रकार दो विवर्त हो जाते हैं, जैसेकि गुणविशिष्ट प्रजापति के गुणविशिष्ट गुणोपपन्न भेद से दो विवर्त माने गए हैं। विकार विशिष्ट वही तत्त्व प्रजापति है, विकारोपपन्न वही तत्त्व 'विराट्प्रजापति' है, जिसे हम अञ्जन प्रजापति कहेंगे। इस विराट्प्रजापति के परमविराट्, क्षुद्रविराट्, भेद से दो विवर्त हैं। परमविराट् ईश्वरविराट् है तदंशभूत क्षुद्रविराट् जीवविराट् है। ईश्वरविराट् सत्त्वात्मक विभूति नामक अञ्जन से युक्त है जोकि त्रिवृत्स्वरूप सत्त्वाञ्जन विकारक्षर की पाँचों मायादि कलाओं से उत्पन्न वेद–लोक–देव–पशु–भूत–भेद से पाँच भावों में विभक्त माना गया है।

६१—पञ्चमहानात्मक एकाक्षर—

स्थिति का यों समन्वय कीजिए कि, गुणात्मक अक्षररूप महानात्मा विकारात्मक क्षररूप महानात्मा, दोनों अव्ययपुरुष की परा–अपरा प्रकृतियाँ मानी गई हैं। दोनों वस्तुतः एक ही प्रकृतिरूप हैं। इसी की अव्यक्तावस्था अक्षर है इसी की व्यक्तावस्था क्षर है। क्षर अक्षर की अपेक्षा अवश्य ही व्यक्त है परन्तु व्यावहारिक विषयापेक्षया इस क्षर को भी अव्यक्त ही माना जायगा। व्यक्त क्षर से परे अव्यक्त अक्षर है, व्यक्ताव्यक्त (क्षराक्षर) से परे सनातन अव्यय है *। सत्त्वरजस्तमोगुणों की साम्यावस्थारूपा अव्यक्तप्रकृति ही अक्षर है। एवं तीनों गुणों की विषमोपादानभूत विषमावस्थारूपा व्यक्तप्रकृति ही क्षर है। अनेक विकारक्षररूप भावों (विषमोपादानभूत विकारक्षरों) को अपने गर्भ में रखने वाली विषमगुणात्मिका व्यक्तप्रकृति ही (क्षर ही) दर्शनभाषा में 'महान्' कहलाती है। इसी आधार पर अव्यक्त से महान् (क्षर) का प्रादुर्भाव बतलाया जाता है +। विकारक्षर अनेक इनका आधारभूत पञ्चकल क्षर एक, यह एकाक्षर से अनुप्राणित,

---

*—यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१॥ (गीता १५।१८)
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्-सनातनः ॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२॥ (गीता ८।२०)

+—"बुद्धेरात्मा 'महान्' परः (कठ ३।१०)-महतः परमव्यक्तम् (कठ ३।११)-सत्त्वादधि महानात्मा (कठ ६।७)-अव्यक्ते महति तमसि योक्ष्यति"-इत्यादि।

इसी आधार पर-'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद् ब्रह्मैकमक्षरं, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' * यह निगम प्रतिष्ठित है। यही महान् सर्वजगत्प्रभव है +। यही वैज्ञानिकों का आत्मक्षर है, एवं दार्शनिकों का महान् है।

६२–पञ्चप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन—

महान् से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहंभाव की योनि महान् ही माना गया है। इसी पर विश्वसर्ग प्रस्फुटित होता है। ब्रह्मगर्भित महान् के अहंभाव के आधार पर (मनः-प्राण-वाङ्मय अहंभाव के मनोमय काम, प्राणमय तप एवं वाङ्मय श्रमव्यापार से) पञ्चतन्मात्राओं का विकास होता है। दर्शनभाषा में महान् नाम से प्रसिद्ध वैज्ञानिकभाषा के आत्मक्षर से (आत्मक्षर की प्राणादि पाँचों कलाओं से) उत्पन्न प्राणादि पञ्च विकारक्षर ही दर्शनभाषा की शब्द-स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राएँ हैं, जोकि 'गुणभूत' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये गुणभूत सर्वथा अमूर्त हैं। सांख्यशास्त्र गुणभूतात्मिका पञ्चतन्मात्रा के द्वारा (विकार क्षरद्वारा) अव्यक्तप्रकृति (विकारजनक आत्मक्षर) को ही जगत् का कारण मान रहा है। वैशेषिक शास्त्र सम्मत निरवयव परमाणु वस्तुतः सावयव हैं, जोकि 'अणुभूत' कहलाए हैं। गुणभूतों के स्वजातीय समन्वय से ही अणुभूत (अणुपरमाणु) का विकास हुआ है। आत्मक्षर से उत्पन्न प्राणादि पञ्च विकारक्षर शुद्ध (अपञ्चीकृत) विकारक्षर हैं ये ही गुणभूत हैं अमूर्तभूत हैं। इन प्राणादि पाँचों विशुद्ध विकारक्षरों की समष्टि 'विश्वसृट्' है। इन पाँचों का आगे चलकर स्वजातीय समन्वयात्मक पञ्चीकरण होता है जो कि प्रक्रिया 'स्वाहुत्य' कहलाई है। पाँचों में पाँचों की आहुति होती है। फलस्वरूप पञ्चीकृत प्राणादि पञ्च वैकारिक क्षरों का प्रादुर्भाव हो जाता है। अर्द्ध-अर्द्ध भाग में प्राणादि, शेष अर्द्ध अर्द्ध भाग में आपादि चारों अन्तर्भूत रहते हैं। क्योंकि पञ्चीकृत प्रत्येक वैकारिक क्षर में आधे भाग में एक की, शेष आधे भाग में चारों की व्याप्ति है, अतएव तद्गुणन्याय से Δ ये भी प्राणादि नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। पञ्चीकृत अतएव

---

*–एतद्धयेवाक्षरं सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यन्ते। तदेतत्–ब्रह्म च, क्षत्रञ्च। अग्निरेव ब्रह्म, इन्द्रः क्षत्रम्। इन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः। विड् विश्वे देवाः। तदेतत्–ब्रह्म–क्षत्रं–विट्। (शत० १०।४।१।५)।

—तदप्येष श्लोकोऽभ्युक्तः—

ततः स प्राणोऽभवत्–महान् भूत्वा प्रजापतिः।
भुजो भुजिष्या विश्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥ इति।

—शत० ७।५।१।२१।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

—गीता १४।३।

Δ–'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (वेदान्तसूत्र २।४।२२)।

पञ्चात्मक वे वैचारिक स्तर ही विज्ञानभाषा में 'पञ्चजन' कहलाए हैं, जिनका अपञ्चीकृत भिन्नतत्त्वों के सजातीय सम्बन्ध से प्रादुर्भाव हुआ है। ये ही पञ्चीकृत, अतएव पञ्चात्मपञ्चात्मक, अतएव च सापञ्च पञ्चजन दार्शनिकों के 'परमाणुभूत' हैं। आगे चलकर इन परमाणुओं के विजातीय समन्वय से 'रेणुभूत' का प्रादुर्भाव होता है। तात्पर्य-पञ्चीकृत पञ्चजनों के विजातीय पञ्चीकरण से पञ्च-पञ्चात्मक जो अपूर्वभाव उत्पन्न होते हैं, वे पञ्च पञ्चीकृत पञ्चजन ही 'पुरञ्जन' कहलाए हैं। पञ्चजनभाव स्वयं पञ्चीकृत (पञ्चात्मक) है। इनमें पञ्चीकरण प्रभृति चारों पुरञ्जनों की आहुति हुई। परिणाम यह हुआ कि, पञ्चीकृत भाव-पुरञ्जन में २५ सम्पन्न हो गए। यही क्रम आगे के चारों पुरञ्जनों में घटित हुआ है। पञ्चीकृत पञ्चजनरूप ये पाँचों पुरञ्जन ही क्रमशः वेद, लोक, देव, पशु, भूत, नाम से व्यवहृत हुए हैं। ये ही दर्शनभाषा के रेणुभूत हैं जो विजातीय परमाणुओं (पञ्चजनों) के समन्वय के उदाहरण हैं। इसी सम्बन्ध में दार्शनिकों ने यह व्यवस्था की है कि प्रत्येक रेणुभूत में कम से कम ३ परमाणु रहते हैं अधिक से अधिक ९ परमाणु रहते हैं। तात्पर्य-विजातीय परमाणुसंघ का ही नाम 'रेणुभूत' है। यहीं पर वास्तविक सृष्टि का आरम्भ है दूसरे शब्दों में विकारसृष्टि का उत्थान है। इस से आगे भूतसृष्टि का आरम्भ होता है। गुण, अणु, रेणु तीनों भूतविवर्त तत्त्वात्मक हैं। भूत, तत्त्व, दोनों तत्त्वभूतों के आधार पर प्रतिष्ठित भूत महाभूत हैं। तत्त्व अस्मदादि चर-अचर प्राणी हैं। हमारे उपादानरूप पञ्चमहाभूत भूत हैं, जो यौगिक हैं भूत हैं तत्त्व-मर्यादाविच्छिन्न हैं। पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों के मौलिकरूप तत्त्वात्मक पञ्चरेणुभूत हैं, रेणुभूत ही तार्किक दर्शन (न्यायादिक) का परमाणु है। रेणुभूत का मौलिक रूप पञ्च अणुभूत है यही वैशेषिक का अणुपरमाणु है। रेणुभूत का मौलिक रूप पञ्च गुणभूत है। गुणभूतों का मौलिक रूप विकारभूत है यही सांख्यनिष्ठों की पञ्चतन्मात्रा है। विकारभूतों का मौलिक रूप पञ्चकल अक्षरात्मा है यही सांख्यनिष्ठों का अव्यक्त महान् है। अक्षर का मौलिक रूप पञ्चकल अव्ययात्मा है यही सांख्यनिष्ठों की अव्यक्तप्रकृति है। अव्ययात्मा का मौलिक रूप पञ्चकल आत्मा है यही सांख्यनिष्ठों का पुरुषरूपसर्वविलक्षण पुरुष है। अव्यय का मौलिक रूप मायी निष्कल परात्परपुरुष है—'सा काष्ठा सा परा गतिः'। 'यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्'। परात्परपुरुष से आरम्भ कर तत्त्वपर्यन्त मायादि ६ परिग्रहों का उपभोग हो रहा है। उत्तर उत्तर के परिग्रह में पूर्व पूर्व परिग्रहविशिष्ट आत्मा की 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से प्रविष्ट है।

६३—षट्परिग्रहावच्छिन्न पञ्चविध प्रजापति—

नायापरिग्रहयुक्त परात्परपुरुष का आत्मा रस है शरीर बल है, रसबलविशिष्ट सर्वधर्म-विशिष्ट यह परात्पर ही मायीमहेश्वर है। कलापरिग्रहयुक्त अव्ययपुरुष आत्मा है पर-अपरा-महदादिरूप अक्षररूप शरीर है नदीविशिष्ट षोडशी ही षोडशीप्रजापति है। मायीमहेश्वर, अव्ययषोडशी, दोनों की समष्टि परात्परमूर्ति-महेश्वरप्रजापति है। महेश्वरप्रजापतिनिर्मित गुणत्रयविशिष्ट अक्षररूप आत्मा है गुणत्रयसंनत अक्षरत्व शरीर है यही गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति है यही विश्वेश्वरप्रजापति है। महेश्वर

---

*—यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥
—बृ० उप० ४।४।१७

वैश्वेश्वरप्रजापतिगर्भित गुणत्रयोपपन्न अक्षरात्मा आत्मा है गुणभूतरूप विकारक्षरपञ्चक शरीर है, यही वैकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति है, यही उपेश्वर है । महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-गर्भित विकारात्मा आत्मा है अणुभूत-रेणुभूतरूप-पञ्चजन-पुरञ्जन-समष्टि शरीर है, यही प्रजानपरिग्रहात्मक विराट्प्रजापति है । महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-विराट्-गर्भित अणु-रेणु पञ्चक आत्मा है पञ्चमहाभूत, एवं सत्वसृष्टि शरीर (विश्व) है, यही आवरणात्मक विश्वप्रजापति है ।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए । मायी परात्पर आत्मा है, षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराट्-विश्व-पाँचों पर्व इसका शरीर है, यही आत्म-शरीरविशिष्ट प्रथम आत्मन्वी है, यही मायी महेश्वरप्रजापति है । परात्परगर्भित पुरुषतत्त्व आत्मा है, सत्य-यज्ञ-विराट्-विश्व चारों पर्व इसका शरीर है यही आत्म-शरीर-विशिष्ट द्वितीय आत्मन्वी है यही सत्यरूप षोडशीप्रजापति है । परात्पर-पुरुषगर्भित अक्षरतत्त्व आत्मा है यज्ञ-विराट्-विश्व, तीनों पर्व इसका शरीर है यही आत्मशरीरविशिष्ट तृतीय आत्मन्वी है, यही सगुण सत्यप्रजापति है । परात्पर-पुरुष-अक्षरात्मगर्भित आत्मक्षरतत्त्व आत्मा है विराट्-विश्व दोनों पर्व इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट चतुर्थ आत्मन्वी है, यही सविकार यज्ञप्रजापति है । परात्पर-पुरुष-अक्षर आत्मक्षरगर्भित विकारक्षरतत्त्व आत्मा है विश्वपर्व इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट पञ्चम आत्मन्वी है, यही साञ्जन विराट्प्रजापति है । परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षरगर्भित वैकारिक ध्रुव तत्त्व आत्मा है, विश्वगर्भिता सप्तमता इसका शरीर है यही आत्मशरीरविशिष्ट षष्ठ आत्मन्वी है यही सावरण विश्वप्रजापति है । सभी सर्वरूप हैं, सभी आत्मरूप हैं । निष्कल परात्पर आत्मा ही सर्वरूप में परिणत हुआ है । इन ६ ओं आत्मन्वी संस्थाओं का विज्ञान ही सर्वविज्ञान है यही आत्मविज्ञान है यही *विश्वविज्ञान* है । आत्मविचारनिष्ठ आचार्यों ने परस्पर विभिन्नरूपेण प्रतीयमान भिन्न भिन्न आत्मसंस्थाओं का स्वतंत्र समर्थन किया है, वे सब आत्मदर्शन तत्त्वतः सर्वथा अभिन्न अतएव प्रामाणिक हैं ।

६४-आत्मधर्मों के माध्यम से सर्वविषय-समन्वय—

परात्परस्वरूप मायी महेश्वरोपासक परात्परानुगामी बनते हुए गीतापथ के पथिक हैं । सकल ब्रह्मात्मोपासक पुरुषानुगामी बनते हुए वेदान्तपथ के पथिक हैं । आत्मक्षरानुगृहीत आत्मक्षरोपासक अक्षरात्मानुगामी सांख्यपथ के पथिक हैं । आत्मक्षरानुगृहीत विकारक्षरोपासक महानात्मानुगामी वैशेषिकपथ के पथिक हैं । विकारक्षरानुगृहीत वैकारिकतत्त्वोपासक विराडात्मानुगामी साम्प्रदायिकपथ के पथिक हैं । एवं वैकारिकक्षरानुगृहीत विश्वोपासक विश्वात्मानुगामी लोकपथ के पथिक हैं । आगे के परिलेखों से उक्त आत्मन्वी-विज्ञान का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है ।

(१)

१–मायापरिग्रहः——मायी महेश्वरः (आत्मन्वी)
२–कलापरिग्रहः——सकलः षोडशी (आत्मन्वी) } —महेश्वरः

३–गुणपरिग्रहः——सगुणः सत्यः (आत्मन्वी) }—विश्वेश्वरः
४–विकारपरिग्रहः——सविकारो यज्ञः (आत्मन्वी) }—उपेश्वरः

५–अञ्जनपरिग्रहः——साञ्जनो विराट् (आत्मन्वी)
६–आवरणपरिग्रहः——सावरणो विश्वम् (आत्मन्वी) } —ईश्वरः

—चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुः

• • •

(२)

१–परात्परोपासकाः——परात्परपुरुषानुयायिनो गीतापक्षपतिकाः—बुद्धियोगिनः
२–षोडशोपासकाः——पुरुषात्मानुयायिनो वेदान्तपक्षपतिकाः——ज्ञानिनः
३–आत्मक्षरोपासकाः——सत्यात्मानुयायिनः प्राधानिकपक्षपतिकाः——उत्तमा आस्तिकाः
४–विकारक्षरोपासकाः——यज्ञात्मानुयायिनो वैशेषिकपक्षपतिकाः——मध्यमा आस्तिकाः
५–वैकारिकक्षरोपासकाः——विराडात्मानुयायिनः सम्प्रदायपक्षपतिकाः——अधमा आस्तिकाः
६–विश्वोपासकाः——विश्वात्मानुयायिनो लोकपक्षपतिकाः——लोकायतिका नास्तिकाः

• • •

(३)

१–षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराट्-विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्परात्मा आत्मन्वी 'मायीमहेश्वरप्रजापतिः'

२–सत्य-यज्ञ-विराट्-विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्परगर्भितः-पुरुषात्मा-आत्मन्वी 'सुकलः षोडशीप्रजापतिः'

३–यज्ञ-विराट्-विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुषगर्भितः-अक्षरात्मा-आत्मन्वी 'सुगुणः सत्यप्रजापतिः'

४–विराट्-विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षरगर्भितः-आत्मक्षरात्मा-आत्मन्वी 'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'

५–विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षरगर्भितः-विकारक्षरात्मा-आत्मन्वी 'साञ्जनो विराट् प्रजापतिः'

६–मर्त्य-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षरगर्भितः-वैकारिकात्मा-आत्मन्वी 'सावरणो विश्वप्रजापतिः'

सर्वसंग्रह—(४)

•—सर्वबलविरहितो रसः-वैषम्यविरहितो रसघनः—निर्विशेषः, स एव अमायी निष्कलः परात्परः
(१)—सर्वबलविशिष्टो रसः-सर्वबलविशिष्टरसघनः-परात्परः, स एव अमायी निष्कलः परात्परः
} विश्वातीत 'परात्पर' सर्वबलविशिष्ट रसघन 'अमायी'-विशुद्ध आत्मा •

(१)—सर्वबलविशिष्टो रसः-मायी परात्परः—परात्परः, स एव मायी पुरुषो निष्कलः
(२)—सर्वबलोपरक्तो रसः—मायी परात्परः—पुरुषः, स एव मायी पुरुषो निष्कलः
} —विश्वव्यापी 'परात्परपुरुष'-सर्वबलोपरक्तो रसमूर्ति 'मायी'-आत्मनी 'मायी महेश्वरप्रजापतिः' (१)

(२)—सर्वबलोपरक्तो रसः—मायी परात्परः—पुरुषः, स एव षोडशी सकलः
(३)—सर्वधर्मविशिष्टो रसः-सकलः परमात्मा-षोडशी, स एव षोडशी सकलः
} —विश्वात्मा 'पुरुष' सर्वधर्मविशिष्टो रसात्मक-'सकल'-आत्मनी 'सकलः षोडशीप्रजापतिः' (२)

(३)—सर्वधर्मविशिष्टो रसः—सकलः परमात्मा——षोडशी, स एव सत्यः सगुणः
(४)—सर्वधर्मोपरक्तः गुणविशिष्टः ब्रह्म-विश्वाव्ययः-सत्यः, स एव सत्यः सगुणः
} —अन्तर्यामी 'अक्षरः' —सर्वधर्मगुणविशिष्टसत्यात्मकः—'सगुण' आत्मनी—'सगुणः सत्यप्रजापतिः' (३)

(४)—सर्वधर्मोपरक्तं सर्वगुणविशिष्टं ब्रह्म—विश्वाव्ययः—अक्षरः, स एव यज्ञो सविकारः
(५)—सर्वगुणोपरक्तं सर्वविकारविशिष्टं ब्रह्म—विश्वयोनिः—यज्ञः, स एव यज्ञो सविकारः
} —विश्वाधार—'आत्मक्षरः'-सर्वगुणोपरक्तसर्वविकारविशिष्ट-यज्ञात्मक-'सविकार'आत्मनी—'सविकारो यज्ञप्रजापतिः' (४)

(५)—सर्वगुणोपरक्तं सर्वविकारविशिष्टं ब्रह्म—विश्वयोनि—यज्ञः, स एव विराट्—साञ्जनः
(६)—सर्वगुणगर्भितं सर्वविकारोपरक्तं ब्रह्म——विश्वात्मा—विराट्, स एव विराट्-साञ्जनः
} —विश्वस्रष्टा 'विश्वक्षरः'—सर्वगुणगर्भितसर्वविकारोपरक्तविराडात्मक 'साञ्जन' आत्मनी—'साञ्जनो विराट्प्रजापतिः' (५)

(६)—सर्वगुणगर्भितं सर्वविकारोपरक्तं ब्रह्म—विश्वात्मा—विराट्, यदिदं विश्वं सञ्चरणम्
(७)—सर्वगुण-सर्वविकार-सर्ववैकारिकं ब्रह्म विश्वम्—सत्यम् यदिदं विश्वं सञ्चरणम्
} विश्वमूर्ति- वैकारिकक्षरः—सर्वगुण-विकार-वैकारिकोपरक्त—विश्वात्मक 'सञ्चरण' आत्मनी—
'सञ्चरणो विश्वप्रजापतिः' (६)

• • •

(६)

विभागाः		अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः	विकारक्षरः (विश्वसृट्)	पञ्चजनाः	पुरञ्जनाः	पुरम्
—षोडशी—पञ्चकल—आत्मा—विश्वात्मा— / पञ्चकल पुरुषो—मायी—निष्कलः	आनन्दः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	विशुद्धः प्राणाः	पञ्चीकृताः प्राणाः	पञ्चपञ्चीकृताः पञ्चविंशतिविकलाः वेदाः	वेदात्मकः आत्मवाः
	विज्ञानम्	अमृतो विष्णुः	मर्त्यो विष्णुः	विशुद्धा आपः	पञ्चीकृता आपः	लोकाः	लोकात्मको यज्ञः
	मनः	अमृत इन्द्रः	मर्त्य इन्द्रः	विशुद्धा वाक्	पञ्चीकृता वाक्	देवाः	देवात्मकं देवः
	प्राणः	अमृतोऽग्निः	मर्त्योऽग्निः	विशुद्धोऽन्नादः	पञ्चीकृतोऽन्नादः	भूतानि	भूतात्मिका पृथिवी
	वाक्	अमृतः सोमः	मर्त्यः सोमः	विशुद्धमन्नम्	पञ्चीकृतमन्नम्	पशवः	पश्वात्मकं अन्नम्
पञ्चकल	पुरुषः	अव्यक्तम्	महान्	तन्मात्राः (गुणभूतानि)	विकाराः (अणुभूतानि)	वैकारिकाः (रेणुभूतानि)	जगत् (महाभूतानि)
षोडशप्रजापतिः		षोडशी प्रजापतिः २		सत्यप्रजापतिः ३	यज्ञप्रजापतिः ४	विराट्प्रजापतिः ५	विश्वप्रजापतिः ६

६५–प्रतिमाषोडशीप्रजापति के विविध विवर्त—

सत्य-यज्ञात्मक प्रतिमाषोडशी के प्रसङ्ग में अस्मत्परिभाषाओं का प्रासङ्गिक विश्लेषण किया गया। अब प्रकृत विषयभूत 'प्रतिमाषोडशी' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। षोडशीपुरुषस्वरूप की मीमांसा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, परात्परोपेत-प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही अव्यय षोडशी है, जिसमें माया, कला, नामक दो परिधियों का उपभोग हो रहा है। इस षोडशी के आत्मक्षरभाग से क्रमशः अव्यक्तात्मक पर मात्रादि पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों की समष्टि को ही 'विश्वसृट्' कहा गया है। यही 'विश्वसृड्मय' 'आत्मप्रजापति' है। जैसा स्वरूप षोडशी का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इसका है, अतएव इसे अवश्य ही षोडशी की 'प्रतिमा', अतएव 'प्रतिमा' षोडशी कहा जा सकता है। सत्यात्मक गुणत्रयविशिष्ट गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति (पञ्चजना) ही इसका मूलाधार है, अतएव इसे 'सत्यसत्यम्' कहा जा

सप्तसंग्रह—(४)

०—सर्वकामविरहितो रसः-ऐश्वर्यविरहितो रसमनाः—निर्विशेषः, स एव अमायी निष्कलः परात्परः (१)—सर्वकामविशिष्टो रसः-सर्वकामविशिष्टरसमनाः-परात्परः, स एव अमायी निष्कलः परात्परः	विश्वातीतः 'परात्परः' सर्वकामविशिष्टरसमनाः 'अमायी'-विशुद्ध आत्मा ०
(१)—सर्वकामविशिष्टो रसः-मायी परात्परः—परात्परः, स एव मायी पुरुषो निष्कलः (२)—सर्वकामोपपन्नो रसः—मायी परात्परः—पुरुषः, स एव मायी पुरुषो निष्कलः	—विश्वव्यापी 'परात्परपुरुषः'-सर्वकामोपपन्नो रसमूर्तिः 'मायी'-आत्मन्वी 'मायी महेश्वरप्रजापतिः' (१)
(२)—सर्वकामोपपन्नो रसः—मायी परात्परः—पुरुषः, स एव षोडशी सकलः (३)—सर्वधर्मविशिष्टो रसः—सकलः परमात्मा—षोडशी, स एव षोडशी सकलः	—विश्वात्मा 'पुरुषः' सर्वधर्मविशिष्टो रसात्मकः-'सकलः' आत्मन्वी 'सकलः षोडशीप्रजापतिः' (२)
(३)—सर्वधर्मविशिष्टो रसः—सकलः परमात्मा——षोडशी, स एव सत्यः सगुणः (४)—सर्वधर्मोपपन्नं गुणविशिष्टं ब्रह्म-विश्वाधारः-सत्यः, स एव सत्यः सगुणः	—अन्तर्यामी 'अक्षरः'—सर्वधर्मगुणविशिष्टब्रह्मात्मकः—'सगुणः' आत्मन्वी—'सगुणः सत्यप्रजापतिः' (३)
(४)—सर्वधर्मोपपन्नं सर्वगुणविशिष्टं ब्रह्म—विश्वाधारः—सत्यः, स एव यज्ञो सविकारः (५)—सर्वगुणोपपन्नं सर्वविकारविशिष्टं ब्रह्म—विश्वयोनिः—यज्ञः, स एव यज्ञो सविकारः	—विश्वाधारः—'आत्मक्षरः'-सर्वगुणोपपन्नसर्वविकारविशिष्टब्रह्मात्मकः-'सविकारः' आत्मन्वी—'सविकारो यज्ञप्रजापतिः' (४)
(५)—सर्वगुणोपपन्नं सर्वविकारविशिष्टं ब्रह्म—विश्वयोनिः—यज्ञः स एव विराट्—साञ्जनः (६)—सर्वगुणगर्भितं सर्वविकारोपपन्नं ब्रह्म——विश्वात्मा—विराट् स एव विराट्-साञ्जनः	—विश्वस्रष्टा 'विश्वसृट्क्षरः'—सर्वगुणगर्भितसर्वविकारोपपन्नब्रह्मात्मकः 'साञ्जनः' आत्मन्वी—'साञ्जनो विराट्प्रजापतिः' (५)
(६)—सर्वगुणगर्भितं सर्वविकारोपपन्नं ब्रह्म—विश्वात्मा—विराट् तदिदं विश्वं सावरणम् (७)—सर्वगुण-सर्वविकार-सर्वैश्वरितं ब्रह्म विश्वम्—सत्यम् तदिदं विश्वं सावरणम्	विश्वमूर्त्तिः—'वैकारिकक्षरः'—सर्वगुण-विकार-वैकारिकोपपन्न—ब्रह्मात्मकः 'सावरणः' आत्मन्वी—'सावरणो विश्वप्रजापतिः' (६)

प्रकारान्तरेण—

(४)

मायावच्छिन्नो रसः (१)—आत्मा
१—मायावच्छिन्नं बलम्(२)—शरीरम्
—आत्मशरीरविशिष्टः—आत्मन्वी—परात्परात्मा— 'मायी महेश्वरप्रजापतिः'

परात्परगर्भितः पञ्चकलोऽव्ययः]—आत्मा
२ अव्ययगर्भितः पञ्चकलोऽक्षरः
अक्षरगर्भितः पञ्चकलः क्षरः —शरीरम्
—आत्मशरीरविशिष्टः—आत्मन्वी—पुरुषात्मा— 'सकलः षोडशीप्रजापतिः'

परात्पर-पुरुषगर्भितो गुणत्रयविशिष्टोऽक्षरः]—आत्मा
३
परात्परपुरुषाक्षरगर्भितो गुणोपपन्नः क्षरः]—शरीरम्
—आत्मन्वी—अक्षरात्मा— 'सगुणः सत्यप्रजापतिः'

परात्परपुरुषाक्षरक्षरगर्भितो गुणोपपन्नः क्षरः—आत्मा
४
परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरगर्भितो विकारक्षरः—शरीरम्
—आत्मन्वी—आत्मक्षरात्मा— 'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'

परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरगर्भितो विकारविशिष्टः—विकारक्षर०————आत्मा
५
परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरगर्भितः पञ्चजनपुरञ्जनात्मको वैकारिकक्षरः—शरीरम्
विकारक्षरात्मा 'साञ्जनो विराट्-प्रजापतिः'

परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरगर्भितः पञ्चजनपुरञ्जनात्मको महाभूतक्षर०—आत्मा
६
परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरपञ्चजनपुरञ्जनमहाभूतक्षरगर्भितं सत्त्वम्—शरीरम्
वैकारिकात्मा 'सावरणो विश्व-प्रजापतिः'

* * *

(१)

१–मायापरिग्रह——मायी महेश्वरः (आत्मन्वी)
२–कलापरिग्रह——सकलः षोडशी (आत्मन्वी) — महेश्वरः

३–गुणपरिग्रह——सगुणः सत्यः (आत्मन्वी) — विश्वेश्वरः
४–विकारपरिग्रह——सविकारो यज्ञः (आत्मन्वी) — उपेश्वरः

५–आञ्जनपरिग्रह——साञ्जनो विराट् (आत्मन्वी)
६–आवरणपरिग्रह——सावरणं विश्वम् (आत्मन्वी) — ईश्वरः

—चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्यादि

• • •

(२)

१–परात्परोपासकाः——परात्परपुरुषानुयायिनो गीताधर्मपथिकाः——बुद्धियोगिनः
२–षोडश्युपासकाः——पुरुषब्रह्मानुयायिनो वेदान्तधर्मपथिकाः——ज्ञानिनः
३–अक्षरेश्वरोपासकाः——सत्यब्रह्मानुयायिनः प्राधानिकधर्मपथिकाः——उत्तमा आस्तिकाः
४–विश्वेश्वरोपासकाः——यज्ञब्रह्मानुयायिनो वैशेषिकधर्मपथिकाः——मध्यमा आस्तिकाः
५–वैकारिकेश्वरोपासकाः——विराड्ब्रह्मानुयायिनः सम्प्रदायधर्मपथिकाः——अवरा आस्तिकाः
६–विश्वोपासकाः——विश्वब्रह्मानुयायिनो लोकधर्मपथिकाः——लोकपथिका नास्तिकाः

• • •

(३)

१–षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराड्-विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्परात्मा आत्मन्वी 'मायीमहेश्वरप्रजापतिः'

२–सत्य-यज्ञ-विराड्-विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्परगर्भितः-पुरुषात्मा-आत्मन्वी 'सकलः षोडशीप्रजापतिः'

३–यज्ञ-विराड्-विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुषगर्भितः-अक्षरात्मा-आत्मन्वी 'सगुणः सत्यप्रजापतिः'

४–विराड्-विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षरगर्भितः-आत्मक्षरात्मा-आत्मन्वी 'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'

५–विश्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षरगर्भितः-विकारक्षरात्मा-आत्मन्वी 'साञ्जनो विराट्प्रजापतिः'

६–स्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षरगर्भितः-वैकारिकात्मा-आत्मन्वी 'सावरणो विश्वप्रजापतिः'

• • •

(६)

	निष्कल	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः	विकारक्षरः (विश्वसृट्)	पञ्चजनाः	पुरञ्जनाः	पुरम्
—विश्वरूप—प्रजापतिः—	परात्परः पुरुषः—मायी—निष्कलः	आनन्दः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	विशुद्धः प्राणः	पञ्चीकृतः प्राणः	पञ्चपञ्चीकृताः पञ्चविंशतिकलाः वेदाः	वेदात्मकः आकाशः
		विज्ञानम्	अमृतो विष्णुः	मर्त्यो विष्णुः	विशुद्धा आपः	पञ्चीकृता आपः	लोकाः	लोकात्मको वायुः
		मनः	अमृत इन्द्रः	मर्त्य इन्द्रः	विशुद्धा वाक्	पञ्चीकृता वाक्	देवाः	देवात्मकं तेजः
		प्राणः	अमृतोऽग्निः	मर्त्योऽग्निः	विशुद्धोऽन्नादः	पञ्चीकृतोऽन्नादः	भूतानि	भूतात्मिका पृथिवी
		वाक्	अमृतः सोमः	मर्त्यः सोमः	विशुद्धमन्नम्	पञ्चीकृतमन्नम्	पशवः	पश्वात्मकं जलम्
	परात्परः	पुरुषः	अव्यक्तम्	महान्	पञ्चतन्मात्रा (गुणभूतानि)	विकाराः (अणुभूतानि)	वैकारिकाः (रेणुभूतानि)	जगत् (महाभूतानि)
	सोत्तरप्रजापतिः १	षोडशी प्रजापतिः २			सत्यप्रजापतिः ३	यज्ञप्रजापतिः ४	विराट्प्रजापतिः ५	विश्वप्रजापतिः ६

६४–प्रतिमाषोडशीप्रजापति के विविध विवर्त—

सत्य-यज्ञात्मक प्रतिमाषोडशी के प्रसङ्ग में पदपरिभाषाओं का प्रासङ्गिक विश्लेषण किया गया। अब प्रकृत विषयभूत 'प्रतिमाषोडशी' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। षोडशीपुरुषस्वरूप की मीमांसा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, परात्परोपेत–प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही व्यापक षोडशी है, जिसमें माया, कला, नामक दो परिग्रहों का उपभोग हो रहा है। इस षोडशी के आत्मक्षरभाग से अपरधारा क्षरभावालम्बन पर मायातीन पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों की समष्टि को ही 'विश्वसृट्' कहा गया है। यही 'विश्वसृड्ब्रह्म' 'स्वयम्भूप्रजापति' है। जैसा स्वरूप षोडशी का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इसका है, अतएव इसे अवश्य ही षोडशी की 'प्रतिमा', अतएव 'प्रतिमा षोडशी' कहा जा सकता है। सत्यात्मक गुणत्रयविशिष्ट गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति (ब्रह्मा) ही इसका मूलाधार है, अतएव इसे 'सत्यस्वयम्भू' कहा जा

सकता है। इस सम्यस्वयम्भू के आधार पर विकारपरिग्रहात्मक आत्मक्षर के पञ्च विकारों के द्वारा पञ्च उपेश्वरों का प्रादुर्भाव होता है। विकारात्मक विराट्, चतुर्मुख पद्मयोनि, चतुर्मुख पुरुषान्न हद्-गर्भित हुए ही उपेश्वर हैं। इस प्रतिमाषोडशी के आधार पर उद्भूत पञ्चपुरुषात्मक पञ्चोपेश्वरों का 'उपेश्वरषोडशी' से सम्बन्ध है। प्रतिमाषोडशी मायी महेश्वर से अभिन्न है, उपेश्वरषोडशी मायीमहेश्वराविनाभूत इस प्रतिमाषोडशी के केन्द्र से मन्द होता हुआ सहस्र संख्या में विभक्त है।

प्रतिमाषोडशी भी स्वयम्भू है, उपेश्वरषोडशी भी स्वयम्भू है। नामसाम्यमात्र से दोनों को एक तत्त्व मान बैठना असङ्गत है। एक भावापत्ति में प्रतिमाषोडशीस्वयम्भू एक है एवं यही अव्यक्तस्वयम्भू परमेष्ठी, आत्मप्रजापति, सम्यक्स्वयम्भू विराट् आदि नामों से प्रसिद्ध है। एक भावापत्ति में उपेश्वरस्वयम्भू एक सहस्र हैं, जो ही 'पुरुषीस्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। पुरुषीसमष्टि (शाखात्मक) एक सहस्र उपेश्वर-स्वयम्भू भावों के सम्बन्ध से ही परमेष्ठीस्वयम्भू से अविनाभूत मायी महेश्वरलक्षण अव्यक्तात्मा 'सहस्रवल्शेश्वर' कहलाया है। इस विभेद को लक्ष्य बना कर ही प्रतिमाषोडशी की व्याख्या का समन्वय करना चाहिए।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। अक्षर को सर्वेश्वर प्रजापति कहा गया है, आत्मक्षर को विश्वसृट् प्रजापति माना गया है। अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक षोडशीपुरुष के केन्द्र में प्रतिष्ठित पञ्चकल अव्ययात्मा ऊर्ध्व व्यवस्थित ज्ञानमय अव्यय से भी युक्त है, अधोऽवस्थित अर्थमय क्षर से भी युक्त है। अक्षर की पञ्चकलाओं से, क्षर की पञ्चकलाओं से, स्वानुगत पञ्चकलाओं से परात्परलक्षण पर प्रतिष्ठित स्वयुक्त अक्षरविकार भी षोडशी की भाँति षोडशकल बन रहा है। जैसा कलाविभाग षोडशी में है वैसा ही कला-विभाग इसमें है, यही अक्षर का प्रतिमात्व है। अतएव इसे उस अव्ययषोडशी की अपेक्षा अक्षरमेव 'प्रतिमाषोडशी' कहा जा सकता है। अव्ययज्ञान से सर्वज्ञ, अक्षरार्थ से सर्ववित्, एवं स्वात्मरूप से सर्वशक्तिमान् बना हुआ सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्ववित् ज्ञानक्रियार्थमय अक्षरषोडशी ही क्षर के द्वारा विश्वकर्त्ता बनता है *।

अव्यय, अक्षर, आत्मक्षरसमष्टि का षोडशीधर्म तीन दृष्टियों से समन्वित है। अव्ययात्मा भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वालम्बन है। अक्षरात्मा भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वकर्त्ता है। क्षरात्मा भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वमय है। प्रज्ञामात्राविशिष्ट ज्ञानमात्रा विश्व का आलम्बन बना करती है। प्राणमात्राविशिष्ट क्रियामात्रा विश्वकर्त्री बना करती है एवं भूतमात्राविशिष्ट अर्थमात्रा विश्व की उपादान बना करती है। इसी दृष्टि से तीनों की व्याख्या व्यवस्थित हुई है। परात्परलक्षण व्यापक परतत्त्व पर प्रतिष्ठित अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों अभिन्न हैं, अविनाभूत हैं, अनुगत हैं। अतएव किसी भी पर्व को लक्ष्य बनाइए, तीनों का ग्रहण हो जायगा। अतएव निम्नलिखित षोडशी के तीन विवर्त्त हो जायँगे। अव्ययात्मा अक्षराक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी ज्ञानप्रधान है, यही 'षोडशी' कारण है। अक्षरात्मा अव्ययात्मक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी क्रियाप्रधान है, यही प्रतिमाषोडशी है। क्षरात्मा अव्ययाक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी अर्थप्रधान है, यही 'उपेश्वरषोडशी' है। व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन षोडशी षोडशी है, अव्यक्त षोडशी प्रतिमाषोडशी है, व्यक्त षोडशी उपेश्वरषोडशी है। तीनों में से प्रत्येक में सर्वप्रपञ्च अन्तर्भूत है, वैज्ञानिक परिलेख से स्पष्ट है—

---

* तदेतत्सत्यं-यथा सुदीप्तात्-पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

(१)—सनातनषोडशी—(अव्यय—ज्ञानप्रधान)—(आलम्बनम्)

परात्पर
- आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाङ्मया-ज्ञानम् (अव्ययोऽव्ययः)
- ब्रह्मेन्द्रविष्णु-अग्निसोममाया-अमृता-क्रिया (अक्षरोऽव्ययः)
- ब्रह्मेन्द्रविष्णु-अग्निसोममाया-मर्त्याः-अर्थाः (क्षरोऽव्ययः)

—अव्ययषोडशी-'षोडशी'

(२)—प्रतिमाषोडशी—(अक्षर—क्रियाप्रधान)—कर्त्ता

परात्परः
- ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोममाया अमृता-क्रिया (अक्षरोऽक्षरः)
- आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मया-ज्ञानम् (अव्ययोऽक्षरः)
- ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोममाया मर्त्या-अर्थ (क्षरोऽक्षरः)

—अक्षरषोडशी—'प्रतिमाषोडशी'

(३)—उपस्करषोडशी—(क्षर—अर्थप्रधान)—प्रभव

- ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोममाया मर्त्या-अर्थ (क्षरः क्षरः)
- ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोममाया अमृता-क्रिया (अक्षरः क्षरः)
- आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मया-ज्ञानम् (अव्ययः क्षरः)

—क्षरषोडशी—'उपस्करषोडशी'

६६—ब्रह्मा-इन्द्र-एवं उपेन्द्र के षोडशीभाव—

पति है । चिद्घति ब्रह्मा ज्ञानमय है, इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्वज्ञ है । इन्द्र क्रियामय है इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्वशक्तिमान् है । विष्णु अर्थमय है इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्ववित् × है । ब्रह्मात्मक सर्वज्ञ अक्षर से प्रतिष्ठाप्रधानात्मक क्षर मर्त्यब्रह्मा का विकास हुआ है । इन्द्रात्मक सर्वशक्तिमान् अक्षर से ज्योतिर्लक्षण नामरूप-कर्मात्मक मर्त्य इन्द्रविष्णु का विकास हुआ है । विष्ण्वात्मक सर्ववित् अक्षर से यज्ञलक्षण मर्त्य अग्नीषोम का विकास हुआ है । प्रतिष्ठाब्रह्मा से अभिन्न ज्ञानमय ब्रह्मा ज्ञानप्रधान अव्यय से समतुलित है, अतएव अव्ययात्मक षोडशी को 'ब्रह्मात्मकषोडशी' कहा जा सकता है यही 'षोडशी' है । ज्योतिर्लक्षण नामरूप से अभिन्न क्रियामय इन्द्र क्रियाप्रधान अक्षर से समतुलित है अतएव अक्षरात्मक षोडशी को 'इन्द्रात्मक षोडशी' कहा जा सकता है यही 'प्रतिमाषोडशी' है । अन्नपाकरूप यज्ञ से अभिन्न अर्थमय उपेन्द्र (विष्णु+) अर्थप्रधान क्षर से समतुलित है अतएव क्षरात्मक षोडशी को उपेन्द्रात्मक षोडशी कहा जा सकता है यही 'उपेश्वरषोडशी' है । निम्न लिखित वचन इसी त्रिविध षोडशी-विवर्त का समर्थन कर रहे हैं—

अव्यय—१— "षोडशकलं वै ब्रह्म" (छां० उ० ४।५।३।)।—ब्रह्मा षोडशी (षोडशी)
अक्षर—२— "इन्द्रो ह वै षोडशी" (शत० ४।२।३।१।)।—इन्द्र षोडशी (प्रतिमाषोडशी)
क्षर—३— "अतिरिक्तो वै षोडशी" (तां० ब्रा० ६।१।५।)।—उपेन्द्र षोडशी (उपेश्वरषोडशी)

❀ ❀ ❀

६७—अमृत-ब्रह्म-शुक्र-त्रयीस्वरूपदिग्दर्शन—

महामायावच्छिन्न अव्ययप्रधान महदक्षरव्यापकनिरपेक्ष अश्वत्थमूर्ति षोडशीपुरुष के ही 'अमृत-ब्रह्म-शुक्रम्' भेद से तीन विवर्त माने गए हैं । अमृतभाव का अव्ययषोडशी में ब्रह्मभाव का अक्षरषोडशी में एवं शुक्रभाव का क्षरषोडशी से सम्बन्ध है । माया-बला-परिग्रहोपेत अव्ययषोडशी 'अमृतम्' है, यही ब्रह्मयोनि है । गुण-विकार-परिग्रहात्मक अक्षरषोडशी 'ब्रह्म' है यही प्रकृतियोनि है । अञ्जन-आवरक-परिग्रहोपेत क्षरषोडशी 'शुक्रम्' है यही विकृतियोनि है । 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' के अनुसार यही अपने अव्यय-अक्षर-क्षर-रूप से त्रयीविशेषात्मक बनता हुआ त्रिवंश पञ्चवंश एवं षड्वंश बन रहा है । स्मरण कीजिए—निष्कलब्रह्मयाज्ञवल्क्यमीमांसा में हमनें सच्चिदानन्दमय के ईश्वर-जीव-जगत् भेद से तीन विवर्त बतलाए थे । उन तीनों विवर्तों का इन्हीं अमृत-ब्रह्म-शुक्ररूपात्मक त्रिविध षोडशीरूपों में समन्वय है । सच्चिदानन्देश्वर अव्ययषोडशी है । सच्चिदानन्दजीव अक्षरषोडशी + है । सच्चिदानन्द-जगत्

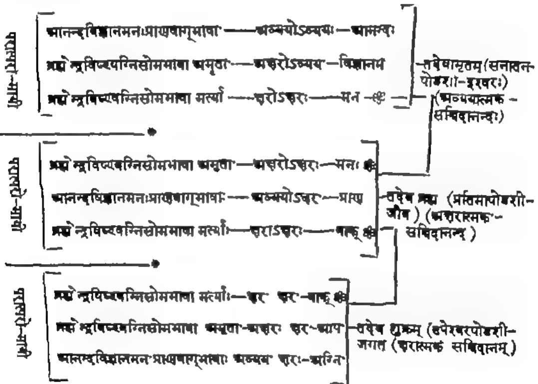
× यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म—नामरूप—मन्नं च जायते ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१। ।

+ उपेन्द्रो विष्णुरिन्द्रावरजः—इन्द्रस्य कनिष्ठभ्राता—'उपेन्द्र-इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतु-
र्भुजः' इत्यमरः ।

— इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ।
(पराप्रकृतिरक्षरः स एव जीवस्वरूपाधारभूतः)

परात्परी है = । तीनों सोपाधिक–उन्मुख सच्चिदानन्द है, चौथा परात्पर निरुपाधिक उन्मुग्ध सच्चिदानन्द है जिसका उपाधिसम्बन्ध से तीन प्रकार का विकास हुआ है । एकैकमन परात्पर 'आनन्द' है । इसका प्रथम विकास आनन्द –विज्ञान–मनः है यही 'अमृतम्' है । द्वितीय विकास–'मन-प्राणः–वाक्–है, यही 'ब्रह्म' है । तृतीय विकास वाक्–आपः–अग्नि है, यही शुक्रम् है, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है ।

❀ आनन्द–परात्पर (उन्मुग्धसच्चिदानन्दो निष्कल)–अमायी



६८–पञ्च पुण्डीरप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन—

उक्त सन्दर्भ के विश्लेषण के आधार पर पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि अक्षरप्रधान सत्यप्रजापति तो प्रतिमापोडशी है एवं आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति उपेश्वरपोडशी है । 'तस्मिंस्लोकाः श्रिताः सर्वे' के अनुसार पोडशी–प्रतिमापोडशी–गर्भित–उपेश्वरपोडशी में ही लोकसंस्था अन्तर्भूत है । सत्यप्रजापति

= भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अपरेयम् । (अपरामहति क्षरः तदिदं जगत् क्षरः सर्वाणि भूतानि ।

की ही यज्ञ विराट् विश्व ये तीन अवस्थायें हैं। वही आत्मक्षर के द्वारा यज्ञ बना है, यज्ञ के द्वारा विराट् बना है विराट के द्वारा विश्व(प्रजा)रूप में परिणत हुआ है। सत्यप्रजापति प्रतिमाषोडशी है यज्ञ, विराट विश्व, तीनों इसी के विवर्त हैं। अतएव तीनों का प्रतिमाषोडशी के स्वरूप में ही अन्तर्भाव माना जा सकता है। तीनों में से विश्वरूपा प्रजा को छोड़ दीजिए, केवल सत्य–यज्ञ–विराट्, इन तीन संस्थाओं पर दृष्टि डालिए। सत्यप्रजापति-लक्षण अव्ययात्मा सर्वेश्वरेश्वर के स्वरूप से समानुगत है, यह कहा जा चुका है। इसके गर्भ में पुण्डीर-स्वयम्भू रूप, यज्ञप्रजापतिलक्षण यज्ञात्मा प्रतिष्ठित है। तत्सपुण्डीरस्वयम्भूगर्भित अव्यक्तस्वयम्भूलक्षण परमा-त्मात्मक सत्यमूर्ति अक्षरात्मा ही प्रथम प्रतिमाषोडशी है जिसे यज्ञ–विराट्–षोडशी–भावों के पार्थक्य सूचित करने के लिए प्रतिमाषोडशी कहा जायगा। निम्न लिखित परिलेख से इसी का स्पष्टीकरण हो रहा है।

अव्यक्त स्वयम्भूरूप प्रतिमाषोडशी के गर्भमें एक स्वतन्त्र पुण्डीरस्वयम्भू प्रतिष्ठित है, वे ही उपेश्वरषोडशी है। प्रत्येक उपेश्वरषोडशी के गर्भ में चार चार प्रतिमेश्वर हैं। यही पञ्चपुण्डीर प्राजापत्यकक्षा है। पाँचों पुण्डीरों में समष्टिरूप से महिमा के द्वारा व्याप्त एकत्वेश्वर पुण्डीरस्वयम्भू ही आत्मलक्षण यज्ञप्रजापति है। अक्षरप्रतिष्ठ यह यज्ञप्रजापति उस सत्यप्रजापति की प्रतिमा है। एवं इसके गर्भ में प्रतिष्ठित चार पुण्डीर इस यज्ञप्रजापति की प्रतिमा हैं। पुण्डीरस्वयम्भू–गर्भित चार प्रतिमाप्रजापतियों की अपेक्षा पुण्डीरस्वयम्भू परम प्रजापति है। इसप्रकार उपेश्वरषोडशी के 'परमप्रजापति'– प्रतिमाप्रजापति ये दो विवर्त हो जाते हैं। 'परमपदपुनःपदरूप प्रतिमारूपम् ही प्रतिमा का लक्षण है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में वस्तुकेन्द्र, वस्तुपिण्ड, वस्तुमहिमा ये तीन तीन संस्थाविभाग माने गए हैं। वस्तुकेन्द्रावच्छिन्न तत्त्व आत्मा है। आत्मा का प्रथम प्रवर्ग्यस्थानरूप वस्तुपिण्ड 'पदम्' है। द्वितीय प्रवर्ग्यस्थानरूप वस्तुमहिमा 'पुनःपदम्' है। 'पुनःपदम्' (महिमामण्डल) अपेक्षित पशु है एवं (वस्तुपिण्ड) अर्करूप पाश है तत्केन्द्रावच्छिन्न आत्मा तदनुरूप पशुपति है। पशुपति–पाश–पशु,–उक्थ–अर्क–अशीति,–वस्तुकेन्द्र–वस्तुपिण्ड–वस्तुमहिमा,–आत्मा–आत्मा–पदम्–पुनःपदम् सभी शब्द समान अभिन्नार्थक हैं। पुण्डीरस्वयम्भू में तीनों संस्थाविभाग विद्यमान हैं। ये ही संस्थाविभाग तद्गर्भीभूत शेष चारों पुण्डीरों में हैं अतएव इन्हें पुण्डीरपरमप्रजापति की प्रतिमा कहना अन्वर्थ बनता है।

आत्मक्षर की ब्रह्मादि पाँचों सत्य कलाओं से प्राणादि पाँच विकार (गुणभूत) उत्पन्न हुए। पाँचों के पञ्चीकरण से पञ्चीकृत पाँच प्राणादि पञ्चजन (महाभूत) उत्पन्न हुए। इन पाँच पञ्चजनों के पञ्चीकरण से पाँच पुरञ्जन (रेणुभूत) उत्पन्न हुए। इन पाँच पुरञ्जनों से क्रमशः वेदपुरञ्जन से पुण्डीरस्वयम्भू लोक-पुरञ्जन से पुण्डीर परमेष्ठी, देवपुरञ्जन से पुण्डीर सूर्य भूतपुरञ्जन से पुण्डीरभूपिण्ड पशुपुरञ्जन से पुण्डीर चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। सर्व ब्रह्मादिरूप आत्मक्षर से विकार–पञ्चजन–पुरञ्जन के द्वारा उत्पन्न इन पाँचों पुण्डीरों में 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से परात्पर–अव्यय–अक्षरगर्भित आत्मक्षररूप उपेश्वर-षोडशी पाँचों में क्रमशः अपनी ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम–इन पाँच सत्यकलाओं से प्रविष्ट हो गया। अतएव ये पाँचों पुण्डीर क्रमशः ब्रह्मात्मक–विष्ण्वात्मक–इन्द्रात्मक अग्न्यात्मक–सोमात्मक कहलाए। पाँचों में ब्रह्मात्मक पुण्डीरस्वयम्भू 'ब्रह्मा' कहलाया। शेष चारों के विष्णु (परमेष्ठी), इन्द्र (सूर्य), अग्नि (भूपिण्ड) सोम(चन्द्रमा) चारों पर आत्मा–पदं–पुनःपदं–भावों से पुण्डीरस्वयम्भू से समनुगत रहते हुए महिमा नाम से व्यवहृत हुए, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से प्रमाणित है—

"स ऐक्षत प्रजापतिः (पुण्डीरस्वयम्भूः)—'इमं वाऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि'। आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत। ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त—अग्निः (पृथिवी), इन्द्रः (सूर्य्य), सोमः (चन्द्रमाः), परमेष्ठी (विष्णुः) प्राजापत्यः"।

(शत० ११।१।६।१३,१४,)।

६९—त्रि–धामात्मक विश्वकर्म्मा—प्रजापति का महिमाविवर्त—

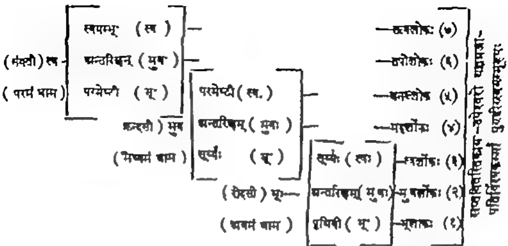
पुण्डीरस्वयम्भू ही संहिता में 'विश्वकर्म्मा प्रजापति' कहलाया, एवं चारों पुण्डीरप्रजापति विश्वकर्म्मा के रूपा कहलाए। यही विश्वकर्म्मा पुराण में *'सप्तवितस्तिकायात्मक' विराट् नाम से उपवर्णित हुआ। स्वयम्भू 'सत्यलोक' है, यही प्रथमा वितस्ति है। स्व पर, दोनों के मध्य का लोक 'तपोलोक' है यही द्वितीया वितस्ति है। परमेष्ठी 'जनलोक' है यही तृतीया वितस्ति है। परमेष्ठी सूर्य्य, दोनों का मध्यलोक 'महर्लोक' है, यही चतुर्थी वितस्ति है। सूर्य्य 'स्वर्लोक' है, यही पञ्चमी वितस्ति है। सूर्य्य–पृथिवी, दोनों के मध्य का चन्द्रलोक 'भुवर्लोक' है, यही षष्ठी वितस्ति है। पृथिवी भूलोक है, यही सप्तमी वितस्ति है यही सप्तवितस्तिकायात्मक एकमहेश्वर नामक पञ्चमेश्वरात्मक, उपेश्वरणीश्वरी है। पृथिवी, चन्द्रमा (अन्तरिक्ष), सूर्य्य तीनों की समष्टि भूः–भुवः–स्वः–रूपा प्रथमा 'रोदसीत्रिलोकी' है। सूर्य्य–अन्तरिक्ष–परमेष्ठी, तीनों की समष्टि भूः–भुवः–स्वः–रूपा द्वितीया 'क्रन्दसीत्रिलोकी' है। परमेष्ठी–अन्तरिक्ष–स्वयम्भू, तीनों की समष्टि भूः–भुवः–स्वः–रूपा तृतीया 'संयतीत्रिलोकी' है। यही त्रैलोक्यत्रिलोकी है। 'तस्मिंस्तस्थुर्भुवनानि विश्वा' से इसी त्रैलोक्यत्रिलोकी का ग्रहण हुआ है। रोदसी भूः नाम की महाव्याहृति है, यही विश्वकर्म्मा पुण्डीरस्वयम्भू का 'अवमधाम' है। क्रन्दसी भुवः नाम की महाव्याहृति है यही विश्वकर्म्मा का 'मध्यमधाम' है। संयती 'स्वः' नाम की महाव्याहृति है। यही विश्वकर्म्मा का 'परमधाम' है। त्रिधामात्मक इसी विश्वकर्म्मा का जो अपने परमेष्ठ्यादि चारों रूपों (प्रतिमाप्रजापतियों) को शिक्षा दे रहा है, निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

> या ते धामानि परमाणि, यावमा, या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ॥
> शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥१॥
> किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत् ॥
> यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥२॥
> विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ॥
> सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥३॥

—यजु० सं० १७।२१,१८,१९,।

*—क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूः–संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥

—श्रीमद्भागवत–१०।१४।११।



बतलाया गया है कि–वाक्–आप–अग्निरूप 'उर्वेव शुक्रम्' का इस उत्पत्तिस्थितिभङ्गात्मक एकवल्शेश्वर पञ्चपर्वावच्छिन्नरूप आत्मस्वरूप, उपेश्वरपरोरजाः से ही सम्बन्ध है। अमृत–मर्त्य भेद से शुक्रत्रयी के ६ विवर्त हो जाते हैं। मर्त्य वाक्–शुक्रगर्भित अमृतवाक्–शुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के प्रथम पर्व पुरडीर स्वयम्भू से है। मर्त्य आपःशुक्रगर्भित अमृत आपःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के द्वितीय पर्व पुरडीर-परमेष्ठी से है। मर्त्य अग्निशुक्रगर्भित अमृत अग्निशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के तृतीय पर्व पुरडीर-अमृत सूर्य से है। अमृत अग्नि–वाक्–शुक्रगर्भित मर्त्य अग्निशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के तृतीय पर्व पुरडीर मर्त्य सूर्य से है। अमृत आपःशुक्रगर्भित मर्त्य आपःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के चतुर्थ पर्व पुरडीरचन्द्रमा से है। एवं अमृत–वाक्–शुक्रगर्भित मर्त्यवाक्शुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के पञ्चम पर्व पुरडीरभूपिण्ड से सम्बन्ध है। इसप्रकार ६ ओं अमृतमर्त्यशुक्रों का उपेश्वर के पाँचों पुरडीरों में आंशिक उपभोग हो रहा है।

७०—पञ्चपर्वानुगत त्रिधा विभक्त 'मनोता' तत्त्व—

पुरडीरस्वयम्भू का केन्द्रस्थ मन वेद, सूत्र, नियति इन तीन तत्त्वों में ओत है, वे ही स्वयम्भू के मनोता हैं। पुरडीर परमेष्ठी का केन्द्रस्थ मन भृगु–वाक्–सोमा इन तीन तत्त्वों में ओत है, वे ही परमेष्ठी के मनोता हैं। पुरडीर सूर्य का केन्द्रस्थ मन ज्योति, गौ, आयु इन तीन तत्त्वों में ओत है, वे ही सूर्य के मनोता हैं। पुरडीर चन्द्रमा का केन्द्रस्थ मन रेतः–श्रद्धा–यशः इन तीन तत्त्वों में ओत है, वे ही चन्द्रमा के मनोता हैं। पुरडीर भूपिण्ड का केन्द्रस्थ मन वाक्–गौ–द्यौ, इन तीन तत्त्वों में ओत है वे ही भूपिण्ड के मनोता हैं। इसप्रकार पाँच स्थानों में तीन तीन मनोताओं का उपभोग हो रहा है। इनका सम्यक् परिज्ञान ही वेदपरिज्ञान है जैसाकि निम्न लिखित श्रुतिवचन से प्रमाणित है—

> यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
> यस्तद् स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥
>
> —छान्दो० उप० २।२१।३।

७१–कलाविभागस्वरूपदिग्दर्शन—

बतलाया गया है कि, आत्मक्षर से विश्वसृट् पञ्चीकृत पञ्चजन, पञ्चीकृत पुरञ्जनों के द्वारा ही पुरञ्जीरूप इन स्वयम्भू आदि पाँच पुरों का आविर्भाव हुआ है, क्योंकि इनके उपादान मर्त्य ब्रह्मादि पञ्च कलोपेत आत्मक्षर, तदनुगत अपञ्चीकृत प्राणादि पञ्चकल विश्वसृट् (विकारक्षर), पञ्चीकृत पुरञ्जन गर्भित पञ्चीकृत वेदादि पञ्चकल पुरञ्जन हैं, अतएव इन में प्रत्येक में पाँचों भावों का समन्वय हो रहा है। पहिले आत्मक्षर को ही लीजिए।

आत्मक्षरकला—

(१) पाँचों के ब्रह्मा क्रमशः–विश्वसृट्, पितामह, हिरण्यगर्भ, निधन, पद्मभूः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(२) पाँचों के विष्णु क्रमशः स्वयम्भू गोसव, नारायणः वामनः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(३) पाँचों के इन्द्र क्रमशः–वाचस्पति अर्जुनः, मघवा, वृत्रहा वासव नामों से प्रसिद्ध हैं।
(४) पाँचों के अग्नि क्रमशः–सत्याग्निः, ब्रह्माग्नि देवाग्निः, पथ्याग्नि अन्नादाग्निः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(५) पाँचों के सोम क्रमशः–प्राण, सुगुः मह, अभ्भम्, ओषधी, नामों से प्रसिद्ध हैं।

❀ ❀ ❀

विकारक्षरकला—

(१) पाँचों के प्राण क्रमशः–ऋषयः, पितर, देवा, गन्धर्वो पशव, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(२) पाँचों के आप क्रमशः–भाग्य अम्भा, मरीचि, आपः, मर नामों से प्रसिद्ध हैं।
(३) पाँचों की वाक् क्रमशः–सत्या आनुष्टुभी, बृहती, ब्रह्मरथ्या, अनुष्टुप्, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(४) पाँचों के अन्न क्रमशः–अर्कः, बाज, ब्रह्मः राजा, हविः, नामों से प्रसिद्ध हैं।
(५) पाँचों के अन्नाद क्रमशः–विश्वसुक्, पवित्रधामा सम्वत्सरः, स्वधासुक, पशुसुक्, नामों से प्रसिद्ध हैं।

❀ ❀ ❀

(१)–पाँचों के वेद क्रमशः–अग्निःश्वसितः, ब्रह्मवेदः गायत्रीमात्रिकः, अथर्व, पद्ममात्रिकः नामों से–
(२)–पाँचों के लोक क्रमशः–अशोकमहिमलोकः कामप्रलोकः, देवलोकः, पितृलोकः, मनुष्यलोकः,–नामों से–
(३)–पाँचों के देव क्रमशः–ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः सोमः अग्निः नामों से–
(४)–पाँचों के पशु क्रमशः–पुरुषः, अश्वः, गौः अविः अज नामों से–
(५)–पाँचों के भूत क्रमशः–आकाश, वायुः, तेजः, अपम् पृथिवी, नामों से–प्रसिद्ध हैं।

* * *

पञ्चकल विश्वसृट् पञ्चकल पञ्चजन, पञ्चकल पुरञ्जन रूप स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड, पाँचों पुरञ्जीरों का आधार पञ्चकल आत्मक्षर है तदाधार पञ्चकल अक्षर है तदाधार पञ्चकल अव्यय है सर्वाधार निष्कल परात्पर है। परात्पर, अव्यय अक्षर, आत्मक्षररूप षोडशी पाँचों में प्रत्येक में आधार है, विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–गर्भित पञ्च पुर पृथक्–पृथक् हैं। दूसरे शब्दों में षोडशी सर्वत्र अभिन्न है, समान

है अभिरोग है। पुर भिन्न हैं, विरोप हैं। षोडशीत्वम्या सर्वमिदमभिपम्। पुरुषत्वया सर्वमिदं विभिषम्। यही पञ्चपुरुषमय, आत्मक्षरमूलक उपेश्वरषोडशी के (जिसके अवान्तर पाँच उपेश्वरपर्व हैं, जिनमें प्रथम पर्व परमप्रजापति है, शेष चारों प्रतिमाप्रजापति हैं) तात्त्विक स्वरूप का संक्षिप्त विश्लेषण है। आत्मक्षर-प्रधान उपेश्वरषोडशी कर्मकाण्ड का आधार है। अक्षरप्रधान प्रतिमाषोडशी भक्तिकाण्ड का आलम्बन है। अव्ययप्रधान स्वरूपषोडशी ज्ञानकाण्ड की आधारभूमि है। एवं विशुद्ध अव्यय (परात्परपुरुष) बुद्धियोग का आधारस्तम्भ है, जिसके विश्लेषण का श्रेय एकमात्र गीताशास्त्र को ही प्राप्त है, जिसके संक्षिप्त स्वरूप का उपनिषदों में दिग्दर्शन हुआ है।

७२–तस्य वा एतस्यान्नतोगेवोपनिषत्—

अव्यक्त स्वयम्भूरूप आपूप्रजापति (अक्षरप्रधान स्वरूपात्मा प्रतिमाषोडशी) के गर्भ में उक्त परमेश्वर षोडशीरूप पुरुषरिस्वयम्भूलक्षण आत्मक्षरप्रधान एकमूर्ति एकरस उपेश्वर प्रतिष्ठित हैं जैसा कि पूर्वपरिच्छेद द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। प्रकृत में केवल परमेश्वरप्रतिमा एवं उपेश्वरसंस्था का परिलेख द्वारा दिग्दर्शन करा दिया जाता है जो उपेश्वरषोडशी विशेष माना गया है। परात्परस्म महेश्वर अविशेष था, पुरुषरूप सनातन षोडशी सुविशेष था, अक्षररूप प्रतिमाषोडशी शेष था, एवं आत्मक्षररूप यह उपेश्वरषोडशी सुशेष है। अभी 'सुविशेष' नामक एक आयापात्म विवर्त्त और शेष रह है। परिलेखान्तर उसके स्वरूप का भी प्रसङ्गोपात्त दिग्दर्शन कराया जायगा।

बतलाया गया है कि अक्षररूप स्वयम्भूप्रतिमाख्या प्रतिमाषोडशी के ही रस-विराट्-विरव, ये तीन विवर्त हैं। इनमें से स्वयम्भूप्रतिमा उपेश्वर नामक षोडशी का स्वरूप बतला दिया गया। अब क्रमप्राप्त विराट्प्रजापति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। स्वयम्भूप्रतिमा उपेश्वर षोडशी के गर्भ में स्व पर सू चन्द्र पृ ये पाँच पुरुषीर बतलाए गए हैं। इन पाँचों पुरुषीरों की समष्टि भावी महेश्वरप्रजापतिसंस्था अश्वत्थात्म की पञ्चपुरुषीता एक शाखासंस्था (शाखा-पत्नी) है। *इस शाखा का अन्तिम छोर भूपिण्डात्मक पुरुषीर है। यह भूपिण्ड अग्निप्रधान है। यह अग्नि चित्र-चिते-*निधेय (मर्त्य-अमृत) भेद से दो भागों में विभक्त है। भूपिण्ड चित्याग्निमय है। भूमहिमा चितेनिधेयाग्नि-मय है। भूकेन्द्र से विनिर्गत भूपिण्ड से बाहर दूरतक व्याप्त चितेनिधेयाग्निमण्डल (पुनर्भव) ही महिमा-पृथिवी है। मनोताओं का दिग्दर्शन कराते हुए हमने भूपिण्ड के वाक्-गौ-द्यौ-रूप तीन मनोता बतलाए हैं। महिमामण्डलात्मिका पृथिवी के केन्द्र से आरम्भ कर पृष्ठ (परिधि) पर्य्यन्त ४८ अहर्गण व्याप्त हैं। इसमें २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त तो वाक्-मनोता व्याप्त है। केन्द्र से आरम्भ कर ३३ पर्य्यन्त 'गौ' नामक मनोता व्याप्त है। केन्द्र से आरम्भ कर ४८ पर्य्यन्त 'द्यौ' नामक मनोता व्याप्त है। 'तस्य वा एतस्यान्नेवाग्नेयोपनिषत्' (शत १।५।१।१) के अनुसार वाक्नामक मात्याग्नि ही केन्द्र से परिधि पर्य्यन्त (४८ पर्य्यन्त) व्याप्त रहता हुआ वाक्-गौ-द्यौ रूप में परिणित हो रहा है।

७३–मही, सागराम्बरा, और अदिति—

भूपिण्ड की महिमा में इससे ऊपर के चन्द्रमा-सूर्य्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू, चारों पुरुषीरस्तों का प्रवर्ग्यरूप से समन्वय हो रहा है। ४८ पर्य्यन्त स्वायम्भुवतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही 'द्यौः' है। ३३ पर्य्यन्त

पारमेष्ठ्यतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही 'गौः' है । ३३ पर्य्यन्त सौरतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही 'वाक्' है । द्यौरूप से इसी महिमापृथिवी में प्रवर्ग्यरूप से स्वायम्भुवी संवत्सरीत्रिलोकी का क्रमशः २४–४४–४८ स्तोम भेद से भोग हो रहा है । यही द्यौर्लक्षणा, स्वायम्भुवतत्त्वात्मिका, महापृथिवी 'मही' कहलाई है । गौरूप से इसी महिमा पृथिवी में प्रवर्ग्यरूप से पारमेष्ठिनी चान्द्रसीत्रिलोकी का क्रमशः ११–२२–३३ स्तोम भेद से भोग हो रहा है । यही गौर्लक्षणा, पारमेष्ठ्यतत्त्वात्मिका, महापृथिवी 'सागराम्बरा' कहलाई है । वाग्रूप से इसी महिमापृथिवी में प्रवर्ग्य रूप से सौरी रोदसीत्रिलोकी का क्रमशः ९–१५–२१ स्तोमभेद से भोग हो रहा है । यही वाग्लक्षणा, सौरतत्त्वात्मिका, महापृथिवी 'अदिति' कहलाई है । त्रैलोक्यात्मिका अदिति–पृथिवी भूः है, त्रैलोक्यात्मिका सागराम्बरा–पृथिवी भुवः है, त्रैलोक्यात्मिका मही–पृथिवी स्वः है । तीनों व्याहृतियाँ उक्तविधविश्वस्वरूपात्मक, पञ्चपुरडीरात्मक उपेश्वरस्वरूपवत् इसी महिमापृथिवी में त्रिवृत्रूप से प्रतिष्ठित हैं । आदितिरूप भूः नाम की महाव्याहृति का त्रिवृत् (९) स्तोम 'भूः' है पञ्चदश (१५) स्तोम भुवः है, एकविंश (२१) स्तोम स्वः है । यही अदितिपृथिवीरूपा भूर्लक्षणा प्रवर्ग्यरोदसीरूपा पहिली आग्नेयी त्रिलोकी है वाक्–मनोवाङ्मयी त्रिलोकी है । सागराम्बरारूपा भुवः नाम की महाव्याहृति का एकादश (११) स्तोम भूः है द्वाविंशस्तोम (२२) भुवः है, त्रयस्त्रिंश (३३) स्तोम स्वः है । यही सागराम्बरापृथिवीरूपा भुवर्लक्षणा प्रवर्ग्यक्रन्दसीरूपा दूसरी ऐन्द्रीत्रिलोकी है गौर्मनोमयी त्रिलोकी है । महीरूपा स्वः नाम की महाव्याहृति का चतुर्विंश (२४) स्तोम भूः है, चतुश्चत्वारिंश(४४) स्तोम भुवः है अष्टाचत्वारिंश(४८) स्तोम स्वः है । यही महीपृथिवीरूपा स्वर्लक्षणा प्रवर्ग्यसंयतीरूपा तीसरी ब्राह्मी त्रिलोकी है द्यौर्मनोवाङ्मयी त्रिलोकी है । इसप्रकार भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त महापृथिवी में त्रैलोक्यरूपा तीन पृथिवीत्रिकों का भोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है ।

७४–आत्म-देव-भूत-भेदभिन्ना सत्यत्रयी—

'सत्यस्यसत्यं' लक्षण अव्ययप्रधान सनातनपाडषी के आधार पर सत्यलक्षण अक्षरप्रधान प्रतिमा-पोडषी का आविर्भाव माना गया है । एवं इस सत्यप्रजापति से ऋतलक्षण आत्मक्षरप्रधान उपेश्वरपोडषी, तथा विराट् का आविर्भाव माना गया है । सत्यस्यसत्यगर्भित (अव्ययात्मगर्भित) सत्य (अक्षरात्मा–सत्यप्रजापति) 'सत्य–यज्ञ–विराट्' इन तीन भावों में परिणत हुआ है, अतएव तीनों को 'सत्य' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है । ये तीनों सत्य उपनिषत्–परिभाषा में क्रमशः 'आत्मसत्य ब्रह्मसत्य देवसत्य' इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं । ये ही प्रकृत प्रकरण के प्रतिमापोडषी, उपेश्वरपोडषी एवं विराट्प्रजापति हैं । आत्मसत्य (अक्षर) प्रकृति है । ब्रह्मसत्य (आत्मक्षर) आत्मसत्य की प्रकृति, तथा देवसत्य की विकृति होने से प्रकृतिविकृति है । देवसत्य ब्रह्मसत्य की विकृति होने से 'विकृति' है । विराट्धर्म में प्रतिष्ठित भूतात्मक लक्षणा विश्व देवक्षरात्म विकृति से उत्पन्न होने के कारण वैकारिक है । इस दृष्टि से अक्षररूप आत्मसत्य के आत्मसत्य, ब्रह्मसत्य देवसत्य, भूतसत्य ये चार विवर्त हो जाते हैं जोकि क्रमशः सत्य यज्ञ, विराट् विश्व नामों से व्यवहृत हुए हैं । सत्य 'हृदयसत्यम्' है यज्ञ 'त्रयीसत्यम्' है विराट् 'देवाः सत्यम्' है विश्व 'नामरूप सत्यम्' है । त्रिगुण सत्य चातुर्सत्यात्मा है । इसी आधार पर भारतीय श्रौत-स्मार्त्त संस्कार आत्मसंस्कार दैवसंस्कार, भूतसंस्कार–भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त हुए हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विश्लेषण 'कर्म्मयोगपरीक्षा' 'ग' विभाग में किया जा चुका है ।

● सत्यस्यसत्यम्—अव्ययप्रधानः सनातनषोडशी पुरुषः ⎤ —आत्मसत्या (हृदयम्)
१—तदभिन्नः स्वयम्भूप्रजापतिः—प्रतिमाषोडशी—प्रकृतिसत्यः ⎦

२—तदभिन्नो ब्रह्मप्रजापतिः—उपेश्वरषोडशी—प्रकृतिविकृतिसत्य]—ब्रह्मसत्या (त्रयी)

३—तदभिन्नो विराट्प्रजापतिः—विराट्षोडशी—विकारसत्य]—देवसत्या (देवाः)

४—तच्छरीरं विश्वप्रजापतिः—विश्वम्——वैकारिकसत्यः]—भूतसत्या (भूतानि)

● ● ● ●

*—सत्यस्यसत्यम्—

१—"सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकं भवन्ति" ।

१—प्रकृतिसत्योऽक्षरः—'तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति । तदेतदेव तदास सत्यमेव"

२—प्र० वि० सत्यः क्षरः—"सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । यदेतत् सत्यं, त्रयी सा विद्या" ।

३—विकारसत्या विकारक्षर—विराजो वा एतद्रूपं यदक्षरम् (सत्यम्)

—शत० ब्रा० ८।६।१४।

४—वैकारिकसत्य—'नामरूपे सत्यम्" (शत० १४।४।४।३।)

● ● ●

७१—विराट्-रूप देवसत्य का स्वरूपदिग्दर्शन—

सनातन अव्ययतत्त्व की आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाग्रूप से पाँच कलायें बनी हैं, अक्षररूप प्रकृतिसत्य की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोमरूप से पाँच कला हैं। पञ्चात्मक अव्ययतत्त्व गर्भित पञ्चात्मक-अक्षरतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित आत्मक्षररूप प्रकृतिविकृतिसत्य भी प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद-रूप से पञ्चकलात्मक ही है। वैकारिक भूतसत्य भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश भेद से पञ्च कलात्मक ही है, परन्तु विकाररूप विराट्सत्य अग्नि, वायु, इन्द्र भेद से त्रिकल है। इसी आधार पर 'त्रिसत्या वै देवाः' यह निगम प्रतिष्ठित है। प्राणमूर्ति स्वयम्भू, आपोमूर्ति परमेष्ठी, वाङ्मूर्ति सूर्य, अन्नमूर्ति चन्द्रमा, अन्नादमूर्ति भूपिण्ड, ये पाँच पुरश्चीर पञ्च ब्रह्मसत्य हैं, जिनको समष्टि को पूर्व में 'उपेश्वरषोडशी' बतलाया गया है। इन पाँचों ब्रह्मसत्यों में से पाँचवें भूपिण्डात्मक ब्रह्मसत्य के आधार पर पूर्वप्रदर्शित त्रैलोक्यविभक्ता महिमा पृथिवी का वितान हुआ है। इस महापृथिवी के अग्नितत्त्व पृथिवी से ही विराट्-रूप देवसत्य का सम्बन्ध है।

महिमापृथिवी के ९-१५-२१ स्तोमों में अग्नि तत्त्व व्याप्त है, अतएव इसे आग्नेयी त्रिलोकी माना गया है। तीनों स्तोमप्रदेशों में क्रमशः धनाग्नि (अग्नि) तरलाग्नि (वायु) विरलाग्नि (इन्द्र) रूप एक ही अग्नि की तीन अवस्थायें प्रतिष्ठित हैं। तीनों अग्नियों के त्रिवृत्करण से क्रमशः वाग्मिप्रगर्भित त्रिमूर्ति

अग्नि अग्नीन्द्रगर्भित त्रिमूर्ति वायु, अग्निवायुगर्भित त्रिमूर्ति इन्द्र इन तीन सर्वभावों का उदय होता है। त्रिमूर्ति अर्थप्रधान अग्नि विराट् है, त्रिमूर्ति क्रियाप्रधान वायु हिरण्यगर्भ है, त्रिमूर्ति ज्ञानप्रधान इन्द्र सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ की प्रतिष्ठा २१ विंश स्तोम है, आशय (व्याप्तिस्थान) सम्पूर्ण अग्निमण्डल है। हिरण्यगर्भ की प्रतिष्ठा पञ्चदशस्तोम है आशय अदितिमण्डल है। विराट् की प्रतिष्ठा त्रिवृत्स्तोम है, आशय अदिति-मण्डल है। तीनों अग्नि के ही तीन विवर्त हैं। अग्निप्रधानरूप ही विराट् है। अतएव सहस्रपात् विराट, सहस्राक्ष हिरण्यगर्भ, सहस्रशीर्षा सर्वज्ञ तीनों की समष्टि 'विराट्प्रजापति' नाम से ही व्यवहृत हुई है। यही देवसत्यप्रजापति है यही यज्ञप्रजापति है। यही ब्रह्माण्ड के भूपिण्डरूप शरीर भाग में प्रतिष्ठित सार्वविश्वरूप है। सागराम्बरापृथिवी के त्रयस्त्रिंश स्तोमरूप अन्तरिक्ष में भुक्त चान्द्रसोम इसका प्रज्ञानात्मा है। २१-विंशात्मक सौर प्रकाश विज्ञानात्मा है। नवविंश स्तोमात्मक पारमेष्ठ्यतत्त्व महानात्मा है। मही-पृथिवी में भुक्त स्वायम्भुवतत्त्व अव्यक्तात्मा है। स्वयं भूपिण्ड भूतात्मा है। भूपिण्ड त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न सोम, एकविंशस्तोमावच्छिन्न सौरतत्त्व, नवविंशस्तोमावच्छिन्न पारमेष्ठ्यतत्त्व, अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्न स्वायम्भुव तत्त्व क्रमशः भूतात्मा-प्रज्ञानात्मा-विज्ञानात्मा-महानात्मा-अव्यक्तात्मारूप पञ्चात्मतत्त्व हैं। पाँचों के भूतात्मारूप भूपिण्डलक्षण प्रजापत्याधार पर स्थित विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति त्रिसत्य विराट् मायात्मा है। यही ईश्वरात्मा है। वस्तुतः विज्ञानभाषा में इसे ही ईश्वर कहा जाता है जो उपेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित है। उपेश्वरषोडशी के यथायथत् सत्याविभागों का इस विराडीश्वर में समन्वय हो रहा है। यही विराट्-लक्षण प्रतिमाषोडशी है जिसे उपेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित चौथे भूपिण्डात्मक प्रतिमाप्रजापति की प्रतिमा कहा जा सकता है। इसप्रकार प्रतिमाषोडशीरूप सत्यप्रजापति के प्रतिमाषोडशी, उपेश्वरषोडशी, विराट्षोडशी, भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं। तीनों को हम 'प्रतिमाषोडशी' स्वरूप में अन्तर्भूत मानते हुए तीनों का 'प्रतिमाषोडशी' नाम से ग्रहण कर सकते हैं। विराट्प्रजापति-स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव परिभाषाओं का पूर्व में जो विश्लेषण हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। अवश्य ही विराट्-परिभाषा पाठकों को उलझी सी प्रतीत होगी। इस सम्बन्ध में भक्तिपरीक्षा-पूर्वखण्ड की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा। वहाँ मही सागराम्बरा अदिति, सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ विराट्, आदि तत्त्वों का बड़े विस्तार से आगमनिगमद्वारा विश्लेषण हुआ है। प्रकृत विराट्प्रजापति के यथानुरूप समन्वय के लिए एक बार भक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड के तत्प्रकरणावलोकन का हम अपने पाठकों से विशेष आग्रह करेंगे।

७६-ईश्वर-प्रजापति की ३५४ कलाविभूतियाँ—

विराट्प्रजापति के सम्बन्ध में एक बात और बतला कर प्रकृत प्रसङ्ग से विश्राम लिया जायगा। विराट्-रूप प्रतिमाषोडशी देवसत्यप्रजापति है, तत्त्वभाषा में यही विभूतिलक्षण ईश्वर है। अनन्त ईश्वर की अनन्त विभूतियों का संख्यानदर्शन यद्यपि दुस्साहस है तथापि महर्षियों के द्वारा प्रदृष्ट तत्त्ववाद ने इस विभूतिसंख्या को सुगम-सुविज्ञेय बना दिया है। विभूतिदृष्टि से इस देवसत्यप्रजापति में आत्मकलाविभूति सामान्यकलाविभूति विशेषकलाविभूति ये तीन विभूतियाँ हैं। तीनों क्रमशः ८२ २१२ ४१ संख्याओं में विभक्त हैं। सम्भूय ३५४ (तीनसौ चौवन) विभूतियाँ हो जाती हैं, जिनका भाष्यविज्ञान के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथमखण्ड में विस्तार से तात्त्विक विश्लेषण हुआ है। विभूतिस्वरूप की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को तत्खण्ड ही देखना चाहिए। प्रकृत में विषयसङ्गति की दृष्टि से उनके केवल नाम-मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं।

(१)—'आत्मकलाविभूतय'

१—परात्परकला (५)	—मह माया		
२—अव्ययकला (५)			
३—अक्षरकलाः (५)			
४—आत्मक्षरकलाः (५)			
५—आत्मकला (५)	—अकारः		—आत्मविभूतिकला-द्वासप्ततिः (७२)
६—प्राणकला (५)	—उकारः		
७—पशुकला (१८)	—मकारः		

२—सामान्यकलाविभूतय —

१—ब्रह्म (१)	—स्वयम्भू (१)		—सामान्यविभूतिकलाः २११
२—पितरः (८)	—परमेष्ठी (२)		
३—ऋषयः (११)			
४—देवाः (३३)	—सूर्य (१)		
५—मनवः (४)			
६—गन्धर्वा (२७)	—चन्द्रः (४)		
७—ग्रहाः (४०)			
८—पशवः (५)	—भूमहिमा	—पृथिवी (५)	
९—जीवाः (३)	—भूः		

३–विशेषकलाविभूतयः —

१–विद्या	(४)	९–एकरसत्वम्	(१)	—विशेषविभूतिकलाः (५१)
२–कामाः	(२)	१०–एकाग्रस्थत्वम्	(२)	
३–कर्म	(७)	११–विश्वव्यापकत्वम्	(१)	
४–शुक्रम्	(६)	१२–विश्वकाष्ठत्वम्	(१)	
५–प्राणाः	(१०)	१३–सर्वसाक्षित्वम्	(१)	
६–इन्द्रियाणि	(५)	१४–सर्वपरित्वम्	(१)	
७–पूर्णेन्द्रत्वम्	(१)	१५–जन्माप्ययत्वम्	(१)	
८–सत्यसंकल्पत्वम्	(१)	१६–मायासीनत्वम्	(१)	

* * *

७७–सर्वसंग्रहात्मक सर्वसमन्वय—

प्रतिमायोऽव्ययी की कारणता प्रमाणित है। कलातीत निष्कल अव्यक्त अमायी 'अविशेष' परात्पर परमेश्वर के अविच्छिन्न प्रदेश में गर्भीभूत, सहस्रवल्शेश्वर, मायाकलापरिग्रहयुक्त मायी–सकल, दुर्विज्ञेय, महेश्वरप्रजापति नामक, आत्मप्रधान सनातनयोऽव्ययी योऽव्ययी है। विश्वातीत अविशेष परात्पर 'निष्कल' नामक प्रथम कारण है। तद्गर्भीभूत महेश्वरपुरुष नामक योऽव्ययी द्वितीय कारण है। इस आत्मपुरुषप्रधान सनातन योऽव्ययी से अभिन्न, एकसहस्रपुरवीर स्वयम्भूविवर्तों को अपने गर्भ में रखने वाला अव्यक्त स्वयम्भूरूप, 'आत्मप्रजापति' नाम से व्यवहृत अपरप्रकृतिप्रधान, गुणपरिग्रहयुक्त, ज्ञेय सगुणब्रह्मप्रजापति ही प्रतिमायोऽव्ययी है। इस प्रतिमायोऽव्ययी के ही तत्त्व, यज्ञ विराट् ये तीन विवर्त हैं। तत्त्वविवर्त स्वयं सगुणब्रह्मप्रजापति है। इसके आधार पर प्रतिष्ठित, परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्र–भूपिण्ड इन चार पुरवीरात्मक चार प्रतिमाप्रजापतियों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला पुरवीरस्वयम्भूरूप 'परमप्रजापति' नाम से व्यवहृत, प्रकृतिविकृतिरूप आत्मप्रधान सर्वहुतयज्ञमूर्ति, यज्ञियप्रजापति ही विशेष उपेश्वरयोऽव्ययी है, यही एकवल्शेश्वर है। इस एकवल्शेश्वर के भूपिण्ड नामक अन्तिम पर्व के महिमाद्युपिण्डीरूप महिमामण्डल में प्रतिष्ठित अविच्छिन्नप्रजावच्छिन्न विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–इत्यादि आत्मस्वरूपगर्भित वैश्वानरात्मरूप, प्राजन सविशेष विराट्प्रजापति ही ईश्वरयोऽव्ययी है। इसप्रकार आरम्भ के आत्मप्रधान सगुणप्रजापतिरूप प्रतिमायोऽव्ययी के विश्वेश्वरयोऽव्ययी, उपेश्वरयोऽव्ययी, ईश्वरयोऽव्ययी ये तीन विवर्त हो जाते हैं। अतएव तीनों की समष्टि का हम 'प्रतिमायोऽव्ययी' स्वरूप में अन्तर्भाव कर सकते हैं। विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–योऽव्ययीसमष्टि ही प्रतिमायोऽव्ययी नामक तृतीय कारण है। इस दृष्टि से *निष्कल योऽव्ययी, प्रतिमायोऽव्ययी* ये तीन ही कारण शेष रह जाते हैं, जिनका प्रकरणारम्भ में उपक्रम हुआ है एवं यहाँ उपसंहार। इतर सम्पूर्ण कारणतत्त्वों का इन्हीं तीन कारणतत्त्वों में अन्तर्भाव है जैसाकि यहीं स्पष्ट कर दिया गया है।

उक्त कारणतत्त्व–मीमांसा से एक तथ्य यह भी निष्पन्न हो जाता है कि, परमेश्वर, महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर, पाँचों नाम उपाधिभेद से सर्वथा विभक्त हैं। यह ठीक है कि, वही परमेश्वर है वही महेश्वर है वही विश्वेश्वर है वही उपेश्वर है वही ईश्वर है। परन्तु गुणदृष्ट्या 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' न्याय से परमेश्वर महेश्वर से महेश्वर परमेश्वर से महेश्वर उपेश्वर से उपेश्वर महेश्वर से उपेश्वर विश्वेश्वर से विश्वेश्वर उपेश्वर से उपेश्वर ईश्वर से, ईश्वर उपेश्वर से सर्वथा विभिन्न तत्त्व हैं। यही भेदसहिष्णु अभेद है यही वास्तविक अद्वैतनिष्ठा है। यही ज्ञानगर्भित भारतीय विज्ञानवाद है। तत्त्वज्ञानानुगता अव्यपदेश्यलक्षणा पाण्डित्यधारा के विलुप्तप्राय हो जाने से यह तात्त्विकी अद्वैतनिष्ठा अब नाम में विलुप्तप्राय बन चुकी है। "ईश्वरगर्भित उपेश्वर, सहस्रोपेश्वरगर्भित विश्वेश्वर, विश्वेश्वरगर्भित महेश्वर, ऐसे ऐसे अनन्त–अनन्त *महेश्वरगर्भित परमेश्वर एक है। महेश्वर अनन्त हैं। प्रत्येक महेश्वर के गर्भ में विश्वेश्वरानुगत* एक एक सहस्र उपेश्वर हैं। प्रत्येक उपेश्वर के गर्भ में विराट्–हिरण्मय–सर्वज्ञमूर्ति एक एक ईश्वर है" इस तात्त्विक निरूपण की आस्था में आज विलुप्ति हो गई है जिसका एकमात्र कारण है—गीताशिक्षान्तरूप बुद्धियोग की विलुप्ति। तभी भारतीय तत्त्ववाद आज अन्ध–श्रद्धा के पात्र बनते हुए बुद्धियोगतत्त्व से वञ्चित हो गए हैं। यज्ञात्मक कर्मकाण्ड का ईश्वरगर्भित उपेश्वर से ही सम्बन्ध है। उपासनात्मक भक्तिकाण्ड का ईश्वरोपेश्वरगर्भित विश्वेश्वर से ही सम्बन्ध है। अध्यात्मात्मक ज्ञानकाण्ड का ईश्वरोपेश्वरविश्वेश्वरगर्भित सहस्रवल्शेश्वर महेश्वर से ही

सम्बन्ध है, एवं सर्वात्मक–सर्वरूप बुद्धिभाव (बुद्धियोग) का ईश्वरोपेश्वरविश्वेश्वरमहेश्वरगर्भित विशुद्ध अव्ययात्मा से ही सम्बन्ध है। विश्वातीत परात्पर चारों भावों से अतीत रहता हुआ कर्म–भक्ति–ज्ञान–बुद्धियोग, चारों योगों से अभिभूत है। इन चारों योगों का मूलाधार अव्ययानुगत बुद्धियोग ही है। अतएव माया–कलादि परिग्रहों के कारण महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–भावों में परिणत होने वाला बुद्धियोगात्मक अव्यय ही तत्त्वतः 'योगेश्वर' है। यही योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण है, जिसे आप मायाद्वारा महेश्वर, गुणद्वारा विश्वेश्वर, विकारद्वारा उपेश्वर, अज्ञानद्वारा ईश्वर, सभी नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। क्योंकि योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूपपरिज्ञान के बिना तदनुगत बुद्धियोगस्वरूपपरिज्ञान असम्भव था, महेश्वरादि विश्वसंस्था पर्यालोचन में योगेश्वरपरिज्ञान असम्भव था। अतएव प्रस्तुत बुद्धियोगपरीक्षा निबन्ध में सर्वप्रथम योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करना अनिवार्य्य माना गया। एवं इस अनिवार्य्यता की पूर्ति के लिए क्रमशः निष्कल–षोडशी–प्रतिमाषोडशी, इन तीन कारणतावों की तात्त्विक मीमांसा करनी पड़ी।

सर्वसंग्रह—(६४ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

(१)—योगेश्वरतत्त्वविस्तार—

१ ● १–ऐकाग्निको रसः–निर्विशेष / २–बलविशिष्टो रसः–परात्पर } —निष्कलः–आत्मा (प्रथमं कारणम्) (परमेश्वर)

❀ ❀ ❀

२ १–परात्परपुरुषो मायी—परात्पर / २–षोडशीपुरुषः सकलः—पुरुषः } मायी,सकल षोडशी (द्वितीयं कारणम्) (महेश्वर)

❀ ❀ ❀

३ १–अक्षरः–प्रकृतिः——सगुणः सत्यप्रजापतिर्विश्वेश्वरः / २–आत्मक्षरः–प्रकृतिविकृतिः–सविकारो यज्ञप्रजापतिरुपेश्वरः / ३–विकारक्षरः–विकृतिः——साज्ञानो विराट्प्रजापतिरीश्वरः } प्रतिमाषोडशी (तृतीयं कारणम्)

❀ ❀ ❀

(२)—

● परमेश्वरे प्रतिष्ठितो योगेश्वरः (अव्ययः)——बुद्धियोगाधारः
१–योगेश्वरे प्रतिष्ठितो महेश्वरः (षोडशी)——ज्ञानयोगाधारः

२-महेश्वरे प्रतिष्ठितो विश्वेश्वरः (अक्षरः)———भक्तियोगाधारः

३-विश्वेश्वरे प्रतिष्ठितौ उपेश्वरेश्वरौ (आत्मक्षरविकारक्षरौ) कर्मयोगाधारः

* * *

(३)—

० सर्वस्यमहदक्षरगर्भितः-अव्ययः-निष्कलः-परात्परः परमेश्वरः-अविज्ञेयः]-ज्ञानयोगः

१-महदक्षरोऽक्षरगर्भितः-मायी-सकलः-षोडशी महेश्वरः-दुर्विज्ञेयः]-बुद्धियोगाम्बकः

२-महदणुक्षरगर्भितः-अव्यक्ताक्षरसम्पूर्णः सगुणः-सत्यः विश्वेश्वरः-ज्ञेयः]भक्तियोगाम्बकः

३-पञ्चपुरक्षीरेश्वरः-पुरक्षीरसम्पूर्णः, सविकारः क्षर उपेश्वर-विज्ञेय } —कर्मयोगाम्बकः

४-महाभूमिम्यां प्रतिष्ठितः, देवमत्यात्मा, साधना विराट् ईश्वरः-सुविज्ञेयः }

* * *

(४)—

०-परमेश्वरोऽविज्ञेयः ७६—७७ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

१-महेश्वरो दुर्विज्ञेयः ८०—८१ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

२-विश्वेश्वरो ज्ञेयः १००—१०१ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

३-उपेश्वरो विज्ञेयः १०४ । २ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

४-ईश्वरः सुविज्ञेयः-१०६—११०—पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

* * *

एक प्रासङ्गिक गीतार्थ का समन्वय कर प्रस्तुत परिच्छेद उपरत हो रहा है। 'ब्रह्म' शब्द गीता में महदक्षर के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अमृतम्' शब्द [illegible] के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अव्ययम्' शब्द षोडशी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'शाश्वतधर्म [illegible] के लिए, एवं 'ऐकान्तिकसुख' शब्द रसैकघन निर्विशेष के लिए प्रयुक्त है। इन आध्य [illegible] विवर्तों की मूल प्रतिष्ठा आविर्भैविक पाँचों विवर्त माने गए हैं। [illegible] ईश्वर [illegible] उपेश्वर आत्मक्षरात्मक है। [illegible] क्षरात्मक है। [illegible] है। अतएव [illegible] शब्द से इन दोनों का ग्रहण किया जा सकता है। [illegible] का प्रयुक्त है। अत— एव गीता के 'अमृतम्' शब्द से [illegible] षोडशी अव्य— माना है। अतएव गीता के 'अव्यय [illegible] है। यहाँ तक [illegible] की अभिव्यक्ति है। अतएव [illegible] से माया— गीता का विवर्त अक्षरसम्बन्धी है। अतएव [illegible] (अमृतम्),

सर्वबलविशिष्ट रसबल परात्पर ही शाश्वत माना जासकता है । अतएव इसे ही गीता के शब्दों में 'शाश्वतधर्म्म' कहा जासकता है । यही गीताइष्ट्या चतुर्थ विभूति है । विशुद्धरसरूप निर्विशेष विशुद्ध–निष्प्रपंच आनन्दरूप है । अतएव इसे गीता के शब्दों में 'ऐकान्तिक सुख' कहा जासकता है । इसप्रकार गीता ने ऐकान्तिक–सुख, शाश्वतधर्म्म, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, इन पाँच शब्दों से क्रमशः वैदिक निर्विशेष, परात्पर, षोडशी–महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर–ईश्वर, इन छओं विषयों का संग्रह कर लिया है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है–

१ विशुद्धो रस]	निर्विशेषः]	ऐकान्तिकं सुखम् (५)
२ सर्वबलविशिष्टो रस]	परात्परः]	शाश्वतधर्म्मः (४)
३ षोडशीमहेश्वरः (अव्ययप्रधानः)]	अव्ययः]	अव्यय (३)
४ विश्वेश्वरः (अक्षरप्रधानः)]	अक्षरः]	अमृतम् (२)
५ उपेश्वर (आत्मक्षरप्रधानः) ६ ईश्वरः (विश्वक्षरप्रधानः)	क्षर]	ब्रह्म (१)
मौली–दृष्टि		स्मार्त्ती (गीता) दृष्टि

'ब्रह्मणो' हि प्रतिष्ठाहं, 'अमृतस्या', –व्ययस्य' च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य', सुखस्यैकान्तिकस्य' च ॥
गीता १४।२७

७८–क्षरत्रयी से अनुप्राणिता संस्थात्रयी—

'निष्कलाक्षरस्वरूपमीमांसा' नामक पूर्व परिच्छेद में सच्चिदानन्दब्रह्म के तीन विवर्तों का दिग्दर्शन कराते हुए, एवं–प्रतिमाषोडशीक्षरस्वरूपमीमांसा नामक पूर्व परिच्छेद में अमृत–ब्रह्म–शुक्र–नाम की तीन क्षरसंस्थाओं का दिग्दर्शन कराते हुए योगेश्वर के अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत, इन तीन विवर्तों का उल्लेख हुआ है । जिस प्रकार निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी तीनों का स्वरूपपरिज्ञान योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूपपरिज्ञान के लिए आवश्यकरूप से अपेक्षित है, एवमेव योगेश्वरस्वरूप के यथावत् समन्वय के लिए उसके अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–विवर्तों का भी विश्लेषण आवश्यक रूप से ही अपेक्षित है । अतएव क्षरत्रयी–मीमांसा के अनन्तर इस संस्थात्रयीमीमांसा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

२-महेश्वरे प्रतिष्ठितो विश्वेश्वरः (अक्षरः)————भक्तियोगाधारः

३-विश्वेश्वरे प्रतिष्ठितो उपेश्वरेश्वरौ (आत्मक्षरविकारक्षरौ) कर्म्मयोगाधारः

● ● ●

(३)—

● सर्वसम्महश्वरगर्भितः-अव्ययः-निष्कलः-परात्परः परमेश्वरः-अविज्ञेयः]—योगातीतः

१-सहस्रवल्शेश्वरगर्भितः-मायी-सकलः-योगी महेश्वरः-दुर्विज्ञेयः]—बुद्धियोगाम्नायः

२-सहस्रपुण्डीरत्वसम्मूर्गर्भितः-अव्यक्तस्वयम्भूरूपः सगुणः-सत्यः विश्वेश्वरः-ज्ञेयः]भक्तियोगाम्नायः

३-पञ्चपुण्डीरेश्वरः-पुण्डीरस्वयम्भूरूपः, सविकारः, यज्ञः उपेश्वरः-विज्ञेयः }

४-महाव्रतिमय्यां प्रतिष्ठितः वैवस्वत्यस्मा, साक्षात् विराट् ईश्वरः-सुविज्ञेयः } —कर्म्मयोगाम्नायः

● ● ●

(४)—

●-परमेश्वरोऽविज्ञेयः ७६–७७ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

१-महेश्वरो दुर्विज्ञेयः ८०–८१ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

२-विश्वेश्वरो ज्ञेयः १००–१०१ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

३-उपेश्वरो विज्ञेयः १०४–१०५ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

४-ईश्वरः सुविज्ञेयः-१०८–११०-पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

● ● ●

इस प्रासङ्गिक गीतार्थ का समन्वय कर प्रस्तुत परिच्छेद उपरत हो रहा है। 'ब्रह्म' शब्द गीता में क्षरब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अमृतम्' शब्द अक्षर के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अव्यय' शब्द षोडशी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'शाश्वतधर्म' सर्वविशिष्ट परात्पर के लिए, एवं 'ऐकान्तिकसुख' शब्द ऐकेश्वर निर्विशेष के लिए प्रयुक्त है। इन आध्यात्मिक पाँचों विवर्तों की मूल प्रतिष्ठा आधिदैविक पाँचों विवर्त माने गए हैं। साक्षात् विराट्रूप ईश्वर विकारक्षरात्मक है, अधिकार उपेश्वर आत्मक्षरात्मक है। दोनों क्षरात्मक हैं। यह ही गीतापरिभाषा में 'ब्रह्म' है। अतएव गीता के 'ब्रह्म' शब्द से इन दोनों का ग्रहण किया जासकता है। अव्यक्तस्वयम्भूरूप सगुण विश्वेश्वर अक्षरात्मक है। अक्षर ही गीता का अमृत है। अतएव गीता के 'अमृतम्' शब्द से विश्वेश्वर का ग्रहण किया जासकता है। सहस्रवल्शेश्वर षोडशी अव्ययात्मा है। अतएव गीता के 'अव्यय' शब्द से इस षोडशीमहेश्वर का ग्रहण किया जासकता है। यहाँ तक मायासीमा की अभिव्याप्ति है। अतएव 'मायाया विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' न्याय से माया-सीमा का विषय क्षरणधर्म्मा ही है। अतएव माया के गर्भ में प्रतिष्ठित महेश्वर (अव्यय) विश्वेश्वर (अमृतम्) उपेश्वर-ईश्वर (ब्रह्म), इन चारों (गीतादृष्ट्या तीनों) विवर्तों का शाश्वत नहीं कहा जासकता। मायातीत-

सर्वबलविशिष्ट रसरूप परात्पर ही शाश्वत माना जासकता है । अतएव इसे ही गीता के शब्दों में 'शाश्वतधर्म्म' कहा जासकता है । यही गीताद्रष्टया चतुर्थ विभूति है । विशुद्धरसरूप निर्विशेष विशुद्ध-निष्प्रपञ्च आनन्दरूप है । अतएव इसे गीता के शब्दों में 'ऐकान्तिक सुख' कहा जासकता है । इसप्रकार गीता ने ऐकान्तिक-सुख, शाश्वतधर्म्म अव्यय, अमृत, ब्रह्म, इन पाँच शब्दों से क्रमशः वैदिक निर्विशेष, परात्पर, षोडशी-महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर-ईश्वर, इन छओं विवर्तों का संग्रह कर लिया है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है-

१ विशुद्धो रसः]——निर्विशेषः]—	ऐकान्तिकं सुखम् (५)
२ सर्वबलविशिष्टो रसः]——परात्परः]—	शाश्वतधर्म्मः (४)
३ षोडशीमहेश्वरः (अव्ययप्रधानः)]—अव्ययः]—	अव्ययः (३)
४ विश्वेश्वरः (अक्षरप्रधानः)]—अक्षरः]—	अमृतम् (२)
५ उपेश्वरः (आत्मक्षरप्रधानः) ६ ईश्वरः (विकारक्षरप्रधानः) } —क्षरः]—	ब्रह्म (१)
मौली-दृष्टिः	स्मार्त्ती (गीता) दृष्टिः

'ब्रह्मणो'[१] हि प्रतिष्ठाहं, 'अमृतस्या'[२],-'व्ययस्य'[३] च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य[४], सुखस्यैकान्तिकस्य[५] च ॥
गीता १४।२७॥

७८-कारणत्रयी से अनुप्राणिता संस्थात्रयी—

'निष्कलकारणस्वरूपमीमांसा' नामक पूर्व परिच्छेद में सच्चिदानन्दब्रह्म के तीन विवर्तों का दिग्दर्शन कराते हुए, एवं—प्रतिमाषोडशीकारणस्वरूपमीमांसा' नामक पूर्व परिच्छेद में अमृत-ब्रह्म-शुक्र-नाम की तीन कारणब्रह्मसंस्थाओं का दिग्दर्शन कराते हुए योगेश्वर के आधिदैवत अध्यात्म आधिभूत इन तीन विवर्तों का उपक्रम हुआ है । जिस प्रकार निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, तीनों का स्वरूपपरिज्ञान योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूपपरिज्ञान के लिए आवश्यकरूप से अपेक्षित है एवमेव योगेश्वरस्वरूप के यथावत् समन्वय के लिए उसके आधिदैवत-अध्यात्म-आधिभूत-विवर्तों का भी विश्लेषण आवश्यक रूप से ही अपेक्षित है । अतएव कारणत्रयी-मीमांसा के अनन्तर हम संस्थात्रयीमीमांसा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

७९–अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूतानुगत दृष्टिकोण का समन्वय—

इन तीनों संस्थाओं का पूर्वपरिच्छेदों में जिस दृष्टिकोण से समन्वय हुआ है, पहिले दो शब्दों में उसका सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक होगा। आत्मसत्ता–ज्ञान–आनन्दलक्षणविश्व सच्चिदानन्दब्रह्म ईश्वरानुगत है, यही 'अधिदैवतम्' है। स्वसत्ता–ज्ञान–आनन्दलक्षणविश्व सच्चिदानन्दब्रह्म जीवानुगत है यही 'अध्यात्मम्' है। परसत्ता–ज्ञान–आनन्दलक्षणविश्व सच्चिदानन्दब्रह्म जगदनुगत है, यही 'अधिभूतम्' है। (१ पृ)। माया–कलादि परिग्रहों के तारतम्य से पूर्वपरिच्छेदों में सर्वकलाविशिष्टपरात्परमूर्ति, आत्मस्वरूप, अमायी, उभयुक्त सच्चिदानन्दलक्षण निष्कल परात्परब्रह्म (परमेश्वर) के ९ विवर्तों का अमृत–ब्रह्म–शुक्ररूप से विभेद हुआ है। मायापरिग्रहयुक्त मायी परात्परपुरुष' कलापरिग्रहयुक्त सकल षोडशीपुरुष दोनों आत्मन्वी (प्रजापति) संस्थाओं की समष्टि ही 'अमृतम्' है। यही आत्मसत्ता–ज्ञान–आनन्दलक्षणविश्व सच्चिदानन्द है। गुणपरिग्रहयुक्त सगुण सत्यप्रजापति विकारपरिग्रहयुक्त सविकार यज्ञप्रजापति, दोनों आत्मन्वी संस्थाओं की समष्टि ही 'ब्रह्म' है। यही स्वसत्ता–ज्ञान–आनन्दलक्षणविश्व सच्चिदानन्दब्रह्म है। अञ्जनपरिग्रहयुक्त विराट्–प्रजापति, आवरणपरिग्रहयुक्त विश्वप्रजापति", दोनों आत्मन्वी–संस्थाओं की समष्टि ही 'शुक्रम्' है। त्रिभावापन्न अमृत सच्चिदानन्द आत्मप्रधान बनता हुआ सनातन महायोगेश्वरी है, त्रिभावापन्न ब्रह्मसच्चिदानन्द ब्रह्मप्रधान बनता हुआ प्रतिमायोगेश्वरी है, एवं त्रिभावापन्न शुक्र सच्चिदानन्द अर्थप्रधान बनता हुआ उपेश्वरयोगेश्वरी है। योगेश्वरी ईश्वरानुगत बनता हुआ 'अधिदैवतम्' है प्रतिमायोगेश्वरी जीवानुगत बनता हुआ 'अध्यात्मम्' है। उपेश्वरयोगेश्वरी विश्वानुगत बनता हुआ 'अध्यात्मम्' है। एकमात्र इसी दृष्टिकोण के आधार पर इन तीनों अमृत–ब्रह्म शुक्रसंस्थाओं का पूर्वपरिच्छेदों में अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–नाम से व्यवहृत कर दिया गया है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

(६) १–मायी परात्परपुरुषः (५) २–सकलः षोडशीपुरुषः	—परमेश्वरो महायोगेश्वरी (अमृतम्–ईश्वरानुगतमधिदैवतम्–आत्मप्रधानम्)।
(४) १–सगुणः सत्यप्रजापतिः (३) २–सविकारो यज्ञप्रजापतिः	—विश्वेश्वरः प्रतिमायोगेश्वरी (ब्रह्म–जीवानुगतमध्यात्मम्–ब्रह्मप्रधानम्)।
(२) १–साञ्जनो विराट्प्रजापतिः (१) २–सावरणो विश्वप्रजापतिः	—उपेश्वरयोगेश्वरी (शुक्रं–जगदनुगतमधिभूतम्–अर्थप्रधानम्)।

—(११ इत्येतानि ब्रह्म्यम्)।

प्रकारान्तरेण—(१११ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

निष्कलब्रह्म १ [०–ऐकान्तिको रसः / ०–बलविशिष्टो रसः] —परात्पर –परमेश्वर–आत्मा तदेव—

षोडशीब्रह्म २ [१–परात्परपुरुषो मायी (माया) / २–षोडशीपुरुषः सकला (कला)] —महेश्वरप्रजापतिः–सत्यसत्यम्]–अमृतमुच्यते (आधिदैवतम्)

पु धा ध ३ [
१–अक्षरप्रजापतिः सगुणः (गुणाः)—विश्वेश्वर सत्यप्रजापति]–ऋतम् (अध्यात्मम्)

१–आत्मक्षरप्रजापतिः सविकारः (विकाराः) सर्वेश्वरः यज्ञप्रजापतिः
२ विकारक्षरप्रजापतिः आञ्जनः (अञ्जनम्) ईश्वरः विराट्प्रजापतिः
३–वैकारिकक्षरप्रजापतिः आवरणः (आवरणम्) विश्वम् विश्वप्रजापतिः]—तदेव शुक्रम् (आधिभूतम्)
]



८०–त्रिविध जीवविवर्तस्वरूपदिग्दर्शन—

यह तो हुआ सिंहावलोकन। अब प्रकृत दृष्टि से तीनों संस्थाओं का समन्वय कीजिए। विज्ञानभाषा में ईश्वरतत्त्व पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्ति वैश्वस्वात्मा ब्रह्मरूपगर्भित साम्बन विराट्प्रजापति का नाम है। यही प्रकृत दृष्टि है। इसी को आधार बना कर तीनों संस्थाओं का समन्वय करना है। यह ईश्वरतत्त्व ही साक्षी भोक्ता भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। ईश्वरतत्त्व का 'साक्षी' रूप 'ईश्वर' कहलाता है एवं भोक्ता रूप 'जीव' कहलाता है। जीवस्वरूपात्मक ईश्वर, किंवा ईश्वरस्वरूपात्मक भोक्ता जीव के भी वे ही तीन पर्व हैं जो तीन पर्व ईश्वरस्वरूपात्मक साक्षी ईश्वर के माने गए हैं। साक्षी ईश्वर का विराट् पर्व भोक्ता–ईश्वर–[जीव]संस्था में 'वैश्वानर' कहलाता है। हिरण्यगर्भ पर्व 'तैजस' एवं सर्वज्ञ पर्व 'प्राज्ञ' कहलाता है। विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–पर्वत्रयात्मक पार्थिव–साक्षी ईश्वर से समतुलित वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–पर्वत्रयात्मक पार्थिव भोक्ता जीव के इन तीनों पर्वों के तारतम्य से आगे जाकर जीवसृष्टि त्रेधा विभक्त हो जाती है। जिन जीवों में तीनों पर्व प्रस्फुटित हैं, वे जीव 'ससंज्ञ' कहलाए हैं। जिन जीवों में तैजस–वैश्वानर, ये दो पर्व प्रस्फुटित, किन्तु प्राज्ञ पर्व अभिभूत है, वे जीव 'अन्तःसंज्ञ' कहलाए हैं। जिन जीवों में केवल वैश्वानर पर्व प्रस्फुटित, शेष दोनों पर्व अभिभूत रहते हैं वे जीव 'असंज्ञ' कहलाए हैं। दूसरे शब्दों में ज्ञानप्रधान जीव ससंज्ञ हैं, क्रियाप्रधान जीव अन्तःसंज्ञ हैं, अर्थप्रधान जीव असंज्ञ हैं। कर्मजजीव

'जीवजीव' कहलाए हैं। अन्तश्चेतन जीव मूलजीव कहलाए हैं, एवं असंज्ञ जीव धातुजीव कहलाए हैं। जीवजीव 'चेतनसेन्द्रियजीव' हैं, मूलजीव अर्द्धचेतनस्पर्शेन्द्रियसमन्वित 'एकेन्द्रियजीव' हैं, धातुजीव अर्द्धचेतन-'अनिन्द्रियजीव' हैं। चेतन सेन्द्रियजीव 'जङ्गमजीव' हैं, अर्द्धचेतन एकेन्द्रिय मूलजीव, और अचेतन-निरिन्द्रिय धातुजीव दोनों स्थावरजीव हैं। अतएव तीन जीवविवर्तों के जङ्गम, स्थावर, भेद से दो ही जीवविवर्त प्रधान मान लिए जाते हैं। इसप्रकार ईश्वर (विराट्प्रजापति) में उत्पन्न जीववर्ग के चर-अचर भेद से दो ही शेष विवर्त रह जाते हैं। ईश्वर 'ईश्वर' है, चर प्रपञ्च 'जीव' है, अचर प्रपञ्च 'जगत्' है। यही ईश्वर-जीव-जगद्रूप त्रिरूपात्मक विविधाद्वैत है, जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है।

विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति पार्थिवो महाविराट्प्रजापतिरीश्वरः-साक्षी सुपर्णः—ईश्वरः

वैश्वानर-तैजस प्राज्ञमूर्त्ति-पार्थिवः क्षुद्रविराट् प्रजापतिर्जीवः-भोक्ता सुपर्णः—जीवः

—•—

१ वैश्वानर-तैजस प्राज्ञरूपेण प्रस्फुटितः-ससंज्ञजीवः————चेतन]—जङ्गमो भोक्ता—जीव

२ वैश्वानर-प्राज्ञरूपेणाभिभूततैजसरूपेण प्रस्फुटितः अन्तःसंज्ञजीवः-अर्द्धचेतनः } स्थावरो भोग्य जगत्

३ प्राज्ञतैजसरूपेणाभिभूतो वैश्वानररूपेण प्रस्फुटितः-असंज्ञजीवः-अचेतनः }

—•—

८१—'अधिदैवत' उपाधि का अधिकारी परमविराट्प्रजापति—

माया-कला-परिच्छिन्न षोडशीपुरुष (महेश्वरप्रजापति) अव्ययप्रधान माना गया है। उक्त त्रिलोकात्मा के विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति विराट्-रूप ईश्वर के साथ इस अव्ययप्रधान महेश्वर का प्रधान सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर गीता में ईश्वरतत्त्व का—'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' यह लक्षण कर दिया गया है। महाविराडीश्वर ही अधिदैवतम् है। महेश्वर षोडशी का इस से प्रधान सम्बन्ध है। इसी दृष्टिकोण से पूर्वपरिच्छेदों में अक्षर-क्षरात्मक सत्यसत्य-लक्षण-अव्ययप्रधान महेश्वर-प्रजापति को 'अधिदैवतम्' कह दिया गया है। अधिदैवतम् में 'दैवत' पद पठित है, जो देवभाव का सूचक है। उधर देवतात्मा केवल विराट् ही है। अतः तत्त्वतः 'अधिदैवत' उपाधि का यही अधिकारी माना जायगा।

८२—'अध्यात्म' उपाधि का अधिकारी क्षुद्रविराट्प्रजापति—

गुणत्रिपुरुषस्थ ब्रह्मप्रजापति अक्षरप्रधान माना गया है। विराडीश्वर के अंशभूत वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप भोक्ता जीव के साथ इस अक्षरप्रधान ब्रह्मप्रजापति का प्रधान सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर गीता में जीवप्रकृति का—'जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत्' यह लक्षण कर दिया गया है। क्षुद्रविराट्-जीव ही 'अध्यात्मम्' है। ब्रह्मप्रजापति का इसी से प्रधान सम्बन्ध है। अतः इसी दृष्टिकोण से

प्रवर्ग्यस्यात्मक–अक्षरप्रधान–सत्यप्रजापति (विश्वेश्वर) को 'अध्यात्मम्' कह दिया गया है। तत्त्वत 'अध्यात्मम्' शब्द अक्षरानुगत–विराडंशभूत चेतनजीववर्ग के साथ ही सम्बद्ध है।

८३–'अधिभूत' उपाधि का अधिकारी शिपिविष्टप्रजापति—

विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति (उपेश्वर) आत्मक्षरप्रधान माना गया है। विराडीश्वर के अंशभूत स्थावरजीव के साथ इस आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति का ही प्रधान सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर गीता में इस जगत्प्रकृति का 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' यह लक्षण किया गया है। यज्ञविराड्रूप जगत् ही 'अधिभूतम्' है। यज्ञप्रजापति का इसी से प्रधान सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण से शुक्रसर्गात्मक–आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति (उपेश्वर) को पूर्व में 'अधिभूतम्' कह दिया गया है। तत्त्वत' अध्यात्मम् शब्द आत्मक्षरानुगत–विराडंशभूत–अचेतन जीववर्गों के साथ ही सम्बद्ध है। इस विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, महेश्वराव्ययानुगत साक्षी अंशी महाविराट् ही ईश्वर है, यही अधिदैवतम् है। विश्वेश्वराक्षरानुगत भोक्ता–अंश–सूक्ष्म–शुक्रविराट् ही जीव है यही अध्यात्मम् है। एवं उपेश्वरात्मक्षरानुगत अंश–स्थावर–शिपिविष्ट ही जगत् है यही 'अधिभूतम् है। यही त्रिसंस्था का प्रकृत दृष्टिकोण है। इसी का क्रमशः विश्लेषण अपेक्षित है।

प्रकृतदृष्टिकोणानुगता संस्थात्रयी—

महेश्वराव्ययानुगत—विराड्हिरण्यगर्भसर्वज्ञमूर्त्तिर्विराडीश्वरः–परमविराट्—"अधिदैवतम्'
विश्वेश्वराक्षरानुगतः–वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्अंशभूतो जीव —शुक्रविराट – "अध्यात्मम्'
उपेश्वरात्मक्षरानुगतः–तैजसप्राज्ञगर्भितं वैश्वानरमयं स्थावरं जगत्–शिपिविष्ट—"अधिभूतम्'

* * * *

८४–सावरणविश्वप्रजापति का स्वरूपसमन्वय—

पाठकों को उनके एक प्रश्न का हम स्मरण करा देना आवश्यक समझते हैं। मायादि परिग्रहों का विश्लेषण करते हुए अञ्जन नामक ५ वें परिग्रह पर ही विश्राम मान लिया गया है। माया–कला–परिग्रहयुक्त महेश्वर, गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति, विकारपरिग्रहयुक्त यज्ञप्रजापति, अञ्जनपरिग्रहयुक्त विराट्प्रजापति, इसप्रकार माया से आरम्भ कर अञ्जनपर्यन्त पाँच परिग्रहों का विश्लेषण हुआ है। यदि आवरण विश्वप्रजापति से त्रैलोक्यत्रिकोशीरूप सप्तभुवन अपेक्षित हैं, तो इसका तो यज्ञप्रजापतिस्वरूप में ही अन्तर्भाव हो रहा है जैसाकि यज्ञस्वरूपनिरूपण में स्पष्ट कर दिया गया है। फिर आवरणपरिग्रहरूप 'विश्वप्रजापति' का स्वरूप क्या है, क्यों इसे एक स्वतन्त्र संस्था माना गया है। प्रश्न का उत्तर संकेत द्वारा पूर्व में दिया जा चुका है। पूर्व परिच्छेदों में विभिन्न दृष्टियों से समन्वित होने वाले षट्–परिग्रहों में से केवल दो दृष्टियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। परात्परात्मा मायी है, पुरुषात्मा कलावान् है अक्षरात्मा सगुण है आत्मक्षरात्मा सविकार है विकारक्षरात्मा साञ्जन है, वैकारिकात्मा सावरण है। ये ही ६ वों विवर्त क्रमशः महेश्वर, षोडशी, सत्य यज्ञ, विराट् विश्वम् हैं, (देखिए पृ० ६ ९२)। यही एक दृष्टिकोण है। यहाँ सावरण 'विश्व' को सप्तात्मक बतलाया गया है। सप्त जीववर्ग का नाम है।

फलतः सावरण विश्व से इस सत्यात्मक जीववर्ग का ही महत्त्व न्यायसिद्ध बन जाता है । सत्यजीवरूप विश्व उपेश्वरशरीररूप सत्यम् घनात्मक महाविश्व से पृथक् तत्त्व है । प्रश्नस्यापि गतार्थ है । बृहद् दृष्टिकोण 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' निगम से सम्बन्ध रखता है । मायायुक्त महेश्वर, तथा कलायुक्त योगेश्वरी, दोनों की समष्टि 'महेश्वरप्रजापति' है । गुणपरिग्रहयुक्त तत्त्व तत्त्व विश्वेश्वरप्रजापति है । विकारपरिग्रहयुक्त सर्वतत्त्व उपेश्वरप्रजापति है । अञ्जनपरिग्रहयुक्त विराट् और आवरणपरिग्रहयुक्त विश्व (जीवभूमी), ईश्वरप्रजापति है । इस दृष्टि से चार विश्व हो रहे हैं (देखिए–पृ० सं० ९२) । चूंकि महाविश्वात्मक, सत्यतः 'विश्व' शब्दवाच्य विश्व सर्व का उपेश्वर में अन्तर्भाव हो जाता है तो ईश्वरप्रजापति के गर्भ में प्रतिष्ठित सावरण विश्व के लिए केवल सत्यवर्ग (जीववर्ग) ही शेष बचता है । उसी का 'सावरण विश्वप्रजापति' से ग्रहण करना चाहिए । प्रत्येक जीव का अपना अपना पाञ्चभौतिक शरीर अपना अपना विश्व है । इन स्व–स्व विश्व के तत्स्थानीय पति बनते हुए विश्वप्रजापति हैं । अंशरूप होने से ये विश्वप्रजापति (जीव) नाना हैं * । जिस प्रकार हमारे शरीरधातुओं में असंख्य जीवाणु व्याप्त हैं एवमेव विराट्शरीर में जीवाणुस्थानीय असंख्य विश्वप्रजापति व्याप्त हैं । उपेश्वरशरीरों के भेद से ऐसे ऐसे विराडीश्वर एक लाख हैं । आगे इन संस्थाओं का क्रमिक उत्तरोत्तरसम्बन्ध है जिसका निष्कर्ष है–'सर्वमिदमनन्तम्' । निष्कर्ष यही निकला कि, महाविश्वप्रजापति के अंशभागों से सम्बन्ध रखने वाले अमृत–मर्त्यात्मक–सत्यरूप (जीवरूप) क्षुद्र विराट् ही सावरण विश्वप्रजापति है । इसी के साथ अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत संस्थाओं का समन्वय हो रहा है ।

८५–अनश्नन् साक्षी, एव अश्नन् भोक्ता—

पुनः एक प्रश्न उपस्थित हुआ । विराट्प्रजापतिलक्षण ईश्वर तत्त्व को पूर्व में अधिदैवत कहा गया है । अब यहाँ अधिदैवत का भी सावरण विश्व–(जीव)–संस्था से ही सम्बन्ध बतलाया जा रहा है । दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कैसे सम्भव है ? । उत्तर विराट्–ईश्वर के ही दो विवर्तों से सम्बन्ध रखता है । भूकेन्द्र से आरम्भ कर भूमहिमा के ४८ वें अहर्गणपर्यन्त व्याप्त त्रैलोक्यसम्पत्क पार्थिव त्रैलोक्य में एकरूप से–अखण्डरूप से–व्याप्त विराट् हिरण्यगर्भ–सर्वमूर्ति महाविराट् 'त्रैलोक्यात्मा' है । यही विराडीश्वर का मुख्य–तथा प्रातिस्विक विवर्त है । यही सर्वसाक्षी विराडात्मा है । प्रत्येक जीव के साथ विभूतिरूप से इस विराट् का सम्बन्ध होता है । जीवप्रमुख्या कर्मात्मिका योगमाया से सीमित, जीवलोकसीमा (जीवशरीरसीमा) से सीमित, किन्तु विभूति सम्बन्ध के कारण सर्वथा असङ्गरूप से प्रतिष्ठित सत्य–सत्यात्मक व्यक्तिरूप विराट् 'सर्वभूतान्तरात्मा' है । प्रत्येक जीवसंस्था का विराडीश्वर उस जीवसंस्था का ही साक्षी है अतएव इसे सर्वसाक्षी न कह कर 'जीवसाक्षी' कहा जायगा । अन्य जीवोत्क्रान्ति पर उसका सर्वभूतान्तरात्मारूप जीवसाक्षी विराट् स्वमहिमारूप त्रैलोक्यात्मक महाविराट् में विलीन हो जायगा किन्तु अनुत्क्रान्त जीवशरीरों में उनका साक्षीविराट् उन्हीं में प्रतिष्ठित रहेगा । यही प्रत्येक जीवात्मा का प्रातिस्विक साक्षी विराडीश्वर कहलाएगा । महाविराट् जहाँ त्रैलोक्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है वहाँ यह जीवसाक्षीविराट् जीवशरीर के केन्द्र में

---

*–"अंशो नानाव्यपदेशात्, अन्यथा चापि–दाशकितवादित्वमधीयत एके"

—व्याससूत्र २।३।१७।४३।

रहता है। जीवशरीर में ही ईश्वर, जीव, नाम के दो सन्त्रायी माने गए हैं। हृदयस्थ सर्वभूतान्तरात्मा साक्षी सन्त्रायी है, यही ईश्वर है। तदनुगत भूतात्मा (जीवात्मा) भोक्ता सन्त्रायी है यही जीव है। दोनों सुपर्ण एक ही हृद्बिन्दु में सयुग्रूप से प्रतिष्ठित हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार उसी भौतिक शरीर में प्रतिष्ठित एक (साक्षी हृदयस्थ ईश्वरविराट्) अनश्नन् अभिचाकशीति। भोगमर्यादा से असंस्पृष्ट रहता हुआ भोग भोगने वाले भोक्ता सुपर्ण (जीव) की चौकसी कर रहा है। दूसरा (भोक्ता हृदयस्थ जीवविराट्) 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' भोगों में लिप्त रहता है। गीता के शब्दों पर लक्ष्य दीजिए—

> "सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
> सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" ॥
>
> —गीता १३।१३।

८६—ईश्वरभावानुगत गीतावचनसमन्वय—

'सर्वमावृत्य तिष्ठति' लक्षण महाविश्वेश्वर ही अर्द्धसहस्राक्षरपरिधि बनता हुआ केन्द्रानुगत शक्तियों का परिधिपर्य्यन्त समानरूप से प्रचार करने में समर्थ बनता हुआ सर्वतःपाणिपादादि लक्षण बन रहा है। 'लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः' ही 'सर्वमावृत्य तिष्ठति'। यही समष्टिरूप लोकत्रयात्मा विराट् है। उक्तलक्षण लोकत्रयात्मा विराट् के अंशभूत विराट् का ही नाम जीवानुगत विराट् है। यही विभूतिरूप से हृदयस्थ जीवसाक्षी विराट् है यही विलिरूप से हृदयस्थ जीवविराट् है। दोनों अभिन्न रूप से एक ही शरीरसंस्था में प्रतिष्ठित हैं। विभूतिसम्बन्धावच्छिन्न हृदयस्थ जीवसाक्षी ईश्वरविराट् सर्वेन्द्रियविवर्जित है, असक्त है, निर्गुण है। विलिसम्बन्धावच्छिन्न हृदयस्थ जीवविराट्—सर्वेन्द्रियगुणाभास है, सर्वभृत् है, गुणभोक्ता है। पूर्वश्लोक से भगवान् ने समष्टिलक्षण लोकत्रयात्मा महाविराट् का दिग्दर्शन कराया, एवं निम्न लिखित उत्तरश्लोक से व्यष्टिलक्षण हृदयावच्छिन्न ईश्वरविराट् के साक्षी, भोक्ता दोनों विवर्तों का स्वरूप दिग्दर्शन कराया—

> सर्वेन्द्रियगुणाभासं (जीवविराट्)—भोक्ता हृदयस्थः
> सर्वेन्द्रियविवर्जितम् (ईश्वरविराट्)—साक्षी हृदयस्थः
> असक्तं————(ईश्वरविराट्)
> सर्वभृच्चैव———(जीवविराट्)
> निर्गुणं————(ईश्वरविराट्)
> गुणभोक्तृ च——(जीवविराट्)—गीता० १३।१४।

जिस प्रकार जीवविराट् स्वस्थानसमनुस्थित सर्वभूतान्तरात्मलक्षण अपने जीवसाक्षी विराट् से अभिन्न है, एवमेव यह जीवसाक्षीरूप व्यष्टिविराट् उस समष्टिरूप लोकत्रयात्मकलक्षण महाविराट् से अभिन्न है। यही तो विभूतिसम्बन्ध से जीवसाक्षी बना है। लोकत्रयात्मा सर्वभूतान्तरात्मा, दोनों की इस अभिन्नता का साथ ही दोनों के प्रातिस्विक विभिन्नधर्म्म—भावों का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर भगवान् कहते हैं—वह अपने

समष्टिरूप से सबसे बहिर्भूत है, अपने व्यष्टिरूप से सबमें अन्तःप्रविष्ट है। समष्टिरूप से वह अचर है, व्यष्टिरूप से वह चर है। समष्टिरूप से वह सुसूक्ष्म बनता हुआ अविज्ञेय है, दूरस्थ है। व्यष्टिरूप से वह विज्ञेय है, समीपस्थ (अन्तिके समीप) है। सम्पूर्ण भूतों में वह अपने समष्टिरूप से अविभक्त है, व्यष्टिरूप से सब व्यष्टियों (जीवों) में विभक्त सा बन कर प्रतिष्ठित है। व्यष्टिरूप से ही वह जीवरूप भूत का (भूतात्मा का) भर्त्ता बनता हुआ भूतभर्त्ता है, जीव के लिए ज्ञेय है, जीव का प्रतिसञ्चरकाल में ग्रास करता हुआ ग्रसिष्णु है, सञ्चरकाल में जीवप्रभव बनता हुआ प्रभविष्णु है।

> बहि' (महाविराट्), अन्तश्च भूतानां—(जीवसाक्षीविराट्) ।
> अचर (महाविराट्), चरमेव च (,,)
> सुसूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं (महाविराट्)
> चान्तिके च तत् (जीवसाक्षीविराट्) —गीता० १३।१५।
> अविभक्तं च भूतेषु (महाविराट्)
> विभक्तमिव च स्थितम् (जीवसाक्षीविराट्)
> भूतभर्तृ च, तज्ज्ञेयं, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु च (जीवसाक्षीविराट्)
>
> —गीता १३।१६।

उक्त गीतादृष्टि के अनुसार विराट्प्रजापति के व्यापक जीवानुगत विभूतिरूप, जीवात्मक चितिरूप भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। व्यक्तिलक्षण जीवात्मक विराट् भी ज्ञानज्योतिर्मय है, व्यक्तिलक्षण विभूतिरूप जीवानुगत जीवसाक्षीविराट् भी ज्ञानज्योतिर्मय है। इन समस्त ज्ञानज्योतियों का मूलाधार महाविराट् है। अतएव उस व्यापक विराट् को अवश्य ही—'तमसः परं—ज्योतिषां ज्योतिः' कह सकते हैं। इसका अपना व्यापक स्वरूप (महाविराट्रूप) तो 'ज्ञानगम्य' (बुद्धियोगगम्य) है, इसका व्यष्टिरूप जीवसाक्षी स्वरूप 'ज्ञेय' है, एवं इसका व्यक्तिरूप जीवस्वरूप 'ज्ञान' (जानने का साधन ज्ञाता) है। ज्ञानरूप ज्ञाता जीवविराट् है, ज्ञेयरूप जीवसाक्षी विराट् है, ज्ञानगम्य तत्त्व महाविराट् है। इसप्रकार तत्त्व, विभूति, चिति, भावों से यही ज्योतिषां ज्योतिः क्रमशः ज्ञानगम्य-ज्ञेय-ज्ञान (ज्ञाता) रूपों में परिणत होता हुआ व्यापक महाविराट्, जीवानुगत विभूतिविराट्, जीवात्मक चितिविराट्—रूप से तीन भावों का प्रवर्त्तक बन विभूतिरूप से सब प्राणियों के हृदय में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसी [illegible] का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने अन्त में कहा है—

> ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

(१) ज्ञानं——जीवविराट्
(२) ज्ञेयं——जीवसाक्षीविराट्
(३) ज्ञानगम्यं-महाविराट्

}—हृदि सर्वस्य विष्ठितम् (विभूतिस्वरूपतः)

—गीता १३।१७।

* * *

महाविराट्-ईश्वरः-उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

❀ ❀ ❀

जीवसाक्षी-ईश्वरः-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

• • •

८७—जीवविराट्—मायानुगता स्मार्त्ता दृष्टि—

दो शब्दों में स्मार्त्तदृष्टि से भी विषयसमन्वय कर लीजिए। जीवशरीर में दो तन्त्रायी हैं, यह कहा गया है। हृत्प्रतिष्ठ जीवसत्ता का मूलाधार जीवसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा नामक ईश्वरविराट् 'परमात्मा' है। यह बन्ध-मोक्ष-भावों से असंस्पृष्ट है। स्वयं जीवात्मा 'भूतात्मा' नामक जीवविराट् है, यही जीवात्मा है, यही कर्म्मात्मा है, जिसे उपाधिपरिच्छेद से, बन्ध-मोक्ष भावों से युक्त माना गया है, जिन भावों का 'अध्यात्मसंस्था' नामक अगले परिच्छेदों में विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। इस दृष्टि से भी केवल जीवसंस्था में ही ईश्वरविराट् (परमात्मा), जीवविराट् (कर्म्मात्मा) दो आत्माओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

जीवानुगत-ईश्वरविराट्-तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ॥
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१॥

❀ ❀ ❀

जीवात्मको जीवविराट्—कर्म्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥२॥

—महाभारत

• • •

कीजिए विस्तारक्रम को। यह सिद्ध हो गया कि, अव्यक्त महाविराट् से अतिरिक्त विराट् ही के योगमायानुगत जीवसाक्षीविराट्, जीव विराट् ये दो विवर्त्त और हो जाते हैं। जीवविराट् पूर्वकथनानुसार जङ्गम-स्थावर भेद से दो भागों में विभक्त है। स्थावर जीवविराट् जगत् है, जङ्गम-जीवविराट् जीव है उभयसाक्षी व्यक्तिरूप हृदयस्थ विराट् ईश्वर है। और ईश्वर-जीव-जगत्लक्षणा यह त्रयी उस महाविराट्-अजनप्रजापति के गर्भ में भुक्त है। अजनविराट्प्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित ईश्वरविराट्-जीवविराट्-जगद्विराट्, तीनों सापेक्ष हैं। यद्यपि ईश्वरविराट् (हृदयस्थ साक्षी विराट्) उस महाविराट् से अभिन्न बनता हुआ स्वस्वरूप से निरपेक्ष है। तथापि जीवविच्छिन्न-लक्षणलक्षणात्मिका योगमाया-सम्बद्ध जीवात्मा के साक्षी बनने से सापेक्षा जीवसंस्था में प्रतिष्ठित रहने से इसका भी सापेक्ष-जीवसंस्था में ही अन्तर्भाव मान लिया गया है जिस अध्यात्मसंस्थाप्रतिष्ठित अतिविशिष्टरूप ईश्वरात्मा की इस योगमायानुगत सापेक्षता का गीता के द्वारा—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' इन शब्दों में समर्थन हुआ है।

८८–कारणत्रयी से अनुप्राणिता कार्य्यत्रयी—

सावरणप्रजापति विश्वप्रजापति है यही सत्यात्मक जीवप्रजापति है। माया–कला–गुण–विकार–अञ्जन, इन पाँच परिग्रहों का कारणत्रयी से सम्बन्ध है। आवरण परिग्रह का कार्य्यत्रयी से सम्बन्ध है। निष्कल षोडशी–प्रतिमाषोडशी, ये तीन कारण हैं जिनका क्रमशः पूर्व परिच्छेदों में विश्लेषण हुआ है। बीजा नुगत सावरण ईश्वरविराट्, अन्तर्यामीपाशात्मक सावरण जीवविराट्, स्थावरजीवात्मक सावरण जगद्विराट्, ये तीन कार्य्य हैं। तीनों में से प्रत्येक कार्य्य के तीनों कारण बने हुए हैं। ईश्वरविराट्रूप कार्य्य 'अधिदैवतम्' है जीवविराट्रूप कार्य्य अध्यात्मम् है। जगद्विराट्रूप कार्य्य अधिभूतम् है। पञ्चपरिग्रहविशिष्टा कारणत्रयी से त्रिविध कार्य्य की उत्पत्ति हुई है, प्रश्न का उत्तर यह आवरणपरिग्रहविशिष्टा यही कार्य्यत्रयी है जिसका स्वरूप त्रिविधात्म है। यहाँ आकर ६ वों परिग्रहों का तीनों कारणों का, तीनों कार्य्यों का नैर्विषेय समन्वय हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

योगेश्वरस्य कारण–कार्य्यस्वरूपप्रदर्शनम्— (१११ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)

१	१–ऐकान्तिको रस–निर्विशेष २–बलविशिष्टो रसः–परात्परः	निष्कलः (प्रथमं कारणम् १)	कारण–कारणत्रयी (कारणम्)
२	१–परात्परपुरुषो मायी–परात्परः २–षोडशीपुरुषः कलात्मा–पुरुषः	षोडशी द्वितीयं कारणम् २)	
३	१–अक्षर–प्रकृतिः (अनुगत सत्यप्रजापतिर्निर्विशेषेश्वरः) २–आत्मक्षर–प्रकृतिविकृतिः (सविशेषो यज्ञप्रजापतिरूपेश्वरः) ३–विकारक्षर–विकृतिः (साञ्जनो महाविराट्प्रजापतिरीश्वरः)	प्रतिमाषोडशी (तृतीयं कारणम् ३)	

प्रथमकारणात्मकनिष्कल–द्वितीयकारणात्मकषोडशी–तृतीयकारणात्मक–अक्षरप्रकृतिरूप–निर्विशेषेश्वर,–आत्मक्षरप्रकृतिविकृतिरूपोपेश्वर,–गर्भित–विकारक्षररूपेश्वररूपस्तृतीयकारणात्मक–कारणत्रयमूर्त्ति साञ्जन महाविराट् प्रजापति कारणं सावरणस्य कार्य्यात्मकस्य विश्वस्य–

सावरयो विश्व प्रजापति (जीवसर्ग)	१–जीवानुगत साक्षीविराट् (साक्षी)–ईश्वरः (अधिदैवतम्) प्रथमंकार्य्यम्
	२–जीवात्मको जीवविराट् (जङ्गमजीव)–जीव (अध्यात्मम्) द्वितीयंकार्य्यम्
	३–जगदात्मको जगद्विराट् (स्थावरजीव)–जगत् (अधिभूतम्) तृतीयंकार्य्यम्

जीव–कार्यवर्ग (विश्वम्)

• • •

८६–उभयविराट्स्वरूपसमर्थक श्रौत–स्मार्त–वचन–

इमान्यत्र संग्रहवचनानि विमर्शनीयानि—

लोकत्रयात्मा महाविराट्–अंशी–

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ॥
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥१॥
तमीश्वराणां * परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ॥
पतिं पतीनां परमं परस्तात्–विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥२॥
—श्वे० उप० ६।६,७।

• • •

---

* पुराणसमन्वय—

—बद्धो, मुक्त, इति व्याख्या गुणतो मे, न वस्तुतः ॥
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो, न बन्धनम् ॥१॥
शोकमोहौ सुखं दुःखं, देहापत्तिश्च मायया ॥
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥२॥
विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव ! शरीरिणाम् ॥
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥३॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ! ॥
बन्धोऽस्याऽविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥४॥
अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ॥
विरुद्धधर्मिणोस्तात ! स्थितयोरेकधर्म्मिणि ॥५॥

[शेष पृष्ठ १२४ पर देखिए]

सर्वभूतान्तरात्माधिराट्—यथा—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ॥
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं, नेतरेषाम् ॥२॥
नित्यो नित्यानां, चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥३॥

श्वे० उ० ६।११,१२,१३।

• • •

उभयो समन्वित रूपम्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥१॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ॥
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥२॥
यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ॥
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥३॥

ऋक् सं० १।१६४।२०,२१,२२।

• • •

परमविराट्—आध्यात्मिक—ईश्वरविराट्—जीवविराट्—अपाक्षमेषां संग्रहः—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते, विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे ॥
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

श्वे० उ० ५।१।

• • •

[१२१ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश]

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥६॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ॥
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो, विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥७॥

—श्रीमद्भागवते ११।११।

९०–जीवानुगता ईश्वर-जीव जगत्-त्रयी—

अमृतमयी निष्कल परात्पर, माया–कला–परिग्रहयुक्त महेश्वरप्रजापति, गुणपरिग्रहयुक्त विश्वेश्वरप्रजापति, विकारपरिग्रहयुक्त उपेश्वरप्रजापति, इन चारों विवर्तों को 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, अञ्जनपरिग्रहयुक्त महाविराट्प्रजापति देवसत्यात्मा पार्थिवेश्वर से आवरणपरिग्रहयुक्त आवरणजीव-सृष्टि का विकास हुआ। 'एकस्यैव ममांशस्य०' इत्यादि पूर्वोक्त पुराणवचनानुसार महाविराट् के अंशभूत हृदयावच्छिन्न आध्यात्मिकेश्वर विराडीश्वर के विद्यात्मक अविद्यात्मक, दो विवर्त हो गए। विद्यात्मकरूप ईश्वर कहलाया, जिसे आध्यात्मिकी योगमाया के सम्बन्ध से हम 'जीव' ही कहेंगे। अविद्यात्मक रूप जीव कहलाया। इसी आधार पर–'जीवस्यैव महामते' कहना अन्वर्थ बना। अविद्यात्मक जीव के आगे चलकर जङ्गम–स्थावर, दो विवर्त हो गए। इस प्रकार अंशात्मक जीव के ही (जगद्रूप विश्व के ही) ईश्वर, जीव, जगत्, (विद्यात्मक जीव, अविद्यात्मक जङ्गमजीव, अविद्यामय स्थावरजीव), ये तीन विवर्त हो गए। तीनों का समुच्चितरूप ही आवरणविश्वप्रजापति कहलाया। ये ही तीनों आवरणजीव क्रमशः अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत कहलाए। तीनों में से क्रमप्राप्त पहिले आवरण अंशात्मक विराडीश्वर से सम्बन्ध रखने वाली अधिदैवतसंस्था की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

९१–जीवविराट्पुरुषानुगता 'आत्मग्राम' स्वरूपमीमांसा—

अधिदैवतलक्षण आध्यात्मिक विराडीश्वर के 'आत्मा, भूतम्' ये दो प्रधान विवर्त माने गए हैं। आत्मा 'आत्मग्राम' कहलाया है क्योंकि अनेक आत्माओं के समन्वय से एक आध्यात्मिक ईश्वरात्मा का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। भूत 'भूतग्राम' है, क्योंकि अनेक भूतों के समन्वय से एक आध्यात्मिक ईश्वरभूत का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। पहिले क्रमप्राप्त ईश्वरीय (अधिदैवत) आत्मग्राम की ही मीमांसा कीजिए। अब तक कुछ उपेश्वर, और अंशीरूप महाविराट् के विश्लेषण द्वारा सुनी समझी गई है। उसीका यहाँ समन्वयमात्र कर लेना है। आध्यात्मिक ईश्वर महाविराट् का अंश है। महाविराट् उपेश्वर का अंश है, उपेश्वर विश्वेश्वर का अंश है। विश्वेश्वर महेश्वर का अंश है। और 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से पूर्व पूर्वस्य अंशों के सर्व–धर्मों का उत्तर–उत्तरस्य अंशों में समन्वय है। तभी तो कारणरूप महाविराट् को सर्वधर्मोपपन्न कहलाना पड़ा है। फलतः कार्यरूप इस आध्यात्मिक ईश्वर में भी उन सर्वधर्मों का समन्वय प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। इसी सर्वधर्मोपपत्ति को लक्ष्य बना कर 'आत्मग्राम' का समन्वय कीजिए।

यह आत्मग्राम गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, वैकारिकात्मा, भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन अंशाविभक्त ईश्वरविराट्संस्था में महाविराट् के द्वारा भुक्त परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–सर्वाविच्छिन्न महेश्वरात्मा ही गूढोत्मा है। यह अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–तीनों में समान है। इस संस्था में महद्–व्यापक अव्यक्त स्वयम्भूरूप अक्षरप्रधान विश्वेश्वरांश इसका अव्यक्तात्मा है यह भी तीनों में समान है। तीसरा वैकारिकात्मवर्ग तीनों में असमान है। पञ्चोपेश्वरांशभूत महाविराट् में भुक्त स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–सौर–चान्द्र–भौम पाँचों के अंश इस संस्था में क्रमशः चिदात्मा, हिरण्यगर्भात्मा, सर्वज्ञात्मा, महानात्मा, विराडात्मा इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। पाँचों विकारात्मा हैं। पाँचों में से पाँचवाँ विराडात्मा चिदात्मा, प्रज्ञात्मा, विराडात्मा, हिरण्यगर्भात्मा, सर्वज्ञात्मा, इन पाँच भागों में विभक्त है।

चित्यात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट के भूपिण्डानुगत भर्गों का अंश है। वराहात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट के भू-वायु-अनुगत अंशों का अंश है। विराडात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट् के त्रिवृत् स्तोमावच्छिन्न वायुगर्भित अग्निप्रधान त्रिमूर्ति विराडग्नि का अंश है। हिरण्यगर्भलक्षण विराडात्मा महाविराट के पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अग्नीन्द्रगर्भित वायुप्रधान त्रिमूर्ति वायुविराट का अंश है। सर्वज्ञलक्षण विराडात्मा महाविराट के एकविंशस्तोमावच्छिन्न अग्निवायुगर्भित इन्द्रप्रधान त्रिमूर्ति इन्द्रविराट का अंश है। इसप्रकार भूपिण्ड, भूवायु, त्रिवृत् पञ्चदश, एकविंश-स्तोमावच्छिन्न अग्नि-वायु-इन्द्र, महाविराट के इन पाँचों अवयवों के अंश ही इस आध्यात्मिक अधिदैवत ईश्वरविराट् के चित्यात्मादि पाँच विराडात्मा कहलाते हैं। पाँचों में चित्यात्मा वराहात्मा, दोनों का एक विभाग है, यही इस ईश्वर का बाह्यात्मा (शरीर) है। विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ तीनों का एक विभाग है यही इस ईश्वर का अन्तरात्मा (आत्मा) है। यही 'सर्वभूतान्तरात्मा वैश्वानरात्मा' है। महाविराट् के पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न चान्द्रतत्त्व का अंशभूत प्रज्ञानात्मा ही इसका 'मन' है। महाविराट् के एकविंशस्तोम से अनुगत सौर तत्त्व का अंशभूत सर्वज्ञात्मा ही इसकी 'बुद्धि' है। महाविराट का त्रयस्त्रिंशस्तोमानुगत पारमेष्ठ्य तत्त्वांशभूत हिरण्यगर्भस्थ ही इसका 'महानात्मा' है। महाविराट का सप्त-चत्वारिंशस्तोमानुगत पुरुषविध स्वायम्भुव तत्त्वांशभूत चिदात्मा ही इसका शान्तात्मा है। इसप्रकार महाविराट् के प्रथम भागों से इसका एक साथी अधिदैवत विराट के वैकारिकात्मा ९ भागों में विभक्त हो रहे हैं। ९ में चार विराडात्मा हैं, पाँच वैकारिकात्मा हैं। दोनों अभिन्न हैं। अतः ९ की समष्टि को विराडात्मा, वैकारिकात्मा, दोनों नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। इनमें विशेषरूपेण स्वयम्भू का अंशभूत तत्त्व अव्यक्तात्मा है। यही इसका महदात्मा है। व्यापकतम मोक्षपदांशभूत गूढ़ात्मा है यही इसका पुरुषात्मा है। सम्पूर्ण ईश्वरीय आत्मग्राम में एकादश आत्मविवर्तों का समन्वय हो रहा है।

अधिदैवतानुगत —आत्मग्राम —

(१) महाविराडनुगतः षोडशी महेश्वरः	—सर्वेशः—	'ईश्वराव्ययो' 'गूढोत्मा' 'अव्यक्तात्मा'		
(२) महाविराडनुगतः अक्षरो विश्वेश्वरः	—सर्वेशः—			
(३) महावि० ४८ स्तोमानुगतं-स्वायम्भुवतत्त्वम्	—सर्वेशः—	चिदात्मा		
(४) ,, ३३ ,, —पारमेष्ठ्यतत्त्वम	—सर्वेशः—	हिरण्यगर्भात्मा		
(५) ,, २१ , सौरतत्त्वम्	—सर्वेशः—	सर्वज्ञात्मा		
(६) ,, १५ , —चान्द्रतत्त्वम्	—सर्वेशः—	महदात्मा	ऐश्वरीय- आत्मग्राम	
(७) , २१ , —व्यापक-सर्वज्ञतत्त्वम्	—सर्वेशः—	सर्वज्ञात्मा		
(८) ,, १५ ,, —,,हिरण्यगर्भतत्त्वम्	—सर्वेशः—	हिरण्यगर्भात्मा		
(९) ,, ९ ,, —,,विराटतत्त्वम	—सर्वेशः—	विराडात्मा		
(१०) ,,——————भूवायुः	—सर्वेशः—	वराहात्मा		
(११) ,,——————भूपिण्ड	—सर्वेशः—	विश्वात्मा		
इति तु—मनुत्र—(महाविराट्—पार्थिवेश्वर—चिदात्मा) चिदात्मा—सर्वेश्वर—		इति तु—चतुर्विंश-साक्षीविराट अव्ययात्मेश्वरः-चिदंशः (अधिदैवतम्) प्रत्यगात्मा—ईश्वरः		

प्रकारान्तरेण—

- १–गूढोत्मा——ईश्वरस्य पुरुषात्मा
- २–अव्यक्तात्मा— ,, प्राकृतात्मा
  - —ईश्वरात्मकजीवस्य पुरुषात्मा (सा काष्ठा, सा परा गतिः)

- ३–चिदात्मा— ,, शान्तात्मा—ईश्वरात्मकजीवस्य शान्तात्मा
- ४–हिरण्यगर्भात्मा– ,, महानात्मा—ईश्वरात्मक जीवस्य महान्
- ५–सर्वज्ञात्मा— ,, विज्ञानात्मा (बुद्धिः)–ईश्वरात्मकजीवस्य बुद्धिः
- ६–महानात्मा— ,, प्रज्ञानात्मा (मनः)–ईश्वरात्मकजीवस्य मनः
  - —अमृतसत्यात्मा (१–६)

- ७–सर्वज्ञात्मा— ,, प्राज्ञात्मा
- ८–हिरण्यगर्भात्मा– ,, तैजसात्मा
- ९–विराडात्मा— ,, वैश्वानरात्मा
  - —ईश्वरस्य अन्तरात्मा (सर्वभूतान्तरात्मा) (ईश्वरात्मको जीवः)
    - —येमसत्यात्मा

- १०–परमात्मा— ,, हंसात्मा
- ११–चित्यात्मा— ,, शरीरम्
  - —ईश्वरस्य बाह्यात्मा (ईश्वरात्मकजीवस्य शरीरम्)

ब्रह्मसत्यात्मा (७–११)

[illegible] — [illegible]

- [१—गूढोत्मा——पुरुषात्मा (१)
- [२—अव्यक्तात्मा–प्राकृतात्मा (२)
- ३–वैकारिकात्मा—
  - विकारात्मा—। १–चिदात्मा २–हिरण्यगर्भात्मा ३–सर्वज्ञात्मा, ४–महानात्मा, ५–विराडात्मा।
  - वैकारिकात्मा—। १–सर्वज्ञात्मा, २–हिरण्यगर्भात्मा, ३–विराडात्मा, ४–परमात्मा, ५–चित्यात्मा, ।

सर्वहुतादि पञ्चविध वैकारिकात्माओं का विराडात्मा नामक पञ्चम विकारात्मा में अन्तर्भाव है। फलतः वैकारिकात्मा पाँच ही रह जाते हैं। अव्यक्तात्मा का गूढोत्मा में अन्तर्भाव है। अव्यक्तगर्भित गूढोत्मा गूढोत्मा है, पञ्चविध वैकारिकात्मगर्भित पञ्चविध वैकारिकात्मा अधियज्ञात्मा है। गूढोत्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, किंवा गूढोत्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित पञ्चविध–वैकारिक–अधियज्ञात्मा ही जीवानुगत अधिदैवतलक्षण ईश्वर विराट् का तात्त्विक स्वरूप है। 'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर'' वचनानुसार इसी रूप से देहधारी जीवविराट्पुरुषों का यह साक्षी बना हुआ है। तत्त्वतः जीवानुगता ईश्वरविराट्संस्था में गूढोत्मा, पञ्च अधियज्ञात्मा ये ६ आत्मविवर्त प्रतिष्ठित हैं। महाविराट् की जिन १५४ विभूतियों का पूर्वपरिच्छेद में विश्लेषण हुआ है, वे अंशरूप इस जीवानुगत विराट् में भी यथानुरूप युक्त हैं। विभूति–सम्बन्ध से जीव का साक्षी बनने वाला यही अंशात्मक विराट् दर्शनभाषा में 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है, जैसा कि अगले परिच्छेद से स्पष्ट किया जाने वाला है।

६२–जीवविराट्पुरुषानुगता 'भूतग्राम' स्वरूपमीमांसा—

यह तो हुई आत्मग्राम की मीमांसा। अब दो शब्दों में ईश्वरीय भूतग्राम की भी मीमांसा कर लीजिए। *भूततत्त्व सूक्ष्म–स्थूल भेद से दो भागों में विभक्त है। गुण–अणु–रेणुभूत सूक्ष्मभूत हैं।* भूत (रेणुभूतों के पञ्चीकृत महाभूत–प्रत्यक्षदृष्ट) स्थूलभूत हैं। ईश्वरीय भूतग्राम सूक्ष्मभूतात्मक हैं, जिनका पूर्वपरिच्छेद में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जीव के भूत स्थूलभूतात्मक हैं, तदनुगत विराडीश्वर के भूत सूक्ष्मभूतात्मक हैं। इन्हीं ईश्वरीय सूक्ष्मभूतों के आधार पर जीवशरीर के पञ्च स्थूल भूत प्रतिष्ठित हैं। जीवानुगत आत्मग्राम की प्रतिष्ठा ईश्वरीय आत्मग्राम है। जीवानुगत भूतग्राम की प्रतिष्ठा ईश्वरीय भूतग्राम है। प्राण, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नं, ही इसके सुसूक्ष्म भूत हैं, जिन्हें 'तन्मात्रा' भी कहा गया है। अधियज्ञ के पाँचों पर्वों से क्रमशः पाँचों मात्रादि सुसूक्ष्म भूत अनुप्राणित हैं। सर्वान्त का अधियज्ञ विराडात्मा है सर्वान्त का भूत 'अन्नम्' है। अतएव– 'अन्नं वै विराट्' (शत० ७।५।२।१९।)–'विराडन्नाद्यम्' (ऐ०ब्रा० ४।११।७४) इत्यादि रूप से विराडात्मा को अन्नभूतात्मक मान लिया गया है। यही वह अन्तिम प्रयोजन है, जिसे लक्ष्य बना कर भोक्ता जीव का आविर्भाव हुआ है।विराडात्मात्मक अन्तिम(पाँचवा वैकारिक)पर्व भूपिण्डात्मभूत वित्तात्मा है, वह वित्तात्मलक्षण विराट् ही अन्तिम अन्नभूत से युक्त है। भूपिण्ड–तदनुगत अन्न दोनों की समष्टिरूप विराडात्मा ही जीवसृष्टि की प्रतिष्ठा बनता है जैसा कि तत् परिच्छेद में ही स्पष्ट हो जायगा। एक प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और। महाविराट् सर्वतः–पाणिपादादि बनता हुआ वहाँ पूर्णेन्द्र है, वहाँ अर्धोपादान से इन्द्रात्मा जीवात्मा अब युगल बनता हुआ अर्धेन्द्र है। तदनुगत अंशभूत इस विराडीश्वर को भी अर्धेन्द्रावस्था में ही परिणत रहना पड़ता है। यही सर्वेन्द्रियगुणाभास अर्धेन्द्रमूर्ति अधिदैवत–जीवानुगत ईश्वरविराट् का संक्षिप्त इतिवृत्त है जिसे सुविज्ञेय महाविराट् की अपेक्षा–'शान्त' कह सकते हैं। सर्वथा इसी अध्यात्म में प्रतिष्ठित यह शान्त है। केवल पारिभाषिकता से यह अज्ञात बन रहा है। यहाँ आकर अविज्ञेय परात्पर, दुर्विज्ञेय महेश्वर, ज्ञेय विश्वेश्वर, सुज्ञेय उपेश्वर, सुविज्ञेय महाविराडीश्वर, शान्त जीवानुगत विराडीश्वर, इन आत्मविवर्तों का सर्वात्मना समन्वय हो जाता है। यही इस अधिदैवत तत्त्व का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है।

गूढोत्मा — १—अव्यक्तसमगर्भितो गूढोत्मा (१)

शरीरात्मा — १—चिदात्मा; २—हिरण्यगर्भात्मा; ३—सर्वज्ञात्मा; ४—हिरण्यगर्भात्मा; ५—पञ्चात्मगर्भितो विराडात्मा

१—अव्यक्तसमगर्भितो गूढोत्मा (१)	परमाकाशा मूलम् (ज्ञानकर्ममयी)
१—चिदात्मा	प्राणो मूलम्
२—हिरण्यगर्भात्मा	आपो मूलम्
३—सर्वज्ञात्मा	वाग् मूलम्
४—हिरण्यगर्भात्मा	अन्नादो मूलम्
५—पञ्चात्मगर्भितो विराडात्मा	अन्नं मूलम्
आत्मग्रामः	भूतग्रामः
ईश्वरः—साक्षी विराट्	

१ ज्ञानम्, २—क्रिया, ३—प्राण (आकाश), ४—आप (वायु), ५—वाक् (तेज), ६—अन्नाद (पृथिवी), अन्नम् (जलम्), इति सप्तान्नानि सप्तभूतानि।
'यत्सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता'—
इति मूलमामनिव प्राहु—

आत्मा { १—महापोवषी गूढोत्मा—ईश्वरात्ममयः—सर्वाधिष्ठाता—(विद्याविद्ये—ईश्वरे)

विश्वात्मानः—

१—स्वयम्भू—चिदात्मा मास्वमूर्त्तिः	आकाशः
२—परमेष्ठी—हिरण्यगर्भात्मा अप्मूर्त्तिः	वायुः
३—सूर्य—सर्वज्ञात्मा वाङ्मूर्त्तिः	तेजः
४—चन्द्रमाः—महानात्मा अन्नमूर्त्तिः	जलम्
५—पृथिवी—विराडात्मा अन्नादमूर्त्तिः	भूत्
आत्मग्रामः	भूतग्राम

८३—प्रत्यगात्मानुगत शारीरिक आत्मा, और 'अध्यात्मम्'—

प्रत्यगात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित शारीरिक आत्मा ही 'अध्यात्मम्' है। यही वाङ्मय—जीवात्मा है यही ऐन्द्रिय-चेतनाब्रह्म है। इस ऐन्द्रिय चेतनाब्रह्म के अवान्तर १२ विभाग माने गए हैं। दूसरे शब्दों में चेतन

जीव के १३ भेदरूपविभाग माने गए हैं, जिनमें ८ का एक विभाग है, ५ का एक विभाग है। बतलाया गया है कि ज्ञानमय प्राज्ञ, क्रियामय तैजस, एवं अर्थमय वैश्वानर, तीनों के तारतम्य से जीववर्ग अस्संज्ञ, अन्तःसंज्ञ ससंज्ञ, भेद से तीन भागों में विभक्त है। पाषाण-लोष्ठ-धातु-रस-आदि भौतिक पदार्थों में प्राज्ञ-तैजस, दोनों अभिभूत रहते हैं, अतएव इनमें किसी भी इन्द्रिय का विकास नहीं होने पाता। अतएव च इन्हें अनिन्द्रिय अचेतनद्रव्य कहा गया है। इनमें केवल अर्थमय वैश्वानरात्मा प्रस्फुटित है। अतएव इन प्राज्ञतैजसगर्भित वैश्वानरात्मलक्षण अनिन्द्रिय, अचेतन जीवों को 'एकात्मकजीव' कहा गया है। ये ही 'धातुजीव' नाम से प्रसिद्ध हैं। ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि भौतिक पदार्थों में प्राज्ञ अभिभूत है, तैजस, और वैश्वानर प्रस्फुटित हैं। तैजसात्मा प्राज्ञ और वैश्वानर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। अतएव प्राज्ञ के प्रतिबिम्बित अंश का इन तैजसात्मा-प्रधान जीवों में समावेश हो जाता है। जो अवस्था सुप्त चेतन जीव की है वही अवस्था इन तैजस जीवों की है। अतएव इन्हें एकेन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) अर्धचेतनजीव माना गया है। इनका मूल भूगर्भ में समाविष्ट रहता है, अतएव इन्हें 'मूलजीव' कहा गया है। इनमें तैजस-प्राज्ञ दोनों आत्माओं का विकास है अतएव ये 'द्व्यात्मकजीव' नाम से भी प्रसिद्ध है। एकात्मक धातुजीव, द्व्यात्मकमूलजीव दोनों स्थावरजीव हैं। इनमें तमोगुण का प्राधान्य है। अतएव इन्हें 'तमोविशालसर्ग' नाम से व्यवहृत किया गया है। प्राणविद्या शास्त्र ने उभयविध इस जीववर्ग को 'स्तम्ब' नाम से व्यवहृत किया है। यही विज्ञान-भाषा में 'अभिभूतम्' है, जगत् है, जिसकी अगले परिच्छेद में मीमांसा की जायगी।

६४-त्र्यात्मक जीव, और चतुर्दशविध भूतसर्ग—

अस्मदादि भौतिक सेन्द्रिय द्रव्यों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, तीनों प्रस्फुटित हैं। अतएव इन्हें 'त्र्यात्मक-जीव' कहा जाता है। एकात्मक धातुजीव असंज्ञ थे, द्व्यात्मक जीव मूलजीव अन्तःसंज्ञ थे, एवं त्र्यात्मक 'जीव' नामक जीव ससंज्ञ हैं। यही जीववर्ग 'अध्यात्मम्' है, जिसके ८-५ भेद से १३ विवर्त्त हो जाते हैं। कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य पञ्च जीववर्गों का एक विभाग है। इनमें रजोगुण का प्राधान्य है, अतएव इन्हें सांख्यपरिभाषा में 'रजोविशालसर्ग' कहा गया है। राक्षस पिशाच यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र, पितर, प्रजापति, ब्रह्म, आठ जीववर्गों का एक विभाग है, ये ही चान्द्रजीव हैं। इनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य है अतएव ये 'सत्त्वविशालसर्ग' नाम से व्यवहृत हुए हैं। अष्टविध सत्त्वविशालसर्ग देवयोनि हैं, ये ही 'ऊर्ध्वजीव' हैं। पञ्चविध रजोविशालसर्ग तिर्य्यग्योनि हैं, ये ही 'मध्यजीव' हैं। द्विविध किन्तु सांख्य परिभाषानुसार एकविध (स्तम्ब) तमोविशालसर्ग भूतयोनि है, यही मूलजीव हैं। इस दृष्टि से स्तम्ब से आरम्भ कर ब्रह्मपर्य्यन्त चतुर्दशविध जीव हो जाते हैं। यही 'चतुर्दशविधो भूतसर्गः' (जीवसर्ग) है। इस चतुर्दशविध भूतसर्ग में से मध्यसर्गात्मक पञ्चविध रजोविशालसर्ग के पञ्च मनुष्यसर्ग में इतर जीवापेक्षया ज्ञान मात्रा सर्वात्मना प्रस्फुटित है। प्रत्यगात्मलक्षण चिदाभेश्वर की यथायावत् विभूतियों का इसी में पूर्णरूप से समन्वय हुआ है। अतएव यही उस पूर्ण का पूर्ण उद्रिक्त रूप माना गया है—'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'। इसी आधार पर 'पुरुषो ह वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' यह निगम प्रतिष्ठित है। 'अध्यात्मम्' की प्रकृत में जो मीमांसा की जायगी, वह इस पुरुषविध (मनुष्यविध) अध्यात्म को ही प्रधानरूप से लक्ष्य बना रही।

१
- १४–१–ब्रह्म (४)
- १३–२–प्रजापतिः (१)
- १२–३–पितरः (२)
- ११–४–इन्द्र (१)
- १०–५–गन्धर्व (४)
- ९–६–यक्ष (१)
- ८–७–पिशाचाः (२)
- ७–८–राक्षसः (१)

—सत्वविशालसर्गः (देवयोनिः)

२
- ६–१–मनुष्याः
- ५–२–पशु
- ४–३–पक्षी
- ३–४–कीट
- २–५–कृमि

—रजोविशालसर्गः (तिर्यग्योनि)

—अध्यात्मम् (जङ्गमजीवात्मकी सृष्टि)

३ १–१
- १–मूलचेतनः —अन्तःसंज्ञाः—अर्द्धचेतना
- —तमः—तमोविशालसर्गः (भूतयोनि)
- २–धातुचेतनः —असंज्ञाः—अचेतनाः

—अधिभूतम् (स्थावरजीवात्मकं जगत्)

—चतुर्दशविधो भूतसर्गः

* * *

६५–आवरणत्रयी से अनुप्राणिता आध्यात्मिकी विराट्त्रयी—

विकारपरिग्रहयुक्त, 'यज्ञप्रजापति' नामक, उपेश्वरपोडशी की अन्तिम पर्वरूपा पृथिवी का अमृत-चितेनिधेय प्राण ही अव्यक्त परिग्रह के द्वारा 'ईश्वर' नामक 'महाविराट्' स्वरूप में परिणत हुआ है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। जीवानुगत, प्रत्यगात्मलक्षणा अध्यात्मविराट्, जीवविराट्, जगद्विराट्, तीनों इसी महाविराट् से प्रसूत हैं। तीनों का क्रमशः सत्त्वाञ्जन, रजोऽञ्जन, तमोऽञ्जन–भावों से सम्बन्ध है। सत्त्वाञ्जन विभूति है, रजोऽञ्जन पाप्मा है, तमोऽञ्जन आवरण है, जैसाकि पूर्व में परिलेखद्वारा स्पष्ट किया जा चुका है (देखिए ८८ पृ०)। विभूति नामक सत्त्वाञ्जन सत्त्वावरण है पाप्मा नामक रजोऽञ्जन रजोरूप आवरण है, आवरणरूप तमोऽञ्जन तमोरूप आवरण है। तीनों से सावरण साक्षी ईश्वर सावरण भोक्ता जीव सावरण भोग्यजगत्, इन तीन सावरण विश्वप्रजापतियों का विकास हुआ है। जिस प्रकार विभूति रूप आवरण–भेद, लोक, देव, पशु, भूत, भेद से पाँच भागों में विभक्त है, एवमेव जीवस्वरूप सम्पादकपाप्मारूप आवरण 'पर्य्याय, ऊर्म्मि, आशय, अवस्था, क्लेश, कर्म्मविपाक, पर्य आशय'' भेद से सात भागों में विभक्त माना गया है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है।

६६–चिदात्मानुगत चिदंश, चिदाभास, और चित्य-विवर्त—

अव्यक्त महाविराट् 'चिदात्मा' है। यह स्वयंभू स्वरूप, निरवच्छिन्न सर्वतःपाणिपाद–अक्षिशिरो–मुख है। यह सर्वथा व्यापक है। इसका जीवात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। निग्रहानुग्रह से असंस्पृष्ट यह चिदात्मा आलम्बन (ज्योतिर्मय] मात्र है—'न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते'। यही व्यापकलक्षण 'खं ब्रह्म' है, महामायावच्छिन्न भावी महेश्वर [षोडशीपुरुष] से समन्वित है। इसलिये यह महाविराट् जीवानुगता योगमाया [योगमायात्मिका आवरणत्रयी] से अंशात्मना युक्त हो कर 'चिदंश' नाम धारण कर लेता है। विभूति आवरण से युक्त चिदंश अध्यात्मविराट् है, पाप्मावरण से युक्त चिदंश भोक्ता जीवविराट् है, आवरणात्मक आवरण से युक्त चिदंश भोग्य जगद्विराट् है। इसप्रकार आवरणत्रयी के सम्बन्ध से योगमाया–वच्छिन्न चिदंश के ही ईश्वर-जीव-जगत्–ये तीन विवर्त हो जाते हैं। विभूतिसम्बन्ध असङ्ग सम्बन्ध है। पाप्मा सम्बन्ध संश्लेषरूप नामक योग सम्बन्ध है, आवरणसम्बन्ध ग्रन्थिबन्धन नामक चिति सम्बन्ध है। असङ्ग चिदंश ईश्वर है, योगात्मक चिदंश जीव है चित्यात्मक चिदंश जगत् है। इसप्रकार विभूति–योग–चिति, इन सम्बन्ध–त्रयी के सम्बन्ध से चिदंश तीन विवर्तभावों में परिणत हो रहा है। ये ही तीनों विवर्त क्रमशः—चिदंश, चिदाभास, चित्य, नाम से व्यवहृत हुए हैं। चित्यात्मक चिदंश [भोग्यजगत्] भोक्ता जीव के वैषयिक सुख का साधक बनता हुआ 'कं ब्रह्म' है। चिदाभासात्मक चिदंश [भोक्ता जीव] चित्यात्मक चिदंश से रममाण होता हुआ 'रं ब्रह्म' है। चिदात्मारूप व्यापक महाविराट्–लक्षण 'खं ब्रह्म' से अभिन्न चिदंशात्मक चिदंश [साक्षी ईश्वर] चिदाभासलक्षण चिदंश [जीव] को निग्रहानुग्रहद्वारा प्रकृतिस्थ बनाए रखने वाला शान्तिस्वरूपप्रवर्तक 'शंब्रह्म' है। 'शं' रूप आयतन में शं–रं–कं–रूपा आवरणत्रयी प्रतिष्ठित है।

विश्वात्मा	ॐ—विश्वात्मा—स्वयम्भू महाविराट्—अविमुक्तो व्यापकः—सः ब्रह्म (आनन्दम्)।
त्रिलोकी	१—चिदंशात्मकविवर्त्त—साक्षीविराट्—निग्रहानुग्राहकः—शं ब्रह्म (अन्नान्नादोभय)।
	२—चिदाभासात्मकविवर्त्त—भोक्ताविराट्—निगृहीतानुगृहीतः—रं ब्रह्म (अन्नाद)।
	३—चित्यात्मकविवर्त्त—सौम्यविराट्—वं ब्रह्म (अन्नम्)।

६७—बिम्बग्राहक मौग्धतत्त्व—

चित्यात्मक विवर्त्त की मीमांसा अविमुक्त-परिच्छेद में की जायगी। अभी चिदंशात्मक विवर्त्त (साक्षीविराट्) एवं चिदाभासात्मक विवर्त्त (भोक्ता जीव) ये दो विवर्त्त विवर्त मीमांस्य हैं। चिदंशात्मक विवर्त्त अक्षरात्मा है चिदाभासात्मक विवर्त्त शारीरिक आत्मा है। दोनों का मूल चिदंशात्मक महाविराट् है। उदाहरणार्थ प्रतिबिम्ब-दृष्टि का लक्ष्य बनाइए। दर्पण जलपूर्णपात्र स्फटिकमणि आदि मौग्ध पदार्थों में एक प्रकार का प्रतिबिम्बग्राहक धर्म्म है। यही धर्म्म 'मौग्धगुण' कहलाता है। मौग्धगुणक, अतएव प्रतिबिम्ब ग्राहक इन पदार्थों के साथ सूर्य्यज्योति का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध आतप, तथा बिम्ब, रूप से दो भागों में विभक्त हो जाता है। जलपात्र में सूर्य्य बिम्ब की प्रतीति होती है। जलपात्रस्थ सूर्य्यबिम्ब उस महान् सूर्य्य का बिम्ब है अतएव इसे 'प्रतिबिम्ब' कहा जाता है। आधार-पात्रों के भेद से ये प्रतिबिम्ब अनेक हो जाते हैं। एक जलपात्ररूप योगमाया की उत्पत्ति से तत्प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति होता है।

६८—सूर्य्यदृष्टान्त माध्यम से चिदंश-विषय-त्रयी का समन्वय—

शेष प्रतिबिम्ब ज्यों के त्यों सुरक्षित बने रहते हैं। इस प्रतिबिम्बित सूर्य्य का जलपात्र के साथ उत्पत्ति-बन्धनात्मक योगसम्बन्ध है। इस प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त आतप (दूर-व्याप्त-ज्योति) रूप से भी इस पात्र में सूर्य्यज्योति का सम्बन्ध रहता है। स्वरूपतया प्रतिबिम्बवत् यह आतप जलपात्रावच्छिन्न बनता हुआ भी तत्त्वतः अनवच्छिन्न ही बना है। इस आतपरूप सूर्य्यज्योति का जलपात्र के साथ अवच्छेदरूप विभूति सम्बन्ध है। दोनों ही ग्रन्थिबन्धनरूप विशिमाव से बहिर्भूत हैं। दर्पण पर आप की आकृति लक्षित होजाती है। दर्पण के साथ आपकी आकृति का योगसम्बन्ध है। मृण्मय कपड़ा (कोण) पर आप का चित्रात्मक प्रतिबिम्ब (फोटो) अंकित होजाता है। इस चित्राकृति का उस पट के साथ ग्रन्थिबन्धनात्मक विशिष्टबन्ध है। इसप्रकार आतप दर्पणाद्यविच्छिन्न प्रतिबिम्ब, कृत्यावच्छिन्न बिम्ब भेद से तीन विवर्त होजाते हैं। तीसरे बिम्ब का चित्यात्मक विवर्त (जगत्) से सम्बन्ध है। शेष दोनों का ईश्वर-जीवभाव से सम्बन्ध है। व्यापक महाविराट् सूर्य्यस्थानीय है। शरीररूप पात्र में आत्तोमय-आनन्दलोमय व्याप्त पारमेष्ठ्य आपोमय मौग्ध-गुणक महान् मन है। इस पर प्रतिबिम्बित चिदाभास प्रतिबिम्बरूप सूर्य्यस्थानीय है। बिम्बप्रतिबिम्बभावे युक्त

✲ मसृणमसृण परमाणु समूहात्मक समधरातल ही 'मौग्ध' है। यही प्रतिबिम्बग्रहण की योग्यता रखता है।

बिम्ब आतपस्थानीय है। आतपस्थानीय चिदंश बिम्ब है, यही बिम्बलक्षण प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) है। प्रतिबिम्बस्थानीय चिदंश चिदाभास है, यही भोगलक्षण शारीरक आत्मा है। प्रत्यगात्मा अधिदैवत है, शारीरक आत्मा अध्यात्मम् है। अधिदैवत प्रत्यगात्मा का स्वरूप पूर्वपरिच्छेद में बतलाया जा चुका है। अध्यात्मशारीरक आत्मा का स्वरूप मीमांस्य है, उसी की ओर विज्ञपाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

३६–जीव के पाप्मामर्मों का सामान्य–स्वरूप–दिग्दर्शन—

जिस प्रकार आज्ञान महाविराट् प्रजापति (चिदात्मा) के अंशभूत साक्षी सावरण विराट् प्रजापति में आज्ञानविराट् के एकादश (११) आत्मविवर्त्तों, एवं मूलविवर्त्तों का समन्वय बतलाया गया था, एवमेव इस सावरणविराट् के भोक्ता तत्ता सावरण शारीरक आत्मा में भी आज्ञान प्रत्यगात्मा के आत्म–मूल–विवर्त्तों का समन्वय होरहा है। जैसा स्वरूप, जो कलाविभाग, प्रत्यगात्मेश्वर का है, ठीक वैसा ही स्वरूप यही कलाविभाग इस शारीरक जीव का है। केवल पाप्माभावों में अन्तर है। प्रत्यगात्मेश्वर नित्यमुक्त है। वह कभी मुक्तावस्था में रहे, कभी बन्धनावस्था में रहे, इस उभय 'पर्य्यायत' नामक पाप्मा का उसमें अभाव है। इधर शारीरक जीव में मोक्ष, बन्ध, नामक दोनों पर्य्यायत–पाप्माओं का सम्बन्ध रहता है। विद्यात्मक पर्य्याय 'मुक्तपर्य्याय' है, कर्म्मात्मक पर्य्याय 'बन्धपर्य्याय' है। ईश्वर में क्षुधा१ (भूख), पिपासा२ (प्यास), शोक३ (सन्ताप), मोह४ (वैचित्य), जरा५ (बुढ़ापा), व्याधि६ (रोग), इन ऊर्म्मिभाव (उत्तावत लहर) रूप पाप्माओं का अभाव है, जीव इन छओं ऊर्म्मियों से युक्त रहता है। षडूर्म्मिपाप्माओं से असंस्पृष्ट ईश्वर एक रस है, षडूर्म्मिपाप्माओं से नित्ययुक्त रहता हुआ जीव विभिन्नरस है। ज्ञानात्मक 'भावनासंस्काररलेप', कर्म्मात्मक 'वासनासंस्काररलेप', इन दोनों आशय नामक पाप्माओं से ईश्वर असंस्पृष्ट रहता हुआ निर्लेप है। इधर जीव दोनों आशयों से युक्त रहता हुआ सलेप है। ईश्वर नित्य जागृत, निरन्तर रहता हुआ जाग्रत्१, स्वप्न२, सुषुप्ति३, मोह४, मूर्च्छा५, मृत्यु६, इन छ अवस्था नामक पाप्माओं से वियुक्त रहता है, जीव छओं अवस्था–पाप्माओं से नित्ययुक्त रहता है। कर्म्ममय सावरण विश्व का मूलप्रवर्तक बनता हुआ भी ईश्वर समत्वलक्षण बुद्धियोग के प्रभाव से कर्म्मसंस्कारलेपबन्धन से निर्मुक्त रहता हुआ 'न करोति–न लिप्यते' को चरितार्थ करता हुआ निष्कर्म्म बना हुआ है। इधर जीवात्मा यज्ञ–तपो–दान लक्षण विद्या–नुमित प्रवृत्तिसत्कर्म्म, इष्ट–आपूर्त्त–दत्त–लक्षण विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिसत्कर्म्म सुरापान–अगम्यागमन, वृथा हिंसा स्तेय, ब्रह्महत्या कृतघ्नता परनिन्दार्जन, इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध विकर्म्मरूप (निषिद्धकर्म्मरूप) असत्कर्म्म, तृणच्छेदन, लोष्टमर्दन, पादपात, पाण्डुमत्त शिरस्ताडन, अङ्गुलिध्वनि (चुटकी), पादाङ्गुष्ठाग्र भूमि–विलेखन, अङ्गमर्दन, शरीरचेष्टाविकृतीकरण, तृणच्छेद वृथाहास्य, निरर्थक कालयापन, आदि आदि शास्त्रा–प्रतिषिद्धातिरिक्त अकर्म्मरूप (निरर्थककर्म्मरूप) असत्कर्म्म एवं सर्वमूर्द्धन्य, बुद्धियोगलक्षण, विद्यानुमित–(योगमूलित) प्रवर्त्तक निष्कामकर्म्म, इन कर्म्मों में से अवश्य ही किसी न किसी कर्म्म में रत रहता हुआ 'कर्म्म' नामक पाप्मा से नित्ययुक्त रहता है। यथाविद्यासंस्कारगर्भित यथाकर्म्मसंस्कार (जन्मान्तरीय कर्म्म–संस्कार) से ही पशु–पक्षी–मनुष्य–कृमि–कीटादि जाति (योनि), अल्प–मध्यम–पूर्ण–दीर्घ–आयु (उमर),

सत्–असत् भोग मात्र होते हैं। संस्कारानुसार प्राप्त जाति आयु भोग, ही कर्मविपाक नाम से पाप्मामयी है। ईश्वर इनसे असंस्पृष्ट है, जीव इनसे नियुक्त है। यही जीवानुगत पाप्मा–भावों का सामान्य दृष्टिकोण है।

१००—जीवकलाविभूति, तथा पाप्मभावों का स्वरूपदिग्दर्शन—

अब विशेष दृष्टिकोण से विचार कीजिये। पूर्व की अभिव्यक्त मीमांसा में आत्मकलाविभूति, सामान्य–कलाविभूति विशेषकलाविभूति भेद से भगवान्मेश्वर में ७२–२११–७१ इस क्रम से ३५४ तीन सौ चौवन विभूतियों का दिग्दर्शन कराया गया है। इनमें से ७२ आत्मकला–विभूतियाँ, एवं २११ सामान्यकलाविभूतियाँ तो जीवेश्वर में समान हैं। इस दृष्टि से दोनों अविशेष हैं, परन्तु विशेषविभूतिकला–दृष्टि से दोनों सविशेष हैं। ईश्वर की विद्या–समाधि ७१ विशेष विभूतिकलाओं में से विद्या–काम–कर्म–शुक्र–प्राण–इन्द्रिय, आरम्भ की ये ६ विभूतिकलाएँ क्रमशः [illegible] इन अवान्तर संस्थाओं में विभक्त रहती हुई ४१ हैं, शेष पूर्वोक्तत्वादि ३० कलाविभूतियाँ हैं। सम्भूय ७१ विशेषकलाविभूतियाँ हो जाती हैं। इधर जीवशरीर में केवल ४ ही कलाविभूतियाँ हैं। पूर्वोक्तत्व–सर्वज्ञत्व–एकत्व–एकरसत्व–व्यापकत्व–नित्यत्व आदित्व, अपरिमितत्व, कर्माध्यक्षत्व, पाप्माऽसंस्पृष्टत्व इन ३० ईश्वरीय विशेषकलाविभूतियों का जीवसंस्था में अभाव है। विद्यादि ६ विशेष कलाविभूतियाँ ही इसमें प्रतिष्ठित हैं। इनमें भी काम, शुक्र, इन्द्रिय नामक तीन विभूतियों में अन्तर है। ईश्वर की कामविभूति द्विविधा है, जीवकामविभूति नियतभेद से अनेकविधा कामत्वेन एकविधा ही है। ईश्वरीय शुक्रविभूति षड्विध है, जीवशुक्रविभूति भावनाशुक्र–वासनाशुक्र भेद से द्विविधा ही है। ईश्वरीय इन्द्रियविभूति पञ्चविध है, जीवेन्द्रियविभूति दशविध है। शेष विशेष कलाविभूतियाँ सामान्यकलाविभूतियों की भांति जीवेश्वर में समान हैं।

धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य भेदभिन्ना चतुर्विधा विद्याविभूति का उदय सूर्य से हुआ है। अतएव इसे 'सौरविभूति' कहा जा सकता है। एकविधा 'कामविभूति' का उदय चन्द्रमा से हुआ है अतएव इसे 'चान्द्रविभूति' माना जा सकता है। यज्ञ–तप–दान–इष्ट–आपूर्त–दत्त–इन षड्विधा कर्म'–विभूति का उदय पार्थिवाग्नि से हुआ है अतएव इसे 'पार्थिवविभूति' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। 'भावनाशुक्र वासनाशुक्र' इन द्विविधा शुक्र विभूति का उदय [illegible] के आधार पर हुआ है अतएव इसे 'सौम्यविभूति' कहना अन्वर्थ बनता है। पञ्चप्राण–पञ्चदेवप्राण समनुप्राण भेदभिन्ना दशविधा प्राण(–)विभूति का उदय [illegible] से हुआ है अतएव इसे 'ऐन्द्रविभूति' मानना समीचीन होता है। श्रोत्र त्वक् चक्षु, जिह्वा घ्राण (प्राण), भेदभिन्न ज्ञानेन्द्रियवर्ग वाक् पाणि पाद उपस्थ पायु, भेदभिन्न कर्मेन्द्रियवर्ग लक्षण दशविधा इन्द्रिय'–विभूति का प्रज्ञानात्मक चान्द्र ब्रह्म से उदय हुआ है। अतएव इसे 'चान्द्रविभूति' कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। सम्भूय इन ६ कलाविभूतियों की ४–१–६–२–१०–१ इन अवान्तर कलाओं के संकलन से जीवानुगत विशेषविभूतिकलाएँ ४ हो जाती हैं जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

✿ आयुः, कर्म च, वित्तं च, विद्या, निधनमेव च।
पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

(४) १–विद्याविभूतिः—धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य–भेदभिन्ना चतुर्विधा —सौरविभूतिः

(१) २–धर्मविभूतिः—विषयभेदादनेकविधा, धर्मत्वेन–एकविधा —चान्द्रविभूतिः

(६) ३–कर्मविभूतिः—यज्ञस्तपो–दान–मिष्ट–मापूर्त–दत्तमिति–भेदभिन्ना षड्विधा —पार्थिवविभूतिः

(२) ४–शुक्रविभूतिः—भावनाशुक्र–वासनाशुक्र–भेदभिन्ना द्विविधा —सौमविभूतिः

(१७) ५. प्राणविभूतिः–पञ्चब्रह्मप्राणा–पञ्चदेवप्राणा–सप्तगुहाप्राणा–भेदभिन्ना सप्तदशविधा —ऐन्द्रविभूतिः

(१०) ६–इन्द्रियविभूतिः–श्रोत्र–त्वक्–चक्षु–र्जिह्वा–घ्राण–वाक्–पाणि–पादो–पस्थ–पायु–भेदभिन्ना दशविधा —चान्द्रविभूतिः

—१०—

• • •

१–चतस्रो विद्याः] —४

२–सनातनः क्रियाधर्मः] —१

३–षट् कर्माणि] —६

४–ऐहिकामुष्मिकभेदेन शुभाशुभकर्मो–त्पिकामनारूपाणि हि भावना–वासनाभिधे द्वे शुक्रे]—२

५–ब्रह्म–देव–गुहा–भेदेन १७ विभक्ताः प्राणाः] १७

६– त्वक्–चक्षु–र्जिह्वा–घ्राण–श्रोत्र–मिति–पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि | वाक्–पाणि–पादो–पस्थ–पायव–इति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि] ४० जीवानुगता–विरोधपक्षा–विभूतयः[१]

• • •

पूर्व में जिन धर्म्मादि पाप्माओं का दिग्दर्शन कराया गया है यदि उनकी सूक्ष्म मीमांसा की जाती है तो उनके 'ऊर्म्मि, अवस्था क्लेश बन्ध कर्म्मविपाक, आशय अपूर्णत्व, पर्य्याय, ये आठ विवर्त्त' हो जाते हैं। आठों क्रमशः ६ ६ ५,११ ,२,१,१, इन अवान्तर संख्याओं में विभक्त हैं। संकलन से ये त्रिंशत् (३६) पाप्मा हो जाते हैं। यह पाप्मारूप आवरण ही जीव का जीवत्व है। जब तक जीव इन पाप्माओं से युक्त है, तब तक यह 'ज्ञ' नामक जीव है। पाप्माओं के मध्यावरण ने ही इसका उस विशुद्ध विभूतिरूप परमात्मेश्वर से पार्थक्य कर रक्खा है। जिस दिन बुद्धियोगप्रभाव से यह पाप्मावरण एकान्ततः निवृत्त हो जाता है उस दिन यह जीव भी 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' का अनुगामी बनता हुआ ईश्वरीय–सम्पत् प्राप्त कर लेता है। जीवानुगत चत्वारिंशत् (४०) विरोधपक्षाविभूतियों का एवं जीवानुगत षट्त्रिंशत् (३६) पाप्मापक्षाओं का स्वरूप विश्लेषण शतपथचतुष्टयात्मक आत्मविज्ञान के प्रथमखण्ड की–'प्राणसमविज्ञानो–पनिषत्' नाम की प्रथमा उपनिषत् में हुआ है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को तदुपनिषत् का ही अवलोकन करना चाहिये। यहाँ इन पाप्माओं की तालिकामात्र उद्धृत कर दी जाती है—

जीवानुगता पाप्मानः —

(१)—क्षुत्-पिपासे शोक-मोहौ जरा-मृत्यू इति षट्	—ऊर्मयः	(६)
(२)—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तयः, मोह-मूर्च्छा-मरणानि इति षट्	—अवस्थाः	(६)
(३)—अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः इति पञ्च	—क्लेशाः	(५)
(४)—आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिकाः, इति त्रयः	—तापाः	(३)
(५)—जाति-आयु-भोगाः त्रय ... इति दश	—कर्मविपाकाः	(१०)
(६)—शुभा-शुभौ इति भेदात् द्वौ	—आशयौ	(२)
(७)—स्त्री पुरुषाभ्यामात्मना द्विधाभावात्मकम्	—अपूर्णत्वम्	(१)
(८)—संसारः, कर्मसंसारः, मुक्तसंसारः, इति त्रयः	—पर्यायाः	(३)

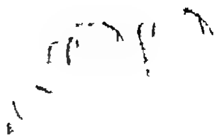
इत्येवं पाप्मानः षट्त्रिंशत् (३६)

—( )—

जीवसम्भाराः—

(१)—आत्मविध् विकल्पाः	७२	सम्भूय ३२३ कलाः—जीवात्मनि भुक्ताः
(२)—समान्यविध् विकल्पाः	२११	
(३)—विशेषविध् विकल्पाः	४	
(४)—पाप्मकलाः	३६	

—( )—



१०१–अधिदैवत गूढोत्मा, एवं अध्यात्म गूढोत्मा—

प्रकृत दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए । अधिदैवतलक्षण साक्षी प्रत्यगात्मा की भाँति चिदाभास–लक्षण भोक्ता शारीरक आत्मा में भी आत्मग्राम, भूतग्राम, भेद से दोनों विवर्त हैं । एवं तद्वत् ही आत्मग्राम यहाँ भी गूढोत्मा अव्यक्तात्मा, वैकारिकात्मा भेद से तीन भागों में विभक्त है । साथ ही तद्वत् ही गूढोत्मा अव्यक्तात्मा, दोनों आत्मविवर्त अधिदैवतवत् इस अध्यात्म में समान हैं वैकारिकात्मविवर्त असमान है विशेष है । चिदाभासात्मक चिदंशरूप इस शारीरक आत्मा (भोक्ता जीव) में बिम्बात्मक चिदंशरूप प्रत्यगात्मा (साक्षी ईश्वर, विराट्) के द्वारा भुक्त परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षररूप षोडशकल महेश्वरात्मा ही अध्यात्मलक्षण गूढोत्मा है । अधिदैवतानुगत षोडशी ईश्वराव्यय कहलाया है अध्यात्मानुगत षोडशी जीवाव्यय कहलाया है । गीता में दोनों के स्वरूपों का विभिन्नरूप से विश्लेषण हुआ है । तत्सम्बन्धी व्याख्या को मूलभाष्य पर छोड़ते हुए यहाँ केवल तत्स्वरूपविश्लेषक वचनमात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं—

ईश्वराव्ययधर्मा (अधिदैवत-गूढोत्मा) —गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः, शरणं सुहृत् ।
प्रभवः, प्रलयः स्थानं, निधानं, बीजमव्ययम् ॥ गी०९।१८।

* * *

जीवाव्ययधर्मा – (अध्यात्मम्–गूढोत्मा) —उपद्रष्टा, ऽनुमन्ता च, भर्ता, भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ गी०१३।२२।

* * *

१०२–एकोनविंशतिमुख जीवात्मा का स्वरूपविस्तार—

अव्ययप्रधान गूढोत्मा परपुरुष है अक्षरप्रधान अव्यक्तात्मा परावरपुरुष है, आत्मक्षरप्रधान वैकारिकात्मा अवरपुरुष है । तीनों की समष्टि ही 'अधिदैवतम्' है तीनों की समष्टि ही 'अध्यात्मम्' है । अधिदैवत में प्रतिष्ठित परपुरुषरूप को गीता ने 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत किया है । कारण 'विभुर्व्ययव्यय–ईश्वर' इस अन्य वचनानुसार 'अव्यय शब्द' ईश्वर भाव का सूचक है, और अधिदैवतप्रपञ्च साक्षीरूप ईश्वर ही माना गया है । यह अव्ययेश्वर ही अध्यात्मसंस्था के गति, भर्ता प्रभु साक्षी, निवास शरण सुहृत् (सखा) प्रभव, प्रलय, स्थान निधान एवं बीज है । आध्यात्मिक गूढोत्मा भी अधिदैवत गूढोत्मा की भाँति अव्ययप्रधान अवश्य है । परन्तु यह ईश्वराव्यय नहीं, अपितु जीवाव्यय है । साक्षी अव्यय नहीं, अपितु भोक्ता अव्यय है । अतएव इसे ईश्वरभावसमर्थक 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत न कर 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः' इत्यादिरूप से 'परपुरुष' नाम से ही व्यवहृत किया गया है । ईश्वराव्यय देहाभिमान से विमुक्त रहता है । अतएव उसके लिए किसी सोपाधिक भाव का प्रदर्शन न कर केवल 'अव्ययम्' कह दिया गया है । इधर जीवाव्यय उपद्रष्टा–अनुमन्ता–भर्ता–भोक्ता बनता हुआ देहाभिमानी अव्यय है, अतएव इसके लिए 'देहे–

अस्मिन्' यह सर्वांत करना आवश्यक समझा गया है। देहाभिमानी जीवात्मा सविशेष है, प्रतिशरीर में विभिन्न है, यही प्राणनिकशास्त्र का जीवनानात्ववाद है, जो इस दृष्टिकोण से सर्वथा समीचीन है। देह में ही प्रतिष्ठित, किन्तु देहाभिमान से असंस्पृष्ट प्रत्यगात्मा शरीरोपाधिबन्धन से विमुक्त रहता हुआ स्वयम्भूमूल महाविराट् आत्मा एक है, यही वेदान्तशास्त्र का ऐकात्म्यवाद है जो इस दृष्टिकोण से सर्वथा प्रामाणिक है। आधिदैवत-शरीर गूढोत्मा एवं अध्यात्मशरीर गूढोत्मा का यही तात्त्विक विभेद है।

दूसरा क्रमप्राप्त अव्यक्तात्मा है। साक्षी ईश्वरद्वारा अध्यात्मसंस्था में शरीराकाराकाश से युक्त अव्यक्त स्वायम्भुव अंश ही अव्यक्तात्मा है जो गूढोत्मा से समन्वित रहता हुआ जन्म से ही प्रतिष्ठित है। अब क्रमप्राप्त तीसरे वैकारिकात्मा पर दृष्टि डालिए। वैकारिकात्मा ईश्वरीय वैकारिक आत्मा की भाँति ९ भागों में विभक्त है। आधिदैवतसंस्था में मुक्त चिदात्मादि ९ वैकारिक आत्माओं के प्रवर्ग्यभूत ९ वैकारिक अंश ही इस अध्यात्मसंस्था के ९ वैकारिक आत्मा हैं। आधिदैवत में इन वैकारिकात्माओं के नवविवर्तों का जो संस्थान-क्रम बतलाया गया है वही क्रम यहाँ व्यवस्थित समझिए। केवल नाममात्र में विशेषता है। नामभावोल्लेख से इस आध्यात्मिक वैकारिकात्म-वर्ग का स्वरूप आधिदैवतव्यवस्था से पार्थक्य बन रहा है। ये ९ विवर्त क्रमशः शान्तात्मा महानात्मा विज्ञानात्मा (बुद्धि) प्रज्ञानात्मा (मन), प्राणात्मा तैजसात्मा, वैश्वानरात्मा, हंसात्मा भूतात्मा इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। शान्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान और प्राण ये ५ हैं हंस-भूत, ये आत्मा विश्वप्राणात्मा हैं। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ तीनों वैकारिकात्मा हैं, तीनों की समष्टि ही देवसत्यात्मा है। यही स्वरूपगर्भित वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मोक्ता ऐकात्म्य के वैकारिकात्म-विवर्त का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण है।

यदि इन ९ वैकारिकात्माओं के सूक्ष्म विभागों का विचार किया जाता है तो यह ९ संख्या १६ संख्या पर विश्राम करती है। १७ वाँ अव्यक्तात्मा है, १८ वाँ गूढोत्मा है १९ वाँ सर्वाधारभूत, सर्वव्यतिरिक्त-रसैकमूर्त्ति किन्तु मायी परात्परपुरुषात्मा है। स्वायम्भुव विराडात्मा के अंशभूत शान्त आत्मा के १ अन्तर्यामी २-सूत्रात्मा ३-वेदात्मा ४-चिदात्मा ये चार विवर्त हो जाते हैं। पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भात्मा के अंशभूत महानात्मा के महदात्मा प्रकृत्यात्मा अहङ्कृत्यात्मा प्रज्ञात्मा, भेद से चार विवर्त हो जाते हैं। सौर सर्वज्ञात्मा के अंशभूत विज्ञानात्मा के विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा देवात्मा ये दो विवर्त हो जाते हैं। पार्थिव विराडात्मा के अंशभूत भूपिण्ड-भूवायु-भूताप्-भूपरा-भूकविरा-इन पाँच अंशों के प्रवर्ग्यरूप पाँच पार्थिवात्मा क्रमशः भूतात्मा-हंसात्मा वैश्वानरात्मा-तैजसात्मा-प्राज्ञात्मा ये पाँच विवर्त हो जाते हैं। ४-४-२-५-के संकलन से स्वायम्भुव, पारमेष्ठ्य, सौर भौम भेद से १६ वैकारिकात्मविवर्त हो जाते हैं। १६ वैकारिकात्मा १७ वाँ अव्यक्तात्मा १८ वाँ गूढोत्मा, १९ वाँ परात्परात्मा यही 'एकोनविंश-तिमुख' 'अध्यात्मम्' है। हमारे शरीर में एक आत्मा नहीं है अपितु पृथक् अनेक (१९)

आत्मा है। अतएव इस आत्मतत्त्व को 'आत्मग्राम' (अनेक आत्माओं के रहने का स्थान) कहना अन्वय बनता है। एक ही तत्त्व एकोनविंशतिमुख बना है, इस दृष्टि से–'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' मूलक अद्वैतवाद भी अक्षुण्ण है। यही उपनिषदों की 'अद्वैतमूला ज्ञानदृष्टि' है। 'गुणानां च पदार्थत्वात्सम्बन्ध समत्वात्' न्याय से १९ रूप विभिन्न हैं, यही तत्त्वानुगत द्वैतवाद की अक्षुण्णता है। यही उपनिषदों की 'विज्ञान (विविधज्ञान) दृष्टि' है। संचरविधया उसके १९ विवर्त सत्य हैं, प्रतिसञ्चरविधया उसका एकत्व अक्षुण्ण है। यही भारतीय दर्शनशास्त्र का सुप्रसिद्ध भेदसहिष्णु-अभेदवाद है।

अध्यात्मानुगत –आत्मग्राम –(१२७ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

— आत्मग्राम —	(१) साक्षीविराट्–प्रत्यगात्मा तमुक्त–विराड्ब्रह्म–ईश्वराख्यो गूढोत्मा मुक्त			तत्प्रवर्ग्यभागा	जीवाख्यो गूढोत्मा
	(२)	,,	अव्यक्तात्मा	तत्प्रवर्ग्यभागः	अव्यक्तात्मा
	(३)	,,	चिदात्मा (स्वायम्भुवस्तोमानुगत–स्वायम्भुवांश)	तत्प्रवर्ग्यभागः	शान्तात्मा
	(४)	,,	हिरण्यगर्भात्मा (१५ ,, परमेष्ठ्यंशः)	,,	महानात्मा
	(५)	,,	सर्वज्ञात्मा (२१ ,, सौरांशः)	,,	विज्ञानात्मा
	(६)	,,	महानात्मा (१५ ,, चान्द्रांश)	,,	प्रज्ञानात्मा
	(७)	,,	सर्वज्ञात्मा (२१ ,, व्यापकपार्थिवांशः)	,,	प्राणात्मा
	(८)	,,	हिरण्यगर्भात्मा (१५ ,, ,, हिरण्यगर्भांशः)	,,	तैजसात्मा
	(९)	,,	विराडात्मा (९ ,, ,, विराडंश)	,,	वैश्वानरात्मा
	(१०)	,,	वराहात्मा (भूमायोंश)	,,	हंसात्मा
	(११)	,,	भित्यात्मा (भूपिण्डांशः)	,,	भूतात्मा
ईश्वरात्मा	इति तु–अभिप्रेतम्–'षट्पुर' साक्षीविराट्–प्रत्यगात्मा (ईश्वर) विरंच–अध्यपरमेश्वर.—				जीवात्मा | इति तु अध्यात्मम्–तदभिद भोक्ता–विराट शारीरक आत्मा जीव

प्रकारान्तरेण—(१२८ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

१–पुरुषात्मा — सोऽयं जीवस्य गूढोत्मा
२–प्राकृतात्मा — ,, अव्यक्तात्मा
} जीवात्मकजीवस्य पुरुषात्मा (सा काष्ठा सा परा गतिः) } १ अमृतस्यात्मा

३–शान्तात्मा — चिदात्मा — चिदात्मा—जीवात्मकजीवस्य चिदात्मा
४–महानात्मा — ,, हिरण्यगर्भात्मा — हिरण्यगर्भात्मा-जीवात्मकजीवस्यहिरण्यगर्भात्मा
५–विज्ञानात्मा — ,, सर्वज्ञात्मा — जीवात्मकजीवस्य सर्वज्ञात्मा
६–प्रज्ञानात्मा — , महानात्मा — जीवात्मकजीवस्य महानात्मा

७–प्राणात्मा — ,, सर्वज्ञात्मा
८–तैजसात्मा — ,, हिरण्यगर्भात्मा
९–वैश्वानरात्मा — ,, विराडात्मा
} —जीवात्मका—अन्तरात्मा (सर्वभूतान्तरात्मा) (जीवात्मको जीवः) } २ वैकारिकात्मा

१०–हंसात्मा — , परमात्मा
११–शरीरम् — ,, चिदात्मा
} —जीवात्मनः—भूतात्मा जीवात्मकजीवस्य चिदात्मा

ब्रह्मस्यात्मा

• • •

[illegible] {
११– १–गूढोत्मा——पुरुषात्मा
१२– २–अव्यक्तात्मा–प्राकृतात्मा
[illegible] { ३–वैकारिकात्मा
चिदात्मा। १–शान्तात्मा, २–महानात्मा, ३–विज्ञानात्मा, ४–प्रज्ञानात्मा,–५–भूतात्मा।
वैकारिकात्मा। १–प्राणात्मा, २ तैजसात्मा, ३–वैश्वानरात्मा, ४–हंसात्मा, ५–भूतात्मा
}

• • •

प्रकृतसंस्था-(एकोनविंशतिमुखो जीवात्मा)—

०-साक्षी-अव्ययपुरुष (१)

१-गूढोत्मा-अक्षर (२)

२-अव्यक्तात्मा-विश्वेश्वर (३)

१-शान्तात्मा-(स्वायम्भुव)

    १-अन्तर्यामी[4], २-सूत्रात्मा[5], ३-क्षेत्रात्मा[6], ४-चिदात्मा[7]

२-महानात्मा-(पारमेष्ठ्य)

    १-आकृत्यात्मा[8], २-प्रकृत्यात्मा, ३-अहङ्कृत्यात्मा[9], ४-महानात्मा[11]

३-विज्ञानात्मा (सौर)

    १-विज्ञानात्मा[12], २-देवात्मा[13]

४-प्रज्ञानात्मा[14] (चान्द्र)

५-भूतात्मा (पार्थिव)

    १-प्राणात्मा[15], २-तैजसात्मा[16], ३-वैश्वानरात्मा[17], ४-हंसात्मा[18], ५-भूतात्मा[19]

    कर्मात्मा-अन्तरात्मा

अक्षरान्तरेण—

१–१ { १–मायी परात्परपुरुषः (१९) / २–मायावच्छिन्नो गूढात्मा (१८) } —— द्विविधो गूढोत्मा (१)–२

२–१ [१–मायापरोऽव्यक्तात्मा (१७)] —— एकविधः–अव्यक्तात्मा (२)–१

३–१ { १–अन्तर्यामी (१६) / २–सूत्रात्मा (१५) / ३–वेदात्मा (१४) / ४–चिदात्मा (१३) } —चतुर्विधः शान्तात्मा स्वायम्भुवः (४)

४–२ { १–आकृत्यात्मा (१२) / २–प्रकृत्यात्मा (११) / ३–अहङ्कृत्यात्मा (१) / ४–महात्मा (९) } —चतुर्विधो महानात्मा पारमेष्ठ्यः (४)

५–३ { १–विज्ञानात्मा (८) / २–दैवात्मा (७) } —द्विविधो विज्ञानात्मा सौरः (२)

६–४ [१–प्रज्ञानात्मा (६)] —एकविधः प्रज्ञानात्मा चान्द्रः (१)

७–५ [१–प्राणात्मा (५)

८–६ [२ तैजसात्मा (४)

९–७ [३–वैश्वानरात्मा (३)

१०–८ [४–हंसात्मा (२)

११–९ [५–भूतात्मा (१)

(७–९: [illegible] / [illegible]; १०–११: [illegible] / शरीरात्मा) —पञ्चविधो भूतात्मा पार्थिवः (५)

षोडशविधः—वैकारिकात्मा (१) १६

“स एष एकोनविंशतिमुखो जीवात्मा–अध्यात्मम्

“आत्मग्रामः”

१०३–आत्मखण्डस्वरूपसमर्थनवचन—

आत्मग्राम की पूर्वप्रदर्शित तालिकाएँ जहाँ विज्ञानस्वरूपतत्त्वज्ञाननिष्ठों के आत्मप्रसाद की कारणभूता हैं, वहाँ विशुद्धज्ञानाभिनिविष्ट जगन्मिथ्यात्ववादियों की दृष्टि में ये ही वेदना का कारण बन सकती हैं। 'हमारे शरीर में एक आत्मा नहीं, १६ आत्मा हैं' ज्ञानस्वरूप यह विज्ञानसिद्धान्त अवश्य ही वर्त्तमान युग के विद्वत्समाज के लिए इसलिए चर्चा का विषय बन सकता है कि, वैदिक तत्त्ववाद के विलुप्तप्राय हो जाने से, जगन्मिथ्यात्ववादी व्याख्याताओं की काल्पनिक व्याख्याओं के अनुग्रह से, सर्वोपरि कालमहिमा से भारतीय आत्मविज्ञान एकान्ततः लुप्त हो गया है। यही कारण है कि, आज शास्त्रीय कर्म्मों के सम्बन्ध में पदे पदे शङ्काएँ उपस्थित हो रही हैं। यदि आत्मा अजरामर है, तो जन्म किसने लिया ?, यदि वह जन्म लेता है, तो अजरामर कैसे रहा ? यदि जीवात्मा शरीर छोड़ते ही अन्य देह धारण कर लेता है, तो श्राद्धान्न किसके लिए दिया जाता है ? आदि आदि यच्चयावत् शङ्काओं का एकमात्र कारण आत्मा के तात्त्विक स्वरूपज्ञान की विलुप्ति ही माना जायगा। किस आत्मा का क्या कर्म्म है ? कौन कर्म्मभोक्ता है ? कौन श्राद्धान्नभोक्ता है ?, किसके लिए गयाश्राद्ध विहित है ?, कौन अविनाशी है ? कौन विनाशी है ?, आदि आत्मविषयक यच्चयावत् प्रश्नों का समाधान करना प्रकृत बुद्धियोगप्रकरण में अप्रासङ्गिक है *। आत्मस्वरूपप्रतिपत्तिलक्षणा, उपक्रम में प्रतिपादित आत्मस्थिति से सम्बन्ध रखने वाले १६ आत्माओं के आधार पर ही इन सब प्रश्नों का उत्तर यथानुरूप व्यवस्थित है। उदाहरण के लिए परात्पर आत्मा अजरामर है, अजन्मा है। श्राद्ध महानात्मा के लिए ही विहित है। देहान्तर (आतिवाहिक शरीर) धारण कर कर्म्मानुसार कर्म्मफलभोक्ता आत्मा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण कर्म्मात्मा ही है। गयाश्राद्ध 'प्रेतात्मा' नामक 'हंसात्मा' के लिए ही विहित है। इन १६ आत्माओं में १८ आत्मा तो मनुष्यमात्र में विद्यमान हैं। केवल एक आत्मा विशेष है और वह है और-'दैवात्मा'। जिन महतवा ह्विर्यज्ञियों को यथाविधि कर्मतः प्राप्त है यज्ञद्वारा उनके कर्म्मात्मा में दिव्यप्राणदेवातिशय प्रतिष्ठित हो जाता है। इसका सम्बन्ध स्तोमस्थ नाकपृष्ठस्वर्ग में प्रतिष्ठित दिव्य देवप्राण से अनुप्रविष्ट रहता है। आयुर्भोगानन्तर स्थूलशरीर छोड़ने पर कर्म्मात्मा इस दिव्यातिशय (यज्ञातिशय) रूप दैवात्मा के सहयोग से सम्वत्सरस्थ दिव्य प्राणाकर्षण से, यावत्-दिव्यातिशयस्थितिपर्य्यन्त वहाँ प्रतिष्ठित हो जाता है। यही यज्ञजनिता स्वर्गफलप्राप्ति है, जिसके लिए-'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचन विहित हैं। अतएव इस और दैवात्मा को 'काम्य आत्मा' कहा जा सकता है जिसका केवल यज्ञकर्त्ता द्विजातियों से ही सम्बन्ध है। शेष १८ आत्मविवर्त सर्वत्र व्याप्त रहते हुए अविशेष हैं अतएव इन्हें 'नित्य आत्मा' कहा जा सकता है। युक्ति, तर्क विज्ञान आदि से यद्यपि तर्कैकचक्षुष्क विद्वानों के लिए इन आत्मविवर्तों की प्रामाणिकता सर्वात्मना सिद्ध है। तथापि जो 'तर्कैकचक्षुष्क' हैं, 'शास्त्रप्रामाण्यका वयं, यदस्माकं शब्द् आह, तदस्माकं प्रमाणम्' यही अभिनिवेश

---

* इसके लिए 'आत्मविज्ञान' प्रथम खण्ड द्रष्टव्य है।

है जो तथ्यपूर्ण वास्तविक सिद्धान्त का समादर नहीं करते × उनके परितोष के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इन आत्मसंस्थाओं की प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले कुछ एक वचन भी उद्धृत कर दिए जाँय। हमें विश्वास है—समालोचक महानुभावों का अवश्य ही इन वचनों से ही परितोष हो जायगा—

अव्यक्तः परात्परः—(१)—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० उ० ६।२।१)

(२)—यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

(३)—न विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

* * *

१—मायी परात्परपुरुषः—यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ॥
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।८

* * *

२—जीवात्मव्ययो गूढोत्मा—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठोपनिषत् १।३।१२

* * *

३ जीवात्माक्षरोऽव्यक्तात्मा 'स एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा' (जाबालोपनिषत् २)।

* * *

४—शान्तात्मा (स्वायम्भुव) — अव्यक्तम्
५—महानात्मा (पारमेष्ठ्य) — महान्
६—विज्ञानात्मा (बुद्धिः सौर) तैजस — बुद्धिः
७—प्रज्ञानात्मा (मनः—चान्द्र) — मनः
८—भूतात्मा (शरीरम्—पार्थिवम्) — शरीरम्

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥१॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा
परा गतिः ॥२॥
—कठोपनिषत्

* * *

× —युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ॥
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥१॥
अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद् युक्तिबोधकम् ॥
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥२॥
—योगवासिष्ठे

चतुर्विध शान्तात्मा स्वायम्भुव —

✿ शान्तात्मा—"नमः शान्तात्मने तुभ्यम्" (मै० उप० ४।१।)।

"चतुर्थं शान्त आत्मा प्लुतप्रणवप्रयोगेण समस्तमोमिति"

(अथर्वशिरो ११)।

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ॥

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ मनु १।५२।

१-अन्तर्यामी—"यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः"।

—बृ० उप० ३।७।

२-सूत्रात्मा—"वायुर्वै गौतम ! तत् सूत्रम्। वायुना वै गौतम ! सूत्रेणायं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति"

—बृ० उप० [illegible]

३-वेदात्मा—"स एव नित्यवस्तस्य, स एव सत्पुरुष इति मन्यन्ते" ([illegible]

४ चिदात्मा—"मनुप्रकरसो प्रयमात्मा चिद् एव" ([illegible]

✿ —चतुर्विधो महानात्मा पारमेष्ठ्य—

२ प्रकृत्यात्मा—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥श्वे०उ० ४।१ ।

३ महदक्षरात्मा—अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥श्वे०५।८

४ यज्ञात्मा—एष ह वै यजमानस्यामुष्मिँल्लोक आत्मा भवति, यद्यज्ञः ।
स ह सर्वतनुरेव यजमानोऽमुष्मिँल्लोके सम्भवति, य एवं-
विद्वानिष्टकीत्या यजते'—शत०ब्रा०११।१।८।६।

५—त्रिविधा विज्ञानात्मा और'—
विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥
—प्रश्नोपनिषत् ४।११।

१ विज्ञानात्मा—एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा,
कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ।
—प्रश्नोपनिषत् ४।९।

२ देवात्मा—देवो ह्यसावात्मा, मानुषोऽयम् । स यच्च न्यञ्च्यात् ,
न हैनं देवात्मानं प्रीणीयात् । अथ यन्न्यनक्ति, तथो हैनं
देवात्मानं प्रीणाति—शत० ब्रा० ६।१।२।४।

७—एकविध प्रज्ञानात्मा चान्द्र'—
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥यजु संहिता'
"यदेतत्-हृदयं मनश्चैतत्, संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधादृष्टिर्धृति-
र्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश-इति सर्वाण्येवै-

तानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति । सर्व तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं
प्रज्ञानं ब्रह्म"—ऐतरेयोपनिषत्,

॥

पञ्चविधो भूतात्मा पार्थिव'—

"अथान्यत्राप्युक्तं—संमोहो, भयं, विषादो, निद्रा, तन्द्रा, व्रणो, जरा, शोकः,
क्षुत्, पिपासा, कार्पण्यं, क्रोधो, नास्तिक्यं, अज्ञानं, मात्सर्यं, वैकारुण्यं, मूढत्वं,
निर्व्रीडत्वं, निकृतत्वं, उद्धतत्वं, असमत्वं, इति तामसान्वित'—तृष्णा, स्नेहो, रागो,
लोभो, हिंसा, रति, दृष्टिव्याप्तत्वं, ईर्ष्या, काम, अवस्थितत्वं, चञ्चलत्वं, जिहीर्षा,
अर्थोपार्जन, मित्रानुग्रहणं, परिग्रहावलम्बो, ऽनिष्टेषु—इन्द्रियार्थेषु द्विष्टि, रिष्टेष्व—
भिषङ्ग—इति—राजसान्वितैः परिपूर्ण, एतैरभिभूत', इत्यय भूतात्मा । तस्मान्नानारूपाण्याप्नोति" । —मैत्रायण्युपनिषत् ३।५।

॥

१ प्राज्ञात्मा—"सुषुप्तस्थान, एकीभूत, प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्—
चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः"—माण्डूक्योपनिषत् ५।

॥

२ तैजसात्मा—"स्वप्नस्थानो ऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्—
तैजसो द्वितीय' पाद"—मा० ४।

॥

३ वैश्वानरात्मा—"जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक्—
वैश्वानर' प्रथम पाद"—मा० ३।

४ हंसात्मा—"नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहि' ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ श्वे०उप० ३।१८।

॥

५ भूतात्मा(शरीरम्)—"आत्मा वै तनू" (शत० ६।७।२।६)—"तस्मादिदं आत्मा मे—
द्यति च, कृश्यति च" (तां०म०ब्रा० ४।१२।७।)—"तदुसर्व
आत्मा (शरीरं) वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति" ।
(कौ०ब्रा २।७)।

१०४–प्रतिमाषोडशी में पञ्चोपेश्वरषोडशी-विवर्तों का अन्तर्भाव—

पूर्व के अवान्तर परिच्छेदों में क्रमशः निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, इन तीन स्वरूपों की क्रमिक मीमांसा हुई है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, महामायावच्छिन्न–विशुद्ध–मनोमूर्ति परात्पर पुरुष निष्कलतत्त्व है। रसबलात्मक–षोडशकल–महामायावच्छिन्न–गूढोत्मा–अव्ययात्मा षोडशीतत्त्व है। एवं स्वयम्भू नामक व्यापक अव्यक्ततत्त्व प्रतिमाषोडशी है। इस अव्यक्ततत्त्व के अव्यक्त, पुण्डीर, मेद से आगे जाकर दो विभाग हो जाते हैं। पुण्डीर अव्यक्ततत्त्व ही 'उपेश्वरषोडशी' कहलाता है। यह उपेश्वरषोडशी ही स्वयम्भू (पुण्डीरस्वयम्भू), परमेष्ठी, सूर्य चन्द्रमा पृथिवी, इन पाँच भागों में विभक्त होकर पञ्चावयव बना रहता है। पञ्चावयव उपेश्वरषोडशी निरवयव अव्यक्त नामक प्रतिमाषोडशी से अभिन्न है। उसी की ये पाँच अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव इन पाँचों का उस प्रतिमाषोडशी-स्वरूप में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है।

१ ५–आध्यात्मिक प्रतिमाषोडशी–सप्तकस्वरूपदिग्दर्शन—

अव्यक्तस्वयम्भू अव्यक्तप्रतिमाषोडशी है, उपेश्वरात्मक पुण्डीरस्वयम्भू व्यक्त प्रतिमाषोडशी है। इसका व्यक्तीभाव पारमेष्ठ्य महान् पर निर्भर है। अतएव पुण्डीरस्वयम्भू का महान् में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। उधर अव्यक्तप्रतिमाषोडशी क्योंकि व्यापकत्वेन षोडशकल मायीमहेश्वर से समतुलित है, अतएव इसका उसमें अन्तर्भाव मान लिया जाता है। निष्कर्ष इस अन्तर्भावप्रक्रिया का यह निकलता है कि, निष्कल परात्परपुरुषरूप आलम्बन पर प्रतिष्ठित महामायी षोडशीपुरुष के गर्भ में महान्, विज्ञान प्रज्ञान शरीर, इन चार प्रतिमाभावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जिसे वैज्ञानिकों ने महान्, बुद्धि, मन, वायु, वैश्वानर, शरीर महिमा इन सात संस्थाओं में विभक्त माना है। निष्कलाविनाभूत षोडशी महाषोडशी है, तदविनाभूत अव्यक्तषोडशीरूप प्रतिमाषोडशी इसी महाषोडशी में अन्तर्भूत है। पुण्डीरषोडशीरूप प्रतिमाषोडशी महान्षोडशी में अन्तर्भूत है। फलतः 'प्रतिमा' शब्द से प्रथम संस्था केवल महान् तथा परमेष्ठी ही बच रहते हैं। इस नवीन दृष्टिकोण को आधार बना कर ही हमें दो शब्दों में प्रतिमाषोडशी तत्त्व-की मीमांसा करनी है।

(१) निष्कलः————रसोबलमयसूत्रात्मकः परात्परपुरुषः

(२) षोडशी————परात्परालम्बनात्मकरसबलमयो महाषोडशी } ——अन्तर्भावो व्यक्तस्याव्यक्तस्य

(३) प्रतिमाषोडशी— | महाषोडशिना समतुलितः—अव्यक्तषोडशी |

पञ्चात्मयज्ञोपेश्वरः — (१) पुण्डीरस्वयम्भूः (अव्यक्तम्), (२) पुण्डीरपरमेष्ठी (महान्) } अत्र अन्तर्यामी पुण्डीराव्यक्तस्य; (३) पुण्डीरसूर्य्यः (बुद्धिः), (४) पुण्डीरचन्द्रमा (मनः), (५) पुण्डीरपृथिवी (शरीरम्)

निष्कलः (परात्परः) —— निष्कल (१)

षोडशी (षोडशी), अव्यक्तषोडशी (सत्यः) —— महाषोडशी (२)

पुण्डीरस्वयम्भूः (अव्यक्तम्), पुण्डीरपरमेष्ठी (महान्) —— महान् (४)

पुण्डीरसूर्य्यः (बुद्धिः) —— बुद्धिः (३)

पुण्डीरचन्द्रमा (मनः) —— मनः (२)

पुण्डीरपृथिवी (शरीरम्) —— शरीरम् (१)

[महान्, बुद्धिः, मनः, शरीरम्] —— प्रतिमाषोडश्यः (३)



जिस प्रकार निरूपित आधिदैवतसंस्था में मूल आत्म-ग्रामों का समन्वय है, एवमेव प्रकान्त अध्यात्मसंस्था में भी दोनों विभाग यथानुरूप प्रतिष्ठित हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि, आधिदैवत षोडशी महन्माया-सम्बन्ध से जहाँ महाषोडशी कहलाता है वहाँ आध्यात्मिक षोडशी योगमाया के सम्बन्ध से जीवषोडशी कहलाया है, जिसे कि हम हमारी आध्यात्मिक त्रिलोकी की दृष्टि से महाषोडशी भी कह सकते हैं। व्यापक अव्यक्तगर्भित महाषोडशी (ईश्वरषोडशी) का अंशभूत योगमायावच्छिन्न जीवषोडशी अध्यात्मसंस्था का षोडशी है। इस षोडशी के गर्भ में आधिदैवत के पुण्डीरस्वयम्भू, पुण्डीरपरमेष्ठी, पुण्डीरसूर्य्य, तीनों के प्रत्यंशभूत

शान्तात्मा, महानात्मा विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित हैं। शान्तात्मा महानात्मा के गर्भ में अन्तर्भूत है। फलतः महान् और विज्ञान, ये प्रतिमाप्रपञ्चशी शेष रह जाते हैं। पुरुषीरस्वरूपात्मा तथा पुरुषीपृथिवी के पर्वों के प्रवर्ग्य से अध्यात्मसंस्था में मन वायु, वैश्वानर, शरीर इन चार प्रतिमामात्रों का उदय होता है। इन के अतिरिक्त इन ६ ओं प्रतिमामात्रों की महिमा (शाश्वतीमण्डल पुनःपद) का समावेश और रहता है। अभूत महान् बुद्धि, मन, वायु, वैश्वानर, शरीर, महिमा, ये सात प्रतिमाप्रपञ्चपति हो जाते हैं जो आध्यात्मिक षोडशी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस आध्यात्मिक संस्था के समन्वय के लिए आधिदैविक संस्था पर भी दृष्टि डाल लेना आवश्यक होगा।

१०६—आधिदैविक—सप्त—प्रतिमापोडशी—स्वरूपदिग्दर्शन—

पञ्चात्म उपेश्वर के पाँचों पर्व क्रमशः ब्रह्ममय (स्वयम्भू), आपोमय (परमेष्ठी), वाङ्मय (सूर्य्य) अन्नमय (चन्द्रमा) अन्नादमय (पृथिवी) हैं। अन्नादमय पाँचवाँ पृथिवीपर्व अग्निमय है। विश्व (मर्त्य), विशेनिषेध (अमृत) भेद से इसके दो विवर्त हैं। विश्वाग्नि भूपिण्ड है यही मर्त्यपृथिवी है। विशेनिषेधाग्नि की ही त्रिवृत् पञ्चदश—एकविंशस्तोमभेद से घन-तरल-विरलावस्थाओं के द्वारा तीन स्थितियाँ हो रही हैं, जो क्रमशः अग्नि वायु, इन्द्र नामों से प्रसिद्ध हैं। त्रिवृत्—पञ्चदश—एकविंश तीनों स्तोम क्रमशः पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौ—नामक तीन पार्थिव विश्व हैं। तीनों के क्रमशः अग्नि—वायु-इन्द्र-तीन नर (नायक अधिष्ठाता) हैं। इन तीनों नरों के समन्वय से उत्पन्न होने वाला सार्वभौमिक विश्वसीमाविच्छिन्न तत्त्व ही विराट् कहलाता है। यही अध्यात्मपरिभाषा में 'वैश्वानर' कहलाता है। वाय्विन्द्रगर्भित अग्निप्रधान विराट् विराट् है। अग्नीन्द्र-गर्भित वायुप्रधान विराट् हिरण्यगर्भ है। एवं अग्निवायुगर्भित इन्द्रप्रधान विराट् सर्वज्ञ है। इसप्रकार अग्नि-वायु—इन्द्र—के समन्वय से उत्पन्न एक ही विराट् के अग्नि—वायु—इन्द्र की प्रधानता—अप्रधानता से विराट्—हिरण्यगर्भ—सर्वज्ञ—ये तीन विवर्त हो जाते हैं, जिनका केवल विराट् नाम से भी संग्रह किया जा सकता है।

त्रिमूर्तिविराट् का तीसरा इन्द्रप्रधान सर्वज्ञपर्व चान्द्रसोम के प्रवर्ग्यभाग से युक्त होकर चिन्मय बनता हुआ अपने सर्वज्ञ नाम को अन्वर्थ बना रहा है। चान्द्रसोम अपने स्वाभाविक शीतधर्म से विरलात्मक बनता हुआ क्रियामय इन्द्रात्मक विराट् को ज्ञानमय भी बना देता है। चिच्छक्तिमय यही सोम हैमवतीउमा नाम से उपनिषदों में उपवर्णित हुआ है। इसी के सम्बन्ध से इन्द्र सर्वज्ञ बन रहे हैं। तात्पर्य्य—पार्थिव विशेनिषेध त्रिवृदग्नि ही विराट् हिरण्यगर्भ—सर्वज्ञ इन तीन विभक्त भावों में परिणत हो रहा है। भूपिण्ड के चारों ओर व्याप्त रहने वाला घनवायु एक स्वतन्त्र तत्त्व है। इसप्रकार पुरुषीर पृथिवीपर्व के भूपिण्ड घनवायु, त्रिविध विराट् ये तीन विवर्त हो जाते हैं। चौथा पुरुषीर चन्द्रमा है, पाँचवाँ पुरुषीर सूर्य्य है छठा पुरुषीर परमेष्ठी है सातवाँ पुरुषीर स्वयम्भू है यही आकाश है यही महिमा है। इसप्रकार आधिदैविकसंस्था में महिमा (स्वयम्भू), परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, घनवायु, त्रिविधविराट् भूपिण्ड ये सात प्रतिमापोडशी हो जाते हैं।

१०७—प्रज्ञा, और प्राण का अभिन्नता—

उक्त आधिदैविक संस्था से ही आध्यात्मिक संस्था का निर्माण हुआ है। आध्यात्मिक सातों पर्व क्रमशः महिमा (स्वयम्भू का प्रवर्ग्यरूप आकाश) महान् बुद्धि मन, त्रिविध वैश्वानर, वायुमूर्ति इत्यस्मा शरीर इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। आधिदैविकसंस्था का त्रिमूर्ति विराट् ही अध्यात्मसंस्था में त्रिमूर्ति वैश्वानर कहलाता है। वाय्विन्द्रगर्भित वैश्वप्रधान आग्नेय वैश्वानर वैश्वानर नाम से अग्नीन्द्रगर्भित क्रियाप्रधान

भावरूप वैश्वानर तैजस नाम से, एवं अग्निवायुगर्भित ज्ञानप्रधान ऐन्द्र वैश्वानर प्राज्ञ नाम से व्यवहृत हुआ है। ऐन्द्र प्राज्ञ में चिदंश, सोम, प्राण तीनों तत्त्वों का समन्वय हो रहा है। चिदंश, सोम दोनों की समष्टि 'प्रज्ञा' है। यह प्रज्ञातत्त्व इन्द्रप्राणात्मक है। प्रज्ञा (सोमविशिष्ट चिदंश) विशिष्ट इन्द्रप्राण ही 'प्राज्ञ' है। प्रज्ञा, और प्राण, दोनों अविनाभूत हैं। अतएव प्रज्ञा को प्राण कह दिया जाता है एवं प्राण को प्रज्ञा नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

"यो वै प्राणः, सा प्रज्ञा। या प्रज्ञा, स प्राणः। सह ह्येतौ–
अस्मिञ्छरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। तस्यैषैव दृष्टिः" । (कौ० उप० ३।३।)

इति नु—अधिदैवतम्			
अव्यय	निष्कलः महाषोडशी अव्ययः	—महाषोडशी गूढोत्मा	
अक्षर	स्वयम्भूः	—महिमा (१)	
	परमेष्ठी	—परमेष्ठी (२)	
	सूर्यः	—सूर्यः (३)	
	चन्द्रमाः	—चन्द्रमा (४)	
[illegible]	सर्वज्ञः हिरण्यगर्भः विराट्	—विराट् (५)	
[illegible]	वराहः	—वायुः (६)	
	भूपिण्डः	—भूपिण्डः (७)	

इति नु—अध्यात्मम्			
अव्यय	निष्कलः बीजषोडशी अव्ययः	—बीजषोडशी गूढोत्मा	
अक्षर	अव्यक्तम्	—महिमा	(१)
	महान्	—महान्	(२)
	बुद्धिः	—बुद्धिः	(३)
	मनः	—मनः	(४)
[illegible]	प्राज्ञः तैजसः वैश्वानरः	—वैश्वानरः	(५)
[illegible]	हंसः	—वायुः	(६)
	शरीरम्	—शरीरम्	(७)

प्रतिमात्मकोश—२

सन्निहित-पर्यात्मिक

१ — १–मायी परात्परपुरुष (१६)–१
२–शान्तात्मयो गूढोत्मा (१८)–२
३–शान्ताक्षरोऽव्ययात्मा (१७)–३
→ गूढोत्मा–शीर्षोदरी (८)]–षोडशी १

२ — ४–अन्तर्यामी (१६)–१
५–सूत्रात्मा (१५)–२
६–क्षेत्रात्मा (१४)–३
७–चिदात्मा (१३)–४
→ महिमा (आत्मा सोऽव्यक्त) (७)

३ — ८–आकृत्यात्मा (१२)–१
९–प्रकृत्यात्मा (११)–२
१०–अहङ्कृत्यात्मा (१०)–३
११–महात्मा (९)–४
→ महानात्मा (६)

४ — १२–विज्ञानात्मा (८)–१
१३–दैवात्मा (७)–२
→ बुद्धि (५)

५ — १४–प्रज्ञानात्मा (६)–१
→ मन (४)

६ — १५–मात्रात्मा (५)–१
१६–तैजसात्मा (४)–२
१७–वैश्वानरात्मा (३)–३
→ वैश्वानर (३)

७ — १८–हंसात्मा (२)–१
→ वायु (२)

८ — १९–भूतात्मा (१)–१
→ शरीर (१)

पूर्वप्रतिपादित एकोनविंशतिमुक्त (१९) आत्मविवर्तों का उक्त आठों आत्मपर्वों में अन्तर्भाव हो जाता है। १-मायी परात्परपुरुष, २-जीवाव्ययगूढ़ोत्मा, ३-जीवाक्षर अव्यक्तात्मा, तीनों आत्मविवर्तों की समष्टि का आठवें गूढ़ोत्मा में अन्तर्भाव है। अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा चिदात्मा, चारों का सातवें स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा में अन्तर्भाव है। आकृत्यात्मा, प्रकृत्यात्मा अहङ्कृत्यात्मा, यज्ञात्मा, चारों का छठे पारमेष्ठ्य महानात्मा में अन्तर्भाव है। विज्ञानात्मा, देवात्मा, दोनों का पाँचवें बुद्धिविवर्त में अन्तर्भाव है। प्रज्ञानात्मा ही चौथा मन-पर्व है। प्राण, तैजस वैश्वानर-लक्षण वैश्वानर तीसरे वैश्वानर पर्व से संगृहीत है। हंसात्मा इसका वायव्य हंस-पर्व है। भूतात्मा पहिले शरीरपर्व से संगृहीत है। इसप्रकार १९ ओं आत्मविवर्त इन पर्वाष्टक से संगृहीत हो रहे हैं, जैसाकि पूर्व परिलेख में स्पष्ट है।

१०८-अधिदैवतानुगत सप्तपर्व, तथा अध्यात्मानुगत षट्पर्व—

जिस प्रकार १९ आत्मविवर्तों का ८ में अन्तर्भाव है, एवमेव आठ आत्मविवर्तों का ६ आत्मविवर्तों में भी अन्तर्भाव माना जा सकता है। भूतात्मलक्षण शरीर, हंसात्मलक्षण वायु, वैश्वानरात्मलक्षण वैश्वानर, तैजसलक्षण वैश्वानर, प्राज्ञलक्षण वैश्वानर, ये पाँचों पार्थिवविवर्त हैं पाँचों की समष्टि को 'भूतात्मा'' इस एक नाम से व्यवहृत माना जा सकता है यही प्रथम अधियज्ञात्मा है। मनोलक्षण 'प्रज्ञानात्मा'' द्वितीय अधियज्ञात्मा है। बुद्धिलक्षण 'विज्ञानात्मा'' तृतीय अधियज्ञात्मा है। आकृति-प्रकृति-अहंकृति-यज्ञ-लक्षण 'महानात्मा' चतुर्थ अधियज्ञात्मा है। अन्तर्य्यामी-सूत्र-वेद-चित्-लक्षण 'अव्यक्तात्मा' पञ्चम अधियज्ञात्मा है। मायी परात्पर, जीवाव्ययी, जीवाक्षर-समष्टिरूप षोडशी, इन पाँचों अधियज्ञात्माओं पर व्याप्त रहने वाला छठा आत्मा है। एवं अधिदैवत, तथा अध्यात्मदृष्टि से ये षड्विध समनुगत हैं।

अध्यात्मसंस्था में एक आत्मपर्व विरोध इसलिए है कि, अध्यात्मसंस्था अधिदैवत के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतएव प्रातिस्विक जीवषोडशी के अतिरिक्त इस अध्यात्मसंस्था में सर्वव्यापक ईश्वरषोडशी भी विभूति-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। तात्पर्य्य-अध्यात्म में ईश्वरषोडशी, जीवषोडशी, पञ्च अधियज्ञात्मा इन सात पर्वों का समन्वय है। अध्यात्मसंस्था के जितने एक परिगणित कर्म्म जीवषोडशी पर निर्भर हैं, एवं जितने एक कर्म्म आध्यात्मिक ईश्वरषोडशी की प्रेरणा पर अवलम्बित है। भोजनकर्म्म जहाँ जीवेच्छा पर निर्भर है वहाँ भुक्तान्न को रसासृगादिरूप में परिणत करना ईशोपासना पर निर्भर है। चक्रवर्त्ती नृपति के साम्राज्य में तदन्तर्गत मूर्द्धाभिषिक्त मण्डलेश्वर नृपतियों की भी सत्ता रहती है। चक्रवर्त्ती के व्यापक शासनसूत्र का विरोध न करते हुए मण्डलेश्वरों को अपने अपने राज्यों का शासन करना पड़ता है। यदि मण्डलेश्वर पूर्ण पराक्रमी होकर स्वतन्त्र बन जाते हैं तो ये स्वयं चक्रवर्त्ती भी बन जाते हैं। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। ईश्वर चक्रवर्त्ती है, जीव मण्डलेश्वर है। निर्बलावस्था में स्वतन्त्र बनने का प्रयास करने वाले मण्डलेश्वरजीव दण्डित होते हुए परम्परा हो जाते हैं। परिपूर्ण विद्याबल (बुद्धियोग) के प्रभाव से ये स्वयं ईश्वरभाव में परिणत हो जाते हैं। तात्पर्य्य-जीवसंस्था में ईश्वर का भी हस्तक्षेप रहता है। अतएव जीव परतन्त्र माने गए हैं *। यही परमार्थदृष्टि है।

* ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
—गीता

मायी परात्परपुरुषः (१९)			ईश्वराव्ययः (७)	* * * *
बीजात्मयी गूढात्मा (१८)	बीजचेतयी (८)		जीवाव्ययः (६)	ईश्वराव्ययः (६)
बीजाव्ययोऽव्यक्तात्मा (१७)				
अन्तर्यामी (१६)				
सूत्रात्मा (१५)	महिमा (७)		अव्यक्तात्मा (५)	स्वयम्भूः (५)
सेवात्मा (१४)				
चिदात्मा (१३)				
आकृत्यात्मा (१२)				
प्रकृत्यात्मा (११)	महान् (६)		महानात्मा (४) (पारमेष्ठ्य)	परमेष्ठी (४)
अहंकृत्यात्मा (१०)				
महदात्मा (९)				
विज्ञानात्मा (८)	बुद्धिः (५)		विज्ञानात्मा (३) (सौर)	सूर्यः (३)
दैवात्मा (७)				
प्रज्ञानात्मा (६)	मनः (४)		प्रज्ञानात्मा (२) (चान्द्र)	चन्द्रमाः (२)
प्राणात्मा (५)				
तैजसात्मा (४)	वैश्वानरः (३)			
वैश्वानरात्मा (३)			भूतात्मा (१) (पार्थिव)	पृथिवी (१)
हंसात्मा (२)	वायुः (२)			
भूतात्मा (१)	शरीरम् (१)			
अध्यात्मम्—सप्त पर्वाणि				अधिदैवतम्—पञ्चपर्वाणि

आधिदैविकात्मा—पञ्च

अध्यात्मम्—

आत्मा (१)
- १–महामायी गूढोत्मा—"ईश्वराख्यः" (सर्वाधिष्ठातृत्वेन जीवस्यापि–अधिष्ठाता) नियामिषे
- २–योगमायी गूढोत्मा—जीवाख्यः (अध्यात्माधिष्ठाता प्रातिस्विकः) ज्ञानकर्मसंगी

वैकारिकात्मानः

(२)	१–अव्यक्तात्मा—स्वायम्भुव ब्रह्ममूर्त्तिः	आकाशः
(३)	२–महानात्मा—पारमेष्ठ्योऽप्मूर्त्तिः	वायुः
(४)	३–विज्ञानात्मा—सौरो वाङ्मूर्त्तिः	तेजः
(५)	४–प्रज्ञानात्मा—चान्द्रोऽन्नमूर्त्तिः	जलम्
(६)	५–भूतात्मा—पार्थिवोऽन्नादमूर्त्तिः	मृत्
	आत्मग्रामः	भूतग्रामः



१०६–राजर्षिमनुसम्मत आत्मस्वरूपसमन्वय—

उक्त विवेचन से पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि अध्यात्मसंस्था में प्रधानतया भूतात्मा प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा), गूढोत्मा, इन ६ आत्मविवर्तों की ही है। शेष आत्मा इन्हीं ६ ओं आत्माओं के अवान्तर विवर्त हैं। इन ६ ओं में गूढोत्मा मुख्य आत्मा है, शान्तात्मादि पाँचों वैकारिक आत्मा हैं। भगवान् मनु ने इन्हीं छओं का स्वरूपविश्लेषण किया है। "हमारी अध्यात्मसंस्था में एक आत्मा नहीं, अपितु अनेक आत्मा हैं एवं उनके नाम–रूप–कर्म्म पृथक् पृथक् हैं" इस वैज्ञानिक सिद्धान्त का एकात्मवादी कल्पित–वेदान्तनिष्ठों की दृष्टि में भले ही कोई मूल्य न हो, परन्तु शास्त्रसम्मत वैज्ञानिकों की दृष्टि में तो समस्त धर्म्मोपदेशकर्मों की मूलप्रतिष्ठा यही वैज्ञानिक आत्मभेद है। मानवशास्त्र–परिभाषानुसार ये पाँचों वैकारिक आत्मा क्रमशः 'शान्तात्मा, जीवात्मा, क्षेत्रज्ञात्मा, मन, भूतात्मा, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। एवं ६ ठा गूढोत्मा 'साक्षी' नाम से व्यवहृत हुआ है। वैकारिक आत्मपञ्चक का साक्षी गूढोत्मा ही माना गया है। जब तक आत्मा (वैकारिक आत्मा) आत्मा (गूढोत्मा) के नियन्त्रण में रहता हुआ प्रकृत्यनुकूल आचरण करता रहता है तभी तक इसका अभ्युदय निःश्रेयस है +। योगप्रपञ्च का सम्बन्ध केवल वैकारिक आत्मप्रपञ्च के साथ ही माना गया है। अव्ययप्रधान गूढोत्मा तो वस्तुतः केवल साक्षी ही बना रहता है, जिसके लिए गीता में–'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी' (गी० ९।१८) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। यही मनुभगवान् का पहिला साक्षी गूढोत्मा है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है–

+–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोपनिषत्)।

आत्मैव ह्यात्मन: साक्षी, गतिरात्मा तथात्मन ।
मावमंस्था: स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ (मनु: ८।८४।८५) ।

पाँचों वैकारिक आत्माओं में शान्तात्मा स्वायम्भुव है अव्यक्तधर्म्मा है। शेष चारों व्यक्त हैं। शान्तात्मा की व्यक्तावस्था ही सृष्टि है, अव्यक्तावस्था ही लय है। अहरागम में अव्यक्त ही व्यक्तभाव में परिणत होकर सृष्टिकर्म्म का सूत्रपात करता है, एवं रात्र्यागम में अव्यक्त ही क्रमशः व्यक्तभावों को अपने अव्यक्तस्वरूप में लीन करता हुआ सृष्टि का उपसंहार बन जाता है। यही अव्यक्तधर्म्मा प्राणमूर्त्ति स्वायम्भुव 'शान्तात्मा' नामक प्रथम वैकारिक आत्मा का स्वरूपविश्लेषण है, जिसका निम्न लिखित वचन से समर्थन हुआ है—

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥१॥
तस्मिन् स्वपिति सुस्थे तु कर्म्मात्मान: शरीरिण: ।
स्वकर्म्मभ्यो निवर्त्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥२॥
युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि ।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृत: ॥३॥ (मनु: १।५२,५३,५४) ।

१०६–शान्तात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

शान्तात्मा क्योंकि अव्यक्तधर्म्मा है अतएव इसमें मुक्त गूढोत्मा नामक चिदात्मा का अन्वय हो जाता है। अतएव अव्यक्तानुगत चिदात्मा का व्यक्तीभाव नहीं होने पाता। अतएवच अव्यक्तज्ञान हमारे लिए अव्यक्त (अज्ञात) ही बना रहता है। हम(जीवात्मा)नहीं जान पाते कि, शान्तात्मा का कैसा स्वरूप है ?। चिदात्मा को महद्गर्भ में प्रतिष्ठित कर चिदात्मा को व्यक्तरूप प्रदान करना इसका प्रधान कर्म्म है। शारीर-नैत्यक्ष को स्व–वैश्वमीमा के द्वारा सुरक्षित रखना इसका दूसरा कर्म्म है। अपने भूत, तत्त्व–सूत्रों के द्वारा अपने स्वाभाविक मायात्मक चिदात्मधर्म्म से आध्यात्मिक चर–भौतिक परमाणुओं को कूटस्थरूप से सुव्यवस्थित बनाए रखना इसका तीसरा कर्म्म है। अपने दहरपुण्डरीकात्मक हृदयरूप से स्थिति–आगति–गति–क्रिया–भावमयी स पदार्थों का नियमन करते रहना उन्हें नियत–आकृति–मर्य्यादा से व्यवस्थित रखना इसका चौथा कर्म्म है। इसी कर्म्मचतुष्टयी–भेद से इस एक ही स्वायम्भुव शान्तात्मा के चिदात्मा चेतात्मा सूत्रात्मा, अन्तर्य्यामी, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं जिनका पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इसके ये चारों ही विवर्त्त अव्यक्त, अतएव अविज्ञात हैं। हम इनके सम्बन्ध में यह अनुमान मात्र लगा सकते हैं कि अवश्य ही हमारी अध्यात्म-संस्था में कोई तत्त्व ऐसा है जिसे हम जानते तो नहीं, किन्तु जो अपनी नियति से हमारी नियतकर्म्म की

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयःस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ (गी० ९।१८) ।

ओर प्रवृत्ति बनाए रखता है–'केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। अवश्य ही किसी तत्व ने शरीर परमाणुओं का एकसूत्र में संघटन कर रक्खा है। निश्चयेन अग्नीषोमात्मक शरीर-यन्त्र का कोई न कोई आलम्बन है। अवश्य ही किसी अव्यक्तप्रेरणा से चिदात्मा चिदाभासरूप में परिणत हो रहा है। अनुमानैकगम्य, अव्यक्तधर्म्मा, चतुर्विध शान्तात्मा का यही इतिवृत्त है।

११०—मीमांस्य महानात्मा–

स्वायम्भुव अव्यक्तधर्म्मा शान्तात्मा के अनन्तर पारमेष्ठ्य, व्यक्तधर्म्मा महानात्मा की ओर हमारी दृष्टि जाती है। यही आत्मा मानवपरिभाषानुसार 'जीवात्मा' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। यद्यपि औपनिषद सिद्धान्तानुसार 'भोक्तात्मा' ही जीवात्मा है। एवं 'वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ' की समष्टिरूप कर्म्मात्मा, तथा मन इन्द्रिय, इन तीनों के समन्वितरूप का ही नाम भोक्तात्मा है *। तथापि एक विशेष हेतु से भगवान् मनु ने महानात्मा को भी जीवात्मा नाम से व्यवहृत कर दिया है। उक्त विशेष हेतु के समन्वय के लिए हमें महान विज्ञान, प्रज्ञान, तीनों के स्वरूप पर एक साथ दृष्टि डालनी पड़ेगी। क्योंकि अध्यात्मसंस्था में इन तीनों का भक्तियों का स्वरूप परस्पर संश्लिष्ट-सा है। अतएव महानात्मा मीमांस्य बन रहा है।

१११—अव्यक्त स्वयम्भू की दर्शपूर्णमासप्रक्रिया—

आधिदैवतसंस्था में पृथिवी भूतात्मा है, चन्द्रमा प्रज्ञानात्मा है, सूर्य्य विज्ञानात्मा है, एवं परमेष्ठी महानात्मा है। आध्यात्मिक आत्मवर्ग के समन्वय से पहिले इस आधिदैविक आत्मसन्दर्भ की विशेषता पर दृष्टि डालिए। प्रज्ञानात्मलक्षण चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्रमा को साथ लिए हुए भूतात्मलक्षणा पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही है। चन्द्रमा पृथिवी को साथ लिए हुए विज्ञानात्मलक्षण सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्रमा पृथिवी, एवं सूर्य्य को साथ लिए हुए महानात्मलक्षण परमेष्ठी शान्तात्मलक्षण स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। शान्तात्मलक्षण स्वयम्भू सर्वथा स्थिर, अतएव अव्यक्त है। इस परिक्रमा से इन पाँचों पर्वों के धर्म्मों का परस्पर आदान-प्रदान-भाव बना हुआ है। परिक्रमणमूला आगमनिर्गमात्मिका अदानप्रदानात्मिका यह प्रक्रिया ही यज्ञपरिभाषा में 'दर्शपूर्णमास' नाम से प्रसिद्ध हुई है। पाँचों में से केवल स्वयम्भू तो दर्श-यज्ञ का ही प्रवर्त्तक है, शेष चारों में दर्श-पूर्णमास दोनों का समन्वय हो रहा है। पृथिवी, चन्द्रमा सूर्य्य, परमेष्ठी, चारों का रसनिर्गमनकाल दर्शावस्था है, चारों का रसागमनकाल पूर्णमासावस्था है। स्थिर स्वयम्भू किसी के परिक्रमा नहीं लगाता एकमात्र इसी दृष्टिकोण से इसे केवल दर्शप्रक्रिया का अनुगामी मान लिया गया है। तत्वतः निर्माणन् यह भी चारों पर्वों की भाँति आदान का भी अधिष्ठाता बना हुआ है। क्योंकि चारों पर्व इसके महिमामण्डल में भुक्त हैं। अतएव–'आत्मनि प्रजातिमपरा' सिद्धान्तानुसार इसमें भी चारों के रसों का आगमन हो रहा है। अतएव च इस दृष्टिकोण से इसे भी दर्शवत् पूर्णमास का भी अधिष्ठाता मान लिया गया है जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

---

*—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोपनिषत्)।

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत । तदैक्षत-न वै तपस्यानन्त्यमस्ति, हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि-इति । तद् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येत्"—शत० ब्रा० १३।७।१।१।

(भूतेष्वात्मानं हुत्वा—रसविसर्गावस्था दर्शः)
(भूतानि चात्मनि हुत्वा—रसादानावस्था-पूर्णमास)

११२—आकृति—प्रकृति—अहङ्कृति—जनक दर्शपूर्णमासयज्ञ—

उक्त दर्शपूर्णमासप्रक्रिया का फल होता है—त्रैगुण्यभाव । महत्स्वरूप परमेष्ठी, विज्ञानघन सूर्य्य, प्रज्ञानघन चन्द्रमा, शरीरघना (भूतात्मघना) पृथिवी, चारों सत्त्व—रज—तमो—गुणों से युक्त रहते हैं, एवं इस त्रिगुण की प्रतिष्ठा इसी दर्शपूर्णमासप्रक्रिया पर अवलम्बित है । पहिले महत्स्वरूप-परमेष्ठी के त्रिगुणभाव की ही मीमांसा कीजिए । स्वज्योतिर्लक्षण—सत्यमूर्त्ति—परमेष्ठी के चारों ओर सूर्य्य परिक्रमा लगा रहा है यह कहा जा चुका है । यही सूर्य्य का दर्शपूर्णमासयज्ञ है । सूर्य्यमहिमा में चन्द्रमा और पृथिवी भी प्रतिष्ठित हैं । फलतः सूर्य्य के साथ साथ परमेष्ठी में इन दोनों का भी समन्वय प्रकृतिसिद्ध बन जाता है । पार्थिव परिभ्रमण के कारण परमेष्ठी महान् में—'आकृतिभाव' का उदय हो जाता है । चान्द्र परिभ्रमण के कारण 'प्रकृतिभाव' का उदय हो जाता है । एवं सौर परिभ्रमण के कारण अहङ्कृतिभाव का उदय हो जाता है । आकृति का पार्थिव भूतभाग से सम्बन्ध है प्रकृति का चान्द्र प्रज्ञानात्मा से सम्बन्ध है एवं अहङ्कृति का सौर आत्मभाग से सम्बन्ध है । इसप्रकार पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, तीनों के परिभ्रमण से परमेष्ठी—महान् में आकृति—प्रकृति—अहङ्कृति, तीन अवस्थाओं का उदय हो जाता है ।

११३—त्रैगुण्यभावजनक दिति—अदिति—भाव—

सूर्य्य स्वज्योतिर्मय पदार्थ है । इसके सम्बन्ध से परमेष्ठी में भी उसीप्रकार दिति—अदिति—भावों का उदय हो जाता है जैसेकि पृथिवी में इन दोनों का सम्बन्ध रहता है । सौर—ज्योति से अनुगत पार्थिव अर्द्ध—मण्डल अदिति—पृथिवी है सूर्य्यबिम्बाद्विगनुगत पार्थिव अर्द्धमण्डल दितिरूपिणी है । अदितिरूपिणी ज्योतिर्मयी है यही अहःकाल है । दितिरूपिणी तमोमयी है यही रात्रिकाल है । इन दोनों के मध्य में एक तीसरी सन्ध्यावस्था का उदय और हो जाता है । ठीक यही अवस्था परमेष्ठी में समझिए । परमेष्ठी का जो भाग सूर्य्य—युक्त बना रहता है वह ज्योतिर्मयी अदिति है * । जो भाग सूर्य्यबिम्बाद्विगनुगत बना रहता है वह तमोमयी दिति है । ज्योतिर्मय अर्द्धपरमेष्ठी सत्त्वगुणक है तमोमय अर्द्धपरमेष्ठी तमोगुणक है । दोनों की सन्ध्यावस्था से युक्त परमेष्ठी रजोगुणक है । इसप्रकार केवल सूर्य्यपरिभ्रमणरूप और दर्शपूर्णमास से परमेष्ठी के

---

*—या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।—
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं ।।

ज्योतिर्म्मय-सान्द्र-तमोमय ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं एवं इसके ये तीनों विवर्त्त ही क्रमशः सत्त्व-रज-स्तमोगुणक महान् कहलाए हैं । सूर्य्यानुगत सत्त्वगुणक परमेष्ठी सूर्य्यात्मक महदाकृतिभाव-प्रधान है । सूर्य्य-विरुद्धदिगनुगत तमोगुणक परमेष्ठी चन्द्रात्मक प्रकृतिभाव-प्रधान है । सान्द्र भावानुगत रजोगुणक परमेष्ठी पृथिव्यात्मक आकृतिभाव-प्रधान है । तात्पर्य्य-सत्त्वगुण का सूर्य्यात्मक महदाकृतिभाव से, रजोगुण का चन्द्रात्मक प्रकृतिभाव से, एवं तमोगुण का पृथिव्यात्मक आकृतिभाव से प्रधान सम्बन्ध है । आगे जाकर आकृति-प्रकृति-महदाकृति तीनों में इन तीनों गुणों का समन्वय हो जाता है ।

११४-षड्भावापन्न पारमेष्ठ्य महान् की महत्ता—

उक्त कथन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्य के द्वारा तो परमेष्ठी में क्रमशः आकृति-प्रकृति-महदाकृति-भावों का उदय हुआ । एवं सूर्य्यपरिभ्रमण से परमेष्ठी में सत्त्वरजस्तमोगुणों का उदय हुआ । इसप्रकार षड्भावापन्न यही परमेष्ठी महान् कहलाया । सब से महान् अतएव 'महतो महीयान्' नाम से प्रसिद्ध गृह्योपासरपर्य्यायक चिदात्मा की योनि यही परमेष्ठी बना । महतो महीयान् आत्मा को भी इसने अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लिया । अव्यक्तधर्म्मा पुराणीस्वयम्भू भी 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकान्' सिद्धान्तानुसार इसमें अपन्स से अन्तर्भूत हो गया । समाहित-सूर्य्य, चन्द्रमा पृथिवी इसकी महिमा के गर्भ में महत्त्वा ही प्रविष्ट हैं । परमेष्ठी की इसी महत्ता की दृष्टि से यह सर्वापेक्षया 'महान्' कहलाया ।

षड्भावापन्नो-महान्	आकृतिमहान् (पृथिव्यनुगतः परमेष्ठी)	तमोगुणकः—सूर्य्यविरुद्धदिगनुगतः
	प्रकृतिमहान् (चन्द्रमानुगतः परमेष्ठी)	रजोगुणकः—सान्द्र
	महदाकृतिमहान्(सूर्य्यानुगतः परमेष्ठी)	सत्त्वगुणकः—सूर्य्यदिगनुगतः

——ॐ——

११५-चित्स्वरूपग्राहक सौम्य 'महान्'—

अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ जिसके समन्वय के लिए हमें महान् की महत्ता का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा । महानात्मक परमेष्ठी, किंवा परमेष्ठिरूप महानात्मा चेतनात्मा क्यों कहलाया ?, प्रश्न का उत्तर इसके मनोताभाव पर निर्भर है । परमेष्ठिगत के मनोता भृगु, अङ्गिरा अत्रि, भेद से तीन भागों में विभक्त हैं । इनमें भृगु नामक स्नेहगुणक मनोता ही प्रश्न के उत्तर का प्रधान आलम्बन है । घन-तरल-विरल भाव से भृगु की आप वायु-सोम-ये तीन अवस्था हो जाती हैं * । जिसप्रकार सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी सूर्य्य प्रतिबिम्बग्राहक जल आदर्श आदि सौम्य पदार्थों के अतिरिक्त अन्यत्र प्रतिबिम्बित नहीं होता एवमेव अप-वायु-सोम इन तीन भार्गव सौम्य पदार्थों को छोड़ कर सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी

*—वायु-राप-श्चन्द्रमा (सोम)-इत्येते भृगवः ।
(—गोपथब्रा पू १।२।९) ।

चिदात्मा अन्यत्र प्रतिभासित नहीं होता । सूर्य्यस्थानीय चिदात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) ही चिदाभास कहलाता है । एवं दार्शनिक परिभाषानुसार चिदाभास ही 'जीव' माना गया है । चिदाभासलक्षण (चित्प्रतिबिम्ब-लक्षण) जीवात्मा का जीवत्व मार्गव पारमेष्ठ्यतत्त्व पर ही अवलम्बित है । महान् परमेष्ठी ही म्रुग्वयीरूप से चित् का ग्राहक बनता है । अतएव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जीवसर्ग भाग्य, वायव्य, सौम्य, भेद से तीन भागों में ही विभक्त है । अवस्थात्रयोपेत पारमेष्ठ्य सोम जब तक चिज्ज्योति से युक्त नहीं हो जाता तब तक यह केवल सोम ही कहलाता है । यही इसकी रात्रिलक्षणा नीरूपावस्था है जो अवस्था 'अनिरुक्तकृष्णा' नाम से व्यवहृत हुई है । चिज्ज्योति के आभास से यह जीव सोम चमक पड़ता है । यही इसकी महत्त्वरूपता है । चिद्युक्त पारमेष्ठ्य सोम ही महान् है यही निष्कर्ष है । अन्यत्र ज्योतिष्मान् अवश्य है । परन्तु इसका ज्योति-प्रकार धर्म परायत्त (चिद्भाहकत्व) है । बिना सोममय महान् के यह प्रकाशित नहीं होता । महान् ही इसकी चिद्-ग्राहिणी योनि है जैसा कि निम्न लिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥१॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥–(गीता१४।३,४।)

११६–सूर्य्यानुगत चिदाभास—

अम्भस्, और चिति इन दो सम्बन्धों को लक्ष्य बनाइए । परमेष्ठी आपोमय है अतएव अम्भस(चितघन) इसका स्वाभाविक धर्म है । अम्भस में भी पानी में जो भी वस्तु डाली जाती है अपीत हो जाती है । आपोमय महान् परमेष्ठी चिद्ग्राहक अवश्य है । परन्तु स्वाभाविक अम्भस्धर्म के कारण चिदात्मा तब तक इसमें प्रस्फुटित नहीं हो सकता जब तक कि इसमें चिति-सम्बन्ध का उदय नहीं हो जाता । चितिधर्म अग्निरूपेय है । अतएव अग्निमय चितिरूप (चयन विद्या) नाम से व्यवहृत हुआ है । विश्वकेन्द्रस्थ सावित्राग्निमय, विज्ञानघन सूर्य्य ही इस चितिधर्म से युक्त है । इसी के द्वारा महान् में गर्भित चिदात्मा अपने वास्तविक चित्स्वरूप से प्रस्फुटित होता है । एकमात्र इसी आधार पर सौरतत्त्व को स्थावर-जङ्गम-प्रपञ्च का आत्मा मान लिया गया है जैसा कि 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः) इत्यादि मन्त्रवचन से प्रमाणित है । तात्पर्य यही हुआ कि, विज्ञानात्मलक्षण सूर्य्य के सम्बन्ध से ही महानात्मलक्षण परमेष्ठी के गर्भ में अपीत चिदात्मा चित्स्वरूप से प्रस्फुटित होता है । यही महान् और विज्ञान का परस्पराविनाभावलक्षण अविच्छिन्न-सम्बन्ध है । महान् की महत्ता महान् का आत्मलक्षण अर्धमात्रात्मक जीवभाव विज्ञानसम्बन्ध पर ही निर्भर है । अहङ्कृत्यात्मलक्षण महानात्मा तो प्रत्यक्ष में ही सूर्य्यानुगत, चान्द्रोपचित आयुर्भाग के आधार पर प्रतिष्ठित है जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है ।

११७–गुणत्रयभावापन्न महानात्मा का 'जीवात्मकत्व'—

वायु-सोमगर्भित, अप्प्रधान महानात्मा तमोगुणप्रधान है । इसका आकृतिभाव से प्रधान सम्बन्ध है । क्योंकि 'अद्भ्यः पृथिवी' (तैत्तिरीयोपनिषत्) सिद्धान्तानुसार पृथिवी का उपादान अप्तत्त्व है ।

एवं पृथिवी को ही आकृतिभावप्रवर्तिका बतलाया गया है। आग्नेय जीवों में पृथिव्यनुगत आकृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है, एवं गुणत्रयी में से आकृतिभावानुगत तमोगुण विकसित रहता है। अप्-सोमगर्भित वायुप्रधान महानात्मा रजोगुणप्रधान है। इसका प्रकृतिभाव से प्रधान सम्बन्ध है। क्योंकि वायु और चन्द्रमा दोनों आन्तरीक्ष्य होने से समानस्थानीय बनते हुए समानधर्म्मा हैं। एवं चन्द्रमा ही प्रकृतिभाव का प्रवर्तक माना गया है। अतएव वायव्य जीवों में चन्द्रमानुगत * प्रकृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है, एवं गुणत्रयी में से प्रकृतिभावानुगत रजोगुण विकसित रहता है। अन्न-वायुगर्भित, सोमप्रधान महानात्मा सत्त्वगुणप्रधान है। इसका अहङ्कृतिभाव से सम्बन्ध है। क्योंकि सौर इन्द्र का सोम के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उधर-'स मामायुरमृतमित्युपास्व' इत्यादि कौषीतकिश्रुत्यनुसार सौर इन्द्र ही आयुरूप प्राणभाव है। सौर इन्द्रात्मक प्राण को ही अहङ्कृतिभाव का प्रवर्तक कहा गया है। सौम्य चान्द्र जीवों में सूर्य्यानुगत अहङ्कृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है एवं गुणत्रयी में से अहङ्कृतिभावानुगत सत्त्वगुण विकसित रहता है। स्तम्भोपलक्षित आग्नेय जीव तमोविद्यालक्षण है, पशुविध वायव्य जीव रजोविद्यालक्षण है, अन्नविध सौम्य जीव सत्त्वविद्यालक्षण है। यही सांख्यशास्त्र का चतुर्दशविध भूतसर्ग है, जिसका आग्नेय-वायव्य-सौम्य, इन तीन जीवसर्गों में अन्तर्भाव हो रहा है। इस दृष्टि से भी गुणत्रयमयापन्न महानात्मा का जीवभावत्व सिद्ध हो रहा है।

११८—महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति, तीनों का अन्न-वायु-सोमात्मिका भृगुत्रयी से सम्बन्ध है। एवं अङ्गिरात्रयी का पारमेष्ठ्य यशात्मा से सम्बन्ध है। भार्गव सोम, आङ्गिरस अग्नि दोनों के समन्वितरूप से जो महान का अग्नीषोमात्मक अपूर्व स्वरूप उद्भूत होता है, वही यशात्मा नामक महान् है। यही महत्तत्त्व सामवेद में पञ्चदशार (पञ्चदश अहर्गणात्मक) 'गोलत्व' नाम कहलाता है, जिसकी पार्थिव २२ वें अहर्गण से ३६ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ति मानी गई है। इसप्रकार भृगुत्रयी, और आङ्गिरस अग्निमनोता के भेद से एक ही महान् परमेष्ठी के अहङ्कृति, प्रकृति, आकृति यश ये चार विवर्त हो जाते हैं, जिनका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

चित्रवत् पारमेष्ठ्य सोम महान् है चित्रवत् सौरप्राण विज्ञान है। न पारमेष्ठ्य साम में प्रकाश है, न सौर प्राण में प्रकाश है। दोनों अपने प्रातिस्विक रूपों से भार कृष्ण हैं। व्यक्तिलक्षण प्रकाश का (भूतभाति का) आविर्भाव होता है दोनों के समन्वय से। विशाल अन्तरिक्ष में प्राणाकरापन्न दाम सोम व्याप्त है। दाहक सौर प्राण के सम्बन्ध होते ही वह दाम सोम जल पड़ता है। इस प्रज्वलित साम का नाम ही वह प्रकाश है जिसका 'आतप' (धूप) रूप से हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। रात्रि में केवल सामतत्त्व का (भार्गवी कृष्णतत्त्व का) ही साम्राज्य रहता है सौरप्राण का अभाव रहता है। 'राधा' सांसारिक सम्पत्ति है प्रकाश है अहःकाल है कृष्ण विश्वातीत, नित्य, परात्पर तत्त्व है। इसके आह्वानतत्त्वाश्रित राधा-

*—चित्रप्रसात्-स्पृतन्नो रत आमृतम्। (कौ०ब्रा० उप०१।८)।
चन्द्रमा वै चित्रप्रसाम्। (श० ब्रा० ।६।)।

चिदात्मा अन्यत्र प्रतिभासित नहीं होता । सूर्य्यस्थानीय चिदात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) ही चिदाभास कहलाता है । एवं दार्शनिक परिभाषानुसार चिदाभास ही 'जीव' माना गया है । चिदाभासलक्षण (चित्प्रतिबिम्बलक्षण) जीवात्मा का जीवत्व भार्गव पारमेष्ठ्यतत्त्व पर ही अवलम्बित है । महान् परमेष्ठी ही स्वगुणधर्म से चित् का ग्राहक बनता है । अतएव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जीवसर्ग आप्य, वायव्य, सौम्य, भेद से तीन भागों में ही विभक्त है । अमृतस्थानीय पारमेष्ठ्य सोम जब तक चिज्ज्योति से युक्त नहीं हो जाता तब तक वह केवल सोम ही कहलाता है । यही इसकी शान्तिलक्षणा नीरूपावस्था है जो अवस्था 'अनिरुक्तकृष्णा' नाम से प्रसिद्ध हुई है । चिज्ज्योति के आभास से यह जीव सोम चमक पड़ता है । यही इसकी महदवस्था है । चिद्युक्त पारमेष्ठ्य सोम ही महान् है यही निष्कर्ष है । अव्यय ज्योतिष्मान् अवश्य है । परन्तु इसका ज्योतिः-प्रकाशधर्म परायत्त (स्निग्धग्राहकायत्त) है । बिना सोममय महान् के वह प्रकाशित नहीं होता । महान् ही इसकी चित्-ग्राहिणी योनि है जैसा कि निम्न लिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥१॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥–(गीता१४।३,४)

११६–सत्यानुगत चितिभाव—

अव्यय, और चिति इन दो तत्त्वों का लक्षण बनाइए । परमेष्ठी आपोमय है अतएव अम्भस(विलयन) इसका स्वाभाविक धर्म है । अम्भस् में भी पानी में जो भी वस्तु डाली जाती है विलीन हो जाती है । आपोमय महान् परमेष्ठी चिद्ग्राहक अवश्य है । परन्तु स्वाभाविक अम्भसधर्म के कारण चिदात्मा तब तक इसमें प्रस्फुटित नहीं हो सकता जब तक कि इसमें चिति–सम्बन्ध का उदय नहीं हो जाता । चितिधर्म अग्निसापेक्ष है । अतएव अग्निरूप चितिरूप (चयन क्रिया) नाम से व्यवहृत हुआ है । विश्वकेन्द्रस्थ सवित्राग्निमय, विज्ञानघन सूर्य्य ही इस चितिधर्म से युक्त है । इसी के द्वारा महान् में गर्भित चिदात्मा अपने वास्तविक चिद्रूप से प्रस्फुटित होता है । एकमात्र इसी आधार पर सौरतत्त्व को स्थावर–जङ्गम–प्रपञ्च का आत्मा मान लिया गया है जैसाकि 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः) इत्यादि मन्त्रवचन से प्रमाणित है । तात्पर्य यही हुआ कि, विज्ञानात्मलक्षण सौर्य्य के सम्बन्ध से ही महानात्मलक्षण परमेष्ठी के गर्भ में प्रतीत चिदात्मा चिद्रूप से प्रस्फुटित होता है । यही महान् और विज्ञान का परस्पराविनाभावलक्षण ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध है । महान् की महत्ता महान् का आत्मलक्षण अर्द्धमात्रात्मक जीवभाव विज्ञानसम्बन्ध पर ही निर्भर है । अहरहःस्फूर्त्तलक्षण महानात्मा तो प्रत्यक्ष में ही सूर्य्यानुगत, आम्भोमयिक धातुभाग के आधार पर प्रतिष्ठित है जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है ।

११७–गुणत्रयमायापन्न महानात्मा का 'जीवात्मरूप'—

वायु–सोमगर्भित, अप्प्रधान महानात्मा तमोगुणप्रधान है । इसका आहरविभाव से प्रधान सम्बन्ध है । क्योंकि 'अद्भ्यः पृथिवी' (तैत्तिरीयोपनिषत्) सिद्धान्तानुसार पृथिवी का उपादान अप्तत्त्व है

एवं पृथिवी को ही आकृतिभावप्रवर्तिका बतलाया गया है। आग्नेय जीवों में पृथिव्यनुगत आकृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है, एवं गुणत्रयी में से आकृतिभावानुगत तमोगुण विकसित रहता है। अप्-सोमगर्भित वायुप्रधान महानात्मा रजोगुणप्रधान है। इसका प्रकृतिभाव से प्रधान सम्बन्ध है। क्योंकि वायु और चन्द्रमा दोनों आन्तरिक्ष्य होने से समानस्थानीय बनते हुए समानधर्मा हैं। एवं चन्द्रमा ही प्रकृतिभाव का प्रवर्तक माना गया है। अस्मदादि वायव्य जीवों में चन्द्रमानुगत प्रकृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है, एवं गुणत्रयी में से प्रकृतिभावानुगत रजोगुण विकसित रहता है। अप्-वायुगर्भित, सोमप्रधान महानात्मा सत्त्वगुणप्रधान है। इसका अहङ्कृतिभाव से सम्बन्ध है। क्योंकि सौर इन्द्र का सोम के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उधर-'स मामायुरमृतमित्युपास्व' इत्यादि कौषीतकिश्रुत्यनुसार सौर इन्द्र ही आयुरूप अहंभाव है। सौर इन्द्रात्मक आयु को ही अहङ्कृतिभाव का प्रवर्तक कहा गया है। सौम्य चान्द्र जीवों में सूर्यानुगत अहङ्कृतिमहान् का ही प्रधानरूप से विकास रहता है एवं गुणत्रयी में से अहङ्कृतिभावानुगत सत्त्वगुण विकसित रहता है। तमोपलक्षित आग्नेय जीव तमोविद्यालक्षण हैं, पशुविध वायव्य जीव रजोविद्यालक्षण हैं, महद्विध सौम्य जीव सत्त्वविद्यालक्षण हैं। यही सांख्यशास्त्र का चतुर्दशविध भूतसर्ग है, जिसका आग्नेय-वायव्य-सौम्य, इन तीन जीवसर्गों में अन्तर्भाव हो रहा है। इस दृष्टि से भी गुणत्रयसमापन्न महानात्मा का सोममयत्व सिद्ध हो रहा है।

११८—महानात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति, तीनों का अप्-वायु-सोमात्मिका भृगुत्रयी से सम्बन्ध है। एवं अङ्गिरात्रयी का पारमेष्ठ्य महात्मा से सम्बन्ध है। भार्गव सोम, आङ्गिरस अग्नि दोनों के समन्वितरूप से जो महान् का अग्नीषोमात्मक अपूर्व स्वरूप उद्भूत होता है, वही महात्मा नामक महान् है। यही महान् सामवेद में पञ्चदश (पञ्चदश भार्गवात्मक) 'गोसव' मन्त्र कहलाया है, जिसकी पार्थिव २१ वें अहर्गण से ३३ वें अहर्गण पर्यन्त व्याप्ति मानी गई है। इसप्रकार भृगुत्रयी, और आङ्गिरस अग्निमनोता के सह भाव से ही महान् परमेष्ठी के अहङ्कृति, प्रकृति, आकृति रूप से चार विवर्त हो जाते हैं, जिनका पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

संयुक्त ज्योतिर्मय, सोपाधिकरूप का ही हम साक्षात् कर सकते हैं। तात्पर्य—'सर्वं ज्योतिषा चि समो बयन्' (ऋक्सं० १।८।१।२२।) के अनुसार कृष्णसोम ही सौराग्नि में हुत होकर ज्योतिर्मय का जनक बनता है।

अव्यय का ही नाम चिदात्मा है। आनन्द विज्ञान मनोमय चित् विद्यात्मक है मन-प्राण-वाङ्मय चित् अविद्यात्मक है। विज्ञानात्मक सौरप्राण सर्वात्मना इस उभयात्मक (विद्या-अविद्यात्मक) चिदात्मा पर व्याप्त रहता है। चिदात्मा के इन दो स्वरूपों के कारण विज्ञान के भी विद्यात्मक, अविद्यात्मक, दो रूप हो जाते हैं। विद्यात्मक विज्ञान 'विद्याबुद्धि' कहलाता है, अविद्यात्मक विज्ञान 'अविद्याबुद्धि' कहलाता है। विज्ञानात्मा के इन दोनों स्वरूपों का 'बुद्धिस्वरूपमीमांसा' नामक अगले परिच्छेदों में विस्तार से निरूपण होने वाला है अतः इस विषय को यहीं छोड़ केवल महान् की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

महान् सोममित्र है। कल्पना कीजिए—महान् चन्द्रमा है अव्ययलक्षण चिदात्मा सूर्य है। चिदात्मरूप सूर्य का महद्रूप चन्द्रमा पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। जिसप्रकार सूर्यरश्मिप्रतिबिम्ब से तदनुगत भाग चन्द्रमा चमक पड़ता है, एवमेव अव्ययानुगत महान् भी चमक पड़ता है। चिदात्मा के प्रतिबिम्ब से ज्योतिष्मान् बना हुआ यह महद्भाग ही 'सत्त्व' कहलाता है। चित्-सम्बन्ध से वञ्चित पृष्ठभाग तमोमहान् कहलाता है, एवं सन्धिभाग रजोमहान् कहलाता है। इसप्रकार एक ही महान् प्रतिबिम्ब के तारतम्य से सत्त्व-रज-स्तमो-भावों में परिणत हो जाता है। अव्यय क्योंकि विद्या अविद्यात्मक है। अतएव तत्प्रतिबिम्बरूप सत्त्वमहान् के भी विद्यात्मक शुद्धसत्त्व अविद्यात्मक मलिनसत्त्व भेद से दो विवर्त हो जाते हैं। इसप्रकार विज्ञानात्मवत् इस महानात्मा का सत्त्वभाग भी दो भागों में विभक्त हो रहा है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि, विज्ञानात्मा जहाँ चिदात्मा में सर्वात्मना ओतप्रोत है वहाँ महानात्मा अपने अर्द्धभाग से ही चिज्ज्योति से युक्त है। अतएव महान् में तमोभाग पृथक् बना रहता है। विज्ञानात्मा में चिदात्मा क्योंकि सर्वात्मना ओतप्रोत है। अतएव इसमें तम नहीं रहने पाता। इसी लिए विज्ञानघन सूर्य को वेदमहर्षि ने 'स्वर्ज्योति' नाम से व्यवहृत किया है। निष्कर्ष यही निकला कि चिदात्मा से युक्त होकर सोमपूर्णमास्य के सम्बन्ध से महानात्मा गुणत्रयविशिष्ट बन जाता है पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य-सम्बन्ध से आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-लक्षण बन जाता है एवं भृगु-अङ्गिरा के समन्वय से अन्नस्वरूप में परिणत हो जाता है। ऐसा यह अशरीरी महान्, चिदात्मा अव्यय, विज्ञानात्मा महानात्मा, भूतात्मा इन इतर सब आत्मविवर्तों को अपने गर्भ में रखता हुआ वस्तुतः विभु है महान् है। महान् की इसी महत्ता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
—कठोपनिषत् २।२२।

११८—प्राणशरीरनेता अन्नमय महानात्मा—

भार्गव सोमान्न ही महान् का स्वरूपारम्भक है। महत्तत्त्व का अपना कोई आयतन नहीं होता, अपितु—'यद्यच्छरीरमाप्नोति तेन तेन स युज्यते' सिद्धान्तानुसार जिस जिस शरीररूप आयतन में यह

प्रविष्ट होता है, इसका वैसा वैसा ही आकार उसी प्रकार हो जाता है, जैसेकि जलतत्त्वात्मक पानी आयतन के आधार सदा ही अपना आकार बना लेता है। अतएव वैज्ञानिकों ने भूततत्त्व का लक्षण किया है- 'अशरीरमहृदयं-भूतम्'। सोमात्मक महान् क्योंकि स्वस्वरूप से भूत है, अतएव इसे 'अशरीर' (परशरीरी) कहना अन्वर्थ बनता है। महानात्मा का स्वरूपज्ञान हमें नहीं होने पाता। मानते अवश्य हैं, परन्तु विज्ञान-अज्ञानवत् उसका बोध नहीं है। अतएव 'अस्मा' कहा गया है। महान् का सत्त्वभाग मनोमय है, रजोभाग प्राणमय है, तमोभाग वाङ्मय है। अतएव 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' के अनुसार महान् को 'महानात्मा' कहना अन्वर्थ बनता है। सत्त्वगुणापेक्षया मनोमय बना हुआ महान् रजोगुणानुगत प्राणात्मक शरीर का नेता है, सञ्चालक है। साथ ही यह हृदय में अन्नाधार पर प्रतिष्ठित है। क्योंकि, सोमात्मक महान् की स्वरूपरक्षा अन्नाहुतिरूप सोमादान पर ही निर्भर है। महान् के सन्निकट विज्ञानात्मा है। विज्ञानात्मा ही इसकी प्राप्ति का अन्यतम द्वार है। सच्चिदानन्दलक्षण चिदात्मा को अपने गर्भ में रखने वाले अतएव स्वयमपि आनन्दघन बने रहने वाले इस महान् के दर्शन तत्संश्लिष्ट विज्ञान (विद्याबुद्धिलक्षण बुद्धियोग) पर ही निर्भर है। महान् के इसी आत्मभाव का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

> मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
> तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।२।७

मनोमयः———	स वा एष महानात्मा मनोमयः
प्राणशरीरनेता—	प्राणमयः
प्रतिष्ठितोऽन्ने—	वाङ्मयः



१२०—महान् का विशुद्धसत्त्वात्मक स्वरूप—

शान्तात्मानुगत वाक्-प्राण, महानात्मानुगत रयि-प्राण, विज्ञानात्मानुगत धिषणा-प्राण, प्रज्ञानात्मानुगत प्रज्ञा-प्राण, भूतात्मानुगत सूत्र-प्राण, ये पाँचों प्राण इस अव्यक्त महानात्मा में समर्पित हैं। क्योंकि यह शेष चारों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखता है। मलिनसत्त्व की ऐकान्तिक निवृत्ति से जब महान् विशुद्ध सत्त्वधर्मा बन जाता है तब तद्गर्भीभूत चिदात्मा 'विशुद्धे तनूं स्वाम्' न्याय से प्रस्फुटित हो जाता है। महान् के इसी विशुद्ध सत्त्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

> "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
> प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा"
>
> —मुण्डकोपनिषत् ३।१।९

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ॥
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥१॥

गुणान्वयो यः फलकर्म्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ॥
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्म्मभिः ॥२॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥३॥

१२१—महानात्मा की स्वरूपाभिनिष्पत्ति, एवं पार्थक्य—

उक्त उपनिषत्-मन्त्र, तीनों त्रिगुणात्मकापन्न, आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-लक्षण से निष्कर्ष करते हुए इस महानात्मा का ही यशोगान कर रहीं हैं। मनुष्य ऊर्ध्वमुखावस्थित क्यों है?, पशु के चार पाद क्यों हैं?, मनुष्य के सींग क्यों नहीं?, पशु के सींग क्यों?, मनुष्य उभयतोदत् क्यों?, पुरुषपशु एकतोदत् क्यों! इत्यादि प्रश्नों का समाधान यही महानात्मा है। विज्ञान (बुद्धि) प्रज्ञान (मन) दोनों की इच्छा का हमें (वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षणा कर्म्मात्मा का) परिज्ञान है। परन्तु महान् की इच्छा हम नहीं जानते, केवल उसका कर्म्म देखते हैं। बिना ज्ञान के किसी भी कर्म्म की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। साथ ही एक समय में एक ज्ञान एक ही कर्म्म का प्रेरक बनता है। आप किसी निर्दिष्ट स्थान की ओर गमन कर रहे हैं। गमन एक स्वतन्त्र कर्म्म है। चलते हुए इन्द्रियों के द्वारा विविध दृश्य देखते जाना, मार्ग में मिलते हुए वृक्षों का गन्ध ग्रहण करते जाना, आदि ऐन्द्रियक कर्म्म समष्टि एक स्वतन्त्र कर्म्म है। अपने अन्तर्जगत् में किसी विचारणीय विषय की मीमांसा करते चलना एक स्वतन्त्र कर्म्म है। तीनों कर्म्म एक साथ चल रहे हैं। मानना पड़ेगा कि अवश्य ही तीनों के ज्ञान पृथक् पृथक् हैं। वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की है कि, शरीरधातुओं का अन्तर्व्यापार, एवं गमन दोनों महानात्मा के ज्ञान से सञ्चालित हैं। दृश्यदर्शन गन्धग्रहणादि ऐन्द्रियक कर्म्म प्रज्ञानात्मा (मन) के ज्ञान से सञ्चालित हैं। एवं अन्तर्जगत् में प्रवाहित विचारधारात्मक कर्म्म विज्ञानात्मा (बुद्धि) के ज्ञान से सञ्चालित हैं। तीनों अपने अपने कर्म्मों के प्रवर्त्तक बनते हुए तीनों एक दूसरे के कर्म्मों के भी प्रभावक सहायक बने रहते हैं। यदि तीनों में से कोई भी ज्ञानधारा प्रबल बन जाती है तो शेष दोनों ज्ञानधाराएँ उस प्रधान ज्ञानधारा में सर्वात्मना आत्मसमर्पण करती हुई अपना कर्म्म छोड़ बैठती हैं। और उस दशा में केवल प्रधानज्ञानधारा से सम्बद्ध कर्म्म ही शेष रह जाता है। यदि गमनकर्म्मोपपादक महान्-ज्ञान प्रबल है, तो विज्ञान-प्रज्ञान दोनों इसमें विलीन हो जाते हैं। इस अवस्था में न तो विज्ञानानुगता विचारधारा ही प्रवाहित रहती, न प्रज्ञानानुगत ऐन्द्रियक विषयग्रहण ही सुरक्षित रहता। केवल गमनमात्र सुरक्षित रहता है। मार्ग में क्या क्या आया क्या मिला इत्यादि कुछ भी भान नहीं रहता। एवमेव यदि प्रज्ञानज्ञानधारा प्रबल है तो महदनुगत गमनव्यापार भी अवरुद्ध हो जाता है विचारधारा भी अवरुद्ध हो जाती है। रह जाता है केवल ऐन्द्रिक व्यापार। एवमेव विज्ञानज्ञानधारा के प्राबल्य में शेष दोनों के व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। इसप्रकार इस त्रिज्ञानधारा के आधार पर भी तीनों के पार्थक्य का (विभिन्न स्वरूपों का) अनुमान लगाया जा सकता है।

१२२—मनुवचन, और आत्मस्वरूपपार्थक्य—

सुषुप्ति में प्रज्ञान (मन) की स्वगर्म में लीन कर विज्ञान (बुद्धि) पुरीतति नाड़ी में लीन हो जाता है, अतएव सुषुप्तिदशा में न तो प्रज्ञानानुगत ऐन्द्रियक विषयबोध रहता, न विज्ञानानुगता विचारधारा ही प्रस्फुरित रहती। परन्तु देखते हैं—श्वास प्रश्वासादि व्यापार और सुषुप्ति में भी आमन्वस्थावत् अक्षुण्ण बने रहते हैं। किस ज्ञान की प्रेरणा से सुषुप्ति में यह व्यापार चलता रहता है ?, जबकि अनुभूत विज्ञान, प्रज्ञान, दोनों ही ज्ञान इस अवस्था में एकान्ततः अभिभूत हैं। उत्तर वही महत्-ज्ञान है। यह कभी नहीं सोता। उसकी सुषुप्ति तो जीवात्मा की मृत्यु है। इसी महत्-ज्ञान को सुषुप्त्यनुगत शान्तानन्द का अनुभव होता है। इस महत् के अनुभव के आधार पर ही प्रातः शय्या छोड़ने पर प्रज्ञान के मुख से—'सुखमहमस्वाप्सम्' ये अक्षर निकलते हैं। इस दृष्टि से भी महानात्मा का विज्ञान-प्रज्ञानापेक्षया पृथगात्मत्व सिद्ध हो रहा है।

जिसप्रकार मानवपरिभाषा में महानात्मा 'जीवात्मा' कहलाया है एवमेव विज्ञानात्मा 'क्षेत्रज्ञात्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है प्रज्ञानात्मा 'मन' नाम से एवं वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मूर्ति कर्म्मात्मा 'भूतात्मा' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा कारयिता है, भूतात्मा कर्म्मकर्त्ता है, जन्मानुगत योनिभावों में सुख दुःखों का निमित्त बनने वाला अन्तरात्मा नामक जीवात्मा ही महानात्मा है। जीवसंज्ञक महानात्मा, और कारयिता क्षेत्रज्ञात्मा दोनों भूतात्मा के सम्बन्ध से भूतमात्रा से संश्लिष्ट बने रहते हैं। निम्न लिखित मनुवचनों से इन्हीं तीनों आत्मविवर्तों का स्पष्टीकरण हो रहा है—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ॥
यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ॥
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥
तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ॥
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥३॥
असंख्या मूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ॥
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥४॥
सत्त्व-रज-स्तमश्चैव त्रीन् विद्यात्मनो गुणान् ॥
यैर्व्याप्यमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः ॥५॥

—मनु १२।१२, १३, १४, १५, २४।

१२३—प्रज्ञानात्मस्वरूपदिग्दर्शन—

पाँचों वैकारिक आत्माओं में से शान्तात्मा, महानात्मा दोनों का स्वरूपदिग्दर्शन कराया गया। विज्ञानात्मा का स्वरूप स्वतन्त्र परिच्छेद में प्रतिपादित होगा। भूतात्मा का स्वरूप पूर्व में बतला दिया गया। अब केवल मनोरूप प्रज्ञानात्मा शेष रह जाता है। प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में इसका भी दिग्दर्शन करा यह

आध्यात्मिकमीमांसा उपरत हो रही है। महानात्मा का पार्थिवप्राणयुक्त भाग ही प्रज्ञानात्मा है एवं सौर-प्राणयुक्त भाग ही विज्ञानात्मा है। स्वयं पारमेष्ठ्यभाग महानात्मा है यही पारमेष्ठ्य महद्भाग सौरप्राणयुक्त बन कर विज्ञानात्मा कहलाने लगता है एवं यही पारमेष्ठ्य महद्भाग चान्द्रसोमानुगत पार्थिव भाग से युक्त होकर प्रज्ञानात्मा कहलाने लगता है। विशुद्ध पार्थिव भाग भूतात्मा नाम से व्यवहृत होने लगता है। आध्यात्मिक इन्द्रियवर्ग का अधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा कहलाया है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, घ्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों पर, एवं वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों पर, तथा संकल्प-विकल्पात्मक, 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' वाले इन्द्रियमन पर व्याप्त होने वाला प्रज्ञान ही प्रज्ञानात्मा है। वैज्ञानिक परिभाषा में मनस्तत्त्व चार विवर्तभावों में परिणित माना गया है। रसबलात्मक, सर्वेश समानरूप से मुक्त अव्ययमन प्रथम मन है। निष्कामात्मक कामभाव ही इस अव्ययमन का मानसिक रेत है जिसके लिए-'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक्संहिता) यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। यही अव्ययमन अपनी-'एकोऽहं बहु स्याम्' इस बहुत्व-कामना से उत्तरोत्तर (उत्तरोत्तर) श्वोवसीयान् बनता हुआ 'श्वोवसीयस्' नाम से व्यवहृत हुआ है जिसे भगवान् तित्तिरि ने-'श्वोवस्यस् मन' नाम से व्यवहृत किया है। यममय, उत्तरोत्तर-अप्रभावमय यह अव्ययमन श्वोवसीयात्मक मन है सर्वात्मन किन्तु स्वयं निरालम्ब मन है। इस अव्ययमन के आधार पर महानात्मा का सत्त्वभाग प्रतिष्ठित है। महदात्मा का सत्त्वभाग भी 'मन' कहलाया है। 'येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु' (मनु १२।१३) के अनुसार औपपत्तिक महानात्मा का सत्त्वरूप यही महन्मन सुख-दुःखानुभवकर्त्ता माना गया है। यही मनका दूसरा विवर्त है। महान् के सत्त्वभाग (सत्त्वमन) से अनुप्राणित चान्द्ररसानुगत पार्थिवरस ही तीसरा प्रज्ञानमन है। चान्द्ररस सोम है सत्त्वानुगत विद्या से युक्त यही चान्द्रसोम 'प्रज्ञा' है। चान्द्र-आन्तरिक्ष इन्द्रप्राण ही प्राण है पार्थिव भूतभाग ही भूत है। इस प्रकार प्रज्ञान मन में चित प्राण भूत तीनों भावों की सत्ता सिद्ध होजाती है। चान्द्रसोम पार्थिवभूत दोनों भूतभाग हैं आन्तरिक्ष इन्द्र प्राणभाग है महदात्मक चित् चिद्भाग है। चिद्-भाग प्रज्ञामात्रा है, प्राणभाग प्राणमात्रा है भूतभाग भूतमात्रा है। प्रज्ञामात्रा मनोमय ज्ञान है प्राणमात्रा प्राणमयी क्रिया है भूतमात्रा वाङ्मय अर्थ है। इसप्रकार चित्-प्राण-भूत भेद से त्र्यात्मकरूप प्रज्ञानात्मा भी महदात्मगत मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ अपनी आत्माभिधा को अन्वर्थ बना रहा है। सभी आत्म-विवर्तों में इस आत्मस्वरूप का अन्तर्भाव समझना चाहिए। सभी में चित-प्राण-भूतभावों का समन्वय है। सभी तो इनको 'आत्मा' शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है।

१२४-दार्शनिक ११ इन्द्रियाँ, तथा वैदिक ५ इन्द्रियाँ—

'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' ही इन्द्रिय का लक्षण माना गया है। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्रादि सभी इन्द्रियाँ गुणभ■ बनती हुई अपने अपने नियत विषयों का ही ग्रहण करने में समर्थ हैं। किसी भी इन्द्रिय का काम अन्य इन्द्रिय से नहीं चल सकता। इसी आधार पर इन्द्रियों के सम्बन्ध में-'गुणानां च परार्थत्वात् असम्बन्धः समत्वात्' यह न्याय प्रथित हुआ है। विषय का ग्रहण करना संकल्प है, छोड़-देना विकल्प है। संकल्प-विकल्पाधिष्ठाता मन नियतविषयानुगामी बनता हुआ इन्द्रियवर्ग में अन्तर्भूत है। अतएव इसे 'इन्द्रियमन' कहा जायगा। दर्शनशास्त्रानुगत ५ कर्मेन्द्रियवर्ग ५ ज्ञानेन्द्रियवर्ग, १-इन्द्रियमन इन ११ इन्द्रियों का वैज्ञानिकों ने (वेदशास्त्र ने) वाक् प्राण चक्षुः, श्रोत्र मन इन पाँच ही इन्द्रियों में अन्तर्भाव मान लिया है। पाणि पाद पायु, उपस्थ इन चार कर्मेन्द्रियों का प्राण नामक ज्ञानेन्द्रिय का

एवं वाक् नाम की कर्मेन्द्रिय का 'वाक्' नाम की इन्द्रिय में अन्तर्भाव है। इस प्रकार ११ का ५ में ही अन्तर्भाव होजाता है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

(१) पाणि				
(२) पाद		(६) वाक्		(९) ३ चक्षुः
(३) पायु	—प्राणः २	(७) जिह्वा	—वाक् १	(१०) ४ श्रोत्रम्
(४) उपस्थ		(८) त्वक्		(११) ५ मनः
(५) घ्राण				

१२५–इन्द्रियपञ्चक का मूलाधार—

वैदिक पञ्चेन्द्रियवर्ग का आधार है पार्थिवस्तोमपञ्चक। त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३), स्तोम भेद से महिमापृथिवी में पाँच स्तोमप्रदेश माने गए हैं। इन पाँचों स्तोम प्रदेशों में क्रमशः अग्नि वायु, आदित्य भास्वरसोम, दिक्सोम, ये पाँच अग्नीषोमात्मक प्राणदेवता प्रतिष्ठित माने गए हैं। अर्वाग्बिल ऊर्ध्वचमस शिरोभाग में इन पाँचों प्राणदेवताओं का प्रत्यक्ष में भाग उपलब्ध हो रहा है। मुख नासिका, चक्षु, श्रोत्र, ब्रह्मरन्ध्र इन पाँच स्थानों में क्रमशः आग्नेयी-वाक् वायव्य प्राण, सौर चक्षु, दिक्सोममय श्रोत्र एवं भास्वरसोममय मन, इन पाँच इन्द्रियदेवताओं की प्रतिष्ठा है। अग्नि का प्रवर्ग्य मुखानुगता वाक् है, वायु का प्रवर्ग्य नासानुगत प्राण है आदित्य का प्रवर्ग्य चक्षुर्गोलानुगत चक्षु है, दिक्सोम का प्रवर्ग्यभाग श्रोत्र है, भास्वरसोम का प्रवर्ग्यभाग इन्द्रियमन है। अर्थात् चान्द्रसोम जहाँ प्रज्ञानमन का स्वरूपसमर्पक है, वहाँ चान्द्रसोम का वह प्रवर्ग्यांश जो पार्थिव-त्रिणवस्तोमप्रदेश में मुक्त होता हुआ पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है—इस भौतिक-विकल्पात्मक इन्द्रियमन का प्रभव बनता है। प्रज्ञान और इन्द्रियमन दोनों ही यद्यपि चान्द्रसोमात्मक हैं। तथापि दोनों के स्वरूपों में आकाश पाताल का अन्तर है। चान्द्रसोम प्रज्ञान का आरम्भक है, पृथिवीमुक्त पार्थिवभावमय चान्द्र-सोम इन्द्रियमन का आरम्भक है। इसी तात्त्विक स्थिति के आधार पर वैज्ञानिकोंने अध्यात्मसंस्था में पाँच ही इन्द्रियों का समावेश माना है जैसाकि आगे के ऐतरेयश्रुति-सन्दर्भ से स्पष्ट होने वाला है।

१२६–गुहानिहिता सप्त-प्राणचतुष्टयी—

उक्त पाँचों पार्थिव इन्द्रियों में वाक् प्राण-चक्षु-श्रोत्र, इन चार इन्द्रियों का एक स्वतन्त्र विभाग है एवं मन का स्वतन्त्र विभाग है। चार इन्द्रियप्राण अग्नि-वायु-आदित्य-दिक्सोमात्मक देवता हैं। इन देवताओं से ऋषिप्राणों का आविर्भाव होता है। प्राण की सामान्य संज्ञा 'ऋषि' है *। क्योंकि इन्द्रियानुगत ऋषिप्राणों की मूलप्रतिष्ठा अध्यात्मि देव है, अतएव इन सप्त-ऋषि प्राणों का 'देवता' कहा

* के ते ऋषय इति ?, प्राणा वा ऋषयः। शत० ६।१।१।१।

गया है। इन सातों में ६ प्राण समन (जोड़ले) हैं, सातवाँ एकल है एकाकी है। २ श्रोत्रप्राण, २ चक्षुप्राण, २ नासाप्राण, इसप्रकार ६ प्राण समन हैं। वाक्सुगत मुखप्राण एकल है। यही वाक्प्राणात्मक का शिरोगुहागत प्रथम विस्तार है। शिरोगुहावत् उरोगुहा उदरगुहा, वस्तिगुहा में भी इस सप्तक का वितान होता है। दो हाथ दो स्तन दो फुप्फुस, हृदय, यह सप्तक उरोगुहा में प्रतिष्ठित है। २-यकृत्-प्लीहा (जिगर, और तिल्ली), २-क्लोम २-वृक्क १-नाभि, यह सप्तक उदरगुहा में प्रतिष्ठित है। २-श्रोणी, २-आण्ड, २-मूत्ररेतसी, १-गुद, यह सप्तक वस्तिगुहा में प्रतिष्ठित है। इसप्रकार इस प्राणसप्तक का सम्भूसंस्था में चार स्थानों में वितान हो रहा है। इस वितान का भेद इन्द्रियप्राणचतुष्टयी को ही है। निम्नलिखित श्रुतियाँ इसी छन्द-प्राणसप्तक का स्पष्टीकरण कर रही हैं—

१-साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥
—ऋक्सं० १।१६४।१५

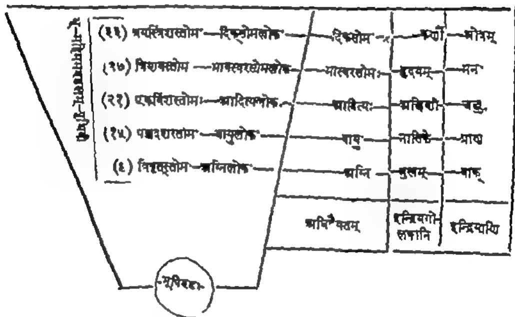
२-अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासतऽऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥
—शत० १४।५।२।५

३-सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त।
—मुण्डको० २।१।८

१	२-श्रोत्रे २-चक्षुषी २-नासिके १-मुखम्	शिरोगुहा ७	३	२-यकृत्-प्लीहानौ २-क्लोमानौ २-वृक्के १-नाभिः	उदरगुहा ७
२	२-हस्तौ २-स्तनौ २-फुप्फुसौ १-हृदयम्	उरोगुहा ७	४	२-श्रोणी २-आण्डे २-मूत्ररेतसी १-गुदम्	वस्तिगुहा ७

१–अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्——वाक्
२–वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्—प्राणः
३–आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा ऽक्षिणीप्राविशत्—चक्षुः
४–दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्——श्रोत्रम्
५–चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्—मनः

—ऐतरेयोपनिषत् २।४



अक्षरब्रह्मानुगामी भास्वरसोममय इन्द्रियमन हृदय से ब्रह्माण्ड पर्यन्त वितत होकर व्याप्त है। इस मनोमय सौम्यधरातल पर चारों इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं, जिस स्थिति का भगवान् पिप्पलाद ने निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

"तस्मै स होवाच—आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति—वयमेतद्-बाणमवष्टभ्य विधारयामः" (प्रश्नोपनिषत् २।२)।

शिरोगुहा: २–श्रोत्रे, २–चक्षुषी, २–नासिके, १–मुखम्, ७

उरोगुहा: २–हस्तौ, २–स्तनौ, २–कुक्षी, १–हृदयम्, ७

उदरगुहा: २–वृक्कौ, २–क्लोमानौ, २–यकृते, १–नाभि, ७

वस्तिगुहा: २–ऊरू, २–पायवे, २–मूत्ररेतसी, १–गुदम्, ७

—* गुहाचतुष्टयी, एवं तदनुगतप्राणसप्तकचतुष्टयी–परिलेख *—

प्रज्ञानम्—मन—चन्द्रमाः ●

कर्णौ—श्रोत्रम्—दिशः ४

अक्षिणी—चक्षु—आदित्य ३

नासिके—प्राणः—वायु २

मुखम्—वाक्—अग्नि १

हृदयम्—मन—चन्द्रमाः ●

१२७—अतीन्द्रिय—अनिन्द्रिय—सर्वेन्द्रिय—लक्षण प्रज्ञानमन—

उक्त विवेचन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, श्वोवसीयस् अव्ययमन, महदात्मक सत्त्वमन, चान्द्र प्रज्ञानमन, इन तीन मनोविभक्तों के अतिरिक्त चौथा सङ्कल्प-विकल्पात्मक इन्द्रियमन और है। सङ्कल्प-विकल्पात्मक नियतविषयग्रहणानुगामी बनता हुआ यह मन 'तेषामिष्टानि निहितानि धामशः' इस इन्द्रिय-लक्षण से युक्त है। अतः इसे अवश्य ही 'इन्द्रियमन' कहा जा सकता है। प्रज्ञानमन में प्रज्ञा (चिद्विशिष्ट सोम) प्राण (आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् नामक इन्द्रप्राण) भूत (पार्थिवभूत), इन तीन कलाओं की सत्ता बतलाई गई है। इन तीनों में से मध्यस्थ इन्द्रप्राण से सब इन्द्रियाँ युक्त हैं अतएव इन्हें 'इन्द्रिय' कहना अन्वर्थ बनता है। यह प्रज्ञानमन सब इन्द्रियों में समानरूप से अनुस्यूत रहता है। बिना प्रज्ञानमन के सहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्वव्यापार सञ्चालन में समर्थ नहीं है। सर्वेन्द्रियों में अपने सर्वभाव से व्याप्त रहने के कारण ही यह प्रज्ञानमन 'सर्वेन्द्रियमन' कहलाता है। इसका इन्द्रियवत् कोई नियत विषय नहीं है। अपितु सभी ऐन्द्रियक विषय इसके विषय हैं।

अतएव यह 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' इस इन्द्रियलक्षण से अतिक्रान्त रहता हुआ 'अतीन्द्रिय-मन' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। इसप्रकार यह अनिन्द्रिय मन सर्वेन्द्रिय में व्याप्त रहने से 'सर्वेन्द्रिय' नाम से एवं नियतविषयमर्यादातिक्रान्त रहने से 'अतीन्द्रिय' नाम से व्यवहृत हो रहा है।

१२८–इन्द्रियों का 'मात्रा'–भाव—

जिस पार्थिव भूत भाग का इस प्रज्ञानमन में समावेश रहता है, उस भूत (महाभूत) का मूल रेणुभूत है। रेणुभूत का मूल गुणभूत है, एवं यही गुणभूत 'तन्मात्रा' नाम से व्यवहृत हुआ है जो कि तन्मात्राएँ रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्थिवभूत तेज–अप्–अन्न के त्रिवृत्करण से पृथिवी–जल–तेज–वायु–आकाश, इन पाँच भागों में विभक्त है। पृथिवी की तन्मात्रा गन्ध है, जल की तन्मात्रा रस है तेज की तन्मात्रा रूप है वायु की तन्मात्रा स्पर्श है एवं आकाश की तन्मात्रा शब्द है। पाँचों क्रमशः स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी से सम्बन्ध रखते हैं। आकाशभूतात्मक स्वयम्भू में केवल शब्दतन्मात्रा का विकास है। वायुभूतात्मक–परमेष्ठी में शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा, इन दो तन्मात्राओं का विकास है। तेजोभूतात्मक सूर्य में शब्द–स्पर्श रूप, इन तीन तन्मात्राओं का विकास है। जलभूतात्मक चन्द्रमा में शब्द–स्पर्श–रूप–रस–इन चार तन्मात्राओं का विकास है। एवं मृद्भूतात्मिका पृथिवी में शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध, ये पाँचों तन्मात्राएँ विकसित हैं। इसी आधार पर पार्थिवभूत को हम पञ्चात्मक कह सकते हैं—

५–स्वयम्भूः आकाशः–शब्दतन्मात्रा (१)
४–परमेष्ठी–वायु——शब्दः, स्पर्शतन्मात्रा च (२)
३–सूर्य——तेज——शब्दः, स्पर्शः, रूपत मात्रा च (३)
२–चन्द्रमा–अप्——शब्दः,–स्पर्शः –रूपं–रसतन्मात्रा च (४)
१–पृथिवी–मृत——शब्दः–स्पर्शः–रूपं–रसः–गन्धतन्मात्रा च (५)

१२९–मानस ज्ञान–कर्म्म–अर्थ–का उदय—

क्योंकि प्रज्ञानमन में पञ्चतन्मात्रात्मक पार्थिव भूत का समावेश है अतएव तदभिन्न प्राणभाग के एवं तदभिन्न प्रज्ञाभाग के भी पाँच पाँच विभाग हो जाते हैं। फलतस्वरूप प्रज्ञारूप मन प्राणरूप प्राण एवं भूतरूपा वाक् से मनःप्राणवाङ्मय बने हुए विशुद्ध प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञा–प्राण भूत–इन तीनों उक्थ वस्तुओं के पाँच पाँच अर्क विभाग हो जाते हैं। इन अर्कभागों को ही प्रज्ञामात्रा प्राणमात्रा, भूतमात्रा नामों से व्यवहृत किया गया है। उक्थरूप वस्तु है अर्करूप इस विशुद्ध आत्मा की महिमा है। इन महिमाओं से ही प्रज्ञानमन इन्द्रियकर्म्मों का सञ्चालक बनता है। प्रज्ञामात्रा ज्ञानभाग है प्राणमात्रा क्रियाभाग है, भूतमात्रा अर्थभाग है। तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। अतएव ज्ञान, कर्म्म अर्थ तीनों में प्रज्ञा–प्राण–भूत,

तीनों उपलब्ध होते हैं। तीनों के समन्वय से ही मानस ज्ञान मानस कर्म, मानस अर्थ का उदय होता है। 'घटमहं जानामि' इस वाक्य में 'अहं' प्रज्ञामात्रा है 'घटं' भूतमात्रा है, 'जानामि' प्राणमात्रा है। प्रज्ञा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, प्राण अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है एवं भूत (घट) विषयावच्छिन्न चैतन्य है। तीनों के एकत्र (मानस धरातल पर) समन्वित होने से ही 'घटमहं जानामि' इत्याकारक 'घट'-प्रत्यय (घटज्ञान) का उदय हुआ है। प्रत्यय कर्म अर्थ, तीनों का स्वरूप चैतन्यमयी, प्राणमयी, भूतमयी से ही निष्पन्न होता है।

१३०—प्रज्ञामात्रा, और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ—

तात्पर्य यही है कि जिसे हम 'ज्ञान' कहते हैं, उसमें प्रज्ञात्मक ज्ञान प्रधान है, प्राणात्मिका क्रिया एवं भूतात्मक अर्थ गौण हैं। परन्तु है ज्ञान में तीनों का समन्वय। एवमेव कर्म्म में प्राणभाग प्रधान, तथा प्रज्ञा, और भूतभाग गौण हैं। एवमेव च अर्थ में भूतभाग प्रधान तथा प्रज्ञा, और प्राणभाग गौण हैं। जिन्हें हम घट-पटादि अर्थ कहते हैं, उनमें भूतभाग प्रधानरूप से विकसित है। तदन्तर्गर्भित प्राण है, यही क्रिया है। इसी से इन अर्थों में भी अवस्थापरिवर्त्तन होता रहता है। प्राणगर्भ में प्रज्ञात्मक ज्ञान निगूढ़ है इसी से प्राणात्मिका क्रिया का सञ्चार होता है। इसप्रकार भौतिक अर्थों में अर्थात्मिका भूतमात्रा, क्रियात्मिका प्राणमात्रा, ज्ञानात्मिका प्रज्ञामात्रा तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव गमन, पाक, अयन आदि आदि जितने भी कर्म्म हैं उनमें प्राणभाग प्रधानरूप से विकसित रहता है। प्राणाधारभूता (क्रियाधारभूत) प्रज्ञामात्रा भी कर्म्मों में विद्यमान है एवं प्राणाधारभूता भूतमात्रा भी विद्यमान है। प्राणात्मक कर्म्म क्रियामात्र है। क्रियासञ्चार निष्क्रिय अर्थालम्बन की अपेक्षा रखता है। इसप्रकार प्राणात्मक कर्म्मों में भी तीनों मात्राओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव 'घटमहं जानामि' इत्यादि ज्ञानभावों में भी तीनों विद्यमान हैं, जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है। तीनों मात्राओं में यदि एक का भी अभाव हो जाता है तो न तो ज्ञान की ही स्वरूपनिष्पत्ति होगी, न कर्म्म का ही स्वरूपनिर्म्माण हो पाता, एवं न अर्थ का ही विकास होता।

तीनों मात्राओं की परस्पर आहुति होती है इससे 'ज्ञान-कर्म्म-अर्थ' ये तीन भाव प्रादुर्भूत हो जाते हैं। "हम जानते हैं हम कर्म्म करते हैं कर्म्मद्वारा किसी भी अर्थ का स्वरूप निर्म्माण करते हैं" इन वाक्यत्रयी में ही प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्रात्मक प्रज्ञानात्मा का व्यापार विश्रान्त है। प्रज्ञा को अग्नि समझिए, प्राण और भूत को सोम समझिए। प्रज्ञात्मिका अग्नियोनि में जब प्राणभूतात्मक सोम की आहुति होती है तो 'ज्ञानेन्द्रिय' का विकास होता है। दूसरे शब्दों में प्रज्ञा प्राण, भूत तीनों मात्राओं में यदि प्रज्ञामात्रा आधार, एवं प्राण-भूतमात्रा आधेय हैं तो इस समन्वय से ज्ञानप्रधान-सम्पत्ति का प्रादुर्भाव होगा। प्रज्ञाग्नि में आहुति होने वाली प्राणयुक्ता भूतमात्रा क्योंकि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-भेद से पञ्चधा विभक्त है, अतएव तिन्निमित्तक प्रज्ञान पाँच ही प्रकार का उत्पन्न होता है। यही पञ्च ज्ञानधारा पञ्च ज्ञानेन्द्रियवर्ग है। 'कानों से सुना है हाथों से छुआ है, आँखों से देखा है, जिह्वा से स्वाद लिया है, नाकों से सूँघा है'। ये ही 'श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण' नाम की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। पाँचों में यद्यपि प्रज्ञा-प्राण-भूत तीनों मात्रा हैं परन्तु प्रज्ञाधारत्वेन प्राधान्य प्रज्ञात्मज्ञान का ही है, अतएव इन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहना अन्वर्थ बनता है।

१२८–इन्द्रियों का 'मात्रा'–भाव—

जिस पार्थिव भूत भाग का इस प्रज्ञानमन में समावेश रहता है, उस भूत (महाभूत) का मूल रेणुभूत है। रेणुभूत का मूल गुणभूत है, एवं यही गुणभूत 'तन्मात्रा' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो कि तन्मात्राएँ रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्थिवभूत तेज–अप्–अन्न के त्रिवृत्करण से पृथिवी–जल–तेज–वायु–आकाश, इन पाँच भागों में विभक्त है। पृथिवी की तन्मात्रा गन्ध है, जल की तन्मात्रा रस है, तेज की तन्मात्रा रूप है, वायु की तन्मात्रा स्पर्श है एवं आकाश की तन्मात्रा शब्द है। पाँचों क्रमशः स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी से सम्बन्ध रखते हैं। आकाशभूतात्मक स्वयम्भू में केवल शब्दतन्मात्रा का विकास है। वायुभूतात्मक–परमेष्ठी में शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा इन दो तन्मात्राओं का विकास है। तेजोभूतात्मक सूर्य में शब्द–स्पर्श–रूप, इन तीन तन्मात्राओं का विकास है। जलभूतात्मक चन्द्रमा में शब्द–स्पर्श–रूप–रस–इन चार तन्मात्राओं का विकास है। एवं भूतभूतात्मिका पृथिवी में शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध, ये पाँचों तन्मात्राएँ विकसित हैं। इसी आधार पर पार्थिवभूत को हम पञ्चात्मक कह सकते हैं—

५–स्वयम्भू आकाश–शब्दतन्मात्रा (१)

४–परमेष्ठी–वायु——शब्दः स्पर्शतन्मात्रा च (२)

३–सूर्य्य——तेजः——शब्दः स्पर्शः, रूपतन्मात्रा च (३)

२–चन्द्रमाः–जलम्——शब्दः–स्पर्शः–रूपं–रसतन्मात्रा च (४)

१–पृथिवी–भूतम्——शब्दः–स्पर्शः–रूपं–रसः–गन्धतन्मात्रा च (५)

१२९–मानस ज्ञान-कर्म्म-अर्थ-का उदय—

क्योंकि प्रज्ञानमन में पञ्चतन्मात्रात्मक पार्थिव भूत का समावेश है अतएव तदभिन्न प्राणभाग के एवं तदभिन्न प्रज्ञाभाग के भी पाँच पाँच विभाग हो जाते हैं। फलस्वरूप प्रज्ञारूप मन, प्राणरूप प्राण एवं भूतरूपा वाक् से मनःप्राणवाङ्मय बने हुए त्रिधातु प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञा–प्राण–भूत–इन तीनों स्वरूप धातुओं के पाँच पाँच अर्थ विभाग हो जाते हैं। इन अर्थभागों को ही प्रज्ञामात्रा प्राणमात्रा भूतमात्रा, नामों से व्यवहृत किया गया है। उपयुक्त धातु हैं अर्थरूप इस त्रिधातु आत्मा की महिमा हैं। इन महिमारूपों से ही प्रज्ञानमन इन्द्रियकर्म्मों का सञ्चालक बनता है। प्रज्ञामात्रा ज्ञानमय हैं प्राणमात्रा क्रियामय हैं, भूतमात्रा अर्थमय है। तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। अतएव ज्ञान, कर्म्म अर्थ तीनों में प्रज्ञा–प्राण–भूत,

तीनों उपलब्ध होते हैं। तीनों के समन्वय से ही मानस ज्ञान मानस कर्म्म, मानस अर्थ का उदय होता है। 'घटमहं जानामि' इस वाक्य में 'अहं' प्रज्ञामात्रा है, 'घट' भूतमात्रा है, 'जानामि' प्राणमात्रा है। प्रज्ञा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, प्राण अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है एवं भूत (घट) विषयावच्छिन्न चैतन्य है। तीनों के एकत्र (मानस धरातल पर) समन्वित होने से ही 'घटमहं जानामि' इत्याकारक 'घट'-प्रत्यय (घटज्ञान) का उदय हुआ है। प्रत्यय कर्म्म, अर्थ, तीनों का स्वरूप चैतन्यत्रयी, प्राणत्रयी, भूतत्रयी से ही निष्पन्न होता है।

१३०-प्रज्ञामात्रा, और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ—

तात्पर्य्य यही है कि, जिसे हम 'ज्ञान' कहते हैं उसमें प्रज्ञात्मक ज्ञान प्रधान है, प्राणात्मिका क्रिया, एवं भूतात्मक अर्थ गौण हैं। परन्तु है ज्ञान में तीनों का समन्वय। एवमेव कर्म्म में प्राणभाग प्रधान, तथा प्रज्ञा, और भूतभाग गौण हैं। एवमेव च अर्थ में भूतभाग प्रधान तथा प्रज्ञा, और प्राणभाग गौण हैं। जिन्हें हम घट-पटादि अर्थ कहते हैं, उनमें भूतभाग प्रधानरूप से विकसित है। अन्तर्गर्भित प्राण है यही क्रिया है। इसी से जड़ अर्थों में भी अवस्थापरिवर्त्तन होता रहता है। प्राणगम में प्रज्ञात्मक ज्ञान [illegible] है इसी से प्राणात्मिका क्रिया का सञ्चार होता है। इसप्रकार भौतिक अर्थों में अर्थात्मिका भूत[illegible] क्रियात्मिका प्राणमात्रा, ज्ञानात्मिका प्रज्ञामात्रा तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव गमन, पाक, [illegible] आदि आदि जितने भी कर्म्म हैं उनमें प्राणभाग प्रधानरूप से विकसित रहता है। प्राणाधारभूता (क्रिया-धारभूता) प्रज्ञामात्रा भी कर्म्म में विद्यमान है एवं प्राणाधारभूता भूतमात्रा भी विद्यमान है। [illegible] कर्म्म क्रियामात्र है। क्रियासञ्चार निष्क्रिय अर्थालम्बन की अपेक्षा रखता है। इसप्रकार प्राणात्मक [illegible] भी तीनों मात्राओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। एवमेव 'घटमहं जानामि' इत्यादि ज्ञानमें [illegible] विद्यमान हैं, जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है। तीनों मात्राओं में यदि एक का [illegible] जाता है तो न तो ज्ञान की ही स्वरूपनिष्पत्ति होती, न कर्म्म का ही स्वरूपनिर्म्माण [illegible] का ही विकास होता।

तीनों मात्राओं की परस्पर आहुति होती है इससे 'ज्ञान-कर्म्म-अर्थ' [illegible] है। "हम जानते हैं, हम कर्म्म करते हैं कर्म्मद्वारा किसी भी अर्थ का [illegible] वाक्यत्रयी में ही प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्रात्मक प्रज्ञानात्मा का व्यापार विभक्त है। [illegible] प्राण और भूत को सोम समझिए। प्रज्ञात्मिका अग्नियोनि में जब प्राणभूतमात्रा [illegible] तो 'ज्ञानेन्द्रिय' का विकास होता है। दूसरे शब्दों में प्रज्ञा प्राण, भूत [illegible] आधार, एवं प्राण-भूतमात्रा आधेय हैं तो इस समन्वय से ज्ञानप्रधान-[illegible] में आहुति होने वाली प्राणयुक्ता भूतमात्रा क्योंकि शब्द-स्पर्श-रूप-[illegible] अतएव त्रिसमन्वितरूप प्रज्ञान पाँच ही प्रकार का उत्पन्न होता है। यही [illegible] 'कानों से सुना है हाथों से छुआ है, आँखों से देखा है, जिह्वा [illegible] ही 'श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण' नाम की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। [illegible] माना है, परन्तु प्रज्ञाधारत्वेन प्राधान्य प्रज्ञारूपज्ञान का ही है, [illegible]

१-सङ्गीतमहं शृणोमि—शब्दतन्मात्रा (आकाशात्मिका)—श्रोत्रम्
२-शान्तमहं स्पृशामि—स्पर्शतन्मात्रा (वाय्वात्मिका)—त्वक्
३-चित्रमहं पश्यामि—रूपतन्मात्रा (तेजोमयी)—चक्षु
४-आस्वादमहं पिबामि—रसतन्मात्रा (अप्मयी)—जिह्वा
५-गन्धमहं जिघ्रामि—गन्धतन्मात्रा (भूमयी)—घ्राण

} ज्ञानप्रधानतन्मयानि ज्ञानीमानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि

---

१ प्रज्ञामात्रा——आधारभूतोऽग्निः

१ प्राणमात्रा
२ भूतमात्रा
} —आधेयभूतः सोमः

} —समन्वयात् प्रज्ञाप्रधानानां ज्ञानेन्द्रियाणां पञ्चानां विकासः यदिदं ज्ञानतन्त्रम्

१२१—प्राणमात्रा, और पञ्च कर्म्मेन्द्रियाँ—

अब प्राण को आधारभूत अग्नि समझिए, एवं प्रज्ञा तथा भूत दोनों को आधेय सोम मानिए। इन सम्बन्धों से जो प्राणप्रधान अपूर्व पञ्चक उत्पन्न होता है वही पञ्च कर्म्मेन्द्रियवर्ग कहलाता है। पञ्चतन्मात्राओं के भेद से प्रज्ञावत् क्रियारूपा प्राणमात्रा के भी पाँच ही विभाग हो जाते हैं। प्रज्ञानुगामिनी पञ्चप्राणमात्रा ही कर्म्मप्रधान कर्म्मेन्द्रियाँ हैं, जो वाक्–पाणी–पाद–पायु–उपस्थ इन नामों से प्रसिद्ध हैं। मुख से बोलना, हाथों से काम करना, पैरों से चलना, पायु से मलोत्सर्ग करना, उपस्थ से रत्यादि कर्म्म करना, ये सब कर्म्मस्वरूप के विकास हैं। यहाँ सर्वत्र 'करने' पर ही विश्राम है। वाक् का शब्दतन्मात्रा से, पाणी का स्पर्शतन्मात्रा से, पाद का रूपतन्मात्रा से सम्बन्ध है *। पार्थिव अपानप्राणरूपत्वेन पायु का

* सूर्य्यानुगत तेजोमूर्त्ति की मूलप्रतिष्ठा ही रूपतन्मात्रा मानी गई है। सौर मघवा इन्द्र ही 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' सिद्धान्तानुसार रूप का प्रवर्त्तक है एवं यही—'या च का च बलकृतिरिन्द्र कर्म्मैव तत्' (या॰ नि॰) के अनुसार गतिभाव का प्रवर्त्तक है। रूपदर्शन चक्षु से होता है, गति पैरों से सम्बन्ध रखती है। रूप, और गति दोनों सौर तेजोमय इन्द्र के प्रातिस्विक धर्म्म हैं। यही रूपतन्मात्रा की प्रतिष्ठा है। अतएव पादगति का भी अवश्य ही रूपतन्मात्रा से सम्बन्ध माना जा सकता है।

गन्धतन्मात्रा से सम्बन्ध है। चान्द्र–शुक्रनिर्गमनत्वेन उपस्थ का रसतन्मात्रा से सम्बन्ध है। इसप्रकार ज्ञानेन्द्रियपञ्चकवत् कर्म्मेन्द्रियपञ्चक में भी पाँचों तन्मात्राओं का उपभोग हो रहा है।

१–शब्दमहं वदामि——शब्दतन्मात्रा (आकाशात्मिका)–वाक्
२–कर्म्ममहं करोमि——स्पर्शतन्मात्रा (वाय्वात्मिका)–पाणी
३–स्थानमहं गच्छामि–रूपतन्मात्रा (तेजोमयी)–पाद
४–मलोत्सर्गमहं करोमि–गन्धतन्मात्रा (भूतमयी)–पायु
५–रतिक्रियामहं करोमि–रसतन्मात्रा (जलमयी)–उपस्थः

} कर्म्मप्रधानमात्रत्वानि ज्ञानीमानि पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि

———•———

१ प्राणमात्रा—आधारभूतोऽग्निः
१ प्रज्ञामात्रा } आश्रयभूतः सोम
२ भूतमात्रा }

} समन्वमात्र प्राणप्रधानानां कर्म्मेन्द्रियाणां पञ्चानां विकासः। तदिदं कर्म्मतन्त्रम्

———•———

१३२–इन्द्रियव्यापार, और कामनामय मन का अनिवार्य्य सहयोग—

ज्ञान में ज्ञाता (प्रज्ञामात्रा) ज्ञान (ज्ञानसाधनभूता प्राणमात्रा) ज्ञेय (भूतमात्रा), तीन पुरों के समन्वय की अपेक्षा है अतएव ज्ञानविषय 'त्रिपुटी' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'मैं गन्धानुभव कर रहा हूँ' इस वाक्य में गन्ध सूँघने वाली प्रज्ञामात्रा है यही 'ज्ञाता' है। गन्धद्रव्य भी है घ्राणेन्द्रिय भी है, परन्तु यदि प्रज्ञामन इस ओर अनुगत नहीं है, तो गन्धानुभव असम्भव है। मन भी है गन्धद्रव्य भी है यदि घ्राणेन्द्रियरूपा प्राणमात्रा नहीं है तब भी गन्धानुभव असम्भव है। एवमेव मन, और घ्राणेन्द्रिय के रहने पर भी गन्धद्रव्यरूपा भूतमात्रा के अभाव में गन्धानुभव असम्भव है। ठीक यही स्थिति कर्म्म में समझिए। वाक्–पाणी–पादादि प्राणमात्रा हैं। यदि इनके साथ प्रज्ञामात्रारूप से मन नहीं है तो इनसे कर्म्मप्रवृत्ति असम्भव है। मनरहित कर्म्म अज्ञातकर्म्म है। एवं अज्ञातभाव में कर्म्मप्रवृत्ति असम्भव है। निम्न लिखित वचन कर्म्म में मापरूपेण से अपेक्षित इस कामनामय मन सहयोग का ही समर्थन कर रहे हैं—

१—ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्यं क्रतुर्भवेत् ।
क्रतुजन्यं भवेत् कर्म्म, तद्वत् कर्म्म प्रचक्षते ॥

२—संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ।
व्रतानि यमधर्म्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥

३—अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ (मनु०२।३,४)।

४—"न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्त्तुम्"—(शत०६।३।१।१४)।

५—"अन्यत्र मना अभूवं-नादर्शम् । अन्यत्र मना अभूवं-नाश्रौषम्-इति ।
मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति" (शत०१४।४।३।९)।

हम चाहते हैं सो पुरता है। तात्पर्य्योपाख्यान में हमारा मन प्रज्ञामात्रा-रूप से ओतप्रोत है। बिना मनःसंयोग के कर्म्मप्रवृत्ति सर्वथा असम्भव है। यदि अन्य की मनःप्रेरणा से हम बलपूर्वक किसी कर्म्म में प्रवृत्त होते हैं, तो वह कर्म्म सम्यग्योग नहीं बनने पाता। कर्त्ता करण, कर्म्म, भेद से कर्म्मतन्त्र भी ज्ञानतन्त्र-वत् त्रिभाव में ही विभक्त रहता है। ज्ञानतन्त्र कर्म्मचोदना है, कर्म्मतन्त्र कर्म्मसंग्रह है। निम्न लिखित गीतावचन इन दोनों तन्त्रों के इसी त्रिपुटीभाव का स्पष्टीकरण कर रहा है—

ज्ञानं, ज्ञेयं, परिज्ञाता त्रिविधा कर्म्मचोदना ।
करणं, कर्म्म, कर्त्तेति त्रिविधः कर्म्मसंग्रहः ॥

—गीता१८।१८

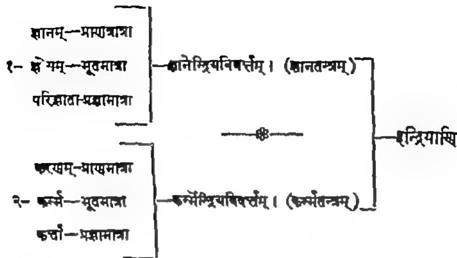
* जिसे लोकव्यवहार में प्रयत्न-चेष्टा-कृति कहा जाता है उसी मानस-प्राणव्यापाररूप अन्तर्व्यापार के लिए वेद में 'क्रतु' शब्द प्रयुक्त है। अतएव—'इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्' के स्थान में हमनें 'इच्छाजन्यं क्रतुर्भवेत्' पाठ कर दिया है। प्राणव्यापाररूप मनोबल ही कृति है, यही क्रतु है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

(१)—स यदेव मनसा कामयते—इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय, इति—स एव क्रतुः ।

—शत०४।१।२।१।

(२)—इम्मु—क्रतु वरुणो विश्वाग्निम् । इत्थु यत्र क्रतुम्मनोजवः प्रविष्टः ।

—शत० ३।३।४।७



१३२—दशविध इन्द्रियमात्राविवर्त—

ज्ञानेन्द्रियपञ्चक की ५ प्रज्ञामात्रा ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा हैं। तीनों पञ्चक अविनाभूत हैं। एवमेव कर्म्मेन्द्रियपञ्चक की भी ५ प्रज्ञामात्रा, ५ भूतमात्रा ५ प्राणमात्रा हैं। तीनों पञ्चक अविनाभूत हैं। ज्ञान-कर्म्मेन्द्रिय, दोनों के मात्रापञ्चकों के समन्वय से तीनों के १०–१०–१०—विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों दशक अविनाभूत हैं। अत. दोनों के मात्राविवर्त्त १० ही से शेष रह जाते हैं, जिन दशों मात्राविवर्त्तों का निम्न लिखित श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

"न हि प्रज्ञापेता वाक्—नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्, अन्यत्र मे मनोऽभूत्, इत्याह। नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिषम्—इति ××××। ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं, दश-प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यद्धि भूतमात्रा न स्युः, न प्रज्ञामात्राः स्युः। यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युः, न भूतमात्राः स्युः। न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्धयेत्। नो एतन्नाना। तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नाभावरा अर्पिता, एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिता, प्रज्ञा-मात्राः प्राणेऽर्पिताः। स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः। न साधुना कर्म्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कनीयान्। एष ह्येवैनं (भूतात्मानं) साधु कर्म्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवैनमसाधु कर्म्म कारयति तं, यमधो निनीषते। एष (प्रज्ञानात्मा) लोकपालः, एष लोकाधिपतिः, एष सर्वेशः। स म आत्मेति विद्यात्"

कौषीतक्युपनिषत् ३।८।

१३३—भूतमात्रा, और पञ्च इन्द्रियार्थ—

बतलाया गया है कि, प्रज्ञा-प्राण-भूत, तीनों ही आधार बनते हैं एवं तीनों ही आधेय बनते हैं। तीनों में से प्रज्ञा, और प्राण के आधाराधेयभाव का निरूपण किया, जिसका निष्कर्ष यह निकला कि, प्रज्ञा के

आधार बनने से, एवं प्राण के आधेय बनने से तो पाँच ज्ञानेन्द्रियों का विकास होता है । एवं प्राण के आधार बनने से तथा प्रज्ञा के आधेय बनने से पाँच कर्मेन्द्रियों का विकास होता है । अब शेष रह जाती है—भूतमात्रा । इस भूतमात्रारूप वाचाग्नि में जब प्रज्ञा—प्राणरूप आग्नेय सोम की आहुति होती है तो अर्थतन्त्र का स्वरूप उद्भूत होता है । शब्दात्मक आकाश स्पर्शात्मक वायु रूपात्मक तेज रसात्मक जल गन्धात्मिका पृथिवी, इन पाँचों में जब प्रज्ञा, प्राण की आहुति होती है तो शब्द—स्पर्श—रूप—रस, गन्ध, इन पाँच महाभौतिक अर्थों का विकास होता है । शब्दादि तन्मात्रारूप भूत गुणात्मक बनते हुए अव्यक्त हैं । शब्दादि अर्थरूप भूत महाभूतात्मक होने से व्यक्त हैं । ये व्यक्त भूत ही इन्द्रियों के विषय बनते हैं । अधिदैवतसंस्था में भी पञ्चतन्मात्राओं से प्रज्ञा—प्राणाहुति के द्वारा पञ्चमहाभूतात्मक अर्थ उत्पन्न हुए हैं । एवं आध्यात्मिक जगत् में भी इन्हीं पञ्चतन्मात्राओं से अर्थात्मक पञ्च विषयों का विकास हुआ है । अर्थात्मक भूतों में क्योंकि प्रज्ञा, और प्राणमात्रा का अन्वय है अभिभव है । अतएव इन भौतिक पदार्थों में प्रज्ञानुगत ज्ञानेन्द्रियों का, तथा प्राणानुगत कर्मेन्द्रियों का विकास नहीं होने पाता । अतएव विशुद्ध भौतिक पदार्थ 'निरिन्द्रिय' कहलाए हैं ।

१३४—सर्वभूतप्रभवा महत्प्रकृति—

ज्ञान क्रिया अर्थ तीनों की समष्टि ही 'ब्रह्म' है । इस ब्रह्म का आलम्बन प्रज्ञा—प्राण—भूतमूर्ति प्रज्ञान ही है अतएव श्रुति ने इसे 'ब्रह्मैतत्' कहा है । 'जानना' ज्ञान है करना 'कर्म' है ज्ञान—क्रिया का आधार बनने और करने का आलम्बन 'अर्थ' है । तीन के अतिरिक्त चतुर्थ वस्तुतत्त्व का अभाव है । प्राण—भूत दोनों की प्रज्ञाग्नि में आहुति से ज्ञान का प्रज्ञा—भूत दोनों की प्राणाग्नि में आहुति होने से कर्म का एवं प्रज्ञा प्राण, दोनों की भूताग्नि में आहुति होने से अर्थ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । तीनों इसी प्रज्ञा—प्राण—भूतमूर्ति प्रज्ञान की महिमा है । यही प्रज्ञानब्रह्म तीन महिमाओं में परिणत होकर अधिदैवत, अध्यात्म, दोनों विश्वों का स्वामी बन रहा है । यह प्रज्ञान महान् के स्वरूप मन का ही इन्द्रियानुगत रूप है यह कहा जा चुका है । अतएव इसे भी हम विज्ञानवत् महत्स्वरूप में ही अन्तर्भूत मान सकते हैं । वस्तुस्थिति तो वास्तव में यही है कि चिदात्मा का चिदात्मत्व विज्ञानात्मा का विज्ञानात्मत्व प्रज्ञानात्मा का प्रज्ञानात्मत्व, भूतात्मा का भूतत्व, सब कुछ त्रिगुणमात्रापन्ना महत्प्रकृति (अव्यक्तप्रकृति) पर ही प्रतिष्ठित है । गुणत्रयविशिष्टा इसी महत्प्रकृति के आकर्षण से निर्धर्मक ब्रह्म अव्यय को भी सर्वधर्मोपपन्न बन कर योगमायारूप से जन्म लेना पड़ता है । यही महत्प्रकृति भूतग्रामद्वारा जगत्स्वरूप का निर्माण करती है । निम्न लिखित वचन महत्प्रकृति की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुन ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥१॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥२॥ (गीता९।८।१०)।

सर्वेश्वर्या इसी महदात्मा की स्तुति करते हुए ऋषि कहते हैं—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ॥
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥१॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ॥
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा (महानात्मा) ॥२॥
—श्वे० उप० ५।२,३,।

१३५—कणाद का अणुपरमाणुवाद, और कपिल का गुणवाद—

कपिल से पहिले वैशेषिकों का (कणाद का) परमाणुवाद प्रचलित था। सम्पूर्ण जगत् के सम्बन्ध में परमाणुरूप अणुभूतों पर ही विश्राम मान लिया जाता था। महर्षि कपिल ने इस परमाणुवाद का खण्डन कर गुणभूतात्मक (पञ्चतन्मात्रात्मक) प्रकृतिवाद स्थापित किया। कपिल ही इस प्रकृतिवाद के प्रथम प्रवर्त्तक बने। अतएव तत्कथन की परिभाषानुसार कपिलदृष्ट वह महत्प्रकृति भी उसी प्रकार 'कपिल' नाम से प्रसिद्ध हो गई जैसे कि वसिष्ठ-अगस्त्य-मत्स्यादि मौलिक आर्षप्राणों के प्रथम परीक्षक विद्वान् वसिष्ठादि नामों से ही प्रसिद्ध हो गए हैं। कपिलदृष्ट इसी महानात्मा का अवरभाग इन्द्रियानुगति में परिणत हो कर 'प्रज्ञानात्मा' कहलाने लगता है। ज्ञानात्मरूप से यह इन्द्रियानुगामी नहीं बनता। अपितु पारमेष्ठ्य महत्सोमरूप अप्तत्त्व पहिले पृथिवी-स्वरूप में परिणत होता है। पार्थिव प्राण पाप्मरूप अग्निप्राण है। अग्निप्राणयुक्त भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस परिक्रमा से अग्निप्राण के द्वारा पृथिवी-युक्त महद्भाग प्रसूत हो कर चन्द्ररूप में परिणत हो जाता है। अतएव चन्द्रमा को अग्निपुत्र एवं पृथिवी का उपग्रह माना गया है। पृथिव्युपग्रहभूत चन्द्रमा रेतः-श्रद्धा-यशो-मय है। रेत पार्थिव भाग है, यश सौर भाग है श्रद्धा स्वयं चान्द्र भाग है। 'श्रद्धा वा आपः' (श्रुतिः) के अनुसार चान्द्र श्रद्धा-तत्त्व अप्सोमात्मक है। इसकी आदित्याग्नि में आहुति होती है, इससे श्रद्धा सोमरूप में परिणत हो जाती है। सोम की पर्जन्याग्नि में आहुति होती है, इससे सोम वृष्टि (जल) रूप में परिणत हो जाता है। वृष्टि की पार्थिव अग्नि में आहुति होती है, इससे वृष्टि ओषधिरूप में परिणत हो जाती है। ओषधिरूप अन्न की पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है इससे अन्न रेतोरूप में परिणत हो जाता है। इस रेत की सूक्ष्मावस्था ही प्रज्ञानमन है। इसप्रकार पारमेष्ठ्य महत्-तत्त्व पृथिवी के द्वारा पहिले चन्द्ररूप में परिणत होता है। अनन्तर श्रद्धा-सोम-वृष्टि-ओषधि-रेतो-रूप में परिणत होता हुआ अन्न के द्वारा प्रज्ञानमनोरूप में परिणत होता है जैसाकि—'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः' इत्यादि छान्दोग्यश्रुति से प्रमाणित है। चिद्विशिष्ट श्रद्धा प्रज्ञामात्रा है यशोरूप इन्द्रभाग प्राणमात्रा है रेतोरूप पार्थिव भाग भूतमात्रा है। तीनों की समष्टि ही 'प्रज्ञानम्' है। आगे चलकर प्रज्ञा-प्राण-भूत की परस्परानुवृत्ति से यही प्रज्ञान प्रज्ञाप्राणगर्भित भूतमहिमा प्रज्ञाभूतगर्भित प्राणमहिमा प्राणभूतगर्भित प्रज्ञामहिमा में परिणत होता हुआ अर्थ-कर्म-ज्ञान, इन तीन कर्मों का प्रवर्त्तक बन जाता है जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

१३६—अपूर्वशिल्प, एवं प्रतिकृतिशिल्प-द्वारा भूतविवर्त्त का समन्वय—

ज्ञान कर्म, अर्थ, तीनों में ज्ञान, कर्म तो आत्मा (प्रज्ञानात्मा) के प्रातिस्विक रूप हैं नित्य हैं। एवं अर्थ आगन्तुक है कृत्रिम रूप है। इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। प्रसङ्गोपात्त इसका भी निराकरण कर लेना चाहिए। 'घटमहं जानामि' इत्यादि ज्ञानविवर्त्तों में प्रज्ञा-प्राण-भूत, तीनों मात्राओं का ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय रूप से प्रत्यक्ष हो रहा है। एवमेव 'कर्म्माहं करोमि' इत्यादि प्रत्यक्ष कर्म्मतन्त्रों में भी कर्त्ता-कर्म्म-करण-रूप से तीनों मात्राओं का प्रत्यक्ष हो रहा है। परन्तु घट-पटादि अर्थतन्त्रों में केवल भूतमात्रा का

छोड़ शेष प्रज्ञा-प्राण नाम की दोनों मात्राओं का प्रत्यक्ष नहीं होता, जबकि अर्थतन्त्र में भी ज्ञान-कर्म उभयवत् तीनों का समन्वय प्रकृतिसिद्ध है। ऐसा क्यों ?।

विप्रतिपत्ति का निराकरण कीजिए। सांसारिक चर-अचर पदार्थों का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य है। जिनमें एक पदार्थों का निर्माता तो स्वयं ईश्वर है एवं घट-पट-मठादि जिनमें एक पदार्थों का निर्माता जीवात्मा है। ईश्वरलक्षण परमात्मा, एवं जीवात्मा, दोनों का ही शिल्पकर्म अपूर्वशिल्प प्रतिरूपशिल्प, भेद से दो भागों में विभक्त है जैसाकि भक्तिपरीक्षा-उत्तरखण्ड में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। आकाश, सूर्य्य, चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र, पृथिवी, आदि प्राकृतिक पदार्थ ईश्वरकृत अपूर्वशिल्प हैं। सर्वथा अपूर्व कारीगरी है। पृथिवी का एक चन्द्रमा शनिमण्डल के आठ चन्द्रमा, आदि पदार्थ ईश्वरकृत प्रतिरूपशिल्प हैं। अभूतपूर्व पदार्थ का नाम अपूर्वशिल्प है निर्मित वस्तु के सदृश निर्मित पदार्थ का नाम प्रतिरूपशिल्प है। स्वायम्भुव, परमेष्ठी, सूर्य्य, पृथिवी आदि शाश्वतप्रतिष्ठालक्षण महामायावच्छिन्न ईश्वर के अपूर्वशिल्प हैं, अभूतपूर्वशिल्प हैं। एवं परमेष्ठी आदि की प्रतिकृति (नकल) पर निर्मित चन्द्रमादि ईश्वर के प्रतिरूपशिल्प हैं। इसप्रकार ईश्वरीय शिल्प दो भागों में विभक्त हो गया है।

जीव ईश्वर का अंश है। परमात्मा कारण है, जीवात्मा कार्य्य है। कारणगुण अवश्य ही कार्य्य में प्रतिष्ठित रहते हैं। फलतः कारणभूत ईश्वर के उभयविध शिल्पकर्म का कार्य्यभूत जीव में भी समावेश हो जाना प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। इसप्रकार ईश्वरवत् जीवकृत शिल्प भी अपूर्व-प्रतिरूप भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। पुष्पक आदि विमान जिस वैज्ञानिक द्वारा सर्वप्रथम विनिर्मित हुए, वह उसका अपूर्वशिल्प माना जायगा। एवं इन अपूर्वशिल्पों के आधार पर अन्य शिल्पियों ने जो अनेक विमान बना डाले वह उन व्यक्तियों का प्रतिरूपशिल्प माना जायगा। जीवात्मकृत यह प्रतिरूपशिल्प जीवानुगत, ईश्वरानुगत, भेद से दो प्रकार का माना गया है। जीवात्मा के अपूर्वशिल्प (विमानादि) की प्रतिकृति जीवानुगत जीवकर्तृक प्रतिरूपशिल्प कहलाया है। एवं ईश्वरात्मा के अपूर्वशिल्प (अश्व-गो-पुरुषादि) की धातु मृत् पाषाणादिमयी प्रतिमायें ईश्वरानुगत-जीवकर्तृक प्रतिरूपशिल्प कहलाया है। किसी का भी कोई सा भी शिल्प हो, उसके प्रकार अपूर्व, प्रतिरूप, भेद से दो ही माने गए हैं।

उक्त उभयविध शिल्प का निर्माण प्रज्ञामात्रा की आवश्यकरूप से अपेक्षा रखता है। कोई भी शिल्पी (कारीगर) जब किसी शिल्प (कारीगरी) के निर्माण का संकल्प करता है तो सर्वप्रथम वह अपने प्रज्ञात्मक मानस धरातल पर उसका प्रतिरूप अङ्कित करता है। पहिले शिल्प का आकार उसके प्रज्ञात्मक अन्तर्जगत् में कल्पित होता है। तदनन्तर प्रज्ञानुरूप ज्ञानात्मक उस सूक्ष्म शिल्प के अनुरूप वह उसमें बाह्य भौतिक द्रव्यों का समावेश कर उस अन्तर्जगत् के शिल्प को बहिर्जगत का स्वरूप प्रदान करता है। यदि बाह्य भौतिक शिल्प का कोई सा भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस शिल्पी के आभ्यन्तर प्रज्ञानीय शिल्पाकार से तनिक अन्यथा वा प्रतिकूल बन जाता है तो वह उसके मनोराज्य में खटकता रहता है जबतक कि वह अपने प्रज्ञानीय शिल्प के अनुरूप उस भौतिक शिल्प को व्यवस्थित नहीं कर लेता। प्रत्येक शिल्पी का प्रत्येक भौतिक शिल्प उस शिल्पी की प्रज्ञा [अकल] का नमूना है। प्रत्येक शिल्प से शिल्पी की प्रज्ञा का आनुमानिक प्रत्यक्ष हो जाता है। ईश्वरीय शिल्प हो अथवा जीवकृत शिल्प। अपूर्वशिल्प हो, अथवा प्रतिरूपशिल्प शिल्प शिल्पी की

प्रज्ञा का प्रतिरूप [नमूना] है। शिल्पी की प्रज्ञा पर ही यह उभयविध भौतिक शिल्प प्रतिष्ठित रहता है। शिल्प में जो शिल्पत्व [कारीगरी] है, औरतो है वह न प्राणमात्रा है, न भूतात्मा। अपितु वह शिल्पी की प्रज्ञामात्रा है। दर्शक की दृष्टि सर्वप्रथम शिल्प के इस प्रज्ञाभाग [कारीगरी] पर ही जाकर ठहरती है। उत्कृष्ट शिल्प को देख कर द्रष्टा के मुख से शिल्पी की प्रज्ञा के लिए ही धन्य धन्य निकलता है। इसप्रकार प्रत्येक शिल्प में, प्रत्येक कार्य में शिल्पस्वरूप से हम 'प्रज्ञामात्रा' का भी साक्षात्कार कर रहे हैं।

१३७–जडमूर्ती में प्राणमात्रा का समन्वय—

अब क्रमप्राप्त प्राणमात्रा का समन्वय कीजिए। विश्वपदार्थों का घन तरल, विरल, भेद से तीन भागों में वर्गीकरण किया जासकता है। पार्थिव पदार्थ घन माने गए हैं, आन्तरिक्ष पदार्थ तरल माने गए हैं, एवं दिव्य पदार्थ विरल माने गए हैं। इस प्रकार त्रैलोक्य के पदार्थ ध्रुवात्मक निविडावयव, धर्त्रात्मक तरलावयव, धरुणात्मक वाष्पावयव, भेद से तीन जातियों में विभक्त हो रहे हैं। तीनों अवस्थाओं का कपूरखण्ड में प्रत्यक्ष किया जासकता है। कपूरखण्ड (डली) घनावयव पार्थिव द्रव्य है। अग्निसंयोग से द्रुत (पिघला–हुआ) कपूर तरलावयव आन्तरिक्ष द्रव्य है। अत्यन्ताग्निसंयोग से वाष्परूप (धूमरूप) में परिणत होकर अन्तरिक्ष में विलीन होजाने वाला कपूर विरलावयव दिव्यद्रव्य है। यच्चयावत् पदार्थों के ये ही तीन परिणाम माने गए हैं।

१३८–तीनों तन्त्रों का व्याप्तिलक्षण—

प्रश्न होता है कि द्रव्यों में यह अवस्थात्रयी कैसे उत्पन्न होती है? वैज्ञानिकों ने 'प्राण' तत्त्व को आगे करते हुए ही इस प्रश्न का समाधान किया है। अनन्त–विध प्राणों में से भूताधारभूत प्राणविशेष ही 'सौम्यप्राण' कहलाया है। यह सौम्यप्राण ध्रुव–धर्त्र–धरुण–भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। जिस पदार्थ में ध्रुवप्राण की प्रधानता रहती है वह निविडावयव घन बन जाता है, धर्त्रप्राणात्मक पदार्थ तरलावयव, एवं धरुणप्राणात्मक पदार्थ वाष्पावयव बन जाता है। इसप्रकार त्रिधारूपधर्म्मा सौम्यप्राण के तारतम्य से ही पदार्थमुक्त धरातलक परमाणुओं के संगठन में तारतम्य होता रहता है। जबतक इस सौम्यप्राण–रूपा प्राणमात्रा का भूतमात्राप्रधान भौतिक कार्य पर अनुग्रह रहता है तभी तक भौतिक घर कूटभाव में परि–स्थित रहते हुए एकसूत्र (प्राणसूत्र) से सुसंघटित बने रहते हैं। इस प्राणमात्रा के उत्क्रान्त होते ही घर संघटन भग्न होजाता है, भौतिक द्रव्य शीर्ण–शीर्ण बन कर स्वस्वरूप से उत्क्रान्त होजाता है। शीर्ण वस्तु के लिए लोकभाषा में–'अब इस पदार्थ में 'दम' नहीं रहा यह वाक्य प्रयुक्त होता है। यह 'दम' यही प्राणतत्त्व है, जो अपने शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्धाभावयुक्त अप्रामन्द्य धर्म्म से इन्द्रियातीत बनता हुआ हमारे लिए अप्रत्यक्ष बना रहता है। इसप्रकार भूतमात्राप्रधान कार्यतन्त्र में भी प्रज्ञामात्राप्रधान ज्ञानतन्त्र तथा प्राण–मात्राप्रधान कर्म्मतन्त्र की भाँति भूतमात्रावत् शिल्पस्वरूप से प्रज्ञामात्रा का, तथा त्रिधारूपधर्म्मस्वरूप से प्राणमात्रा का हमें साक्षात्कार होता है। अतएव तीनों तन्त्रों का व्याप्तिलक्षण यथात्मना अक्षुण्ण है। तभी तो श्रुति का–'नह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिध्येत्' यह कथन चरितार्थ होता है।

१३९–चेतन–अचेतन–द्रव्यपरिभाषा—

उक्त कथनानुसार कार्यतन्त्र में भी ज्ञान–कर्म्मवत् यद्यपि प्रज्ञा–प्राण–भूत इन तीनों मात्राओं का समावेश है। तथापि एक विशेष हेतु से कार्यतन्त्र को ज्ञान–कर्म्म–तन्त्रापेक्षया विजातीयधर्म्मा ही माना जायगा।

अर्थतन्त्र में प्रज्ञा–प्राणमात्रायें भूतमात्रा से उसी प्रकार आत्यन्तिकरूप से अभिभूत रहती हैं, जैसे सुगावस्थ–घटगर्भ में प्रतिष्ठित दीपप्रभा द्वाराभाव से अभवत्त रहती है। इन्द्र का विकछित्तरूप ही प्रज्ञात्मक ज्ञानेन्द्रियवर्ग तथा प्राणात्मक कर्मेन्द्रियवर्ग के विकास का कारण माना गया है। भौतिक अर्थतन्त्र में प्रज्ञात्मक इन्द्र रहता अवश्य है परन्तु भूतभागादि से इसका रश्मिप्रसारलक्षण रूपविकास अवरुद्ध रहता है। अतएव प्रतिस्पन्द भूत के निग्रह से रहता हुआ भी प्राण इन्द्र घट–पटादि अर्थतन्त्रों में इन्द्रियभाव–विकास करने में असमर्थ रहता है। इसी आधार पर अर्थतन्त्र को 'अनिन्द्रिय' माना गया है। अतएव च चेतन और अचेतन द्रव्य का– सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्' यह लक्षण किया गया है। अचेतन–चेतन का व्यवस्थापक आत्मभाव–आत्मसत्ता नहीं है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्' के अनुसार आत्मा (प्रज्ञानात्मा) तो सब में है। एवं इस आत्मदृष्टि से भारतीय विज्ञानशास्त्र सब को चेतन मानता है। इसी आत्मचैतन्य के आधार पर भारतीय दृष्टिकोण यानि में हरित वृक्षों को तोड़ना तक पाप समझता है। इसी आत्म-दृष्टि के आधार पर उसके–'शृणोतु ग्रावाणः'–'ओषधे ! त्रायस्व' इत्यादि वचन का अर्थ बन रहे हैं। अतएव मानना पड़ता है कि, जड़–चेतन सभी में आत्मा अवश्य है। दोनों के भेद का व्यवस्थापक है–एकमात्र इन्द्रिय–अनिन्द्रिय भाव। जिन चेतन द्रव्यों में इन्द्रियों का विकास रहता है वे चेतनद्रव्य मान लिए जाते हैं। एवं जिन चेतन जीवों में भूतमात्रा के द्वारा होने वाले तमोमात्राभिभव से इन्द्रियों का विकास नहीं होता, वे चेतन द्रव्य 'अचेतन' नाम से व्यवहृत कर दिए जाते हैं।

१४०–'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' का समन्वय—

निष्कर्ष यही निकला कि प्रज्ञाप्रधान ज्ञानतन्त्र एवं प्राणप्रधान कर्मतन्त्र दोनों के नाम क्रमशः ज्ञान–कर्मेन्द्रियाँ का सम्बन्ध है एवं दोनों क्रमशः मनोलक्षण प्रज्ञानात्मा के मनः–प्राणभागों से अनुप्राणित हैं। मनः–प्राणरूप से यह प्रज्ञानात्मा नित्य है। मन–प्राण से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान–कर्मेन्द्रियवर्ग पृथक् है एवं वाङ्मात्रा से सम्बन्ध रखने वाला अर्थतन्त्र पृथक् है। इसप्रकार प्रज्ञानात्मविवर्त के मनस्तन्त्र ज्ञानतन्त्र कर्मतन्त्र, अर्थतन्त्र ये चार विवर्त होजाते हैं। मनस्तन्त्र विषयग्रहणलक्षण उभयरूप स्वयं प्रज्ञानात्मा है। शेष तीनों तन्त्र अर्थरूप महिमाभाव हैं। इन तीनों महिमाओं में ज्ञान–कर्म, नाम की दो महिमाओं का 'इन्द्रिय' रूप एक स्वतन्त्र विभाग है अनिन्द्रिय अर्थतन्त्र का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसप्रकार चार तन्त्रों के मनस्तन्त्र इन्द्रियतन्त्र अर्थतन्त्र ये तीन विवर्त रह जाते हैं। जब तक अर्थतन्त्र बहिर्यम् ही बना रहता है तब तक मन–इन्द्रिय–अर्थ यह क्रम है। इन्द्रियद्वारा भावनावासनासंस्काररूप से जब अर्थ (इन्द्रियार्थ अन्तर्यम् की वस्तु बनते हुए मनोधरातल पर प्रतिष्ठित होजाते हैं तो 'मन–अर्थ–इन्द्रिय, यह क्रम होजाता है। अध्यात्मसंस्था में यही क्रम प्रधान है। पृथिवी के प्रवर्ग्यभाग से पाञ्चभौतिक पिण्ड शरीर का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। यही से अध्यात्मसंस्था का उपक्रम है एवं पुण्यात्मा पर इस अध्यात्म–संस्था का उपसंहार है। क्योंकि पिण्ड भौतिक शरीर से आध्यात्मिक पर्वों का उपक्रम होता है अतएव इसे पर्वक्रमव्यवस्थाप्रदर्शन में छोड़ दिया जाता है। शरीरानन्तर प्रथम स्थान ज्ञान–कर्मतन्त्रात्मक इन्द्रियवर्ग का पड़ता है। तदनन्तर दूसरा स्थान अर्थतन्त्रात्मक सांस्कारिक आध्यात्मिक अर्थों का पड़ता है तदनन्तर स्वयं प्रज्ञानात्मलक्षण मन का स्थान पड़ता है। इसी स्वाभाविक क्रम को लक्ष्य बनाते हुए भगवान् ने कहा है–'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः'। मूलभूमि त–पराभिव–प्राणमात्रा इन्द्रियवर्ग है। इनसे परे भूतमात्राप्रधान शब्दादि तन्मात्रारूप पञ्च सांस्कारिक इन्द्रियार्थ हैं। तत्पर प्रज्ञामात्राप्रधान प्रज्ञानमन है।

इन्द्रियाणि प्राणमात्रा हैं, अर्था भूतमात्रा हैं, मनः प्रज्ञामात्रा है, तीनों क्रमशः कर्म्म-अर्थ-ज्ञानतन्त्र हैं। तीनों अविनाभूत हैं। तीनों त्रिपुटी-भाव से युक्त हैं, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। तीनों का समुच्चितरूप ही 'प्रज्ञानात्मविवर्त्त' है। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादि वचन से दोनों तात्पर्य्यों का संग्रह हो रहा है। भूतमात्राप्रधान अर्थवर्ग इन्द्रियों से भिन्न है, विजातीय है, यह एक तात्पर्य्य है। एवं प्रज्ञा-प्राण-भूत, तीनों की त्रिपुटी है, यह दूसरा तात्पर्य्य है।

बतलाया गया है कि, आध्यात्मिक इन्द्रियार्थ संस्थारूप से मन और इन्द्रिय, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव 'इन्द्रियाणि अर्थाः-मनः' यही क्रम समीचीन बनता है। परन्तु कितनें एक वैज्ञानिकों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि, 'अर्थाः' का स्थान इन्द्रियों से पहिले ही मानना चाहिए। यह ठीक है कि, संस्थारूपता में इन्द्रियार्थ इन्द्रियों से परस्थान में एवं मन से अवरस्थान में ही प्रतिष्ठित हैं। तथापि इन अर्थों के मूलभूत (जिनके आधार पर तात्कालिक अर्थों का अध्यात्मसंस्था में उदय होता है वे बाह्यभूत) अर्थ बहिर्जगत् की वस्तु बनते हुए इन्द्रियों से प्रथमस्थानीय ही माने गए हैं। यदि इन्द्रियार्थों को इन भूतों से अनुगत माना जाता है, तो भौतिक शरीर, इन्द्रियार्थ इन्द्रिय, मन, यह निष्कर्ष निकलता है।

१४१-त्रिपर्वा प्रज्ञानात्मा से त्रिपर्वा भूतात्मा का समतुलन—

स्मरण कीजिए,-पृथिवीपिण्ड' के चिति चितेनिधेय नामक दो विवर्त्तों का पूर्व में विश्लेषण हुआ है। एवं वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, चितिरूपपृथिवी भूपिण्ड है, इसके प्रवर्ग्यभाग से पाञ्चभौतिक पिण्ड (मर्त्य) शरीर का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। दूसरा चितेनिधेय प्राणभाग अग्नि वायु, इन्द्र भेद से तीन भागों में परिणत रहता है। अग्निप्रधानभाग वैश्वानरात्मा है, वायुप्रधानभाग तैजसात्मा है, इन्द्रप्रधानभाग चिदिन्द्रिय प्रज्ञानात्मक सोम से संयुक्त होकर 'प्राज्ञात्मा' कहलाने लगता है। तीनों की समष्टि ही 'सूत्रात्मा' नामक वैश्वकर्म्मणरूप कर्म्मात्मा है। इस पार्थिव कर्म्मात्मा के वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ तीनों आत्मपर्व क्रमशः चान्द्र प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा-भूतमात्रा, इन तीन आत्मपर्वों से अनुगृहीत हैं। वैश्वानर, और भूतमात्रा, दोनों सजातीय हैं। तैजस और प्राणमात्रा दोनों सजातीय हैं। प्राज्ञ और प्रज्ञामात्रा दोनों सजातीय हैं। दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि, प्रज्ञामात्राप्रधान 'प्रज्ञानमन' और 'प्राज्ञात्मा', दोनों समतुलित हैं। प्राणमात्राप्रधान ज्ञानकर्मेन्द्रियाँ और तैजसात्मा, दोनों समतुलित हैं। भूतमात्राप्रधान इन्द्रियार्थ और वैश्वानरात्मा दोनों समतुलित हैं। यही प्राकृतिक स्थिति है—

प्रज्ञामात्रा—तत्प्रधानं प्रज्ञानमनः	—{ तत्समष्टिस्तः प्राज्ञात्मा
प्राणमात्रा—तत्प्रधानानीन्द्रियाणि	—{ तत्समष्टिस्तैजसात्मा
भूतमात्रा—तत्प्रधाना इन्द्रियार्थाः	—{ तत्समष्टितो वैश्वानरात्मा
त्रिपर्वा प्रज्ञानात्मा चान्द्रः	त्रिपर्वा—भूतात्मा पार्थिवः

चित्यं पाञ्चभौतिकं शरीरम्

१४२—आत्मोपक्रमस्थान, एवं उपसंहारस्थान—

उक्त क्रमानुसार भूतमात्रा वैश्वानरात्मा से सम्बन्धित रहती हुई इन्द्रियों से अवरस्थान में ही प्रतिष्ठित मानी जायगी। कारण वैश्वानर अर्थप्रधान है तैजस क्रियाप्रधान है प्राज्ञ ज्ञानप्रधान है। उधर इन्द्रियार्थ अर्थात्मक हैं इन्द्रियाँ क्रियात्मिका हैं मन ज्ञानात्मक है। चित्य भौतिक शरीर, और अर्थप्रधान वैश्वानरात्मा दोनों भूतप्रधान हैं, अतएवतोव प्रज्ञानानुगता इन्द्रियार्थमात्रा का इसमें ही अन्तर्भाव मानना न्यायसिद्ध होता है। तात्पर्य यही है कि, प्रकृति—दृष्टि से इन्द्रियार्थों का भौतिक शरीर में अन्तर्भाव मानना जहाँ ठीक है वहाँ आध्यात्मिक स्थिति—दृष्टि से इन्द्रियार्थों को इन्द्रियों से परे मानना भी युक्त है। दृष्टिकोणभेद से दोनों सिद्धान्त सुसमन्वित हैं।

चित्य भौतिक शरीर, चित्येनिधेय वैश्वानर—तैजस—प्राज्ञमूर्ति पार्थिव भूतात्मा, भूतमात्राप्रधान इन्द्रियार्थ तीनों भूतभाव में अन्तर्भूत हैं। तीनों की समष्टि उपक्रमस्थान है। अतएव [illegible] पार्थिव भूतप्रपञ्च को श्रुति ने उपक्रमरूपा छोड़ते हुए यहाँ से अध्यात्मभावों की परपरम्परा आरम्भ करते हुए कहा है—इन्द्रियाँ पर हैं (शरीर, भूतात्मा इन्द्रियार्थरूप भूतप्रपञ्च से पर स्थान में इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं)। इन्द्रियों से पर स्थान में प्रज्ञानात्मा नामक 'मन' प्रतिष्ठित है। मन से परस्थान में विज्ञानात्मा नामक बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है। विज्ञानात्मा से परस्थान में महानात्मा प्रतिष्ठित है। महानात्मा से परस्थान में शान्तात्मा नामक अव्यक्तात्मा प्रतिष्ठित है। सर्वान्त में गूढोत्मा नामक पुरुषात्मा प्रतिष्ठित है, यही अध्यात्मसंस्था की पराकाष्ठा (अन्तिम पर्व) है। क्या पुरुषात्मा से परे अध्यात्मसंस्था में कुछ नहीं है ? । षोडशीविश्वात्मा अव्ययपुरुष से परस्थान में मायीपरात्पर प्रतिष्ठित है। परात्पर से परस्थान में मायातीत निष्कलतत्त्व प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से तो मायातीत निष्कल को पराकाष्ठा मानना चाहिए था। फिर श्रुति ने दो श्रेणियों से अवरकक्षा में प्रतिष्ठित रहने वाले पुरुषात्मा को ही पराकाष्ठा किस आधार पर मान लिया ? । तत्स्वरूप यद्यपि मायातीत, अतएव निर्भावातीत निष्कल ही पराकाष्ठा बनता है, परन्तु वह परागति नहीं बनता। गति सञ्चार है, सञ्चार क्रिया है

भिन्न विश्व का स्वरूप है, विश्व मायोपाधिक है। मायोपाधिक—गतिधर्मावच्छिन्न विश्व का अवसान अव्ययात्मा (पुरुषात्मा) पर ही हो रहा है, जैसाकि—'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति' इत्यादि श्रुत्यक्षर से भी प्रमाणित है। गत्यात्मक आधिदैविक-आध्यात्मिक-विश्व की पराकाष्ठा पुरुष ही बनता है। एकमात्र गतिभावापन्न विश्वकाष्ठा की दृष्टि से ही श्रुति ने पुरुषात्मा को पराकाष्ठा मान लिया है। इसी गतिभाव को स्पष्ट करने के लिए श्रुति को 'सा काष्ठा' के साथ साथ—'सा परा गतिः' कहना पड़ा है। गति परिच्छिन्न धर्म है। इधर विश्वातीत निष्कलब्रह्म अपरिच्छिन्न बनता हुआ गतिशून्य है। अतः गत्यात्मक विश्व की दृष्टि से स्थित्यात्मक निष्कल कभी पराकाष्ठा नहीं माना जा सकता। निम्न लिखित वचनों के द्वारा इसी आत्मसोपानपरम्परा का दिग्दर्शन हो रहा है—

> इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः *सत्त्वमुत्तमम्।
> सत्त्वादधि महानात्मा, महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥१॥
> अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥
> यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥२॥
> —कठोपनिषत् ।६,७।।

पुरुषात्मा (षोडशी—गूढोत्मा) —— सर्वसंहारस्थानम् (अव्यक्तात्तु परः पुरुषः

अव्यक्तात्मा —— अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः —महतोऽव्यक्तमुत्तमम्

महानात्मा —— महानात्मा पारमेष्ठ्यः —सत्त्वादधि महानात्मा

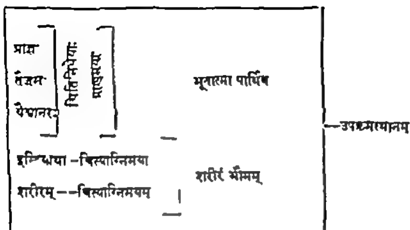
सत्त्वात्मा —— विज्ञानात्मा सौरः —मनसः सत्त्वमुत्तमम्

मन —— प्रज्ञानात्मकम्
इन्द्रियाणि प्रज्ञाप्राणात्मकानि
—— प्रज्ञानात्मा चान्द्रः

—इन्द्रियेभ्यः परं मनः
—(इन्द्रियाणि)

---

* महानात्मा का सत्त्वभाग ही सौर इन्द्र (मघवेन्द्र) से युक्त होकर विज्ञानात्मरूप में परिणत होता है। इस सत्त्व के आत्मानुगत, विषयानुगत, भेद से दो विवर्त हो जाते हैं। आत्मानुगत सत्त्व बुद्धि है यही शुद्ध सत्त्व है। विषयानुगत सत्त्व मन है, यही मलिन सत्त्व है। प्रकृत में शुद्धसत्त्वाभिप्राय से 'मनसः सत्त्वमुत्तमम्' कहा गया है, जिससे विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि ही अभिप्रेत है।



१४३—श्रुतिदृष्टि, और गीतादृष्टि का समन्वय—

यह तो हुई श्रुतिदृष्ट्या आत्मत्रयोपासनमीमांसा । स्वयं गीताचार्य्य ने भी इसी का समर्थन किया है। उपनिषत्, और गीता के दृष्टिकोण में अन्तर केवल यही है कि उपनिषत् ने जहाँ अव्यक्तभावापन्न विज्ञानात्मा (बुद्धि) से पर प्रतिष्ठित आत्माओं का महान्–अव्यक्त–पुरुष इन रूप से पृथक्–पृथक् विश्लेषण किया है वहाँ गीता ने इन तीनों का केवल 'पर' नाम से ग्रहण कर लिया है। 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' कहते हुए गीताचार्य्य ने बुद्धियोग की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। गीताचार्य्य ने क्यों नहीं महान्–अव्यक्त–पुरुष तीनों का पृथक् पृथक् निर्देश किया ?, प्रश्न का यही उत्तर है। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च 'आत्मा और विश्व' इन दो भागों में विभक्त है। आत्मा अमृत है विश्व मर्त्य है। इन दोनों अमृत–मृत्यु–भावों का विभाजक अधिदैवत में सूर्य्य है + अध्यात्म में सूर्य्यात्मक बुद्धि है। सूर्य्य से नीचे नीचे मर्त्य विश्व का साम्राज्य है ×, सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृतात्मा का साम्राज्य है। सूर्य्य में दोनों का समन्वय है। अमृतमृत्युमय सूर्य्य मृत्युरूप अमृतात्मा का उपादान है मृत्युमय सूर्य्य त्रयोदशविध मर्त्य विश्व का उपादान है। मर्त्य विश्व के सुप्रसिद्ध विभेद हिरण्यगर्भ, प्राण, चन्द्रमा, सर्व्वभूत, ये ४ पर्व हैं। अमृतात्मा के अमृतमूर्त्ति परमेष्ठी स्वयम्भू पुरुष ये चार पर्व हैं। इन ४+१–१ पर्वों की समष्टि ही आधिदैविक विश्वब्रह्म है। अध्यात्म आत्मसंस्था में भी इन्हीं पर्वों के क्रमशः स्थान हैं। मुक्तिप्रदेश [illegible] १ है विराट् वैश्वानर २ है हिरण्यगर्भ तैजस ३ है सर्व्वज्ञ प्राज्ञ ४ है आत्मा प्रज्ञानात्मा ५ है मनुष्योंका अधिबुद्धि ६ है। ६ की ही स्वाहि मर्त्यसत्ता है। अमृतरूपेण विभूति है परमेष्ठी महानात्मा है स्वयम्भू अव्यक्तात्मा है पुरुष पुरुषात्मा है यहीं की समष्टि अमृतात्मा है। मृत्युरूप का अमृतरूप के साथ विभूति के द्वारा योग होता है वही बुद्धियोग है। बुद्धि से परे रहने वाले

+—"निधनममृतं मर्त्यं च" (यजु सं० ३४।३१)।

×—"नयन् हिरण्ययेनादित्यात्, मर मम्भृत्युनार्पम्" (ऋक्० १०।७।११)।

महानात्मा से ही बुद्धियोगसम्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। एकमात्र इसी दृष्टिकोण से भगवान् ने बुद्धि से परे अवस्थित महान्–अव्यक्त–पुरुष तीनों अमृतपर्वों का समष्टिरूप से संग्रह कर लिया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि योग होता है–परम्परया क्रम–क्रमशः ही। सब से पहिले भौतिकशरीर, भूतात्मा, इन्द्रियार्थ, इन तीनों वाङ्मय मर्त्यपर्वों का संयम करना चाहिए, इस वाक्संयमानन्तर प्रज्ञानमन का संयम करना चाहिए। प्रज्ञानमन का ज्ञानात्मा नामक बुद्धि में योग करना चाहिए। बुद्धि का महानात्मा में, महानात्मा का अव्यक्तात्मा में योग करना चाहिए। इस पारस्परिक योग से ही अन्त में पुरुषात्मयोगलक्षणा बुद्धियोगसम्पत् प्राप्त होती है *। तात्पर्य्य प्रकृत में कहने का यही है कि, गीता ने महान्–अव्यक्त–पुरुष तीनों का अमृतत्वेन एकरूप से ही संग्रह कर लिया है, जैसा कि आगे के वचन से प्रमाणित है—

अधिदैवतम्		अध्यात्मम्		
१–पुरुषात्मा	(४)	पुरुषात्मा	—उपसंहारस्थानम्	अमृतम्–आत्मा
२–स्वयम्भू	(३)	अव्यक्तात्मा	—यो बुद्धेः परतस्तु सः	
३–परमेष्ठी	(२)	महानात्मा		
४–अमृतसूर्य्यः	(१)	विद्याबुद्धिः	—मनसस्तु परा बुद्धिः	निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च
५–मर्त्यसूर्य्यः	(६)	अविद्याबुद्धिः		
६–चन्द्रमाः	(५)	प्रज्ञानात्मा	—इन्द्रियेभ्यः परं मनः	
*	(*)	इन्द्रियाणि	—इन्द्रियाणि पराण्याहुः	
७–सर्वज्ञ	(४)	प्राज्ञात्मा	—उपक्रमस्थानम्	मर्त्य–विश्वम्
८–हिरण्यगर्भः	(३)	तैजसात्मा		
९–विराट्	(२)	वैश्वानरात्मा		
		इन्द्रियार्थाः		
१०–भूपिण्ड	(१)	शरीरम्		

*–यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ, स्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ (कठोपनिषत् १।३।१३।)

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्य: परं मन ।
मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धे: परतस्तु स: ॥१॥
एवं बुद्धे: परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥२॥ (गीता३।४२,४३,।)।

जैसा कि, पूर्व में बतला चुके हैं स्थितिदृष्टि से इन्द्रियार्थों का सन्निवेश इन्द्रियों से परस्थान में एवं प्रज्ञानमन से अवरस्थान में मानना पड़ता है। और इस दृष्टिकोण से उपक्रमस्थान में इन्द्रियार्थों को छोड़ कर केवल भौतिक शरीर, तथा वैश्वानर तैजस-प्राज्ञमूर्ति भूतात्मा की विवर्त्त ही शेष रह जाते हैं। दोनों से पर इन्द्रियवर्ग, तदनन्तर इन्द्रियार्थ तदनन्तर प्रज्ञानमन इत्यादि क्रम व्यवस्थित है। स्वयं श्रुति ने भी इस स्थितिमूलक दूसरे व्यवस्थाक्रम का भी समर्थन किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

इन्द्रियेभ्य: परा ह्यर्था, अर्थेभ्यश्च परं मन: ॥
मनसस्तु परा बुद्धि, र्बुद्धेरात्मा महान् पर: ॥१॥
महत: परमव्यक्त, मव्यक्तात् पुरुष: पर: ॥
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति: ॥२॥ कठोपनिषत् १।३।१०,११,।

स—एष स्थितिमतात्मको दृष्टिकोण: —

पुरुष:—अव्यक्तात् पुरुष: पर:—उपसंहारस्थानम्
अव्यक्तम्—महत: परमव्यक्तम्
महान्—बुद्धेरात्मा महान् पर:
बुद्धि:—मनसस्तु परा बुद्धि:
मन:—अर्थेभ्यश्च परं मन:
इन्द्रियार्था:—इन्द्रियेभ्य: परा ह्यर्था:
इन्द्रियाणि—(गीता—इन्द्रियाणि पराणि)
प्राज्ञ:
तैजस:
वैश्वानर:
शरीरम्
—उपक्रमस्थानम् (भूतात्मा)

—•—

१४४—षट्पदात्मानुगता अष्टपदात्मस्वरूपविश्रान्ति—

आत्मप्रतिपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले पुरुष–अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–आदि सभी आध्यात्मिक आत्मविवर्त्तों का दिग्दर्शन पूर्व प्रकरण से गतार्थ होचुका है। रह जाता है केवल भूतात्मा। दो शब्दों में इस का भी इतिवृत्त सुन लीजिए। यह अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है कि भूपिण्ड और भूमहिमा भेद से भौतिक पार्थिव विवर्त्त दो भागों में विभक्त है। इनमें भूपिण्डोपलक्षण भूतात्मा चित्यात्मा है, एवं भूमहिमोपलक्षण भूतात्मा चितेनिधेयात्मा है। महिमात्मक भूतात्मा 'कर्म्मात्मा' कहलाता है। यही तैजसलक्षण आध्यात्मिक जीवात्मा है। यही कर्म्मफलभोक्ता लोकान्तरगामी आत्मा है। प्रज्ञानात्मलक्षण मन, एवं इन्द्रियाँ कर्म्मफलभोग-साधनमात्र हैं। इसी फलभोगसम्बन्ध से इन्द्रिय–मनोयुक्त इस भूतात्मा को–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इत्यादिरूप से 'भोक्तात्मा' कहा गया है।

उक्तलक्षण भूतात्मा वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ भेद से त्रिपर्वा है। वैश्वानर अग्निप्रधान अर्थात्मा है, तैजस वायुप्रधान क्रियात्मा है, प्राज्ञ इन्द्रप्रधान ज्ञानात्मा है। इन तीनों का आत्मत्व महानुगत सोमगर्भित चिद्ब्रह्म पर ही अवलम्बित है, जैसा कि–'ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्' (केनोपनिषत्) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। सम्पूर्ण तलवकारोपनिषत् (केनोपनिषत्) में अग्नि–वायु–इन्द्रविभूतिद्वारा इसी व्यापक चिदात्मविभूति का निरूपण हुआ है। शरीर अस्थि–मांस–रुधिरादि भूतधातुओं का निर्म्माण करना निर्माण कर इन भौतिक धर्मों को यावदायुर्भोगपर्य्यन्त स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना अर्थशक्तियुक्त–अग्निप्रधान वैश्वानर–पर्व का कर्म्म है। अग्निप्रधान वैश्वानर ही भुक्तान्न को रसासृगादि धातुरूपों में परिणित करता है, एवं जब तक वैश्वानराग्नि शरीर में आलोमभ्य–आनखाग्रेभ्यः–व्याप्त रहता है, तभी तक भौतिक शरीर की स्वरूप-रक्षा है। इसप्रकार त्रिपर्वा भूतात्मा का अर्थशक्तियुक्त वैश्वानर पर्व अध्यात्मसंस्था के अर्थतन्त्र का स्वोंस्वी बन रहा है। शारीर रसासृगादि तरल धातुओं को रसवाहिनी 'शिरा' नामक नाड़ियों के द्वारा आपादमस्तक गतिशील बनाए रखना, प्राणापानव्यानसमानोदानादि वायुविवर्त्तों को वायुवाहिनी 'धमनी' नामक नाड़ियों के द्वारा प्रवाहित बनाए रखना, उत्पन्न–मातृगर्भस्थित शिशु को इस रस–वायु–सञ्चार द्वारा आत्मस्वरूप प्रदान करना आदि आदि गत्यात्मक यावदावत् क्रियमाण क्रियाशक्तियुक्त–वायुप्रधान–तैजसपर्व का कर्म है। शारीर धर–परमाणुओं को (क्रियाकूट को) 'इदमस्मायम्' रूप एक (कूटस्थ) स्वरूप प्रदान करना, ज्ञानवाहिनी 'स्नायु' नामक नाड़ियों के द्वारा ज्ञानमात्रा का सर्वाङ्गशरीर में संचार करते रहना, प्रज्ञानमनो द्वारा ज्ञान–कर्म्मेन्द्रियों को भावना–भावनासंस्कार से युक्त बनाए रखना आगत संस्कारों को अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रख तद्द्वारा तदनुसार शुभाशुभ उदर्कों का भोग करते रहना, यह सब ज्ञानशक्तियुक्त–इन्द्रप्रधान–प्राज्ञ नामक तृतीय पर्व के कर्म्म हैं। आध्यात्मिक यावदावत् कर्म्मप्रपञ्च इसप्रकार अर्थ–क्रिया–ज्ञान, भेद से तीन भागों में विभक्त है। एवं चित्य शरीरायतन में प्रतिष्ठित अग्नि–वायु–इन्द्र–त्रयमूर्ति अर्थ–क्रिया–ज्ञान–शक्तियुक्त, वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ लक्षण कर्म्मात्मा के द्वारा इस आध्यात्मिक कर्म्मविवर्त्त का यथाविधि निर्वाह हो जाता है। जब त्रिपर्वा शरीरविशिष्ट भूतात्मा से सब कुछ गतार्थ हो जाता है, तो एक चौथे व्यापक ब्रह्म (चिदात्मा) की सत्ता और क्यों मानी गई है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान पूर्व से गतार्थ है। इन तीनों की मूलप्रतिष्ठा चौथा चिद्ब्रह्म ही है। अधिदैवत में सर्वेन्द्र, हिरण्यगर्भवायु, विराडग्निरूप से, एवं अध्यात्म में प्राज्ञेन्द्र, तैजसवायु, वैश्वानराग्निरूप से यद्यपि अग्नि–वायु–इन्द्र का ही विजय प्रतीत हो रहा है। तथापि

वस्तुगत्या इस विश्व का मूलप्रभव उस व्यापक विश्वात्मा को ही है, जिससे न केवल देवसत्यलक्षणा त्रिपर्वा-भूतात्मा ही, अपितु अव्ययलक्षणा अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-भी स्वस्वरूप में समर्थ बने हुए हैं। यही तो हमारा भेदसहिष्णु-अभेदवाद है। उपाधिलक्षणा आत्मा अनेक है। परन्तु 'प्रत्येक-सर्वेक' रूप से चिदाभासरूपव्यापक क्षरव्ययात्मा अपारपारीण है एक है। प्रत्येक क्षरव्ययात्मा मनःप्राणवाङ्मय से त्रिपर्वा है। त्रिपर्वा प्रत्येक क्षरव्ययात्मा के साथ सर्वव्यापक तुरीय अक्षरव्ययात्मा आधाररूप से प्रतिष्ठित है। इसी के सम्बन्ध से प्रत्येक क्षरव्ययात्मा चतुष्पाद्ब्रह्म कहलाता है। उदाहरण के लिए प्रज्ञान भूतात्मा को ही लीजिए। श्रुति कहती है—

"सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्। स्थूलभुग्वैश्वानरः-प्रथमः पादः। प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः। चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्याम्यी, एष योनिः सर्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। नान्तःप्रज्ञं, न बहिःप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, अदृष्ट-मव्यवहार्य-मग्राह्य-मलक्षण-मचिन्त्य-मव्यपदेश्य-मैकात्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवं, अद्वैतं, चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा, स विज्ञेयः"।

—माण्डूक्योपनिषत्।

१४५—त्रिविध जीवात्मवर्ग—

अधिदैवतप्रजापति ईश्वर है, अध्यात्मप्रजापति जीव है। इस जीवात्मा के ससंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, असंज्ञ भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं। अण्डज-जरायुज-ऊष्मज-भेद भिन्न जीववर्ग ससंज्ञ हैं। इन में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ (अर्थ-क्रिया-ज्ञान) तीनों का विकास है। अतएव इन्हें 'त्र्यात्मक जीव' कहा जाता है। ओषधि-वनस्पति उद्भिज्ज जीव अन्तःसंज्ञ हैं। इनमें वैश्वानर-तैजस, इन दो भूतात्मपर्वों का विकास है। प्राज्ञपर्व इनमें अभिभूत है। तैजस सम्बन्ध से इन वृक्षादि अन्तःसंज्ञ जीवों में आसक्तताऽपि तो हो जाती है, किन्तु प्रज्ञानुगत इन्द्रियविकास नहीं होने पाता। अतएव इन्हें 'अन्तःसंज्ञ' कहना अन्वर्थ बनता है। सुवर्ण, माणिक्य, हरितालादि खनिजजीव असंज्ञ हैं। इनमें केवल अर्थप्रधान वैश्वानर का विकास है। अतएव इन्हें 'एकात्मकजीव' कहा जाता है। प्राज्ञाभिभव से न तो इनमें इन्द्रियविकास है। एवं तैजसाभिभव से न इनमें आसक्तताऽपि ही होती। 'जायते-अस्ति-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते नश्यति' योगात्मानुगत ये षड्भावविकार तीनों जीवों में समान हैं। ससंज्ञजीव चेतनजीव हैं, अन्तःसंज्ञजीव अर्द्धचेतनजीव हैं, असंज्ञजीव अचेतनजीव हैं। तीनों में से अन्तःसंज्ञ असंज्ञ दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही स्थिति-विज्ञानात्मक आधिभौतिकप्रजापति है। प्रज्ञा के अभाव से न इनमें संस्कारप्रक्रिया होती, न लोकान्तरगमन होता। ससंज्ञजीव ही प्रज्ञाद्वारा संस्कारग्रहण की योग्यता रखता है। यही 'अध्यात्मम्' है। यही संस्कारद्वारा 'देही कर्मगतिं गतः' का पात्र बनता है *। इसप्रकार आध्यात्मिक भूतात्मा के ये तै मा पर्वों के

* व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः॥
—भागवते

तारतम्य से अध्यात्मसंस्था के ही अध्यात्म, अधिभूत, ये दो विवर्त हो जाते हैं, जिन दोनों की मूलप्रतिष्ठा निरुपित अधिदैवतप्रजापति (ईश्वर) माना गया है—

१ [अण्डजजीवा —{ पक्षिणः
जरायुजजीवा —{ पशवो-मनुष्यादयः
ऊष्मजजीवा —{ कृमि-मत्कुण-यूकादयः] —{ वैश्वानरतैजसप्राज्ञकृतात्मानः ससंज्ञा व्यक्तसमका चेतनाः

२ [उद्भिज्जजीवा —{ ओषधिवनस्पतयः]—वैश्वानरतैजसकृतात्मानोऽन्तःसंज्ञाः—
अव्यक्तसमका अर्द्धचेतनाः

३ [खनिजजीवा —{ सुवर्णादि धातवः]—वैश्वानरकृतात्मानोऽसंज्ञाः—व्यक्तसमकाः—अचेतनाः

१—वैश्वानरतैजसगर्भिता प्राज्ञजीवा——ज्ञानप्रधाना—ससंज्ञाः]—अध्यात्मम्

२—वैश्वानरप्राज्ञगर्भिता—तैजसजीवा—क्रियाप्रधाना—अन्तःसंज्ञाः }
३—प्राज्ञतैजसगर्भिता——वैश्वानरजीवा—अर्थप्रधाना—असंज्ञाः } —अधिभूतम्

अनेक दृष्टि से आत्मस्वरूप की मीमांसा की गई। अब एक तात्त्विक दृष्टि की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पाठकों को यह स्मरण होगा कि पूर्व में हमनें आध्यात्मिक आत्मपर्वों के १५ ७ ये दो संख्याविभाग बतलाए हैं—[देखिए पृष्ठ १४४]। आत्मस्वरूप—संस्थान में महिमा [अव्यक्त], महान्, विज्ञान [बुद्धि] प्रज्ञान वैश्वानर [चिदाभासात्मा] वायु [हंसात्मा], शरीर ये सात पर्व माने गए हैं। अब प्रकृत तात्त्विक दृष्टि से इन सात को तीन ही आत्मविवर्तों में अन्तर्भूत किया जाता है। भूपिण्डानुगत शरीर, भूवाय्वनुगत हंसात्मलक्षण वायु, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, ये पाँच पर्व पार्थिव विवर्त हैं। पाँचों में शरीर बाह्यात्मा है वायु अन्तरात्मा है वैश्वानर आदि तीनों की समष्टि कर्मात्मा है तीनों की समष्टि भूतात्मा है। इस दृष्टि से शरीर-वायु-वैश्वानर, तीनों मिलकर एक वस्तुतत्त्व बन जाते हैं। बतलाया गया है कि, कर्मात्मा का प्राज्ञपर्व भोक्ता है, एवं इसे भोगसाधनभूत इन्द्रियसंयुक्त प्रज्ञानमन का आश्रय लेना पड़ता है। इसी आधार पर कर्मात्मा प्रज्ञानमन इन्द्रियवर्ग तीनों की समष्टि को 'भोक्तात्मा' कहा गया है जो तत्त्वतः भूतात्मा ही है। इसप्रकार चौथे प्रज्ञानलक्षण पर्व का भी भूतात्मस्वरूप में ही अन्तर्भाव हो जाता है। फलतः प्रज्ञान वैश्वानर, वायु, शरीर, आत्मपर्वसंस्थान में से इन चार पर्वों की समष्टि का एक 'भूतात्मा' नाम से ग्रहण किया जा सकता है। यही प्रथम भूतज्योति है। इस 'भूतज्योति' का आधार विज्ञानात्मा है जिसे हम दूसरी 'प्राणज्योति' कह सकते हैं। इस विज्ञानात्मलक्षणा प्राणज्योति का आधार महानात्मा है जिसे हम तीसरी 'प्रज्ञाज्योति' कह सकते हैं। महल्लक्षण महान् प्रज्ञाज्योति है यही ज्ञानज्योति है। विज्ञानलक्षणा बुद्धि प्राणज्योति है यही क्रियाज्योति है। भूतात्मलक्षणा भोक्तात्मा भूतज्योति है यही अर्थज्योति है। अर्थज्योतिर्लक्षण भूतात्मा नाममात्र की प्रतिष्ठा है यही प्रथम नामरूप है। क्रियाज्योतिर्लक्षण विज्ञानात्मा कर्ममात्र

की प्रतिमा है यही द्वितीय प्राणतन्त्र है। ज्ञानज्योतिर्लक्षण महानात्मा रूपभाव की प्रतिमा है, यही तृतीय मनस्तन्त्र है। मनोमय महानात्मा, प्राणमय विज्ञानात्मा वाङ्मय भूतात्मा, तीनों की समष्टि ही मनःप्राण वाङ्मय साक्षिवाची पुरुषात्मा के महिमारूप हैं, जिस महिमा को हमने सातवाँ अव्यक्तात्मा कहा है। उन्मुग्ध दशा में यही अव्यक्त है, उद्बुद्धदशा में यही महिमा है। इसप्रकार आठवाँ षोडशीप्रजापति अपने साक्षिवाची मनःप्राणवाङ्मयरूप के द्वारा क्रमशः महान्-विज्ञान-भूतात्मा-रूप से तीन ज्योतिस्तन्त्रों में परिणत हो रहा है। यही मनोऽवच्छेदेन महान् है, यही प्राणावच्छेदेन विज्ञान है, यही वागवच्छेदेन भूतात्मा है। वह स्वयं षोडशी-प्रजापति है ये तीनों उस षोडशी के गर्भ में भुक्त प्रतिमाप्रजापति हैं। षोडशीप्रजापति इन्हीं तीनों प्रतिमा-प्रजापतिरूपों से रूप-कर्म-नाम-भावों का प्रवर्तक बनता हुआ सर्वत्र विराजते, जैसाकि— 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' इत्यादि मन्त्रानुक्रम से प्रमाणित है। यही प्रतिपाद्य अध्यात्मस्वरूप की संक्षिप्त मीमांसा है, जिसके यथानुरूप समन्वय के बिना गीतोक्त-बुद्धियोग की परीक्षा असम्भव बनी रहती है। १६, ७, १, किसी भी दृष्टि से आत्मस्वरूपमीमांसा कीजिए, तत्त्वतः सभी विचार परस्पर समन्वित मिलेंगे जिसका एकमात्र कारण है—एक ही आत्मतत्त्व का नानाविवर्त्तभाव—'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'।

सर्वसंग्रह–

* मायातीतो विश्वातीतो निष्कल

(१४६)–१९–, ७–, ५–, ३–, विभक्त दृष्टिकोणों का समन्वय–

- १–मायी परात्परपुरुषः (१९)
- २–शीतात्मको गूढोत्मा (१८)
- ३–शीतावरोऽव्यक्तात्मा (१७)
  - —गूढात्मा षोडशी   गूढोत्मा षोडशी

- १–अन्तर्यामी स्वायम्भुवः (१६)
- २–सूत्रात्मा स्वायम्भुवः (१५)
- ३–वेदात्मा स्वायम्भुवः (१४)
- ४–चिदात्मा स्वायम्भुवः (१३)
  - —महिमा (७) —अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः (५)

- १–महदात्मा पारमेष्ठ्यः (१२)
- २–प्रकृत्यात्मा पारमेष्ठ्यः (११)
- ३–आकृत्यात्मा पारमेष्ठ्यः (१०)
- ४–यज्ञात्मा पारमेष्ठ्यः (९)
  - —महान् (६) —महानात्मा पारमेष्ठ्यः (४)

गूढात्मा-षोडशी

—महानात्मा-शान्तज्योतिर्मयः (३)

- १–विज्ञानात्मा सौरः (८)
- २–देवात्मा सौरः (७)
  - —बुद्धिः (५) —विज्ञानात्मा सौरः (३) —विज्ञानात्मा-दिव्यज्योतिर्मयः (२)

- १–प्रज्ञानात्मा चान्द्रः (६)
  - —मन (४) —प्रज्ञानात्मा चान्द्रः (२)

- १–प्राणात्मा ऐन्द्रः (५)
- २–तैजसात्मा वायव्यः (४)
- ३–वैश्वानरात्मा आग्नेयः (३)
  - —वैश्वानरः (३)
- १–हंसात्मा वायव्यः (२)
  - —वायुः (२)
- २–भूतात्मा भौमः (१)
  - —शरीरम् (१)

—भूतात्मा पार्थिवः (१)

—भूतात्मा-धर्मज्योतिर्मयः (१)

प्रकारान्तर से—

पुरुषात्मा षोडशी——————स वा एष मनःप्राणवाङ्मयो गूढोत्मा षोडशी–सृष्टिसाक्षी

अव्यक्तात्मा महिमा]–महिमा (७)
महानात्मा—महान्]–महान् (६)
]–महान् (१) प्रज्ञाज्योतिः–ज्ञानज्योतिः (मनः)–रूपम्

विज्ञानात्मा—बुद्धिः]–बुद्धिः (५)]–विज्ञानम् (२) प्राणज्योतिः–क्रियाज्योतिः (प्राणः)–कर्म्म

प्रज्ञानात्मा—मनः]–मनः (४)

प्राज्ञात्मा इन्द्रः
तैजसात्मा–वायुः
वैश्वानरात्मा–अग्निः
]–वैश्वानरः (३)

हंसात्मा–वायुः]–वायुः (२)
भूतात्मा–शरीरम्]–शरीरम् (१)
]–भूतात्मा (३) भूतज्योतिः–अर्थज्योतिः (वाक्)–नाम

मूर्त्तः क्षेत्रज्ञात्मा षड्विंशतिविधः



इस षोडशात्मवाद के आधार पर भगवान् मनु ने आध्यात्मिक प्रकरणस्थ आत्मविवर्तों का क्षेत्रज्ञ महानात्मा विज्ञानात्मलक्षण क्षेत्रज्ञात्मा भूतात्मा इन तीन आत्मपर्वों में ही अन्तर्भाव मान लिया है, जैसाकि निर्दिष्ट वचनों से स्पष्ट है।

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ॥——विज्ञानात्मा (२)
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥–भूतात्मा

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ॥ }
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥ } महानात्मा (१)

१४७–अधिभूतस्वरूप का सिंहावलोकन—

योगेश्वर के वास्तविक स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिज्ञात सात मीमांसाओं में से केवल अधिभूत–स्वरूपमीमांसा शेष रही है, जिसके सम्बन्ध में स्वतन्त्ररूप से इसलिए कुछ भी वक्तव्य शेष नहीं है कि, पूर्व की अधिदैवत–अध्यात्मस्वरूप-मीमांसाद्वयी से अधिभूतस्वरूपमीमांसा सर्वात्मना गतार्थ बन रही है। यहाँ केवल स्वकल्प प्रकरणानुरोध से इसके सम्बन्ध में सिंहावलोकन कर लिया जाता है।

१४८–त्रिवृद्भावापन्न षोडशीपुरुष—

'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस श्रौत सिद्धान्तानुसार एक ही षोडशीप्रजापति अधिदैवत-अध्यात्म अधिभूत, इन तीन विवर्तों में परिणत हो रहा है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। षोडशीप्रजापति मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ सर्वेश्वरी है, जैसा कि अध्यात्मस्वरूपमीमांसा का उपसंहार करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है। मनोमय षोडशी प्रज्ञा–(ज्ञान)–प्रधान है, यह ज्ञानरूप अव्यय की विकासभूमि है, यही प्रथम ज्ञानतन्त्र है। प्राणमय षोडशी प्राण–(क्रिया)–प्रधान है, यह क्रियारूप अक्षर की विकासभूमि है, यही द्वितीय क्रियातन्त्र है। वाङ्मय षोडशी भूत–(अर्थ)–प्रधान है यह अर्थरूप क्षर की विकासभूमि है, यही तृतीय अर्थतन्त्र है। तीनों उक्त त्रिवृद्भाव के सम्बन्ध से त्र्यात्मक बनते हुए क्रमशः अव्यय–अक्षर–क्षर–प्रधान हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है •।

❀ 'तासां त्रिवृतम्–एकैकां करवाणि' (छान्दोग्य उप॰) इत्यादि त्रिवृत्करणसिद्धान्तानुसार तेज–अप्–अन्न' इन तीन पार्थिव–भूतों के त्रिवृत्करण की भाँति अन्नमयात्मक मन, अपोमय प्राण, तथा तेजोमयी वाक्–इन तीन सर्वेश्वरी आत्मभावों का भी त्रिवृत्करण हो जाता है। इसी त्रिवृत्करण से तीनों (प्रत्येक) त्रिवृद्भावापन्न बने हुए हैं। यही तीनों के त्र्यात्मकत्व का मौलिक रहस्य है जिसके दृष्टिकोणभेद भिन्न अनेक त्रिवृद्भावों का 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथमखण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

१	(१)*मनः (प्रज्ञा) (ज्ञानम्)-अव्ययः (२) प्राणः (प्राणः) (क्रिया)-अक्षरः (३) वाक् (भूतम्) (अर्थः)-क्षरः	वाक्प्राणगर्भितं मनः भूतप्राणगर्भिता प्रज्ञा अर्थक्रियागर्भितं ज्ञानम् क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययः	—अव्ययप्रधानं ज्ञानतन्त्रम्
२	(१)*प्राणः (प्राणः) (क्रिया)-अक्षरः (२) मनः (प्रज्ञा) (ज्ञानम्)-अव्ययः (३) वाक् (भूतम्) (अर्थः)-क्षरः	मनोवाग्गर्भितः प्राणः प्रज्ञाभूतगर्भितः प्राणः ज्ञानार्थगर्भिता क्रिया अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरः	—अक्षरप्रधानं क्रियातन्त्रम्
३	(१)*वाक् (भूतम्) (अर्थः)-क्षरः (२) प्राणः (प्राणः) (क्रिया)-अक्षरः (३) मनः (प्रज्ञा) (ज्ञानम्)-अव्ययः	प्राणमनोगर्भिता वाक् प्राणप्रज्ञागर्भितं भूतम् ज्ञानक्रियागर्भितोऽर्थः अक्षराव्ययगर्भितः क्षरः	—क्षरप्रधानं अर्थतन्त्रम्

१८६–शिरो-हृदय-पाद-मूला-सृष्टित्रित्रयी—

अव्ययप्रधान ज्ञानतन्त्र ही आधिदैविक है, अक्षरप्रधान क्रियातन्त्र ही आध्यात्म है एवं क्षरप्रधान अर्थतन्त्र ही आधिभौतिक है। इसप्रकार एक ही पौरुषी तीन भावों में परिणत हो रहा है। अव्ययपुरुष पुरुष है, पर अक्षर इस पुरुष की प्रकृति है। इस प्रकृति के द्वारा ही क्षर अभिव्यक्त भावों का विकास हुआ है।

पाँच अधियज्ञात्माओं का अन्तर्योगत्वा महानात्मा, विज्ञानात्मा, भूतात्मा, इन तीन आत्मतन्त्रों में अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि–'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' इत्यादि रूप से पूर्वपरिच्छेदोपसंहार में स्पष्ट किया जा चुका है। अव्यक्त महान् की समष्टि महानात्मा है। विज्ञानात्मा एकाकी है। प्रज्ञान, वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–लक्षण कर्मात्मा, यामय्य हंसात्मा, भौतिक शरीर, इनकी समष्टि भूतात्मा है। भूतात्मा अर्थ ज्योति है, विज्ञानात्मा क्रियाज्योति है महानात्मा ज्ञानज्योति है। विवर्त्तभाव के कारण यद्यपि अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–तीनों ही विवर्तों में स्वरूपभेद से तीनों ही ज्योतियों का समन्वय है तथापि तीनों में क्रमशः प्रधानता ज्ञान–क्रिया–अर्थ–तन्त्रों की ही मानी गई है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, दोनों की समष्टि आधिदैविक महानात्मा है, सूर्य्य विज्ञानात्मा है, सचन्द्रा पृथिवी भूतात्मा है। तीनों में से ज्ञानतन्त्रानुगत स्वयम्भू–परमेष्ठी–लक्षण महानात्मा ही ईश्वरतन्त्र है यही अधिदैवतम् है। स्वायम्भुव अव्यक्त पारमेष्ठ्य महान्, दोनों की समष्टि आध्यात्मिक महानात्मा है और बुद्धितत्त्व आध्यात्मिक विज्ञानात्मा है। चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव महिमांशरूप त्रिवर्त्त कर्मात्मा भौम शरीर, तीनों की समष्टि आध्यात्मिक भूतात्मा है। तीनों में से क्रियातन्त्रानुगत सौर विज्ञानात्मा ही जीवतन्त्र है, यही अध्यात्मम् है। स्वायम्भुव गुहाभाव पारमेष्ठ्य–आपोभाव, दोनों की समष्टि आधिभौतिक महान् है। सौर ज्योतिर्भाव आधिभौतिक विज्ञान है। चान्द्र अमृतभाव, पार्थिव रसभाव, दोनों की समष्टि आधिभौतिक भूत है। तीनों में से अर्थतन्त्रानुगत पार्थिव भूत ही जगत्तन्त्र है, यही अधिभूतम् है। इस विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुँचना पड़ा कि, ईश्वरतन्त्र शिरोमूल है, जीवतन्त्र हृन्मूल है, जगत्तन्त्र पान्मूल है। ईश्वरतन्त्र का उपक्रमस्थान स्वायम्भुव ब्रह्मा है, जीवतन्त्र का उपक्रमस्थान सौर इन्द्र है जगत्तन्त्र का उपक्रमस्थान पार्थिव विष्णु है। स्वयम्भू मस्तक है, सूर्य्य हृदय है, पृथिवी पादस्थान है। सृष्टि का उपक्रमस्थान शिरःस्थानीय स्वयम्भू है, स्थिति का उपक्रमस्थान हृदयस्थानीय सूर्य्य है, लय का उपक्रमस्थान पादस्थानीया पृथिवी है। इसी आधार पर वैदिक सृष्टिविज्ञान शिरः–हृदय–पाद–भेद से तीन प्रकार से प्रतिपादित हुआ है, जो प्रकार क्रमशः स्वयम्भूमूला सृष्टिविद्या, हिरण्यगर्भमूला (सूर्य्यमूला) सृष्टिविद्या पृथिवीमूला सृष्टिविद्या एवं शिरोमूला सृष्टिविद्या हृन्मूला सृष्टिविद्या पादमूला सृष्टिविद्या तथा सृष्टिमूला सृष्टिविद्या, स्थितिमूला सृष्टिविद्या, लयमूला सृष्टिविद्या, इन नामों से व्यवहृत हुआ है।

१५ –ईश्वर-जीव, एवं शिपिविष्टात्मक देव-आत्म-भूत-विवर्त्त—

स्वयम्भूप्रधानात्मक सृष्टिप्रपञ्च अव्ययप्रधान आधिदैविक महानात्मलक्षण ईश्वरतन्त्र है इसी के लिए 'ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्' कहा जाता है। ब्रह्मानुगत–अव्ययात्मक यही तन्त्रात्मा 'ईश्वरप्रजापति' कहलाया है। सौरप्रधानात्मक सृष्टिप्रपञ्च अक्षरप्रधान आध्यात्मिक विज्ञानात्मलक्षण जीवतन्त्र है इसी के लिए 'इन्द्रो म आत्मा' कहा जाता है। इन्द्रानुगत–अक्षरात्मक–यही तन्त्रात्मा 'जीवप्रजापति' कहलाया है। पार्थिव विष्णुमय सृष्टिप्रपञ्च क्षरप्रधान आधिभौतिक भूतात्मलक्षण जगत् तन्त्र है, इसी के सम्बन्ध में 'इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणम्' (शत० ५।४।२।५।) यह कहा जाता है।

तात्पर्य्य–अधिदैवत की मूलप्रतिष्ठा पुरुषत्रयी में से अव्ययपुरुष है प्रकृतित्रयी में से 'ब्रह्मा' है। अध्यात्म की मूलप्रतिष्ठा पुरुषत्रयी में से अक्षरपुरुष है, प्रकृतित्रयी में से इन्द्र है। एवं अधिभूत की मूलप्रतिष्ठा पुरुषत्रयी में से क्षरपुरुष है, प्रकृतित्रयी में से विष्णु है। अव्ययानुगत ब्रह्मा, अक्षरानुगत इन्द्र क्षरानुगत विष्णु, किंवा ब्रह्मानुगत अव्यय, इन्द्रानुगत अक्षर, विष्ण्वनुगत क्षर ही क्रमशः ईश्वर–जीव–

शिपिविष्टप्रजापति है। ईश्वर-जीव नाम सुपरिचित हैं। तीसरे अपरिचित शिपिविष्ट का प्रकृत में यही परिचय पर्य्याप्त होगा कि, पुष्टिप्रवर्त्तक पार्थिव पाशमण्डल प्राण ही 'पूषा' कहलाता है यही 'पशुप्राण' नाम से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव मृत पूषा-प्राणयुक्त बनता हुआ पशु है। अनात्म्य-मूर्च्छित-अभिभूतचेतनायुक्त-अनिन्द्रिय-मर्त्य-पार्थिव मृत ही पूषप्राणात्मक पशु है। इसी को 'शिपि' कहा जाता है। इस भूतात्मक शिपि में व्याप्त रहने वाला यज्ञात्मक विष्णु ही 'शिपिविष्ट' कहलाता है जैसाकि निम्न लिखित निगमवचनों से प्रमाणित है—

१–"यज्ञो वै विष्णुः, पशवः शिपिः। यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति"

—तै० ब्रा० १।४।८।५।

२–"शिपिविष्टो वै देवानां पुष्टम्" —तै० ब्रा० १।४।७।७।

३–"यः पशोर्भूमा, या पुष्टिः, तद्विष्णुः शिपिविष्टः"

—तै० ब्रा० ५।२।४।१।

४–"एषा वै प्रजापतेः पशुष्ठा तनूः,-यच्छिपिविष्टः"

—तां० म० ब्रा० १८।७।२६।

ईश्वर-जीव-शिपिविष्ट नामक प्रजापति षोडशीप्रजापति है। तीनों तीन तीन ज्योतियों से युक्त हैं। तीनों संस्थाओं में पाँच पाँच अभिव्यात्मा हैं जिन्हें वैकारिकात्मा भी कहा गया है। इसप्रकार तीनों संस्थाओं में ६-६ आत्मकलाएं हो जाते हैं। जीवकलाएं और शिपिविष्टकला, इन दोनों में ईश्वरकला का समावेश और रहता है। फलतः इन दोनों में ७-७ आत्मकलाएं हो जाते हैं जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है—

१–आधिदैवतम्

(१)–मन—प्रज्ञा—ज्ञानम्—अव्यय
(२)–प्राण—प्राणः—क्रिया—अक्षर
(३)–वाक्—भूतम्—अर्थः—क्षर

}—क्षराक्षरगर्भितो यथानुगतोऽव्यय षोडशी– (१) गूढोत्मा (ईश्वर)

* * *

(१)—गूढोत्मा षोडशी-ईश्वरप्रजापतिः—

५–आत्मकलाः:

(२) १–स्वयम्भू
(३) २–परमेष्ठी
]—आधिदैविको महानात्मा (ज्ञानज्योतिः) (३)

(४) ३–सूर्य्य]— विज्ञानात्मा (क्रियाज्योतिः) (२)

(५) ४–चन्द्रमाः
(६) ५–पृथिवी
]— भूतात्मा (अर्थज्योतिः) (१)

]—'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'

२—अध्यात्मम्—

(१)—प्राण—प्राणाः—क्रिया—अक्षरः
(२)—मन—प्रज्ञा—ज्ञानम्—अव्ययः —क्षराव्ययगर्भित—अन्नानुगतोऽक्षरः षोडशी—(२) गूढोत्मा (जीवः)
(३)—वाक्—भूतम्—अर्थाः—क्षरः

* * *

०—गूढोत्मा—ईश्वरप्रजापतिः—

(१)—गूढोत्मा—षोडशी (जीवप्रजापतिः)

१—आत्मविभागाः—

(२) १—शान्तात्मा
(३) २—महानात्मा —आध्यात्मिको महानात्मा (प्रज्ञाज्योतिः) (३)
(४) ३—विज्ञानात्मा — „ विज्ञानात्मा (प्राणज्योतिः) (२)
(५) ४—प्रज्ञानात्मा
(६) ५—भूतात्मा — „ भूतात्मा (भूतज्योतिः) (१)

—त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी

———

३—अधिभूतम्—

(१)—वाक्—भूतम्—अर्थाः—क्षरः
(२)—प्राण—प्राणाः—क्रिया—अक्षरः —अव्ययाक्षरगर्भितो विश्वानुगतः क्षरः षोडशी—गूढोत्मा (जगत्)
(३)—मन—प्रज्ञा—ज्ञानम्—अव्ययः

* * *

७—गूढोत्मा—ईश्वरप्रजापतिः

(१)—गूढोत्मा षोडशी शिपिविष्टप्रजापतिः

[illegible]

(५)—१—गुहा (स्वायंभुवी)	आधिभौतिकं महत् (रूपज्योतिः) (३)		
(४)—२—आपः (पारमेष्ठ्याः)			
(३)—३—ज्योतिः (सौरम्)	" विज्ञानम् (कर्मज्योतिः)(२)	"त्रीणि ज्योतींषि सचते"	
(२)—४—अमृतम् (चान्द्रम्)	" भूतम् (नामज्योतिः) (१)		
(१)—५—रसः (पार्थिवः)	(नामरूपव्यापारः)		

३ अधिदैवतम्	२ अध्यात्मम्	१ अधिभूतम्	
गूढोत्मा—ईश्वरः (६)—	गूढोत्मा—ईश्वरः (७)—	गूढोत्मा—ईश्वरः (७)	—षोडशीप्रजापतिः
+ + +	गूढोत्मा—जीवः (६)—	गूढोत्मा—शिपिविष्टः (६)	
स्वयम्भूः (५)—	शान्तात्मा (५)—	गुहा (५)	महानात्मा (३)
परमेष्ठी (४)—	महानात्मा (४)—	आपः (४)	
सूर्यः (३)—	विज्ञानात्मा (३)—	ज्योतिः (३)	विज्ञानात्मा (२) — "त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी"
चन्द्रमाः (२)—	प्रज्ञानात्मा (२)—	अमृतम् (२)	भूतात्मा (१)
पृथिवी (१)—	भूतात्मा (१)—	रसः (१)	
ब्रह्मतन्त्रम्	इन्द्रतन्त्रम्	विष्णुतन्त्रम्	
स्वयम्भू-उपलक्षितः	सूर्य-उपलक्षितः	पृथिवी-उपलक्षितः	
महत्-प्रतिष्ठा	विज्ञान-प्रतिष्ठा	भूत-प्रतिष्ठा	
ईश्वरोऽव्ययः	जीवोऽक्षरः	जगत् क्षरम्	
६	[illegible]	[illegible]	

१५१–योगेश्वरस्वरूपोपसंहार—

योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप-परिचय की स्तम्भारम्भ में उत्थानिका हुई थी। तदनुसार उसी की प्रेरणा से उसके तीनों विवर्तों का यथाक्रम परिच्छेदों के द्वारा स्पष्टीकरण किया गया। यद्यपि 'आत्मपरीक्षा' नामक स्वतन्त्र खण्ड में आत्मतत्त्व की दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक, उभय-दृष्टियों से परीक्षा कर दी गई थी, तथापि प्रस्तुत 'बुद्धियोग-परीक्षा' खण्ड में भी आत्मस्वरूपमीमांसा करना इसलिए आवश्यक समझा गया कि, आत्मपरीक्षा-खण्ड में केवल व्यष्टिरूप से ही आत्मस्वरूपमीमांसा हुई है। एक ही आत्मतत्त्व के विविध विवर्तों की दृष्टिकोणभेद से मीमांसा करने के लिए यदि ११२१ उपनिषद्ग्रन्थों का समादर किया जाता है, तो कोई कारण नहीं, दृष्टिकोण-भेद से होने वाली प्रस्तुत आत्मपरीक्षा पाठकों की दृष्टि में अनुपयुक्त न मानी जाय। बुद्धियोग ही योगेश्वर की वास्तविक योगविभूति है। अतएव योगविभूति-स्वरूपप्रदर्शन से पहिले योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा आवश्यक समझी गई। फलस्वरूप योगेश्वर की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति-भाव के प्रतिरूपभूत निष्कल-षोडशी-प्रतिमा अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत, इन ६ विवर्तों का स्पष्टीकरण किया गया। इन ६ ओं विवर्तों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले सातवें अभिव्यक्तिरूपक व्यक्तित्व का ही नाम आत्मस्वरूप-पति है, जिसे भगवान् ने 'ब्राह्मीस्थिति' नाम से व्यवहृत किया है। फलस्वरूप आत्मतत्त्व जिन विवर्त-भावों में परिणत होकर अभिव्यक्त हो रहा है व्यक्तिस्वरूप वही ब्रह्मस्थिति ब्राह्मीस्थिति है वही योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप है। इस तात्त्विक-स्थिति के सम्यक्परिज्ञान से भक्त के आत्मविषयक व्यवधान सभी निवृत्त होजाते हैं, जैसा कि भगवान् ने कहा है—

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
> स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥
> गीता० २।७२।

इति 'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मक प्रथमप्रकरणे

'योगेश्वरस्य तात्त्विकस्वरूपनिरूपणम्' नामक-

द्वितीयस्तम्भः

(१)—२

—●●—

श्री

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपनिरूपण' नामक

द्वितीयस्तम्भ—उपरत

(१)—१

श्रीः –

अथ-बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे

'योगेश्वरानुगत-योगस्वरूपनिरूपणम्' नामकः

तृतीयस्तम्भ

(१)–३



श्रीः

योगेश्वरानुगत-योगस्वरूपनिरूपणम्

तृतीयस्तम्भ



१-मीमांस्य योगस्वरूप—

'बुद्धियोग-परीक्षा' के आधारभूत योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप 'ब्राह्मीस्थिति' के तात्त्विक विश्लेषण पर निर्भर था। अतएव प्रस्तुत प्रकरण में ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदिग्दर्शन अनिवार्य माना गया। ब्राह्मीस्थिति के आधार पर जब हमें योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का आभास हो जाता है, तो अनन्तर योगेश्वर से सम्बन्ध रखने वाले 'योग' के तात्त्विक स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। प्रकृत स्तम्भ में योगेश्वर के उन्हीं तात्त्विक योगों के स्वरूप-निदर्शन का प्रयास किया जायगा, जिनका प्रकारान्तर से भक्तियोगपरीक्षा में प्राकृतिक योगत्रयी, तथा कृत्रिम-योगत्रयीरूप से मीमांसा हुई है। प्रकृत में योगत्रयरूप से ही योगस्वरूप की मीमांसा की जायगी।

२-योगानुगता प्रश्नावली—

भक्तियोगपरीक्षा-उपक्रमखण्ड में आरम्भ में ही (पृ॰ सं॰ १ से पृ॰ सं॰ १९ पर्यन्त) जिस योगत्रयी की मीमांसा हुई है, पाठकों से अनुरोध किया जायगा कि, वे प्रकृत योग-स्वरूप अवलोकन से पहिले एक बार उस पर भी दृष्टि डालें +। कारण, वहाँ योगसम्बन्ध में जिस दृष्टिकोण का विश्लेषण हुआ है, प्रकृत दृष्टिकोण का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। योग के तात्त्विक स्वरूप के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्नों का समाधान सर्वप्रथम अपेक्षित है। 'जिस योगेश्वर के साथ हमें हमारे आत्मा का योग करना है, उस योगेश्वर का क्या स्वरूप है ?', यह पहिला प्रश्न है। 'योगेश्वरात्मा के साथ योग करने वाला 'हम' पदार्थ क्या है'? दूसरे शब्दों में जिस आत्मा का योगेश्वर के साथ योग अभीष्ट भी है ?, यह दूसरा प्रश्न है। योगेश्वर के साथ आत्मा को युक्त करने के साधन क्या क्या हैं ?, यह तीसरा प्रश्न है। योगेश्वर के साथ होने वाले योग का क्या स्वरूप है ?, यह चौथा प्रश्न है। चारों प्रश्नों में से आरम्भ के तीन प्रश्नों का, विशेषतः दो प्रश्नों का (१, २) समाधान पूर्व के 'योगेश्वर का तात्त्विकस्वरूप' नामक स्तम्भ से गतार्थ है।

३-योगानुगत विभक्त आत्मवाद, और प्राचीन व्याख्याता—

पूर्व स्तम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि, ब्राह्मीस्थिति से सम्बन्ध रखने वाला एक ही निर्विशेषब्रह्म अव्यक्तात्मा (विशुद्ध आत्मा) अमृतात्मा, महदात्मा, देवात्मा, इन चार विवर्तभावों में

+ — खण्डद्वयात्मिका, अनुमानतः सहस्रपृष्ठात्मिका 'भक्तियोगपरीक्षा' (सर्वान्तरतम परीक्षात्मक क-ख-नामक गीताभूमिकानुगत ६-७ खण्डरूपा) अभी अप्रकाशित है।

परिणत हो रहा है । विशुद्धरसमूर्ति, ऐश्वर्यनिर्मुक्त नामक निर्विशेषब्रह्म, एवं सर्वबलविशिष्टरसमूर्ति, शारबलधर्म्मनामक परात्परब्रह्म दोनों की समष्टि तत्त्वस्वरूपात्मा है, यही प्रजापतिमर्य्यादा से एकान्ततः असंस्पृष्ट, अतएव विशुद्ध ब्रह्म है जो योगीश्वर, योग योगसाधन आदि योगमर्य्यादाओं से सर्वथा अतीत, अतएव अविज्ञेय, अनुपास्य, अनिर्वचनीय है अतएव जो उपनिषदों में 'नेति–नेति' शब्दों से निर्दिष्ट हुआ है * । निर्विशेष और परात्पर, तत्त्वतः दोनों अभिन्न हैं । अतएव दोनों का एक 'परात्पर' नाम से भी संग्रह किया जा सकता है । निर्विशेष–परात्परोभयमूर्ति यही 'अव्ययब्रह्म' है जो विद्यातीत नाम से भी व्यवहृत हुआ है । उपनिषच्छास्त्रवादी व्याख्याताओंने इसी अव्ययब्रह्म को ज्ञानयोग का लक्ष्य बनाया है जबकि तत्त्वतः इसका किसी भी कृतिमयोग से सम्बन्ध नहीं है । शब्दशास्त्र से इस परात्परब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं है । उपनिषद् व्याससूत्र भगवद्गीता, तीनों की समष्टिरूपा प्रस्थानत्रयी का इस व्यापक विद्यातीत से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रस्थानत्रयी, एवं तदनुगत इतर दर्शन ब्रह्मोपाधिक योगीश्वर के विभिन्न अवस्थों को ही अपना लक्ष्य बना रहे हैं । उदाहरण के लिए ईश–केन–कठ–प्रश्न–मुण्डक–माण्डूक्य–तैत्तिरीय–ऐतरेय–छान्दोग्य–बृहदारण्यक–आदि उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा क्रमशः गूढ़ात्मा प्रज्ञानात्मा मोक्षात्मा विज्ञानात्मा वैश्वानरात्मा प्राणात्मा हिरण्मयात्मा, हिरण्यगर्भात्मा विज्ञानात्मा, आदि तत्त्वात्मा हैं × । अव्ययात्मविभूत्या से युक्त अक्षरब्रह्म (अव्यक्तात्मा) व्याससूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अव्ययात्मा गीताशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है । भूतात्मा वैशेषिक तन्त्र का, महदात्मा सांख्यतन्त्र का लक्ष्य है जैसाकि–'आत्मपरीक्षा' नामक भूमिकाखण्ड के 'दार्शनिक–आत्मपरीक्षा' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है । भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य्य के मतानुसार गीतोक्त 'अव्यय' शब्द जहाँ विशेषण है वहाँ विज्ञानदृष्टि के अनुसार यह अव्यय ही विशेष्य बनता हुआ गीता का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा है । भाष्यकार जहाँ गीता को अक्षरब्रह्म की प्रतिपादिका मान रहे हैं वहाँ विज्ञानदृष्टि इसे अव्ययब्रह्मप्रतिपादिका मान रही है जो अव्ययब्रह्म अतएव विद्यातीत परात्परब्रह्म से सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व है । यद्यपि 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' + इत्यादि श्रुतियाँ सर्वत्र रूप में उस अव्यय परात्पर की ही व्याप्ति बतला रहीं

---

* स विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

× इस विषय का विशद विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–तृतीयखण्ड में देखना चाहिए ।

\+ १–इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति–अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
—ऋक् सं० १।१६४।४६।

२–तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ॥
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥(श्वेता० उप० ४।२) ।

३–यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥(श्वेता० उप० ३।९)।

है। तस्मात् सर्वत्र वही है, सब कुछ वही है। अव्यक्त–विज्ञान–प्रज्ञान–सब वही है। उसके अतिरिक्त अन्य सत्ता को अवसर ही कैसे मिल सकता है। तथापि इन्द्र और मित्र का भेद मिथ्या है किंवा अव्यय और परात्पर विभिन्न नहीं है, यह कथमपि नहीं माना जा सकता। कार्य्यवर्ग का कारणब्रह्म के साथ अवश्य ही अभेद है, परन्तु कार्य्यवर्गों का परस्पर में कथमपि अभेद नहीं माना जा सकता। कटक–कुण्डल–चषक–आदि स्वर्णाकार सुवर्णाभूषणों का कारणभूत सुवर्ण के साथ अवश्य ही तादात्म्यलक्षण अभेद सम्बन्ध है। परन्तु कटक–कुण्डलादि का परस्पर भेदसम्बन्धात्मक असम्बन्ध ही न्यायसिद्ध माना जायगा। आँख–नाक–कान–मुख–सब कुछ 'अहम्' है। परन्तु आँख नाक से, नाक आँख से कान दोनों से विभिन्न है। अवयवों का अवयवी के साथ जहाँ अभेद है, वहाँ अवयवों का परस्पर आत्यन्तिक विभेद है। 'इन्द्रं मित्रं' इत्यादि जिस श्रुति को अभेदपरक लगाया जा रहा है उसी से अवयवभेद का भी समर्थन हो रहा है। तभी तो 'इन्द्र–मित्र–वरुणम्'–इत्यादि विभिन्न नामों का व्यवहार चरितार्थ हो रहा है। सब कुछ वही है यह भी ठीक है। वही सब कुछ है यह भी ठीक है। परन्तु सब परस्पर में सब नहीं है। तत्पश्य–सब कुछ परात्पर है परात्पर सब कुछ है, परन्तु अव्यय, अक्षर, क्षर, अव्यक्त, महान्, प्रज्ञान आदि पृथक् पृथक् रूप से सब कुछ न बनते हुए परस्पर विभिन्न हैं। एवं शास्त्रनिरूपणीय आत्मग्राम इस विभिन्न आत्मवाद से ही सम्बद्ध है, जिसका पूर्व में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। यही सब प्राचीन व्याख्याताओं की, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की ओर से 'युक्तास्ते न विचारणीयपरिवादास्त्विष्ठन्तु तु वर्त्तताम्' समाधान ही पर्य्याप्त है।

४—आत्मस्वरूपसिंहावलोकन—

विश्वातीत अलक्षण सत्यसत्यात्मा नामक परात्परब्रह्म के अनन्तर अमृतसत्यात्मा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। मायोपाधिक निष्कल परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल–आत्मक्षर, इन चारों की समष्टिरूप षोडशीकल आत्मस्वी (प्रजापति) तत्त्व ही गूढ़ात्मा है, यही पुरुषात्मा है, यही अमृतसत्यात्मा है। स्वायम्भुव चिदात्मा पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भात्मा, सौर सर्वज्ञात्मा, चान्द्र महानात्मा पार्थिव वराह–विराडात्मा, इन पाँच वैकारिक आत्माओं की समष्टि 'ब्रह्मसत्यात्मा' है। सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–समष्टिरूप पार्थिवात्मा देवसत्यात्मा है। यही आधिदैविक आत्मग्राम का सिंहावलोकन है। आधिदैवतवत् ही अध्यात्म में भी आत्मग्राम सन्निविष्ट है। गूढ़ात्मा गूढ़ात्मा है स्वायम्भुव चिदंशात्मा शान्तात्मा है, पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भांशात्मा महानात्मा है, सौर सर्वज्ञांशात्मा विज्ञानात्मा है, चान्द्र महानांशात्मा प्रज्ञानात्मा है, वराहविराडंशात्मा शरीर है, पाँचों की समष्टि ब्रह्मसत्यात्मा है। सर्वज्ञांशभूत प्राज्ञ हिरण्यगर्भांशभूत तैजस, विराडंशभूत वैश्वानर, तीनों की समष्टि देवसत्यात्मा है, यही शारीरक है, यही देही है, यही कर्म्म-भोक्ता जीवात्मा है।

सर्वधर्म्मोपपन्ननिर्विशेषः———निर्विशेषः
सर्वधर्मविलक्षणः परात्परः———परात्परः
} —अलक्षणः परात्परः (सत्यस्यसत्यात्मा)

परगत हो रहा है । विशुद्धरसमूर्ति, एकानिवृत्तग नामक निर्विशेषब्रह्म, एवं सर्वबलाधिष्ठितरसमूर्ति, शाश्वतब्रह्मनामक परात्परब्रह्म दोनों की समष्टि तत्त्वस्वरूपात्मा है, यही प्रजापतिमर्य्यादा से एकान्ततः असंस्पृष्ट, अतएव विशुद्ध ब्रह्म है, जो योगेश्वर, योग, योगासन, आदि योगमर्य्यादाओं से सर्वथा अतीत अतएव अविज्ञेय, अनुपास्य, अनिर्वचनीय है अतएव जो उपनिषदों में नेति–नेति शब्दों से निर्दिष्ट हुआ है * । निर्विशेष, और परात्पर, तत्त्वतः दोनों अभिन्न हैं । अतएव दोनों का एक 'परात्पर' नाम से भी संग्रह किया जा सकता है । निर्विशेष–परात्परोभयमूर्ति यही अव्ययब्रह्म' है जो विश्वातीत नाम से भी व्यवहृत हुआ है । ज्ञानिवृत्तवादी व्याख्याताओंने इसी अक्षरब्रह्म को ज्ञानयोग का लक्ष्य बनाया है यद्यपि उसका इसमें किसी भी कर्मयोग से सम्बन्ध नहीं है । शब्दशास्त्र से इस परात्परब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं है । उपनिषद्, व्याससूत्र, भगवद्गीता, तीनों की समष्टिरूपा प्रस्थानत्रयी का इस व्यापक विश्वातीत से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रस्थानत्रयी, एवं तदनुगत इतर दर्शन प्रजापतिक योगेश्वर के विभिन्न अवयवों को ही अपना लक्ष्य बना रहे हैं । उदाहरण के लिए ईश–केन–कठ–प्रश्न–मुण्डक–माण्डूक्य–तैत्तिरीय–ऐतरेय–छान्दोग्य–बृहदारण्यक–आदि उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा क्रमशः गूढ़ात्मा, प्रज्ञानात्मा, मोक्षात्मा विज्ञानात्मा, ऐश्वर्यात्मा ब्रह्मरूपात्मा हिरण्मयात्मा, हिरण्यगर्भात्मा, विज्ञानात्मा आदि क्षरात्मा हैं ×। अव्ययपरिच्छिन्ना से युक्त अक्षरब्रह्म (अव्ययात्मा) ब्रह्मसूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अव्ययात्मा गीताशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है । भूतात्मा वैशेषिक तन्त्र का, प्रकृत्यात्मा सांख्यतन्त्र का लक्ष्य है जैसाकि–'आत्मपरीक्षा नामक भूमिकाखण्ड के 'दार्शनिक–आत्मपरीक्षा' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है । भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य्य के मतानुसार गीतोक्त 'अव्यय' शब्द जहाँ विशेषण है वहाँ विज्ञानदृष्टि के अनुसार यह अव्यय ही विशेष्य बनता हुआ गीता का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मा है । भाष्यकार जहाँ गीता को अक्षरब्रह्म की प्रतिपादिका मान रहे हैं, वहाँ विज्ञानदृष्टि इसे अव्ययब्रह्मप्रतिपादिका मान रही है जो अव्ययब्रह्म अक्षरब्रह्म विश्वातीत परात्परब्रह्म से सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व है । यद्यपि 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' + इत्यादि श्रुतियाँ सर्व रूप में उस अक्षरब्रह्म परात्पर की ही व्याप्ति बतला रहीं

---

* सं विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

× इस विषय का विशद विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यम् भूमिका–तृतीयखण्ड में देखना चाहिए ।

+ १–इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति–अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
—ऋक् सं० १।१६४।४६।

२–तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ॥
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥ (श्वेता० उप० ४।२) ।

३–यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ (श्वेता उप ३।९।)

है । तत्त्वतः सर्वत्र वही है, सब कुछ वही है । अव्यक्त–विज्ञान–प्रज्ञान–सब वही है । उसके अतिरिक्त अन्य सत्ता को अवसर ही कैसे मिल सकता है । तथापि इन्द्र और मित्र का भेद मिथ्या है, किंवा अव्यय और परात्पर विभिन्न नहीं है यह कथमपि नहीं माना जा सकता । कार्य्यब्रह्म का कारणब्रह्म के साथ अवश्य ही अभेद है, परन्तु कार्य्यब्रह्मों का परस्पर में कथमपि अभेद नहीं माना जा सकता । कटक–कुण्डल–कंकण–आदि यच्चयावत् सुवर्णाभूषणों का कारणभूत सुवर्ण के साथ अवश्य ही तादात्म्यलक्षण अभेद सम्बन्ध है । परन्तु कटक–कुण्डलादि का परस्पर भेदसम्बन्धात्मक असम्बन्ध ही न्यायसिद्ध माना जायगा । आँख–नाक–कान–मुख–सब कुछ 'अहम्' है । परन्तु आँख नाक से, नाक आँख से कान दोनों से विभिन्न है । अवयवों का अवयवी के साथ जहाँ अभेद है, वहाँ अवयवों का परस्पर आत्यन्तिक विभेद है । 'इन्द्रं मित्रं' इत्यादि जिस श्रुति को अभेदपरक लगाया जा रहा है, उसी से अवयवभेद का भी समर्थन हो रहा है । तभी तो 'इन्द्रं–मित्रं–वरुणम्'–इत्यादि विभिन्न नामों का व्यवहार चरितार्थ हो रहा है । सब कुछ वही है यह भी ठीक है । वही सब कुछ है यह भी ठीक है । परन्तु सब परस्पर में सब नहीं है । तात्पर्य्य–सब कुछ परात्पर है परात्पर सब कुछ है, परन्तु अव्यय, अक्षर, क्षर, अव्यक्त, महान्, प्रज्ञान, आदि पृथक् पृथक् रूप से सब कुछ न बनते हुए परस्पर विभिन्न हैं । एवं शास्त्रनिरूपणीय आत्मग्राम इस विभिन्न आत्मवाद से ही सम्बद्ध है, जिसका पूर्व में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है । यही अब प्राचीन व्याख्याताओं की, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की ओर से 'गुरवस्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु तु वर्त्तनम्' समाधान ही पर्य्याप्त है ।

४—आत्मस्वरूपसिंहावलोकन—

विश्वातीत अलक्षण सत्यसत्यात्मा नामक परात्परब्रह्म के अनन्तर अमृतसत्यात्मा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है । मायोपाधिक निष्कल परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल–आत्मक्षर, इन चारों की समष्टिरूप षोडशकल आत्मन्वी (प्रजापति) तत्त्व ही गूढोत्मा है, यही पुरुषात्मा है, यही अमृतसत्यात्मा है । स्वायम्भुव चिदात्मा पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भात्मा, सौर सर्वज्ञात्मा, चान्द्र महानात्मा पार्थिव वराट्–विराडात्मा, इन पाँच वैकारिक आत्माओं की समष्टि 'ब्रह्मसत्यात्मा' है । सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–समष्टिरूप पार्थिवात्मा देवसत्यात्मा है । यही आधिदैविक आत्मग्राम का सिंहावलोकन है । अधिदैववत् ही अध्यात्म में भी आत्मग्राम प्रतिष्ठित है । गूढोत्मा गूढोत्मा है स्वायम्भुव चिदात्मांश शान्तात्मा है पारमेष्ठ्य हिरण्यगर्भात्मांश महानात्मा है, सौर सर्वज्ञात्मांश विज्ञानात्मा है चान्द्र महानात्मांश प्रज्ञानात्मा है, वराड्विराडात्मांश शरीर है, पाँचों की समष्टि ब्रह्मसत्यात्मा है । सर्वज्ञांशभूत प्राज्ञ हिरण्यगर्भांशभूत तैजस, विराडंशभूत वैश्वानर, तीनों की समष्टि देवसत्यात्मा है यही शारीरक है, यही देही है, यही कर्म्मात्मा जीवात्मा है ।

रसैकमूर्त्तिर्निर्विशेषः——निर्विशेषः	}	—असत्यसत्यात्मा परात्परः (सत्यसत्यात्मा)
बलविशिष्टः परात्परः——परात्परः		

मायामयः परात्परः——————परात्परः
पञ्चकलोऽव्ययः——————अव्ययः
,, अक्षरः——————अक्षरः
,, आत्मक्षरः——————आत्मक्षरः

—मायी गूढोत्मा योगेश्वरः (अमृतसत्यात्मा)

स्वायम्भुवपरिवदात्मा——————शान्तात्मा
पारमेष्ठ्यो हिरण्यगर्भात्मा——महानात्मा
सौरः सर्वज्ञात्मा——————विज्ञानात्मा
चान्द्रो महानात्मा——————प्रज्ञानात्मा

——पञ्चपर्वा ब्रह्मसत्यात्मा

पञ्चविंशः सर्वज्ञात्मा——प्राज्ञः
पञ्चदशो हिरण्यगर्भात्मा–तैजसः
त्रिवृतो विराडात्मा——वैश्वानरः

——त्रिपर्वा मोक्षात्मा देवसत्यात्मा

पार्थिवविश्वात्मा——————शरीरम्

आधिदैवतम् अध्यात्मम्

४–योगातीत, योगेश्वर, योगकर्ता, योगसाधन, और तदाधारभूत आत्मविवर्त–

उक्त आत्मपर्वों में से निर्विशेष परात्परस्य अलग परात्पर को छोड़ दीजिए। क्योंकि पूर्व कथनानुसार इसके साथ योगस्वरूप का कोई सम्बन्ध नहीं है। परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–समष्टिरूप गूढ़ोत्मा योगेश्वर है योग का जनक है, योगद्वारा प्राप्तव्य है। वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्ति शरीरात्मा योगमार्गारूढ़ जीव है योगानुष्ठानकर्ता है। शेष रह जाते हैं–शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा (शरीर) ये पाँच वैकारिक आत्मा। ये पाँचों विभिन्न योगमार्गों के साधक हैं, योगसाधन हैं। इसप्रकार आध्यात्मिक आत्मग्राम में ही योगातीत, योगेश्वर, योगद्वारा प्राप्तव्य, योगकर्ता योगसाधन, इन सब प्रश्नों का समाधान सन्निहित है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

निर्विशेष (१)
परात्पर (१) }—अव्यक्तः परात्पर—योगातीतः (सत्यस्वरूपात्मा)

परावरः (१)
अव्यय (५)
अक्षर (५) }—योगी गूढात्मा—योगेश्वरो महान् (अमृतरूपात्मा)
आत्मक्षर (५)

प्राज्ञ (१)
तैजस (२) }—त्रिपर्वा जीवः—योगानुगाता (देवरूपात्मा)
वैश्वानर (१)

शान्तात्मा (५)—अव्यक्तम्
महानात्मा (४)—महान्
विज्ञानात्मा (३)—बुद्धिः }—पञ्चपर्वा महदात्मा—योगसाधनानि (मर्त्यरूपात्मा)
प्रज्ञानात्मा (२)—मनः
भूतात्मा (१)—शरीरम्

६—अधिदैवत, तथा अध्यात्म—अनुगत आत्मग्रामस्वरूपव्यवस्थिति—

योगातीत अव्यक्तब्रह्म का रहना न रहना समान है। अतएव आत्मग्रामगणना में यह अनपेक्षित है। ऐसी अवस्था में गूढात्मा, जीवात्मा एवं पञ्चपर्वा महदात्मा, ये तीन आत्मविवर्त शेष रह जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में योगतत्त्व का समन्वय किया जा सकता है। भक्तियोगपरीक्षा—उत्तरखण्ड में आत्मपर्वगणना करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि आधिदैवत (ईश्वरी) संस्था में जहाँ ७ आत्म पर्व हैं, वहाँ अध्यात्मसंस्था में आठ आत्मपर्व हैं। आधिदैवतसंस्था के सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) गूढात्मा का नाम ईश्वर (परमात्मा) है उसका भी अध्यात्मसंस्था में भोग रहता है। इसके अतिरिक्त अध्यात्मसंस्था में प्रातिस्विक गूढात्मा की सत्ता और है। यही 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है यही आध्यात्मिक 'अहं' पदार्थ है। इसप्रकार अध्यात्म में ईश्वरीय गूढात्मा (परमात्मा), अध्यात्मसंस्थालक्षणभूत गूढात्मा (प्रत्यगात्मा), शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, शारीरकात्मा, भूतात्मा, इन ८ आत्मपर्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। पूर्वतालिका में

जिस गूढ़ात्मा को 'योगेश्वर' कहा गया है, वह ईश्वरीय गूढ़ात्मा है। प्रत्यगात्मरूप आध्यात्मिक गूढ़ात्मा भी यद्यपि स्वरूपतः से योगेश्वर ही है। तथापि अविद्यानुबन्धी के सम्बन्ध से इसकी स्वाभाविक योगविभूति मेघाच्छन्न सूर्यवत् आवृत रह जाती है। अविद्यावरण से प्रत्यगात्मा के स्वाभाविक अनुग्रह से वञ्चित शारीरक जीवात्मा वञ्चित रहता हुआ दुःख प्राप्त करता है। परमात्मा (ईश्वरीय गूढ़ात्मा) नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। तदभिन्न प्रत्यगात्मा के आगे अविद्यावरण है। अतएव तदंशभूत शारीरक आत्मा का इस प्रत्यगात्मा के साथ योग नहीं हो पाता। योग है और अवश्य है। परन्तु प्रतिकूल योग है। प्रतिकूलयोगात्मक योग वस्तुतः वियोग है। यह वियोगात्मक योग ही इन्द्रियों के साथ विषयासक्ति का कारण बनता हुआ दुःखानुभूति का प्रवर्तक बनता है। ठीक इसके विपरीत इन्द्रियासक्ति से पृथग्भूत शारीरक आत्मा आवरणनिराकरण का कारण बनता हुआ जब प्रत्यगात्मविभूति के साथ अनुकूल योग कर लेता है तो ऐसा अनुकूल योग दुःखात्यन्त-निवृत्ति का कारण बन जाता है जिस अनुकूल योग के सम्बन्ध में 'योगो भवति दुःखहा' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रत्यगात्मा के साथ योग करते ही शारीरक आत्मा परमात्मसम्पत्ति से युक्त हो जाता है, जो अमृत-सम्पत्ति इसे स्वस्वरूपतः बुद्धियोगलक्षण प्रदान कर देती है। तात्पर्य इसके हमने यह निकाला कि, अध्यात्मसंस्था में परमात्मा प्रत्यगात्मा दोनों ही क्रमशः योगेश्वर हैं अक्षर हैं। यही वह 'तत्' लक्षण अव्ययलक्षण नामक 'कूटस्थतत्त्वात्मा' है 'अमृतत्वम्' है। किन्तु शारीरक आत्मा योगानुष्ठानकर्ता है, यही 'विकल्पम्' है। एवं पञ्चपर्वा वैकारिक आत्मा योगसाधन भी है योगविनाशक भी है। यही 'मर्त्यत्वम्' है'। यद्यपि प्रकृति-दशा (वृत्तिविकासदशा) इन आठों आत्मपर्वों का क्रम क्रमशः परमात्मा, प्रत्यगात्मा शान्तात्मा महानात्मा, विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा, शारीरकात्मा भूतात्मा यही है। परन्तु विपरिक्रम में शारीरक आत्मा विज्ञानात्मा से पूर्व, तथा महानात्मा से ऊपर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित माना गया है जैसाकि—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इत्यादि औपनिषद वचन से प्रमाणित है। प्रज्ञानात्मरूप मन तथा विज्ञानात्मरूपा बुद्धि दोनों ही साधनीभूत बन कर ही शारीरकात्मा योगचतुष्टयी में प्रवृत्त होता है।

७-योगात्मानुगता योगचतुष्टयी–

चारों योग क्रमशः बुद्धियोग ज्ञानयोग भक्तियोग, कर्मयोग इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। एक ही योग के चार विभाग क्यों हो गए? प्रश्न का उत्तर 'प्रकृतिविकार' पर अवलम्बित है। प्रकृति को 'ब्रह्म' कहा जाता है। आध्यात्मिक चारों आत्मपर्व पृथक् पृथक् प्रकृति हैं। प्रकृति प्रकृति शब्द में 'प्र' 'क' 'ऋ' भावों में परिणत हुआ हुआ 'प्रकृति' है। 'ऋ' ... है 'ति' है। इसप्रकार प्रकृति के व्यष्टि व्यष्टिरूप से चार पर्व हो जाते हैं इसी आधार पर—'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम का समन्वय हुआ है। प्रकृति का 'प्र' रूप 'आत्मा' कहलाता है। 'क' रूप प्राण कहलाता है 'ऋ' रूप 'पशु' कहलाता है एवं 'ति' रूप अन्नरूप कहलाया है। मनःरूप परात्परपुरुष है यही योगक्षेम पद शान्ति है, निवृत्ति है शान्तानन्द है। आत्मरूप ज्ञानानुगत अक्षर है प्राणरूप कर्मानुगत अक्षर है पशुरूप विकार कर्मानुगत पर है। परात्परपुरुष (निर्गुण ब्रह्म) ही ज्ञानमय है जो निरपेक्ष निर्गुण परात्पर से समतुलित है। ज्ञानात्मक यही निर्गुण ज्ञानमय बुद्धियोग का अनुगामी है। ज्ञानानुगत आत्मरूप अक्षर ज्ञानमय है यही ज्ञानयोग का अनुगामी है। कर्मानुगत प्राणरूप अक्षर 'क' रूप है यही भक्तियोग का अनुगामी है। इसप्रकार प्रकृति के चार भेदों से एक ही योग के चार विभाग हो जाते हैं। चार आत्मपर्व हैं अध्यात्म में चार प्रकृतियाँ हैं। अतएव चार ही योगचतुष्टयी हो जाती है।

८–भूतं–भवत्–भविष्यत्–इति सर्वमोङ्कार एव—

'आत्म–प्राण–पशुरूप प्रजापतिरूपम्' ही प्रजापति का तात्त्विक लक्षण है। हृदयस्थ उक्थभाव आत्मा है, हृदयस्थ उक्थभाव से समन्ततः विनिर्गत अर्क (आत्मरश्मियाँ) 'प्राणाः' हैं। प्राणरूप अर्कमण्डल में भुक्त परिग्रह पशु है। हृदयावच्छिन्न अखण्ड आत्मा, मण्डलाभुक्त सखण्ड प्राण, तद्भुक्त खण्ड परिग्रह, तीनों प्रजापतिसम्पत्तियाँ सखण्डभाव के कारण मृत्युमात्रा हैं। तीनों मृत्युमात्राओं का आधारभूत अखण्ड–अमृतब्रह्म विशुद्ध अमृतमात्रा है, यही तुरीयब्रह्म है। यही चतुष्पाद्ब्रह्म का प्रणवत्व है। तुरीय अमात्र–लक्षण अव्यक्तब्रह्म अर्धमात्रा है, आत्मा अकार है, प्राण उकार है, पशु मकार है, समष्टि ओङ्कार है, यही स्फोट है, जिसे सहिता नादब्रह्म नाम से व्यवहृत किया करते हैं। निम्न लिखित श्रुतियाँ आत्मप्रजापति की इस सर्वसम्पत्ति का ही स्पष्टीकरण कर रही हैं—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥१॥
ऋग्भिरेतं, यजुर्भिरन्तरिक्षं, स सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्—
यत्तत्–शान्तमजरममृतमभयं परं (अव्यय) चेति ॥२॥

—प्रश्नोपनिषत् ५।६,७।

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं–भूतं, भवद्, भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्"॥३॥

—माण्डूक्योपनिषत् १,२।

९–आयतन–अन्नाद, और अन्नब्रह्म—

भोक्ता ही प्रजापति है। भोक्ता प्रजापति को स्वभोगसिद्धि के लिए भोगायतन, भोक्ता, भोग्य, इन तीन भावों में परिणत होना पड़ता है। वो तीनों भाव क्रमशः आयतन, अन्नाद, अन्न, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। जिस पर प्रतिष्ठित होकर भोक्ता भोग करता है, वह आलम्बनरूप आयतन ही भोगायतन है। यही आकाशात्मा 'ख' ब्रह्म है, यही प्रजापति का उक्थलक्षण पहिला आत्मपर्व है। आकाशात्मक आयतन में प्रतिष्ठित होकर अन्न के साथ रमण करने वाला अन्नाद ही प्राण है। यही अर्करूप मण्डलायतन से रमण करने वाला 'कंब्रह्म' है, यही प्रजापति का अर्कलक्षण दूसरा प्राणपर्व है। कंब्रह्मात्मक प्राणाग्नि की सीमा में प्रविष्ट अन्न ही पशु है। प्राणाग्नि के गुण का साधन बना हुआ यही पशु 'अन्नब्रह्म' है, यही प्रजापति का अशीतिलक्षण तीसरा पशुपर्व है। ख–कं–अन्न इन तीनों पर्वों को अपने व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित रखने वाला अमृतब्रह्म नामक चौथा अव्ययब्रह्म ही आधारपर्वरूपा का चौथा पर्व है। इसप्रकार प्रजापतितत्त्व चार पर्वों से नित्य युक्त रहता है। आध्यात्मिक आठ पर्व स्वतन्त्र आठ प्रजापति हैं। प्रत्येक में अव्यय, आत्मा, प्राण पशु इन चारों पर्वों का उपभोग है। प्रत्येक प्रजापति के ये चारों पर्व क्रमशः बुद्धि–ज्ञान–चरित्र–कर्म–

योग के आधारस्तम्भ हैं । फलतः आधिदैविक गूढ़ात्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित आध्यात्मिक गूढ़ात्मा के अवान्तर-प्रजापतिसंस्थाओं के भेद से योगचतुष्टयी के भी आठ ही विवर्त हो जाते हैं । प्रकृत परिच्छेद में इन्हीं आठों योगविवर्तों का दिग्दर्शन कराना है * ।

१०–षट्परिग्रहावच्छिन्न आत्मप्रजापति—

पूर्वस्तम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मायादि षट्परिग्रहों के सम्बन्ध से ही 'तद्'नामक अव्यय विश्वातीत–परात्पराक्षर को आत्मन्वी (प्रजापति) बनना पड़ता है । मायापरिग्रहयुक्त वही तद् मायी परात्पर है कलापरिग्रहयुक्त वही मायी परात्पर षोडशी है, गुणपरिग्रहयुक्त वही षोडशी अव्यक्तगर्भित महानात्मा है, विकारपरिग्रहयुक्त वही महानात्मा विज्ञानात्मगर्भित प्रज्ञानात्मा है, अञ्जनपरिग्रहयुक्त वही प्रज्ञानात्मा शारीरात्मा है एवं आवरणपरिग्रहयुक्त वही शारीरात्मा भूतात्मा (शरीर) है । मायापरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व ईश्वरीय गूढ़ात्मा है कलापरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व षोडशानुगत अव्ययात्मा है । गुणपरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व अव्यक्तगर्भित महानात्मा है । विकारपरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा है । अञ्जनपरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व शारीरात्मा है । एवं आवरणपरिग्रहावच्छिन्न वही तत्त्व भूतात्मा है । आवरण भूतात्मा विश्वप्रजापति है अञ्जन शारीरात्मा विराट्प्रजापति है विकार विज्ञानगर्भित–प्रज्ञानात्मा ब्रह्मप्रजापति है गुण अव्यक्तगर्भित महानात्मा यज्ञप्रजापति है कला अव्ययात्मा अमृत प्रजापति है, एवं मायी परात्पर स्वयम्भ्वात्मा है । यही आध्यात्मिक पर्वक्रमन्वय का मुख्य दृष्टिकोण है जिसका भक्तियोगपरीक्षा में भी विस्तार से विश्लेषण हुआ है

११–ब्रह्म, और कर्म्म–परिभाषा—

भक्तियोग-परीक्षा से सम्बन्ध रखने वाले दृष्टिकोण के अनुसार अध्यात्मसंस्था में जिन आठ आत्मपर्वों का संग्रह हुआ है उनका प्रकृत दृष्टिकोण के अनुसार चार ही पर्वों में समन्वय किया जा सकता है । एवं यही आत्मपर्वचतुष्टयी योगेश्वर की वास्तविक योगचतुष्टयी की मूलप्रतिष्ठा है । विषय-स्पष्टीकरण से पहिले हमें प्रमाण्य योग-तत्त्व की मौलिक परिभाषा का समन्वय कर लेना चाहिए । 'ब्रह्म का कर्म्म के साथ होने वाला (रहने वाला) सम्बन्ध ही योग है यह यही प्राकृतिक योग की मौलिक परिभाषा है, जिसे आधार मान कर ही हमें प्रकृत स्तम्भ का समन्वय करना है । 'कर्म्मगर्भित ज्ञानतत्त्व' ब्रह्म शब्द का पारिभाषिक अर्थ है, एवं 'ज्ञानगर्भित क्रियातत्त्व' कर्म्मशब्द का परिभाषार्थ है । पूर्व के जिन आत्मपर्वों का स्वरूपविश्लेषण हुआ है उन सब के साथ ब्रह्म-परिभाषा घटित है अतएव इन सभी आत्मपर्वों को 'ब्रह्म' कहा जा सकता है । 'ब्रह्म' नामक इन आत्मपर्वों की जो स्वाभाविक क्रिया है वही इनका कर्म्म है । इन कर्म्मों के साथ ब्रह्मों (आत्मपर्वों) का जो स्वाभाविक सम्बन्ध (योग) है वही 'आत्मयोग' (आत्मा के साथ–ब्रह्म के साथ–क्रिया का योग) योग है जिसके प्रभवस्वरूप–तारतम्य से चार विवर्त हो जाते हैं ।

---

* भक्तियोगपरीक्षा में ईश्वरीय गूढ़ात्मा का अव्ययात्मा में अव्यक्त का महानात्मा में, विज्ञान का प्रज्ञानात्मा में अन्तर्भाव करते हुए अध्यात्मसंस्था में ५ ही योगों का विश्लेषण हुआ है । प्रकृत में सब की पृथक् पृथक् विवक्षा हुई है जिसके द्वारा आठ विवर्त हो जाते हैं ।

१२–सहजसिद्ध कर्म्मयोग, और कर्म्मयोगपरिभाषा—

यद्यपि आध्यात्मिक कर्म्म–कलाप की दृष्टि से सभी आत्मपर्व ज्ञानप्रधान हैं, अतएव उन सभी को 'ब्रह्म' कहना अन्वर्थ बनता है। तथापि इन आत्मपर्वों के आपेक्षिक समतुलन की दृष्टि से इनमें ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–बुद्धि–भावों का तारतम्य उपपन्न बन जाता है। एकमात्र इसी आधार पर आत्मपर्वचतुष्टयी के आधार पर योगचतुष्टयी का आविर्भाव सुसमन्वित बन जाता है। विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रिय-मन) नामक 'प्रज्ञानब्रह्म' का विकासक्षेत्र इन्द्रियग्रामानुगत भूतग्राम (बाह्य विषय) है। भूतग्राम (सांसारिक विषय) द्रव्य हैं। गुणसमष्टि द्रव्य है (गुणकूटो द्रव्यम्)। क्रियासन्तान ही गुण है ×। फलतः भूतग्राम का कर्म्ममयत्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि प्रज्ञानब्रह्म के आधारभूत भौतिक विषयों में ज्ञानमात्रा (चिदंश) आत्यन्तिकरूप से अभिभूत है। यहाँ केवल कर्म्म का ही साम्राज्य है। अतएव भूतानुगत प्रज्ञानब्रह्म साध्य, एवं साधनतः उभयथा भूतानुगत ही बना रहता है। प्रज्ञानगत चिदंश से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान भी भूत के प्रभाव से प्रभावित होता हुआ आधिभौतिक है एवं प्रज्ञानगत क्रियाभाग भी भूतप्रभाव से सर्वथा आक्रान्त है। प्रज्ञान का ज्ञान (मानस ज्ञान), और प्रज्ञान का कर्म्म (ऐन्द्रियक कर्म्म) दोनों भूतानुगत बनते हुए आधिभौतिक हैं। साधन भी आधिभौतिक हैं साधनद्वारा प्राप्तव्य, एवं प्राप्त फल भी आधिभौतिक ही है। यही कर्म्मयोग की सुपरिचित परिभाषा है, जिसका 'कर्म्मयोग-परीक्षा' में अनेकधा विश्लेषण किया जा चुका है। इसी आधार पर विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानब्रह्म के साथ युक्त कर्म्म को हम 'कर्म्मयोग' कह सकते हैं। यही परिभाषा प्राकृतिक योग है, जिसे साध्य-साधनोभयथा भूतप्रधान होने से वैज्ञानिक लोग 'कर्म्मयोग' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। आहार–निद्रा–भय–मैथुनादि प्राकृतिक ऐन्द्रियक कर्म्म ही प्राकृतिक कर्म्मयोग है जो सर्वसाधारण में समानरूप से प्रवाहित हैं। इस दृष्टि से प्राणिमात्र कर्म्मयोगी हैं, कर्म्मठ हैं। ये सब कर्म्म अत्याज्यकर्म्म हैं। इनका परित्याग सर्वथा अशक्य है। क्योंकि आहारादि ऐन्द्रियक कर्म्मों के बिना कोई भी प्राणी अपना जीवन सुरक्षित नहीं रख सकता। इन्हीं अत्याज्य कर्म्मों को लक्ष्य में रखते हुए भगवान् ने कहा है—'कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजै-र्गुणैः'। कर्म्मयोग की यही सहज परिभाषा है जिसके आधार पर कृत्रिम (शास्त्रीय) कर्म्मयोग का प्रादुर्भाव हुआ है।

१३–भक्तियोग की तात्त्विक परिभाषा—

दूसरा भक्तियोग–क्षेत्र है जिसका अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा से सम्बन्ध बतलाया गया है। स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला पारमेष्ठ्य महानात्मा जीवानुगत–षोडशकल सूक्ष्मात्मा की अपेक्षा यद्यपि भूताभिमुख बनता हुआ आधिभौतिक परिग्रह से वेष्टित माना जायगा। तथापि विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त महानात्मापेक्षया चिदंश के अधिक मात्रा से विकसित रहने के कारण इसे आधिदैविक सम्पत्ति से भी पृथक् न किया जा सकेगा। और इस दृष्टि से महानात्मपर्व में आधिदैविक (ज्ञान) आधिभौतिक (कर्म्म) दोनों सम्पत्तियों का समन्वय माना जायगा। ईश्वरीय सूक्ष्मात्मा, तथा जीवानुगत सूक्ष्मात्मा, दोनों भी इसी महद्ब्रह्म

× गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते। (वाक्यपदी)

में गर्भीभूत है। इसीलिए इसमें ईश्वरानुगत आधिदैविक भाव का विकास स्वाभाविक है। इस विकास की मूलप्रतिष्ठा बनता है मध्यस्थ सौर विज्ञानात्मा जो प्राकृतिक विश्व के आधिभौतिक प्रपञ्च, तथा आधिदैविक विवर्त्त का विभाजक माना गया है। पार्थिव भौतिक विवर्त्त, चान्द्रविवर्त्त दोनों की समष्टि आधिभौतिक है। पारमेष्ठ्य, और स्वायम्भुव विवर्त्त आधिदैविक है। सौर विवर्त्त दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। अध्यात्म में स्वायम्भुव अव्ययात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, दोनों आधिदैविक हैं। चान्द्र प्रज्ञानात्मा पार्थिव शरीर, और भूतात्मा आधिभौतिक हैं। सौर विज्ञानात्मा दैविक-भौतिक दोनों विवर्त्तों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ उभयधर्म्माक्रान्त है। प्राणिसृष्टि में से केवल मानवसमाज में ही इस उभयधर्म्माक्रान्त विज्ञानब्रह्म (बुद्धि) का विकास रहता है। मनुष्येतर प्राणियों में भी विज्ञानात्मा रहता अवश्य है। परन्तु उनका विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा के वशवर्त्ती बना रहता है। अतएव उनमें प्रज्ञानात्मानुगत आहार निद्रा भय मैथुन लक्षण पशु कर्म्म भाग का ही विकास रहता है। उनकी बुद्धि प्रज्ञानमन में ही आवृत रहती है। प्रज्ञानप्राधान्य से उनकी बुद्धि का ऊर्ध्वमुख आधिदैविक भाव अभिभूत रहता है। इधर मनुष्य-प्राणी में विज्ञानात्मा का प्रज्ञानात्मा पर शासन रहता है। इस शासन से इसका कर्म्मात्मा ईश्वरीय गूढोत्मानुगत महानात्मा का भी अनुगामी बना रहता है। फलतः प्रज्ञानानुगत भौतिक विवर्त्त के साथ मानवीय जीवात्मा महानात्मानुगत आधिदैविक विवर्त्त का भी भोक्ता बना रहता है। जिन मनुष्यों का विज्ञानात्मा प्रज्ञानप्राबल्य से केवल भौतिक विषयों का अनुगामी बना रहता है दूसरे शब्दों में जिनकी बुद्धि प्रज्ञान के प्राबल्य से केवल भौतिक-ऐन्द्रियक-विषयों में ही आत्मसमर्पण किए रहती है उन लौकिक-यथाजात मनुष्यों में पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणियों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं रहती। ऐसे यथाजात मनुष्य 'आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्-पशुभिर्नराणाम्' के अनुसार पशुओं से समतुलित रहते हुए केवल आधिभौतिक कर्म्मयोग के ही अधिकारी बने रह जाते हैं। ऐसे लौकिक मनुष्यों में आधिदैविक ईश्वरीय ज्योति का विकास नहीं होने पाता। आत्मा, परमात्मा, धर्म्म, अतिथि ईश्वरप्रपत्ति आदि दिव्यविभूतियों से ऐसे पशुसमानधर्म्मा लौकिक मनुष्य वञ्चित रहते हैं। महानात्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित ईश्वरीय भाव आधिदैविक है। भौतिक बन्धनों के साथ जीवात्मा का इस ईश्वरीय भाव के साथ रहने वाला स्वाभाविक योग ही भक्तियोग है। इस योग का विकास बुद्धिविकास पर ही अवलम्बित है। बुद्धिविकास बुद्धि के ऊर्ध्वभाग में प्रतिष्ठित आधिदैविक महद्ब्रह्म के समाकर्षण पर ही निर्भर है। इसी आधार पर भक्तियोग में साधन आधिभौतिक, तथा साध्य आधिदैविक माने गए हैं। विज्ञानकर्म्मपरिष्कृत प्रज्ञानब्रह्म जहाँ कर्म्मयोग का अनुयायी है वहाँ अव्यक्तगर्भित महद्ब्रह्म विज्ञान-विकास-द्वारा उभय भावानुगत बनता हुआ भक्तियोग का अनुगामी है यही निष्कर्ष है।

१५—ज्ञानयोगपरिभाषा—

तीसरा ज्ञानयोग शेष है जिसका आध्यात्मिक जीवात्मा से सम्बन्ध बतलाया गया है। षोडशकल-आध्यात्मिक षोडशी अव्ययप्रधान है। अव्ययतत्त्व विशुद्ध आधिदैविक है। क्योंकि यहाँ कर्म्म आत्मस्थितिरूप से अभिभूत है। जिस समय विज्ञानब्रह्म का इस अव्ययब्रह्म के साथ योग हो जाता है उस समय विज्ञानब्रह्म का आधिभौतिकानुगतरूप सर्वात्मना अभिभूत हो जाता है। विशुद्ध आधिदैविक [ज्ञान] सम्पत्ति शेष रह जाती है। ऐसे विज्ञानब्रह्म के सद्योग-द्वारा अव्ययब्रह्म के साथ होने वाला कर्म्मनिरपेक्ष स्वाभाविक योग ही 'ज्ञानयोग' माना गया है जिसमें साध्य, और साधन दोनों ही आधिदैविक माने गए हैं। यही शास्त्रीय परिभाषा में

निवृत्तिमार्ग कहलाता है। गीता के शब्दों में यही सुप्रसिद्धा सांख्यनिष्ठा है। सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) विशुद्ध निवृत्तिपथ है, योगनिष्ठा (कर्मयोग) विशुद्ध प्रवृत्तिपथ है, भक्तिनिष्ठा (भक्तियोग) उभयपथ है।

१५—सर्वज्येष्ठ-श्रेष्ठ—बुद्धियोग की परिभाषा—

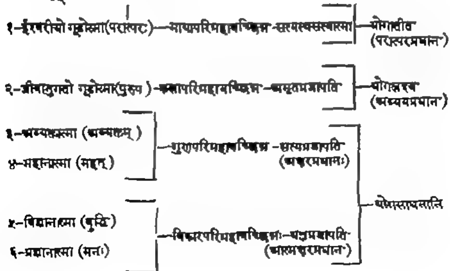
मीमांसा करने पर पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, उक्त तीनों ही योगों में अंशतः जीवव्यापार समाविष्ट है जो 'वानरशिशु' से समतुलित है। अपने प्रयास से ईश्वरभाव का अनुगमन करना, एक पथ है। अपने आपको सर्वथा निर्व्यापार बना कर ईश्वरभाव के आधार पर निरवलम्ब बने रह जाना, एक पथ है। पहिले दृष्टिकोण का 'वानरशिशु' से सम्बन्ध है। वानरी का बच्चा उसकी छाती से प्रयासपूर्वक संलग्न रहता है। वानरी इतस्ततः अनुधावन करती रहती है बच्चा प्रयासपूर्वक इसे पकड़े रहता है। थोड़ी भी असावधानी करने पर बच्चा अपने सर्वनाश को निमन्त्रण दे सकता है। उक्त तीनों योगों का इसी दृष्टान्त से सम्बन्ध है। कर्म–भक्ति–ज्ञान तीनों ही योगों में जीवात्मा को स्वयं सावधानी रखनी पड़ती है। थोड़ी भी असावधानी से जीवात्मा का पतन अवश्यंभावी बन जाता है। दूसरा दृष्टिकोण 'मार्जारशिशु' से सम्बन्ध रखता है। बिल्ली का बच्चा अपनी ओर से सर्वथा निर्व्यापार है। बिल्ली अपने मुख में लेकर उसे जहाँ ले जाती है, वहीं वह चला जाता है। उसे अपनी ओर से कोई व्यापार नहीं करना पड़ता। ठीक इसीप्रकार अपने आपको ईश्वरभाव के आधार पर निरवलम्ब छोड़ देना दूसरा दृष्टिकोण है। "ज्ञान–भक्ति–कर्म, किसी का भी अभिनिवेश नहीं। जैसा वह करता है, हो रहा है। जो वह करा रहा है वह कर रहे हैं"—इस बुद्धि से अपने समस्त कार्य्यकलाप को उस पर छोड़ देना ही दूसरा दृष्टिकोण है। न यहाँ प्रवृत्ति है, न निवृत्ति। न इस पथ को ज्ञानयोग कहा जा सकता न कर्मयोग माना जा सकता, एवं नाही भक्तियोग ही कहा जा सकता। यदि कहा जा सकता है, तो सभी कुछ। क्योंकि ईश्वरभाव के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण करने वाले ऐसे योगी को ज्ञान–भक्ति–कर्म सभी सम्पत्तियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। मायी परात्परलक्षण ईश्वराव्यय ही इस सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठ–योग की आधारभूमि है। ईश्वराव्यय 'समत्व' है। प्रवृत्ति-निवृत्ति-पथों से सम्बन्ध रखने वाली विषमता का इस क्षेत्र में आत्यन्तिक अभाव है। अपनी बुद्धि को इस समत्व के प्रति समर्पित कर देना ही समत्वयोग है। यही समत्वयोग गीताशास्त्र का सर्वमूर्द्धन्य, 'बुद्धियोग' है। यही योग्य बुद्धियोगक्षेम है जिसमें कोई साधन नहीं, कोई साध्य नहीं। यदि है तो सभी साधन और सभी साध्य—'तस्माद्योगी भवार्जुन'। यही कर्म्मकौशल है यही भक्तिकौशल है यही ज्ञानकौशल है। कौशल ही बुद्धियोग है। बिना इसके विशुद्ध प्रवृत्तिपथ (कर्म्मयोग) बन्धन का कारण है, उभयपथ (भक्तियोग) अभिमतावनक है, निवृत्तिपथ (ज्ञानयोग) भयङ्कर शासक है, अथ च लोकधर्मशत्रु अतएव भाष्याचार्य्य की दृष्टि से सर्वथा त्याज्य।

१६—योगानुगत अवधेय दृष्टिकोण—

निष्कर्ष यही हुआ कि मायीपरात्पर (ईश्वराव्यय) योगमायी जीवाव्यय, अव्यक्तगर्भित महानात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा, इन चार आध्यात्मिक भावों के आधार पर क्रमशः बुद्धि–ज्ञान–भक्ति–कर्म, ये चार योग प्रतिष्ठित हैं। भावचतुष्टयी के आधार पर प्रतिष्ठित योगचतुष्टयी का यही प्राकृतिक इतिवृत्त है जिसके सहज और कृत्रिम, दो दृष्टिकोणों का प्रकृत में हमें विश्लेषण करना है। विश्लेषण से पहिले पाठकों को इस दृष्टिकोण पर भी विशेषरूप से आरूढ़ हो जाना चाहिए, कि बुद्धियोग का प्रधानतः महामायी परात्पर से ज्ञानयोग का योगमायी जीवाव्यय से भक्तियोग का महान् से, एवं कर्मयोग का प्रज्ञानात्मा से सम्बन्ध है। विज्ञानसम्परिष्वक्त

प्रज्ञानात्मा आत्मक्षरप्रधान है, यही विकारपरिग्रह के द्वारा 'यज्ञप्रजापति' बनता हुआ सविकारप्रजापति है, यही कर्मयोगप्रतिष्ठा है। अव्यक्तगर्भित महदात्मा अक्षरप्रधान है यही गुणपरिग्रह के द्वारा 'सत्यप्रजापति' बनता हुआ सगुणप्रजापति है यही भक्तियोगप्रतिष्ठा है। योगमायावच्छिन्न अव्ययात्मा अव्ययप्रधान है, यही कलापरिग्रह के द्वारा 'अमृतप्रजापति' है यही ज्ञानयोगप्रतिष्ठा है। महामायावच्छिन्न परात्परात्मा परात्पर (विश्वातीत परात्पर) प्रधान है, यही मायापरिग्रह के द्वारा 'सत्यस्य सत्यात्मा' (केवल आत्मा, नतु आत्मन्वी) है, यही बुद्धियोगप्रतिष्ठा है। आत्मा, और आत्मन्वी के स्वरूप में क्या अन्तर है?, प्रश्न का समाधान पूर्व में किया जा चुका है। भक्तिपरीक्षानुगत दृष्टिकोण के अनुसार जहाँ आध्यात्मिक आत्मपर्व [illegible] भागों में विभक्त हैं, वहाँ प्रकृत बुद्धि–योगपरीक्षानुगत दृष्टिकोण के अनुसार आध्यात्मिक पर्वों को ४ भागों में विभक्त कर इनके आधार पर चार योग प्रतिष्ठित माने जा सकते हैं। प्रत्येक योग में परात्पर–अव्यय अक्षर–आत्मक्षर, चारों का उपभोग है। अतएव प्रत्येक प्रधान योग के गर्भ में चारों योगों का अन्तर्भाव होजाता है। फलतः चार के सोलह योग हो जाते हैं। योगेश्वर षोडशकल हैं तो उनके योग भी १६ ही हैं, जिनका भक्तियोगपरीक्षा में रूपान्तर से विश्लेषण हुआ है। सोलह योगों के आगे जाकर सहज, कृत्रिम भेद से दो दो विवर्त हो जाते हैं। दोनों में से सहजयोग उपादेय है, एवं कृत्रिमयोग त्याज्य है। दोनों विवर्तों के स्पष्टीकरण से पहिले परीक्षा–द्वारा प्रतिपादित दृष्टिकोणों को हृदयङ्गम कर लेना चाहिये। क्योंकि इन्हीं के आधार पर योग का वास्तविक स्वरूप व्यवस्थित है।

भक्तियोगपरीक्षानुगतो दृष्टिकोणः—



७-शारीरकात्मा (शरीरी)]—अद्भुतपरिग्रहावच्छिन्नः-विराट्प्रजापतिः (विकारक्षरप्रधान) } योगानुगता

८-भूतात्मा (शरीरम्)]—आवरणपरिग्रहावच्छिन्नो विश्वप्रजापतिः (वैकारिकक्षरप्रधान) } योगात्मवनम्



"तत्"—

१-परात्परः
२-पुरुषः
—अमृतात्मा "तदेवामृतमुच्यते"

१-अव्यक्तम्
२-महत्
३-बुद्धिः
४-मनः
—ब्रह्मात्मा—"तद्ब्रह्म"

१-शरीरी
२-शरीरम्
—शुक्रात्मा—"तदेव शुक्रम्"

प्रकारान्तरेण प्रकृतिविकोशानुगत परिलेखः—

१ परात्परः	परमात्मा परात्परप्रधानः	+	+	+	+	(परात्परानुगतः)—बुद्धियोगाभ्यासः (४)		—ईश्वरीयगुह्यात्मा परात्परलक्षणः पुरुषः —बुद्धियोगाभ्यासः (४)
२ अव्यय	,,	+	+	+	+	(अव्ययानुगतः)—ज्ञानयोगप्रवर्तकः (३)		
३ अक्षर		+	+	+	+	(अक्षरानुगत)—भक्तियोगप्रवर्तकः (२)		
४ आत्मक्षरः	,,	+	+	+	+	(आत्मक्षरानुगतः)—कर्मयोगप्रवर्तकः (१)		
१ परात्परः	जीवात्मा अव्ययप्रधान	+	+	+	+	(परात्परानुगतः)—बुद्धियोगप्रवर्तकः (४)		—जीवानुगतो गूढात्मा पुरुषलक्षणः पुरुषः —ज्ञानयोगाभ्यासः (३)
२ अव्ययः	,,	+	+	+	+	(अव्ययानुगतः)—ज्ञानयोगाभ्यासः (३)		
३ अक्षर	,, ,	+	+	+	+	(अक्षरानुगतः)—भक्तियोगप्रवर्तकः (२)		
४ आत्मक्षर	,,	+	+	+	+	(आत्मक्षरानुगतः)—कर्मयोगप्रवर्तकः (१)		
१ परोरजा	अव्यक्तात्मा	+ सत्त्वम्		अक्षरप्रधान		(परात्परानुगतः)—बुद्धियोगप्रवर्तकः (४)		—अव्यक्तात्मगर्भितो महानात्मा —भक्तियोगाभ्यासः (२)
२ अन्तर्यामी	,,	+ महान्		,,		(अव्ययानुगतः)—ज्ञानयोगप्रवर्तकः (३)		
३ [illegible]		+ सौम्यकला		,		(अक्षरानुगतः)—भक्तियोगाभ्यासः (२)		
४ शरीरगुहा	,,	+ द्रुतक-भोगा		,,		(आत्मक्षरानुगतः)—कर्मयोगप्रवर्तकः (१)		
१ षाड्गुण्यपुरुषः	विज्ञानात्मा	+ महदक्षराधीन		आत्मक्षरप्रधान		(परात्परानुगतः)—बुद्धियोगप्रवर्तकः (४)		विज्ञानात्मसत्यपरिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा —कर्मयोगाभ्यासः (१)
२ विज्ञानम्	,	+ प्रज्ञानम्		,		(अव्ययानुगतः)—ज्ञानयोगप्रवर्तकः (३)		
३ प्राणः प्राणः		+ [illegible]		,,		(अक्षरानुगतः)—भक्तियोगप्रवर्तकः (२)		
४ [illegible]		+ रेतः भस्म		,,		(आत्मक्षरानुगतः)—कर्मयोगाभ्यासः (१)		







(● कर्म्मात्मिकाकर्म्मयोगचतुष्टयी प्रथमा)

१७–वाङ्मय अर्थयोगानुगत लौकिक कर्म्मयोग–(श्रमकर्म्म)–(१)—

भक्तियोग–परीक्षा पूर्वखण्ड के–'प्राकृतिक योगत्रयी के आधार पर व्यावहारिकी योगत्रयी का विकास' नामक परिच्छेद में ज्ञान–भक्ति–कर्म्मयोगों का विस्तार से विश्लेषण किया जाचुका है। इसके अतिरिक्त भक्तिपरीक्षा–उत्तरखण्ड के–'उपासनास्वरूपनिर्वचन' ('१–१४६') नामक प्रकरण में उदाहरणों के द्वारा योगत्रयी के सहज तथा कृत्रिम भावों का स्पष्टीकरण किया जाचुका है। पाठकों से अनुरोध है कि प्रकृत प्रकरण-समन्वय के लिए वे एक बार भक्तिपरीक्षा के उक्त दोनों स्थलों पर अवश्य दृष्टि डालेंगे।

बतलाया गया है कि विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के आधार पर कर्म्मयोग प्रतिष्ठित है। विज्ञानात्मा के आत्मचरणानुगत ज्योतिर्भाग से समतुलित रेतस् और सौम्यांश से समतुलित श्रद्धाभाग को मूल बना कर मनुष्य जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में 'श्रम' कहलाया है। शास्त्रशिक्षा से वञ्चित, यथाजात लौकिक मनुष्य अपनी जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए 'श्रम' संज्ञक इसी लौकिक कर्म्म के अनुगामी बने रहते हैं। अहोरात्र के २४ घन्टों में ८–१० घण्टा शारीरिक श्रमद्वारा अर्थोपार्जन करना तद्द्वारा आहारादि की चिन्ता से त्राण पाना शेष समय में निद्रा, पारस्परिककर्म्मसंलग्नता, आदि का अनुगमन करना ही ऐसे लौकिक पुरुषों का परम पुरुषार्थ है। लोकभाषानुसार इन श्रमजीवियों को हम 'श्रमिक' (मजदूर) कह सकते हैं। इनके साधन भी विशुद्ध आधिभौतिक होते हैं एवं साध्य–फल–भी विशुद्ध आधिभौतिक ही रहता है। 'अपना, और अपने परिवार का पेट पालना' ही इनके जीवन का मुख्य उद्देश्य है। व्यक्तिगत स्वार्थ से सम्बद्ध श्रमलक्षण ऐसा कर्म्म विशुद्ध पशुधर्म्म माना गया है। क्योंकि इस कर्म्म में पशुधर्म्म की अपेक्षा कोई वैशिष्ट्य नहीं है। जो महानुभाव अपने आप को शिक्षित समझते हुए श्रमलक्षण कर्म्म के अनुगामी बनते हुए आत्मा समाज राष्ट्रमनुष्य की भावनाओं से वञ्चित रहते हैं, जिनके कर्म्म का मुख्य लक्ष्य आहार–विहारमात्र रहता है वैसे शिक्षित भाग्यशाली ! भी इसी कोटि में अन्तर्भुक्त हैं। मूर्खसमाज की भाँति इनका कर्म्मकलाप भी पशुधर्म्म से ही समतुलित है। हाँ दोनों में यह अन्तर अवश्य है कि, मूर्ख श्रमजीवी सहज आत्मानुग्रह से जहाँ सत्य–अहिंसादि पुण्यभावों का प्रेमी, तथा असत्य–हिंसादि पापभावों का विरोधी बनता हुआ अंशतः अनुगत रहता है वहाँ हमारे ये शिक्षित–सभ्य श्रमजीवी स्वार्थलिप्सा की चरमसीमा पर पहुँचाने के लिए सत्यादि दिव्य भावों की अणुमात्र भी अपेक्षा नहीं रखते। इनके लिए वही सत्य है, जिसके द्वारा ये परवञ्चना–द्वारा स्वार्थसाधन में सफलता प्राप्त कर सकते हों। इस दृष्टि से इन शिक्षित कर्म्मयोगियों ! (श्रम–जीवियों) का स्थान अशिक्षित श्रमजीवियों की अपेक्षा निम्न धरातल पर ही ठहरता है। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के आत्मचरभाग से सम्बद्ध ज्योतिर्गोगर्भित रेतस्–श्रद्धा के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक कर्म्मयोग तथा कर्म्मयोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मफला की दृष्टि से भक्तियोगपरीक्षा में 'वाङ्मय-अर्थयोग' माना गया है।

१८–प्राणमय क्रियायोगानुगत लौकिक भक्तियोग (सेवाधर्म्म) (२)—

अक्षर का भक्तियोग से सम्बन्ध बतलाया गया है। विज्ञानात्मा का आयुर्लक्षण प्राण, तथा प्रज्ञा–नात्मा का यशोलक्षण प्राण, दोनों अक्षरानुगत हैं। आयुप्राणगर्भित यशःप्राण को मूल बनाकर मनुष्य जो कर्म्म करता है, वही विज्ञानभाषा में 'तप' कहलाया है। शास्त्रज्ञान से वञ्चित, किन्तु शास्त्रनिष्ठ

के सहवास से अंशतः ज्ञानमात्रा से युक्त लौकिक मनुष्यों का वह कर्म,–जिसमें शारीरिक श्रम के साथ–साथ प्राणात्मिका श्रमप्रधानता (सावधानी) का भी समावेश रहता है—'तप' कहलाया है। विशुद्ध श्रमजीवी जहाँ मजदूर हैं, वहाँ तप कर्म्मानुयायी विभाग को 'सेवक' कहा जायगा। सेवाधर्म्मपरायण व्यक्ति को आधिदैविक ज्ञान का भी उपयोग करना पड़ता है। आधिभौतिक श्रम और आधिदैविक तप, दोनों के समन्वय से ही इसे हम 'भक्तियोग' कह सकते हैं। तस्मात् इसयोग में भी साधन-साध्य दोनों भौतिक ही हैं। अतः इसे कर्म्मात्मक भक्तियोग ही माना जायगा। सुसभ्य–शिक्षित–सम्भ्रान्त महानुभावों की सेवा करने वाला मानवधर्म एवंविध कर्म्मयोग का ही अनुयायी माना जायगा। पुरुषार्थ यहाँ भी वैयक्तिक स्वार्थ ही रहेगा। वर्त्तमान युग में अशिक्षितों के अतिरिक्त वर्त्तमानशिक्षा से शिक्षित महानुभावों का पुरुषार्थ भी यही सेवाधर्म्म रह गया है। यदि एक पत्थर तोड़ने वाला मजदूर दिनभर के परिश्रम का फल अपना पारिश्रमिक मानता है तो सेवाधर्म्मपरायण का मुख्य लक्ष्य भी मासिक वेतन ही बना रहता है। जिस सेवा का वह अनुगामी बना रहता है तत् सेवाकेन्द्र का स्वामी ही इस सेवक का उपास्य है इस लिए कि उसी के अनुग्रह से इसके आहार–विहार समाश्रित हैं। जो अन्तर अशिक्षित शिक्षित श्रमजीवी में बतलाया गया है, वही अन्तर अशिक्षित–शिक्षित सेवक वर्ग में समझना चाहिए। शिक्षित सेवक की अपेक्षा अशिक्षित सेवक का ही विशेष महत्व है। क्योंकि, यह आत्मसमर्पण–प्रक्रिया में शिक्षित सेवक की अपेक्षा विशेषरूप से सफल हो जाता है। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के प्रवरभाग से समन्वित आयुःप्राणगर्भित प्राणात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक भक्तियोग, एवं भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त दिग्दर्शन है। इसी को आत्मकलाहष्टि से भक्तिपरीक्षा में 'प्राणमय–क्रियायोग' माना गया है।

१६–मनोमय ज्ञानयोगानुगत लौकिक ज्ञानयोग (निरीक्षण)–(१)—

अव्यय का ज्ञानयोग से सम्बन्ध माना गया है। विज्ञानात्मा का उपलक्षण चिदंशात्मक विज्ञानभाग एवं प्रज्ञानात्मा का उपलक्षण चिदंशात्मक प्रज्ञानभाग दोनों विशुद्ध अव्यय से अनुप्राणित हैं। विज्ञानगर्भित प्रज्ञान को मूल बना कर पुरुष जो पुरुषार्थ करता है वही विज्ञानमात्रा में 'काम' कहलाता है। कर्म्मप्रभूत कला–शिल्पादि लौकिक कर्म्मों का वह परिज्ञाता, जो प्रज्ञारूप से कर्म्मठों (मजदूरों) का निरीक्षण करता है, तत्तद्विषयक तत्तल्लौकिक ज्ञानों से युक्त रहता हुआ जो स्वयं कर्म्म नहीं करता, अपितु कर्म्मकर्त्ताओं का सञ्चालन करता है वही इस 'काम' नामक कर्म्म का अनुयायी कहलाता है। इसका साधन भी ज्ञानसापेक्ष है साध्य भी ज्ञानसापेक्ष है। ज्ञान आधिदैविक तत्त्व है। अतएव कामात्मक इस कर्म्मयोग को 'ज्ञानयोग' कहा जासकता है। आधिभौतिक आविष्कार करने वाले लौकिक कला–शिल्पादि का स्वरूप से सञ्चालन करने वाले लौकिक व्यापारवर्गों का सञ्चालन करने वाले इत्यादि लौकिकवर्ग इसी कामलक्षण कर्म्मयोग के अनुगामी माने जायँगे। यद्यपि इनके निरीक्षण से अनेकों का स्वार्थसाधन होता है तथापि इनका निरीक्षण–कर्म्म भी तत्त्वतः व्यक्तिगत धर्मलिप्सा से ही सम्बन्ध रखता है अतएव पुरुषार्थदृष्ट्या ये ज्ञानयोगी भी श्रमजीवी, तथा सेवकवर्ग से ही समतुलित हैं। वर्त्तमान 'नेता' पद का भी इसी योग में अन्तर्भाव है। आदेशप्रभावों के सञ्चालक, लौकिकज्ञान (चातुर्य्य) से विभूषित नेतृवर्ग विशेषतः एवंविध ज्ञानयोग का ही उपासक है। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञानभाग से समन्वित विज्ञानगर्भित प्रज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक ज्ञानयोग का तथा ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त दिग्दर्शन है। इसी को आत्मकलादृष्टि से भक्तिपरीक्षा में 'मनोमय–ज्ञानयोग' कहा गया है।

२०–आर्षदृष्टि, और मानव का वर्गीकरण—

पूर्वप्रदर्शित योगत्रयी का विशुद्ध प्रत्यक्षदृष्टि, एवं तदनुगत बहिर्जगत् से सम्बन्ध है। वैषयिक-प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक पदार्थों के आधार पर उन्हें ही लक्ष्य बना कर श्रम–तपो–श्रम–लक्षण कर्मात्मक कर्म–भक्ति–ज्ञान–नामक लौकिक तीनों योग प्रतिष्ठित हुए हैं। मानवदृष्टि जहाँ तक दौड़ लगा सकती है, वहाँ तक सिवाय इन तीन मार्गों के किसी अन्य मार्ग का मानवमार्ग के सामने उपस्थित हो जाना असम्भव है। विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञान से सम्बद्ध इन्द्रियों के द्वारा जीवात्ममना केवल बहिर्मुख ही बन सकती है। क्योंकि इन्द्रियों का आभिमुख्य बहिर्मुख बनता हुआ बाह्यजगत् का ही अनुगामी है। जीवात्ममना का विनिगम हुआ प्रज्ञानस्वरूप इन्द्रियों के द्वारा। इन्द्रियां बहिर्मुख थीं। उनके द्वारा जीवात्ममना को प्राप्त हुए बाह्य भौतिक विषय। इनके द्वारा इसकी जीवनयात्रा का पशुओं की भाँति भलीभाँति सञ्चालन होता रहा। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक–परोक्ष–अन्तर्जगत् की ओर इसका ध्यान न गया, तो इसमें कौनसा आश्चर्य है। मानवसृष्टि के आरम्भकाल से आज तक अधिक संख्या ऐसे ही मनुष्यों की है जो बाह्यदृष्टि के ही अनुगामी बने हुए हैं। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' सिद्धान्तानुसार 'देव' नामक प्राकृत प्राण प्रकृत्या परोक्षप्रिय हैं। प्राकृत–अन्तर्जगत्–जो वैषयिक बहिर्जगत् का मूलाधार है–सर्वथा परोक्ष है, अन्तर्मुख है। बहिर्मुख इन्द्रियों के बाह्य विषयजाल में आबद्ध लौकिक मनुष्य अपनी लौकिक दृष्टि–ज्ञान–अनुभव से उसे [illegible] देख सकता है! देख सकते हैं वे विरले पुरुषधौरेय ही, जिन्होंने अपने ऐन्द्रियक जीवन के संयम से इन्द्रियों को अन्तर्मुख बना लिया है। ऐसे ही दिव्यद्रष्टा पुरुष 'ऋषि' कहलाते हैं, उन्हीं की दृष्टि 'आर्षदृष्टि' कहलाई है। यही आर्षदृष्टि 'परोक्षदृष्टि' मानी गई है। परोक्षदृष्टि के अनुग्रह से ही ऋषियों की बुद्धि पर अन्तर्मुख प्रत्यगात्मा के परोक्षज्ञान का अनुग्रह हुआ है। प्रत्यगात्मा के साथ होने वाले बुद्धि के अन्तर्योग–लक्षण बुद्धियोग के प्रभाव से ही उन महामहर्षियोंने मानियों के अन्तर्मुख परोक्षभाव का साक्षात्कार किया है। उसी साक्षात्कार के आधार पर उन्होंने सत्त्व–रज–तमोगुण–तारतम्य के द्वारा उस वर्णतत्त्व का परिचय प्राप्त किया है जो प्रकृतिभेद से व्यवस्थित है। यही वर्णभेद वास्तविक भेद है जिसके आधार पर मानवस्वभाव का वर्गीकरण अपेक्षित है।

२१–धर्मानुगत सर्वमय लौकिक बुद्धियोग (प्रवृत्तिप्रधान कर्म)—(४)

उक्त परोक्षदृष्टि के प्रभाव से तप:पूत महर्षियोंने आधिभौतिक–प्रत्यक्ष–प्रपञ्च के मूलभूत आध्यात्मिक एवं आध्यात्मिक प्रपञ्च के मूलभूत आधिदैविक–परोक्ष–प्रपञ्च का साक्षात्कार किया। उसी के आधार पर उन्होंने मानवस्वभाव की परोक्ष प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले वर्ण–प्रवर्ग–तत्त्व के आधार पर वर्ण–अवर्ण–व्यवस्था स्थापित की। एवं तदनुरूप ही मानवस्वभाव के लिए बुद्धिसम्मत विभिन्न कर्त्तव्य–कर्मों की व्यवस्था की। ऋषिदृष्टि के द्वारा सुव्यवस्थित यही प्राकृतिक नियमसंघात्मक–कर्त्तव्यकर्म 'सनातन–मानवधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ जो नित्या प्रकृति के नित्य नियमों पर व्यवस्थित रहता हुआ स्वाभाव है सनातन है शाश्वत है, अपरिवर्त्तनीय है। प्रकृति का ही नाम अन्तर्यामी है, अन्तर्यामी इस प्रजापति है, प्रजापति

अपने ऋ-त्-य-भाव से 'सत्य' है। इस सत्य का सत्यनियम ही धर्म्म है। अतएव सत्य और धर्म्म अभिन्न हैं, जैसाकि-'यो वै धर्म्मः सत्यं वै' इत्यादि वाक्यत्रयी श्रुति से प्रमाणित है *।

परात्पर का बुद्धियोग से सम्बन्ध बतलाया गया है। विज्ञानात्मा का सर्वांसिद्धलक्षण आङ्गुरपुरुष भाग, एवं प्रज्ञानात्मा का सर्वांशलक्षण तामसप्राधिप भाग, दोनों परात्परानुगत हैं। आङ्गुरपुरुषगर्भित आत्मस्थाधिप को मूल बना कर आत्मयोगलक्षण बुद्धियोग के द्वारा स्वप्रकृति के अनुरूप मनुष्य का कर्म्म करता है यही विज्ञानभाषा में 'स्वधर्म्म' कहलाया है। यही स्वधर्म्म शास्त्रीय वर्णाश्रमानुगत प्राकृतिक कर्म्म है। यही वेदोक्त विद्यासापेक्ष यज्ञ-तपो-दान-लक्षण सत्कर्म्म एवं विद्यानिरपेक्ष [illegible]-आपूर्त-दत्त-लक्षण सत्कर्म्म है। बुद्धिसापेक्ष होने से यह बुद्धियोग है। यद्यपि लौकिक फल पुत्रैषणादि लौकिक साधन-लक्षण यह भी पूर्वप्रतिपादित कर्म्मयोगात्मक कर्म्म-भक्ति ज्ञान-योगों की भांति उभयथा आधिभौतिक बनता हुआ निष्काम कर्म्मयोग ही है।

२२-लौकिक कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी का कर्म्मयोगत्व—

तात्पर्य यही है कि मानवीय दृष्टि को वैदिकी लौकिकी भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। लौकिक दृष्टिसापेक्ष लौकिक कर्म्म (जिनमें केवल लोकदृष्टि का सम्बन्ध है अतएव जिनका चरम फल आहार-विहारादि लक्षणा इन्द्रियारामता-मात्र है) योग्यता भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के मनःप्राणगर्भित वाग्भाग का कर्म्म अशिक्षित-सामान्य मानववर्ग से सम्बन्ध रखता है जो वर्ग-वाङ्मय श्रमकर्म्म का अनुगामी बनता हुआ 'श्रमजीवी' कहलाया है। इसी वर्ग को वाक्प्राधान्य से कर्म्मयोगी, तथा इनके श्रमात्मक वाङ्मय-शारीरिक कर्म्म को कर्म्मात्मक कर्म्मयोग कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ मानलक्षण आधिदैविक तत्त्व एकान्ततः अभिभूत रहता है। मनोवाग्गर्भित प्राणभाग का कर्म्म सामान्य-विशेष शिक्षित मानववर्ग से सम्बन्ध रखता है जो वर्ग प्राणमय तप-कर्म्म का अनुगामी बनता हुआ 'सेवक' (नौकर) कहलाया है। इसी वर्ग को प्राणप्राधान्य से भक्तियोगी, तथा इनके तपोरूप प्राणमय कर्म्म को कर्म्मात्मक भक्तियोग कहा जा सकता है। प्राणवाग्गर्भित मनोभाग का कर्म्म लौकिक विद्यानादि (भारतीय विज्ञानादि) उच्चशिक्षा-विभूषित मानववर्ग से सम्बन्ध रखता है, जो वर्ग मनोमय ज्ञान-कर्म्म का अनुगामी बनता हुआ 'आचिन्त्यतत्त्व-लोकाधिकाधिपति-न्यायाधीश' आदि विभिन्न उपाधियों से विभूषित हुआ है। इसी वर्ग को मनःप्रधानता से ज्ञानयोगी, एवं इनके ज्ञान कर्म्मशून्य तामस मनोमय कर्म्म को कर्म्मात्मक ज्ञानयोग कहा जा सकता है। कर्म्म-भक्ति-ज्ञानात्मक विज्ञानसम्परिष्कृत प्रज्ञानात्मा के क्षर-अक्षर-अव्यय भाग से समनुगत कर्म्मात्मा की वाक्-प्राण-मन:-कलाओं से क्रमशः उच्चावित-कर्म्म

*-यहाँ हमनें प्रकृतिसिद्ध सनातनधर्म्म (आर्षधर्म्म) को 'शाश्वतधर्म्म केवल शब्दसम्बन्धात्' से ही कह दिया है। वस्तुतः आचारलक्षण विधिरूप धर्म्म प्रतीकधर्म्म है यही प्राकृतिक धर्म्म है जो शाश्वत धर्म्मलक्षण आत्मतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित है। एवं इस दृष्टि से धर्म्म तत्त्वतः अप्राकृत प्रकृतिसम्बन्धात् ही है। शास्त्रतत्त्व का धर्म्मसूत्र (गीता) लक्षण सनातन आत्मधर्म्म को आलम्बन बनाने वाला प्रतीकधर्म्मात्मक विधि-निषेधात्मक धर्म्म ही 'मानवधर्म्म' माना गया है। तत्त्वतत्त्वानुप्रयात्मक 'भारतीय हिन्दू मानव और उसकी मानुकता' निबन्ध के द्वितीय-तृतीय-खण्डों में इस धर्म्मतत्त्व की विशद मीमांसा हुई है।

योगत्रित्य का विशुद्ध आत्मदृष्टि से सम्बन्ध है। वर्तमान युग के सामाजिक–जातीय राष्ट्रीय–आदि इतर लौकिक कर्मों का भी इन्हीं तीनों में से किसी न किसी में अन्तर्भाव किया जा सकता है। तीनों लौकिक कर्म बाह्येन्द्रिय–व्यापार–सापेक्ष हैं। इन्द्रियसञ्चालक प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रिय मन) है जो विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट है। विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा आत्मक्षरप्रधान है आत्मक्षर का कर्मयोग से सम्बन्ध है। अतएव इस त्रयी को कर्म योग कहना ही अन्वर्थ बनता है।

२३–काम्य–लौकिक–बुद्धियोग का आधिभौतिकत्व—

दूसरी है वैदिकदृष्टि जिसे हमने आधिदैविक कहा है। वैदिक यज्ञादि कर्मकलापों के अतिशय का परोक्ष प्राणदेवताओं से सम्बन्ध है। यज्ञजनित कर्मातिशय से कर्मकर्ता को ऐहलौकिक सुखादिक के पारलौकिक अभ्युदय नामक स्वर्गसुख भी प्राप्त होता है। स्वर्गलोक महिमा–पृथिवी के १७ वें अहर्गण पर प्रतिष्ठित है। स्थूलशरीर के अवसानानन्तर यज्ञकर्ता का मानुषात्मा यज्ञातिशयरूप इष्टात्मा के आकर्षण से आकर्षित होता हुआ इसी स्वर्गस्थान में यावत्–अतिशयसमाप्ति–पर्यन्त प्रतिष्ठित रहता है। अतिशय–समाप्त्यनन्तर पुनः इसे इसी भवचक्र (प्राणिजन्म) का अनुगामी बनना पड़ता है। आधिभौतिक भूपिण्डापेक्षया यद्यपि अहर्गणात्मिका पृथिवी आधिदैविकी है, तथापि तत्तत् सम्पूर्ण पार्थिव विवर्त आधिभौतिक ही माना गया है। अतएव स्वर्गफलरूप काम्य को भी आधिभौतिक ही कहा जायगा। और इस दृष्टि से इसे भी लौकिक कर्म ही कहा जायगा। अतएव भगवान् ने व्यक्तिस्वार्थ से सम्बन्ध रखने वाले अतएव त्रिगुणभावमय इन वेदोक्त कामनामय कर्म के प्रति 'वेदवादरताः पार्थ'–'कामात्मानः स्वर्गपराः'–'त्रैगुण्यविषया वेदा'–'भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्' इत्यादि शब्दों में अरुचि ही प्रकट की है। विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानप्रमानुगता कर्म–भक्ति–ज्ञान–बुद्धियोगात्मिका प्रथमा योगचतुष्टयी का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका आगे के परिच्छेदों से स्पष्टीकरण हो रहा है।

२४–परम्परया उद्बुद्ध योगानुगत आत्मा—

स्पष्टीकरण से पहिले प्रसङ्गोपात्त यह भी स्पष्ट कर लेना आवश्यक होगा कि योगानुष्ठाता जो कर्मात्मा उक्त योगचतुष्टयी में से किसी योग में योग्यतानुसार प्रवृत्त होता है उस कर्मात्मा में भी वही पर्वविभाग है जो प्रज्ञानात्मादि आत्माओं में बतलाए गए हैं। प्रत्येक आत्मा प्रपञ्चमूर्ति है। जिसका तात्पर्य यही है कि, प्रत्येक आत्मा अवश्य मात्रा–लक्षण परात्पर, महालक्षण अव्यय, उदारलक्षण अक्षर, मध्यरलक्षण आत्मक्षर, चारों पर्वों से युक्त है। साथ ही चारों पर्व आनन्द–विज्ञान–अन्तर्मनोरूप अव्ययादि पर्वों तथा मन–प्राण, वाक् रूप इन तीन क्षर पर्वों से युक्त रहते हैं। यह अनुप्रवेश ही आत्मा का आत्मस्वरूपलक्षण सामान्य धर्म है। कर्मात्मा में भूतात्मा प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर ये चार पर्व हैं। चारों पर्व क्रमशः अवश्य मात्रालक्षण परात्पर, महालक्षण अव्यय, उदारलक्षण अक्षर, मध्यरलक्षण आत्मक्षर से एवं आनन्दविज्ञानमनोलक्षण अव्ययादि पर्व, मन प्राण वाक् इन चारों पर्वों से अनुगृहीत हैं। कर्मात्मक लौकिक कर्मयोग (अन्न) के अनुगमन में कर्मात्मा का आत्मक्षर–वागनुगृहीत अर्थप्रधान वैश्वानरभाग उद्बुद्ध रहता है। कर्मात्मक लौकिक भक्तियोग (तप) के अनुगमन में कर्मात्मा का अक्षर–प्राणानुगृहीत क्रियाप्रधान तैजसभाग उद्बुद्ध रहता है। कर्मात्मक लौकिक ज्ञानयोग (काम) के अनुगमन में कर्मात्मा का अव्यय–मनोऽनुगृहीत ज्ञानप्रधान प्राज्ञभाग उद्बुद्ध रहता

है। कर्म्मात्मक वैदिक बुद्धियोग (यज्ञकर्म) के अनुगमन में कर्म्मात्मा का परात्परानन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयो-अनुगृहीत भूतात्मभाग उद्बुद्ध रहता है।

२५–योगानुगत प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानर–आत्मा—

तात्पर्य यह हुआ कि, मत्यरलक्षण आत्मक्षर, अर्थप्रधाना वाक् , अर्थप्रधान वैश्वानर, उभयलक्षण अक्षर, क्रियाप्रधान प्राण क्रियाप्रधान तैजस अमृतलक्षण अव्यय, ज्ञानप्रधान मन, ज्ञानप्रधान प्राज्ञ इन सबको अपने गर्भ में मुक्त रखने वाला यह मायालक्षण परात्पर, आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मय समाप्य मलवत् आत्मपर्व से अनुगृहीत भूतात्मा वैदिक कर्म्मयोगानुष्ठान में प्रधान बना रहता है जिसे प्रकृत में हमनें बुद्धियोग कहा है।

आत्मक्षर, वाक् वैश्वानर, अव्यय मन प्राज्ञ, परात्पर आनन्दविज्ञानमन, भूतात्मा इन सबको अपने गर्भ में मुक्त रखने वाला उभयलक्षण अक्षर, क्रियाप्रधान प्राण से अनुगृहीत तैजसात्मा लौकिक-कर्म्मात्मक भक्तियोग (तप) के अनुष्ठान में प्रधान बना रहता है।

आत्मक्षर, वाक् वैश्वानर, अक्षर, प्राण तैजस परात्पर, आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मय आत्मपर्व भूतात्मा, इन सबको अपने गर्भ में मुक्त रखने वाला अमृतलक्षण अव्यय, ज्ञानप्रधान मनः पर्व से अनुगृहीत प्राज्ञात्मा लौकिक-कर्म्मात्मक-ज्ञानयोग (ब्रह्म) के अनुष्ठान में प्रधान बना रहता है।

परात्पर, आनन्दविज्ञानमन भूतात्मा अव्यय , मन, प्राज्ञ, अक्षर, प्राण तैजस, इन सबको अपने गर्भ में मुक्त रखने वाला मत्यरलक्षण आत्मक्षर, अर्थप्रधाना वाक् से अनुगृहीत वैश्वानरात्मा लौकिक-कर्म्मात्मक कर्म्मयोग (मन) के अनुष्ठान में प्रधान बना रहता है।

२६–भूत–देव–यज्ञ–आत्म–भेदभिन्ना अग्निचतुष्टयी, एवं तदनुगता योगचतुष्टयी—

कर्म्मयोगचतुष्टयी में साधन अग्नितत्त्व बनता है साध्य विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा बनता है साधक भूतात्मा बनता है। साधनरूप साधनभूत अग्नितत्त्व के भूतसत्याग्नि देवसत्याग्नि, यज्ञसत्याग्नि, आत्मसत्याग्नि ये चार विवर्त माने गए हैं जैसाकि 'चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि अनुगम वचन से प्रमाणित है। अग्नि के ये चारों पर्व क्रमशः भूतात्मा के आत्मलक्षण भूतात्मा, कारण शरीरलक्षण प्रज्ञानात्मा सूक्ष्मशरीरलक्षण तैजसात्मा, स्थूलशरीरलक्षण वैश्वानरात्मा, इन चार पर्वों से सम्बद्ध है। कर्म्मयोगात्मिका योगचतुष्टयी में यह अग्निचतुष्टयी ही साधन बनती है। अन्य आत्मपर्वों की भाँति यह साधनाग्निचतुष्टयी भी परात्परादि चारों पर्वों से क्रमशः अनुगृहीत है। ईश्वरीय गूढोत्मा जीवानुगत गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, महानात्मा विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा भूतात्मा, अव्ययात्मा, इन चार आत्मपर्वों का भक्तियोग-

परीक्षा में भलीभाँति विश्लेषण किया जाचुका है। आठों में से ईश्वरीय गूढ़ोत्मा परात्पर से, जीवानुगत गूढ़ोत्मा अव्यय से, अव्यक्त-महान् अक्षर से, विज्ञान प्रज्ञान आत्मक्षर से, भूतात्मा विश्वरक्षर से एवं अव्यात्मा वैकारिक क्षर से अनुगृहीत है। इस विश्लेषण को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रस्तुत योगचतुष्टयी का समन्वय करना चाहिए। तात्पर्य इस विश्लेषण का यही हुआ कि—

२७—कर्म्मात्मक कर्म्मयोग का अधिष्ठाता वैश्वानरात्मा (१)—

(१)—कर्म्मात्मक कर्म्मयोग में साधनभूत अव्यात्मा के परात्पर-अव्यय-अक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मख्यात्नि, ब्रह्मख्यात्नि, देवख्यात्नि, ये तीनों पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के बाहुपुरुष, विज्ञान, आयु प्राण, ये तीन पर्व, प्रज्ञानात्मा के सामञ्जस्यविध, प्रज्ञान यशः प्राण, ये तीन पर्व एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, मनोमय प्रज्ञात्मा, प्राणमय तैजसात्मा ये तीन पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अव्यात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत अव्यात्मा के चौथे उद्बुद्ध भूतख्यात्नि नामक पर्व में साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध ज्योतिर्गा नामक पर्व में साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध रेतः-श्रद्धा नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध वाङ्मय 'वैश्वानरात्मा' नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

२८—कर्म्मात्मक भक्तियोग का अधिष्ठाता तैजसात्मा (२)—

(२)—कर्म्मात्मक भक्तियोग में साधनभूत अव्यात्मा के परात्पर-अव्यय का अक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मख्यात्नि ब्रह्मख्यात्नि, भूतख्यात्नि ये तीन पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के बाहुपुरुष विज्ञान ज्योतिर्गा ये तीन पर्व, प्रज्ञानात्मा के सामञ्जस्यविध, प्रज्ञान, रेतः-श्रद्धा ये तीन पर्व एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा मनोमय प्रज्ञात्मा वाङ्मय वैश्वानरात्मा, ये तीन पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अव्यात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत अव्यात्मा के चौथे उद्बुद्ध देवख्यात्नि-नामक पर्व में, साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध आयु-प्राण नामक पर्व में साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध यशःप्राण नामक पर्व में एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्राणमय तैजसात्मा' नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

२९—कर्म्मात्मक ज्ञानयोग का अधिष्ठाता प्रज्ञात्मा (३)—

(३-)कर्म्मात्मक ज्ञानयोग में साधनभूत अव्यात्मा के परात्पर-अक्षर-का अक्षर-भाग से सम्बद्ध आत्मख्यात्नि देवख्यात्नि भूतख्यात्नि ये तीनों पर्व, साध्यभूत विज्ञानात्मा के बाहुपुरुष आयु प्राण ज्योतिर्गा, ये तीनों पर्व प्रज्ञानात्मा के सामञ्जस्यविध, यशःप्राण रेतः-श्रद्धा ये तीनों पर्व एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा प्राणमय तैजसात्मा वाङ्मय वैश्वानरात्मा ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अव्यात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत अव्यात्मा के चौथे उद्बुद्ध ब्रह्मख्यात्नि नामक पर्व में साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चौथे

उद्बुद्ध विज्ञान नामक पर्व में, साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्रज्ञान नामक पर्व में एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध मनोमय प्राज्ञात्मा नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

३०—कर्मात्मक बुद्धियोग का अधिष्ठाता समष्ट्यात्मा (४)—

(४)—कर्मात्मक बुद्धियोग में साधनभूत अध्यात्मा के अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर भाग से सम्बद्ध ब्रह्माग्नि देवाग्नि भूताग्नि ये तीनों पर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के विज्ञान वायु प्राण ज्योतिर्गौ, ये तीनों पर्व प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञान पराप्राण रेत-भाग, ये तीनों पर्व एवं साधकभूत भूतात्मा के मनोमय प्राज्ञात्मा प्राणमय तैजसात्मा, वाङ्मय वैश्वानरात्मा ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अध्यात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत अध्यात्मा के चौथे उद्बुद्ध आत्मस्वाग्नि नामक पर्व में साध्यभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध वायुपुरुष नामक पर्व में साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध सम्वत्सराग्नि नामक पर्व में एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व, साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध आनन्द-विज्ञानमनोमय 'भूतात्मा' नामक पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है।

कर्मयोगात्मिका प्रस्तुत योगचतुष्टयी में जिन विज्ञान-प्रज्ञान-पर्वों को साध्य बतलाया गया है वे ही भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बन जाते हैं, जैसा कि अग्रिमरूप में स्पष्ट किया जाने वाला है। एवमेव भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी के साध्यभूत अव्यक्त-महान् ज्ञानयोगात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बन जाते हैं। एवं ज्ञानयोगात्मिका योगचतुष्टयी का साध्यभूत बीजानुगत गूढ़ात्मा बुद्धियोगात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बन जाता है। इसप्रकार पूर्व पूर्व योग के साध्य उत्तर उत्तर योग में साधन बन जाते हैं। साधन बने हुए उन उन आत्मपर्वों के गर्भ में पूर्व पूर्व योगों के साधन भी अन्तर्भुक्त रहते हैं। उदाहरण के लिए भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी को ही लीजिए। विज्ञान-प्रज्ञानात्मपर्व कर्मयोगात्मिका योगचतुष्टयी में साध्य हैं, एवं अध्यात्मपर्व साधन हैं। भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी में विज्ञान प्रज्ञान साधन बन जायँगे जो विज्ञान प्रज्ञान कर्मयोग-चतुष्टयी में साध्य बने हुए थे। साथ ही कर्मयोगचतुष्टयी में साधन बने हुए अध्यात्मपर्व भी भक्तियोग-चतुष्टयी में साधन बनने वाले विज्ञान प्रज्ञानपर्वों में अन्तर्भुक्त रहेंगे। यही व्यवस्था आगे के योगों में समझनी चाहिए, जिसका तत्प्रकरणों में भी स्पष्टीकरण कर दिया जायगा।

१—कर्म्मात्मकयोगपरिलेखा -
(१)-तत्रच -कर्म्मात्मककर्म्म-
योगपरिलेख प्रथमः

१

—कर्म्मात्मककर्म्मयोगानुष्ठाता-
वाङ्मयो भूतात्मा वैश्वानर(१)

	१	२		३
अन्तर्नु मत्पर्वाणि	अग्न्यात्मा साधनम्	विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा—साध्यम्		देही भूतात्मा—साधक
	अग्न्यात्मपर्वाणि कर्मयुग्मसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उत्युग्म-साध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उत्युग्म-साध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि कर्मयुग्म—साधका
सर्वं मात्रानुगतः परात्परः	१—अमृतसस्याग्निः	वायुपुरुषः	साम्यसहारिणः,	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
मन्मात्रानुगतः अव्ययः	२—ब्रह्मसस्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमय—प्रज्ञात्मा
मन्मात्रानुगतः अक्षरः	३—देवसस्याग्निः २	आयुः प्राणः २	यशः प्राणः २	प्राणमय—वैश्वसात्मा २
आत्मपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व उत्सुखसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उत्सुखसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उत्सुखसाध्यम्	भूतात्मपर्व उत्सुखसाधक
मन्मात्रानुगतः क्षरात्मा	४—भूतसस्याग्निः १	ज्योतिर्गौः १	रेतः—श्रद्धा १	वाङ्मयो—वैश्वानरात्मा १

स एष - उत्युग्माग्न्यात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-भूतात्मा-पर्वाणिमिः-उत्सुख-कर्म्मात्मा-
विज्ञानात्मप्रज्ञानात्मा-वाङ्मयो वैश्वानरप्रधानो भूतात्मा-कर्म्मात्मक कर्म्मयोगानुष्ठाता प्रधानतम

(२)—स एषः—कर्म्मात्मकभक्ति-योगपरिलेखो द्वितीयः—

२

[illegible]	अग्न्यात्मा साधनम्	विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		वैश्वी भूतात्मा—साधकः
अन्तर्मुखपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्वाणि सम्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि सम्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि सम्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि सम्मुग्ध-साधकाः
[illegible]	१ भास्वरस्याग्निः	चाक्षुषपुरुषः	सम्वत्सराग्निः	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
[illegible]	२—अङ्गिरसस्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमय—प्रज्ञात्मा
[illegible]	३—भूतस्याग्निः २	ज्योतिर्गौः २	रेतः—श्रद्धा २	वाङ्मयो—वैश्वानरात्मा २
बाह्यपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व सम्मुग्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व सम्मुग्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व सम्मुग्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व सम्मुग्धसाधकः
[illegible]	४—वैश्वमस्याग्निः १	आयुः प्राणः १	परः—प्राणः १	प्राणमयः—तैजसात्मा १

स एषः—सम्मुग्ध—अग्न्यात्म—विज्ञानात्म—प्रज्ञानात्म—भूतात्मपर्वाभिः—अङ्गुष्ठ—मात्रपुरुषः—
विज्ञानात्म—प्रज्ञानात्म—[illegible]—भूतात्मा—कर्म्मात्मा साक्षिकर्मयोगानुष्ठाने प्रभवति

—कर्म्मात्मकभक्तियोगानुष्ठाता प्राज्ञमयो भूतात्मा तैजसः (२)

३—स एष -कर्म्मात्मकज्ञानयोग—परिलेखस्तृतीयः

३

	१	२		३
	अन्न्यात्मा साधनम्	विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्य		देही भूतात्मा—साधकः
ऊर्ध्वयुक्पर्वाणि	अन्न्यात्मपर्वाणि ऊर्ध्वयुग्भसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि ऊर्ध्वयुग्भसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि ऊर्ध्वयुग्भसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि ऊर्ध्वयुग्भ-साधकाः
सर्वं मायाशुक्रः पञ्चकः	१-ऋतसत्याग्निः	वाक्पुरुषः	सागरसवारिधिः	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
अम्भशुक्रः पञ्चकः	२-दैवसत्याग्निः	असुः प्राणः	वयः प्राणः	प्राणमयः-तैजसात्मा
मध्यशुक्रः पञ्चकः	३-भूतसत्याग्निः ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः—श्रद्धा ३	वाङ्मयो—वैश्वानरात्मा ३
अधःपर्वाणि	अन्न्यात्मपर्व ऊर्ध्वयुक्साधनम्	विज्ञानात्मपर्व ऊर्ध्वयुक्साध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व ऊर्ध्वयुक्साध्यम्	भूतात्मपर्व ऊर्ध्वयुक्साधकः
प्रथमशुक्रः पञ्चकः	४-ब्रह्मसत्याग्निः १	विज्ञानम् १	प्रज्ञानम् १	मनोमयः-प्रज्ञात्मा १

स एष-ऊर्ध्वयुग-अन्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्म-पर्वात्मक-ऊर्ध्वयुक्-अन्न्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मलक्षण प्राज्ञमयो-भूतात्मा-कर्म्मात्मके ज्ञानयोगानुष्ठाने प्रधानम्

कर्म्मात्मकज्ञानयोगानुष्ठाता मनोमयो भूतात्मा प्राज्ञः (३)

अस्य तु पर्वाणि	१ अव्ययात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्कृतः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		३ दैवी भूतात्मा—साधकः
	अव्ययात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म—पर्वाणि उन्मुग्ध—साधकाः
प्रथमपुरुष पावकः	१—ब्रह्मसत्याग्नि	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमय—प्रज्ञात्मा
उत्तमपुरुषः वायुः	२—देवसत्याग्नि	आयुः प्राणः	यशः प्राणः	प्राणमयः—तैजसात्मा
मध्यमपुरुष भास्करः	३—भूतसत्याग्नि ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः—श्रद्धा ३	वाङ्मयो—वैश्वानरात्मा ३
पञ्चपर्वाणि	अव्ययात्मपर्व उन्मुग्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उन्मुग्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उन्मुग्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उन्मुग्धसाधकः
सर्व आत्मपुरुष-परस्पर	४-आत्मसत्याग्नि १	आत्मपुरुषः १	साम्परायिकः १	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा १

स एष-उन्मुग्ध-अव्ययात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्मसम्पूर्णोऽपि-स्वरूपेण-अव्ययात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मस्वरूपो भूतात्मसम्पन्नो भूतात्मा-कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोगानुष्ठान प्रधानम्

(४)-स एष-कर्म्मात्मकबुद्धियोग

परिलेखश्चतुर्थः

४

—कर्म्मात्मकबुद्धियोगानुष्ठाता

आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा-

भूतात्मा (४)

प्रकारान्तरम्—

१

	१	२	३
(१)	मकारः	उकारः	अकारः
(२)	आत्मक्षर	अक्षर	अव्यय
(३)	वाक्	प्राण	मनः
(४)	वैश्वानरः	तैजस	प्राज्ञ

—इत्येवात् गर्भे भुक्त्वा–अर्द्धमात्र–परात्पर–आनन्द–विज्ञान–मनोऽनुगृहीतो भूतात्मा भूतात्मा विज्ञान–सम्परिष्वक्तः–कर्म्मात्मके बुद्धियोगानुष्ठाने प्रधानम्

२

	१	२	३
(१)	मकार	उकार	अर्द्धमात्रा
(२)	आत्मक्षर	अक्षरः	परात्पर
(३)	वाक्	प्राण	आ०वि० मनांसि
(४)	वैश्वानर	तैजसः	भूतात्मा

—इत्येवात् गर्भे भुक्त्वा–अक्षर–अव्यय–मनोऽनुगृहीत प्राज्ञो भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्तः–कर्म्मात्मके ज्ञानयोगानुष्ठाने प्रधानम्

३

	१	२	३
(१)	मकारः	अकारः	अर्द्धमात्रा
(२)	आत्मक्षरः	अव्ययः	परात्परः
(३)	वाक्	मन	आ०वि० मनांसि
(४)	वैश्वानरः	प्राज्ञ	भूतात्मा

—इत्येवात् गर्भे भुक्त्वा–उकार–अक्षर–मनोऽनुगृहीत–तैजसो भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्तः कर्म्मात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

४

	१	२	३
(१)	अकारः	उकार	अर्द्धमात्रा
(२)	अव्यय	अक्षरः	परात्परः
(३)	मन	प्राण	आ०वि० मनांसि
(४)	प्राज्ञ	तैजसः	भूतात्मा

—इत्येवात् गर्भे भुक्त्वा–मकार–आत्मक्षर–वागनुगृहीतो वैश्वानरो–भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्तः कर्म्मात्मके कर्म्मयोगानुष्ठाने प्रधानम्

१	मद मात्रा	अकार:	उकार:	इत्येतान् मों मुख्य-म समस्यानि पञ्चविंशतिभ्यात्मानुगत-वाक्, मयो वैश्वानरात्मा कर्मयोगात्मके कर्मयोगानुष्ठाने प्रधानम्	१ भूतात्मा-वैश्वानर: कर्मयोगात्मक:- कर्मयोग (१)
२	परात्पर:	अव्यय:	अक्षर:		
३	आनन्दघन:	ब्रह्मघन:	देवघन:		
४	षोडशपुरुष:	विज्ञानम्	आयुःप्राण:		
५	आत्मप्रतिष्ठ:	प्रज्ञानम्	यशः प्राण:		
६	भूतात्मा	मनोमय प्रज्ञात्मा	प्राणमयकर्मात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मन:	प्राण:		
१	मद मात्रा	अकार:	मकार:	इत्येतान् गर्भेषु प्रज्ञा-वैश्वकराप्त- आयु:प्राण-यश:प्राणा मायानुगत:- प्राणमयतैजसात्मा-भक्तियोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्	२ भूतात्मा-तैजस: कर्मयोगात्मक:- भक्तियोग (२)
२	परात्पर:	अव्यय:	आत्मक्षर:		
३	आनन्दघन:	ब्रह्मघन:	भूतघन:		
४	षोडशपुरुष:	विज्ञानम्	ज्योतिर्गौ:		
५	आत्मप्रतिष्ठ:	प्रज्ञानम्	रेत-श्रद्धा		
६	भूतात्मा	मनोमय: प्रज्ञात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मन:	वाक्		
१	मद मात्रा	उकार:	मकार:	इत्येतान् गर्भे मृ... विज्ञान-... मनोमय... कर्मयोगात्मके ज्ञानयोगानुष्ठाने प्रधानम्	३ भूतात्मा प्राज्ञ: कर्मयोगात्मक:- ज्ञानयोग (३)
२	परात्पर:	अक्षर:	आत्मक्षर:		
३	आनन्दघन:	देवघन:	भूतघन:		
४	षोडशपुरुष:	आयु: प्राण:	ज्योतिर्गौ:		
५	आत्मप्रतिष्ठ:	यश: प्राण:	रेत-श्रद्धा		
६	भूतात्मा	प्राणमयकर्मात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	प्राण:	वाक्		
१	अकार:	उकार:	मकार:	इत्येतान् गर्भे भूतात्मा ... पुरुष- ... -मनोमयो ... कर्मयोगात्मके बुद्धियोगानुष्ठाने प्रधानम्	४ भूतात्मा-भूतात्मा कर्मयोगात्मक:- बुद्धियोग (४)
२	अक्षर:	अव्यय:	आत्मक्षर:		
३	ब्रह्मघन:	देवघन:	भूतघन:		
४	विज्ञानम्	आयु: प्राण:	ज्योतिर्गौ:		
५	प्रज्ञानम्	यश: प्राण:	रेत-श्रद्धा		
६	मनोमय: प्रज्ञात्मा	प्राणमयकर्मात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा		
७	मन:	प्राण:	वाक्		

प्रकारान्तरम्—

(१) प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-गर्भित-भूतात्मा——बुद्धियोगात्मा बुद्धियोगानुष्ठाता

(२) तैजस-प्राज्ञ-भूतात्म-गर्भित-प्राज्ञात्मा——ज्ञानयोगात्मा-ज्ञानयोगानुष्ठाता

(३) प्राज्ञ-भूतात्म-वैश्वानरगर्भित-तैजसात्मा—भक्तियोगात्मा-भक्तियोगानुष्ठाता

(४) तैजस-प्राज्ञ-भूतात्मगर्भित-वैश्वानरात्मा——कर्मयोगात्मा-कर्मयोगानुष्ठाता

विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मानुगता योगचतुष्टयी—

१ २ ३

विज्ञानात्मपर्वाणि प्रज्ञानात्मपर्वाणि भूतात्मपर्वाणि

(१) अव्ययपुरुषः—शान्तसदाशिवः—भूतात्मा——बुद्धियोगी (परात्परानुगतः)

(२) विज्ञानम्——प्रज्ञानम्———प्राज्ञात्मा——ज्ञानयोगी (अव्ययानुगतः)

(३) आयुःप्राणः——यशः प्राणः——तैजसात्मा—भक्तियोगी (अक्षरानुगतः)

(४) ज्योतिर्गौः——रेतः श्रद्धा——वैश्वानरात्मा-कर्मयोगी (आत्मक्षरानुगतः)

---

(१) अव्ययपुरुषगर्भितः शान्तसदाशिवः—तदनुगतो भूतात्मा—आत्मा (बुद्धियोगप्रविष्टाभूमिः)

(२) विज्ञानगर्भितं प्रज्ञानम्———तदनुगतः प्राज्ञात्मा—कारणशरीरम् (ज्ञानयोगप्रविष्टाभूमिः)

(३) आयुःप्राणगर्भिता यशः प्राणाः——तदनुगतस्तैजसात्मा—सूक्ष्मशरीरम् (भक्तियोगप्रविष्टाभूमिः)

(४) ज्योतिर्गौगर्भितं रेतः, श्रद्धा च——तदनुगतो वैश्वानरात्मा-स्थूलशरीरम् (कर्मयोगप्रविष्टाभूमिः)

---

(१)—वैदिककर्मानुष्ठानम्-तदनुगता—शान्तसदाशिवोपजीविनो वैदिकाः (बुद्धियोगिनः)

(२)—लौकिकज्ञानानुष्ठानम्—तदनुगता—प्रज्ञोपजीविनो ज्ञानिनः (ज्ञानयोगिनः)

(३)—लौकिकसेवानुष्ठानम्—तदनुगता—यशः प्राणोपजीविनः सेवकाः (भक्तियोगिनः)

(४)—लौकिकश्रमानुष्ठानम्—तदनुगता—रेतः श्रद्धोपजीविनः श्रमजीविनः (कर्मयोगिनः)

सेयं विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मानुगता भूतात्मनो योगचतुष्टयी प्रथमा—

१—बहिर्मुखाः श्रमजीविनः——कर्मयोगिनो लौकिकाः

२—बहिर्मुखाः सेवाधर्मपरायणाः—भक्तियोगिनो ,,

३—बहिर्मुखाः—भूतविज्ञाननिष्ठाः—ज्ञानयोगिनो ,,

४—अन्तर्मुखाः-वैदिककर्मैकासक्ता-बुद्धियोगिनो वैदिकाः

●—भक्त्यात्मिका भक्तियोग चतुष्टयी द्वितीया

२१—'परिचर्य्या' भावानुगत वाङ्मय भक्तियोग (१)—

(१)—अब क्रमप्राप्त दूसरी भक्तियोगचतुष्टयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। स्पष्ट किया जा चुका है कि, अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा के आधार पर भक्तियोग प्रतिष्ठित है। योगानुबन्धी वही भूतात्मा है। केवल साधन दृष्टि में अन्तर है। कर्म्मयोगानुष्ठान में भूतात्मा जहाँ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा का अनुगामी बना रहता है, वहाँ भक्तियोगानुष्ठान में वही भूतात्मा विज्ञानात्मयुक्त प्रज्ञानरूप (बुद्धियुक्त मन) को साथ लेता हुआ अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा की ओर प्रधान रूप से अनुगत रहता है। भूतात्मा की इस महदात्मानुगति का ही नाम भक्तियोग है, जिसके महानात्मपर्व-भेद से कर्म्मयोगवत् चार विवर्त्त हो जाते हैं। उन्हीं का क्रमशः सोदाहरण स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

अव्यक्तात्मा के आत्मस्वरूपानुगत शरीरगुणभाग से सम्तुलित महानात्मा के आत्मस्वरूपानुगत हृद्-ऊर्क्-भैक्षों को मूल बना कर विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञान के ज्योतिर्विसरणुगत रेतःधारा साधन-द्वारा भूतात्मा अपने आत्मस्वरूपप्रधान वैश्वानरभाग से जो कर्म्म करता है उसे ही विज्ञानभाषा में 'परिचर्य्या' कहा गया है। उपास्योपासकभाव से वञ्चित यथाजात, लौकिक मनुष्य ही इस परिचर्य्यालक्षण भक्ति के अनुगामी बने रहते हैं। स्पष्टीकरण के लिए यों समझिए कि उपास्य तत्त्व महानात्मा के चातुर्विध्य से चार भागों में विभक्त है। महानात्मा का तत्त्वभाग अव्यक्तात्मा के परात्पर भाग से सम्तुलित होता हुआ परात्परप्रधान है इसकी उपासना 'आत्मोपासना' है। महानात्मा का महद्भाग अव्यक्तात्मा के अन्तर्य्यामी भाग से सम्तुलित होता हुआ अव्ययप्रधान है इसकी उपासना 'सगुणेश्वरोपासना' है। महानात्मा का सौम्यभाग अव्यक्तात्मा के सूत्र-तन्तुत्व से सम्तुलित होता हुआ अक्षरप्रधान है इसकी उपासना 'देवोपासना' है। महानात्मा के हृद्-ऊर्क्-भैक्ष-भाग अव्यक्तात्मा की शरीरगुहा से सम्तुलित होते हुए आत्मस्वरूपप्रधान हैं इसकी उपासना 'भूतोपासना' है। अश्वत्थ-वट-तुलसी आदि वृक्षों का पूजन राम-कृष्णादि अवतारपुरुषों की प्रतिमाओं का पूजन आदि आदि-जितने भी भक्तिप्रकार हैं जिन्हें हम 'साम्प्रदायिकभक्ति' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं उन सब का आत्मस्वरूपमुख्या भूतोपासना में ही अन्तर्भाव है। भूत-पशु-भैरव-प्रेतादि की उपासना का भी इसी में अन्तर्भाव माना जायगा। सम्प्रदायप्रवर्त्तकों की उपासना अद्वैत गुरुप्रतिमाओं की उपासना आदि प्रकार भी इसी पथ के अनुगामी माने जायँगे। भारतातिरिक्त इतर देशों के विभिन्न भक्तिमार्ग, जिनका तत्सम्प्रदायविशेषप्रवर्त्तक तत्तत् महापुरुषों से (ईसामसीह-मुहम्मद-अब्दुल-आदि आदि सम्प्रदायप्रवर्त्तक मान्य आचार्यों से) सम्बन्ध है-का इसी भूतोपासना में अन्तर्भाव माना जायगा। इस मार्ग में साधन अस्पष्टतया आधिभौतिक है जो उपास्य प्रत्यक्षतया प्रतिमादि द्वारा परोक्ष आधिदैविक है इसलिए तो इसे 'भक्तियोग' कहा जायगा। साथ ही तत्त्वतः साध्य-रूप फल के भूतात्मक होने से भक्तयात्मक कर्म्मयोग माना जायगा। इष्ट (धनसम्पत्ति) सख (मनोभाव) भोग (अन्नादिविविध भौतिक सम्पत्ति), इन तीन कामनाओं में समस्त कामनाएँ अन्तर्भूत हैं। भूतोपासक इन्हीं कामनाओं को लक्ष्य में रखकर ही एवंविध भक्तिमार्ग में प्रवृत्त होता है। वृक्षादि पूजन से स्वास्थ्य कामना की जाती है भगवद्विग्रहों से पुत्र-कलत्रादि सम्पत्-परिग्रह की याचना की जाती है। भूत-प्रेतादि की उपासना के द्वारा भी ऐहलौकिक कामनाओं का ही स्पष्टीकरण किया जाता है। इन्हीं सब कारणों से इस भक्तियोग को भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग ही कहना

अन्वर्थ बनता है। अव्ययात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा के आत्मक्षर भाग से समन्वित शिरोगुहागर्भित शुद्धकर्मयोग मार्गों पर प्रतिष्ठित ज्योतिर्मार्गगर्भित रेतस्-यज्ञ द्वारा संचालित मनस्तात्मक कर्म्मयोग, तथा कर्म्मयोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकला दृष्टि से 'वाङ्मय कर्मयोग' कहा जा सकता है, जो लौकिक, कर्म्मात्मक-कर्म्मयोग से सर्वथा समतुलित है।

३२—'भक्ति'—भावानुगत प्राणमय भक्तियोग (२)—

(२)—अक्षर भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अव्ययात्मा के अक्षरानुगत स्तुतजपस्तूप से समतुलित महानात्मा अक्षरानुगत सौम्यप्राण को मूल बना कर, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के वायुप्राण गर्भित यज्ञप्राणरूप साधन द्वारा भूतात्मा अपने अक्षरप्रधान तैजस भाग से जो कर्म्म करता है उसे ही विज्ञानभाषा में 'भक्ति' कहा गया है। प्राकृतिक प्राणदेवता ही इस भक्तिमार्ग की मूलप्रतिष्ठा है। अपनी आध्यात्मिक संस्था में भुक्त प्राणात्मक (रसरूपात्मक) अग्नि-वायु-आदित्य-वरुण-इन्द्र-चन्द्रमा-त्वष्टा-आदि आदि देवताओं का उपासनात्मक एक विशेष प्रणाली के द्वारा प्राकृतिक प्राणदेवताओं के आकर्षण से स्वप्राणों को सुव्यवस्थित बनाते हुए अपने आपको निरापद बनाए रखना ही इस उपासना का फल है। देवप्राण के सम्बन्ध से इस उपासना को 'देवोपासना' कहा जा सकता है जिस उपासना का 'प्राणं रसमुद्गीथमुपासीत'-'उद्गीथमक्षरमुपासीत'-'चन्द्रमसमुद्गीथमुपासीत' इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। अव्ययात्मानुगत स्तुत-स्तम्भ द्वारा आधिदैविक प्राणदेवताओं का आकर्षण होता है, एवं महानात्मानुगत सौम्य प्राण अध्यात्म में आयत प्राण देवताओं की प्रतिष्ठा बनता है। यह उपासनामार्ग केवल भारतीय मानववर्ग में ही अतीत में पुष्पित पल्लवित हुआ है। यहाँ साधनरूप से अधिभूत साध्यरूप से अधिदैवत (प्राणदेवता), दोनों का समान रूप से समतुलन है। अत इसे भक्तिलक्षणानुसार अक्षरात्मक भक्तियोग कहा जा सकता है। अव्ययात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा के अक्षरभाग से समन्वित स्तुतजपस्तूपगर्भित सौम्य प्राण पर प्रतिष्ठित, वायुप्राणगर्भित यज्ञप्राण के द्वारा संचालित अक्षरात्मक भक्तियोग, तथा भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से 'प्राणमय क्रियायोग' कहा जा सकता है जो लौकिक-कर्म्मात्मक-भक्तियोग से सर्वथा समतुलित है।

३३—'प्रपत्ति'—भावानुगत मनोमय भक्तियोग (३)—

(१)—अव्यय ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा बतलाया गया है। अव्ययात्मा के अव्ययानुगत अन्तर्यामी से समतुलित महानात्मा के अव्ययानुगत महत्तत्त्व को मूल बना कर, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के विज्ञानगर्भित प्रज्ञानरूप साधन द्वारा भूतात्मा अपने अव्ययप्रधान प्राज्ञभाग के द्वारा जो कर्म्म करता है, उसे ही विज्ञानभाषा में 'प्रपत्ति' कहा गया है। मूल-रैम-कल्प-सम्पादक, विज्ञानभाषा में 'साक्षीसुपर्ण' नाम से प्रसिद्ध देवतत्त्वात्मक ईश्वरतत्त्व ही इस भक्तिमार्ग की मूलप्रतिष्ठा बनता है। अपने आपको इस गुरुतत्त्व के प्रति समर्पित कर देना ही शरणागति है जिसका अधिकारी 'प्रपन्नभक्त' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस भाग में आधिभौतिक विश्व का आधिदैविक गुरुतत्त्व के प्रति समर्पण है। अतएव आधिदैविकत्वेन इसे अव्यय [illegible] मनस्तात्मक ज्ञानयोग कहा जा सकता है। अपने आपको गुरुतत्त्व से भिन्न समझ कर उपास्य-उपासक रूप से उनके प्रति आत्मसमर्पण करना ही इस प्रपत्तिलक्षण भक्ति का मुख्य दृष्टिकोण है।

सालोक्य-सार्ष्टि ही इस भक्ति के मुख्य फल हैं। देवभक्ति अनेकत्वानुगामिनी थी, यह ईश्वरभक्ति एकत्वानुगामिनी है। अव्यक्तात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा के अव्ययभाग से सम्बद्ध अन्तर्यामिगर्भित महद्भाव पर प्रतिष्ठित विज्ञानगर्भित-प्रज्ञानद्वारा संचालित भक्त्यात्मक ज्ञानयोग तथा ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से 'मनोमय ज्ञानयोग' कहा जा सकता है, जो लौकिक कर्मात्मक ज्ञानयोग से सर्वथा सम्तुलित है।

३४-'उपासना'-भावानुगत सत्वमय भक्तियोग (४)—

(४)-परात्पर बुद्धियोग को आधारभूमि माना गया है। अव्यक्तात्मा के परात्परानुगत परोरजास्तत्व से समतुलित महानात्मा के परात्परानुगत तत्त्व (विशुद्धसत्त्व) को मूल बना कर, विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा के वाङ्मयपुरुषगर्भित सामञ्जस्यीकरण साधन द्वारा भूतात्मा अपने परात्परप्रधान तुरीय भूतात्मा द्वारा जो कर्म करता है उसे ही विज्ञानभाषा में 'उपासना' कहा गया है। विशुद्ध सत्त्वानुगत, अतएव निरुपाधिक अतएव निष्कल आत्मतत्त्व ही इस उपासना का मूलाधार है जिसके सम्बन्ध में 'ततस्तु तं निष्कलं ध्यायमानः' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। 'विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' के अनुसार इस आत्मदर्शन में विशुद्ध महान्-सत्त्वानुगत विशुद्ध विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही प्रधान कारण बनता है। अतएव इस उपासनात्मक भक्तिमार्ग को अवश्य ही भक्त्यात्मक 'बुद्धियोग' (विज्ञानात्मयोग) कहा जा सकता है। प्रथमभक्ति में ईश्वरबुद्धिपूर्वक आत्मसमर्पण था। इस उपासनात्मिका-समानप्रत्ययप्रवाहरूपा-भक्ति में 'आत्मैवेदं सर्वम्' भावनालक्षणा अद्वैतभावना है। सायुज्यभाव के द्वारा सायुज्य ही इस ज्ञाननिष्ठा बुद्धियोगलक्षणा भक्ति (उपासना) का चरमफल है। अतएव इसे अद्वैतनिष्ठा (भक्त्यनुगत ज्ञानयोग) से समतुलित माना गया है। अव्यक्तात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा के परात्परभाग से सम्बद्ध परोरजागर्भित तत्त्वभाग पर प्रतिष्ठित वाङ्मयपुरुषगर्भित सामञ्जस्यीकरण के द्वारा संचालित भक्त्यात्मक बुद्धियोग, तथा बुद्धियोगियों का यही संक्षिप्त विश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से आनन्द विज्ञानमनोमय आधिदैवतयोग कहा जा सकता है जो कर्मात्मक बुद्धियोग से सर्वथा समतुलित है।

भक्त्यात्मक जिन चार योगों का पूर्व में क्रमिक विश्लेषण हुआ है वे कर्मात्मिका योगचतुष्टयी की भांति विशुद्ध स्वार्थ के प्रपञ्च बन रहे हैं। परिचर्यात्मिका भक्ति भजनात्मिका भक्ति प्रपत्तिलक्षणा भक्ति एवं उपासना-लक्षणा भक्ति चारों में केवल योगानुगतकर्त्ता की अभिव्यक्ति का ही अन्तर है। इन चारों ही भक्तिरूपों में कामभाव अन्तर्निगूढ है। काम्यभाव का इस चतुष्टयी में भी प्रत्यक्षाभाव है। अतएव इस चतुष्टयी की उपयोगिता के सम्बन्ध में स्पष्टतः कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखने वाली योगचतुष्टयी का चौथा बुद्धियोगात्मक नैष्कर्म्ययोग जहाँ मुख्यरूप से शास्त्रीय कर्मयोग माना जायगा वहीं अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा से सम्बद्ध योगचतुष्टयी का चौथा बुद्धियोगात्मक उपासनायोग मुख्यरूप से शास्त्रीय भक्तियोग कहा जायगा। कर्मयोग 'योगनिष्ठा' कहलायगी, उपासनायोग उपासनानिष्ठा मानी जायगी। महानात्मानुगत उक्त योगचतुष्टयी का आगे के परिच्छेदों में यथाशक्ति स्पष्टीकरण हो जाता है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त्यात्मक कर्मयोग में भक्तलक्षण आत्मभाव है अनुभवैक रूप ... कहा ... विज्ञान-प्रज्ञानभाव साधन बनते हैं। शरीरगुणानुगत दृष्ट-अदृष्ट-भोग लक्ष्य बनते हैं। आनन्दविज्ञानमनोमय अन्तरात्मा, प्राणात्मा, वागात्मा इन तीनों स्वरूपों को अपने गर्भ में भुक्त

रखने वाला वैश्वानरप्रधान वाङ्मय भूतात्मा साधक बनता है। मत्स्यात्मक भक्तियोग में उष्णारलक्षण, अक्षर से अनुगृहीत आयुः प्राण, और वराः प्राण, ये विज्ञान–प्रज्ञानभाव साधक बनते हैं। एवं ऋतसत्य–सूत्रानुगत सौम्यप्राण साध्य बनता है। आनन्दविज्ञानमनोमय तुरीय भूतात्मा, प्राज्ञात्मा, वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपर्वों को अपने गर्भ में मुक्त रखने वाला तैजसप्रधान प्राणमय भूतात्मा साधक बनता है। मत्स्यात्मक ज्ञानयोग में अकारलक्षण अव्यय से अनुगृहीत विज्ञान और प्रज्ञान, ये विज्ञान–प्रज्ञानभाव साधन बनते हैं। अन्तर्य्याम्यनुगत महत्तत्त्व साध्य बनता है। आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा तैजसात्मा वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपर्वों को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला प्राज्ञप्रधान मनोमय भूतात्मा साधक बनता है। मत्स्यात्मक बुद्धियोग में अर्द्धमात्रालक्षण परात्पर से अनुगृहीत षाड्गुण्य, और अव्यक्ताश्रित, ये विज्ञान प्रज्ञानभाव साधन बनते हैं। प्राज्ञात्मा तैजसात्मा, वैश्वानरात्मा, इन तीनों स्वपर्वों को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला आनन्दविज्ञानमनोमय तुरीय भूतात्मा साधक बनता है। तात्पर्य्य इस विश्लेषण का यही है कि—

(१) मत्स्यात्मक कर्मयोग में साधनभूत विज्ञानात्मा के परात्पर–अव्यय–अक्षरभाग से सम्बद्ध षाड्गुण्य विज्ञान, आयुः प्राण ये तीनों पर्व प्रज्ञानात्मा के अव्यक्ताश्रित, प्रज्ञान वराःप्राण ये तीनों पर्व साध्यभूत अव्यक्तात्मा के परोरजा, अन्तर्य्यामी, ऋतसत्यसूत्र, ये तीनों पर्व, महानात्मा के सत्त्व, महान्, सौम्यप्राण ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा मनोमय प्राज्ञात्मा, प्राणमय तैजसात्मा ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध ज्योतिर्गौलक्षण पर्व में, साधनभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध रेतःश्रद्धालक्षण पर्व में साध्यभूत अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध शरीरगुहा पर्व में, साध्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत महानात्मा के चौथे उद्बुद्ध हृदूक्–भोगपर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध वैश्वानरपर्व में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

(२) मत्स्यात्मक भक्तियोग में साधनभूत विज्ञानात्मा के परात्पर–अव्यय–अक्षर से सम्बद्ध षाड्गुण्य, विज्ञान ज्योतिर्गौ। ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के अव्यक्ताश्रित, प्रज्ञान, रेतःश्रद्धा, ये तीनों पर्व, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के परोरजा अन्तर्य्यामी, शरीरगुहा ये तीनों पर्व महानात्मा के सत्त्व, महान् हृदूक भोग ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्द विज्ञानमनोमय भूतात्मा, मनोमय प्राज्ञात्मा, वाङ्मय वैश्वानरात्मा ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध आयुःप्राण नामक पर्व में साधनभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध वराःप्राण नामक पर्व में, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध ऋतसत्यसूत्र पर्व में साध्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत महानात्मा के चौथे उद्बुद्ध सौम्यप्राण पर्व में एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध तैजसात्मपर्व में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

(३)–मनस्त्वात्मक ज्ञानयोग में साधनभूत विज्ञानात्मा के परात्पर–अक्षर–आत्मक्षर से सम्बद्ध आयु पुरुष आयु प्राण, ज्योतियाँ, ये तीनों पर्व प्रज्ञानात्मा के साम्यक्षराशिव, यशः प्राण रेतः श्रद्धा, ये तीनों पर्व, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के परोरजा आत्मस्वरूप, शरीरगुहा, ये तीनों पर्व, महानात्मा के सत्व, सोम्यप्राण, हृदय योग, ये तीनों पर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा प्राणमय तैजसात्मा वाङ्मय वैश्वानरात्मा ये तीनों पर्व, उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध विज्ञान नामक पर्व में साधनभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साधनभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्रज्ञान नामक पर्व में साध्यरूप अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यरूप अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध अन्तर्यामी नामक पर्व में साध्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत महानात्मा के चौथे उद्बुद्ध महान् नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकरूप भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्राणमय तैजसात्मा नामक पर्व में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

(४)–मनस्त्वात्मक बुद्धियोग में साधनभूत विज्ञानात्मा के अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर से सम्बद्ध विज्ञान, आयु प्राण, ज्योतियाँ, ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के प्रज्ञान यशः प्राण रेतः श्रद्धा ये तीनों पर्व, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के अन्तर्यामी, आत्मस्वरूप शरीरगुहा ये तीनों पर्व, महानात्मा के महान् सोम्यप्राण हृदयं योग, ये तीनों पर्व एवं साधकभूत भूतात्मा के मनोमय प्रज्ञात्मा प्राणमय तैजसात्मा, वाङ्मय वैश्वानरात्मा, ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत विज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत विज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध आयुःपुरुष नामक पर्व में साधनभूत प्रज्ञानात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधनभूत प्रज्ञानात्मा के चौथे उद्बुद्ध साम्यक्षराशिव नामक पर्व में, साध्यभूत अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साध्यभूत अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध परोरजा नामक पर्व में, साध्यभूत महानात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व साध्यभूत महानात्मा के चौथे उद्बुद्ध साम्यक्षराशिव नामक पर्व में, एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्ध पर्व साधकभूत भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा नामक पर्व में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

निष्कर्ष यही निकला कि, चारों ही योगों में सभी साधन–साध्य–साधक आत्मपर्व विद्यमान हैं। केवल उन्मुग्ध–उद्बुद्धावस्था में अन्तर है। जो अन्तर्बहिर्व्यवस्था कर्मात्मिका कर्मयोगचतुष्टयी में है, वही व्यवस्था यहाँ है। अन्तर यही है कि उत्तर–उत्तर के योग में पूर्व–पूर्व योगानुबन्धी आत्मपर्व भी साधनरूप से समाविष्ट रहते हैं। यही पूर्व–पूर्व योगापेक्षया उत्तर–उत्तर योगों के श्रेष्ठ–श्रेष्ठत्व, तथा पूर्वत्व का मौलिक रहस्य है। जैसा कि प्रथमयोगचतुष्टयी में स्पष्ट किया गया है कर्मयोगात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बने हुए विज्ञानात्म प्रज्ञानात्मपर्व इस दूसरी मनस्त्वात्मिका योगचतुष्टयी में साधन बन जाते हैं। साथ ही ये विज्ञान–प्रज्ञानात्मक साधन कर्मात्मिका कर्मयोगचतुष्टयी में साधन बने हुए अव्यक्तात्मा के चारों पर्वों को भी स्वगर्भ में युक्त रखते हैं जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है।

आत्मसु कर्माणि	१ अग्न्यात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा—साध्यम्		३ देही भूतात्मा—साधकः
	अग्न्यात्मपर्वाणि कर्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि कर्मुग्ध—साध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि कर्मुग्ध—साध्यानि	भूतात्म—पर्वाणि कर्मुग्ध—साधकाः
अक्षरानुगत परात्परः	१—आत्मसत्याग्निः	आत्मपुरुषः	साम्यसत्तारिका,	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
अक्षरानुगत अव्ययः	२—ब्रह्मसत्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमयः—प्रज्ञात्मा
अक्षरानुगत अक्षरः	३—देवसत्याग्निः ३	आयुः प्राणः ३	यशः प्राणः ३	प्राणमयः—तैजसात्मा ३
आत्मपर्वाणि	अग्न्यात्मपर्व त्वृग्मुग्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व अमुग्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व अमुग्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व अमुग्धसाधकः
अक्षरानुगत आत्मक्षरः	४—भूतसत्याग्निः १	ज्योतिर्गौः १	रेतः—भक्ष्य १	वाङ्मयो—वैश्वानरात्मा १

स एष—कर्म्मणात्मा—विज्ञानात्म—प्रज्ञानात्म—भूतात्म—पर्वाणि—अमुग्ध—अव्यक्तम्—
विज्ञानात्म—प्रज्ञानात्म—ऋतमयो वैश्वानरप्रधानात्मा भूतात्मा—कर्मात्मकं भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

१—कर्म्मात्मकभक्तियोगपरिलेखा

(१)—तच्चेष—कर्म्मात्मककर्म्म—योगपरिलेखः प्रथमः

१

—कर्म्मात्मकभक्तियोगानुष्ठाता

वाङ्मयो भूतात्मा वैश्वानर (१)

(२)—स एषः—भक्त्यात्मकभक्ति-
योगपरिलेखो द्वितीयः—

२

—भक्त्यात्मकभक्तियोगानुगता
भास्मयो भूतात्मा वैजसः (२)

अव्ययमु कलापाणि	१ अन्न्यात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		३ वैधी भूतात्मा—साधकः
	अन्न्यात्मपर्वाणि अन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि च मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि अन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म—पर्वाणि तन्मुग्ध—साधकः
सर्वभूतानुगत पदार्थाः	१ भस्मसत्याग्निः	आत्मपुरुषः	साम्बसदाशिवः	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
मध्यमानुगत पदार्थाः	२—भक्तसत्याग्निः	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमयः—प्रज्ञात्मा
मध्यमानुगत पदार्थाः	३—भूतसत्याग्निः १	व्योविगी. २	रेता—श्रद्धा २	वाङ्मयो—वैश्वानरात्मा १
आत्मपर्वाणि	अन्न्यात्मपर्वे उग्मुग्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्वे उग्मुग्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्वे उग्मुग्धसाध्यम्	भूतात्मपर्वे उग्मुग्धसाधकः
मध्यमानुगत पदार्थः	४—तेजसत्याग्निः १	आयुः प्राणः १	यशः—प्राणः १	प्राणमयः—तैजसात्मा १

स एषः—अन्मुग्ध—अन्न्यात्म—विज्ञानात्म—प्रज्ञानात्म—भूतात्मपर्वात्मिक—अन्मुग्ध—भस्मयात्म-
विज्ञानात्म—प्रज्ञानात्म—प्राणमयलेखनामयात्मा—भूतात्मा—भक्त्यात्मक—भक्तियोगानुगतो प्रथमम्

३—स एष -ज्ञानयोगात्मक-
भक्तियोग—परिलेखस्तृतीयः

३

ज्ञानयोगात्मकभक्तियोगानुष्ठाता
मनोमयो भूतात्मा प्राज्ञः (३)

स एष-उन्मुग्ध-अव्ययात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्म-पर्वाणि-उद्बुद्ध-अव्ययात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मघटकः प्रज्ञानप्रधानो-भूतात्मा-ज्ञानयोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

	१ अव्ययात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		३ देही भूतात्मा—साधकः
अन्तर्मुखपर्वाणि	अव्ययात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि उन्मुग्ध-साधकाः
[illegible]	१ आत्मसत्त्वाग्निः	आत्मपुरुषः	साम्यसत्यादितिः	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा
[illegible]	२-देवसत्त्वाग्निः	आपः प्राणः	व्रता प्राणः	प्राणमयः-तैजसात्मा
[illegible]	३-भूतसत्त्वाग्निः ३	ज्योतिर्गौः ३	रेतः-श्रद्धा ३	वाङ्मयो-वैश्वानरात्मा ३
बाह्यपर्वाणि	अव्ययात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
[illegible]	४-प्रज्ञसत्त्वाग्निः १	विज्ञानम् १	प्रज्ञानम् १	मनोमयः-प्राज्ञात्मा १

(४)-स ए। -बुद्धियोगात्मकभक्ति योग-परिलेखश्चतुर्थः

४

	१	२		३
मन्वनु क्रमपर्याय	ज्ञा-या-मा साधनम्	विज्ञानात्मसम्परिष्वात् प्रज्ञानात्मा साध्यम्		देही भूतात्मा साधकः
	अव्यात्मपर्याणि उत्पुण्यसाधनानि	विज्ञानात्मपर्याणि उत्पुण्यसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्याणि उत्पुण्यसाध्यानि	भूतात्म-पर्याणि उत्पुण्य-साधकाः
प्रथमानुगत पदार्थ	१-अव्ययस्याग्नि	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमय-प्राज्ञात्मा
द्वितीयानुगत पदार्थ	२-वैश्वानरस्याग्निः	वायुः प्राणः	यशः माया	प्राणमयः-तैजसात्मा
तृतीयानुगत पदार्थ	३-भूतमस्याग्निः २	ज्योतिर्गौः २	रेतः-श्रद्धा २	वाङ्मयो-वैश्वानरात्मा २
चरमपर्याय	अव्यात्मपथ उत्पुण्यसाधनम्	विज्ञानात्मपथ उत्पुण्यसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपथ उत्पुण्यसाध्यम्	भूतात्मपथः उत्पुण्यसाधकः
चतुर्थानुगत पदार्थ	४-आत्मगत्याग्निः १	धातुपुरुष १	साम्यसदाशिव १	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा १

स एष-उत्पुण्य-अव्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्मपर्यायविभक्ति-अद्वैत-अव्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मस्वरूपा प्रज्ञानात्मप्रपाता भूतात्मा-बुद्धियोगात्मकभक्तियोगानुष्ठाता प्रज्ञानम्

-बुद्धियोगात्मकभक्तियोगानुष्ठाता आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा-भूतात्मा (४)

१	अर्द्धमात्रा	अकारः	उकारः	इत्येवान् गर्भे भुक्त्वा-महत्स्वाग्नि वर्चोविराट्रिव महात्मा भात्तुगत्य—वाक् मयो वैश्वानरात्मा कर्मयोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्	१ भूतात्मा-वैश्वानरः भक्तियोगात्मकः कर्मयोग (१)
२	परात्परः	अव्ययः	अक्षरः		
३	आत्मसत्याग्निः	ब्रह्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः		
४	षाड्पुरुषः	विज्ञानम्	आयुःप्राणः		
५	साम्बसदाशिवः	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः		
६	महात्मा	मनोमय प्राज्ञात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मनः	प्राणः		
१	अर्द्धमात्रा	उकारः	मकारः	इत्येवान् गर्भे भुक्त्वा-देवसत्याग्नि-आयुःप्राण—यशःप्राणमायानुगतः-प्राणमयस्तैजसात्मा—भक्तियोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्	२ भूतात्मा—तैजसः भक्तियोगात्मकः— भक्तियोग (२)
२	परात्परः	अव्ययः	आत्मक्षरः		
३	आत्मसत्याग्निः	ब्रह्मसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः		
४	षाड्पुरुषः	विज्ञानम्	ज्योतिर्गौः		
५	साम्बसदाशिवः	प्रज्ञानम्	रेतः—श्रद्धा		
६	भूतात्मा	मनोमय प्राज्ञात्मा	वाङ्मया वैश्वानरात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मनः	वाक्		
१	अर्द्धमात्रा	उकारः	मकारः	इत्येवान् गर्भे भुक्त्वा-ब्रह्मसत्याग्नि विज्ञान-प्रज्ञान-भावानुगतो-मनोमयः प्राज्ञात्मा ज्ञानयोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्	३ महात्मा-प्राज्ञः भक्तियोगात्मकः- ज्ञानयोग (३)
२	परात्परः	अक्षरः	आत्मक्षरः		
३	आत्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः		
४	षाड्पुरुषः	आयुः प्राणः	ज्योतिर्गौः		
५	साम्बसदाशिवः	यशः प्राणः	रेतः—श्रद्धा		
६	भूतात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा	वाङ्मयः वैश्वानरात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	प्राणः	वाक्		
१	अकारः	उकारः	मकारः	८ एवं गर्भे भुक्त्वा आत्मसत्याग्नि- षाड्पुरुष साम्बसदाशिवभावानु- आनन्दविज्ञानमनात्मा भूतात्मा [illegible] भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्	४ महात्मा-भूतात्मा भक्तियोगात्मकः- बुद्धियोग (४)
२	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः		
३	ब्रह्मसत्याग्निः	देवसत्याग्निः	भूतसत्याग्निः		
४	विज्ञानम्	आयुः प्राणः	ज्योतिर्गौः		
५	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः	रेतः—श्रद्धा		
६	मनोमय प्राज्ञात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा	वाङ्मया वैश्वानरात्मा		
७	मनः	प्राणः	वाक्		

	१ अन्यात्मा साधनम्	२ विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा साध्यम्		३ देही भूतात्मा-साधकः
उन्मुग्धपर्वाणि	अन्यात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाधनानि	विज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	प्रज्ञानात्मपर्वाणि उन्मुग्धसाध्यानि	भूतात्म-पर्वाणि उन्मुग्ध-साधकाः
अव्ययानुगत अव्ययः	१-ब्रह्मसत्याग्नि	विज्ञानम्	प्रज्ञानम्	मनोमय-प्रज्ञात्मा
अक्षरानुगत अक्षरः	२-देवसत्याग्निः	आयुः प्राणः	पराः प्राणाः	प्राणमयः-तैजसात्मा
क्षरानुगत आत्मक्षरः	३-भूतसत्याग्निः २	ज्योतिर्गौः २	रेतः-श्रद्धा २	वाङ्मयो-वैश्वानरात्मा २
उद्बुद्धपर्वाणि	अन्यात्मपर्व उद्बुद्धसाधनम्	विज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	प्रज्ञानात्मपर्व उद्बुद्धसाध्यम्	भूतात्मपर्व उद्बुद्धसाधकः
अथ मात्रानुगत-परात्परः	४ आत्मसत्याग्निः १	आत्मपुरुषः १	साम्बसदाशिवः १	आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा १

स एष-उन्मुग्ध-अन्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्म-भूतात्मपर्वगर्भित-उद्बुद्ध-अन्यात्म-विज्ञानात्म-प्रज्ञानात्मस्वरूपो भूतात्मप्रधानो भूतात्मा-बुद्धियोगात्मके भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्

(४)-स एष-बुद्धियोगात्मकभक्ति-योग-परिलेखश्चतुर्थः

४

-बुद्धियोगात्मककर्मकियोगानुष्ठाता आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा-भूतात्मा (४)

१	अर्द्धमात्रा	अकारः	उकारः	इत्थिवान् गर्भे मनुस्सा—भ ब्रह्मस्वामि ज्योतिर्मयः भक्तामानुगत—वाक् मयो वैश्वानरमा कर्मयोगात्मकै भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्	१ भूतात्मा-वैश्वानरः भक्तियोगात्मकः कर्मयोग (१)
२	परात्परः	अव्ययः	अक्षरः		
३	आत्मक्षत्यामिः	ब्रह्मक्षत्यामिः	देवक्षत्यामि		
४	षाड्गुपपुरुषः	विज्ञानम्	आयुःप्राणः		
५	शान्तस्ताशिवः	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः		
६	भूतात्मा	मनोमयः प्राज्ञात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मनः	प्राणः		
१	अर्द्धमात्रा	अकारः	मकारः	इत्थिवान् गर्भे मनुस्सा-देवक्षत्यामि-प्राणः-रूप-यशःप्राणमयानुगतः-प्राणमयस्तैजसात्मा-भक्तियोगात्मकै भक्तियोगानुष्ठाने प्रधानम्	२ भूतात्मा—तैजसः भक्तियोगात्मकः— भक्तियोग (२)
२	परात्परः	अव्ययः	आत्मक्षरः		
३	आत्मक्षत्यामिः	ब्रह्मक्षत्यामिः	भूतक्षत्यामिः		
४	षाड्गुपपुरुषः	विज्ञानम्	ज्योतिर्मयः		
५	शान्तस्ताशिवः	प्रज्ञानम्	रेतः—श्रद्धा		
६	भूतात्मा	मनोमयः प्राज्ञात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	मनः	वाक्		
१	अर्द्धमात्रा	उकारः	मकारः	इत्थिवान् गर्भे मनुस्सा-ब्रह्मस्वामि विज्ञान-यशःप्राणमयानुगत-भ शिमयः प्राज्ञात्मा ज्ञानयोगात्मकै भक्तियोग-ज्ञाने प्रधानम्	३ भूतात्मा—प्राज्ञः भक्तियोगात्मकः— ज्ञानयोग (३)
२	परात्परः	अक्षरः	आत्मक्षरः		
३	आत्मक्षत्यामिः	देवक्षत्यामिः	भूतक्षत्यामि		
४	षाड्गुपपुरुषः	आयुः प्राणः	ज्योतिर्मयः		
५	शान्तस्ताशिवः	यशः प्राणः	रेतः—श्रद्धा		
६	भूतात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा		
७	आनन्दविज्ञानमनांसि	प्राणः	वाक्		
१	अकारः	उकारः	मकारः	[illegible] भूतात्मा ब्रह्मस्वामि-भ भूतानुगत [illegible] भूतात्मा-भूतात्मा [illegible] शारीरिकभावानुष्ठानेषु प्रधानम्	४ भूतात्मा-भूतात्मा भक्तियोगात्मकः— पुष्टियोग (४)
२	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः		
३	ब्रह्मक्षत्यामिः	देवक्षत्यामिः	भूतक्षत्यामिः		
४	विज्ञानम्	आयुः प्राणः	ज्योतिर्मयः		
५	प्रज्ञानम्	यशः प्राणः	रेतः—श्रद्धा		
६	मनोमयः प्राज्ञात्मा	प्राणमयस्तैजसात्मा	वाङ्मयो वैश्वानरात्मा		
७	मनः	प्राणः	वाक्		

प्रकारान्तरेण—

(१)—आत्मदेवमूलकाग्नि विज्ञानायुप्राणज्योतिर्गो-प्रज्ञानपरप्राण-रेत श्रद्धा—अन्तर्यामिसूत्रपरशरीरगुह-महत्सौम्यप्राण-हृद्‌र्क मांस आग्नेय—वैश्वानरगर्भितः—आत्मान्यस्याग्नि—चाक्षुषपुरुष—आभास्वराग्नि—परारजा-सत्त्वभावानुगतः—

(४) आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा—बुद्धियोगात्मक—भक्तियोगानुगता १

(२)—आत्मदेवम् तस्याग्नि—चाक्षुषपुरुषायुप्राणज्योतिर्गो-आत्मन्यतिशयपरप्राणरेतःश्रद्धा—परारजा—सूत्रस्य-शरीरगुहा—महत्सौम्यप्राण—हृद्‌र्क मांस—मृत्वैश्वानरगर्भित—आत्मस्याग्नि—विज्ञान—प्रज्ञान—अन्तर्यामि-महद्भावानुगत —

(३)—मनोमय. भूतात्मा—ज्ञानयोगात्मक—भक्तियोगानुगता २

(३)—आत्मनासम् तस्याग्नि—चाक्षुषपुरुषविज्ञानज्योतिर्गो—आत्मन्यतिशयप्रज्ञानरेतःश्रद्धा—परारजा—अन्तर्यामि-शरीरगुहा—महत्सौम्य मांस—मृत्वैश्वानरगर्भितः—वैश्वानराग्नि—आयुःप्राण—प्रज्ञाप्राण सूत्रस्य—सौम्य-प्राणभावानुगतः—

(२—प्राणमयवैश्वानरात्मा—भक्तियोगात्मक—भक्तियोगानुगता ३

(४)—आत्मदेवस्याग्नि—चाक्षुषपुरुषविज्ञानायुःप्राण—आत्मन्यतिशयप्रज्ञानपरप्राण—परारजा—अन्तर्यामि-सूत्रस्यमहत्सौम्यप्राण—भूतात्मवैश्वानरगर्भितः—भूतस्याग्नि—ज्योतिर्गो—रेतःश्रद्धा—शरीरगुहा—हृद्‌र्क—भोगभावानुगत —

(१)—वाङ्मयो वैश्वानरात्मा—कर्मयोगात्मक—भक्तियोगानुगता ४

(१)—आत्मनमपि अभिन्नभावेनात्मसमर्पणम्—तदनुगता सत्योपजीविन—   आत्मवादिन   (परिचारक)
(२)—गुणमपि —अभ्यासमर्पणम् ———तदनुगता महदुपजीविन—   गुणवादिन (भक्त)
(३)—आधिदैविकप्राणदेवानुगमनम् — ———तदनुगता सौम्यप्राणोपजीविन— देववादिन   (प्रपन्न)
(४)—आधिभौतिकभूतप्रतिमामूर्त्यानुगमनम्—तदनुगता हृद्‌र्क मांसोपजीविन ——भूतवादिन   (उपासक)

सैषा अव्यक्तात्मगर्भितमहानात्मानुगता भूतात्मनो भक्तियोगचतुष्टयी—द्वितीया—

(१) अन्तर्मुखा ———विशुद्धसात्त्विका—आत्मनिष्ठा———बुद्धियोगिनो उपासना (उपासना)
(२) अन्तर्मुखा ———सत्त्वरजोऽनुरक्ता—गुणात्मनिष्ठा—ज्ञानयोगिन प्रपत्ति (प्रपत्तिः)
(३) अन्तर्बहिर्मुखा —रजस्तमोऽनुरक्ता—देवनिष्ठा———भक्तियोगिनो भक्ति (भक्तिः)
(४) बहिर्मुखा ———तमोऽनुरक्ता———भूतनिष्ठा ———कर्मयोगिनोऽर्चना (परिचर्या)

अव्यक्ताभिन्नमहानात्मानुगता योगचतुष्टयी–

	१	२	३	४	५	६	
	अव्यात्मपर्व्वाणि	विज्ञानात्मपर्व्वाणि	प्रज्ञानात्मपर्व्वाणि	अव्यक्तात्मपर्व्वाणि	महानात्मपर्व्वाणि	भूतात्मपर्व्वाणि	
(१)	आत्मसत्याग्नि—	आयुष्पुरुष—	साम्बसदाशिवः—	परोरजाः—	सत्त्वम्—	भूतात्मा—	उपासकः (परात्परानुगतः)
(२)	ब्रह्मसत्याग्नि—	विज्ञानम्—	प्रज्ञानम्—	अन्तर्य्यामी—	महान्—	प्रज्ञात्मा—	अपरः (अव्ययानुगतः)
(३)	देवसत्याग्नि—	आयुःप्राणः—	परःप्राणः—	आपःसत्ये—	सौम्यप्राणः—	तैजसात्मा—	भक्तः (अक्षरानुगतः)
(४)	भूतसत्याग्नि—	ज्योतिर्गौः—	रेतःश्रद्धा—	शरीरगुहा—	इदर्के भोगाः—	वैश्वानरात्मा—	परिचारकः (आत्मक्षरानुगतः)

[१]–आयुष्पुरुषसम्परिष्वक्त-साम्बसदाशिवानुगत—परोरजोगर्भितसत्त्वप्रधानो भूतात्मा–भूतात्मा—आत्मा [बुद्धियोगात्मकभक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[२]–विज्ञानसम्परिष्वक्त-प्रज्ञानानुगत—अन्तर्य्यामिगर्भितमहत्प्रधानो भूतात्मा–प्रज्ञात्मा—कारणशरीरम् [ज्ञानयोगात्मकभक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[३]–आयुःप्राणसम्परिष्वक्त-परःप्राणानुगतः-आपःसत्यगर्भितसौम्यप्राणप्रधानो भूतात्मा-तैजसात्मा-सूक्ष्मशरीरम् [भक्तियोगात्मकभक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[४]–ज्योतिर्गोसम्परिष्वक्त-रेतः–शरीरगुहागर्भित इदर्के भोगप्रधानो भूतात्मा–वैश्वानरात्मा—स्थूलशरीरम् [कर्म्मयोगात्मकभक्तियोगप्रतिष्ठाभूमिः]

●—ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानयोगचतुष्टयी तृतीया

३५—जीवानुगत षोडशीपुरुष, और ज्ञानयोगचतुष्टयी—

अब क्रमप्राप्त तीसरी ज्ञानयोगचतुष्टयी का स्वरूपविश्लेषण पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है। बतलाया गया है कि, जीवात्मानुगत गूढोत्मा (जीवानुगत षोडशीपुरुष) के आधार पर ज्ञानयोग प्रतिष्ठित है। योगानुबन्धी यही पाठकों का सुपरिचित 'भूतात्मा' है, जिसके परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर भावों से अनुगत भूतात्मा–प्राज्ञात्मा–तैजसात्मा–वैश्वानरात्मा–ये चार पर्व बतलाए गए हैं। भक्तियोगानुष्ठान में भूतात्मा जहाँ विज्ञानात्मकसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा को स्वधर्म में युक्त रखने वाले अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा का अनुगामी बना रहता है, वहाँ प्रस्तुत ज्ञानयोगानुष्ठान में यह भूतात्मा विज्ञान–प्रज्ञान–अव्यक्त–महान्–इन चारों आत्माओं को स्वयोगमाया के गर्भ में युक्त रखने वाले योगमायी जीवानुगत षोडशीपुरुष का अनुगामी बना रहता है। भूतात्मा की इस जीवषोडशीपुरुषानुगति का ही नाम 'ज्ञानयोग' है, जिसके षोडशी–पर्व भेद से भक्तियोगवत् चार विवर्त हो जाते हैं। उन्हीं का क्रमशः उदाहरणपूर्वक स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

३६—ज्ञानयोगाधिष्ठात्री आत्मचतुष्टयी—

वैश्वानरगूढोत्मा के आत्मक्षरानुगत आत्मक्षर पर्व की मूल (आद्य) कला पर अध्यात्म के आत्मक्षरानुगत भूतस्थानीय विज्ञानात्मा के आत्मक्षरानुगत ज्योतिर्मयी प्रज्ञानात्मा के आत्मक्षरानुगत 'रेतः' श्रद्धा, अव्यक्तात्मा के आत्मक्षरानुगत शरीरयुक्त, महानात्मा के आत्मक्षरानुगत इतुर्द मोक्ष, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने आत्मक्षरप्रधान वाङ्मय वैश्वानर भाग से जो कर्म करता है, वही विज्ञानभाषा में 'विधि' नाम से व्यवहृत हुआ है। इन्द्रियातीत अलौकिक परोक्ष ज्ञान से वंचित सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष–ऐन्द्रियकज्ञान के अनुगामी मनुष्यों का ज्ञानात्मक कर्म ही 'विधि' कहलाता है। लोकज्ञानकुशल ऐन्द्रियक प्रत्यक्षज्ञानपरायण लौकिक पुरुष ही इस विधिलक्षण ज्ञानयोग के अधिकारी माने गए हैं। स्थिति का यों स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि वैश्वानर गूढोत्मा के चातुर्विध्य से चार भागों में विभक्त है। गूढोत्मा का आत्मक्षरभाग प्रथम पद है। इस पद से आत्मक्षरात्मक वाङ्मय वर–भौतिकप्रपंच अनुप्राणित रहता है। वरात्मक समस्त भौतिक ज्ञान का मूलकोश यही आत्मक्षरलक्षण ज्ञान है। इसे आत्मसात् कर लेना ही 'विधि' लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे भूतप्रधानता से हम ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग कह सकते हैं। गूढोत्मा का अक्षरभाग द्वितीय पद है। इस पद से अक्षरात्मक प्राणप्रपंच अनुप्राणित रहता है। अक्षरात्मक समस्त प्राणविवर्त का मूलकोश यही अक्षरलक्षण ज्ञान है। इसे ही विज्ञानभाषा में 'नियति' कहा गया है। इसे आत्मसात् कर लेना ही 'नियति' लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे आधिदैविक प्राण के समन्वय से हम ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग कह सकते हैं। गूढोत्मा का अव्ययभाग तृतीय पद है। इस पद से अव्ययात्मक मनःप्रपंच अनुप्राणित रहता है। अव्ययात्मक समस्त मनोविवर्त का मूलकोश यही अव्ययलक्षण ज्ञान है। इसे ही विज्ञानभाषा में 'अनुभूति' कहा गया है। इसे आत्मसात् कर लेना ही 'अनुभूति' लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे विशुद्ध ज्ञानप्रधानता से ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग कहा जा सकता है। गूढोत्मा का परात्परभाग (योगमायावच्छिन्न सीमित परात्परभाग) अद्वैतात्मक चतुर्थ पद है। इस पद से परात्परात्मक आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मय अन्तर्जगत् अनुप्राणित रहता है। समस्त अन्तर्जगतों का मूलकोश यही परात्परलक्षण ज्ञान है, जो सर्वत्र समरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ 'समत्व' नाम से व्यवहृत हुआ

है । इसे ही विज्ञानभाषा में 'विभूति' नाम से व्यवहृत किया गया है । इसे आत्मसात् कर लेना ही विभूति-लक्षण ज्ञानयोग है, जिसे सर्वसमन्वयदृष्टि से ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग कहा जा सकता है ।

३७–'विधि'-भावानुगत वाङ्मय ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग—

(१) इसप्रकार गूढ़ात्मा के परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-पर्वों से समाहृत 'विभूति, अनुभूति नियति विधि' भेद से तदनुगत ज्ञानयोग क्रमशः 'बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म', इन चार योगों में विभक्त हो जाता है । वाग्दृष्टि से सम्बद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक जितने भी लौकिक ज्ञान हैं, उनमें आसक्त रहना ही ज्ञानयोगात्मक कर्मयोगानुष्ठान है । विश्व के उस मानव वर्ग को, जो शिल्प-कला-वाणिज्य-भूतपञ्चक ग्रह-नक्षत्र-पञ्चमहाभूत आदि आदि भौतिक अन्वेषण कर्मों में रत रहता है अन्वेषण के द्वारा तदात्मक 'विधि' लक्षण भौतिक ज्ञान सम्पादन करता रहता है हम ज्ञानयोगात्मक कर्म योग का अनुगामी कहेंगे । इस ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग का आधार भक्तियोगात्मक कर्म योग की भाँति लौकिक कामनाएँ ही बनी रहती हैं । गूढ़ात्मा के विधि-लक्षण आत्मक्षरपर्व पर प्रतिष्ठित भूतस्याग्नि-ज्योतिर्गौः-रेतः-श्रद्धा-पर्वमर्मित शरीरगुहा-हृदय-योगपर्वों के द्वारा संचालित, ज्ञानयोगात्मक कर्म योग, तथा तथाविध कर्म योगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है । इसी को आत्मकलादृष्टि से 'वाङ्मय कर्मयोग' कहा जा सकता है, जो भक्तियोगात्मक कर्म योग से अंशतः समतुलित है ।

३८–'नियति'-भावानुगत प्राणमय ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग—

(२) अक्षरात्मा भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है । अतएव तदनुगत ज्ञानयोग को अवश्य ही ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग कहा जा सकता है । गूढ़ात्मा के अक्षरानुगत अक्षर पर्व को मूल बना कर अव्यक्तात्मा के अक्षरानुगत देवस्त्याग्नि, विज्ञानात्मा के अक्षरानुगत आयुःप्राण प्रज्ञानात्मा के अक्षरानुगत यशःप्राण अव्यक्तात्मा के अक्षरानुगत भूतस्त्वसूत्र, महानात्मा के अक्षरानुगत सौम्यप्राण, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने अक्षरप्रधान प्राणमय तैजसभाग से जो कर्म करता है वही विज्ञानभाषा में 'नियति' कहलाया है । उपनिषदों ने अक्षरब्रह्म को 'शास्ता' बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि, सम्पूर्ण चराचर प्रपञ्च अक्षर के शासनदण्ड से ही स्व-स्व नियत कर्म में आरूढ है । तत्तत्पदार्थों का नियत धर्माचरण ही तत्तत्पदार्थों की 'नियति' है । प्राकृतिक-परोक्ष-अध्यात्मशक्तिलक्षण-सनातन नियम ही नियति है । सम्पूर्ण पदार्थ अक्षर के इस नियति-शासन से ही सञ्चालित हैं । इसी के लिए 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः' (तैत्ति २।८।) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं । इसी नियतिविज्ञान को 'प्राणविज्ञान' 'दैवतविज्ञान' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है जिसका एकमात्र भारतीय वैदिकविज्ञान से ही सम्बन्ध है । परोक्षदृष्टिसापेक्ष इस प्राणविज्ञान (तत्त्वविज्ञान) में रत रहने वाला मानवसमाज ही ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग का अनुगामी कहलाया है । जो विद्वान् ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य-वेदानुशासन-श्रद्धा-एवं उपनिषदादि वेदोक्त साधनों के द्वारा मनोभावशुद्धि पूर्वक तत्त्वविज्ञानान्वेषण में प्रवृत्त रहते हैं वे ही इस ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग के अनुयायी माने गए हैं । गूढ़ात्मा के 'नियति' लक्षण अक्षरपर्व पर प्रतिष्ठित, देवस्त्याग्नि आयुःप्राण यशःप्राण भूतस्त्व सौम्य-प्राणपर्वों के द्वारा संचालित, ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग तथा तथाविध भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूप-विश्लेषण है । इसी को आत्मकलादृष्टि से 'प्राणमय क्रियायोग' कहा जा सकता है जो भक्तियोगात्मक भक्तियोग से अंशतः समतुलित है ।

३९–'अनुभूति'–भावानुगत मनोमय ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग—

(३)–अव्ययात्मा को ज्ञानयोग का मूलस्तम्भ माना गया है। अतएव तदनुगत ज्ञानयोग को 'ज्ञानयोग' कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती। गूढ़ात्मा के अव्ययानुगत अव्यय पर्व को मूल बना कर, अव्ययात्मा के अव्ययानुगत ब्रह्मस्वाम्भि विज्ञानात्मा के अव्ययानुगत विज्ञान प्रज्ञानात्मा के अव्ययानुगत प्रज्ञान कर्मात्मा के अव्ययानुगत अन्तर्यामी, महानात्मा के अव्ययानुगत महान्, इन भावनों के द्वारा भूतात्मा अपने अव्ययप्रधान मनोमय प्राज्ञ भाव से जो कर्म करता है वही विज्ञानभाषा में 'अनुभूति' कहलाता है। जिस प्रकार शब्दावच्छिन्न ज्ञान 'वेद' नाम से विषयावच्छिन्न ज्ञान 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है एवमेव संस्कारावच्छिन्न ज्ञान 'विद्या' नाम से व्यवहृत हुआ है। एक ही ज्ञान के त्रिविध विवर्त वेद–ब्रह्म–विद्या कहलाए हैं। विषयावच्छिन्न 'ब्रह्म' नामक ज्ञान का आत्माक्षर से सम्बन्ध है शब्दावच्छिन्न 'वेद' नामक ज्ञान का अक्षर से सम्बन्ध है एवं संस्कारावच्छिन्न 'विद्या' नामक ज्ञान का 'अव्यय' से सम्बन्ध है। अतएव अव्ययपुरुष विद्याप्रधान माना गया है। संस्कारप्रवृत्त्यपेक्षा अव्ययमन में ही मानी गई है। संस्कार का ही नाम अनुभूति, किंवा अनुभव है। इसी को दार्शनिक भाषा में 'अनुभवाहितसंस्कार' कहा गया है। विषयात्मक 'ब्रह्म' लक्षण ज्ञान का वहाँ आत्मक्षरानुगत कर्मयोगात्मक ज्ञानयोग से सम्बन्ध है वेद लक्षण ज्ञान का अक्षरानुगत–भक्तियोगात्मक ज्ञानयोग से सम्बन्ध है वहाँ 'विद्या' लक्षण संस्कारात्मक–अनुभूतिलक्षण–ज्ञान का अव्ययानुगत ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग से सम्बन्ध माना गया है। ब्रह्मात्मक ज्ञान, वेदात्मक ज्ञान दोनों नानाभावापन्न हैं विद्यात्मक ज्ञान सर्वथा एकत्वभावना से विभूषित है क्योंकि अव्ययपुरुष सर्वत्र एकमूर्ति परात्पर के सन्निकट रहता है। आध्यात्मिक ज्ञानानुभूति में रत रहने वाले तत्त्व आत्मानुभव करने वाले विद्याज्ञानानुगामी ज्ञानियों की अनुभवाहितज्ञानपरम्परा ही ज्ञानात्मक ज्ञानयोग है। गूढ़ात्मा के 'अनुभूति' लक्षण अव्ययपर्व पर प्रतिष्ठित,–ब्रह्मस्वाम्भि विज्ञान प्रज्ञान अन्तर्यामी, महान्–इन पर्वों के द्वारा संचालित, ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग का एवं तदनुयायी ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपनिर्देश है। इसी को आत्मसमाधि से 'मनोमय–ज्ञानयोग' कहा जासकता है जो भक्तियोगात्मक ज्ञानयोग से सर्वथा अनुप्राणित है।

४०–'विभूति'–भावानुगत प्राणमय ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग—

(४)–परात्परतत्त्व बुद्धियोग की प्रतिष्ठा माना गया है। अतएव तदनुगत ज्ञानयोग को अवश्य ही 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया जासकता है। गूढ़ात्मा के परात्परतत्त्वानुगत परात्पर पर्व को आधार बना कर, अव्ययात्मा के परात्परानुगत आनन्दस्वाम्भि विज्ञानात्मा के परात्परानुगत परोरजा, महानात्मा के परात्परानुगत तत्त्व इन भावनों के द्वारा महानात्मा अपने परात्परप्रधान आनन्दविज्ञानमनोमय महात्मभाव से जो कर्म करता है वही विज्ञानभाषा में–'विभूति' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इत्यादि मन्त्रवचनानुसार सम्पूर्ण चराचर प्रपञ्च मायावच्छिन्न के द्वारा उस एक तत्त्व का ही वैभव है। वह एक तत्त्व वही परात्पर ब्रह्म है जो माया–कला–गुण–विकार–अञ्जन–आवरणादि परिग्रहों के द्वारा स्वाभाविक बनता हुआ परात्पर–पुरुष–अव्यय–अक्षर–विराट्–विश्वादि विवर्तभावों में परिणत हो रहा है। एक ही तत्त्व स्वविभूति के द्वारा अनेक रूपों में परिणत हो रहा है। तत्त्वतः–वह कुछ नहीं है वही सब कुछ बना है। सृष्टिदशा में वही नानाभावापन्न है प्रतिसृष्टिदशा में वही अपने स्वाभाविक विभूतिभाव में परिणत है। 'विश्वमस्यमिदं सर्वम्' ही उसकी प्राथमिक विभूति है। परिच्छेदरूपा भूतिसिद्धि में वहीं वह नानाभावापन्न है वहाँ अपरिच्छि-

परूपा विमूर्तिदृष्टि से यह एकभावापन्न है और यही परात्परतत्त्व के विमूर्तिलक्षण ज्ञान का स्वरूपविश्ले-षण है। ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग के अभ्यासी क्रमिक अभ्यासद्वारा जब इस व्यापक विमूर्तिज्ञान के अनुगामी बनते हुए-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-भावना को चरितार्थ बना लेते हैं, तो उस दशा में उनका अव्ययानुगत ज्ञान-योगात्मक ज्ञानयोग परात्परानुगत ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोगस्वरूप में परिणत हो जाता है। साध्यावस्थापन्न ज्ञानयोगियों का सिद्धावस्था में पहुँच जाना ही इनका ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोगानुष्ठान है। गूढात्मा के 'विमूर्ति' लक्षण परात्पर पर्व पर प्रतिष्ठित, आत्मतत्त्वाग्नि, चातुष्पुरुष्य, सामञ्जस्यशील परात्मा सत्त्व, इन पर्वों के द्वारा संस्थापित ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग का, एवं तथाविध बुद्धियोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है। इसी को आत्मकलादृष्टि से 'आनन्दविज्ञानमनोमय अध्यात्मयोग' कहा जासकता है, जो महत्यात्मक बुद्धियोग से प्रायशः समतुलित है।

ज्ञानयोगात्मक जिन चारों योगों का अब तक क्रमिक विश्लेषण हुआ है, उनमें यद्यपि कर्म्मयोगवत् न तो संकुचित स्वार्थ है, नाहीं भक्तियोगवत् सामान्य स्वार्थ है, तथापि इन्हें भी स्वार्थ-मर्य्यादा से एकान्ततः पृथक् नहीं किया जासकता, फिर वह स्वार्थ परमार्थभावापन्न ही क्यों न हो। कारण स्पष्ट है। मुक्तिकाम-मुमुक्षुलोभन न सही, आत्मोद्धारकामना इस ज्ञानयोगचतुष्टयी में भी सुरक्षित है। आत्मभावसमावेश के अति-रिक्त ज्ञानयोगात्मक इन चारों ही मार्गों में कर्म्म-भक्तियोग-चतुष्टयी की भाँति लोकसंग्रह का अभाव भी सुरक्षित है। विविक्तलक्षण ज्ञान, नियतिलक्षण ज्ञान, अनुभवलक्षण ज्ञान एवं विमूर्तिलक्षण ज्ञान, चारों से यथासम्भव योगानुष्ठानकर्त्ता की वैयक्तिक अध्यात्मसंस्था का ही उपकार होता है जिसके मूल में कामभाव निहित है। फलतः भक्तियोगचतुष्टयी की भाँति इस ज्ञानयोगचतुष्टयी की उपयोगिता के सम्बन्ध में भी मौन-भाव ही श्रेयःपन्था प्रतीत होरहा है। भक्तियोगचतुष्टयी-निरूपण में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, पूर्व पूर्व योगचतुष्टयी के साध्य उत्तर-उत्तर योगचतुष्टयी में साधन बन जाते हैं। इस दृष्टि से प्रकृत की ज्ञानयोगचतुष्टयी में इससे पहिले की भक्तियोगचतुष्टयी में साध्य बने हुए अव्यक्तात्म-महानात्मपर्व साधन बन जाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित विश्लेषण से स्पष्ट है।

४१-ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग के साधन-साधक-साध्य-भाव---

(१)-ज्ञानात्मक कर्म्मयोग में साधनभूत अव्यक्तात्मा के परात्पर-अव्यय-अक्षरभाग से सम्बद्ध आत्मज्योतिरग्नि ब्रह्मज्योतिरग्नि देवज्योतिरग्नि-ये तीनों पर्व विज्ञानात्मा के चातुष्पुरुष्य विज्ञान आयुःप्राण-ये तीनों पर्व, प्रज्ञानात्मा के सामञ्जस्यशील प्रज्ञान वराप्राण-ये तीनों पर्व अव्यक्तात्मा के परात्मा अन्तर्यामी, सूत्रात्म-ये तीनों पर्व एवं साधकभूत महानात्मा के आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा, मनोमय प्राणात्मा प्राणमय वैश्वानरात्मा, ये तीनों पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अव्यक्तात्मा के तीनों उन्मुग्ध-पर्व साधनभूत अव्यक्तात्मा के चौथे उद्बुद्ध महज्ज्योतिरग्नि नामक पर्व में विज्ञानात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध ज्योतिर्ज्योति नामक पर्व में प्रज्ञानात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध रेतःप्रज्ञा नामक पर्व में अव्यक्तात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध शरीरगुहापर्व में, महानात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध हृदयभाग नामक पर्व में, साध्यभूत गूढात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध आत्मवर नामक पर्व में एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों पर्व चौथे उद्बुद्ध वाङ्मय वैश्वानरात्मा नामक पर्व में अन्तर्मुक्त रहते हैं।

४२–ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग के साधन–साधक–साध्य–भाव—

(२)–ज्ञानात्मक भक्तियोग में साधनभूत अव्ययात्मा के परात्पर–अव्यय–आत्मक्षर भाव से क्रमशः आत्मस्वयम्भू ब्रह्मस्वयम्भू, भूतस्वयम्भूपर्व विज्ञानात्मा के चातुष्पुरुष, विज्ञान, ज्योतिर्गोपर्व, प्रज्ञानात्मा के साम्यप्रतिष्ठ प्रज्ञान रेतः–प्रकाशपर्व अव्यक्तात्मा के परोरजा, अन्तर्यामी शरीरगुहापर्व, महानात्मा के सत्त्व महान्, इदम्‌र्ध्व भोग पर्व साध्यभूत गूढोत्मा के परात्पर अव्यय, आत्मक्षरपर्व, एवं साधकभूत भूतात्मा के भूतात्मा, प्राज्ञ वैश्वानरपर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधनभूत अव्ययात्मा विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा अव्यक्तात्मा महानात्मा के, साध्यभूत गूढोत्मा के, साधकभूत भूतात्मा के तीनों उन्मुग्धपर्व क्रमशः साधनभूत अव्ययात्मा के वैश्वानरस्वयम्भू विज्ञान के चातुष्प्राण प्रज्ञान के मध्यप्राण अव्यक्त के सूक्ष्मरूप महान् के सौम्यप्राण नामक चौथे उद्बुद्ध पर्वों में साध्यभूत गूढोत्मा के तीनों पर्व साध्यभूत गूढोत्मा के चौथे उद्-बुद्ध अक्षर नामक पर्व में एवं साधकभूत भूतात्मा के तीनों पर्व भूतात्मा के चौथे उद्बुद्ध प्राणमय तैजसात्म-पर्व में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

४३–ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग के साधन–साधक–साध्य–भाव—

(३)–ज्ञानात्मक ज्ञानयोग में साधनभूत अव्ययात्मा–विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा–अव्यक्तात्मा–महानात्मा, साध्यभूत गूढोत्मा, साधकभूत भूतात्मा के क्रमशः परात्पर–अक्षर–आत्मक्षरभाग से क्रमशः आत्मस्वयम्भू–वैश्वस्वयम्भू–भूतस्वयम्भू चातुष्पुरुष–चातुष्प्राण–ज्योतिर्गो साम्यप्रतिष्ठ–मध्यप्राण–रेतःप्रकाश, परोरजा–सूक्ष्मरूप–शरीरगुहा सत्त्वसौम्यप्राण–इदम्‌र्ध्व भोग परात्पर–अक्षर–आत्मक्षर, भूतात्मा–तैजसात्मा–वैश्वानरात्मा ये तीन तीन पर्व उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। साधन–साध्य–साधक–भूत इन आत्माओं के उन्मुग्ध सिद्ध इन सबके चौथे उद्बुद्ध–आत्मस्वयम्भू, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्तर्यामी, महान्, अव्यक्त, मनोमय प्राणात्मा इन पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

४४–ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग के साधन–साधक–साध्य–भाव—

(४)–ज्ञानात्मक बुद्धियोग में उक्त आत्माओं के क्रमशः आत्मस्वयम्भू–वैश्वस्वयम्भू–भूतस्वयम्भू–विज्ञान–चातुष्प्राण–ज्योतिर्गो–प्रज्ञान–मध्यप्राण–रेतःप्रकाश–अन्तर्यामी–सूक्ष्मरूप–शरीरगुहा–महान्–सौम्य-प्राण–इदम्‌र्ध्व भोग अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर, एवं प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानर, ये सिद्ध उन्मुग्धावस्था में परिणत रहते हैं। ये सब सिद्ध शेष चौथे उद्बुद्ध आत्मस्वयम्भू चातुष्पुरुष साम्यप्रतिष्ठ परोरजा सत्त्व, परात्पर आनन्दविज्ञानमनोमय भूतात्मा इन पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं। आगे के परिलेखों से यह उन्मुग्ध–उद्बुद्ध आत्मपर्वपरम्परा भलीभाँति स्पष्ट हो रही है।

स एष-स्मृत्य मन्याम-विज्ञानम-प्रज्ञानाम-मध्यमम-महानाम-गृहीतम-भूतान्मात्रेणमित-
सत्युज मन्यान विज्ञानम प्रज्ञानाम-मध्यमम-महानाम-गृहीतम्हात्मो वैश्वानरमभानो
भूतात्मा ज्ञानमक कर्मयोगानुमाने प्रधान

म एष –प्रज्ञा मत्त्रकर्मयोग–

परिलेख प्रथम

१

–प्रज्ञा मत्त्रकर्मयोगानुगता–

षाट्कयो भूता मा वैश्वानर (?)

–(४ – ४३ क मण में)

प्रकारान्तरेण—

(१)–ब्रह्म-वेद-भूत-स्वयाग्नि, विज्ञानायुःप्राणज्योतिर्गौः,–प्रज्ञानयशःप्राणरेतःश्रद्धा,—अन्तर्य्यामिसूत्रस्वशरीरगुहा,–महत्सौम्यप्राण-हृदूर्क् भोग-अव्ययाक्षरात्मक्षर प्राज्ञतैजसवैश्वानरगर्भित· आत्मस्वयाग्नि, चाक्षुषपुरुष, शब्द-स्पर्शादिक-परोरजा, सत्य परात्पर–भावानुगत·–

(४)–आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा—बुद्धियोगात्मक–ज्ञानयोगानुष्ठाता १

(२)–आत्मदेवमृत्युस्वयाग्नि,–चाक्षुषपुरुषायुःप्राणज्योतिर्गौः –शब्दस्पर्शादिमयशःप्राणरेतःश्रद्धा,–परोरजासूत्रस्व-शरीरगुहा –सत्त्वसौम्यप्राण हृदूर्क् भोग-परात्पराक्षरात्मक्षर-भूतात्मतैजसवैश्वानरगर्भितः–ब्रह्मस्वयाग्नि, विज्ञान, प्रज्ञान, अन्तर्य्यामि, महत्, अव्यय-भावानुगत –

(३)–मनोमय प्राज्ञात्मा–ज्ञानयोगात्मक–ज्ञानयोगानुष्ठाता २

(३)–आत्मब्रह्ममृत्युस्वयाग्नि,–चाक्षुषपुरुषविज्ञानज्योतिर्गौः –शब्दस्पर्शादिप्रज्ञानरेत·श्रद्धा,–परोरजा–अन्तर्य्यामि-शरीरगुहा,—सत्त्वमहदिहूर्क् भोग–परात्पराव्ययात्मक्षर–भूतात्मवैश्वानरगर्भितः–देवस्वयाग्नि, आयुःप्राण, यशःप्राण, सूत्रस्व, सौम्यप्राण, अक्षरभावानुगतः–

(२)–प्राणमयस्तैजसात्मा–भक्तियोगात्मक–ज्ञानयोगाधिष्ठाता ३

(४)–आत्मब्रह्मदेवस्वयाग्नि,–चाक्षुषपुरुषविज्ञानायुःप्राण,–शब्दस्पर्शादिप्रज्ञानयशःप्राण,–परोरजा–अन्तर्य्यामि-सूत्रस्व,–सत्त्वमहत्सौम्यप्राण–परात्पराव्ययाक्षर–भूतप्राज्ञतैजसगर्भितः–भूतस्वयाग्नि, ज्योतिर्गौः, रेत·श्रद्धा, शरीरगुहा, हृदूर्क् भोग आत्मक्षरभावानुगत·–

(१)–वाङ्मयो वैश्वानरात्मा–कर्म्मयोगात्मक–ज्ञानयोगाधिष्ठाता ४

(१)–परात्परानुगते–विमुक्तिज्ञाने—आत्मसमर्पणाम्—तदनुगता परात्परोपजीविनो—ब्रह्मवादिन· (बुद्धियोगिन·)

(२)–अव्ययानुगते–अमृत विज्ञाने–आत्मसमर्पणाम्—तदनुगता·अव्ययोपजीविन·—आत्मवादिनः (ज्ञानयोगिन)

(३)–अक्षरानुगते –नियतिविज्ञाने—आत्मसमर्पणाम्–त·नुगता· अक्षरोपजीविन –नियतिविज्ञानवादिन –(भक्तियोगिनः)

(४)–आत्मक्षरानुगते विविज्ञाने–आत्मसमर्पणाम–तद् गताः–क्षरोपजीविनः–प्रत्यक्षविज्ञानवादिनः (कर्म्म योगिनः)

सैषा–जीवानुगतगूढोत्मानुगता भूतात्मा ज्ञानयोगानुगता गीता—

(१) अस्मद्गत·——विशुद्धसात्त्विकता·—ब्रह्मनिष्ठा ———बुद्धियोगिनः–निःश्रेयसवादा (निवृत्ति)

(२) अस्मद्गत·——सत्त्वरजो·नुरक्ता —आत्मनिष्ठा ———ज्ञानयोगिनः ममनिश्रेयसवादा· (अनुमति)

(३) अस्मदिद्गत –रजस्तमो·नुरक्ता–नियतिनिष्ठा—भक्तियोगिनः निःश्रेयसवादा (नियति)

(४) बहिर्गत·——तमोऽनुरक्ता·——प्रत्यक्षविज्ञाननिष्ठा–कर्म योगिनः–निःश्रेयसवादा (विवृत्ति)

जीवानुगतगूढो मत्युगता योगचतुष्टयी—

	१	२	३	४	५	६	७
	अव्ययात्मपर्यायाः	विज्ञानात्मपर्यायाः	प्रज्ञानात्मपर्यायाः	अव्यक्तात्मपर्यायाः	महानात्मपर्यायाः	गूढोत्मपर्यायाः	भूतात्मपर्यायाः
(१)	अव्ययस्यापि—	आत्मपुरुषः—	शान्तसदाशिवः—	परोरजा—	सत्यम्—	परात्परः—	भूतात्मा—विभूतिमान् (परात्परानुगतः)
(२)	अक्षरस्यापि—	विज्ञानम्—	प्रज्ञानम्—	अन्तर्यामी—	महान्—	अव्ययः—	प्रज्ञात्मा—सत्त्वात्मैकः (अव्ययानुगतः)
(३)	क्षरस्यापि—	आयुःप्राणः—	परा प्राणः—	प्राणसत्ये—	सौम्यमनः—	अक्षरः—	तैजसात्मा—सत्यात्मैकः (अक्षरानुगतः)
(४)	भूतस्यापि—	ज्योतिर्गौः—	रेत श्रद्धा—	शरीरगुहा—	इन्द्रकं भोग्य—	आत्मक्षरः—	वैश्वानरात्मा—पर्यवसित् (आत्मक्षरानुगतः)

[१]—आत्मपुरुषसम्परिष्वक्त-शान्तसदाशिवानुगत—परोरजोगर्भितसत्ययुक्त परात्परप्रधानो भूतात्मा—भूतात्मा—आत्मा [बुद्धियोगात्मकज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[२]—विज्ञानसम्परिष्वक्त-प्रज्ञानानुगतः—अन्तर्यामिगर्भितमहद्युक्त अव्ययप्रधानो भूतात्मा—प्रज्ञात्मा—कारणशरीरम् [ज्ञानयोगात्मकज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[३]—आयुःप्राणसम्परिष्वक्त-परा-प्राणानुगत-प्राणसत्यगर्भितसौम्यमनयुक्तः अक्षरप्रधानो भूतात्मा तैजसात्मा-सूक्ष्मशरीरम् [भक्तियोगात्मकज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमिः]

[४]—ज्योतिर्गौ-सम्परिष्वक्त रेत श्रद्धानुगत-शरीरगुहागर्भित-इन्द्रकं भोगयुक्तः आत्मक्षरप्रधानो भूतात्मा-वैश्वानरात्मा—स्थूलशरीरम् [कर्मयोगात्मकज्ञानयोग-प्रतिष्ठाभूमिः]

●–बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगचतुष्टयी चतुर्थी

४५–लोकप्रचलिता योगत्रयी का गीताद्वारा संशोधन—

अब क्रमप्राप्त अन्तिम (चौथी) उस योगचतुष्टयी की ओर गीताप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है जिसका तात्त्विक स्वरूप आज सर्वथा विलुप्त है। अतएव मानवसमाज संत्रस्त, एवं क्षुब्ध बना हुआ है। यही योगचतुष्टयी गीता–परिभाषा में 'बुद्धियोगचतुष्टयी' नाम से व्यवहृत हुई है, जिसका अगले परिच्छेदों में, एवं प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होने जा रहा है। प्रस्तुत बुद्धियोगचतुष्टयी के निरूपण से पहिले इस से पूर्व क्रमशः निरूपित कर्म्म–भक्ति–ज्ञानयोग–चतुष्टयी का स्वरूप भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेना चाहिए। तभी इसकी अपेक्षया पूर्णता–अपूर्णता एवं विलक्षणता का भलीभाँति परिचय प्राप्त हो सकेगा। कर्म्मयोगचतुष्टयी का चौथा कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग 'वैदिक काम्य कर्म्मयोग' है। भक्तियोगचतुष्टयी का चौथा भक्तियोगात्मक बुद्धियोग 'शास्त्रीय उपासनायोग' है। एवं ज्ञानयोगचतुष्टयी का चौथा ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग 'शास्त्रीय ज्ञानयोग' है। तात्पर्य्य इस विश्लेषण का यही है कि, वर्त्तमान युग में पुरुष के शास्त्रीय पुरुषार्थ क्रमशः कर्म्मयोग भक्तियोग, ज्ञानयोग, ये तीन योग माने जा रहे हैं। साथ ही कर्म्मयोग को प्रवृत्तिमार्ग भक्तियोग को उभयमार्ग, एवं ज्ञानयोग को निवृत्तिमार्ग बतलाया जा रहा है। परिभाषा तीनों योगों की यह की जा रही है कि वेद के ब्राह्मणभाग में निरूपित वैदिक यज्ञ–तपो–दान–लक्षण क्रियासापेक्ष प्रवृत्ति-कर्म्मों में आजन्मीवन रत रहते हुए स्वर्गादिफल प्राप्त करना ही 'कर्म्मयोग' है, जिसे गीता ने 'योगनिष्ठा' नाम से व्यवहृत किया गया है। इस निष्ठा में कर्म्मकलाप का कामनापूर्वक आत्यन्तिकरूप से संग्रह हुआ है। वेद के आरण्यकभाग में निरूपित वैदिक उपासनामार्ग में आजन्मीवन प्रवृत्त रहते हुए सगुणब्रह्म के साथ सायुज्यभाव प्राप्त कर लेना ही 'भक्तियोग' है, जिसे गीता ने 'अव्ययभक्तिनिष्ठा' नाम से व्यवहृत किया है। वेद के उपनिषद्भाग में निरूपित वैदिक ज्ञानमार्ग में तल्लीन रहते हुए निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाना ही 'ज्ञानयोग' है। कर्म्मयोग में जहाँ कामनापूर्वक सर्वकर्म्म का संग्रह है वहाँ इस ज्ञानयोग में सर्वकर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग अभीप्सित है। कर्म्मत्यागलक्षण यही ज्ञानयोग गीतापरिभाषा में 'सांख्यनिष्ठा' नाम से व्यवहृत हुआ है। तीनों की उपादेयता–अनुपादेयता के सम्बन्ध में क्रमशः कर्म्म–भक्ति–ज्ञान–परीक्षाप्रकरणों में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। प्रकृत में हमें बतलाना केवल यही है कि–कर्म्म–भक्ति–ज्ञान तीनों योगचतुष्टयी में से तीनों के बुद्धियोगात्मक चतुर्थ–चतुर्थ योग ही शास्त्रीय कर्म्म–भक्ति–ज्ञानयोग कहलाए हैं। तीनों ही योग आत्यन्तिक पुरुषार्थसाधन में असमर्थ हैं। योगनिष्ठा नामक वैदिक कर्म्मयोग कामना के सम्बन्ध से आसक्ति का जनक बनता हुआ आवरक बन रहा है। वैदिक उपासनायोग भी अभेदभावसम्बन्ध से द्वैतभाव का समर्थक बन रहा है। एवं वैदिक ज्ञानयोग कर्म्मपरित्यागात्मकत्वेन आत्मव्याहार्य्य बन रहा है। अतएव कहा जा सकता है कि, गीता की दृष्टि से तीनों ही शास्त्रीय योग अनुपादेय हैं। शास्त्रसमर्थित पर प्रकार समर्थक गीता-शास्त्र क्या इन शास्त्रीय योगों की ऐसी उपेक्षा कर सकता है ? । नहीं, गीता शास्त्रीय योगत्रयी का विरोध नहीं करती, अपितु शास्त्रीय योगनिष्ठाओं में जो अंश दोषसम्पर्क का प्रविष्ट है उसे निकालना अनिवार्य्य मानती है। गीता तीनों ही योगों के सम्बन्ध में बुद्धियोगसम्पत्–प्रवेश द्वारा यही संशोधन चाहती है।

४६–योगों के असन्धन, एवं सम्बन्धन–भाव—

पाठकों को स्मरण होगा कि अध्यात्मसंस्था में मुक्त आत्मपर्वों की गणना करते हुए हमनें आठ आत्मपर्वों का विश्लेषण किया है। वे आठों आत्मपर्व क्रमशः ईश्वरीय गूढ़ात्मा, जीव गूढ़ात्मा, अव्यक्तात्मा,

महानात्मा विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा कर्म्मात्मा, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं *। इन आठों में ईश्वरीय गूढोत्मा का एक स्वतन्त्र तन्त्र है एवं यह पर–अपर सर्वत्र समरूपेणावस्थित है । अतएव यह गीता में 'समब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है + । शेष सातों आत्मपर्वों की समष्टि एक स्वतन्त्र तन्त्र है यही जीवतन्त्र है । ईश्वरतन्त्र से सम्बन्ध रखने वाली कामना 'उदिष्यतात्मकामना' है । यही निष्कामभावापन्न प्राकृतिक कामना है । अपने स्वाभाविक 'सम' धर्म्म के कारण ईश्वरतत्त्व स्वोदिष्यताकामना के द्वारा सब कुछ करता हुआ भी, सब में प्रविष्ट रहता हुआ भी अकर्त्ता है असक्त है पुष्करपलाशवन्निर्लेप है । जीवतन्त्र स्वभावतः अनृतवेष्टित है । अतएव इस से सम्बन्ध रखने वाली कामना भी अनृतभावापन्ना है जो जीवकामना 'उत्पात्मकामना' नाम से व्यवहृत हुई है । यह कामना मनोऽनुगता है । मन पान्नारत से निष्पन्न होने के कारण स्नेहयुक्त है । अतएव अनृतभावा–अनृतवेष्टिता जीवकामना में स्नेहधर्म्म का उदय हो जाता है । इसी स्नेहधर्म्म का नाम गीतापरिभाषा में 'आसक्ति' है । इसी आसक्ति से जीवतन्त्रानुगत कर्म्म इसके बन्धन का कारण बन जाता है । सातों पर्वों का क्रमशः वैश्वसृट्छोमा, अव्यक्तगर्भित महानात्मा विज्ञान सम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा, कर्म्मात्मसम्परिष्वक्त भूतात्मा इसप्रकार विभाजन हुआ है । इनमें कर्म्मात्मा सामान्य साधन है । भूतात्मा योगानुगता साधक है । शेष वैश्वसृट्छोमा अव्यक्तगर्भित महानात्मा विज्ञान सम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा ये तीनों पर्व क्रमशः ज्ञानयोग–भक्तियोग–कर्म्मयोग, इन तीनों योगों की मूलप्रतिष्ठा बनते हुए साध्यकोटि में प्रविष्ट हैं । कर्म्मात्मसम्परिष्वक्त भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्त–प्रज्ञानात्मानुगत कर्म्मयोग का, अव्यक्तगर्भित महानात्मानुगत भूतात्मा भक्तियोग का एवं वैश्वसृट्छोमानुगत भूतात्मा ज्ञानयोग का अनुगमन कर रहा है । निष्कर्षतः इस योगत्रयी में मुक्त सातों आत्मपर्व जीवतन्त्र से सम्बन्धित हैं । अतएव जीव–भावानुगत तीनों ही योग बन्धन बने हुए हैं । इस स्थिति के आधार पर ही भगवान् का हमें आदेश होता है कि—

४७—गीतासिद्धान्त, और बुद्धियोगचतुष्टयी—

यदि तुम योगत्रयी में प्रवृत्त रहते हुए भी ईश्वरतन्त्रवत् बन्धनविमुक्त रहना चाहते हो, तो अपनी जीवकामना को असङ्ग बनाओ । इसके लिए तुम्हें जीव को मन के आकर्षण से विमुक्त करना पड़ेगा । इसके लिए किसी असङ्गभाव का आश्रय लेना पड़ेगा । जैसे असङ्गभाव का जो समब्रह्मरूप ईश्वरतन्त्र से सम्बन्धित रहता हुआ स्वतन्त्र से भी युक्त हो, साथ ही असङ्ग भी हो । अन्वेषण कीजिए, आपको अध्यात्मसंस्था में मुक्त सप्तात्मपर्वों में ऐसा केवल आत्मा है, जो समभाव से भी युक्त है, एवं असङ्ग धर्म्म से ही युक्त है । वैश्वसृट्छोमरूप अव्यक्त आत्मपर्व के आधार पर क्रमशः स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा भौम कर्म्मात्मा ये पाँच अव्यक्तात्मपर्व प्रतिष्ठित

---

*—देखिए पृ. सं. १९५

+— इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥
निर्दोषं हि 'समं ब्रह्म' तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
—गीता ५।१९।

है। वैज्ञानिक जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु उसके केन्द्र पर सन्तुलित रहती है। कारण केन्द्रस्थान उस वस्तुभार के लिए सम बना रहता है। पाँचों पञ्चात्मपर्वों का मध्य विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। अत पाँचों में से इस ही सममावापन्न माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त चान्द्र मन स्नेहधर्म्म के कारण जहाँ स्नन्ध था, वहाँ सूर्य्यवत्स से सम्बद्ध यह विज्ञानात्मा और अग्नि के स्वाभाविक असङ्गधर्म्म से असङ्गधर्मा भी है। इसी समस्त, और असङ्गत्व के कारण अध्यात्मसंस्था के पञ्चात्मपर्वों में से इन्द्रस्थानीय यह विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही सम-असङ्ग-धर्म्मावच्छिन्न ईश्वरतन्त्र के साथ सम्बन्ध करने में समर्थ बनता है। इसी आधार पर श्रुति के 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'-'यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा' इत्यादि सिद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं। यदि भूतात्मा अपनी मानव कामना का इस विज्ञानात्मा में समर्पण कर देता है, तो विज्ञानात्मद्वारा सन्तुलित ईश्वरीय गूढ़ात्मा की निष्कामभावात्मिका 'उच्चितवत्सा'-रूपा अकामकामना का जीवकामना में प्रवेश हो जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धि के साथ युक्त भूतात्मा ईशकामना से युक्त हो जाता है। इस बुद्धियोग के द्वारा प्राप्त ईशकामना का परिणाम यह होता है कि जीवतन्त्रानुगता मनःसम्परिष्कृता असङ्गभावप्रधाना कामना का ही आत्यन्तिकरूप से उन्मूलन हो जाता है। एवं इसकी अध्यात्मसंस्था में मुक्त ईशरूप का ही प्राधान्य रह जाता है। ईशतन्त्रानुगता-बुद्धिसम्परिष्कृता-असङ्गभावप्रधाना-निष्काम-भावात्मिका इस कामना के आधार पर जीवात्मा जो भी कर्म करता है, जिसकी भी भक्ति करता है जैसी भी आत्मकर्मनिष्ठा (ज्ञानयोग) का अनुगमन करता है, कोई भी बन्धन का कारण नहीं बनते। तद्भाषा में इस रहस्य का यों स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि अध्यात्म में ईश्वर जीव दो अन्वायी हैं। जीवतन्त्र मनःप्रधान है ईश्वरतन्त्र बुद्धिप्रधान है। बुद्धितन्त्रानुगत ईश्वर समभावापन्न एवं असङ्ग है। मनस्तन्त्रानुगत जीव विषमभावापन्न एवं ससङ्ग है। असङ्ग ईश्वरकामना से सम्बद्धा मागवती प्रकृपता है, ससङ्ग जीवकामना से सम्बद्धा मागवती उपपना है, एवं इसी का भगवान् ने विरोध किया है।

जीवकामनानुगता मागवती में दो प्रधान दोष हैं। आवरणनिवृत्ति न होना पहिला दोष है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि, जीव ने शास्त्रीय मार्ग का अनुगमन भी किया परन्तु बन्धन की निवृत्ति न हुई। दूसरा व्यक्तिस्वार्थ दोष है। जिस कर्मठ-भक्त-एवं ज्ञानी से लोकोपकार न हुआ हो, उसका रहना न रहने के समान है। लोकसंग्राहक भगवान की दृष्टि में यह सबसे बड़ा दोष है। कर्मठ को स्वकर्म से स्वर्ग मिल गया, भक्त को वैकुण्ठ मिल गया, ज्ञानी मुक्त हो गया। आस्तां तावत्। त्रिगुणभावापन्न समप्रधान विश्व के सभी प्राणी व्यक्तित्व एवं स्वार्थों में लिप्त हैं। पशुधर्म्म से सन्तुलित ऐसे मानवधर्म्म का मूल्य ही क्या है?। पुरुषार्थ तो वही वास्तविक पुरुषार्थ है, जिससे अपने अभ्युदय-निःश्रेयस के साथ साथ सर्वसाधारण का भी अभ्युदय सिद्ध होता हो। जीव के अन्तर्जगत् में जब तक आनन्द-ज्ञान-क्रि-या की विभूतियाँ प्रतिष्ठित न हों, तब तक यह अनन्तों का क्या हित कैसे कर सकता है। इसका यदि उपाय है-तो एकमात्र यही कि यह बुद्धियोगद्वारा (बुद्धियुक्तिद्वारा) अपने आपको अध्यात्मस्थ अनन्तविभूतियुक्त ईश्वर के प्रति समर्पित करदे। इससे उसके आनन्त्य का इसमें समावेश हो जायगा। इसप्रकार समत्व को आधार बना कर परिस्थिति-प्रेरणा से भागवती में प्रवृत्त होने वाला जीवात्मा परमपुरुषार्थ-साधन में भी समर्थ हो जायगा, एवं ईश्वरवत् बन्धन से भी विमुक्त रहेगा जैसाकि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

१—ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
—गी० ५।१०।

२—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
—गी० २।५०।

३—योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ॥
—गी० २।४८।

४—दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ! ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
—गी० २।४९।

५—तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
—गी० ३।१९।

६—यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
—गी० ४।१९।

७—योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
—गी० ५।७।

८—इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
—गी० ५।१९।

९—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
—गी० ६।२९।

उक्त विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि ईश्वरीय गूढ़ोत्मा को साम्य बनाने वाला योग ही गीतारहस्यान्वित बुद्धियोग है। ईश्वरीय गूढ़ोत्मा (ईश्वरानुगत षोडशी) के आधार पर ही बुद्धियोग प्रतिष्ठित है। योगानुष्ठाता भूतात्मा है। ज्ञानयोगानुष्ठान में जहाँ भूतात्मा विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मानुगत–अव्यक्त-गर्भित महानात्मा को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले शैवगूढ़ोत्मा का अनुगामी बना रहता है, वहाँ इस बुद्धि योगानुष्ठान में वही भूतात्मा शैवगूढ़ोत्मा, अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, इन सब आध्यात्मिक संस्थाओं को स्वगर्भ में युक्त रखने वाले महामायी ईश्वरीय गूढ़ोत्मा का अनुगामी बन जाता है। भूतात्मा की इस ईश्वरीय षोडशीपुरुषानुगति का ही नाम बुद्धियोग है जिसके ज्ञानयोगवत् षोडशीपर्वभेद से चार विवर्त हो जाते हैं। इन्हीं का क्रमिक स्पष्टीकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

४८–'धर्म्म'-भावानुगत वाङ्मय कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग—

(१) ईश्वरीय गूढ़ोत्मा के आत्मक्षरानुगत आत्मक्षर पर्व को मूल बना कर, अव्यक्तात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा अव्यक्तात्मा–महानात्मा–शैवगूढ़ोत्मा–इन आत्माओं के आत्मक्षरानुगत मूलक्षत्राग्नि, ज्योतींषि, रेत श्रद्धा, शरीरगुहा, दहूक योगाः, आत्मक्षर, इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने आत्मक्षरप्रधान वाङ्मय वैश्वानरभाग से जिस वैज्ञानिक–प्राकृतिक–कर्म्म का अनुष्ठान करता है, वही विज्ञानभाषा में 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। बुद्धि से युक्त योगात्मा स्वयं भी पर्वचतुष्टय में विभक्त है, एवं योगसम्बन्धिस्वरूपाविच्छिन्न स्वयं बुद्धि भी पर्वचतुष्टय से सम्बद्ध है। योगात्मा के चारों पर्व सुपरिचित 'परात्पर अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर' हैं। बुद्धि के चारों पर्व 'धर्म्म-ऐश्वर्य्य-ज्ञान-वैराग्य' हैं, जिनका अगले परिच्छेदों में विस्तार से विश्लेषण किया जाने वाला है। अभी प्रकरणसङ्गति के लिए इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, विद्याबुद्धि के धर्म्म–ऐश्वर्य्य–ज्ञान–वैराग्य, नामक चारों पर्व योगात्मा (ईश्वरीय गूढ़ोत्मा) के आत्मक्षर-अक्षर-अव्यय-परात्पर, इन चारों पर्वों से सम्बद्ध हैं। वैश्वानरप्रधान भूतात्मा आत्मक्षरानुगत धर्म्मपर्व से प्रयुक्त रहता है। यही बुद्धियोगात्मक कर्म्म योग की मूलप्रतिष्ठा बनता है। निष्कामभाव से लोकाभ्युदयार्थ होने वाला नैष्ठिक कर्म्म कलाप ही सुपरिचित कर्म्ममार्ग है। इसी का नाम कर्म्मात्मक बुद्धियोग किंवा धर्म्मबुद्धियोग है जिसे आगम परम्परा से हम 'कर्म्म योग' कहेंगे। वर्णाश्रमधर्म्मानुसार पुरुष का यावज्जीवन निष्कामभाव से वैदिक कर्म्म मार्ग में प्रवृत्त रहना ही बुद्धियोगात्मक कर्म्म योग है, जो विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त महानात्मा से सम्बद्ध कर्म्म योगचतुष्टयी के चौथे कर्म्म योगात्मक–सम्य–नैरिक बुद्धियोग का कथापित रूप है। ईश्वरीय गूढ़ोत्मा से धर्म्मलक्षण आत्मक्षर पर्व पर प्रतिष्ठित, भूतक्षत्राग्नि–ज्योतींषि–रेत श्रद्धा शरीरगुहा–दहूक योगपर्वगर्भित शैवगूढ़ोत्मा के आत्मपरभाग से समन्वित, बुद्धियोगात्मक कर्म्म योग, एवं तथाविध कर्म्मयोगियों का यही नैष्ठिक स्वरूपविश्लेषण है जिसे आगमपरम्परा से 'वाङ्मय कर्म्मयोग' कहा जा सकता है जो। कर्म्म योगपरिभाषा कर्म्म योगचतुष्टयी के कर्म्म योगात्मक बुद्धियोग से अंशतः समतुलित है।

४९–'ऐश्वर्य्य'-भावानुगत प्राणमय भक्तियोगात्मक बुद्धियोग—

(२)—अपरा मा भक्तियोग भी मनःप्रतिष्ठ माना गया है। अतएव तदनुगत बुद्धियोग का भी अवश्य ही बुद्धियोगात्मक भक्तियोग कहा जायगा। ईश्वरीय गूढ़ोत्मा के अक्षरानुगत अक्षरपर्व को मूल बना कर, अव्यक्तात्मा–विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा–अव्यक्तात्मा–महानात्मा–शैवगूढ़ोत्मा–इन आत्माओं के अक्षरानुगत

देवसत्याग्नि–आशुप्राण–यज्ञप्राण–ऋतमय–सौम्य–प्राण अक्षर इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने अक्षरप्रधान प्राणमय तैजस भाग से जिस कर्म का अनुगमन करता है वही विज्ञानभाषा में 'ऐश्वर्य' कहलाता है। वर्णाश्रमधर्मानुगमनपूर्वक पुरुष का आजन्मजीवन आत्मविकास–लक्षण ऐश्वर्य पथ में आरूढ़ रहना ही बुद्धियोगात्मक भक्तियोग है जो अव्ययात्मगर्भित महानात्मा से सम्बद्ध भक्तियोगचतुष्टयी के चौथे भक्तियोगात्मक–कर्म–शास्त्रीय बुद्धियोग का (भक्तिनिष्ठा का) ही संशोधित रूप है। इसे ही गीता परिभाषा में–'ऐश्वर्यबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया गया है। ईश्वरीय गूढोत्मा के ऐश्वर्यलक्षण अक्षरपर्व पर प्रतिष्ठित देवसत्याग्नि आशुप्राण यज्ञप्राण ऋतसत्य सौम्यप्राण अक्षरपर्वों के द्वारा संचालित, बुद्धियोगात्मक भक्तियोग एवं तथाविध भक्तियोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है जिसे आत्मस्वरूपदृष्टि से 'प्राणमय क्रियायोग' कहा जा सकता है जो कि भक्तियोगात्मिका योगचतुष्टयी के भक्तियोगात्मक–बुद्धियोग से अंशतः समतुलित है।

५०–'ज्ञान'–भावानुगत मनोमय ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग–

(३)–अव्ययात्मा का ज्ञानयोग से सम्बन्ध है। अतएव तदनुगत बुद्धियोग ज्ञानयोग नाम से व्यवहृत किया जायगा। ईश्वरीय गूढोत्मा के अव्ययानुगत अव्ययपर्व को मूल बना कर, अव्ययात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-अव्यक्तात्मा-महानात्मा-वैश्वगूढोत्मा-इन आत्माओं के अव्ययानुगत अक्षरसत्याग्नि-विज्ञान-प्रज्ञान-अन्तर्यामी-महान्-अव्यक्त-इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने अव्ययप्रधान मनोमय प्रज्ञाभाग से जिस कर्म में प्रवृत्त होता है, वही विज्ञानभाषा में 'ज्ञान' कहलाता है। वर्णाश्रमधर्मानुगमनपूर्वक पुरुष का आजन्मजीवन लोकसंग्रह का यथायथरूप अनुगमन करते हुए ज्ञानलक्षण आध्यात्मिक कर्मों में प्रवृत्त रहना ही बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग है जो वैश्वगूढोत्मा से सम्बद्ध ज्ञानयोगचतुष्टयी के चौथे कर्म त्यागलक्षण ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग का ही संशोधितरूप है। यही गीता में—'ज्ञानबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। ईश्वरीय गूढोत्मा के ज्ञानलक्षण अव्यय पर्व पर प्रतिष्ठित–अक्षरसत्याग्नि-विज्ञान-प्रज्ञान–अन्तर्यामी-महान्-अव्यक्त पर्वों के द्वारा संचालित बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग एवं तथाविध ज्ञानयोगियों का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है। इसे आत्मस्वरूपदृष्टि से 'मनोमय ज्ञानयोग' कहा जा सकता है, जो कि ज्ञानयोगात्मिका योगचतुष्टयी के ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग से अंशतः समतुलित है।

५१–'वैराग्य'–भावानुगत सर्वमय बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग–

(४)–परात्परतत्त्व बुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। अतएव तदनुगत बुद्धियोग अवश्य ही 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। ईश्वरीय गूढोत्मा के परात्परानुगत परात्पर पर्व को आधार बना कर अव्ययात्मा-विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा–अव्यक्तात्मा–महानात्मा–वैश्वगूढोत्मा–इन आत्माओं के परात्परानुगत आत्मसत्याग्नि-आहुतपुरुष-आत्मसाक्षिक-परोरजा-सत्य-परात्पर-इन साधनों के द्वारा भूतात्मा अपने परात्परप्रधान आनन्द–विज्ञानमनोमय भूतात्मभाग से जिन वैज्ञानिक जीवनपथ में प्रवृत्त होता है वही विज्ञानभाषा में 'वैराग्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। वर्णाश्रमधर्मानुगमनपूर्वक पुरुष का आजन्मजीवन [illegible] सहज भावों में प्रवृत्त रहना ही बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग है। यही गीता में 'वैराग्यबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। ईश्वरीय गूढोत्मा के वैराग्यलक्षण परात्पर पर्व पर प्रतिष्ठित, आत्मसत्याग्नि-आहुतपुरुष-आत्मसाक्षिक-परोरजा–

६
भूतात्मा–साधकः

८
...ात्म–पञ्चाग्नि
...गुण्यानि

गृहीत-भूतात्मसर्वगामिनी

सक्षा वैश्वानरप्रधानो

स एष –बुद्धियोगात्मककर्म्मयोग-

परिलेखः प्रथम

सत्त्व-वैश्वपरात्पर-इन पर्वों के द्वारा संग्राहित बुद्धियोग का, तथा एतद्विध बुद्धियोगियों का यही [illegible] [illegible] है। इसी को आत्मकल्पनादृष्टि से 'ज्ञानघ्नविज्ञानमनोमयसर्वयोग' कहा जा सकता है, जो [illegible] के समन्वित न होता हुआ [illegible] अपूर्व-विलक्षण-एवं पूर्ण योग है जिसके विस्तार का [illegible] [illegible] गीताशास्त्र को ही प्राप्त हुआ है। पूर्वप्रतिपादित कर्म-भक्ति-ज्ञान, तीनों योगपर्वत्रयी के [illegible] एवं साध्य-भावों का निम्न लिखित स्पष्टीकरण है।

१२–बुद्धियोगात्मक कर्मयोग के साधन-साधक-साध्य–भाव–

(१)–बुद्धियोगात्मक–'कर्मबुद्धियोग' नामक कर्मयोग में परात्पर अव्यय [illegible] [illegible] [illegible] के तीनों पर्वों से अनुगृहीत साधनभूत–अव्यात्मा–विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा–[illegible] [illegible] इन आत्माओं के आत्मकल्याणि–ब्रह्मकल्याणि–देवकल्याणि–पर्वत्रयी, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible]–प्रज्ञान–प्राण–प्राणपर्वत्रयी, परोरजा–अन्तर्यामी–सूत्रात्मपर्वत्रयी, [illegible] [illegible] –परात्पर–अव्यय–अक्षरपर्वत्रयी, साध्यभूत–ईश्वरीय गूढात्मा के [illegible] [illegible] [illegible] पर्व एवं साधकभूत भूतात्मा के भूतात्मा–प्राणात्मा–[illegible], ये तीनों पर्व [illegible] [illegible] होते हैं। ये सब उत्पन्न सिद्ध शेष चौथे उद्भूत भूतकल्याणि, [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible], [illegible], वैश्वानर, इन पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

१३–बुद्धियोगात्मक भक्तियोग के साधन-साधक-साध्य–भाव–

(२)–बुद्धियोगात्मक–'ऐश्वर्यबुद्धियोग' नामक भक्तियोग में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भूतकल्याणि–[illegible] विज्ञानज्योतिर्गो, [illegible]–प्रज्ञा–[illegible], परोरजा–अन्त [illegible] [illegible], [illegible]–[illegible] योग परात्पर–अव्यय–अक्षर, [illegible] [illegible], ये [illegible] [illegible] [illegible] रहते हैं। ये सब सिद्ध चौथे उद्भूत देवकल्याणि–[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पर्वों में अन्तर्भुक्त रहते हैं।

प्रकारान्तरेण—

(१)—अव्ययेऽक्षरमूलत्वाग्नि,—विज्ञानाग्नुप्राणज्योतिर्मो,—प्रज्ञानमन आपरेतःभक्ता,—अन्तर्यामिअव्यक्तशारीरगुप्त,—महत्सोम्यप्राणा—हृदि सोम—जीवानुगताव्ययाक्षरात्मक्षर—ईश्वरानुगताव्ययाक्षरात्मक्षर—शारीरवैश्वानरग-र्भिता,—आत्मत्वाग्नि—वाङ्गुणपुरुष—अन्नरसाशीय—परोरजा—तत्त्व—वैश्वानरक्षर—ईश्वरपरक्षर भावानुगत.—
(४)—आनन्दविज्ञानमनोमयो भूतात्मा—बुद्धियोगात्मक—बुद्धियोगानुप्राप्ता १

(२)—आत्मरेयमूलत्वाग्नि,—वाङ्गुणपुरुषप्राणज्योतिर्मो—अन्नरसाशीयमन आपरेतःभक्ता,—परोरजाव्यक्त-शारीरगुप्त,—महत्सोम्यप्राणे हृदि सोम,—जीवानुगतपरात्पराक्षरात्मक्षर,—ईश्वरानुगतपरात्पराक्षरात्मक्षर—भूत-वैश्वानरगर्भित,—आत्मत्वाग्नि, विज्ञान प्रज्ञान अन्तर्यामि, महत्, वैश्वानर, ईश्वराक्षरमावानुगत—
(३)—मनोमयः महात्मा—ज्ञानयोगात्मक—बुद्धियोगानुप्राप्ता २

(३)—आत्मामलमूलत्वाग्नि,—वाङ्गुणपुरुषविज्ञानज्योतिर्मो,—अन्नरसाशीयप्रज्ञानरेतःभक्ता,—परोरजा—अन्तर्यामि-शारीरगुप्त,—तत्त्वमहति हृदि सोम—जीवानुगतपरात्पराक्षरात्मक्षर,—ईश्वरानुगतपरात्पराक्षरात्मक्षर—भूतात्मवैश्वा-नरगर्भित—वैश्वानराग्नि, वाङ्प्राण मनःप्राण अव्यक्त सौम्यप्राण वैश्वानर, ईश्वराक्षरमावानुगत—
(२)—आत्मनश्चैकात्मा—भक्तियोगात्मक—बुद्धियोगाधिष्ठाता ३

(४)—आत्मभूतवैश्वानराग्नि—वाङ्गुणपुरुषविज्ञानानुप्राण—अन्नरसाशीयप्रज्ञानमनःप्राण—परोरजा—अन्तर्यामि-भूतत्व,—तत्त्वमहत्सौम्यप्राण—जीवानुगतपरात्पराक्षरात्मक्षर,—ईश्वरानुगतपरात्पराक्षरात्मक्षर—भूतात्मवैश्वानर-गर्भित—भूतत्वाग्नि, ज्योतिर्मो रेतःभक्ता, शारीरगुप्त हृदि सोम, वैश्वानर, ईश्वराक्षरभावानुगत—
(१)—वाङ्मयो वैश्वानरात्मा—कर्मयोगात्मक—बुद्धियोगाधिष्ठाता ४

(१)—ईश्वराक्षरपरात्परानुगते—वैराग्ये आत्मसमर्पणम्—तदनुगता—परात्परोपजीविनो वैराग्यवादिनः (बुद्धियोगिनः)
(२)—ईश्वराव्ययाक्षरानुगते ज्ञाने आत्मसमर्पणम्—तदनुगताः—अव्ययोपजीविनो ज्ञानवादिनः (ज्ञानयोगिनः)
(३)—ईश्वराक्षरानुगते ऐश्वर्ये आत्मसमर्पणम्—तदनुगताः—अक्षरोपजीविन ऐश्वर्यवादिन (भक्तियोगिनः)
(४)—ईश्वराक्षरक्षरानुगते धर्मे आत्मसमर्पणम्—तदनुगताः—आत्मक्षरोपजीविन धर्मवादिनः (कर्मयोगिनः)

सैषा—ईश्वरानुगतगूढोत्मानुगता भूतात्मनो बुद्धियोगचतुष्टयी चतुर्धा—

(१)—सर्वमुक्ता——अमुक्ताः—आकृतिका—सर्वनिष्ठाः———बुद्धियोगिनः—वैराग्यपरायणा (वैराग्यम्)
(२)—अन्तर्मुक्ताः—अमुक्ताः—आकृतिका—अव्ययनिष्ठा——ज्ञानयोगिन——ज्ञानपरायणा (ज्ञानम्)
(३)—अन्तर्मुक्ता——अमुक्ता—आकृतिकाः—महात्म्यनिष्ठा—भक्तियोगिन——ऐश्वर्यपरायणा (ऐश्वर्यम्)
(४)—अन्तर्बहिर्मुक्ता—अमुक्ता—आकृतिकाः—अक्षरनिष्ठाः——कर्मयोगिन—धर्मपरायणा (धर्मः)

ईश्वरानुगत-गूढोत्मानुगता योगचतुष्टयी—

अव्ययात्मपर्य्याय विज्ञानात्मपर्य्याय महानात्मपर्य्याय अव्यक्तात्मपर्य्याय गह्वरात्मपर्य्याय जीवानुगतगूढोत्मपर्य्याय ईश्वरानुगत गू० प० मू० प०

(१) आनन्दस्वामिनः——वाक्पुरुषः——अव्यक्तप्रतिष्ठा——परोरजाः——सत्यम्——परात्परोऽव्ययानुगतः——परात्परः परात्पर०—भूतात्मा——योगनिष्ठः——(परात्परानुगतः)

(२)—प्रज्ञानस्वामिनः——विज्ञानम्——प्रज्ञानम्————अन्तर्य्यामी-महान्——अव्ययोऽव्ययानुगतः——अव्ययः परात्पर०—प्रज्ञात्मा——ज्ञाननिष्ठः——(अव्ययानुगतः)

(३)—तैजसस्वामिनः——आशु प्राणः——यज्ञप्राणः———सूत्रात्मा—सौम्यप्राणः——अक्षरोऽव्ययानुगतः ——अक्षरः परात्परः -तैजसात्मा——ऐश्वर्य्यशाली—(अक्षरानुगतः)

(४)—भूतस्वामिनः——ज्योतिर्गौः——रेतःश्रद्धा————शरीरगुहा-हृद्योगः—आत्मक्षरोऽव्ययानुगतः——आत्मक्षरः पर वैश्वानरात्मा-धर्म्मिष्ठः——(आत्मक्षरानुगतः)

———————

(१)—वाक्पुरुषसम्परिष्वक्ताव्यक्तप्रतिष्ठः—परोरजोगर्भितसत्यस्वरूपः———वैश्वपरात्परगर्भितेशपरात्परप्रधानो भूतात्मा—भूतात्मा——महात्मा———(बुद्धियोगात्मकबुद्धियोग प्रतिष्ठाभूमिः)

(२)—विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानानुगतः ——अन्तर्य्यामिगर्भितमहत्स्वरूपः——वैश्वाव्ययगर्भितेशाव्ययप्रधानो भूतात्मा—प्राज्ञात्मा——कारणशरीरम्(ज्ञानयोगात्मकबुद्धियोग प्रतिष्ठाभूमिः)

(३)—आशुप्राणसम्परिष्वक्तयज्ञप्राणानुगतः—सूत्रात्मगर्भितसौम्यप्राणयुक्तः—वैश्वाक्षरगर्भितेशाक्षरप्रधानो भूतात्मा—तैजसात्मा——सूक्ष्मशरीरम्—(भक्तियोगात्मकबुद्धियोग प्रतिष्ठाभूमिः)

(४)—ज्योतिर्गौसम्परिष्वक्तरेतःश्रद्धानुगतः——शरीरगुहागर्भितहृद्योगयुक्तः—वैश्वात्मक्षरगर्भितेशात्मक्षरप्रधानो भूतात्मा—वैश्वानरात्मा—स्थूलशरीरम्—(कर्म्मयोगात्मकबुद्धियोग-प्रतिष्ठाभूमिः)

———————

५६–षोडशकलप्रजापति के षोडश (१६) योगविवर्त—

'योगेश्वर' नाम है–'ईश्वरानुगत षोडशीपुरुष' का। इस योगेश्वर के आधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत, भेद से तीन विवर्त मुख्य माने गए हैं। अधिदैवत विवर्त 'ईश्वर' नाम से, अध्यात्म विवर्त 'जीव' नाम से एवं अधिभूत विवर्त 'जगत्' नाम से व्यवहृत हुआ है। तीनों विवर्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण पूर्व के–'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप' नामक स्तम्भ में विस्तार से किया जा चुका है। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न था योगेश्वर के तात्त्विक योगों से सम्बन्ध रखने वाला। प्रस्तुत स्तम्भ में इसी प्रश्न के समाधान की चेष्टा की गई है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, योगेश्वर के आध्यात्मिक 'जीव' नामक विवर्त में क्रमशः ईश्वरानुगत-गूढोत्मा, जीवानुगत गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, अन्नात्मा, इन ८ आत्मविवर्तों का समन्वय हो रहा है। आठों में से सौम्य अन्नात्मा सर्वथा योगसाधन है। पार्थिव भूतात्मा सर्वथा योगसाधक है। चान्द्र प्रज्ञानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, जीवानुगत गूढोत्मा, ये आत्मविवर्त योगतारतम्य से साधन भी हैं और साध्य भी हैं। सर्वान्त में प्रतिष्ठित, सर्वाधार निराधारभूत–ईश्वरानुगत गूढोत्मा केवल साध्य ही है। आठों आत्मविवर्तों के प्रधानतः ६ विवर्त बन जाते हैं। ईश्वरानुगत गूढोत्मा स्वतन्त्र विवर्त है, जीवानुगत गूढोत्मा स्वतन्त्र विवर्त है, अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मरूप से दो आत्माओं का स्वतन्त्र विवर्त है, विज्ञानात्मगर्भित प्रज्ञानात्मरूप से दो आत्माओं का स्वतन्त्र विवर्त है, भूतात्मा का स्वतन्त्र विवर्त है एवं अन्नात्मा का स्वतन्त्र विवर्त है। इन ६ में से पूर्व के चार स्वतन्त्र विवर्त क्रमशः परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर प्रधान बनते हुए क्रमशः बुद्धि–ज्ञान–भक्ति कर्मयोग, इन चार योगों के साध्य बन रहे हैं। सर्वान्त का अन्नात्मविवर्त साधन है, ५ वाँ भूतात्मविवर्त साधक है। अन्नात्मयुक्त भूतात्मा विज्ञानगर्भित प्रज्ञानानुगत आत्मक्षर का अनुगामी बनता हुआ कर्मयोग का साधक कहलाया है। अन्नात्मक भूतात्मा अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मानुगत अक्षर का अनुगामी बनता हुआ भक्तियोगसाधक माना गया है। अन्नात्मक भूतात्मा जीवानुगत गूढात्मप्रधान अव्यय का अनुगामी बनता हुआ ज्ञानयोगसाधक माना गया है। एवं वही अन्नात्मक भूतात्मा ईश्वरानुगत गूढोत्मा-लक्षण परात्पर का अनुगामी बनता हुआ बुद्धियोगसाधक कहलाया है। इसप्रकार आध्यात्मिक योगेश्वर (ईश्वर) तन्त्र से सम्बद्ध आध्यात्मिक ईश्वर–जीव–अव्यक्तगर्भित महान्–विज्ञानगर्भित प्रज्ञान इन चार स्वतन्त्र रूपों के आधार पर अन्नात्मतन्त्र से युक्त भूतात्मतन्त्र के बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म ये चार योग व्यवस्थित हैं। यही योगेश्वरानुगता आध्यात्मिकी योगचतुष्टयी है। प्रत्येक योगसाध्य आत्मा चतुष्पर्वा है। अतएव प्रत्येक योग के आगे जाकर चार चार विवर्त हो जाते हैं, जिनका उपरिलेख पूर्व में क्रमशः स्पष्टीकरण किया जा चुका है। इसप्रकार योगेश्वरानुगत चार योगों के १६ योग हो जाते हैं। इनमें से ईश्वरानुगत गूढोत्मा से सम्बद्धा, बुद्धियोगपरिभाषा, परात्परानुगता योगचतुष्टयी ही उपादेय है यही गीताशास्त्र का 'बुद्धियोग' तत्त्व है। 'बुद्धियोग'–प्रतिष्ठारूपा बुद्धि का क्या स्वरूप है ?, अगला स्तम्भ इसी प्रश्न–समाधि के लिए प्रवृत्त हो रहा है।

१–ईश्वरानुगतो गूढात्मा–साध्य एव–बुद्धियोगस्य

२–जीवानुगतो गूढोत्मा—बुद्धियोगस्य साधनं, ज्ञानयोगस्य च साध्यम्

३–स्वायम्भुवोऽव्यक्तात्मा–ज्ञानयोगस्य साधनं, भक्तियोगस्य च साध्यम्

४–पारमेष्ठ्यो महानात्मा– " "

५–सौरो विज्ञानात्मा——भक्तियोगस्य साधनं, कर्म्मयोगस्य च साध्यम्

६–चान्द्र प्रज्ञानात्मा—— " "

७–पार्थिवो भूतात्मा——सर्वेषां योगानां साधक एव

८–भौमोऽन्यात्मा——सर्वेषां योगाना साधनमेव



१–ई० गूढोत्मा]–(१)–ई० गूढोत्मा (परात्परप्रधान–बुद्धियोगसाध्यम्)

२–जी० गूढात्मा]–(२)–जी० गूढोत्मा (अव्ययप्रधान–ज्ञानयोगसाध्यम्)

३–अव्यक्तात्मा } –(३)–अव्यक्तात्मगर्भितो महानात्मा (अक्षरप्रधान–भक्तियोगसाध्यम्)
४–महानात्मा

५–विज्ञानात्मा } –(४)–विज्ञानात्मसम्परिष्वक्तः प्रज्ञानात्मा (आत्मक्षरप्रधानः–कर्म्मयोगसाध्यम्)
६–प्रज्ञानात्मा

७–भूतात्मा]–(५)–वैश्वानरतैजसप्राज्ञ–भूतात्ममूर्त्तिर्भूतात्मा (विकारक्षरप्रधान–योगसाधकः)

८–अन्यात्मा]–(६)–प्राण–देव–भूत–आत्मसत्वाग्निमूर्त्तिरन्यात्मा (वैकारिकक्षरप्रधान–योगसाधनम्)



१–परात्परप्रधानेशगूढात्मानुगतो योग–भूतात्मप्रधानस्य भूतात्मन——बुद्धियोग

२–अव्ययप्रधानजीवगूढात्मानुगतो योग–प्राज्ञात्मप्रधानस्य भूतात्मन——ज्ञानयोगः

३–अक्षरप्रधानाव्यक्तगर्भित महानात्मानुगतो योग –तैजसात्मप्रधानस्य भूतात्मन–भक्तियोगः

४ आत्मक्षरप्र०–विज्ञानसम्परिष्वक्त–प्रज्ञानात्मानुगतो योग–वैश्वानरात्मप्रधानस्य भूतात्मन कर्म्मयोग



१	परात्परप्रधाना बुद्धियोगचतुष्टयी	(१) ईश्वरगृहीतात्मा-परात्परप्रधानः परात्पर-परात्परयोगः (बुद्धियोगः)	४ —बुद्धियोगश्चतुर्विधः
		(२) ईश्वरगृहीतात्मा-परात्परप्रधानोऽव्ययः-अव्यययोगः (ज्ञानयोगः)	
		(३) ईश्वरगृहीतात्मा-परात्परप्रधानोऽक्षरः-अक्षरयोगः (भक्तियोगः)	
		(४) ईश्वरगृहीतात्मा-परात्परप्रधान-आत्मक्षर-आत्मक्षरयोग (कर्मयोगः)	
२	अव्ययप्रधाना ज्ञानयोगचतुष्टयी	(१)-जीवगृहीतात्मा-अव्ययप्रधानः परात्पर-परात्परयोगः (बुद्धियोगः)	३ —ज्ञानयोगश्चतुर्विधः
		(२)-जीवगृहीतात्मा-अव्ययप्रधानोऽव्ययः-अव्यययोगः (ज्ञानयोगः)	
		(३)-जीवगृहीतात्मा-अव्ययप्रधानोऽक्षरः-अक्षरयोगः (भक्तियोगः)	
		(४)-जीवगृहीतात्मा-अव्ययप्रधान-आत्मक्षर-आत्मक्षरयोगः (कर्मयोगः)	
३	अक्षरप्रधाना भक्तियोगचतुष्टयी	(१)-अव्यक्तगर्भितमहानात्मा-अक्षरप्रधानः परात्पर-परात्परयोगः (बुद्धियोगः)	२ —भक्तियोगश्चतुर्विधः
		(२)-अव्यक्तगर्भितमहानात्मा-अक्षरप्रधानोऽव्ययः-अव्यययोगः (ज्ञानयोगः)	
		(३)-अव्यक्तगर्भितमहानात्मा-अक्षरप्रधानोऽक्षरः-अक्षरयोगः (भक्तियोगः)	
		(४)-अव्यक्तगर्भितमहानात्मा-अक्षरप्रधानः आत्मक्षरः आत्मक्षरयोगः (कर्मयोगः)	
४	आत्मक्षरप्रधाना कर्मयोगचतुष्टयी	(१)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मा-आत्मक्षरप्रधानः परात्पर-परात्परयोगः (बुद्धियोगः)	१ —कर्मयोगश्चतुर्विधः
		(२)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मा-आत्मक्षरप्रधानोऽव्ययः-अव्यययोगः (ज्ञानयोगः)	
		(३)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मा-आत्मक्षरप्रधानोऽक्षरः-अक्षरयोगः (भक्तियोगः)	
		(४)-विज्ञानसम्परिष्वक्तप्रज्ञानात्मा-आत्मक्षरप्रधानः-आत्मक्षरः-आत्मक्षरयोगः (कर्मयोगः)	

षोडशकलं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः—

१ – ४ बुद्धियोगाः

१–ईशापरात्परानुगतो बुद्धियोगः—वैराग्ये प्रतिष्ठितः (वैराग्यबुद्धियोगः) (१)
२–ईशाव्ययानुगतो ज्ञानयोगः—ज्ञाने प्रतिष्ठितः (ज्ञानबुद्धियोगः) (२)
३–ईशाक्षरानुगतो भक्तियोगः—ऐश्वर्य्ये प्रतिष्ठितः (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः) (३)
४–ईशात्मक्षरानुगतः कर्मयोगः—धर्म्मे प्रतिष्ठितः (धर्म्मबुद्धियोगः) (४)

२ – ४ ज्ञानयोगाः

१–जीवपरात्परानुगतो बुद्धियोगः—विभूतौ प्रतिष्ठितः (विभूतिज्ञानयोगः) (५)
२–जीवाव्ययानुगतो ज्ञानयोगः—अनुभूतौ प्रतिष्ठितः (अनुभूतिज्ञानयोगः) (६)
३–जीवाक्षरानुगतो भक्तियोगः—नियतौ प्रतिष्ठितः (नियतिज्ञानयोगः) (७)
४–जीवात्मक्षरानुगतः कर्मयोगः—सिद्धौ प्रतिष्ठितः (सिद्धिज्ञानयोगः) (८)

३ – ४ भक्तियोगाः

१–परोरजागर्भितपरात्परानुगतो बुद्धियोगः—उपासनायां प्रतिष्ठितः (उपासनभक्तियोगः) (९)
२–अन्तर्य्यामिगर्भितमहदनुगतो ज्ञानयोगः—प्रपत्तौ प्रतिष्ठितः (प्रपत्तिभक्तियोगः) (१०)
३–सूत्रगर्भितसौम्यप्राणानुगतो भक्तियोगः—भक्तौ प्रतिष्ठितः (भक्ति-भक्तियोगः) (११)
४–शरीरगुहागर्भितहृदयभोगानुगतः कर्म्मयोगः—परिचर्य्यायां प्रतिष्ठितः (परिचर्य्याभक्तियोगः) (१२)

४ – ४ कर्मयोगाः

१–आत्मबुद्धिसम्परिष्वक्त—आत्मविद्यानुगतः बुद्धियोगः—'स्वधर्म्मे' प्रतिष्ठितः (स्वधर्म्मकर्म्मयोगः) (१३)
२–विज्ञानसम्परिष्वक्त——प्रज्ञानानुगतः——ज्ञानयोगः—'शमे' प्रतिष्ठितः (शमकर्म्मयोगः) (१४)
३–आत्मप्राणसम्परिष्वक्त—महाप्राणानुगतः—भक्तियोगः—'तपसि' प्रतिष्ठितः (तपःकर्म्मयोगः) (१५)
४–ज्योतिर्गौसम्परिष्वक्त——रेतःश्रद्धानुगतः——कर्म्मयोगः—'श्रमे' प्रतिष्ठितः (श्रमकर्म्मयोगः) (१६)

इति बुद्धियोगस्वरूपनिरूपणात्मकं प्रथमप्रकरणम्
'योगभेदानुगत-योगस्वरूपनिरूपणम्' नामकः
तृतीयस्तम्भः

श्रीः

अथ- बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे

'बुद्धि'-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शनम्' नामक

चतुर्थस्तम्भ

(१)-४

श्रीः

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

'योगेश्वरानुगत-'योग' का स्वरूप' नामक

तृतीयस्तम्भ—उपरत

(१)–३

श्रीः

अथ- बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे

'बुद्धि'—तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शनम्' नामकः

चतुर्थस्तम्भ

(१)–४

श्रीः

'बुद्धि'-तत्त्वस्वरूपादिगदर्शनम्

चतुर्थस्तम्भः

बाह्यान्तरिक सर्व कर्मों का आत्यन्तिक निरोध अनिवार्य्य समझते हैं, उस निवृत्तियोग में भी साधनदशा में अवश्य ही इन्द्रियव्यापार प्रक्रान्त रहता है। इन्द्रियों को विषयसम्पर्क से मुक्त करना भी तो इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही है। इसके अतिरिक्त इस ऐकान्तिक ध्यानयोगात्मक ज्ञानयोग में भी तो इन्द्रियवर्ग अन्तर्मुख बना हुआ स्वव्यापार करता रहता है। 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इत्यादि रूप से स्वयं उपनिषत् ने भी अन्तर्मुख ज्ञानयोग में भी इन्द्रियव्यापार का निग्रहात्मक सहयोग स्वीकार किया है। इसप्रकार शास्त्रीय ज्ञानयोग भी इतर योगों की भाँति इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही बन रहा है।

५८—सर्वविध योगों का प्रज्ञान (मन) व्यापारसापेक्षत्व—

'इन्द्रियव्यापार' का अर्थ है इन्द्रियों का स्व स्व क्रियाभावों के प्रति अनुगमन। आँखों का देखना, कानों का सुनना, वाक् का बोलना, नाक का सूँघना, रसना का स्वाद लेना, हाथों का इतस्ततः चलना, आदि रूप से ज्ञान–कर्मेन्द्रिय का तत्तत् क्रियाओं में परिणत रहना ही 'इन्द्रियव्यापार' है। प्रश्न होता है कि ज्ञानकर्मेन्द्रियाँ क्या अपनी ही शक्ति से इन स्व–स्व क्रियाभावों का सञ्चालन करने में समर्थ हैं? अथवा स्वव्यापार-प्रवृत्ति के लिए इन्हें किसी अन्य शक्तिघन के सहयोग की अपेक्षा रहती है?। शास्त्रीय दृष्टि और अनुभव दृष्टि दोनों दृष्टियों से यह प्रमाणित है कि, इन्द्रियों को स्वव्यापारप्रवृत्ति के लिए किसी दूसरे ही शक्तिघन तत्त्व का आश्रय लेना पड़ता है। वही शक्तिघन तत्त्व शास्त्रीय भाषा में 'प्रज्ञानात्मा' कहलाया है एवं वही लोकभाषा में 'मन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यदि कोई व्यक्ति किसी सुन्दर आकर्षक दृश्यदर्शन में तल्लीन रहता है, तो समीप ही होने वाला घण्टानाद तक उसे सुनाई नहीं पड़ता। परस्पर विचारविनिमय, किंवा वार्तालाप करने वाले दो व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति यदि सहसा अपनी दृष्टि किसी सुन्दर दृश्यविशेष में संलग्न कर देता है तो उस दशा में वह उस अन्य व्यक्ति के शब्दों का तात्पर्य समझने में असमर्थ हो जाता है। उसे उस अवस्था से कहना पड़ता है कि, क्षमा कीजिए। मेरा मन दूसरी ओर चला गया था मैं नहीं सुन सका, आपने क्या कहा था। कृपाकर पुनः कहने का कष्ट करें' *। मानना पड़ेगा कि, इन्द्रियव्यापार के साथ 'मन' (प्रज्ञान) नाम का सहयोगी भी आवश्यकरूप से अपेक्षित रहता है जिसका सहयोग प्राप्त करके ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार–सञ्चालन में समर्थ हो सकता है। बिना प्रज्ञान–सहयोग के कोई भी इन्द्रिय अपना कर्म नहीं कर सकती। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियव्यापार में प्रज्ञानमन का व्यापार संश्लिष्ट रहता है, अतएव इसे 'सर्वेन्द्रियमन' (सब इन्द्रियों में रहने वाला मन) नाम से व्यवहृत किया गया है। 'नियतविषयत्व मिन्द्रियत्वम्' ही इन्द्रिय का इन्द्रियत्व (इन्द्रियलक्षण) है। 'तेषामिन्द्रियाणि विहितानि यस्मात्' (शतपथ २।११।४।१५) के अनुसार इन्द्रियों के इष्ट (विषय) स्थानशः नियत हैं। आँख का काम है–केवल देखना, नाक का काम है केवल सूँघना, कान का काम है केवल सुनना–इत्यादि। 'गुणानां च परार्थत्वात् सम्बन्धः समत्वात्' इस सुप्रसिद्ध न्याय के अनुसार गुणस्थानीय सभी इन्द्रियों के व्यापार परार्थ (मुख्य भूतात्मा के लिए) हैं। अतएव इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। संकल्प (विषयग्राहक)–विकल्प (विषयपरित्याग) लक्षण इन्द्रियमन भी संकल्प–विकल्पात्मक नियत धर्म से आक्रान्त रहता हुआ इन्द्रिय-

---

*—"न हि प्रज्ञापेता वाङ्नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्–'अन्यत्र मे मनोऽभूद्' इत्याह"।
—कौ० उप० ३।८।७

कोटि में प्रविष्ट है। अतएव—"इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि" (अथर्वसं १९।९।५) इत्यादि अथर्वसिद्धान्तानुसार इस संकल्पविकल्पात्मक मन को 'इन्द्रिय' ही माना गया है। वैदिकविज्ञानानुसार वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन इन विभिन्न-नियतकर्म्मा पाँचों इन्द्रियों में, एवं दर्शनानुसार ५-ज्ञानेन्द्रियों, ५-कर्म्मेन्द्रियों, १ मन, इन ११ इन्द्रियों में यह सर्वेन्द्रिय नामक प्रज्ञानमन अपनी प्रज्ञामात्रा से अनुस्यूत रहता है। सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहने से जैसे यह 'सर्वेन्द्रिय' कहलाता है, एवमेव इन्द्रियलक्षणरूप नियतविषयव्याप्तिमर्य्यादा से पृथक् रहने के कारण 'अनिन्द्रिय' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। इसप्रकार 'अतीन्द्रिय-सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय' नामों से प्रसिद्ध 'प्रज्ञानमन' की प्रज्ञानमात्रा का आश्रय लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार करने में समर्थ है, यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है। (देखिए पृ सं १७१)।

शास्त्र ने भी विस्पष्ट शब्दों में कर्म्म मात्र में प्रज्ञान का सहयोग अनिवार्य्य बतलाया है। जिस प्रकार एक सधा हुआ सारथी प्रग्रह (लगाम) द्वारा रथाश्वों का सञ्चालन किया करता है एवमेव सारथी-भूत प्रज्ञानमन प्रग्रहभूत स्व ज्ञान-कर्म्म-रश्मियों से शरीररथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों का सञ्चालन किया करता है। सहज भावानुसार मन जिस ओर कामना करता है, इन्द्रियों को उसी ओर झुकना पड़ता है। निम्न लिखित मन्त्र्यमन्त्र प्रज्ञानमन की इसी ऐन्द्रियक व्यापारगत् कर्म्मसहयोगिता, एवं इन्द्रियसञ्चालकत्व का समर्थन कर रहे हैं—

१—येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

२—यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

३—सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यजु सं० ३४।० ३ ६। (मनःसूक्त)

३—नाभि, अर, नेमि, और रथचक्र—

इन्द्रियाँ अनेक, और उनके व्यापार भी अनेक साथ ही विभिन्न भी। उधर प्रज्ञानमन एकाकी। कैसे एकाकी मन इन सब विभिन्न इन्द्रियों के विभिन्न व्यापारों का सञ्चालन करने में समर्थ होता है? प्रश्न उपस्थित होता है। 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठम्' वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। हृत्स्थान में प्रज्ञानमन उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। उक्थ अर्कसापेक्ष है। जिस प्रकार उक्थ (बिम्ब) रूप एकाकी सूर्य्य अर्क (रश्मि) रूप से सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में व्याप्त रहता है एवमेव उक्थप्रज्ञान अर्करूप से सम्पूर्ण इन्द्रियों के सञ्चालन में समर्थ हो जाता है। इसके अर्कभाव हृदयस्थ प्राणात्मक वैश्वानर से अनुप्राणित रहते हुए अक्षर धर्म्म-भावापन्न बने हुए हैं। इन्द्रियवर्ग शिथिल हो जाता है सुप्तावस्था में इन्द्रियाँ उपरत हो जाती हैं। किन्तु मन के अर्कभाव जागरूक बने रहते हैं। कारण इन्द्रियवर्ग जहाँ प्राणसहयोग से मरणधर्म्मा है, वहाँ मन

श्रीः

'बुद्धि'–तत्त्वस्वरूपादिग्दर्शनम्

चतुर्थस्तम्भ

——❀——

५७–सर्वविध योगों का इन्द्रियव्यापारसापेक्षत्व—

'बुद्धियोग' एक ऐसा अपूर्व–अश्रुतपूर्व–योग है जिसका सम्बन्ध यद्यपि प्रत्नदृष्टि से, किन्तु वर्त्तमान में अति नूतन दृष्टि से सम्बन्ध है। कर्म्म हो, ज्ञान हो, अथवा तो भक्ति हो लोकप्रचलित तीनों ही सुप्रसिद्ध योगों में बुद्धि का सहयोग आवश्यकरूप से अपेक्षित रहता है। कारण स्पष्ट है। कर्म्मात्मक कर्म्म, ज्ञानात्मक कर्म्म, भक्त्यात्मक कर्म्म, ये तीनों शास्त्रीय कर्म्म एवं शिल्प–कला–वाणिज्य–भौतिक आविष्कार, तथा अन्यान्य लौकिक उपविनायक कृष्यादि कर्म्म, सभी सर्वप्रथम 'सूत्रात्मा' नाम से प्रसिद्ध उस कर्म्मात्मा की अपेक्षा रखते हैं जो कर्म्मात्मा 'प्रज्ञानात्मा' नामक पाञ्चभौतिक देह (शरीर) रूप आयतन में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'देही–शरीरी' आदि नामों से प्रसिद्ध है। शरीरप्रतिष्ठित कर्म्मात्मा ही लौकिक वैदिक सर्वविध योगों का साधक है, अनुष्ठाता है, जैसा कि पूर्व स्तम्भ में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। कर्म्मात्मा का लौकिक कर्म्म हो, अथवा शास्त्रीय तीनों योगों में कोई सा योग हो सर्वप्रथम साधनरूप से उसमें इन्द्रियव्यापार की आवश्यकता रहती है। लौकिक–प्रत्यक्ष पठनपाठन–शिल्पकलादि बाह्य कर्म्मों में तो इन्द्रियव्यापार का उपयोग प्रत्यक्ष ही दृष्ट है। वाक् प्राण चक्षु, श्रोत्र इन्द्रियमन हस्त, पादादि के व्यापार से ही तो इन बाह्य कर्म्मों का स्वरूपनिर्म्माण होता है जिस व्यापार को हम अवश्य ही ऐन्द्रियव्यापार कह सकते हैं। शास्त्रीय कर्म्मयोगात्मक वैदिक कर्म्मों की प्रवृत्ति भी प्रथमतः इन्द्रियव्यापार की ही अपेक्षा रखती है। अध्वर्यु, होता उद्गाता, ब्रह्मा, चारों दक्षिणा भोक्ता ऋत्विजों के क्रमशः यजुर्वेदानुबन्धी यजुःकर्म्म ऋग्वेदानुबन्धी शस्त्रकर्म्म, सामवेदानुबन्धी स्तोत्रकर्म्म, एवं अथर्ववेदानुबन्धी ब्रह्मकर्म्म चारों यज्ञकर्म्म साधक कर्म्म चारों ऋत्विजों के चारों वेद के मन्त्रों के प्रयोग से सम्बन्ध रखते हुए अवश्य ही इन्द्रियसापेक्ष हैं। आहुतिकर्म्म, पुरोडाशसम्पादनकर्म्म वेदिनिर्म्माण कुण्ड निर्म्माण, अग्निमन्थन, अनुवाक्या, पुरोऽनुवाक्या याज्या वषट्कार, आदि आदि सभी तो यज्ञीय काम इन्द्रियसापेक्ष हैं। यजमान, यजमानपत्नी, इन दोनों के कर्म्म भी इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही हैं। इसप्रकार यह शास्त्रीय कर्म्मयोग भी लौकिक कर्म्मों की भाँति सर्वथा इन्द्रियव्यापारसापेक्ष बना रहता है, जिसका इन परोक्ष माना गया है। दूसरा शास्त्रीय योग है–'भक्तियोग'। यह ठीक है कि, वैदिककर्म्म योग की भाँति इन भक्तियोग में अन्य व्यक्तियों के व्यापार की अपेक्षा नहीं रहती। स्वयं यजमान (उपासक) ही एकाकी में इस योग के अनुष्ठान में समर्थ है तथापि इसे भी माना जायगा इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही। प्रतिमोपासनादि साम्प्रदायिक बाह्य भक्तियोगों में तो स्नान–धूप–दीप–नैवेद्य–चन्दनादि रूप से इन्द्रियव्यापार स्पष्ट ही है। परोक्षोपासनात्मिका आध्यदेवोपासना में भी (योगात्मिका उपासना में भी) इन्द्रियव्यापार का उपयोग रहता है। इसप्रकार शास्त्रीय भक्तियोग भी इन्द्रियव्यापार की अपेक्षा रख रहा है। जिसे ज्ञानयोग कहा जाता है जिसमें

कर्म्मारम्भिक सर्व कर्म्मों का आत्यन्तिक विरोध अनिवार्य्य समझते हैं, उस निवृत्तियोग में भी व्यवहारदशा में अवश्य ही इन्द्रियव्यापार प्रक्रान्त रहता है । इन्द्रियों को विषयसम्पर्क से हटाना भी तो इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही है । इसके अतिरिक्त इस ऐकान्तिक ध्यानयोगात्मक ज्ञानयोग में भी तो इन्द्रियवर्ग अन्तर्मुख बना हुआ स्वव्यापार करता रहता है । 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इत्यादि रूप से स्वयं उपनिषद् ने भी अन्तर्मुख ज्ञानयोग में भी इन्द्रियव्यापार का निग्रहात्मक उपयोग स्वीकार किया है । इसप्रकार शास्त्रीय ज्ञानयोग भी इतर योगों की भाँति इन्द्रियव्यापारसापेक्ष ही बन रहा है ।

५८—सर्वविध योगों का प्रज्ञान (मन) व्यापारसापेक्षत्व—

'इन्द्रियव्यापार' का अर्थ है इन्द्रियों का स्व स्व क्रियाभावों के प्रति अनुगमन । आँखों का देखना, कानों का सुनना, वाक् का बोलना नाक का सूँघना रसना का स्वाद लेना हाथों का इतस्ततः चलना आदि तत्तत्-ज्ञान—कर्म्मेन्द्रिय का तत्तत् क्रियाओं में परिणत रहना ही 'इन्द्रियव्यापार' है । प्रश्न होता है कि ज्ञानकर्म्मेन्द्रियाँ क्या अपनी ही शक्ति से इन स्व-स्व क्रियाभावों का सञ्चालन करने में समर्थ हैं ? अथवा स्वव्यापार-प्रवृत्ति के लिए इन्हें किसी अन्य शक्तितत्त्व के सहयोग की अपेक्षा रहती है ? । शास्त्रीय दृष्टि और अनुभव दृष्टि दोनों दृष्टियों से यह प्रमाणित है कि, इन्द्रियों को स्वव्यापारप्रवृत्ति के लिए किसी दूसरे ही शक्तितत्त्व तत्त्व का आश्रय लेना पड़ता है । वही शक्तिघन तत्त्व शास्त्रीय भाषा में 'प्रज्ञानात्मा' कहलाया है, एवं यही लोकभाषा में 'मन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । यदि कोई व्यक्ति किसी सुन्दर आकर्षक दृश्यदर्शन में तल्लीन रहता है तो समीप ही होने वाला बड़ाभारी शब्द उसे सुनाई नहीं पड़ता । परस्पर विचारविनिमय, किंवा वार्त्तालाप करने वाले दो व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति यदि सहसा अपनी दृष्टि किसी सुन्दर दृश्यविशेष में संलग्न कर देता है तो उस दशा में वह उस अन्य व्यक्ति के शब्दों का तात्पर्य्य समझने में असमर्थ हो जाता है । उसे उस अवस्था से कहना पड़ता है कि, 'क्षमा कीजिए । मेरा मन दूसरी ओर चला गया था मैं नहीं सुन सका आपने क्या कहा था । कृपाकर पुनः कहने का कष्ट करें' * । मानना पड़ेगा कि, इन्द्रियव्यापार के साथ 'मन' (प्रज्ञान) नाम का तत्त्वान्तर भी आवश्यकरूप से अपेक्षित रहता है जिसका सहयोग प्राप्त करके ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार-सञ्चालन में समर्थ हो सकता है । बिना प्रज्ञान—सहयोग के कोई भी इन्द्रिय अपना कर्म्म नहीं कर सकती । क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियव्यापार में प्रज्ञानमन का व्यापार संश्लिष्ट रहता है, अतएव इसे 'सर्वेन्द्रियमन' (सब इन्द्रियों में रहने वाला मन) नाम से व्यवहृत किया गया है । 'नियतविषयवत्त्वमिन्द्रियत्वम्' ही इन्द्रिय का इन्द्रियत्व (इन्द्रियलक्षण) है । 'तेषामिन्द्रियाणि सिद्धिरिमानि पादमराः' (ब्रह्मसू० २।४।१७) के अनुसार इन्द्रियों के स्व (विषय) स्थानत्व नियत हैं । आँख का काम है—केवल देखना नाक का काम है केवल सूँघना कान का काम है केवल सुनना—इत्यादि । 'गुणानां च परार्थत्वात् सम्बन्धः समत्वात्' इस सुप्रसिद्ध न्याय के अनुसार गुणस्थानीय सभी इन्द्रियों के व्यापार परार्थ (गुणी भूतात्मा के लिए) हैं । अतएव इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । संकल्प (विषयग्रहण)—विकल्प (विषयपरित्याग) लक्षण इन्द्रियमन भी संकल्प—विकल्पात्मक नियत धर्म्म से आक्रान्त रहता हुआ इन्द्रिय-

*—"न हि प्रज्ञापेता वाङ्-नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्—'अन्यत्र मे मनोऽभूत्' इत्याह" ।

—कौ० उप० ३।७

कादि में प्रतिष्ठित है। अतएव—"इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि" (अथर्वसं १९।९।५।) इत्यादि अथर्वश्रुतिसन्दर्भानुसार इस संकल्पविकल्पात्मक मन को 'इन्द्रिय' ही माना गया है। वैदिकविज्ञानानुसार *वाक्–प्राण–चक्षु–श्रोत्र–मन इन विभिन्न–नियतकर्म्मा पाँचों इन्द्रियों में, एवं दर्शनानुसार ५ ज्ञानेन्द्रियाँ,* ५–कर्म्मेन्द्रियाँ, १ मन, इन ११ इन्द्रियों में यह सर्वेन्द्रिय नामक प्रज्ञानमन अपनी प्रज्ञामात्रा से अनुस्यूत रहता है। सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहने से जैसे यह 'सर्वेन्द्रिय' कहलाया है, एवमेव इन्द्रियप्रवर्त्तकरूप नियतविषयग्राहित्वसम्बन्ध से पृथक् रहने के कारण 'अनिन्द्रिय' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। इसप्रकार 'अतीन्द्रिय–सर्वेन्द्रिय–अनिन्द्रिय' नामों से प्रसिद्ध 'प्रज्ञानमन' की प्रज्ञानमात्रा का आश्रय लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार करने में समर्थ है, यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है। (देखिए पृ० सं० १७१)।

शास्त्र ने भी विस्पष्ट शब्दों में कर्म्ममात्र में प्रज्ञान का सहयोग अनिवार्य्य बतलाया है। जिस प्रकार एक *तथा हुआ सारथी प्रग्रह (लगाम)* द्वारा रथाश्वों का सञ्चालन किया करता है एवमेव सारथी–भूत प्रज्ञानमन प्रग्रहभूत स्व ज्ञान–कर्म्म–रश्मियों से शरीररथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों का सञ्चालन किया करता है। सहज भावानुसार मन जिस ओर झुकना करता है, इन्द्रियों को उसी ओर झुकना पड़ता है। निम्न लिखित मनुमन्त्र प्रज्ञानमन की इसी ऐन्द्रियक यथायोग्य कर्म्मसहयोगिता, एवं इन्द्रियसञ्चालकत्व का समर्थन कर रहे हैं—

१–येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
२–यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
३–सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यजु सं० ३४।२, ३, ६। (मनःसूक्त)

३–नाभि, अर, नेमि, और रथचक्र—

इन्द्रियाँ अनेक और उनके व्यापार भी अनेक साथ ही विभिन्न भी। उधर प्रज्ञानमन एकाकी। कैसे एकाकी मन इन सब विभिन्न इन्द्रियों के विभिन्न व्यापारों का सञ्चालन करने में समर्थ होता है?, प्रश्न उपस्थित होता है। 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठम्' वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। हृदयस्थान में प्रज्ञानमन उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। उक्थ अर्कव्याप्त है। जिस प्रकार उक्थ (बिम्ब) रूप एकाकी सूर्य्य अर्क (रश्मि) रूप से सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में व्याप्त रहता है एवमेव उक्थप्रज्ञान अर्करूप से सम्पूर्ण इन्द्रियों के सञ्चालन में समर्थ हो जाता है। इसके अर्कभाव हृदयस्थ प्राणात्मक देवतत्त्व से अनुप्राणित रहते हुए अमर धर्म–भावापन्न बने हुए हैं। इन्द्रियवर्ग शिथिल हो जाता है स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ उपरत हो जाती हैं। किन्तु मन के अर्कभाव जागरूक बने रहते हैं। बाह्य इन्द्रियवर्ग जहाँ कम्पनशील एवं मरणधर्म्मा है, वहाँ मन

अथप्राण के सम्पर्क से सम्पादित है यही इसका अधिरस है, धीशक्ति-दाहित्य है। अपनी स्वाभाविक सौम्यविद्युत् के कारण यह ऊर्ध्वगामी है। अतएव मर्त्यरूप से यह तीव्रवेग से इन्द्रियों के प्रति अनुधावन करता हुआ उनके अनेकों व्यापार-सञ्चालन में समर्थ बन जाता है। यही इसका 'अमितत्व' है।

कुछ एक इन्द्रियाँ ज्ञानप्रधान हैं कुछ एक कर्मप्रधान। प्रज्ञानमन समानरूप से दोनों का सञ्चालन करने में समर्थ है। इसके साथ ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न भावनात्मक ज्ञानीय संस्कार, एवं कर्मेन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न वासनात्मक भौतिक संस्कार, इन उभयविध संस्कारों का भी इस प्रज्ञानमन पर लक्षण होता रहता है। फलतः ज्ञानकर्मेन्द्रियव्यापार सञ्चालित करना एवं भावना-वासना-संस्कारपुञ्ज को स्वधरातल पर प्रतिष्ठित रखना प्रज्ञान मन के ये दो धर्म्म हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियसञ्चालनयोग्यता, तथा ज्ञानीय-भावना-संस्कारग्रहणयोग्यता, इन दो भावों से यह प्रमाणित है कि प्रज्ञानमन में 'ज्ञानतत्त्व' का समावेश है। कर्मेन्द्रियसञ्चालनयोग्यता प्रज्ञानमन में क्रियातत्त्व प्रमाणित कर रही है एवं भौतिक वासनासंस्कारग्रहणयोग्यता प्रज्ञानमन में अर्थतत्त्व की सत्ता प्रमाणित कर रही है। अवश्य ही प्रज्ञानमन ज्ञान क्रिया, अर्थ तीनों मात्राओं से युक्त है। ज्ञानमात्रा प्रज्ञामात्रा है क्रियामात्रा प्राणमात्रा है अर्थमात्रा भूतमात्रा है। प्रज्ञा-प्राण-भूत तीनों तत्त्वों से सीमित समष्टिरूप तत्त्व ही प्रज्ञानमन है। इन्द्रियभेद से इसकी तीनों कलाओं के उतने ही विवर्त हो जाते हैं। रथ के दृष्टान्त से श्रुति ने तीन कलाओं का समन्वय बतलाया है। रथ में रथ नेमि, अरे, नाभी, ये ४ विभाग माने जा सकते हैं। 'रथ' समष्टिरूप विभाग है अवयवी है। नेमि, अरे, नाभि, ये तीन विभाग व्यष्टयात्मक हैं अवयव हैं। 'नाह' नाम से प्रसिद्ध चक्राकार वह काष्ठ जिसके मध्यवर्त्ती छिद्र में अक्ष (धुरा) प्रोत रहता है जिसके परिधि पर समसूत्रित छिद्रों में शलाकाएं (अरे) प्रोत रहते हैं 'नाभि' कहलाता है। इस ओर नाभिछिद्रों में प्रोत, उस ओर रथचक्र के छिद्रों में प्रोत शलाकाएं 'आरा' कहलाते हैं। एवं आरों में प्रोत परिधिरूपवर्ती वर्तुल काष्ठ (रथचक्र) 'नेमि' कहलाता है। नेमि आरों में प्रोत रहता है आरा नाभि में बद्ध रहते हैं। रथनिर्म्माणप्रक्रिया में आप देखेंगे कि पहिले नाभि में आरे ठोंके जाते हैं। अनन्तर आरों के व्यवच्छेद (पूठी-मस्तक) से बनाए गए छिद्रात्मक (लोकभाषा में 'पूठी' नाम से प्रसिद्ध) अर्द्ध वर्तुल काष्ठखण्ड आरों में ठोंके जाते हैं। इन नवरों से ही वर्तुल परिधिचक्र का स्वरूप निष्पन्न होता है।

प्रज्ञानात्मा चिद्विशिष्ट (ज्ञानविशिष्ट) सौम्यप्राणमूर्ति है। चिदंश प्रज्ञा है सौम्यप्राण 'प्राण' है। प्रज्ञागर्भित सौम्यप्राण (ज्ञानगर्भिता क्रिया) ही प्रज्ञानात्मा का किंवा प्रज्ञात्मा का स्वाभाविक स्वरूप है। भूतमात्रा इसकी आगन्तुक सम्पत्ति है अतएव इसे प्रज्ञानात्मस्वरूप में अन्तर्भूत नहीं माना जा सकता। प्रज्ञालक्षण प्राण (प्रज्ञा से अभिन्नप्राण एवं प्राण से अभिन्ना प्रज्ञा) ही इसका स्वाभाविक स्वरूप माना गया है जैसा कि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

"अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा-इदं शरीरं परिगृह्य-उत्थापयति। तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत। यो वै प्राणः-सा प्रज्ञा, या प्रज्ञा-स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन्-शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। तस्यैषैव दृष्टिः, एतद्विज्ञानम्॥

—कौ० उप० ३।३।

'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' वाक्यानुसार हृत्प्रतिष्ठ प्रज्ञागर्भित प्राणमूर्त्ति प्रज्ञानात्मा उक्थरूप से शरीररूप रथ के हृदय में प्रतिष्ठित है। उधर रथदृष्टान्त में 'नाभि' उक्थरूप से रथरूप शरीर के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। अतएव उक्थरूप प्रज्ञा–प्राण–मूर्त्ति प्रज्ञान को हम 'नाभि' कह सकते हैं। प्रज्ञागर्भित प्राणमूर्त्ति उक्थ प्रज्ञान से चारों ओर प्राणगर्भित प्रज्ञामात्राएँ निकलती हैं। ये ही अर्क (रश्मियाँ) हैं। ये अर्करूप प्रज्ञामात्राएँ प्रज्ञान में उसी प्रकार अर्पित हैं, जैसे आर नाभि में अर्पित रहते हैं। अतएव इन अर्कात्मिका प्रज्ञामात्राओं को 'अर' स्थानीय माना जा सकता है। ज्ञानकर्म्मेन्द्रियाँ इस प्राणात्मिका प्रज्ञामात्रा–से अभिन्न हैं। अतः प्रज्ञामात्रा से ज्ञानकर्म्मेन्द्रियों का संग्रह किया जा सकता है। ज्ञान–कर्म्मेन्द्रियों के अन्त में अर्थप्रधान भौतिक विषय रहते हैं। जो स्थान रथ में बहिरावरणात्मक नेमि का है, वही स्थान यहाँ भौतिक विषयों का है। अतएव भूतमात्रा को नेमिस्थानीय माना जा सकता है जो नेमिस्थानीया भूतमात्रा अरस्थानीया प्रज्ञामात्रा (इन्द्रियवर्ग) में अर्पित है।

प्रकारान्तर से यों समन्वय कीजिए कि, प्रज्ञानात्मा एक प्रजापतिसंस्था है। एवं प्रजापति के वैज्ञानिकों ने–'आत्म-प्राण-पशुत्वं उक्थो-र्क-शीतित्वं प्रजापतित्वम्' इत्यादि लक्षण माने हैं। हृदयस्थ भाव आत्मा है वही उक्थ है। परिधिस्थ भाव पशु है, वही अर्क है। हृदय, और परिधि, दोनों के मध्याकाश में व्याप्त, परिधिस्थ भाव को हृदयस्थ भाव में आहुत करने वाला भाव प्राण है वही अर्क है। प्रज्ञानविवर्त्त में प्रज्ञान इन्द्रियवर्ग, विषय भेद से तीनों पर्वों का समन्वय हो रहा है। प्रज्ञानमन हृदयस्थ आत्मरूप उक्थ है। इन्द्रियवर्ग मध्याकाशस्थ प्राणरूप अर्क है। विषयजात परिधिस्थ पशुरूप अशीति (अन्न) है। ये तीनों क्रमशः प्राण प्रज्ञा, भूत–मात्राप्रधान हैं। ये ही तीनों क्रमशः नाभि अर, नेमि हैं। भूतमात्रारूप नेमि प्रज्ञामात्रारूप आर में अर्पित हैं। प्रज्ञामात्रारूप अर प्राणमात्रारूप नाभि में अर्पित है। प्रज्ञान, इन्द्रियवर्ग, विषय, तीनों ही ज्ञान–क्रिया–अर्थरूपा प्रज्ञाप्राणभूत–मात्राओं से युक्त हैं। परन्तु त्रिमूर्ति प्रज्ञानमन सौम्यप्राणप्रधान बनता हुआ केवल 'प्राण' कहलाता है। त्रिमूर्त्ति इन्द्रियवर्ग प्रज्ञाप्रधान बनता हुआ 'प्रज्ञामात्रा' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं त्रिमूर्त्ति विषय भूतप्रधान बनता हुआ भूतमात्रा कहलाता है। भूत–प्रज्ञागर्भित प्राण 'प्रज्ञान' है भूतप्राणगर्भित प्रज्ञा इन्द्रियवर्ग है एवं प्रज्ञा-प्राण-गर्भित भूत विषय हैं। विषयेन्द्रियप्रज्ञानलक्षण प्रज्ञान प्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

> "तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नाभावरा अर्पिता, एवमेवैता भूतमात्रा प्रज्ञामात्रास्वर्पिता, प्रज्ञामात्रा प्राणेऽर्पिता। स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा (प्रज्ञानात्मप्रजापतिः) आनन्दोऽजरोऽमृत। न साधुना कर्म्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कनीयान्"।
>
> —कौ० ३।८।८।

प्रज्ञानविषयपरिलेख—

	मात्राएँ	
१	१–प्राण (क्रिया)–प्राणमात्रा २–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा ३–भूतम् (अर्थ)–भूतमात्रा	—भूत-प्रज्ञा-गर्भित प्राणरश्मिमूर्ति प्रज्ञानं मनः (उक्थम्) नाभिः
२	१–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा २–प्राण–(क्रिया)–प्राणमात्रा ३–भूतम्–(अर्थ)–भूतमात्रा	—प्राण भूत-गर्भिता प्रज्ञारश्मिरूपा–इन्द्रियवर्ग (अर्क)–अराः
३	१–भूतम्–(अर्थ)–भूतमात्रा २–प्राण–(क्रिया)–प्राणमात्रा ३–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा	—प्राण-प्रज्ञा-गर्भित भूतं विषयवर्ग-विश्वम् (अशीतिः)–नेमिः

४–प्रज्ञानस्वरूपाविर्भाव—

इन्द्रियव्यापार के उपभ्यात्मक प्रज्ञानमन में प्रज्ञा–प्राण–भूतात्मक ज्ञान–क्रिया–अर्थ-भावों का उदय कैसे हुआ ?, स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है । प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में इस उपपत्ति का भी सिंहावलोकन कर लीजिए । 'अन्नमयं हि सोम्य 'मनः' आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्' (छान्दोग्य-उपनिषत्) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मन का उपादानकारण 'अन्न' माना गया है । इसी आधार पर लोक में 'जैसा अन्न वैसा मन' यह किंवदन्ती प्रचलित है । अन्न के निर्माण में बीज मिट्टी, जल वायु, ये चार तो प्रत्यक्ष निमित्त सर्वसाधारण के लिए परिज्ञात हैं । यव गोधूम आदि बीजों को हल से भूगर्भ बना कर उसमें लुप्त कर दिए जाते हैं । ऊपर से प्राकृतिक (वर्षा) पानी, और कृत्रिम (कूपादि) पानी का सेक किया जाता है । पानी से बीजप्रदेशावच्छिन्न भूप्रदेश आर्द्र हो जाता है । इसप्रकार बीज मिट्टी, पानी, तीनों एकाकार से बन जाते हैं । बीज के मूल में प्रतिष्ठातत्त्व अथवा प्रतिष्ठित रहते हैं । 'अन्न है सर्वस्य प्रतिष्ठा'

(शत० ४।१।१।२८) के अनुसार सृष्टिमात्र का मूलाधार 'भृम्' लक्षण स्थितिभावात्मक यही वाङ्मय ब्रह्म माने गए हैं जिसे विज्ञानपरिभाषा में हम 'स्वायम्भुवतत्त्व' कह सकते हैं। इस प्रतिष्ठा के आधार पर प्रतिष्ठित बीजमध्यस्थानीय आपोमय विष्णु तथा बीजऊर्ध्वस्थानीय इन्द्रात्मक रुद्र, दोनों प्राणदेवताओं का व्यापार आरम्भ होता है। विष्णु आगतिरूपा गति के एवं इन्द्र गतिरूपा गति के प्रवर्तक बनते हैं। आगतिरूपा गति-आदान की अधिष्ठात्री बनती है, गतिरूपा गति विसर्ग (उत्क्षेपण) की अधिष्ठात्री बनती है। आहरणधर्म्मा, अतएव 'ह' (हरति) नामक विष्णु मिट्टी मिले हुए पानी का आगमन करते जाते हैं। विक्षणधर्म्मा, अतएव 'द' (ददाति) नामक इन्द्र मिट्टी मिले हुए पानी को बाहिर ऊपर की ओर ले जाते हैं। अपतत्त्व पर होने वाली इस स्पर्द्धा से इन्द्राविष्णु की आदान-विसर्गात्मिका प्रतिस्पर्द्धा से बजाती मृत् का ऊर्ध्व प्ररोहण हो जाता है और यही बीज की अङ्कुरावस्था में परिणति है। इसप्रकार बीज केन्द्रस्थ ह-द-भृम्-के स्थिति आगति-गति-लक्षण व्यापारत्रयी से मिट्टी-पानी-बीज, तीनों परस्पर संश्लिष्ट होकर अङ्कुररूप में परिणत हो जाते हैं।

बीजस्थ विष्णु पारमेष्ठ्य तत्त्व है, बीजस्थ इन्द्र सौर तत्त्व है। परमेष्ठी में चन्द्रमा पारमेष्ठ्य सोमानुगत बनता हुआ विष्णुधर्म्मा है। सूर्य्य अग्न्यनुगत बनता हुआ इन्द्रधर्म्मा है। तात्पर्य्य-सौर अग्नि का इन्द्र से चान्द्र सोम का विष्णु से सम्बन्ध है। बीजस्थित विष्णु के द्वारा अङ्कुरावस्थापन्न बीज में चान्द्र सोम का आगमन होता है बीजस्थित इन्द्र के द्वारा सौर अग्नि का आगमन होता है। दिन में सौर अग्नि का, रात्रि में चान्द्र सोम का आगमन होता है। इस आगमन के द्वार बनते हैं-'सुषुम्णा' नाम की चान्द्रनाड़ी, और तद्गर्भीभूत वायु। सौर अग्नि भी वायु के द्वारा इसी नाड़ी से बीज में युक्त होता है, एवं चान्द्र सोम का इस नाड़ी से युक्त होना स्वाभाविक ही है। बीज ओषधि, वनस्पति, भेद से दो मार्गों में विभक्त माने गए हैं। वनस्पतियों के बीज में आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-भावात्मक योनिभूत महान् के वैशिष्ट्य से सौर अग्न्यनुगत इन्द्रतत्त्व प्रधान रहता है, एवं चान्द्र सोमानुगत विष्णुतत्त्व गौण रहता है। अतएव वनस्पतियों में चान्द्रनाड़ी के द्वारा वायु के सहयोग से युक्त होने वाले सौर-चान्द्र-रसों में से सौर अग्नि प्रधान रहता है, चान्द्र सोम गौण रहता है। दूसरे शब्दों में चान्द्र सोमगर्भित सौर अग्नि ही वनस्पति-स्वरूप का सम्पादन करता है। ठीक इसके विपरीत ओषधियों के बीजों में योनिभूत उसी महानात्मा के विशेषलक्षण वैशिष्ट्य से चान्द्र सोमानुगत विष्णुतत्त्व प्रधान रहता है एवं सौर अग्न्यनुगत इन्द्रतत्त्व गौण रहता है। अतएव ओषधियों में चान्द्रनाड़ी के द्वारा वायुसहयोग से युक्त होने वाले सौर-चान्द्र रसों में से चान्द्र सोमरस प्रधान रहता है एवं सौर अग्निरस गौण रहता है। दूसरे शब्दों में सौर-अग्निगर्भित चान्द्र सोम ही ओषधियों का स्वरूप-निर्म्मापक बनता है। आम्र-नारङ्गी-आदि वनस्पतियों के गर्भ में सोम है बहिर्भाग में अग्नि है। एवं गोधूमादि फलपाकान्ता ओषधियों के गर्भ में अग्नि है, बहिःसंस्था में सोम है। अतएव 'ओषं (ऊष्मा-अग्नि स्वगर्भे) धत्ते' निर्वचनानुसार इन्हें 'ओषधि' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। तात्पर्य्य-ओषधिरूप अन्न ही 'अन्नमयं हि सौम्य ! मनः' इत्यादि पूर्वप्रतिपादित 'अन्न' शब्द से परिगृहीत है। क्योंकि सौम्य मन का निर्म्माण ओषधिरूप-सोमरस-प्रधान अन्न से ही होता है।

उक्त ओषधि-स्वरूपपरिचय का निष्कर्ष यह निकला कि, पार्थिव मृन्मय जल बीज सौराग्निगर्भित चान्द्र रस, आन्तरिक्ष वायु, इन तत्त्वों के सम्मिश्रण से ओषधि का स्वरूप निष्पन्न होता है जिसे हम 'अन्न'

प्रज्ञानविवर्त्तपरिलेख—

१	१–प्राण (क्रिया)–प्राणमात्रा २–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा ३–भूतम् (अर्थः)–भूतमात्रा	–भूत-प्राण-गर्भित प्राज्ञस्त्रिमूर्त्ति-प्रज्ञानं मनः (उक्थम्) नाभिः	
२	१–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा २–प्राण–(क्रिया)–प्राणमात्रा ३–भूतम्–(अर्थः)–भूतमात्रा	–प्राण-भूत-गर्भिता प्रज्ञा-त्रिशलाका-इन्द्रियवर्गः (ब्रह्म)–अराः	
३	१–भूतम्–(अर्थः)–भूतमात्रा २–प्राण–(क्रिया)–प्राणमात्रा ३–प्रज्ञा–(ज्ञानम्)–प्रज्ञामात्रा	–प्राण-प्रज्ञा-गर्भितं भूतं त्रिशलाकं-विषयाः (अशीतिः)–नेमिः	

४–प्रज्ञानस्वरूपाविर्भाव—

इन्द्रियव्यापार के उपस्थापक प्रज्ञानमन में प्रज्ञा–प्राण–भूतात्मक ज्ञान–क्रिया–अर्थ-भावों का उदय कैसे हुआ ?, प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है। प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में इस उपस्थिति का भी निराकरण कर लीजिए। 'अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्' (छान्दोग्य–उपनिषत्) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मन का उपादानकारण 'अन्न' माना गया है। इसी आधार पर लोक में 'जैसा अन्न वैसा मन' यह किंवदन्ती प्रचलित है। अन्न के निर्माण में बीज मिट्टी, जल वायु, ये चार तो प्रत्यक्ष निमित्त सर्वसाधारण के लिए परिचित हैं। जब गोधूम आदि बीजों को हल से भूगर्भ बना कर उसमें न्युप्त कर दिए जाते हैं। ऊपर से प्राकृतिक (वर्षा) पानी, और कृत्रिम (कूपादि) पानी का सेक किया जाता है। पानी से बीजप्रदेशावच्छिन्न भूप्रदेश आर्द्र हो जाता है। इसप्रकार बीज, मिट्टी, पानी, तीनों एकाकार से बन जाते हैं। बीज के मूल में अतिशयतया प्रज्ञा प्रतिष्ठित रहते हैं। 'अन्न वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'

(शत० ६।१।१।१८) के अनुसार सृष्टिमात्र का मूलाधार 'अम्' लक्षण स्थितिभावात्मक यही आप्यम अक्षर माने गए हैं, जिसे विज्ञानपरिभाषा में हम 'स्वायम्भुवतत्त्व' कह सकते हैं। इस प्रतिष्ठा के आधार पर प्रतिष्ठित बीजमध्यस्थानीय आपोमय विष्णु तथा बीजऊर्ध्वस्थानीय इन्द्रात्मक रुद्र, दोनों प्राणदेवताओं का व्यापार आरम्भ होता है। विष्णु आगतिरूपा गति के एवं इन्द्र गतिरूपा गति के प्रवर्त्तक बनते हैं। आगतिरूपा गति-आदान की अधिष्ठात्री बनती है, गतिरूपा गति विसर्ग (उत्क्षेपण) की अधिष्ठात्री बनती है। आहरणधर्म्मा, अतएव 'ह' (हरति) नामक विष्णु मिट्टी मिले हुए पानी का आदान करते जाते हैं। विसर्गधर्म्मा, अतएव 'द' (ददाति) नामक इन्द्र मिट्टी मिले हुए पानी को बाहिर ऊपर की ओर ले जाते हैं। अपतत्त्व पर होने वाली इस स्पर्द्धा से इन्द्राविष्णु की आदान-विसर्गात्मिका प्रतिस्पर्द्धा से बलाद्रां मूल का ऊर्ध्व प्ररोहण हो जाता है और यही बीज की अङ्कुरावस्था में परिणति है। इसप्रकार बीज केन्द्रस्थ ह-द-अम्-के त्रिविध आगति-गति-स्थित्यात्मक व्यापारत्रयी से मिट्टी-पानी-बीज, तीनों परस्पर संश्लिष्ट होकर अङ्कुररूप में परिणत हो जाते हैं।

बीजस्थ विष्णु पारमेष्ठ्य तत्त्व है, बीजस्थ इन्द्र सौर तत्त्व है। खगोल में चन्द्रमा पारमेष्ठ्य सोमानुगत बनता हुआ विष्णुधर्म्मा है। सूर्य अग्न्यनुगत बनता हुआ इन्द्रधर्म्मा है। तात्पर्य्य-सौर अग्नि का इन्द्र से, चान्द्र सोम का विष्णु से सम्बन्ध है। बीजस्थित विष्णु के द्वारा अङ्कुरावस्थापन्न बीज में चान्द्र सोम का आगमन होता है बीजस्थित इन्द्र के द्वारा सौर अग्नि का आगमन होता है। दिन में सौर अग्नि का रात्रि में चान्द्र सोम का आगमन होता है। इस आगमन के द्वार बनते हैं-'सुषुम्णा' नाम की चान्द्रनाड़ी, और सूर्यगर्भमूत वायु। सौर अग्नि भी वायु के द्वारा इसी नाड़ी से बीज में मुक्त होता है, एवं चान्द्र सोम का इस नाड़ी से मुक्त होना स्वाभाविक ही है। बीज ओषधि, वनस्पति, भेद से दो भागों में विभक्त माने गए हैं। वनस्पतियों के बीज में आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-स्वभावात्मक योनिभूत महान् के वैशिष्ट्य से सौर अग्न्यनुगत इन्द्रतत्त्व प्रधान रहता है एवं चान्द्र सोमानुगत विष्णुतत्त्व गौण रहता है। अतएव वनस्पतियों में चान्द्रनाड़ी के द्वारा वायु के सहयोग से मुक्त होने वाले सौर-चान्द्र-रसों में से सौर अग्नि प्रधान रहता है चान्द्र सोम गौण रहता है। दूसरे शब्दों में चान्द्र सोमगर्भित सौर अग्नि ही वनस्पति-स्वरूप का सम्पादन करता है। ठीक इसके विपरीत ओषधियों के बीजों में योनिभूत उसी महानात्मा के विभिन्नलक्षण वैशिष्ट्य से चान्द्र सोमानुगत विष्णुतत्त्व प्रधान रहता है एवं सौर अग्न्यनुगत इन्द्रतत्त्व गौण रहता है। अतएव ओषधियों में चान्द्रनाड़ी के द्वारा वायुसहयोग से मुक्त होने वाले सौर-चान्द्र रसों में से चान्द्र सोमरस प्रधान रहता है, एवं सौर अग्निरस गौण रहता है। दूसरे शब्दों में सौर-अग्निगर्भित चान्द्र सोम ही ओषधियों का स्वरूप-निर्म्मापक बनता है। आम्र-नारङ्गी-आदि वनस्पतियों के गर्भ में सोम है बहिर्भाग में अग्नि है। यव गोधूमादि फलपाकान्ता ओषधियों के गर्भ में अग्नि है बहिःसंस्था में सोम है। अतएव ओषं (उष्णा-अग्नि स्वर्गों) धये निर्वचनानुसार इन्हें 'ओषधि' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। तात्पर्य्य-ओषधिरूप अन्न ही 'अन्नमयं हि सौम्य ! मनः' इत्यादि पूर्वप्रतिपादित 'अन्न' शब्द से परिगृहीत है। क्योंकि सौम्य मन का निर्म्माण ओषधिरूप-सोमाग्र-प्रधान अन्न से ही होता है।

उक्त ओषधि-स्वरूपपरिचय का निष्कर्ष यह निकला कि, पार्थिव मृद्भाग, जल बीज, सौराग्निगर्भित चान्द्र रस, आन्तरिक्ष्य वायु, इन तत्त्वों के सम्मिश्रण से ओषधि का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिसे हम 'अन्न'

कहा करते हैं। इन त्रिमिथों में पार्थिव मृद्भाग, जल, बीज, ये तीन तो भौतिक हैं। सौर प्राणाग्नि चान्द्र सौम्यप्राण आन्तरिक्ष्य वायु, ये तीन तत्त्व प्राणप्रधान हैं। प्राण बिना भूत के अनुपपन्न है। अतएव तीनों प्राणविवर्तों के आधारभूत सौर-भूताग्नि चान्द्र भूतसोम, आन्तरिक्ष्य भूतवायु, इनका संग्रह स्वतः सिद्ध है। सौर भूताग्नि का तापरूप से, चान्द्र भूतसोम का शैत्य (ओसकण) रूप से आन्तरिक्ष्य वायुभूत का स्पर्शरूप से हमें प्रत्यक्ष हो रहा है। दिन की गर्मी रात की ओस स्पर्शधर्म्मा वायु, तीनों भूत भी मिट्टी-जल की भाँति प्रत्यक्ष हैं। तीनों के आधारभूत प्राणतत्त्व गन्ध-रूप-रस-स्पर्श-शब्द-तन्मात्रातीत, अतएव अधामच्छद बनते हुए प्रत्यक्ष से परे की वस्तु हैं। इन्हें हम स्थूलदृष्टि से देखने में असमर्थ हैं।

ओषधिस्वरूप-निर्म्मापक सोमतत्त्व 'बीज' (प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यतानुगत) पदार्थ है। अतएव इसके साथ सौर ज्योतिर्म्माग का प्रवर्ग्यरूप से सम्बन्ध हो जाता है। चन्द्रमा की चन्द्रिका (प्रकाश) उसका अपना प्रकाश नहीं है। अपितु 'अत्राह गोरमन्वत'-'ज्योतिरिन्द्र' इत्यादि श्रुतिवर्णनानुसार सौररश्मियों के प्रतिफलन से ही चान्द्र सोम चमक पड़ता है। सोममूलानुगत सौम्यप्राण ज्योतिर्म्मय बन जाता है, जो कि ज्योतिर्माग विशुद्ध सूर्य की धरोहर है। यह चन्द्रिका भी प्रत्यक्षरूप भौतिक पदार्थ है जिसका मूलाधार ज्ञानज्योति बनी हुई है। सौरज्योति भूतज्योति है, इसके गर्भ में विज्ञानज्योतिर्लक्षणा ज्ञानज्योति (आत्म-द्युति) प्रतिष्ठित है जैसा कि मनुष्य में ही बतलाए जाने वाले विज्ञानस्वरूप से स्पष्ट होने वाला है। सौर भूतज्योति के द्वारा तद्गर्भीभूत विज्ञान-ज्योति भी चन्द्रमा में भुक्त हो जाती है। अतएव चान्द्र सोमभूतात्मक सौम्यप्राण भी चिज्ज्योतिर्म्मय बन जाता है। चान्द्र सोम भूत (तन्मभूत) है सौम्यप्राण प्राण है चिद्भाग ज्ञान है। तीनों की समष्टि चान्द्र तत्त्व है। इसका ओषधिस्वरूप-निर्म्माण में भोग होता है। इसप्रकार भूत-प्राण-प्रज्ञात्मक चान्द्रतत्त्व, भूत-वायव्यप्राणात्मक वायुतत्त्व पार्थिवमृद्भाग-पार्थिव जल-बीजरूप पार्थिवतत्त्व, तीनों के समन्वय से ओषधि का निर्म्माण हुआ है। एवंविध अन्न हम खाते हैं। मलभाग का निर्गमन हो जाता है। शेष रसरूप पार्थिवभाग से रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र इन पार्थिव सप्त-धातुओं का विकास होता है। वायुतत्त्व से 'प्राण' का विकास होता है। एवं सोमभूत-सौम्यप्राण-तन्मय सौम्य चिद्रूपप्रतिबिम्ब रूप बने हुए चान्द्रतत्त्व से 'प्रज्ञानमन' का स्वरूपनिर्म्माण होता है। इसप्रकार ओषधिरूप अन्नसीमा में प्रविष्ट त्रिमूर्त्ति चान्द्रतत्त्व, वायुतत्त्व, पार्थिवतत्त्व तीनों दिव्य-आन्तरिक्ष्य-पार्थिव तत्त्वों से क्रमशः वाङ्मय भूतप्रधान अर्थरूप रूपात्मसृष्टि प्राणमय प्राणप्रधान क्रियारूप प्राणतत्त्व, मनोमय प्रज्ञाप्रधान ज्ञानरूप प्रज्ञानमन तीन विवर्त्तों का विकास हो जाता है। प्रज्ञानमन में ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भावों का उदय हो रहा है, प्रज्ञानोत्पत्ति का यही संक्षिप्त वैज्ञानिक निराकरण है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

ओषधिरूप-अन्नानुगत-प्रज्ञाननिरूपणपरिलेखः—

१	१–१–चान्द्रदीप्रसोमगर्भिता–चिज्ज्योतिः तज्ज्योतिर्मयी——प्रज्ञा	दिव्यश्चान्द्ररसः (मनोमयः)	समष्ट्या–ओषधिरसनिर्माणम्
	२–२–चान्द्रसोमप्राणः——प्राणः		
	३–३–चान्द्रसोमः (सौराग्निगर्भित)——भूतम्		
२	१–४–वायव्यप्राणः——प्राणः	आन्तरिक्ष्यो वायव्य-रसः (प्राणमयः)	
	२–५–वायुभूतम्——भूतम्		
३	१–६–पार्थिवं अन्नम्——भूतम्	पार्थिवो भौतिकरसः (वाङ्मयः)	
	२–७–पार्थिवी भूः——भूतम्		
	३–८–पार्थिवं–बीजम्——भूतम्		

१–अन्नगतो मनोमयः प्रज्ञा–प्राण–भूतात्मकश्चान्द्ररसो दिव्यः—तत्र प्रज्ञानमनःस्वरूपनिष्पत्तिः।
२–अन्नगतः प्राणमयो वायव्यरसः–आन्तरिक्ष्यः——तत्र–प्राण–स्वरूपनिष्पत्तिः।
३–अन्नगतो वाङ्मयः पार्थिवरसः–भौमः——तत्र–सप्तधातुस्वरूपनिष्पत्तिः।

५–'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' का वैज्ञानिक समन्वय—

प्रत्यक्षात्म-ज्ञानकर्मेन्द्रिय-सञ्चालक 'प्रज्ञानमन' का वैज्ञानिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। प्रकृत में इस चर्चा से तात्पर्य हमारा यही था कि, अध्यात्म के जितने भी प्राण हैं, उन में इन्द्रियवर्ग की भाँति इन्द्रियवर्गाध्यक्ष प्रज्ञानमन की अपेक्षा भी आवश्यकरूप से अनिवार्य्य है। इसप्रकार अध्यात्म में इन्द्रियवर्गवत् प्रज्ञानमन का सहयोग भी सर्वात्मना सिद्ध हो जाता है, जिसका सुप्रसिद्ध 'तलवकारोपनिषत्' (केनोपनिषत्) में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। निम्न लिखित तत्सम्बन्धवचन प्रज्ञानमन के इसी सर्वेन्द्रियव्यापारप्रवर्त्तकत्व-धर्म्म का समर्थन कर रहे हैं—

१–केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥

२–श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—केनोपनिषत्–१।१,२।

केनोपनिषत् के उक्त दोनों मन्त्रों में से 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' इत्यादि प्रथम मन्त्र से प्रश्नगर्भित उपपत्त्यात्मक के द्वारा मनः–प्राण–भूतात्मक प्रज्ञानमन के कर्मेन्द्रियवर्गरहस्य वर्णन का निरूपण किया है एवं 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि द्वितीय मन्त्रद्वारा प्रज्ञानमनोमुक्त उस विज्ञानात्मा की ओर भूतात्मा का ध्यान आकर्षित कराया गया है जिसका विज्ञान (बुद्धि) द्वारा प्रज्ञान में आगमन हुआ है। प्रजापतिविज्ञान परिभाषानुसार मय चतुर्विध अनिरुक्त, भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त माना गया है। हृदय प्रजापति अनिरुक्त है महिमाप्रजापति सर्व है दोनों का मध्यस्थ प्रजापति उद्गीथ है। हृदय, शिर, शिरोमहिमा भेद से प्रत्येक वस्तु में तीन विभाग रहते हैं। वस्तुपिण्ड का केन्द्र हृदय है यही उक्थ है, यही अन्तर्याम है। यहाँ इन्द्रियगति अवरुद्ध है। अतएव इसका शब्दद्वारा निर्वचन नहीं होसकता। अतएव यह अनि–र्वचनीया [illegible]–य–रूपा–हृदया शक्ति 'अनिरुक्ता' कहलाई है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानः' इत्यादि यजुर्मन्त्रद्वारा इसी अनिरुक्त–हृदय–प्रजापति का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। वस्तुपिण्ड एवं वस्तुपिण्ड से संलग्न वस्तुमहिमा, दोनों इसी हृदय प्रजापति से उत्पन्न हैं, एवं इसी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं जैसा कि–'बहुधा विजायमानः तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' इत्यादि मन्त्रभाग से स्पष्ट है। वस्तुकेन्द्र से उत्पन्न तत्पार्थिव प्रतिष्ठित भूतप्रधान स्थूलधर्मा पिण्ड ही वस्तुपिण्ड है। यही अन्तर्याम नामक स्तम्भ है। स्तम्भ के केन्द्र से संलग्न ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त प्राणप्रधान महिमामण्डल ही वस्तुमहिमा है जिसके गर्भ में तीन अग्निष्टुत एवं दो सोमष्टुत प्रतिष्ठित हैं। ९–१५–२१ तीन अग्निष्टुत हैं। २७–३३, दो सोमष्टुत हैं। अग्निष्टुतत्रयी में व्याप्त अग्नि प्राणाग्नि है सोमष्टुतद्वयी में व्याप्त सोम प्राणसोम है। इसप्रकार वस्तुमहिमामण्डल प्राणमय सोमाग्निप्रधान है। इसमें २१ पर्यन्त व्याप्त प्राणाग्निमय महिमामण्डल ही हरस् बनता है। इसी आधार पर–'यत् किञ्चिदार्चिविषयर्कं–अग्निरम्यैव तन्मर्त्यम्' यह नैगमिक सिद्धान्त स्थापित हुआ है। स्वरूपतः वस्तुपिण्ड भी है तो अग्नि–सोम–प्रधान ही। परन्तु यहाँ भूताग्निसोम का प्राधान्य है। यह विज्ञान की सामान्य परिभाषा है कि, प्राणाग्निसोमगर्भिता भूताग्निसोमद्वयी इस वस्तुपिण्ड की स्वरूपसमर्पिका बनती है एवं यही पिण्ड स्तम्भ बनता है। भूताग्निसोमगर्भिता प्राणाग्निसोमद्वयी वस्तुमहिमा की स्वरूप–समर्पिका बनती है एवं इसमें से प्राणाग्निमण्डल ही हरस् बनता है। इसप्रकार वस्तुपिण्ड तथा वस्तुमहिमा स्तम्भ–हरस्–भावापन्न दोनों मन्त्र–भागद्वारा अग्निसोम–प्रधान बन रहते हैं। भूताग्निसोमद्वयी वर्ण्य बना है प्राणाग्निसोमद्वयी उपपादिका है। वस्तुकेन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुक्त प्रजापति इ द–यम्–तयणा [illegible] इस–अथवा–उपपत्ति की समष्टि है। इसी यति के आधार पर अग्नि संयमात्मक शिरोमहिमा प्रतिष्ठित है। ३३ अहर्गणात्मक वस्तुमहिमामण्डल का केन्द्र १० वाँ अहर्गण है। यहाँ प्रतिष्ठित महिमामण्डल का [illegible] प्रजापति [illegible] कहलाया है। यही 'उद्गीथप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। ३ का [illegible] अनिरुक्त तथा वस्तुमहिमापेक्षया निरुक्त बनता हुआ 'निरुक्तानिरुक्तउभयमूर्त्ति' है।

* इस १ [illegible] के कारण ही वस्तुकेन्द्र से ३३ पर्यन्त स्थित महिमामण्डल सर्वसूत्र [illegible]

[illegible] है ३ वें [illegible] की परिभाषा में 'सर्वाधार' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस व्याख्या

मण्डल की परिधि से संलग्न २४ वें अहर्गणपर्यन्त व्याप्त महिमारूप वही हुआ प्रजापति यजुष्केन्द्र-यजुपरिधि वस्तुमहिमा, इत्यादि सम्पूर्ण विवर्तों को अपने गर्भ में मुक्त रखता हुआ 'सर्वप्रजापति' कहलाता है। यही निरुक्त प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है, जिसका 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो०' इत्यादि मन्त्रद्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। तात्पर्य यही हुआ कि यजुष्केन्द्र, महिमाकेन्द्र, महिमापरिधि-सापृष्ठ -१७-२४-इन सङ्केतित स्थानों में उक्थरूप से प्रतिष्ठित हुए तत्त्व ही क्रमशः अनिरुक्त-उद्गीथ-सर्वप्रजापति नामों से व्यवहृत हुआ है। वर्णमातृका में 'क' कार अनिरुक्त (अज्ञात) भाव का वाचक है। अतएव तल्लक्षण यजुष्केन्द्रानुगत अनिरुक्त प्रजापति 'क' कार व्याहृति (नाम) से सम्बोधित हुआ है। 'स' कार निरुक्त (ज्ञात) भाव का वाचक है। अतएव तल्लक्षण यजुपरिध्यनुगत सर्वप्रजापति 'स' कार व्याहृति से सम्बोधित हुआ है।

स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर, इन्द्रियवर्ग, निरुक्त हैं, सर्वलक्षण हैं। इनका सञ्चालन जिस प्रज्ञानमन से होता है, वह हृदय में प्रतिष्ठित होने के कारण (उक्थरूपापेक्षया) अनिरुक्त है। अतएव हृत्प्रतिष्ठ-अचिर अनिष्ठ प्रज्ञानमन को अवश्य ही 'क' कारव्याहृति से युक्त माना जा सकता है। इसी रहस्य को लक्ष्य बना कर मन्त्रार्थ का समन्वय कीजिए। श्रुति प्रश्न करती है—वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन [संकल्प-विकल्पात्मक इन्द्रियमन], किसकी प्रेरणा से प्रेरित होकर स्वव्यापारों में प्रवृत्त होते हैं?। इस 'केन' प्रश्न का उत्तर भी 'केन' ही माना जायगा। प्रश्नात्मक 'केन' का अर्थ होगा—'किससे'। उत्तरात्मक 'केन' का अर्थ होगा 'कखारेण' जिसका तात्पर्य्य होगा 'क' कारक्ष अनिरुक्तव्याहृति नाम से व्यवहृत प्रज्ञानमन से। इसप्रकार केनेषितं पतति प्रेषितं मन" का उत्तर भी 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' ही होगा। फलतः मन्त्र प्रश्नगर्भित उत्तर के द्वारा प्रज्ञानमन के इसी सर्वेन्द्रियप्रेरक 'धर्म्म' का विश्लेषक सिद्ध होगा।

जब तक प्रज्ञान मन पर मनस्तत्त्वेन दृष्टि है तब तक इन्द्रियारामता है एवं तब तक अमृत-प्राप्ति [बन्धनविमोक-आसक्तिराहित्य] असम्भव है। विज्ञानात्ममहदात्मा से जब प्रज्ञानमन में विज्ञान के द्वारा अनात्म विवर्त्त को छूट कर उसके प्रति गूढ़ात्मा अपना आत्मसमर्पण कर देता है, तभी अमृतपद प्राप्त होता है। विशुद्ध विवर्त्त उसी गूढ़ात्मा का परम्परया अवतीर्ण अंश है। इसी दृष्टि से प्रज्ञानब्रह्म की उपासना अपेक्षित है। द्वितीय मन्त्र से इसी उपास्य चित्ब्रह्म की ओर उपासक का ध्यान आकर्षित किया गया है।

६-प्रज्ञान-विज्ञान के प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आशय, विवर्त्त—

इन्द्रियव्यापाराधारभूत प्रज्ञानमन के कर्म्मसहयोग का इतिवृत्त बतलाया गया। अब क्रमप्राप्त विज्ञानात्मा के अनिवार्य्य सहयोग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आध्यात्मिक विज्ञानात्मा जैसे 'बुद्धि' नाम से प्रसिद्ध है, प्रज्ञानात्मा 'मन' नाम से प्रसिद्ध है, तथैव आधिदैविक विज्ञान प्रज्ञानात्मा 'सूर्य्य-चन्द्रमा' नाम से प्रसिद्ध हैं। यह सिद्ध विषय है कि चन्द्रमा की प्रतिष्ठा सूर्य्य ही है। चन्द्र का चन्द्रत्व उसकी चन्द्रिका पर अवलम्बित है, एवं पूर्वकमनानुसार चन्द्र की चन्द्रिका सौरज्योति पर अवलम्बित है। बिना सूर्य्यज्योति के सहयोग के चन्द्रमा निधनावस्थापन्न है, चन्द्रिकाशून्य है अमावास्याविधि से युक्त है। अतएव शुक्लपक्ष की प्रतिपत् चन्द्रमा का जन्मकाल माना गया है, शुक्लाष्टमी बाल्यकाल पूर्णिमा युवावस्था कृष्णाष्टमी वृद्धावस्था एवं अमावस्या निधनावस्था मानी गई है। तात्पर्य्य-चन्द्रमा का जीवन स्वरूपस्थिति स्वरूपरक्षा एकमात्र सौरज्योति के सहयोग पर ही निर्भर है। इसी परिस्थिति का अध्यात्मविवर्त्त के साथ

समन्वय कीजिए। आधिदैविक सूर्य्य से आध्यात्मिक विज्ञानात्मा [बुद्धि] का, तथा आधिदैविक चन्द्रमा से [पूर्वप्रदर्शित सोमविकृत क्रम में मुक्त चान्द्ररसद्वारा] आध्यात्मिक प्रज्ञानात्मा (मन) का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। जैसे सूर्य्य, चन्द्रमा आधिदैविक बुद्धि मन हैं तथैव बुद्धि–मन आध्यात्मिक सूर्य्य, चन्द्रमा हैं। जैसे अधिदैवत में सूर्य्यज्योति के आधार पर चन्द्रमा प्रतिष्ठित है एवमेव अध्यात्म में बुद्धि के आधार पर मन प्रतिष्ठित है।

प्रभव प्रतिष्ठा योनि, आयतन, भेद से प्रत्येक आध्यात्मिक तत्त्व का चार प्रकार से समन्वय होता है। प्रज्ञानात्मा (मन) का प्रभव [मूल उपादान] चन्द्रमा है प्रतिष्ठा हृदय है योनि [आगमनद्वार] सोमविकृत अन्न तथा प्रवरस्थान है, आयतन [व्याप्तिस्थान] व्याप्तशरीर है। एवं विज्ञानात्मा (बुद्धि) का प्रभवस्थान सूर्य्य है प्रतिष्ठास्थान हृदयावच्छिन्न प्रज्ञानात्मा है योनिस्थान 'नान्दना' (द्वार) नाम से प्रसिद्ध [वैश्वानरस्वरूप शिखास्थानीय] ब्रह्मरन्ध्र, और वनस्पतिरूप अन्न है, आयतन (व्याप्तिस्थान) सर्वाङ्गशरीर है। प्रसङ्गोपात्त एक विषय का स्पष्टीकरण और कर लीजिए। जिन आधिदैविक-आध्यात्मिक आठ पर्वों का 'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप' नामक खण्ड में स्पष्टीकरण हुआ है वे आठों ही आत्मपर्व 'प्रजापति' नाम से सम्बोधित हुए हैं। वैदिक प्रज्ञानात्मकरूपनिरूपण करते समय कहा गया है 'आत्मा–प्राण–पशु' समष्टि-लक्षणा, उक्थ–अर्क–अशीति–भावनी की समष्टि ही 'प्रजापति' का प्रजापतित्व है। आत्मलक्षण उक्थपर्व ज्ञानप्रधान है प्राणलक्षण अर्कपर्व क्रियाप्रधान है, एवं पशुलक्षण अशीतिपर्व भूतप्रधान है। इस दृष्टि से आठों ही प्रजापति-तत्त्वों में प्रत्येक में आत्मा प्राण, भूत, तीन तीन पर्वों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। आठों के वे त्रिक भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत हुए हैं। सबसे पहिला, तथा प्रधान आत्मपर्व है–परात्परप्रधान ईश्वरानुगत गूढोत्मा जिसे हमने अव्ययात्मयुक्त व्यापक मूलात्मा की बुद्धियोगाभिमुख बुद्धियोगलक्षणी का मूल तत्त्व (साध्य) बतलाया है। इस प्रथम प्रजापति का आत्मभाग 'परात्परप्रधान 'गूढोत्मा' है प्राणभाग 'सत्यस्यसत्यम्' है एवं भूतभाग 'सत्यम्' नाम से व्यवहृत हुआ है। दूसरा आत्मपर्व है—अव्ययप्रधान जीवानुगत गूढोत्मा जिसे व्यापक मूलात्मा की ज्ञानयोगाभिमुख योगपद्धति का लक्ष्य माना गया है। इसका आत्मभाग अव्ययप्रधान 'गूढोत्मा' नाम से प्राणभाग 'जीव' नाम से एवं भूतभाग 'पाप्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है। तीसरे अव्यक्तात्मा के तीनों पर्व क्रमशः शान्तात्मा, अव्यक्त, आकाश, नाम से, चौथे महानात्मा के पर्व क्रमशः महानात्मा, सत्त्व वायु नाम से पाँचवें विज्ञानात्मा के पर्व क्रमशः 'विज्ञानात्मा धिषणा तेज नाम से छठे प्रज्ञानात्मा के तीनों पर्व क्रमशः प्रज्ञानात्मा, प्रज्ञा, जल नाम से सातवें पार्थिव भूतात्मा के तीनों पर्व क्रमशः कर्मात्मा भूत पृथिवी, नाम से तथा आठवें सौम्य अन्नात्मा के तीनों पर्व क्रमशः भूतसत्त्वात्मा प्राण रस नामों व्यवहृत हुए हैं। इन के प्रभव–प्रतिष्ठा-योनि-आयतन भी पृथक् पृथक् हैं जिनका अन्यत्र विस्तार से विश्लेषण हुआ है। ❀।

❀ देखिए–उपनिषद्भाष्यानुगत 'आत्मविज्ञान' ग्रन्थ का प्रथमखण्डान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड

	आत्मा (उक्थम्)	प्राण (अर्कः)	पशु (अशीतिः)
	ज्ञानम्	क्रिया	अर्थः
१—परात्परप्रधानो गूढोत्मा—ईश्वरप्रजापतिः—	ईश्वरात्मा	सत्यस्यसत्यम्	सत्यम्
२—अव्ययप्रधानो गूढोत्मा—जीवप्रजापतिः—	जीवात्मा	जीवः	पाप्मा
३—अक्षरप्रधानोऽव्यक्तात्मप्रजापतिः—	ज्ञानात्मा	अव्यक्तः	आकाशः
४—क्षरप्रधानो महानात्मप्रजापतिः—	महानात्मा	सत्त्वम्	वायुः
५—आत्मक्षरप्रधानो विज्ञानात्मप्रजापतिः—	विज्ञानात्मा	धिषणा	तेजः
६—आत्मक्षरप्रधान—प्रज्ञानात्मप्रजापतिः—	प्रज्ञानात्मा	प्राणः	जलम्
७—विकारक्षरप्रधानो भूतात्मप्रजापतिः—	कर्मात्मा	भूतम्	पृथिवी
८—वैकारिकक्षरप्रधानोऽन्नात्मप्रजापतिः—	भूतसत्यात्मा	प्राणः	रसः



७—जाग्रत्—स्वप्न—सुषुप्त्यवस्थापरिचय—

बतलाया गया है कि आधिदैविकवत् अध्यात्मसंस्था में भी विज्ञानज्योति ही प्रज्ञानज्योति की मूलप्रतिष्ठा बनती है। इसका प्रत्यक्षदृष्टि से प्रत्यक्ष कर लीजिए। जाग्रत्—स्वप्न—सुषुप्ति, भेद से आध्यात्मिक भूतात्मा तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। इन तीनों अवस्थाओं का क्रमशः प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मा अव्यक्तगर्भित महानात्मा इन तीन आत्माओं से सम्बन्ध है। महान्—विज्ञान—प्रज्ञान, तीनों की जाग्रदवस्था भूतात्मा की जाग्रदवस्था है। महान्—विज्ञान दोनों की जागरूकता भूतात्मा की स्वप्नावस्था है। एवं महान् की जागरूकता भूतात्मा की सुषुप्त्यवस्था है। तात्पर्य यही हुआ कि, महान्—विज्ञान से अनुगृहीत प्रज्ञान (मन) जब तक इन्द्रियों के द्वारा ऐन्द्रियक कर्म्म का सञ्चालक बना रहता है, जब तक वाक् प्राण—चक्षु—श्रोत्रादि ज्ञान—कर्म्मेन्द्रियाँ स्वव्यापार—सञ्चालन में प्रवृत्त रहती हैं तबतक भूतात्मा जागरूकता का अनुगामी माना जाता है। इन्द्रियव्यापार—सञ्चालन का अर्थ है—इन्द्रियों के साथ प्रज्ञानमन का सम्बन्ध। जब प्रज्ञानमन उपरत हो जाता है तो इन्द्रियवर्ग अपना काम छोड़ देता है। यही प्रज्ञानमन की सुषुप्ति है। प्रज्ञानमन का (अन्तर्मुख बनते हुए इसका) विश्राम ही प्रज्ञान की सुषुप्ति है यही स्वप्नावस्था है। प्रज्ञानमन अन्तर्मुख क्यों बना? इसके दो समाधान हैं। इन्द्रियव्यापार की तीव्रता से (अधिक ऐन्द्रियक व्यापार से) प्रज्ञानमन का ज्योतिर्भाग क्षीण हो जाता है। अतएव उस क्षीणावस्था में पहुँचने पर प्रज्ञानमन

ज्ञानशक्ति-वितरण में असमर्थ हो जाता है। फलस्वरूप वह अन्तर्मुख बन जाता है। प्रज्ञान के अन्तर्मुख बनते ही इन्द्रियवर्ग स्वव्यापार से उपरत हो जाता है। इसी को लोकभाषा में 'सोना' कहा जाता है। सूर्यानुगत अहःकाल में प्रज्ञानमन इन्द्रियवर्ग की क्षीणता पर भी यथाकथञ्चित् इन्द्रियों को शक्तिप्रदान किया करता है। क्योंकि अहःकाल में सूर्यसत्ता (सूर्यज्योतिःसत्ता) के कारण तदनुरूप विज्ञानात्मा (बुद्धि) को सूर्य से बल मिलता रहता है। विज्ञानज्योतिर्बल से ही तो प्रज्ञान सबल बना रहता है। रात्रि में सूर्यज्योतिर्गर्भित मघवेन्द्र के अस्ताचलभाव में परिणत हो जाने से विज्ञान को बल मिलना असम्भव हो जाता है, विज्ञान अन्तर्मुख बन जाता है। फलतः प्रज्ञान का शक्तिस्रोत सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए भी प्रज्ञान इन्द्रियव्यापार-सञ्चालन से उपरत होता हुआ अन्तर्मुख बन जाता है। प्रज्ञान अन्तर्मुख बन गया परन्तु अपेक्षित विज्ञान सर्वथा अन्तर्मुख (महन्मुख) नहीं बना। इस अवस्था में विज्ञानज्योति का अंशतःस्वरूप से अन्तर्मुख बने हुए प्रज्ञानमन पर अनुग्रह होता रहता है। निद्रासंस्कारावच्छिन्न प्रज्ञानमन के दैनिक संस्कार विज्ञानज्योति के अव्यवस्थित स्पर्श से अव्यवस्थितरूप से ही संयुक्त-वियुक्त होते रहते हैं। यही अवस्था 'स्वप्नावस्था' कहलाई है। जब प्रज्ञानात्मा को स्वगर्भ में लेता हुआ विज्ञानात्मा पुरीतति-नाडीमार्ग से अव्यक्तगर्भित महानात्मा के गर्भ में अर्पित हो जाता है (डूब जाता है) तो आत्यन्तिकरूप से अन्तर्मुख बने हुए विज्ञानप्रकाश में प्रज्ञानगत संस्कार सर्वथा विलीन हो जाते हैं। यही तीसरी सुषुप्ति है, जिसे 'स्वपिति' कहा जाता है, एवं जिसका निर्वचन किया गया है—'स्वमपीतो भवति' यह।

८—प्रकृतिस्वयोग, और प्रश्नोत्थान—

उक्त अवस्थात्रयी-स्वरूपनिदर्शन से यह प्रमाणित हो गया है कि, प्रज्ञान का प्रज्ञानत्व प्रज्ञान का इन्द्रियव्यापारसञ्चालकत्व विज्ञानसंयोग पर ही निर्भर है। विज्ञानसंयोग के बिना प्रज्ञानमन सर्वथा अकिञ्चित्कर है निराधार है। विज्ञानात्मा से सम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा ही इन्द्रियव्यापार-सञ्चालन में समर्थ बनता है। यथाक्रमानुसार-जिसप्रकार बिना इन्द्रियसंयोग के कर्मप्रवृत्ति असम्भव है बिना प्रज्ञान-संयोग के इन्द्रियप्रवृत्ति असम्भव है एवमेव बिना विज्ञानसंयोग के प्रज्ञानप्रवृत्ति भी असम्भव है। विज्ञान प्रज्ञान में जब आत्मसमर्पण कर देता है, तभी प्रज्ञान व्यापृत बनता है। व्यापृत प्रज्ञान जब इन्द्रियवर्ग के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है तभी इन्द्रियवर्ग व्यापार-सञ्चालन में समर्थ बनता है। एवं समर्थ इन्द्रियवर्ग जब कर्म्म के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है तभी कर्म्मस्वरूप सुसम्पन्न होता है। यह एक पक्ष और। जिस प्रकार बिना विज्ञानसंयोग के प्रज्ञान पङ्गु है एवमेव बिना प्रज्ञानप्रतिष्ठा के विज्ञान भी अविकसित ही रहता है। प्रज्ञानमन ही वह पीठ बनता है जिस पर विज्ञानसूर्य्य विकसित होता है। विकसित विज्ञान (विज्ञानरश्मियाँ) ही 'धी' नाम से व्यवहृत हुई हैं जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। यह 'धी' प्रकार (विज्ञानरश्मिप्रकार) प्रज्ञान पर ही अवलम्बित है। इसी आधार पर उपनिषच्छ्रुति के द्वारा 'न हि प्रज्ञापेता धीः काञ्चन सिध्येत्'-'न प्रज्ञानर्त्ते प्रज्ञायेत' इत्यादि सिद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं। 'एवमयं पुरुष (विज्ञानात्मा) प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' (बृ० उप० ४।३।२१)

* "एष हि विज्ञानात्मा पुरुषः" (प्रश्नोपनिषत् ४।९।)

श्रुति भी विज्ञानात्मा को प्रज्ञानात्मा के साथ सम्परिष्वक्त बतलाती हुई दोनों के अनिवार्य्य सहयोग का ही समर्थन कर रही है ।

उक्त इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, तीनों की पारस्परिक सहयोग-मीमांसा से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, लौकिक ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग हो, अथवा तो शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-ज्ञानयोग, सर्वत्र विज्ञानपर्मित प्रज्ञानानुगत इन्द्रियव्यापार अपेक्षित है । ऐसी स्थिति में योगमात्र को इन्द्रियव्यापार सापेक्ष होने से 'इन्द्रिययोग', इन्द्रियव्यापार के प्रज्ञानमन'सापेक्ष होने से 'मनोयोग', एवं प्रज्ञानमनोव्यापार के विज्ञानबुद्धिसापेक्ष होने से 'बुद्धियोग' तीनों में से किसी भी नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । बार बार हमारी ओर से यह आग्रह हो रहा है कि, गीताशास्त्र उस बुद्धियोग का निरूपण कर रहा है, जो शास्त्रीय ज्ञान-भक्ति-कर्म्म, तीनों योगों से सर्वथा अपूर्व-विलक्षण-एवं पूर्ण योग है । परन्तु जब 'बुद्धियोग' शब्द के अर्थ की मीमांसा करने लगते हैं, तो हमारा यह आग्रह दुराग्रहमूला केवल कल्पना से समनुप्रित प्रतीत होने लगता है । "जिस योगानुष्ठान में योगानुष्टाता अध्यात्मयुक्त भूतात्मा के साथ बुद्धि का योग रहे, युक्तबुद्धि-पूर्वक भूतात्मा जिस योग का अनुगमन करे, बुद्धियुक्त भूतात्मा का बुद्धिपूर्वक अनुष्ठित वही योग बुद्धियोग है" यही तो 'बुद्धियोग'-शब्दार्थ है । इस शब्दार्थ की दृष्टि से तो देखते हैं-लौकिक वैदिक सभी योग 'बुद्धियोग' हैं । बिना इन्द्रियों के कोई योग सम्पन्न हो नहीं हो सकता, बिना मन के इन्द्रिययोग असम्भव है, एवं बिना बुद्धि के योग के मनोयोग असम्भव है । इस दृष्टि से इन्द्रिय-मन-सापेक्ष योगमात्र को जब 'बुद्धियोग' कहा जा सकता है, तो गीताशास्त्र ने इस सम्बन्ध में कौनसा अपूर्व पुरुषार्थ किया ? यह प्रश्न इदता के साथ हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है । केवल 'बुद्धियोग' शब्दोच्चारण से ही तो बुद्धियोग की अपूर्वता-विलक्षणता सिद्ध नहीं हो जाती । यही वह जटिल समस्या है, जिसका निराकरण लौकिक मनुष्यों से तो क्या, शास्त्रनिष्ठ निर्विरोधवादियों से भी नहीं हो सका है । और इसी जटिल समस्या के कारण गीताशास्त्रप्रतिपादित अपूर्व बुद्धियोग उक्त 'बुद्धियोग' शब्दार्थ के भ्रम से योगत्रयी के स्वरूप में ही अन्तर्मुक्त माना जा रहा है । साधारण व्यक्ति से पूँछ देखिए, अथवा तो किसी विद्वान् से प्रश्न कर लीजिए, गीताप्रतिपादित विषय के सम्बन्ध में दोनों का यही उत्तर होगा कि- गीता में अधिकारी के भेद से ज्ञान-भक्ति-कर्म्म इन तीन ही योगों का प्रतिपादन हुआ है । उत्तर इसलिए सम्पूर्ण भी मान लिया जाता है कि, सामान्यदृष्टि से विचार करने पर तीन से पृथक् कोई चौथा 'बुद्धियोग' नामक योग उपलब्ध नहीं होता । फलतः गीतोक्त 'बुद्धियोग' शब्दों का समन्वय भी यही मान लिया जाता है कि-'भगवान् आदेश कर रहे हैं कि, 'हमें ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों का बुद्धिपूर्वक अनुगमन करना चाहिए' । इस काल्पनिक, अतएव वस्तुतः सम्पशून्य सम्पपूर्ण माने जाने वाले उत्तर से सन्तुष्ट हो जाने वाले जिज्ञासु में यह प्रश्न भी तो नहीं उठने पाता कि 'जब बिना बुद्धि के योग के योगप्रवृत्ति असम्भव है, जब प्रत्येक योग का अनुष्ठान बुद्धियोगपूर्वक ही होता है, तो फिर भगवान् ने इस प्रकृतिसिद्ध बुद्धियोग का विशेषण क्यों किया ?। अधिकारयोग्यता के अनुसार अर्जुन जिस किसी भी योग में प्रवृत्त होता वह स्वतएव 'बुद्धियोग' सम्पत्ति से अवश्यमेव युक्त मान लिया जाता । इस प्रकृतप्राप्त बुद्धियोग के लिए भगवान् ने 'ददामि बुद्धियोगं तं' 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'-'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'-'बुद्धौ शरणमन्विच्छ-कृपणाः फलहेतवः' इत्यादिरूप से बड़े आयोग के साथ अभिनय क्यों किया गया ?।

प्रश्न उठना चाहिए था परन्तु नहीं उठा, क्यों ? । व्याख्याताओं की विशेष कृपाद्दष्टि के अतिरिक्त इस क्यों ? का और क्या उत्तर हो सकता है । प्रस्थानत्रयी के सर्वमूर्द्धन्य व्याख्याता भगवान् शङ्कर से पहिले पहिले ऐसे प्रश्नों का उत्थान हुआ । क्योंकि, तबतक सम्प्रदाय ने आर्षधर्म्म पर विशेषरूप से आक्रमण नहीं किया था । यही कारण था कि उस युग में आप्तप्रजा की इस जिज्ञासा का यथोचित समाधान करने वाले व्याख्याता भी उत्पन्न हुए, जिनका आज नामस्थापन भी लुप्त हो चला है । भगवान् शङ्कर ने जिस निर्विशेष–अनिर्वचनीय– तत्त्व को गीता का प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व मानते हुए वेदोक्त कर्म्म मार्ग का खण्डन, तथा सर्वकर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग को अन्तिम पुरुषार्थ माना है महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्ताचार्य्य ने वहाँ कर्म्म मार्ग का सर्वात्मना समर्थन किया था । इसी आधार पर अभिनवगुप्ताचार्य्य को विद्वानों ने भगवान् शङ्कर का प्रतिस्पर्धी माना है • । देश के दुर्भाग्य से आगे चलकर साम्प्रदायिक भक्तिवाद पुष्पित–पल्लवित हुआ । जिन सनातन वैदिक–ज्ञानगर्भित वैज्ञानिक तत्त्वों के आधार पर सनातन आर्षधर्म्म प्रतिष्ठित था, उनका अध्ययनाध्यापन विलुप्त हो चला । भयभेदमूलक निर्वीर्य आत्मा–देव–भूत–मायादि तत्त्ववाद अक्षरब्रह्म की उर्म्मि में बह निकला । तभी वैदिकतत्त्व अज्ञानयोगपूर्वक एक ही अक्षरब्रह्म की कसौटी पर कसे जाने लगे । और इसप्रकार गीता का निगूढ़ बुद्धियोगतत्त्व लुप्त हो गया । आर्षप्रतिभा का स्थान सम्प्रदायाभिनिवेश ने छीन लिया । राजनैतिक परतन्त्रता के साथ आत्मप्रतिभा भी परतन्त्र बन गई । वैदतत्त्वपरायणा भारतीय प्रजा के आत्मा में यह शक्ति ही नहीं रही कि, वह स्वयं अपनी आत्मप्रतिभा का भी सदुपयोग कर सके । और आज ? ।

९–बुद्धियोगानुगामी महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य्य—

आज तो, विगत शताब्दियों में व्याख्याताओं के द्वारा जो लीपापोती हो चुकी है उसके विरुद्ध बोलना भी महापाप समझा जा रहा है । शास्त्रभक्ति परमावश्यक है यह मानते हैं । शास्त्र ही हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णय में मुख्य प्रमाण है यह भी अनुभव कर रहे हैं । परन्तु शास्त्र कौन से ? । श्रुति-स्मृतिशास्त्र ?, अथवा तो जिस किसी भी संस्कृतभाषाभाषाभिज्ञ पण्डित के द्वारा संस्कृत-भाषामात्र में लिखे गए चमत्कार ? । यदि 'प्राचीन' नाम से ही प्रेम है तो अभिनवगुप्त ने क्या अपराध किया है ? । क्यों नहीं बुद्धिगम्य उसी अर्थ का हम अनुसरण करें, जो आर्षधर्म्म का अनन्यपोषक सिद्ध हो रहा है । क्यों नहीं मूलभूत स्वयं वेदशास्त्र के आधार पर ही गीतातत्त्वों का समन्वय करने की चेष्टा करें, जिस वेदशास्त्र की मान्यता में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, जो वेदशास्त्र तत्त्वप्रधान बनता हुआ–'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' के अनुसार बुद्धिगम्य शास्त्र है जिसके तत्त्व पूर्ण परीक्षित हैं व्यवस्थित हैं । श्रद्धा के आधार पर ही आत्मविश्वास सम्भव है अन्धश्रद्धा के आधार पर नहीं ।

• काश्मीरकप्रवर अभिनवगुप्ताचार्य्य शैवसम्प्रदायानुगामी थे । आप शङ्करसम्प्रदायविरुद्ध थे । आपने 'गीतार्थसंग्रह' नाम की एक संक्षिप्त व्याख्या गीता पर लिखी है । उपलब्ध यच्चयावत् भाष्यों तथा व्याख्याओं में यही एक ऐसी व्याख्या है जिसमें अंशतः बुद्धियोग की अपूर्वता का स्पष्टीकरण उपलब्ध हुआ है । यह व्याख्या उपलब्ध व्याख्याओं में सब से प्राचीन मानी गई है ।

१०–विषयविभागानुगता गीतायोगचतुष्टयी—

जिस बुद्धियोग का सत्ययुगारम्भ में ब्रह्म शरीर से भगवान् ने सर्वप्रथम विवस्वान् को उपदेश दिया, आगे चलकर जो योगविद्या राजर्षिपरम्परा में प्रचलित रही, कालसम्बन्धच्छेद से जिसका स्वरूप महाभारतयुग में पुनः विलुप्त हो गया, वासुदेवशरीर के द्वारा पुनः जिसका अर्जुन के प्रति उपदेश हुआ, जिस योग के लिए भगवान् ने शास्त्रनिवेश 'अपना प्रातिस्विक मत' कहने में कोई संकोच न किया, वह बुद्धियोग कालसम्बन्धच्छेद से, वेदतत्त्वपरिज्ञानाभावमूला व्याख्याओं के दोष से, परपक्षनीतिमूला आत्मश्लाघा के दोष से, स्वार्थमूला महत्त्वमा साम्प्रदायिकदृष्टि के अनुग्रह से, विचारस्वातन्त्र्य भूदेवों के वेदानभ्यास–आचारपरित्याग–आलस्य–प्रमाद–परिग्रहमहत्त्वजनित दिव्यप्रतिभावरणावेश से आज पुनः स्मृतिगर्भ में विलीन हो गया है। यही कारण है कि, गीताशास्त्र के प्रति अनन्य निष्ठा रखता हुआ भी आज का गीताभक्त समाज गीतार्थसम्बन्ध में अपनी कल्पनाओं का विस्तार करता हुआ नहीं अघा रहा।

जिसे सर्वसाधारण कर्म योग कहते हैं, जिसे सर्वसामान्य 'ज्ञानयोग' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं, ये दोनों भगवान् की दृष्टि में 'लोकनिष्ठा' हैं, जैसाकि–'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। लोकप्रचलित तीसरी भक्तिनिष्ठा ज्ञान–कर्म निष्ठाओं के मध्य में है। अतएव तन्मध्यपतित न्याय से दोनों के ग्रहण से इस मध्य निष्ठा का ग्रहण स्वतः सिद्ध बन रहा है। अतएव भगवान् ने लोकनिष्ठा–परिगणन में केवल दो निष्ठाओं का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त मान लिया है। इसप्रकार सर्वसामान्य में प्रतिष्ठित काम्यकर्मात्मिका योगनिष्ठा (कर्मयोग), कर्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग), फलानुगता काम्या भक्तिनिष्ठा (भक्तियोग), तीनों ही निष्ठाएं लोकनिष्ठा बन रही हैं। इन्हें 'लोकनिष्ठा' नाम से व्यवहृत करते हुए भगवान् यही अभिप्राय सूचित कर रहे हैं कि सामान्यबुद्धिपरायण, त्रिगुणभावापन्न मनुष्यों की दृष्टि में पुरुषार्थ के ये तीन मार्ग ही चिरकाल से प्रचलित हैं। योगत्रय–भावात्मक चौथा बुद्धियोग सर्वसाधारण के लिए अविदित है। यही वास्तविक शास्त्रनिष्ठा है, जो अपने सम्यग्ज्ञानानुगत, अतएव असङ्गभावात्मक बुद्धिभाव के प्राधान्य से लोकनिष्ठात्रयी को भी समन्वयप्रदान के द्वारा बुद्धियोगस्वरूप में परिणत कर रही है। यही चौथी बुद्धियोगनिष्ठा गीता की प्रधान निष्ठा है, जिसके समावेश से भगवान् ने लोकप्रचलित निष्ठात्रयी का भी बुद्धियोगसम्मिश्रणद्वारा स्वशास्त्र (गीता) में संग्रह कर लिया है। यही संशोधित तीनों योग गीतापरिभाषा में ज्ञान–भक्ति–कर्म योग न कहला कर ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग–धर्म्मबुद्धियोग इन नामों से व्यवहृत होंगे। एवं मूलभूत बुद्धियोग 'वैराग्यबुद्धि' योग माना जायगा, जिसका गीता में–'योग'–'बुद्धियोग' आदि नामों से उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से गीताशास्त्र में चार योगों का प्रतिपादन सिद्ध हो जाता है जो लोकप्रचलित निष्ठात्रयी से सर्वथा अपूर्व एवं विलक्षण है। इसी आधार पर गीताको केवल 'बुद्धियोगशास्त्र' कहना ही समीचीन बनता है। इसी दृष्टि से ३–५–५–५–इस क्रम से चारों योगों के प्रतिपादन के लिए १८ अध्यायों का विभाजन किया गया है। यही विभाग विज्ञानसम्मत है जिसका गीताभूमिकाबहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड के–'विषयविभागप्रदर्शन' नामक प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। उधर निष्ठात्रयी के अभिनिवेश ने लोकनिष्ठात्रयी के आवेश में पड़ कर गीताध्यायों का ६–६–६–इस क्रम से विभाजन करते हुए तीनों का क्रमशः 'कर्मकाण्डषट्क, उपासनाकाण्डषट्क ज्ञानकाण्डषट्क' यह नामकरण किया है, जो इत्थंभूत क्रमविभाजन, तथा नामकरण गीतातत्त्वजिज्ञासा सर्वथा विपरीत जाता हुआ उपेक्षणीय है।

विज्ञानात्मका —योगविभागाः—

१–वैराग्यबुद्धियोगः (बुद्धियोगो भगवन्मतम्)–निष्कामसमत्वभावानुगतिः— १–६ (६)
२–ज्ञानबुद्धियोगः (ज्ञानयोगः संशोधितः)–निष्कामज्ञानचर्या———७–८ (२)
३–ऐश्वर्यबुद्धियोगः(भक्तियोगः संशोधितः)–निष्कामोपासना———९–१२(४)
४–धर्मबुद्धियोगः (कर्मयोगः संशोधितः)–निष्कामकर्मयोग——१३–१८(६)

× १८

प्रधान (लोक) सम्मतयोगविभागाः

१–कर्मयोगः—कर्मकाण्डात्मकः–प्रथमविभागः———१–६
२–भक्तियोगः—भक्तिकाण्डात्मकः–द्वितीयविभागः———७–१२
३–ज्ञानयोगः—ज्ञानकाण्डात्मकः—तृतीयविभागः——१३ १८

× १८

११–बुद्धियोगसमन्वयप्रदाता गीताशास्त्र—

निगुरु-तर्कमूलक विवादजाल में न पड़कर यदि हम गीता के शब्दों पर श्रद्धाभाव से दृष्टि डालेंगे तो हमें स्पष्टरूप से यह अनुभव होगा कि, गीता में तीनों ही योगों के समर्थक वचन प्राप्त होते हैं *। तीनों के अतिरिक्त 'बुद्धियोग'–'योग'–समत्वयोग इत्यादि नामों से एक चौथे अपूर्व योग के समर्थक वचन भी प्राप्त होते हैं। इसप्रकार गीताशास्त्र में स्पष्टतः चारों योगों के वचन उपलब्ध हो रहे हैं। इस प्रत्यक्षोपलब्ध शब्दप्रमाण को देखते हुए भी गीताशास्त्र को केवल लोकनिष्ठात्रयी का प्रतिपादक मानते हुए तदनुसार ही त्रिषट्विभाग मान लेना कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है ? । इसके अतिरिक्त योगत्रयी का समानरूप से समर्थन भी यही प्रतिपादन कर रहा है कि, अवश्य ही भगवान् किसी ऐसे चतुर्थ अपूर्व-योग (बुद्धियोग) की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित कराना चाहते हैं, जो तीनों विभिन्न योगों में अविरुद्धरूप से व्याप्त होता हुआ तीनों को समन्वित बना रहा है। बिना इस समतुलन के तीनों योगों की समानोपयोगिता कथमपि चरितार्थ नहीं बन सकती। तीनों विभिन्न योगों को समत्वसम्पत्ति–प्रदान करने वाला यही सुप्रसिद्ध 'बुद्धियोग' है जिसका सुप्रसिद्ध 'वैराग्यबुद्धि' से सम्बन्ध है एवं जो वैराग्यबुद्धि ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म–भावों के द्वारा लोकनिष्ठात्रयी को भी बुद्धियोगसम्पत् प्रदान कर रही है।

वेदसंहिताओं के अनेक वादों में से एक वाद 'परात्परवाद' नाम से प्रसिद्ध है जिसका गीताभूमिका-द्वितीयखण्ड के 'ख' विभाग में–'परात्पररहस्य' नामक प्रकरण में वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका है।

* गीताभूमिकाप्रथमखण्ड में इन समर्थक वचनों का संग्रह किया जा चुका है।

सृष्टि किम्मूला है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए वैज्ञानिकों की ओर से परस्पर सर्वथा विभिन्न अहोरात्रवाद, व्योमवाद, अम्भोवाद, आवरणवाद, रजोवाद, अपरवाद, आदि १० वाद उपस्थित हुए हैं। सृष्टिमूलकारणता के सम्बन्ध में उपस्थित इन दशों वादों का निर्विरोध समन्वय तभी सम्भव हो सकता है, जब कि दशों का आधार कोई एक अविभिन्न तत्त्व मान लिया जाय। इसी आधार आगे जाकर इस सम्बन्ध में दशों में अविभिन्नरूप से व्याप्त 'ब्रह्मवाद' स्थापित हुआ है, जिसे—'सिद्धान्तवाद' माना गया है, एवं जिसका—'ब्रह्माण्यविष्ठत्–भुवनानि धारयन्'–'तपसस्तन्महिना जायतैकम्'–'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण हुआ है। ठीक यही परिस्थिति इन लोकनिष्ठाओं के सम्बन्ध में समझिए। पुरुष का पुरुषार्थ क्या ?, प्रश्न के समाधान के लिए तीन मार्ग सामने उपस्थित होते हैं, जो एक दूसरे से स्वरूपतः एवं अनुष्ठानप्रकारतः—सर्वथा विभिन्न हैं। इन विभिन्न तीन पुरुषार्थों का समन्वय तभी सम्भव है, जब कि तीनों को समानफलानुगामी बनाने वाला अवश्य कोई वैसा अविभिन्न तत्त्व स्वीकार कर लिया जाय, जो तीनों का अविभिन्न सहयोगी बन रहा हो। वही गीताशास्त्र का चौथा अव्ययप्रधानुगत बुद्धियोग है। बिना इसे लक्ष्य बनाए तीनों योग परस्पर एक दूसरे से विभिन्नधर्म्मा बनते हुए एकत्वमूला अमृतभावनिष्पत्ति के स्थान में नानाभावमूला मृत्युभावप्रवृत्ति के कारण बन जाते हैं जिसका प्रत्यक्षप्रमाण एक ही गीताशास्त्र को प्रमाणभूत मानने वाले साम्प्रदायिक आचार्य्यों का प्रचण्ड संघर्ष बन रहा है। ज्ञानयोगाभिनिविष्ट गीता को विशुद्ध 'ज्ञानयोगग्रन्थ' मानते हुए यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि, पुरुष का आत्यन्तिक पुरुषार्थ ज्ञानयोग ही है। गीताशास्त्र में संगृहीत कर्म्म, और भक्तियोग गौण हैं। निम्न अधिकारियों के लिए ही भगवान् ने इनका संग्रह कर लिया है। वस्तुतः गीता मुख्यरूप से ज्ञानयोग का ही समर्थन कर रही है। अतएव गीता विशुद्ध 'ज्ञानयोगग्रन्थ है'। भक्तियोगाभिनिविष्ट साम्प्रदायिक गीता को भक्तियोगग्रन्थ मानने के लिए सन्नद्ध हैं। उनका कहना है कि—ज्ञान, वैराग्ययुक्त भक्तियोग ही पुरुष का आत्यन्तिक पुरुषार्थ है। गीताप्रतिपादित कर्म्म, और ज्ञान गौण हैं, जिनका लोकसंग्रहदृष्टि से भगवान् ने संग्रहमात्र कर लिया है। वस्तुतः गीता मुख्यरूप से भक्तियोग का ही समर्थन कर रही है। अतएव गीता विशुद्ध 'भक्तियोगग्रन्थ' ही है। कर्म्मयोगाभिनिविष्ट कर्म्मठ निष्कामकर्म्मयोग को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मान रहे हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान–भक्ति–योग गौण बने हुए हैं। फलतः इनकी दृष्टि में गीता विशुद्ध 'कर्म्मयोगशास्त्र' बन रहा है। इस सम्प्रदायगत तत्त्वशून्य विभिन्न दृष्टि का ही यह अनुग्रह हुआ है कि एक ही भगवान् के मुख से विनिर्गत एक ही शास्त्र के अभिन्न तत्त्वप्रतिपादक वचन परस्पर गौण–प्रधान बन गए। स्वमतपोषक वचन भगवत्सिद्धान्त के प्रतिपादक बन गए, स्वमतनिरसकवचन लोकसंग्राहक बन गए। और इसप्रकार अभिन्नतत्त्वपरामर्शशून्या निष्ठात्रयी के अनुग्रह से एक शास्त्र तीन विभिन्न शास्त्रों का जनक बनता हुआ पारस्परिक संघर्षद्वारा शान्ति के स्थान में अशान्ति का प्रवर्त्तक बन गया। मोहनाश और स्मृतिलाभ के स्थान में मोहप्राप्ति तथा स्मृतिविनष्टि का कारण बन गया। वासुदेवावतार से पहिले तत्त्वज्ञानवञ्चिता प्रजा के व्यामोह से लोकनिष्ठाओं की विभिन्नता के आधार पर जो संघर्ष उपस्थित हुआ था जिसके निराकरण के लिए वासुदेवद्वारा बुद्धियोगमूलक—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' 'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपि गम्यते' 'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयो-र्विन्दते फलम्' इत्यादि रूप से तीनों का सम समन्वय हुआ था कालव्यवधान से आज पुनः वही संघर्ष पुनर्जागृत बन रहा है। आज पुनः भगवान् का—'स कालेन महता योगो नष्टः–परन्तप !' चरितार्थ हो रहा है।

१२–व्याख्याताओं की संघर्षप्रवृत्ति—

संघर्ष केवल विद्वत्-समाज में ही प्रचलित था। दूसरे शब्दों में संघर्ष उन परिमित व्यक्तियों तक ही सीमित था जो संस्कृतभाषा के जानकार थे। सामान्य प्रजा अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति के अनुरूप जिस वर्ग के आकर्षण से आकर्षित थी उस मन्तव्य का अनुगमन करना श्रेयस्कर समझ रही थी। इसप्रकार अव्यवस्थितक्रम से भी सही, शास्त्रमर्यादा यथाकथंचित् सुरक्षित थी। सम्भवतः इसी अव्यवस्था में भगवती का संघर्ष यों ही प्रवाहित रह भी जाता। परन्तु वर्त्तमान युग में एक ऐसी घटना घटित हो गई जिससे संघर्ष सुरक्षित न रह सका और संघर्ष एक ऐसे नवीन भाव में परिणत हो गया जिसमें शास्त्रनिष्ठा सर्वथैव विनाशोन्मुखा प्रतीत होने लग गई। घटना थी दो सभ्यताओं का परस्पर सम्मिलन। सम्मिलन न कह कर इसे भी पारस्परिक संघर्ष ही कहना उचित होगा। विदेशीसभ्यता के अनुग्रह से सत्ता के साथ साथ ही तत्-सभ्यता-संस्कृति-साहित्य-आचार-व्यवहार-निष्ठ सम्मान्य अतिथियों ने भी हमारा आतिथ्य स्वीकार किया। अतिथि के रूप में नहीं, विजेता शासक के रूप में। उसने आते ही आते हमारी सभ्यता-संस्कृति-साहित्य पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का वह फल नहीं हुआ जो होना चाहिए था। यदि वैदिकतत्त्व हमारे हाथ में होता यदि हमारा घर साम्प्रदायिक संघर्ष से विमुक्त रहता तो निश्चयेन प्राच्य-प्रतीच्य-सभ्यताओं के इस अव्यवस्थित संघर्ष में प्राच्य विजेता ही बनता। परन्तु तत्त्वपरम्परया अन्धाभक्त्यानुगत्या पतनम् गता शास्त्रनिष्ठा से बहिर्भूत-शक्तिशून्य बना हुआ प्राच्य प्रतीच्य भौतिकतत्त्ववाद (विज्ञान) पूर्णा, लोकमहत्त्व गता लोकेन्नतिम् गता लोकनिष्ठा के प्रभाव से अपने वास्तवस्वरूप से प्राच्यापेक्षया उन्नत बने हुए प्रतीच्य के आगे मस्तक ऊँचा न रख सका। नत मस्तक होकर हमें प्रतीच्य की उत्कृष्टता का आदर अभिवादन करना पड़ा। संघर्ष से पहिले लोकोन्नतिम् गता जो व्यवहारनिष्ठा प्राच्य के अधिकार में थी, इस संघर्ष में पड़ कर वह भी शास्त्रनिष्ठा के साथ साथ ही हमसे छिन गई अथवा तो असमर्थ-असमर्थ-प्राच्य से योग्य-समर्थ प्रतीच्य ने बलपूर्वक छीन ली। न राम मिले न रहीम। न उधर के रहे, न इधर के रहे। जो न होना था वह हो गया। परन्तु प्राच्यसंस्कृति के भक्तों का उद्बोधन न हुआ न हुआ। अपितु ठीक इसके विपरीत अपने आपको स्वयं आत्मलाघव के निविड पाश में आबद्ध करने वाले इन पुरुषार्थियों ने-'गुणानां च परार्थ-त्वात्-असम्बन्धः समत्वात्' को ही अपना आराध्य बना लिया जिसका तात्पर्य यही है कि, एक स्वामी के दसों सेवक स्वामी के सेवक हैं परस्पर कोई एक दूसरे का सेवक नहीं है, अतएव दसों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रत्येक उनके दास क्योंकि बन गए थे फिर परस्पर मैत्रीभाव कैसे सुरक्षित रह सकता था। उनके लिए हम व्यक्तियों 'को बाबा के अनुगमता। परन्तु परस्पर में भूखे बाघ से भी भयानक। सुना है-जब सर्पिणी को आहार नहीं मिलता तो वह अपनी सन्तति का ही निगरण करने लगती है। ठीक यही दशा हमारी हो गई। हम कापुरुष में ही अन्न-अभ्यास बन गए। और इसप्रकार उस अमान्य-अपौर्षिकर-इतिहास का हमने उपक्रम कर डाला जिस इतिहास का अनुगमन करने वाली असंख्य जातियाँ स्मृतिगर्भ में विलीन हो चुकी हैं।

पुण्यभूमि-भारतवर्ष, यह भारतवर्ष-जिसकी सभ्यता का मूल आधार आर्षधर्म है यह आर्षधर्म जिसकी मूलप्रतिष्ठा वेदशास्त्र है यह वेदशास्त्र-जिसकी प्रतिष्ठा प्रकृतिसिद्ध-नित्य-सनातनतत्त्व है यह सनातन तत्त्व-जिसका मूल अनन्त परात्पर में आबद्ध है अपरार्थमात्र से उसका ज्ञान, यह अहम्भव है। इतिहास साक्षी है वर्त्तमान संघर्ष से भी कहीं भयानक संघर्ष इससे पहिले भी भारतवर्ष में हुए। परन्तु वे सब संघर्ष

इसके मूलोच्छेद में असमर्थ ही रहे। यही क्यों, आक्रमण करने वालों का अवश्य ही नामशेष रह गया, परन्तु इसके मूल पर कोई प्रहार न हो सका। जिन्होंने इसके मूल का पता पा लिया वे स्वयं आत्मसमर्पण कर बैठे। मानते हैं—आज का संघर्ष भी सामान्य नहीं है। यही क्यों, इसके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षापारतन्त्र्यमूलक आत्मपराधीनतारूप ब्रह्मास्त्र को अमोघ बना कर आक्रमण करने वाला यह संघर्ष अपेक्षाकृत कहीं भयानक है। परन्तु ऋषियों के पुण्य से अभी प्राच्य का मूल सुरक्षित है। इसी आधार पर आत्मपराधीनता की चरमसीमा पर पहुँचते ही प्राच्य का उद्बोधन हुआ। हमें यह बोध होने लगा कि मैं वस्तुतः पराधीन हूँ। आत्मबोधपति के अनुग्रह से देश में पुनः—'स्वतन्त्र' शब्द का विकास आरम्भ हुआ। कैसा था वह शुभ मुहूर्त। यदि देश के विद्वान् उस मुहूर्त का मूल्य समझते, तो । जिन देशहितैषियों ने आत्मस्वतन्त्रता का शीर्षवरण किया था, यद्यपि प्रधानतः ये तो वे भी प्रतीच्यशिक्षापारङ्गत ही। तथापि उनका प्राच्यसंस्कृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण था। इनमें दो एक तो ऐसे भी व्यक्ति थे जिनकी प्राच्यसाहित्य में भी गति थी। जिस क्षण में इन्होंने प्राच्य के प्रतिनिधित्व का पन्यवाद किया, उसी क्षण देश के विद्वान भी यदि सम्मिलित हो जाते तो क्या हो जाता?, इस अपुण्यकल्पना का आलोडन विलोडन अब व्यर्थ है। शताब्दियों से एक मंगल ही जिनकी आजीविका का साधन बन रहा हो, भला वे विद्वान यह भूल? कैसे कर सकते थे। जिन विद्वानों के कन्धों पर प्राच्यसंस्कृति का उत्तरदायित्व था, उनकी न केवल उपेक्षा न हीं अपितु विरोध ने देश के उस दल का मनोभाव प्राच्यसंस्कृति की ओर से तो नहीं, प्राच्यसंस्कृति के वास्तविक स्वरूप से पराकर्षित कर दिया। वे यह अनुभव करने लगे कि क्या यही प्राच्यसंस्कृति है?, यही हमारी मौलिक सभ्यता है? जो आत्मस्वातन्त्र्य का विरोध करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य मान रहे हैं। वे पूछने लगे अपने अन्तर्जगत् से कि क्या इन्हीं विद्वानों के आदेश–उपदेश प्राच्यगौरव सुरक्षित रख सकेंगे?। उत्तर वही मिलना था जो मिलना चाहिए था। वस्तुतः विद्वानों ने अपने चिर–अभ्यस्त संघर्ष के अनुग्रह से यही शास्त्रनिष्ठा उपादेय मान रक्खा थी जिसकी कृपा से प्रतीच्य अपने पाँव फैलाने में समर्थ हो सका था। परिणाम इसका क्या हुआ?, क्या सम्मान्य विद्वान् सुनना चाहते हैं? 'आमिन्येतत्'।

प्रतीच्यशिक्षादीक्षित–अग्रगामी दल ने विद्वानों की उपेक्षा की, उनके मन्तव्यों की अवहेलना की, उनकी संघर्षमूला शास्त्रनिष्ठा का अनादर किया, संस्कृतभाषा के प्रति उदासीनता प्रकट की, प्राचीन भाष्य–व्याख्याओं के प्रति गजनिमीलिका की, और प्राच्याकर्षणानुग्रह से स्वयं अपनी उस प्रज्ञाबुद्धि से—जो पश्चिमी शिक्षा–संस्कार से सुसंस्कृत थी—उपनिषत्, गीता आदि परिगणित प्राच्य ग्रन्थों का अन्वेषण आरम्भ किया। प्रतीच्य शिक्षासंस्कार से उत्पन्न होने वाली 'बुद्धिमानी' ही इस अन्वेषण का मूल बनी, जिसका विश्लेषण इन शब्दों में किया जा सकता है कि 'शास्त्र के प्रणेता ऋषि थे अथवा तो योगी, तत्त्वतः वे मनुष्य थे। मनुष्य बुद्धिपूर्वक ही कर्म करता है। इसलिए उन बुद्धिमानों ने बुद्धिबल से ही यह सम्पादना की है। क्यों नहीं, मानवसुलभ–बुद्धिद्वारा हम भी अपनी दृष्टि से ही इन ग्रन्थों का अन्वेषण करें। कोई कारण नहीं कि, हम प्राचीन व्याख्याताओं, भाष्यकारों की शैली का ही अनुसरण करें। सम्भव है उनसे भूल हो गई हो। तभी तो शास्त्रव्याख्यानिष्ठ विद्वत्समाज की ऐसी मनोवृत्ति हमारे सामने आरही है। हमें बुद्धिपूर्वक स्वयं ही प्राच्य ग्रन्थों के तात्पर्य का अन्वेषण करना चाहिए। अन्वेषणकद्वारा यदि जिसे स्वीकार करें वही तात्पर्य वास्तव में तात्पर्य मानना और मनवाना चाहिए।' सौभाग्य से इसलिए कि सर्वसमृद्ध मीमांसा न्याय के ही देशहितैषियों ने निर्दोष-प्रामाणिक-व्यावहारिक-तथा उपादेय शास्त्र मान कर, दुर्भाग्य से इसलिए कि उस मीमांसाशास्त्र का आधार

मना कर्मनिष्ठा अथवा प्रायः वेदशास्त्र के तत्वज्ञान से सम्बद्ध है अतएव समस्त वैदिक वाङ्मय के तात्त्विक स्वाध्याय के बिना जिसका तात्पर्यार्थ लगा लेना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है-व्याख्या का साहस कर जाना। इस नीति का हम दो मार्गों में विभाजन कर सकते हैं। 'सर्वमान्यलोकमान्यबालगङ्गाधरतिलक' की सुप्रसिद्ध 'कर्मयोग-शास्त्र' नामक गीताव्याख्या (गीतारहस्य) एक विभिन्न दृष्टिकोण रखती है। तिलक प्रतीच्य साहित्य के साथ साथ संस्कृतसाहित्य के भी वर्त्तमानकोटि के अच्छे विद्वान् थे। उस स्वाभाविक विद्वत्ता के अनुग्रह से ही तिलक सनातनधर्म्म के सिद्धान्तों के अनन्य समर्थक थे। इसी धर्म्मनिष्ठा के कारण आपने महाभारत, रामायण पुराण स्मृति आदि इतर शास्त्रों की प्रामाणिकता पर विश्वास रखते हुए स्वबुद्धिवल से गीतार्थ का समन्वय किया। इसके साथ साथ ही प्रतीच्य साहित्य की सम्पन्नता के कारण पश्चिमी विद्वानों के द्वारा गीताशास्त्र पर होने वाले आक्षेपों का युक्तियुक्त निराकरण भी किया जो प्रयास प्रत्येक भारतीय के लिए अभिनन्दनीय ही माना जाना चाहिए। यह स्पष्ट सत्य है कि तिलक वैदिकतत्त्वों से दूर रह कर ही गीताव्याख्या में प्रवृत्त हुए थे। यही कारण है कि पश्चिमी मूल 'कर्मयोग' ही उनकी बुद्धि में गीता का सार्वभौम सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो गया। पश्चिमी बुद्धि के स्वाभाविक आकर्षण से शाङ्करमतानुयायियों की स्पष्ट समालोचना करने वाले तिलक का यह व्याख्याप्रधान भारतीय दृष्टिकोण से किस स्थान का अधिकारी है ?, इस विचार में न पड़ते हुए यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, अंशतः सनातन सिद्धान्तों का पोषण करती हुई भी तिलकव्याख्या वेदतत्त्वानुगता दृष्टि की अपेक्षा से असमन्वय ही मानी जायगी।

१३-श्रीगांधीजी, और उनका अनासक्तियोग—

दूसरा विभाजन 'अनासक्तियोग' नामक उस प्रसिद्ध व्याख्या से सम्बन्ध रखता है जिसके निर्माण का श्रेय स्वर्गीय गांधीजी को प्राप्त है। गान्धीजी की निष्ठा आत्मसंयम आदि पर अविश्वास न करते हुए भी हमें इस विश्वास में कोई आपत्ति नहीं हो रही कि आप संस्कृतसाहित्य के विद्वान् नहीं थे। आपका ज्ञान आपही के कथनानुसार आपके वैयक्तिक अनुभव तथा प्रयोगों पर ही निर्भर था●। गीतातत्त्व-परिशीलन आपने किन किन साधनों के द्वारा किया ?, इस समस्या का निराकरण भी आपकी गीताव्याख्या पर लिखी प्रस्तावना से हो जाता है। ज्ञान साधारण की दृष्टि हुई भी अन्तःकरणालु बहुसंख्यक जनसमाज की अपेक्षा से कल्याणकारी मानी जा सकती है। गांधीजी का देश का नेतृत्व प्राप्त था। अवश्य ही आपकी सर्वथैव स्वराष्ट्र के लिए हम भी इस अंश में आप पर पूर्ण निष्ठा रखते हैं। और सम्भवतः आज के भावुक भारतदेश ने तत्काल इसी हेतु से आपको यह सर्वोच्च पद प्रदान भी किया है जो पद भारतीय परिभाषा में 'महात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। एक बार नहीं, शत शत-बार यह कह देना प्रत्येक आस्तिक भारतीय का कर्तव्य होना चाहिए कि "हम आप पर निष्ठा रखते अवश्य हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्वथा अनधिकृत शास्त्रीय क्षेत्र में भी इस निष्ठा का उपयोग करते हुए हम सर्वथा स्वमतमूल आधुनिक पथ का अनुसरण करने लग पड़ें। 'गीता का मैंने जैसा समझा है' आपके इस प्रस्तावनावाक्य से ही आपकी गीताव्याख्या शास्त्रीय नहीं मानी जा सकती। कारण स्पष्ट सुप्रसिद्ध था। आप एक अंश का भी स्वयं चाहते थे। फिर

●— "मेरे साथी स्वामी आनन्द आदि मित्रों के प्रेमवश होकर मैंने सत्य के प्रयोग भर के लिए आत्मकथा लिखना प्रारम्भ किया था वैसे यह गीता के अनुसार के सम्बन्ध में भी हुई है"।

अनासक्तियोग-प्रस्तावना—

आपकी यह संकुचित दृष्टि–'स्त्री–वैश्य–शूद्र सरीखे जिन्हें अक्षरज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है न इच्छा है, परन्तु जिन्हें गीतारूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्हीं के लिए यह अनुवाद है' क्यों, और कैसे बनी ? । सच तो है आपकी इस दृष्टि का भी आक्रमण । परन्तु आपको यह तत्त्व किस जगदीश्वर ने प्रदान किया कि–'यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है' । आस्तां तावत् ।

गीताशास्त्र, गीता के मुख्य श्रोता अर्जुन, उपदेशक पूर्णावतार भगवान् कृष्ण गीता की धर्म–कर्म्मो-पयोगिता वर्णव्यवस्था वर्णधर्म्म गीतोपदेशफलस्वरूप अर्जुन की युद्ध में प्रवृत्ति आदि मौलिक तथ्य–पूर्ण घटनाएँ ही जिनकी दृष्टि में कल्पना है उनकी व्याख्या का आस्तिक प्रजा कहाँतक समादर करेगी ? कल्पनाप्रसूता यह व्याख्या स्त्री-वैश्य-शूद्रों का कैसा उपकार कर डालेगी ?, इन सब प्रश्नों का किंवा गुप्तरहस्यों ? का उत्तर तो व्याख्याकार से ही सम्बद्ध है । हम अपने शब्दों में तो इस व्याख्या के लिए यही अभि-नन्दन कर सकते हैं कि –परमात्मा करे, यह व्याख्या व्याख्याकार के ज्ञानक्षेत्र–पर्य्यन्त ही सीमित रहे, इसी में आर्यप्रजा का अभ्युदय है ।

स्वतन्त्रता के इस स्वतन्त्र युग में जो न देखना–सुनना पड़े, स्वल्प है । ऐसा भी एक गीताभक्त समाज हमारे सम्मुख उपस्थित होता है जो गीता का प्रधान लक्ष्य 'साम्यवाद' मान रहा है । वह कहता है–गीता उस 'साम्यवाद' का ही प्रतिपादन करती है जिसमें छोटा–बड़ा–अमीर–गरीब–राजा–प्रजा–आदि वर्णविभाग सर्वथा विलुप्त हो रहे हैं । सब प्राणी समान, सबके समान कर्म्म समान अधिकार, यही गीतारहस्य है । इसप्रकार विद्वानों की इस प्रारम्भ की भूलने वेदादिवैधिमी के द्वारा गीताशास्त्र के अनेक कल्पित–हानिकर–अनुपादेय–मतवादों की सृष्टि करवाली । दुःख है कि, यह सब कुछ जानते हुए भी, मानते हुए भी आज भी विद्वत्समाज की ओर से उसी भूल की पुनरावृत्ति हो रही है । दृढ निष्ठापूर्वक यह कहा जासकता है कि जब तक भारतीय विद्वत्समाज साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का अनुगामी बना रहेगा, तबतक उसका आर्यधर्म्ममूलक वैदिक तत्त्ववाद की ओर ध्यान आकर्षित न होगा । जबतक विज्ञान–निकषा पर पूर्ण परीक्षित वैदिक तत्त्वों के आधार पर शास्त्रों का समन्वय–प्रयास उपक्रान्त नहीं होगा तब तक प्रतीच्य के सम्पर्क से प्राप्त होने वाले घातक दृष्टिकोणों का निराकरण असम्भव बना रहेगा । एवं जबतक इस दृष्टिकोण का निराकरण नहीं हो जायगा, तबतक आर्यप्रजा वास्तविक शान्ति–सुख की अधिकारिणी नहीं बन सकेगी ।

१४–गीतासिद्धान्तविमर्श—

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः' इस वाक्य के आधार पर हमारा यह आत्मविश्वास दृढमूल बन चुका है कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य में जिन तत्त्वों का विशदरूप से वैज्ञानिक निरूपण हुआ है गीताशास्त्र उन सब तत्त्ववादों की सर्वतत्त्वसंग्राहिका एक तालिका है । गीता में प्रतिपादित तत्त्ववाद का किसी भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सम्बन्ध न होकर गीता वैदिक तत्त्वों से सम्बन्ध है । अतएव बिना वैदिक तत्त्वज्ञान को आधार बनाए अन्य प्रयत्नसहस्रों से भी गीता के वास्तविक तात्पर्य का समन्वय नहीं किया जासकता । उदाहरण के लिए गीता के प्रधान निरूपणीयभूत 'बुद्धियोग' सिद्धान्त को ही लक्ष्य बनाइए । वैदिक बुद्धितत्त्व के, एवं उसके आत्मानुगत सहज योगस्वरूप के परिज्ञानाभाव का ही यह परि-

णाम हुआ है कि आज 'बुद्धियोग' का स्वरूपज्ञान सर्वथा विलुप्त होचुका है । जैसा कि प्रारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है—शास्त्रीय दृष्टि से 'बुद्धियोग' का अधिक से अधिक यह अर्थ मान कर सन्तोष कर लिया जाता है कि 'शास्त्रज्ञान से सात्त्विक बनी हुई बुद्धि के द्वारा ही कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगों में प्रवृत्त होना चाहिए' । लोकदृष्टि से इसी का-'समझदारी से काम करना चाहिए' इस वाक्य पर विश्राम कर लिया जाता है । यही दुरवस्था अनासक्ति-'निष्काम' 'फलकामत्याग' आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में घटित हुई है । वैदिक तत्त्ववाद का यह पूर्व परीक्षित सिद्धान्त है कि विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा (बुद्धियुक्त मन) का व्यापार ही कर्म्म मात्र का प्रथम मूलाधार बनता है । कर्म्म का प्रथम मूल मन की कामना है जैसाकि-'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋक्मन्त्रवचन से प्रमाणित है । कर्म्मकर्त्ता आत्मा 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि बृहदारण्यक सिद्धान्तानुसार मनःप्राणवाङ्मय है । आत्मपर्वत्रयी की व्यापारत्रयी क्रमशः 'काम-तप-श्रम' नामों से व्यवहृत हुई है । 'इदं कुर्वीय'-'इदं मे स्यात्' इत्यादि रूप से सर्वप्रथम मनोव्यापाररूप काम (कामना) का उदय होता है । तदनन्तर प्राणव्यापाररूप तप होता है जो अन्तर्व्यापार दर्शनभाषा में 'कृति'-'यत्न'-'चेष्टा' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है । सर्वान्त में वाग्व्यापार (शरीरव्यापार) होता है जिसे 'श्रम' कहा गया है । इसप्रकार काम-तप-श्रम तीनों के समन्वय से ही कर्म्मस्वरूप निष्पन्न होता है । स्पष्ट है कि बिना कामना के कर्म्म-प्रवृत्ति असम्भव है । ऐसी स्थिति में गीता के 'निष्कामभाव' का क्या अर्थ ?, । 'कामना छोड़ दो' कहने मात्र से ही तो हमारा काम्यकर्म्म निष्काम नहीं बन सकता । फिर वस्तुतः कामना छूट सकती भी नहीं । कामना के आत्यन्तिक उपराम से तो कर्म्म प्रवृत्ति का ही उच्छेद हो जायगा । ऐसी स्थिति में वर्त्तमान व्याख्याकार 'निष्कामकर्म्म करो' अपनी इस घोषणा का कैसे समन्वय कर सकेंगे ? । क्या बिना वैदिक तत्त्वानुशीलन के वे समाधान कर सकेंगे ? । यही स्थिति फल की है । फलाशा एव ही कामना का मूल बनता है । यदि किसी को यह निश्चय हो जाय कि अमुक कर्म्म निष्फल है तो उस ओर कामना ही नहीं होसकती । 'फल का परित्याग करदो' कहने मात्र से ही तो फलकामना का परित्याग सम्भव नहीं बन सकता । प्राकृतिक सिद्धान्तानुसार कामना अनिवार्य्य, तत्सहभूत फल अनिवार्य्य, कर्म्मजनित संस्कारादय अनिवार्य्य, फिर कैसे गीता के निष्काम-फलरहित-सेश्वर्य्य योग का समन्वय किया जाय ? । वैदिकतत्त्वानुसन्धान के अतिरिक्त बड़े से बड़ा बुद्धिमान् भी विद्वान् भी, नेता भी इन विप्रतिपत्तियों का निराकरण नहीं कर सकता । गीता में उक्त व अमृत-शाश्वतधर्म्म-ब्रह्म-अव्यय-ऐकान्तिकसुख-अक्षर-आदि शब्दों के तत्त्वार्थों का वैदिक तत्त्वदृष्टि के अभाव में कथमपि समन्वय सम्भव नहीं है । एक श्लोक में प्रतिपादित उत्तरायण-दक्षिणायनमूला आत्मगति के स्वरूप का क्या बिना वैदिक आत्मगतिविज्ञानपरिज्ञान के समन्वय सम्भव है ? । क्या वैदिक 'पथ्यास्वस्ति' (वर्ण-मातृकाविज्ञान) परिज्ञान की उपेक्षा कर 'अक्षराणामकारोऽस्मि' का तात्त्विक समन्वय किया जासकता है ? । क्या ब्राह्मणग्रन्थ में प्रतिपादित यज्ञविज्ञान से परिचय प्राप्त किए बिना 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' इत्यादि गीता-प्रतिपादित यज्ञरहस्य का विश्लेषण सम्भव है ? । गीताशास्त्र की इसी गम्भीर-गम्भीरतर-गम्भीरतमा वैदिकतत्त्वानुगति के माहात्म्य को स्पष्ट करने के लिए ही-'मनुष्याणां सहस्रेषु'-'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' इत्यादि प्ररोचनात्मक वचन व्यवहृत हुए हैं । गीताभक्ति का हम अभिनन्दन करते हैं । यह भी मान रहे हैं कि गीतापाठ मात्र से 'शब्दब्रह्मविज्ञान' की अपेक्षा से पुण्यलाभ होता है । परन्तु एतावता ही गीताभक्त-वे गीताभक्त जिन्हें वैदिक तत्त्वबोध की कथा तो दूर रही संस्कृतभाषा का भी बोध नहीं है-गीता पर व्याख्या लिखें । उनकी इमा

लोचना करें, कल्पना के द्वारा उसमें आत्मानन्द अहिंसावाद साम्यवाद आदि वादों के अन्वेषण की चेष्टा करें, कैसे युक्तिसङ्गत कहा जा सकता है। प्रसिद्ध है कि अनधिकारी का अनधिकृत कार्य्य में हाथ डालना उस भाष्य का ध्वंस ही करना है *। दुःख है कि गत शताब्दियों में विद्वानों की ओर से भी गीता पर जो भाष्य-व्याख्याएँ हुए, किसी ने गीता के इस वैदिकतत्त्वानुगत दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाया। यही कारण है कि, गीता पर ज्यों ज्यों साम्प्रदायिक व्याख्याएँ होती गईं, त्यों त्यों यह शास्त्र दुरधिगम्य, अतएव अव्यवहार्य्य ही बनता गया। और इसप्रकार वेदतत्त्व-वञ्चित व्याख्याओं के अनुग्रह से गीतातत्त्व सर्वथा विलुप्त हो गया। यह माना जा सकता है कि, साम्प्रदायिक आचार्य्यों को भी गीताशास्त्र के आश्रय से स्वमतसमर्थन की सामग्री मिल सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि भगवान् ने सम्प्रदायवादपोषण के उद्देश्य से ही गीताशास्त्र को जन्म दिया है। व्याख्याताओं की एक सबसे बड़ी भूल कहिए, अथवा तो स्वार्थसाधकता मानिए यही है कि, पहिले वे अपनी कल्पना से एक साम्प्रदायिक सिद्धान्त की कल्पना कर लेते हैं। और उस अपने कल्पित सिद्धान्त की दृष्टि से शास्त्र की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। शास्त्र का प्रकृत-सिद्ध अर्थ क्या है ?, शास्त्र के शब्दों का उपक्रमोपसंहार-आदि मीमांसासम्मत प्रणाली से क्या प्राकृतिक अर्थ निकल रहा है ?, इत्यादि प्रश्नों की उपेक्षा कर ये व्याख्याता शास्त्र को अपने कल्पित सिद्धान्त की दृष्टि से तोलने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि, जहाँ जो जो सिद्धान्त इन्हें अपने सम्प्रदायसिद्धान्त के विरोधी प्रतीत होते हैं, उन्हें गौण मानते हुए ये खींचातानी का पुरुषार्थ बना डालते हैं। यही तो कारण है कि ज्ञानयोगात्मक दृष्टिकोण को आग्रही बना कर गीताव्याख्या में प्रवृत्त आचार्य्यों ने ज्ञानयोगात्मक वचनों को तो प्रधान बतलाया भक्ति-कर्म-योग के समर्थक वचनों का गौणत्व सिद्ध करने की चेष्टा की। यही स्थिति कर्म्माभिनिविष्ट तथा भक्त्यभिनिविष्ट व्याख्याताओं की रही। इस सबसे बड़ी भूल ने ही गीता की सर्वमान्यता का अपहरण कर अपौरुषेय वेदशास्त्र से समनुप्राणित रहने वाले ईश्वरीय ज्ञानात्मक गीताशास्त्र को एक साम्प्रदायिक मतवाद का पोषक ग्रन्थ बना डाला। 'हम मानते हैं वही गीता में है', इस मोहवाद का परित्याग कर 'जो गीता कहती है, वह हमें मानना चाहिए' इस दृष्टि को अपनाए बिना गीतातत्त्व का समन्वय असम्भव है। और यह असम्भव तभी सम्भव बन सकता है जबकि हम तत्त्वानुगता आर्षदृष्टि (ऋषिदृष्टि) से समन्वित वैदिक तत्त्ववाद-लक्षण सहजबुद्धयनुगत सहजज्ञानमूलक वेदशास्त्र को आधार बना कर ही गीतार्थसमन्वय की चेष्टा में प्रवृत्त हों। वास्तविक ज्ञान कृत्रिम ज्ञान है यही पौरुषज्ञान है जो कभी एकान्ततः निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। प्राकृतिक ज्ञान सहजज्ञान है, यही ईश्वरीय ज्ञान है जो कभी भ्रान्त नहीं हो सकता। निर्भ्रान्त ईश्वरीय ज्ञानदर्शन के लिए बुद्धियोग अपेक्षित है। महर्षियों ने इसी योग-प्रभाव से उस सहजज्ञान के दर्शन किए। सहजभाषा के द्वारा शब्दमर्य्यादा से सुव्यवस्थित वही ईश्वरीय ज्ञानकोश 'वेदशास्त्र' कहलाया। वेदशास्त्र ने क्योंकि सहज-अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान का विश्लेषण किया, अतएव यह शास्त्र भी आगे जा कर 'अपौरुषेय' ही मान लिया गया, जिसका दिग्दर्शन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड के—'क्या वेद अपौरुषेय है' ? नामक प्रश्नमीमांसा में विस्तार से निरूपित हुआ है। उसी वेदानुगत तत्त्ववाद के आधार पर आज हमें गीता के 'बुद्धियोग'-स्वरूप का अन्वेषण करना है जिसका अन्य किसी भी साम्प्रदायिक व्याख्या से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

---

* 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'।

१५–वेदशास्त्र–और 'बुद्धि' शब्द—

इसी सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लीजिए। गीता के 'बुद्धियोग' स्वरूप की हमें मीमांसा करनी है। साथ ही हमारा यह भी अभिनिवेश है कि गीता का प्रत्येक सिद्धान्त वेदसिद्धान्त से समर्थित है। इस दिशा में गीतोक्त 'बुद्धियोग' के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। उपलब्ध ऋक्–यजुः–साम–अथर्व, चारों मूल संहिताओं में (मन्त्रात्मक वेद भाग में) कहीं भी 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। दूसरा है ब्राह्मणात्मक वेद भाग। इसके विधि, आरण्यक, उपनिषत्, ये तीन काण्ड माने गए हैं। शतपथ–ऐतरेय–आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मण भाग ब्राह्मणात्मक वेदभाग का विधिकाण्ड है, ऐतरेयारण्यक, तैत्तिरीयारण्यक आदि आरण्यकभाग आरण्यक काण्ड है एवं ईश–केन–कठ–प्रश्नादि उपनिषद्भाग उपनिषत्काण्ड है। ब्राह्मणात्मक वेदभाग के इन तीनों काण्डों में से आरम्भ के विधि (ब्राह्मण) और आरण्यक, इन दो भागों में भी 'बुद्धि' शब्द इसलिए अश्रुत–प्राय ही है कि, केवल 'मन्त्रब्राह्मण' नामक ब्राह्मणग्रन्थ में, सो भी एक बार–'बुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है–(मं० ब्रा० २।७।१४)। ऐसी स्थिति में वेदमूलक गीताशास्त्र में 'बुद्धि' शब्द से सम्बन्ध रखने वाला 'बुद्धियोग' सिद्धान्त कैसे वेदशास्त्रसम्मत बन गया ?, यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की जासकती है जिसका प्रासङ्गिक निराकरण कर देना आवश्यक होगा।

१६–शास्त्रों के प्रतिपाद्य विभिन्न विषय—

गीता में प्रासङ्गिक रूप से आत्मगति, विभूति, अवतार आदि विषयों के निरूपण के साथ साथ प्रधानतः अव्ययानुगता ब्रह्मविद्या तथा वैराग्यानुगत बुद्धियोग, इन दो विषयों का ही निरूपण हुआ है। अतएव गीता शास्त्र–'ब्रह्मविद्यानुगत–योगशास्त्र' (अव्ययानुगत बुद्धियोगशास्त्र) नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है जैसा कि गीताध्यायोपसंहार में पठित–'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इत्यादि वाक्य से प्रमाणित है। 'गीताभूमिका–शास्त्रपरीक्षा–के विभाग' नामक भूमिकाखण्ड में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, भारतीय शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है–'ब्रह्मकर्मोभयस्वरूपनिरूपणपूर्वक ब्रह्मकर्मानुगमनावेशद्वारा अभ्युदय–निःश्रेयस–प्राप्ति की अनुगमनस्वरूपा शिक्षा प्रदान करना'। ब्रह्म नाम है 'आत्मा' का एवं कर्म्म नाम है 'आत्मव्यापार' का। अध्यात्मसंस्था में अनेक आत्मा हैं जिनके लोकाविरूप परस्पर विभिन्न हैं। अतएव आत्मव्यापारलक्षण कर्म्म भी विभिन्न बन रहे हैं। इसीलिए आत्मा, और तदनुगत कर्म्म, के भेद से एक ही भारतीय शास्त्र के अनेक विभाग होगए हैं, जिनका प्रधानतः विज्ञानशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र इन दो स्थूल भागों में विभाजन किया जासकता है। केवल शाब्दिक ज्ञान के आधार पर ब्रह्मकर्म्म–परीक्षा करने वाला शास्त्र 'दर्शनशास्त्र' है एवं शब्दानुगत तत्त्वों के आधार पर परीक्षा करने वाला शास्त्र विज्ञानशास्त्र है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र विज्ञानशास्त्र है, वैशेषिक–प्राधानिक–शारीरकादि दर्शनशास्त्र हैं। परात्परप्रधान ईश्वरीय–गूढात्मा अव्ययप्रधान जीवानुगत गूढात्मा, दोनों विवर्तों की समष्टि 'षोडशीपुरुष' है यही व्यक्ताव्यक्तातीत पुरुषात्मा है यही अश्वत्थ का उप मूलभूत 'अमृतम्' (अमृतात्मसंस्था) है। पुरुषात्मगर्भित अक्षरप्रधान अव्यक्तात्मा तथा महानात्मा, दोनों की समष्टि 'अव्यक्तप्रकृति' है यही अव्यक्त प्रकृत्यात्मा है यही अश्वत्थ का विश्वमूलभूत 'ब्रह्म' (ब्रह्मात्मसंस्था) है। पुरुषात्म–प्रकृत्यात्मगर्भित आत्मक्षरप्रधान विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा विकारक्षरप्रधान वैकारिकतैजसवैश्वानरहिरण्यगर्भमूर्त्ति भूतात्मा वैकारिक क्षरप्रधान शरीरात्मा इन चार आत्मसत्त्वों की समष्टि व्यक्त विकृति है यही व्यक्तात्मा है, यही अश्वत्थ का विश्वरूप

'शुक्रम्' (शुक्रमर्त्यसंस्था) है। इसप्रकार पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित आठ आत्मपर्वों का ३,३,२, इस क्रम से तीन भागों में विभाजन किया जासकता है।

शुक्रप्रधान देवसत्यात्मा षोडशीपुरुष-विवर्त का क्षरविवर्त है ब्रह्मप्रधान ब्रह्मसत्यात्मा पुरुष का अक्षर विवर्त है, एवं अमृतप्रधान तपस्य सत्यात्मलक्षण अमृतसत्यात्मा पुरुष का परात्परगर्भित अव्यय विवर्त है। ज्ञानतन्त्राध्यक्ष अव्यय विवर्त क्रियातन्त्राध्यक्ष अक्षर विवर्त से संश्लिष्ट है एवं क्रियातन्त्राध्यक्ष अक्षर अर्थतन्त्राध्यक्ष क्षर विवर्त से संश्लिष्ट है। अक्षर से संश्लिष्ट क्षरात्मा कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा है, यही वेद के 'विधि' नामक ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त है। विशुद्ध अक्षरात्मा (परस्थ अव्यय, तथा अपरस्थ क्षर, दोनों से युक्त रहता हुआ अव्ययानुगत अधिदैवत, क्षरानुगत अभिभूत कर्म्माक्रान्त बन कर) भक्तियोग की प्रतिष्ठा है, यही 'आरण्यक' नामक ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त है। अव्यय से संश्लिष्ट अक्षरात्मा ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा है यही वेद के उपनिषत् 'नामक' ब्राह्मणभाग का प्रधान प्रतिपाद्य आत्मविवर्त है। प्रत्यक्षतः तत्त्वविज्ञानात्मक वेदस्तुतिद्वारा तत्त्वविज्ञानात्मक, इतिहासद्वारा तत्त्वविज्ञानात्मक, ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-संहितारूप मन्त्रात्मक विज्ञानप्रधान वेदभाग उक्त तीनों आत्मतन्त्रों की मूलप्रतिष्ठा है। इसप्रकार संहितानुगत विधि, आरण्यक, उपनिषत्, तीनों तन्त्र क्रमशः अक्षरसंश्लिष्ट क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अक्षरसंश्लिष्ट अव्ययात्मा इन तीन आत्मविवर्तों की कर्त्तव्यानुगति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। संहिताभाग ज्ञातव्य है, ब्राह्मणभाग कर्त्तव्य है। ज्ञातव्य विषय भी विज्ञान-स्तुति-इतिहास भेद से तीन ही हैं कर्त्तव्य विषय भी ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-भेद से तीन ही हैं। ज्ञानात्मक कर्त्तव्य ज्ञातव्यात्मक विज्ञान से भक्त्यात्मक कर्त्तव्य ज्ञातव्यात्मिका स्तुति से, एवं कर्म्मात्मक कर्त्तव्य ज्ञातव्यात्मक इतिहास से प्रधानरूपेण सम्बद्ध है। कर्म्मविधाव्यपेक्षया इतिहास से पुष्पित पल्लवित है, भक्तिविधाव्यपेक्षया स्तुति से, एवं ज्ञानविधाव्यपेक्षया विज्ञान से विकसित है। 'कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादिरूप से भगवान् नें भी कर्म्मयोग के सम्बन्ध में इतिहास का स्मरण किया है। 'स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः' (गी० ११।२१) इत्यादि रूप से भक्तियोग के साथ स्तुति का सम्बन्ध बतलाया है •। एवं 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' इत्यादिरूप से ज्ञानयोग के साथ विज्ञान का सम्बन्ध स्वीकार किया है। वक्तव्य यही है कि, आठ आत्मपर्वों का ३ संस्थाओं में समन्वय, तीनों क्रमशः अव्ययाक्षर, अक्षर, अक्षरात्मक्षरात्म तीनों क्रमशः विज्ञान-स्तुति-इतिहासानुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा तीनों क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ-तन्त्रात्मक तीनों के प्रतिपादक क्रमशः संहितानुगत उपनिषद्-आरण्यक-विधि-तन्त्र, फलतः तीनों तन्त्रों की समष्टिरूप एक वेदशास्त्र और यही विज्ञानशास्त्र का तत्त्वानुगत विश्लेषण।

वैशेषिकतन्त्र नें इतिहासानुगत, विधिभागोपवर्णित अक्षरसंश्लिष्ट क्षरात्मविवर्त का, प्राधानिक ने स्तुत्यनुगत आरण्यकभागोपवर्णित अक्षरात्मविवर्त का, एवं शारीरक ने विज्ञानानुगत उपनिषद्भागोपवर्णित अक्षरसंश्लिष्ट अव्यय को (अक्षरात्मक अव्यय को) शब्दद्वारा अपना प्रतिपाद्य बनाया। तीनों तन्त्रों की समष्टिरूप एक दर्शनशास्त्र का यही शास्त्रानुगत विश्लेषण है जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

• ९-से १२ अध्याय पर्य्यन्त भक्तियोग का निरूपण हुआ है इसी प्रकरण का यह उद्धरण है।

(१)

१
१–परात्परप्रधानः–ईश्वरानुगतः–गूढोत्मा
२–अव्ययप्रधानः–जीवानुगतः–गूढोत्मा
——षोडशीपुरुषः–सर्वमूलभूतममृतम् (अमृतात्मसंस्था)
(१) (मनःस्वरूपात्मा–ज्ञानकर्माध्यक्षः)

२
३–अक्षरप्रधानः–स्वायम्भुवोऽव्यक्तात्मा
४–अक्षरप्रधानः पारमेष्ठ्यो महानात्मा
——अव्यक्तप्रकृतिः–विश्वमूलमूर्तं ब्रह्म (ब्रह्मात्मसंस्था)
(२) (प्राणस्वरूपात्मा–क्रियाकर्माध्यक्षः)

३
५–क्षरप्रधानः–सौरो विज्ञानात्मा
६–क्षरप्रधानः–चान्द्रः प्रज्ञानात्मा
प्रकृतिविकृतिः
७–विकारक्षरप्रधानः–पार्थिवो भूतात्मा
८–वैकारिकक्षरप्रधानः सौम्योऽन्नात्मा
विकृतिः
प्रकृतिविकृतिः–विश्वरूपं शुक्रम् (शुक्रात्मसंस्था)
(३) (देहस्वरूपात्मा–अर्थकर्माध्यक्षः)

(२) १–अमृतात्मा (अक्षरसंहितस्त्वोऽव्ययात्मा)——ज्ञानकर्म–मनोमयम् (ज्ञानयोगप्रतिष्ठा)
२–ब्रह्मात्मा (अव्ययक्षरगर्भितशुक्लोऽक्षरात्मा)–क्रियाकर्म प्राणमयम् (भक्तियोगप्रतिष्ठा)
३–शुक्रात्मा (अक्षरसंहितः क्षरात्मा)——अर्थकर्म वाङ्मयम् (कर्मयोगप्रतिष्ठा)

(३) मन्त्रसंहितानुगतः–विज्ञानस्वरूपः–उपनिषद्भागः–अक्षरसंहिताव्ययात्माधारेण ज्ञानयोगप्रतिपादकः
मन्त्रसंहितानुगतः–स्तुतिस्वरूपः–आरण्यकभागः–अक्षराधारेण भक्तियोगप्रतिपादकः
मन्त्रसंहितानुगतः–ऐतिह्यस्वरूपः–विधिभागः——अक्षरसंहितक्षरात्माधारेण कर्मयोगप्रतिपादकः

(४) १–उपनिषत्त्रयम् (संहितागर्भितम्)–तदनुगतं शारीरककर्म–ज्ञानयोगप्रधानम्
२–आरण्यकत्रयम् (संहितागर्भितम्)–तदनुगतं प्राणाग्निकर्म–भक्तियोगप्रधानम्
३–विधित्रयम् (संहितागर्भितम्)–तदनुगतं वैदेशिककर्म–कर्मयोगप्रधानम्

(५)—

१—विज्ञानम्	ज्ञानम्	अक्षरात्मक-अव्ययात्मा	उपनिषत्	शारीरकतन्त्रम्
२—स्तुतिः	भक्तिः	अक्षरात्मा	आरण्यकम्	प्राधानिकतन्त्रम्
३—इतिहासः	कर्म्म	अक्षरात्मक-क्षरात्मा	ब्राह्मणम्	वैशेषिकतन्त्रम्
शास्त्रविषयत्रयी	दर्शनविषयत्रयी	आत्मत्रयी	विज्ञानशास्त्रत्रयी	दर्शनशास्त्रत्रयी
*संहितानुगतानि त्रीणि विध्यारण्यकोपनिषद्रूपाणि तन्त्राणि, एकं वेदशास्त्रम्-ग्रन्थानुगतम्				
विद्याशास्त्रानुगतानि त्रीणि वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरकतन्त्राणि, एक दर्शनशास्त्रम्-शब्दानुगतम्				

(६)—

१—अक्षरमात्रापन्नमव्ययब्रह्म (ब्रह्मविद्या)	तत्प्रतिष्ठितो ज्ञानयोगः (योगशास्त्रम्)
२—अव्ययक्षरानुप्रविष्टमक्षरब्रह्म (ब्रह्मविद्या)	तत्प्रतिष्ठितो भक्तियोगः (योगशास्त्रम्)
३—अक्षरगर्भितं क्षरब्रह्म (ब्रह्मविद्या)	तत्प्रतिष्ठितः कर्म्मयोगः (योगशास्त्रम्)
सैषा ब्रह्मत्रयी, आत्मत्रयी वा,	सैषा योगत्रयी, कर्म्मत्रयी वा



२७—उपनिषदों की विद्या, और योग—

विधिभागानुगत वैशेषिकदर्शन ने अक्षरगर्भित क्षरब्रह्म का विश्लेषण किया, आरण्यकभागानुगत प्राधानिक (सांख्य) दर्शन में अक्षरब्रह्म का प्रतिपादन किया, एवं शारीरक (वेदान्त) दर्शन ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिरूप से अक्षरात्मक अव्ययब्रह्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। इन तीन शास्त्रों (आम्नायों) से क्रमशः उपर्युक्त कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-मार्गों का हमें परिचय प्राप्त हुआ, यह उक्त विवेचन से भली भाँति सिद्ध हो जाता है। उक्त विवेचन से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि जिस बुद्धियोग को गीता का प्रधान सिद्धान्त बतलाया जाता है एवं जिस बुद्धियोग का आधार प्रधानतः परात्पर-प्रधान ईश्वरीय गृहेष्मा माना जाता है उस योग, और ब्रह्म का स्पष्टतः विवेचन नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में अव्ययब्रह्म, एवं

*—देखिए गी० भू० आत्मपरीक्षा के विभाग—'दार्शनिक आत्मसमन्वय'।

तदनुगत बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाला गीताशास्त्र कैसे वेदशास्त्रसम्मत बन गया ? यह एक स्वाभाविक विप्रतिपत्ति उपस्थित हो जाती है।

विप्रतिपत्ति का निराकरण वेदशास्त्र के उपनिषद्-भाग के द्वारा ही सम्भव है। उपनिषदों में संक्षिप्त भाषा में सङ्केतरूप से अव्ययब्रह्म एवं तदनुगत बुद्धियोग का निरूपण हुआ है। उस गुप्ततम अव्ययब्रह्म, तथा तदनुगत गुप्ततम ही बुद्धियोग को सम्पूर्ण उपनिषदों में से सारग्रहण निकाल कर उसे विस्तृत रूप प्रदान करना एवं उसे शिष्यपरम्परा के द्वारा प्रवाहानुगत बनाना भगवान् का ही काम्य है। यही कारण है कि उपनिषदों में बीजरूप से रहती हुई भी अव्ययब्रह्मविद्या, तथा तदनुगत बुद्धियोग के प्रथमाविर्भाव का श्रेय भगवान ने ही सम्बद्ध मान लिया गया है। अतएव भगवान् विस्पष्ट शब्दों में इस ब्रह्मविद्यात्मक योग के सम्बन्ध में–"य मे मतमिदं नित्यम् इत्यादिक्रम से मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं। क्योंकि गीताने औपनिषद पुरुष (अव्यय) एवं तदनुगत बुद्धियोग का गान (विस्तार) किया है, औपनिषद संक्षिप्त तत्व को विस्तृत रूप प्रदान किया है। अतएव यह शास्त्र 'भगवद्गीतोपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इस उपसंहारवचन का अधिकारी बन गया है। तथा उपनिषदों का इस दृष्टि से यो गीता वेदशास्त्रसम्मत शास्त्र। विस्तारप्रधान भगवान् का मार्तिस्विक कार्य, इस दृष्टि से गीता अपूर्व–विलक्षण–तथा पूर्ण शास्त्र। उपनिषदों में ही प्रधानतः अव्यय, तदा बुद्धियोग का प्रतिपादन हुआ है। फलतः गीता का बुद्धियोग शब्द उपनिषदों के प्रामाण्य पर ही अवलम्बित बन रहा है। कुछ एक औपनिषद्वचन ऐसे उपस्थित किए जा रहे हैं जिनसे स्पष्टतः अव्ययब्रह्म, एवं तदनुगत बुद्धियोग का समर्थन हो रहा है।

अव्ययब्रह्मसमर्थक वचन—

१—"यमूडरं सामशिरा असाकृष्ट मुचिरव्ययः।
स मन्ये ति हि विज्ञेय अपित्र ह्मयो महानिति ॥"

—छां० आ० उप० १।८

२—"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥"

—कठो० १।३।१५

३—"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि, विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥"

—मुण्डक ३।२।७

४—"यत्तद्–अद्रेश्य, अग्राह्य, अगोत्रं, अवर्णं, अचक्षुःश्रोत्रं, तदपाणिपादं,
नित्यं, विभुं, सर्वगतं, सुसूक्ष्मं, तदव्ययम्—
यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"

—मुण्डक १।१।६

बुद्धियोगसमर्थक वचन—

१—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
—कठ० १।३।३।

२—यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
—कठ० १। ।८।

३—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठ० १।३।१२।

४—यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेता० ३।४।



वेद का मन्त्रभाग विज्ञान–स्तुति–इतिहास–परक है, अतएव उसमें कर्त्तव्ययोगलक्षण बुद्धियोगस्वरूप अमत है। वेद के ब्राह्मणात्मक विधिभाग, तथा आरण्यकभागों में कर्मकर्मभावों का प्राधान्य है, अतएव इनमें भी गीता के बुद्धियोग का मूल अनुपलब्धवत् है। वेद के उपनिषत्–भाग में अवश्य ही अन्यथाभाव, एवं तदनुगत बुद्धियोग का उल्लेख प्राप्त है। गीता इस औपनिषद तत्त्व का ही विस्तार से प्रतिपादन कर रही है। अतएव यह 'भगवद्गीतासंहितासु,–भगवद्गीताब्राह्मणेषु–आरण्यकेषु' न कहला कर 'भगवद्गीतोपनिषत्सु' इस उपनिषत्–नाम से ही प्रसिद्ध हुई है। एवं इसी दृष्टि से (वेद के उपनिषत् भाग की दृष्टि से) गीता अवश्यमेव वेदशास्त्रमूलक अपूर्व शास्त्र है। यही पूर्वविप्रतिपत्ति का संक्षिप्त निराकरण है, जिस निराकरण से एक नवीन विप्रतिपत्ति हमारे सामने और उपस्थित हो रही है।

१८—पूर्वापरविरोधनिराकरण—

'योगचतुष्टयी का तात्त्विक स्वरूप' नामक पूर्व स्तम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि, परात्पर प्रधान ईश्वरानुगत गूढ़ात्मा बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगचतुष्टयी का, अव्ययप्रधान बोधानुगत गूढ़ात्मा ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानयोगचतुष्टयी का, अक्षरप्रधान अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा भक्तियोगात्मिका भक्तियोग-चतुष्टयी का, एवं आत्मक्षरप्रधान विज्ञानात्मगर्भित प्रज्ञानात्मा कर्म्मयोगात्मिका कर्म्मयोगचतुष्टयी का मूल लक्ष्यात्मक साम्य बनता है। चारों के साधक क्रमशः आनन्दविज्ञानमनःप्रधान भूतात्मा प्राणप्रधान भूतात्मा, तेजःप्रधान भूतात्मा, एवं वैश्वानरप्रधान भूतात्मा बनते हैं। इस स्पष्टीकरण के अनुसार गीताप्रतिपादित बुद्धियोग का तो परात्पर से, ज्ञानयोग का अव्यय से, भक्तियोग का अक्षर से, एवं कर्म्मयोग का क्षर से ही

सम्बन्ध सिद्ध हो रहा है । प्रकृत में यह कहा जा रहा है कि, बुद्धि–ज्ञान–भक्ति–कर्म्म चारों योगों का क्रमशः अव्यय, अक्षरात्मक अव्यय, अक्षर, क्षर, से सम्बन्ध है । इस कथन से पूर्व स्पष्टीकरण के क्षरप्रधान कर्म्मयोग अक्षरप्रधान भक्तियोग, ये दो योग तो निर्विरोध समन्वित हो रहे हैं । परन्तु वहाँ बुद्धि–ज्ञानयोग–इनो का परात्पर, अव्यय से सम्बन्ध बतलाना, और यहाँ इनका अव्यय–अक्षर से सम्बन्ध बतलाना विरोधी बन रहा है । यही एक प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति और है, जिसका निराकरण भी आवश्यक है ।

परात्पर तत्त्व वास्तव में विश्वातीत तत्त्व है । उस अमायी, विश्वातीत व्यापक परात्पर का जो गीता में 'शाश्वतधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है जो उपनिषदों में अशब्द, निराकार, अमूर्त, आदि शब्दों के द्वारा अनिर्वचनीय घोषित हुआ है । शान्तानवच्छिन्न–अव्यक्ताव्यक्त–मायातीत–उस परात्पर का 'आत्मन्वी' रूप 'प्रजापति' भाव से अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं है । योग का आधार 'प्रजापति' बनता है प्रजापति आत्मन्वी ही कहलाया है, एवं उसके आत्मा–प्राण–पशु–लक्षण अयन–धर्म–मरीचि, ये तीन कलाविभाग आवश्यकरूप से अनिवार्य बनते हैं । कलाविभाग योगमाया–सापेक्ष * । क्योंकि खण्डभाव ही कलाभाव है, एवं यह खण्डभाव योगमाया के सम्बन्ध पर ही निर्भर है । योगमाया महामायोदय के अनन्तर प्रादुर्भूत होती है । जबकि विश्वातीत परात्पर महामाया से भी अतीत है तो उसमें योगमायानुबन्धी कलाभाव का समावेश कैसे सम्भव हो सकता है । जब कलाभाव नहीं, तो प्रजापतिभाव नहीं । प्रजापतिभाव नहीं, तो आत्मन्वीभाव नहीं । फलतः मायातीत परात्परतत्त्व का योगातीतत्त्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है । इस दृष्टि से एवंविध मायातीत परात्पर को किसी भी योग का लक्ष्य नहीं माना जा सकता ।

मायातीत परात्पर का यत्किञ्चित् वह प्रदेश जिसमें मितिभाव (सीमाभाव) प्रवर्त्तक मायाबल का उदय हो जाता है सीमित बना हुआ 'मायी' कहलाने लगता है । अभी कलाभाव का उदय नहीं हुआ है केवल महामाया का उदय हुआ है । इस प्राथमिक अवस्था को ही हमनें 'परात्पर' नाम से व्यवहृत कर दिया है । क्योंकि जब तक योगमाया के द्वारा कलापरिग्रह का उदय नहीं हो जाता तब तक महामायोदय हो जाने पर भी उस मायीतत्त्व में कलात्मक वैशिष्ट्य का समावेश नहीं होने पाता । अतएव यह मायीतत्त्व उस अमायी निष्कल परात्पर से समतुलित माना जा सकता है माना गया है । मायायुक्त किन्तु योगमायाविमुक्त अतएव निष्कल अतएव विशिष्टभावरहित, अतएव मायातीत–निष्कल परात्परतत्त्व से समतुलित इस तत्त्व को 'अव्यय' कहा गया है । मायापुर के सम्बन्ध से यही 'पुरुष' कहलाया है । यह अव्ययपुरुष अपनी निष्कलता से उस मायातीत परात्पर से समतुलित है अतएव श्रुति ने–'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादिरूप से इसे 'पुरुष' कहने के साथ साथ ही परात्पर नाम से भी व्यवहृत कर दिया है । तत्त्वतया यह पुरुष वस्तुतः यद्यपि 'पर' नामक अव्यय ही है । तथापि अपनी प्रारम्भिक निष्कलता से यह परात्परसम बना हुआ है । पूर्वपरिच्छेद में जिस परात्पर को हमनें बुद्धियोग का लक्ष्य बतलाया था, वह परात्पर यह मायावच्छिन्न निष्कल अव्ययपुरुष ही है । इसप्रकार वहाँ परात्पर को बुद्धियोगानुगत बतलाना और यहाँ अव्यय को बुद्धियोगानुगत बतलाना निर्विरोध समन्वित हो जाता है ।

अब ज्ञानयोगानुगत अक्षर का समन्वय कीजिए । मायी अव्यय (परात्परसदृश निष्कल अव्यय) का हृ–द–यम्–लक्षण हृदयभाग ही 'प्रकृति' कहलाया है जो मायोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही प्रवृत्त

होता हुआ–'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' को चरितार्थ कर रहा है। हृदयस्थानिका यही प्रकृति तान्त्रिकों की योगमाया है, वैज्ञानिकों का अक्षरतत्त्व है, दार्शनिकों का 'चेतना' तत्त्व है। इस चेतना–लक्षणा प्रकृति के बलगर्भित रसप्रधान, रसगर्भित बलप्रधान भेद से दो विवर्त हो जाते हैं। बलगर्भित–रसप्रधाना यही प्रकृति अमृता प्रकृति है, यही अव्यक्त अक्षर है। रसगर्भित–बलप्रधाना यही प्रकृति मर्त्या प्रकृति है, यही व्यक्त आग्नेयाक्षर है। आग्नेयाक्षरगर्भित अव्यक्त अक्षर के व्यापार से उस महामायी निष्कल अव्यय पर रस–बल की चितियाँ होती हैं। इस चितिभाव से वह निष्कल अव्यय आनन्द्–विज्ञान–अन्तर्मन, बहिर्मन–प्राण–वाक्–इन कलाभावों में परिणत हो जाता है। आनन्दविज्ञानमनोमय वही अव्यय विद्याव्यय कहलाता है मनःप्राणवाङ्मय वही अव्यय कर्म्माव्यय कहलाता है। विद्याव्यय निष्कल अव्यय से समनुगत है कर्म्माव्यय योगमायात्मक अक्षर से समनुगत है। अतएव इस पञ्चकलात्मक कर्म्माव्यय को हम अवश्य ही अक्षरात्मक कह सकते हैं। यही अक्षरात्मक अव्यय–'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां–जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्' सिद्धान्तानुसार जीवानुगत गूढ़ात्मा की मूलप्रतिष्ठा बनता है। परात्परसमनुगत–आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याव्ययात्मक निष्कल अव्यय ईश्वरानुगत गूढ़ात्मा है, यही बुद्धियोगप्रतिष्ठा बनता है। मनःप्राणवाङ्मय–कर्म्माव्यय से समनुगत मनःप्राणवाङ्मय अक्षर जीवानुगत गूढ़ात्मा है, यही ज्ञानयोगप्रतिष्ठा–तत्त्व है।

आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याव्यय जहाँ अज है वहाँ मनःप्राणवाङ्मय कर्म्माव्यय जीवभूता योगमायारूप अक्षरप्रकृति के द्वारा जन्मानुगत बनता हुआ–'सम्भवाम्यात्ममायया' को सार्थक बना रहा है *। परात्परसमनुगत निष्कल महामायी का अवतार असम्भव है। अवतार होता है अक्षरात्मक सकल मनःप्राणवाङ्मय योगमायावच्छिन्न अव्यय का जैसा कि 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' 'बीजस्य रश्मु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रित' (रासपञ्चाध्यायी) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसप्रकार यहाँ जीवानुगत अव्यय को ज्ञानयोगानुगत बतलाना, एवं यहाँ अक्षरसंश्लिष्ट अव्यय को ज्ञानयोगानुगत बतलाना निर्विरोध सुसमन्वित होजाता है।

१६–बुद्धियोगप्रतिष्ठाभूमि (१)—

(१) अब एक अन्यदृष्टि से योगचतुष्टयी के चारों साध्यों का स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है, जिससे सर्वविध पूर्वापरविरोधों का आत्यन्तिक उन्मूलन होजायगा। बुद्धि–ज्ञान–भक्ति–कर्म्म चारों योगों के सम्बन्ध में इस परिभाषा को सदा लक्ष्य में रखिए कि, जिस योग में आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक, तीनों साधन हों, एवं तीनों ही साध्य हों वही सर्वसाध्य–सर्वसाधनलक्षण सर्वयोग 'बुद्धियोग' है। जिस योग में आधिदैविक ही साध्य हो, आधिदैविक ही साधन हो वह आधिदैविक 'ज्ञानयोग' है। जिस योग में साध्य आधिदैविक हो साधन आधिभौतिक हो, वह आधिदैविकाधिभौतिक योग 'भक्तियोग' है। एवं जिस योग में साधन-साध्य, दोनों आधिभौतिक हों, वह आधिभौतिक योग 'कर्म्मयोग' है। चारों में प्रथम

---

*–अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
गीता ४।६।

गीतायोग है। शेष तीनों योग लोकनिष्ठात्मक हैं, जिनका क्रमशः कर्म्म–ज्ञान–भक्ति–योगपरिभाषाओं से विस्तार से उपबृंहण हुआ है। सर्वात्मक (दैविक, आत्मिक भौतिक) वही तत्त्व हो सकता है, जो त्रिलक्षणात्मक हो। त्रिलक्षणात्मक है–परात्परसमतुलित ईश्वरानुगत योगारूढपुरुष, जिसके महामायावच्छिन्न सर्वांशात्मक परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, ये चार पर्व माने गए हैं। आत्मक्षरपर्व से यह ईश्वर भौतिकप्रपञ्च में, अक्षर पर्व से आत्मिक प्रपञ्च में, आनन्दविज्ञानमनोमय अव्यय पर्व से दैविकप्रपञ्च में, एवं तदभिन्न परात्परस्वरूप मायी निष्कल अव्ययपर्व से सर्वप्रपञ्च में व्याप्त हो रहा है। चारों पर्व ही यद्यपि ईश्वरात्मसम्बन्धानुगत बनते हुए बुद्धियोगानुगत हैं, तथापि ४ में से पूर्वोक्त सर्वत्व परात्परसमतुलित निष्कल अव्ययपर्व से ही सम्बद्ध है। इसप्रकार परात्परसमतुलित निष्कल अव्यय का विभूतिरूप निष्कल अव्यय (परात्पर) आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यात्मक, मनःप्राणवाङ्मय अक्षर, वाक्-आप-अग्नि-मय आत्मक्षर, इन ईश्वरानुगत गूढोत्मा अव्यय के चार पर्वों से क्रमशः वैराग्य ज्ञान–ऐश्वर्य–धर्म्म–लक्षण चारों बुद्धियोग समतुलित हैं। यही समत्वलक्षण–सर्वात्मलक्षणा गीताप्रतिपादित पहिली बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगचतुष्टयी है। चारों ही समबुद्धि से सम्बन्ध रखते हुए निष्कामयोग हैं। इसे ही हम 'ईश्वरयोगचतुष्टयी' नाम से व्यवहृत करेंगे, जो सर्वथा अनन्यलक्षणा बनती हुई परम-पुरुषार्थरूप मानी गई है। परात्परात्मक अव्यय, अव्ययात्मक अव्यय, अक्षरात्मक अव्यय, आत्मक्षरात्मक अव्ययरूप से चारों ईश्वरयोगों का साम्य फलतः सर्वरूप ईश्वरानुगत परात्परसमतुलित अव्यय ही बना हुआ है, जिसका चतुर्विध निष्ठाबुद्धियों से अभिन्न सम्बन्ध है।

(१)—परात्परसमतुलित–निष्कलाव्ययानुगत–ईश्वरीयगूढोत्मानुगता योगचतुष्टयी प्रथमा
(बुद्धियोगचतुष्टयी)

१

१—परात्परसमतोऽव्ययः—निष्कलः———वैराग्यबुद्धियोगानुगतः (सर्वम्)——— सिद्धान्तमूला-बुद्धिनिष्ठा

२—अव्ययसमतोऽव्ययः——आनन्दविज्ञानमयः—ज्ञानबुद्धियोगानुगतः (मन)—ज्ञानयोगात्मक (संयोगिता सांख्यनिष्ठा)

३—अक्षरसमतोऽव्ययः——मनःप्राणवाङ्मयः—ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगतः (प्राणः)—विज्ञानात्मक (सं भक्तिनिष्ठा)

४—आत्मक्षरसमतोऽव्ययः——वागपोऽग्निमयः——धर्म्मबुद्धियोगानुगतः (वाक्)—प्रज्ञाकर्म्मयोगमयी (सं कर्म्मनिष्ठा)

१०—ज्ञानयोगप्रतिष्ठाभूमि (२)—

(१) जिस प्रकार अव्यय पारिभाषिक दृष्टि से दैविक आत्मिक-भौतिक-समष्टिरूप 'सर्वम्' है, एवमेव मन-प्राणवाङ्मय कर्म्माव्ययगर्भित अक्षर 'आधिदैविक' तत्त्व है। इस अव्ययात्मक अक्षर की भी चार ही संस्थाएँ हैं। मनःप्राणवाङ्मय अव्ययानुगत समष्टिलक्षण अक्षर 'सर्वम्' की प्रतिष्ठा से युक्त बनता हुआ मनःप्राणवाङ्मय है। इसी समष्टि अक्षर को सर्वज्ञ (ज्ञानमय), सर्वशक्ति (क्रियामय) सर्ववित् (अर्थमय) माना गया है। इसी सर्वमूर्त्ति समष्ट्यक्षर से प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म ज्योतिर्लक्षण नामरूप, एवं यज्ञलक्षण कर्म इन तीन भावों

से युक्त सृष्टिसर्जन हुआ है X। मनःप्राणवाङ्मय अतएव सर्वरूप यही अव्ययाक्षर ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग की प्रतिष्ठा बनता है। मनोमय, व्यष्टिलक्षण अक्षर मनोमय अव्यय से अनुगृहीत रहता हुआ आधिदैविक है। तदनुगत योग आधिदैविक साध्यसाधनत्वेन ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग है। प्राणमय व्यष्टिलक्षण अक्षर प्राणमय अक्षरप्रधान बनता हुआ मध्यस्थ होने से पूर्वस्थानीय मनोमय अव्यय के आधिदैविक धर्म से, परस्थानीय क्षर के आधिभौतिक धर्म से दोनों से आक्रान्त रहता हुआ आधिदैविकाधिभौतिकोभयमूर्ति है। अतएव यह उभय-भावानुगत ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग की प्रतिष्ठा है। वाङ्मय व्यष्टिलक्षण अक्षर वाङ्मय आत्मक्षर बनता हुआ आधिभौतिक है। तदनुगत योग आधिभौतिक साध्य-साधनत्वेन ज्ञानयोगात्मक कर्मयोग है। चारों योगों में प्रधान तत्त्व अव्ययात्मक अक्षर है इसलिए तो चारों ज्ञानयोग हैं। साथ ही चारों क्रमशः सर्व, देव देवभूत, भूत लक्षण अव्यय-अव्ययानुगत अक्षर-अक्षर-क्षरात्मक बनते हुए बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग हैं। इसप्रकार अव्ययानुगत आधिदैविक अक्षरलक्षण से ज्ञानयोगचतुष्टयी प्रतिष्ठित है जिस चतुष्टयी का सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग ही शास्त्रीय ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) माना गया है—जिसका संतोषितरूप ही ज्ञानबुद्धियोग है।

(२)—अव्ययसमतुलित-कर्माव्ययानुगत-त्रैगुणोत्पन्नानुगता योगचतुष्टयी द्वितीया—

(ज्ञानयोगचतुष्टयी)

२	१—अव्ययात्मकोऽक्षरः—कर्माव्ययात्मकोऽक्षरः	(सर्वम्)—ज्ञानयोगात्मकः बुद्धियोगः		—सांख्यनिष्ठा
	२ मनोमयोऽक्षरः——मनोमयाव्ययात्मकोऽक्षरः	(दैवम्)— "	ज्ञानयोगः	—व्यवहारनिष्ठात्रयी
	३—प्राणमयोऽक्षरः——प्राणमयाव्ययात्मकोऽक्षरः	(उभय)—	भक्तियोगः	
	४—वाङ्मयोऽक्षरः——वाङ्मयाव्ययात्मकोऽक्षरः	(भौतिकः)	कर्मयोगः	

—o o—

२१—भक्तियोगप्रतिष्ठाभूमि—(३)

(१) परिमाणात्मिका अक्षरगर्भित आत्मक्षर दैविक एवं भौतिक है। अतएव इन भक्तियोगानुगत माना जा सकता है। इसके भी अवान्तर चार ही भाग हो जाते हैं। मनःप्राणवाङ्मय अक्षरानुगत वाक्-आप-अग्नि-मूर्ति समष्टिलक्षण आत्मक्षर 'सम' भाव में युक्त बनता हुआ भक्तियोगात्मक बुद्धियोग का साध्य है। मनोमय अक्षरानुगत व्यष्टिलक्षण वागरूप आत्मक्षर आधिदैविक-मनस्त्वेन भक्तियोगात्मक ज्ञानयोग का साध्य बन रहा है। प्राणमय-अक्षरानुगत व्यष्टिलक्षण आपोरूप मध्यस्थ आत्मक्षर पूर्वस्थानीय वागनुगत दैविक आत्मक्षर से परस्थानीय अग्न्यनुगत भौतिक आत्मक्षर से उभयात्मक बनता हुआ भक्तियोगात्मक भक्तियोग का साध्य बन रहा है। एवं वाङ्मय अक्षरानुगत व्यष्टिलक्षण अग्निरूप आत्मक्षर आधिभौतिकत्वेन भक्तियोगात्मक कर्मयोग का साध्य बना हुआ है। अक्षरात्मक क्षरधर्मत्वेन यह भागचतुष्टयी जहाँ अक्षरानुगत दैविक क्षरानुगत भौतिक-भेदेन उभयधर्माक्रान्ता बनती हुई भक्तियोगचतुष्टयी कहला रही है वहाँ समष्टि व्यष्टि-भावानुगत तत्र दैविक

X—यः सर्वज्ञः सर्ववित्—यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म—नामरूप—मन्नं च जायते ॥

—मुण्डकोपनिषत् १।१।९

उभय, भौतिक–भावानुगति से इस भक्तियोगचतुष्टयी के चारों योग क्रमशः बुद्धि–ज्ञान–भक्ति–कर्म्मयोग–नामों से व्यवहृत हो रहे हैं। चारों में से सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक भक्तियोग ही शास्त्रीय भक्तियोग (उभयनिष्ठा) माना गया है जिसका संक्षिप्तस्वरूप 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' है।

(३)–अक्षरसमतुलित–अव्यक्तगर्भित–महानात्मानुगता योगचतुष्टयी तृतीया–

३
(भक्तियोगचतुष्टयी)

१–मनोरूपः क्षरः–अव्ययाक्षरात्मकः–आत्मक्षरः(सर्वम्)–भक्तियोगात्मको बुद्धियोगः			} उभयनिष्ठा
–वाग्रूपः क्षरः–मनोमयाक्षरात्मकः–आत्मक्षरः(दैविकः)	,,	ज्ञानयोगः	} व्यवहार–निष्ठात्रयी
३–आपोरूपः क्षरः–प्राणमयाक्षरात्मकः–आत्मक्षरः(उभयः)	,,	भक्तियोगः	
४ अग्निरूपः क्षरः–वाङ्मयाक्षरात्मकः–आत्मक्षरः(भौतिकः)	,,	कर्म्मयोगः	

—❀—

२२–कर्म्मयोगप्रतिष्ठाभूमि—(४)

(४) आत्मक्षरगर्भित विकारक्षर भौतिक तत्त्व है। अतएव इसे कर्म्मयोगानुगत माना जायगा। एवं इसके भी अवान्तर चार ही विवर्त्त माने जायँगे। वाक्–आप–अग्नि–रूप आत्मक्षर से अनुगत वाक्–आप–अग्निमय क्रमविकसित विकारक्षर सर्वात्मक बनता हुआ कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग का साक्ष्य है। वाग्रूप आत्मक्षरानुगत–व्यष्टिलक्षण वाङ्मय विकारक्षर आधिदैविकत्वेन कर्म्मयोगात्मक ज्ञानयोग का साक्ष्य है। आपोरूप आत्मक्षरानुगत व्यष्टिलक्षण–आपोमय विकारक्षर पूर्वस्थानीय वागनुगत दैविक से परस्थानीय अग्न्यनुगत भौतिक से उभयात्मक बनता हुआ कर्म्मयोगात्मक भक्तियोग का साक्ष्य माना गया है। एवं अग्निरूप आत्मक्षरानुगत–व्यष्टिलक्षण–अग्निमय विकारक्षर आधिभौतिकत्वेन कर्म्मयोगात्मक कर्म्मयोग का साक्ष्य माना गया है। आत्मक्षरलक्षण विकारक्षरमूल से यह योगचतुष्टयी यहाँ आत्मक्षरानुगत भौतिक, विकारक्षरानुगत भौतिकत्वेन कर्म्मयोगचतुष्टयी कहला रही है यहाँ समष्टि व्यष्टि–भावानुगति से इसके अवान्तर चार योग क्रमशः बुद्धि ज्ञान–भक्ति–कर्म्म योग नामों से व्यवहृत हो रहे हैं। चारों में से सर्वानुगत बुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग ही (वैदिक आत्मकर्म्मयोग ही) शास्त्रीय योगनिष्ठा मानी गई है जिसका संक्षिप्तरूप कर्म्मबुद्धियोग माना गया है।

(४) आत्मक्षरसमतुलित–विज्ञानात्मगर्भित–प्रज्ञानात्मानुगता योगचतुष्टयी चतुर्थी–

४
(कर्म्मयोगचतुष्टयी)

१–सर्वमयो विकारक्षरः–आत्मक्षरात्मकः (सर्वम्) कर्म्मयोगात्मको बुद्धियोगः			} योगनिष्ठा
२–वाङ्मयो विकारक्षरः–वागात्मक्षरात्मकः (दैवः)	,,	ज्ञानयोगः	} च्युतनिष्ठात्रयी
३–आपोमयो विकारक्षरः–आपोरूपक्षरात्मकः(उभयः)	,,	भक्तियोगः	
४–अग्निमयो विकारक्षरः–अग्निरूपक्षरात्मकः(भौतिकः)	,,	कर्म्मयोगः	

—❀—

२३–मनःप्राणवाक् का त्रिवृद्भाव, और आत्मसंस्था-विभाजन—

उक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति और उपस्थित की जा सकती है। वर्गीकरण काल्पनिक है अथवा प्रामाणिक ? । निराकरण इसलिए कठिन हो रहा है कि, विज्ञानदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला एवंविध वर्गीकरण आज शास्त्रज्ञ विद्वानों के लिए भी एक जटिल समस्या बन सकता है। कारण-जिन पारिभाषिक-विज्ञानानुगत-वैदिकतत्त्व के आधार पर वर्गीकरण प्रतिष्ठित है वह तत्त्ववाद आज सर्वथा विलुप्त है। फिर भी परितोष के लिए इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना समीचीन प्रतीत होता है। 'प्रजा वै त्रिवृत्' (तस्त्रमहद्मा २।१६।४१) इस अनुगमश्रुति के अनुसार प्रजापतिलक्षण आत्मब्रह्म त्रिवृत् माना गया है। 'तीन संस्था का विभाजन' ही त्रिवृद्भाव है। 'आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्' (शत १४।४।३।१) के अनुसार सृष्टि से पूर्व एकाकी रहने वाला आत्मब्रह्म सृष्टिदशा में त्रिपर्वा बन जाता है। आत्मतत्त्व के वे तीनों पर्व क्रमशः 'ज्ञान, क्रिया अर्थ' इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। तीनों शक्तिपुञ्जों के क्रमशः 'मन प्राण वाक्' ये तीन नाम रख लिए गए हैं जैसाकि 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः' (बृ उपनिषत्) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। तीनों नाम अनुगमभावापन्न हैं। अतएव ज्ञानप्रधान अव्ययात्मा तत्त्व मनो नाम से क्रियाप्रधान अक्षरात्मा तत्त्व प्राण नाम से एवं अर्थप्रधान क्षरात्मा तत्त्व वाक् नाम से व्यवहृत हुए हैं। 'आत्मब्रह्म' के इन तीन पर्वों का त्रिपर्वत्व ही त्रिवृत्-शब्दार्थ है जिसका पर्यवसान ९ संख्या पर विश्रान्त है। इस परिभाषा को लक्ष्य बना कर ही उक्त वर्गीकरण की प्रामाणिकता का समन्वय कीजिए।

महामायावच्छिन्न निष्कल अव्यय सृष्टि से पूर्वावस्था में स्थित एक आत्मब्रह्म है जैसाकि-'तत्त्मस्त्रा-ज्ज्यम परः किञ्चनास' इत्यादि श्रुतवचन से प्रमाणित है। इस एक का योगमाया के सम्बन्ध से त्रिधा व्याकरण हुआ, एक तीन विभक्त भावों में परिणत हुआ। वे ही आरम्भ के तीनों रूप क्रमशः आनन्द विज्ञान मन नाम से व्यवहृत हुए, जिन्हें क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ-प्रधान होने से हम मन-प्राण-वाक् नामों से व्यवहृत करेंगे। यही आत्मब्रह्म का पहिला मनःप्राणवाङ्मय रूप माना जायगा। मनोरूप वाक्-नामक तीसरे पर्व का पुन त्रिधा व्याकरण हुआ, वाक्स्थानीय मन तीन भावों में परिणत हो गया यही आत्मब्रह्म का दूसरा मनःप्राण वाङ्मय रूप माना गया। वाक् नामक तीसरे पर्व का पुनः व्याकरण हुआ शब्दतत्त्व वाक्-आप-अग्नि-रूप से तीन भागों में विभक्त हो गया जिसे पूर्वपरिभाषानुसार हम मन-प्राण-वाक् नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। इसप्रकार एक ही निष्कल अव्ययब्रह्म रसबलविधि के तारतम्य से तीन विभक्त भावों में परिणत होता हुआ मनःप्राणवाङ्मय ज्ञानक्रियार्थभावों के स्वाभाविक त्रिवृत्करण से ९ भावों में परिणत हो गया यो त्रिवृद्भाव-'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि (छां०उप ६।३।३) इत्यादि श्रुतिरहस्यज्ञ विद्वानों के लिए सब का परिज्ञात ही माना जायगा।

एक तत्त्व सर्वप्रथम तीन वर्णों का प्रवर्तक बना तीनों को उत्पन्न कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्तानुसार उन तीनों वर्णों में प्रविष्ट होगया। तीनों वर्ण उसका शरीर कहलाया वह स्वयं इस शरीरगुहा में प्रविष्ट आत्मा कहलाया-'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'। आत्मा और शरीर दोनों की समष्टि ही आत्मन्वी प्रजापति नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसका तुरीय आत्मपर्व अमृतमात्रा कहलाई, शेष तीनों पर्व 'त्रिस्रो

मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता' के अनुसार मृत्युमात्रा कहलाई। शरीरस्थानीया तीनों मात्राएँ क्रमशः कारणशरीर-सूक्ष्मशरीर-स्थूलशरीर बनी। आत्मतत्त्व सर्वान्तरतम बनता हुआ गूढोत्मा कहलाया। और यहाँ आकर 'तस्य पादाः प्रजाः' का योगारूढार्थ चरितार्थ हुआ। समष्टि एक पर्व, व्यष्टि तीन पर्व चार पर्व हो गए। क्योंकि समष्टि व्यापकशरीरा है, अतएव उसे स्वतन्त्र न मान कर श्रुति ने 'एकः सन् त्रेधा प्रथम्' सिद्धान्त स्थापित कर दिया। यदि वस्तुगत्या पर्वान्वेषण किया जायगा तो एक मूल तीन तूल पर्व, इसप्रकार प्रत्येक प्राजापत्यसंस्था के चार विभाग मानने पड़ेंगे। इसी आधार पर श्रुति का 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ। पूर्व पूर्व प्रजापति समष्टिरूप से उत्तरोत्तर की प्राजापत्यसंस्था का मूल आत्मा बनता है जैसा कि-'तस्यैष एव शारीर आत्मा-यः पूर्वस्य' (तैत्तिरीयोपनिषत्) इत्यादि से स्पष्ट है। इस क्रम से तीन प्राजापत्य संस्थाएँ होनी चाहिएं थीं, परन्तु व्याप्तिविशेष से चार संख्या होजाती हैं।

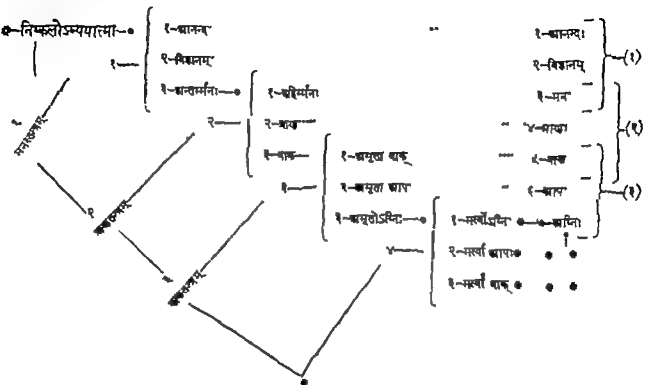
वाक्-आप-अग्नि-समष्टि 'शुक्र' है। यह अमृत-मर्त्य भेद से द्विधा विभक्त माना गया है। शुक्र-सृष्टि का स्वरूप है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य, तीनों क्रमशः अमृत-वाक्, आपः, अग्निरूप हैं। एवं अथाऽऽपोऽग्निमय सूर्य्य चन्द्रमा, पृथिवी, तीनों क्रमशः मर्त्य-अग्नि, आपः, वाक् हैं। यही विश्व का स्वरूप है। सूर्य्य मध्यस्थ रहने से उभयात्मक है-'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च'। इसप्रकार अमृतशुक्रत्रयी, मर्त्यशुक्रत्रयी, भेद से वाक्- आपः अग्नि-पर्वभेदात्मिका तृतीय संस्था के दो विवर्त हो जाते हैं। अतएव तीन के चार विवर्त होजाते हैं। यहाँ भी 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' अनुगमवचन समन्वित होरहा है। 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार यह एक निष्कल ही इस सर्वरूप में परिणत होरहा है। यही निष्कलात्मप्रजानुगता प्रथमा प्राजापत्यसंस्था की सर्वसमता है, पूर्णता है जिसके सम्बन्ध से पुष्टियोग सर्वात्मक बना हुआ है। चारों संस्थाएँ क्रमशः अमृत, ब्रह्म, देव भूत-नामात्मा बनती हुई क्रमशः मुक्ति-ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग-चतुष्टयी की प्रतिष्ठा बन रही हैं। अमृतात्मा निष्कल अव्ययप्रधान है। इसके चारों पर्व क्रमशः निष्कल अव्यय आनन्द विज्ञान मन हैं। ब्रह्मात्मा अक्षरात्मगर्भित अक्षरप्रधान है। इसके चारों पर्व अव्यय मन प्राण वाक् हैं। देवात्मा अक्षरगर्भित आत्मक्षरप्रधान है। इसके चारों पर्व अक्षर, अमृता वाक्, अमृता आपः अमृताग्नि हैं। भूतात्मा आत्मक्षरगर्भित विकारक्षरप्रधान है। इसके चारों पर्व आत्मक्षर, मर्त्या वाक् मर्त्या आपः मर्त्य अग्नि हैं। निष्कलात्मप्रजानुगत अमृतात्मा निरुपाधिक गूढोत्मा है अक्षरात्मगर्भित अक्षरानुगत ब्रह्मात्मा विश्वगूढोत्मा है अक्षरगर्भित आत्मक्षरानुगत देवात्मा अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मा है। आत्मक्षरगर्भित विकारक्षरानुगत भूतात्मा विज्ञानात्मरूपविशिष्ट प्रज्ञानात्मा है। इसप्रकार पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित आठों आत्मपर्वों में से चार आत्मपर्वों का भी इसी विभागचतुष्टयी में अन्तर्भाव होजाता है। केवल वैकारिक अव्यक्तात्मसंस्था शेष रहती है जिसे स्वतन्त्र प्रजापति नहीं माना जासकता। जिस प्रकार त्रिलोकातीत परात्पर केवल 'अग्नेः परं' होने से प्रजापति नहीं है एवमेव सर्वान्तिमभूत वैकारिकाग्नि केवल 'शरीर' तत्त्व होने से प्रजापति नहीं माना जासकता। यही वह नवीन दृष्टिकोण है जिसके सम्यक्-मनन से पूर्वापरविरोध स्वतः एव उपशान्त होजाता है। परिलेखों पर दृष्टि डालिए, और उनके द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण का समन्वय कीजिए।

(१)–परात्परसमतुलितस्य–निष्कलाव्ययपुरुषस्य–त्रिपुराभावपरिलेखः

* –महामायावच्छिन्नो निष्कलोऽव्ययपुरुषः (श्वोवसीयसं ब्रह्म-मनः) तस्यैते विवर्तमात्रा

१	१	१	आनन्दः	ज्ञानघनत्वात्-मनः	आनन्दघनं-मनः	मनः-मनोमयम्	शरीरं–'मनस्सत्यम्' मनःशिवज्ञानानुगतम्	१
	२	२	विज्ञानम्	क्रियाघनत्वात्-प्राणः	विज्ञानघन-मनः	प्राणः-मनोमयः		
	३	३	अन्तर्मनः	अर्थघनत्वात्-वाक्	अन्तर्म्मनोघनं मनः	वाक्-मनोमयी		
२	४	१	बहिर्मनः	ज्ञानमयत्वात्-मनः	बहिर्म्मनोमयः प्राणः	मनः-प्राणमयम्	शरीरं–'प्राणसत्यम्' प्राणस्य शिवज्ञानानुगतम्	२
	५	२	प्राणः	क्रियामयत्वात्-प्राणः	प्राणमयः प्राणः	प्राणः प्राणमयः		
	६	३	वाक्	अर्थमयत्वात् वाक्	वाङ्मयः-प्राणः	वाक्-प्राणमयी		
३	७	१	अमृता वाक्	ज्ञानानुगतत्वात्-मनः	वाग्रूपा-वाक्	मनः-वाङ्मयम्	शरीरं–'वाक्सत्यम्' वाक्शिवज्ञानानुगतम्	३
	८	२	अमृता आपः	क्रियानुगतत्वात्-प्राणः	आपोरूपा-वाक्	प्राणः-वाङ्मयः		
	९	३	अमृतोऽग्निः	अर्थानुगतत्वात्-वाक्	अग्निरूपा-वाक्	वाक्-वाङ्मयी		
*	*	१	मर्त्योऽग्निः	ज्ञानसहकृतत्वात्-मनः	वाङ्मयी-वाक्	*	*	४
	*	२	मर्त्या आपः	क्रियासहकृतत्वात्-प्राणः	आपोमयी-वाक्	*		
	*	३	मर्त्या वाक्	अर्थसहकृतत्वात्-वाक्	वाङ्मयी-वाक्	*		

(१)—परात्परसमतुलितस्य निष्कलाव्ययस्य विवर्तमानानां शिवत्करणप्रक्रियाप्रदर्शनपरिलेखः—ग्रन्थिबन्धनपरिलेखो वा



(३)—सृष्टानुप्रविष्टमात्मानुगतप्रजापतिपर्वचतुष्टयी-प्रदर्शनपरिलेखः—

१	० निष्कलोऽव्ययपुरुषः—आत्मा		सर्वात्मकः	—प्रविष्टात्मा—आत्मा १	१ —आत्मन्वी—प्रजापतिः
	१—आनन्दात्मा	—कारणशरीरम्	मनोमयम्		
	२—विज्ञानात्मा	—सूक्ष्मशरीरम्	प्राणमयम्	—सत्यात्मा—शरीरम् २	
	३—मनआत्मा	—स्थूलशरीरम्	वाङ्मयम्		
२	०—प्रथमः—आत्मन्वीप्रजापतिः—आत्मा		सर्वात्मकः	—प्रविष्टात्मा—आत्मा १	२ —आत्मन्वी—प्रजापतिः
	१—मनोमयात्मा	—कारणम्	मनोमयम्		
	२—प्राणमयात्मा	—सूक्ष्मम्	प्राणमयम्	—सत्यात्मा—शरीरम् ३	
	३—वाङ्मयात्मा	—स्थूलम्	वाङ्मयम्		
३	०—द्वितीयः—आत्मन्वीप्र०—आत्मा		सर्वात्मकः	—प्रविष्टात्मा—आत्मा १	३ —आत्मन्वी—प्रजापतिः
	१—अमृतवाङ्मयात्मा	—कारणम्	मनोमयम्		
	२—अमृतापोमयात्मा	—सूक्ष्मम्	प्राणमयम्	—सत्यात्मा—शरीरम् ३	
	३—अमृताग्निमयात्मा	—स्थूलम्०	वाङ्मयम्		
४	०—तृतीयः—आत्मन्वीप्र०—आत्मा		सर्वात्मकः	—प्रविष्टात्मा—आत्मा १	४ —आत्मन्वी—प्रजापतिः
	१—मर्त्याग्निमयात्मा	—कारणम्	मनोमयम्		
	२—मर्त्यापोमयात्मा	—सूक्ष्मम्	प्राणमयम्	—सत्यात्मा—शरीरम् ३	
	३—मर्त्यवाङ्मयात्मा	—स्थूलम्	वाङ्मयम्		

२४–शब्दपर्य्यायसम्बन्ध की अवैज्ञानिकता—

वेदशास्त्र के उपनिषद्भाग में अध्यात्म एवं तदुपकारक जो बुद्धियोग उपनिषदों की स्वाभाविकी दीक्षित–गम्भीरार्थ–गर्भिता भाषा के कारण सर्वसाधारण के लिए अज्ञात बना रहा जिस योग का अध्यात्मयोग के पूर्णावतार अव्यक्त ईश्वर (श्रीकृष्ण) ने समाविष्ट होकर अर्जुन के प्रति उपदेश किया, उस बुद्धियोग का स्वरूप यदि आज भी सर्वसाधारण के लिए अज्ञात बना रहे, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है । जैसाकि, आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है जबकि कोई भी योग–चाहे वह लौकिक हो, अथवा शास्त्रीय, विज्ञानाध्यात्मरिष्ठ प्रज्ञानानुगत इन्द्रियव्यापारयोग की अपेक्षा रखता हुआ परम्परया बुद्धियोगसम्पत्ति से वञ्चित नहीं है तो ऐसी दशा में गीता ने क्या पुरुषार्थ किया ?, इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व हमारे लिए जिज्ञास्य बन जाता है । प्रासङ्गिक अन्यान्य विप्रतिपत्तियों के निराकरण के अनन्तर उसी मुख्य प्रतिपाद्य बुद्धितत्त्व की ओर बुद्धिप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

'बुद्धियोग' शब्द के 'बुद्धि'–'योग' ये दो विभाग हैं । पहिले क्रमप्राप्त 'बुद्धि' शब्द का तात्त्विक अन्वेषण कीजिए, अनन्तर 'योग' शब्द का । संस्कृतवाङ्मय में 'बुद्धि' तत्त्व के सम्बन्ध में "बुद्धि–मनीषा–धिषणा–धी–प्रज्ञा–शेमुषी–मति–प्रेक्षा–उपलब्धि–चित्–संवित्–प्रतिपत्–ज्ञप्ति–चेतना–विज्ञान–" इत्यादि शब्द उपलब्ध होते हैं । साम्प्रदायिक कोषपथानुगामी भारतीय विद्वानों की दृष्टि में ये सब शब्द अभिन्नार्थक (एक ही अर्थ के) वाचक बनते हुए परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय हैं । यही कारण है कि वर्त्तमान संस्कृत–भाष्य व्याख्या, निबन्धों में बुद्धितत्त्व के लिए उक्त शब्दों में से किसी भी शब्द का प्रयोग उपलब्ध हो रहा है । किसी सीमापर्य्यन्त यह पर्य्याय सम्बन्ध मान्य कहा जा सकता है । परन्तु निश्चयपूर्वक हमें कहना यही है कि, प्रत्येक शब्द भिन्नार्थ का ही वाचक है । प्रत्येक शब्द का अर्थस्वाभाव्य–अक्षरसंघटन–आदि सर्वथा एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न है जो यह स्पष्ट ही यह प्रमाणित करने के लिए पर्य्याप्त हेतु है कि, परस्पर भिन्नाकार शब्द कभी समानार्थक नहीं बन सकते । उदाहरण के लिए लौकिक वाक्यों पर ही दृष्टि डालिए । 'आइए'–'आओ'–'पधारिए'–पधारिए शब्दों का तात्पर्य्य है चलने से । चलनार्थक सब शब्दों का समान अर्थ है और इस सीमा पर्य्यन्त इन शब्दों को अभिन्नार्थक कहा भी जा सकता है । इस सीमाबद्ध समानार्थकता के रहते पर भी सब शब्द विभिन्न उद्देश्य बना रहे हैं । सब के लिए अविशेषरूप से इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता । अपने सेवकवर्ग के लिए 'आओरे' नियत है । अपने से निम्नाधिकार में प्रतिष्ठित शिष्य, पुत्रादि के लिए 'आओ' नियत है । समान योग्यता वालों के लिए 'आइए' नियत है । एवं मित्र–मान्य–वर्ग के लिए 'पधारिए' शब्द नियत है । क्या 'पधारिए' के स्थान में 'आइए' कहना शिष्टता होगी ? । क्या इस क्षेत्र में 'आओ'–'आओरे' शब्दों का प्रयोग किया जा सकेगा ? । क्या सेवक पुत्रादि को 'आइए' 'पधारिए' शब्दों से सम्बोधित करना मर्य्यादानुकूल माना जायगा ? । नहीं । इसीलिए कहना और मानना पड़ेगा कि, शब्दों का परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध तत्त्वतः असङ्गत है । संस्कृतभाषा के शब्दों की उदाहरण बनाइए । 'स्वयम्भू–परमेष्ठी–हिरण्यगर्भ–पद्मभू–निधन' आदि शब्द वेदशास्त्र-प्रसिद्ध-लक्षण ब्रह्मतत्त्व (ब्रह्मा) के लिए नियत हैं । सब शब्दों में सामान्यरूप से व्याप्त ब्रह्मतत्त्व–दृष्टि से किसी सीमा पर्य्यन्त इन्हें अभिन्नार्थक माना जा सकता है । परन्तु आपोमयपरमेष्ठ्यात्मक वारुणमय ब्रह्म, वायुमयस्वरूपात्मक भार्गवमय विराट्, तेजोमयस्वरूपात्मक वाङ्मय विराट् अन्नमयस्वरूपात्मक अन्नमय विराट् एवं मृन्मयस्वरूपात्मक

२४–शब्दपर्य्यायसमन्वय की अवैज्ञानिकता—

वेदशास्त्र के उपनिषद्भाग में आम्नायाद ए
संक्षिप्त–गम्भीरार्थ–गर्भिता भाषा के कारण सर्वसाधार
पूर्णावतार साक्षात् ईश्वर (श्रीकृष्ण) ने समाधिग्य
स्वरूप यदि आज भी सर्वसाधारण के लिए अज्ञात
आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है–क्योंकि कोई
सम्यग्विचार प्रज्ञानानुगत इन्द्रियसहयोग की अपेक्षा
है तो ऐसी दशा में गीता ने क्या पुरुषार्थ किया
हमारे लिए जिज्ञास्य बन जाता है। प्रासङ्गिक
मुख्य प्रतिपाद्य बुद्धितत्त्व की ओर बुद्धियोगियों का

'बुद्धियोग' शब्द के 'बुद्धि'–'योग' के
अन्वेषण कीजिए, अनन्तर 'योग' शब्द ए
"बुद्धि–मनीषा–धिषणा–धी–मेधा–शेमुषी
भावना–विज्ञान–" इत्यादि शब्द उपलब्ध हो
में ये सब शब्द अभिन्नार्थ के (एक ही अर्थ के
कारण है कि वर्तमान संस्कृत–भाषा व्याख्या
शब्द का प्रयोग उपलब्ध हो रहा है। किसी
विज्ञानदृष्टि हमें बतला रही है कि, प्रत्येक शब्द
अक्षरसंघटन–आम्नायस्वरूप जब एक दूसरे से
लिए पर्याप्त हेतु है कि, परस्पर विभिन्न
लौकिक वाक्यों पर ही दृष्टि डालिए। 'भात
है। भक्तनार्थक इन वाक्यों का समान अर्थ है
स्पष्ट है। इस सीमाबद्ध समानार्थकता के
अभिन्नरूप से इनका प्रयोग नहीं किया जा
निम्नाधिकार में प्रतिष्ठित शिष्य, पुत्रादि के
नियत है। एवं शिष्ट–मान्य–वर्ग के लिए 'प
कहना शिष्टता होगी। क्या इस क्षेत्र में
पुत्रादि को 'खाइए' 'पधारिए' शब्दों से स
कहना और मानना पड़ेगा कि, शब्दों का
शब्दों की उदाहरण बनाए। 'स्वयम्भू–पर
तत्त्व महत्तत्त्व (ब्रह्मा) के लिए नियत
सीमा पर्यन्त इन्हें अभिन्नार्थक माना जा स
आलोचन किया वैज्ञानिकतात्मक वाङ्मय

अन्नादमय पिण्ड, इन स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भू–पिण्डों के केन्द्रानुगत ब्रह्मतत्त्वों के भेद से ही क्रमशः 'स्वयम्भू–परमेष्ठी–हिरण्यगर्भ–प्रथमभूः–निधन' शब्द नियत हैं । चन्द्रमा पर सृष्टिक्रम का अवसान है, अवसान का अधिष्ठाता 'यद्वायमोऽवसानं पृथिव्या'–'यमो वै अवसानस्येष्टे' इत्यादि मन्त्र–ब्राह्मण–श्रुतियों के अनुसार 'यम' है यही निधनलक्षणा मृत्यु का प्रवर्त्तक है । अतएव चान्द्र ब्रह्मतत्त्व 'निधन' कहलाया है । क्या सौर–पारमेष्ठ्यादि को भी 'निधन' कहा जा सकेगा ? । नहीं । वेदभाषा–शब्दों को उदाहरण बनाइए । वर्णाधिकारमर्य्यादानुसार स्वयं वेद ने भी लोकभाषागत आह्वानार्थक शब्दों में ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्रों के लिए क्रमशः 'एहि' (पधारिए)–'आगहि'–(आइए)–'आद्रव' (चलिए) 'आधाव' (दौड़–चल) ये शब्द मर्य्यादित करते हुए पर्य्याय सम्बन्ध की अवैज्ञानिकता घोषित की है * । इसी प्रकार 'स्वाहा–स्वधा–वौषट्' आदि वैदिक शब्द अन्नदान–समय में प्रयुक्त हुए हैं । तात्पर्य्य सबका यही है कि–'आप इस प्रदत्त अन्न का ग्रहण कीजिए' । इस सामान्य–अन्नप्रदान–दृष्टि से किसी सीमा पर्य्यन्त तीनों शब्दों को अभिन्नार्थक कहा जा सकता है । परन्तु तत्त्वतः तीनों शब्द क्रमशः आग्नेय देवदेवता पितर, तथा इन्द्र के लिए ही नियत हैं । कभी इनमें पर्य्याय सम्बन्ध का समावेश नहीं किया जा सकता ।

एवमेव मघवा मरुत्वान् वासव, वृत्रहा, आदि शब्द इन्द्रार्थक माने गए हैं । गतिसामान्यधर्म्म व्याप्ति से इस सीमापर्य्यन्त ये इन्द्रार्थक शब्द परस्पर अभिन्नार्थ के समर्थक बनते हुए भी तत्त्वतया परस्पर सर्वथा विभिन्न अर्थों में ही नियत हैं । सौर आहवनीयाग्निमय ज्योतिर्घन इन्द्र को ही 'मघवा' कहा जायगा । आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्निमय ज्योतिर्लक्षण वायव्येन्द्र को ही 'मरुत्वान्' माना जायगा । पार्थिव गार्हपत्याग्निमय रूपज्योतिर्लक्षण वस्वग्निरूप इन्द्र को ही 'वासव' नाम से व्यवहृत किया जायगा एवं परज्योतिर्मय चान्द्र इन्द्र को ही 'वृत्रहा' कहा जायगा । इसप्रकार विज्ञानानुगता तत्त्वदृष्टि के अनुसार प्रत्येक शब्द विभिन्नार्थ का ही वाचक माना जायगा । इस दृष्टि का निष्कर्ष यही निकलता है कि, "एक शब्द एक ही अर्थ का वाचक है प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र अर्थ रखता है" । फलतः अनुगमभाषात्मक शब्दों को छोड़ कर निगमभाषात्मक एक एक शब्द के अनेक अर्थ लगा लेना साथ ही इन शब्दों का परस्पर पर्य्याय–सम्बन्ध मान बैठना सर्वथा विज्ञानविरुद्ध है । 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः–शब्दाःपुनरस्य पाणिने' उक्ति का सामान्यधर्म्मानुगता समानव्याप्ति के आधार पर समन्वय हो जाता है । शब्द का अर्थ के साथ उत्पन्नस्थ सम्बन्ध नहीं, अपितु उत्पत्तिस्थ (औत्पत्तिक) सम्बन्ध है नित्य सम्बन्ध है । 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' उक्ति केवल इस नित्य सम्बन्ध में ही उपयुक्त है । उपाधि का सम्बन्ध ही आगे जाकर इस विभिन्न शब्द एवं तदनुगत विभिन्नार्थ का विभाजक बन जाता है जिस औपाधिक भेद को 'अवस्थाभेद' कहा गया है । यही अवस्थाभेद शब्दार्थविभिन्नता की प्रतिष्ठा बनता है । अन्न और मल एक ही अन्न की दो विभिन्नावस्थाएँ हैं । अतएव अन्न और मल दोनों शब्द विभिन्नार्थों में नियत हैं । एक ही ब्रह्म अवस्थाभेद से नानातत्त्वों में परिणत हो रहा है । अवश्य ही मीमांसानुशासन में यह अवस्थाभेद सर्वथा मान्य है । नहीं तो मन ही बुद्धि क्यों न मान ली जाय ?, बुद्धि को मन का पर्य्याय क्यों नहीं कर दिया जाय ? ।

*–"तानि वा एतानि चत्वारि वाचः–'एहि' इति ब्राह्मणस्य, 'आगहि' इति राजन्यबन्धो' (क्षत्रियस्य), 'आद्रव' इति वैश्यस्य, 'आधाव' इति शूद्रस्य" ।

—शत० ब्रा० १।१।४।१२। ।

'गीताशास्त्र' शास्त्रमात्र में पाठक इस तत्त्वानुगत अवस्थाभेदनिबन्धना शब्दार्थविभिन्नता की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में हम तो यह कहने में भी कोई संकोच नहीं कर रहे कि, इस शब्दार्थ विभिन्नता की उपेक्षा करने से ही भारतीय शास्त्र का तत्त्ववाद विलुप्त हुआ है। इसी पर्यायभ्रान्ति में पड़ कर व्याख्याताओं ने परात्पर-अव्यय-अक्षर-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-आदि सर्वथा विभक्त तत्त्वों को अभिन्न मान लिया है। इसी भ्रान्ति के अनुग्रह से 'व्यवस्थया हि पाण्डित्यम्' की उपेक्षा हुई है। अतएव आज आत्मस्वरूपानुगत ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता-भूतादि लक्षण विविध तत्त्ववाद स्वरूपनिवृत्ति के स्थान में स्वरूपप्रवृत्ति का कारण बना हुआ है। प्रकृत में हमें बुद्धितत्त्वानुगत पूर्वोक्त बुद्धि-मनीषा-आदि शब्दों की विभिन्नार्थकता के विश्लेषणद्वारा यही प्रमाणित करना है कि, उक्त स्थानीय बुद्धितत्त्व के सर्वे स्थानीय मनीषा-धिषणा-आदि तत्त्वों में समानरूप से अनुस्यूत रहने के कारण जहाँ इस सीमा पर्यन्त इन शब्दों को अभिन्नार्थक माना जा सकता है वहाँ तत्त्वानुगत अवस्थाभेद के द्वारा इन्हें विभिन्नार्थक ही माना जायगा जैसा कि आगे के निर्वचन प्रकरण से स्पष्ट है ❀।

❀ 'वाचं धेनु (विभेव मा ४।१।)—'वाच्यं प्रजापतिः' (शत ५।१।५।६।)—'तस्याथ वाचा वाचमन्यति वाङ्मया भवति' (को मा २।७।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियों के अनुसार मनःप्राणगर्भिता वैद्' लक्षणा वाक् ही आत्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति का मूलाधार है जिस इस सर्वमूला वाग्देवी के 'परा-पश्यन्ती मध्यमा-वैखरी' भेद से चार विवर्त माने गए हैं जिन चारों विवर्तों का—'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' इत्यादि मन्त्रब्रह्मण से व्यापक प्रकार से समन्वय हुआ है जैसा कि उपनिषद्भूमिका-तृतीयखण्ड में विस्तार से प्रतिपादित है। वाक् ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रधान परिचायिका है। वाक् के द्वारा ही वस्तु-पदार्थों के नामों तथा रूपों की व्याकृति व्यवस्थित हुई है। नाम-रूप-कर्मानुबन्धिनी वाक् ही प्रत्येक पदार्थ की स्वरूपविभाविका है। तत्स्वरूपात्मक की परिचायिका विभक्ता वाक् ही तत्तद्वस्तु का मौलिक इतिहास है, जिसे हम—'वाङ्मय शब्देतिहास' कह सकते हैं। प्रत्येक शब्द (नाम) का आविर्भाव तन्मूलभूता वाक् के वैज्ञानिक इतिहास को आधार बना कर ही हुआ है। अतएव प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र वाङ्मय इतिहास रखता है। इसी शब्देतिहास के आधार पर भारतीय शब्दव्यवहारसम्प्रदाय व्यवस्थित हुई है। जहाँ जिस इतिहास की अपेक्षा है वहाँ वह शब्द प्रयुक्त हुआ है। और यही भारतीय आर्षशास्त्र का शब्दविज्ञानसिद्ध वह महान् कौशल है जिसके अनुग्रह से आर्षशास्त्र (वेदशास्त्र) का प्रत्येक शब्द प्रकृतिसिद्ध नित्य विज्ञान तत्त्व का ही व्याख्याता बन रहा है। एक समय भाषा-अक्षर-अव्यय-आदि के विपर्यय से तत्तत्शब्देतिहास अभिभूत हो जाता है। एवं परिणामतः शब्देतिहास से च्युत तत्तच्छब्द अर्थ के स्थान में अनर्थ का कारण बन जाता है जैसा कि—'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' वा 'मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह' इत्यादि से स्पष्ट है। इसी वाक्शास्त्रीय प्रकरण के आधार पर भारतीय लोकव्यवहार व्यवस्थित हुई है। वाक्प्रयोगकौशल जहाँ लोकवैभव का मूलाधार है वहाँ वाक्प्रयोगवैचित्र्य-वाक्प्रमादात्मकता-आदि ही लोकवैभवविनिष्टि के प्रधान कारण हैं। शब्देतिहासविज्ञानशून्य मानव अनभिज्ञता-प्रमाद करता हुआ पदे पदे पराभूत ही होता रहता है। किस समय, किसके लिए, कैसे कहाँ क्यों, कब, क्या बोलना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान शब्दों के इतिहास पर ही अवलम्बित है जिसे जाने बिना मानव किसी भी लौकिक-पारलौकिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। दुःख है कि आर्षशास्त्र की विस्मृति के कारण आज भारतीय मानव का शब्देतिहासमूलक वाक्प्रयोग कौशल सर्वतोभावेन अभिभूत हो गया है जिसके दुष्परिणाम सर्वथा प्रत्यक्ष हैं।

२५–'बुद्धि' शब्दनिर्वचनोपक्रम (१)—

अवगमनार्थक 'बुध' ('बुध' अवगमने–दिवादि) धातु से–'स्त्रियां क्तिन्' (पा० सू० ३।३।९४) सूत्र से 'क्तिन्' प्रत्यय के द्वारा 'बुद्धि' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका निर्वचनार्थ है–'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः' (जिससे जाना जाता है, वह बुद्धि है)। अध्यात्मसंस्था में जो तत्त्व किसी नियत स्थान में प्रतिष्ठित हो कर स्वव्यापार से विषयों का ज्ञान प्राप्त करता रहता है वही तत्त्वविशेष विषय को अवगत करता हुआ जानता हुआ–'बुद्धि' नाम से व्यवहृत हुआ है। जिसप्रकार मन का मूलप्रभव चन्द्रमा माना गया है एवमेव बुद्धि का मूलप्रभव सूर्य्य माना गया है। अतएव आध्यात्मिक बुद्धितत्त्व की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा के लिए तत्प्रभवभूत आधिदैविक तत्त्व की मीमांसा का ही अनुगमन करना चाहिए।

२६–बुद्धिप्रवर्तक विश्वमध्यस्थ सूर्य्य—

ज्योतिश्चक्र (खगोल) विज्ञानानुसार सूर्य्य जहाँ विषुवद्वृत्त नामक बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, वहाँ वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार यही सूर्य्य विश्व का हृदय बना हुआ है, जैसाकि–'नैवोदेता नास्तमेता, एकल एव मध्ये स्थाता'(छां० उप० ३।११।१) 'बृहद् तस्थौ भुवनेष्वन्तः'* 'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति' 'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण श्रुतियों से प्रमाणित है। प्रत्यक्ष दृष्टि से भी यही प्रमाणित है। विश्व भूतप्रधान है। वे भूत, आकाश वायु तेज जल भूत, भेद से पाँच भागों में विभक्त हैं, एवं यही इनका स्थितिक्रम है। पाँचों में आकाश–वायु ऊर्ध्वभूत हैं जल-भूत् अधोभूत हैं तेज मध्यभूत है। आकाशानुगत–आकाशात्मा स्वयम्भू, वाय्वनुगत वाय्वात्मा परमेष्ठी, दोनों ऊर्ध्वस्थिति के कारण विश्वचर षोडशी-विश्वकर्म्मा के 'परमधाम' कहलाए हैं। तेजोऽनुगत–तेजोलक्षणात्मा सूर्य्य मध्यस्थिति के कारण 'मध्यमधाम' माना गया है। एवं जलानुगत जलात्मा चन्द्रमा, मृदनुगत मृदात्मा भूपिण्ड दोनों अधर्य गति के कारण 'अवमधाम' कहलाए हैं जैसाकि—'या ते धामानि परमाणि यावमा०' इत्यादि यजुर्मन्त्र से प्रमाणित है। स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टिरूप-परमधाम प्रकृतिभक्षा की दृष्टि से शान्त आपोमय है। चन्द्रमा-भूपिण्ड की समष्टिरूप अवमधाम अन्न–अन्नात्मक है। एवं सूर्य्यरूप मध्यमधाम आत्मरूप है। अव्ययलक्षण ज्ञानात्मा अमृतप्रधान है अमृतात्मा है। स्वयम्भू–परमेष्ठी इन दोनों परमधामों में इसी का प्राधान्य है अतएव इन्हें 'अमृतसंस्था' माना गया है। आत्मक्षरलक्षण भूतात्मा मृत्युप्रधान है, मर्त्यात्मा है। चन्द्रमा–भूपिण्ड इन दोनों अवमधामों में इसका प्राधान्य है अतएव इन्हें 'मर्त्यसंस्था' माना गया है। अक्षरलक्षण कर्म्मात्मा पूर्व स्थानीय अमृतात्मा से, तथा परस्थानीय मर्त्यात्मा से, दोनों से अनुगृहीत रहता हुआ उभयात्मा है अमृतमर्त्यात्मा है। अतएव इसे 'अमृतमर्त्यसंस्था' माना जा सकता है। तात्पर्य्य–स्व० पर० दोनों अव्ययानुगृहीत हैं सूर्य्य अक्षरानुगृहीत है चन्द्रमा–भूपिण्ड–दोनों क्षरानुगृहीत हैं। अव्ययात्मा मनःप्रधान है, अक्षरात्मा प्राणप्रधान है, क्षरात्मा वाक्प्रधान है। फलतः तदनुगत स्वयम्भू–परमेष्ठी मनःप्रधान हैं, सूर्य्य प्राणप्रधान है, चन्द्रमा-भूपिण्ड वाक्

---

*–प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे ।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश ॥

—ऋक्सं० ८।१०१।१४।

प्रधान है। तीनों क्रमशः ज्ञान क्रिया–अर्थ-तत्त्वों की मूलप्रतिष्ठा बने हुए हैं। ज्ञान अकर्तृत्वेन निर्व्यापार रहता हुआ यद्यपि स्वधर्म्म से असंसृष्ट है, अर्थ जडत्वेन सृष्टिकर्तृत्व में असमर्थ है। सृष्टिकर्तृत्व क्रियात्मक मध्यस्थ अक्षरानुगत सूर्य्य का ही प्रातिस्विक धर्म्म है। यही हिरण्यगर्भमूला सूर्य्यानुगता, इदम्प्रथानुगता सृष्टिप्रवृत्ति का मौलिक रहस्य है, जिसका हिरण्यगर्भविद्याप्रतिपादिका मुण्डकोपनिषत् में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। इस प्राकृतिक स्थितिस्थिति को लक्ष्य बना कर ही हमें बुद्धितत्त्व का समन्वय करना है।

१	१–स्वयम्भू (प्राणमय)–आकाशः	–परमधाम (अव्ययात्मा–ज्ञानात्मा)–मनोमय–ज्ञानप्रधानम्।
२	२–परमेष्ठी (आपोमय)–वायु	
३	१–सूर्य्यः (वाङ्मय)–तेज	–मध्यमधाम (अक्षरात्मा–कर्म्मात्मा) प्राणमय–क्रियाप्रधानम्।
४	१–चन्द्रमा (अन्नमय)–जलम्	–अवमधाम (क्षरात्मा–भूतात्मा)–वाङ्मय–अर्थप्रधानः।
५	२–भूपिण्डः (अन्नादमयः)–मृत्	

२७–परावराव्ययात्मक–सर्वात्मक अक्षर, और सूर्य्य—

अमृतसंस्थानुगत–अव्ययप्रधान–मनोमय–आत्मघनात्मक–ज्ञानलक्षण 'ब्रह्मतन्त्र' है। उभयसंस्थानुगत–अक्षरप्रधान–प्राणमय–तेजोलक्षणात्मक–क्रियालक्षण 'विष्णुतन्त्र' है। एवं मर्त्यसंस्थानुगत–क्षरप्रधान–वाङ्मय–घन–भूतात्मक–अर्थलक्षण 'शिवतन्त्र' है। ब्रह्मा ज्ञानपति हैं, विष्णु क्रियापति हैं, शिव भूतपति हैं। मध्यस्थ अक्षर अव्यय और क्षर से, मध्यस्थ प्राण मन और वाक् से, मध्यस्था क्रिया ज्ञान और अर्थ से, मध्यस्थ विष्णु ब्रह्मा और शिव से, मध्यस्थ तेज आकाशवायु, और जल-मृत् से, मध्यस्थ सूर्य्य स्वयम्भू–परमेष्ठी और चन्द्रमा–भूपिण्ड से अनुग्रहीत है। इसप्रकार मध्यस्थ सूर्य्य मध्यस्थ होने से सर्वात्मक बना हुआ है। सृष्टि होती है क्रिया से। परन्तु क्रिया केवल निमित्त बनती है। उपादान अर्थ बनता है, आलम्बन ज्ञान बनता है। मध्यस्थ सूर्य्य ऊर्ध्वस्थ ज्ञान से, अधोऽवस्थित अर्थ से ज्ञानक्रियार्थमय बनता हुआ सृष्टिकर्म्मानुबन्धी ज्ञान–क्रिया–अर्थरूप–आलम्बन–निमित्त–उपादान तीनों धर्म्मों से युक्त है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि, अर्थप्रधान 'अवर' (क्षरात्मा), ज्ञानप्रधान 'पर' (अव्ययात्मा) दोनों का इस क्रियाप्रधान और अक्षरात्मा में समन्वय है। अतएव श्रुति ने अक्षरब्रह्म से सब की प्राप्ति का समर्थन कर दिया है, जैसाकि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (परात्मा)—एतद्ध्येवाक्षरं परं (अव्ययात्मा) ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" ॥

—कठोपनिषत् ।१।२।१६

२८—त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः —

'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते' के अनुसार सर्वदेवमूर्ति मध्यस्थ सूर्य्य ही 'ईश्वर-जीव-जगत्' तीनों तन्त्रों का प्रवर्त्तक बनता है। यद्यपि तीनों ही तन्त्र-'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार पूर्णात्मक हैं, सर्वात्मक हैं, अव्ययाक्षरात्मक्षरात्मक हैं मनःप्राणवाङ्मय हैं पञ्चभूतात्मक हैं। तथापि तीनों में क्रमशः ईश्वरतन्त्र में मनोमय अव्यय, जीवतन्त्र में प्राणमय अक्षर, जगत्तन्त्र में वाङ्मय क्षर का ही प्राधान्य है। तीनों तन्त्र ही क्रमशः आधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–नामों से व्यवहृत हुए हैं। 'पर' नाम से प्रसिद्ध अव्यय, 'अवर' नाम से प्रसिद्ध क्षर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित होने से, अतएव पर-अवर, दोनों धर्म्मों से आक्रान्त रहता हुआ ही अक्षरात्मा 'परावर' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस परावर के ज्ञान से वास्तव में सब कुछ गतार्थ है *। क्षराक्षरगर्भित अव्ययप्रधान ईश्वर, अव्ययक्षरगर्भित अक्षरप्रधान जीव, एवं अव्ययाक्षरगर्भित क्षरप्रधान जगत्, तीनों की प्रथमप्रवृत्ति का, दूसरे शब्दों में तीनों रूपों की प्रवृत्ति का प्रधान श्रेय मध्यस्थ सौर तत्त्व को ही प्राप्त है। अव्ययधर्म्मानुगति से सत्त्वमूर्ति बनता हुआ यही आधिदैविक ईश्वरतन्त्र का प्रवर्त्तक बना हुआ है। रज (अक्षर) धर्म्मानुगति से रजोमूर्त्ति बनता हुआ यही आध्यात्मिक जीवतन्त्र की प्रतिष्ठा बना हुआ है। एवं क्षरधर्म्मानुगति से तमोमूर्त्ति बनता हुआ यही आधिभौतिक जगत्तन्त्र की प्रतिष्ठा बना हुआ है। अतएव वैज्ञानिक लोग इस अक्षरप्रधान, विश्वमध्यस्थ, गायत्रीमात्रिक-वेदमूर्त्ति, त्रिगुणभावापन्न तत्त्व की-'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' रूप से स्तुति किया करते हैं।

---

* —'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (अक्षरे)

—मुण्डकोपनिषत् २।२।८

१	अव्ययः (मन) अक्षरः (प्राणः) क्षरः (वाक्)	—क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययः—ईश्वरः (सत्त्वानुगतः)—परधर्म्माक्रान्तः	
२	अक्षरः (प्राण) अव्ययः (मनः) क्षरः (वाक्)	—अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरः जीवः (रजोऽनुगतः)—स्वधर्म्माक्रान्तः	सर्वधर्म्माक्रान्तः
३	क्षरः (वाक्) अक्षरः (प्राण) अव्ययः (मनः)	—अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरः—जगत् (तमोऽनुगतः)—अवरधर्म्माक्रान्तः	

२६–प्रसङ्गोपात्त 'स्वधर्म्म', एवं उसके तीन विवर्तभाव—

[illegible] हो गई । अतः प्रसङ्गोपात्त इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना [illegible] अनेक प्रकार के विवाद खड़े हो रहे [illegible] 'स्वधर्म्म' शब्द को आधार बना कर [illegible] अर्थ का परिज्ञानमात्र । किसी की दृष्टि में [illegible] स्वधर्म्म शब्द के वैज्ञानिक [illegible] है । किसी की दृष्टि में वेदशास्त्रसम्मत कर्म्म [illegible] ही स्वधर्म्म है । किसी की दृष्टि में [illegible] है । इन सब विवादों के परिहार [illegible] भक्ति, ज्ञान ही स्वधर्म्म है । किसी की दृष्टि में सर्वधर्म्मा ही स्वधर्म्म है । इन सब विवादों के परिहार [illegible] इस यान–स्वधर्म्मो विगुणः, पर- [illegible] का ही अन्वेषण करना चाहिए । यहाँ तो प्रसङ्गवश [illegible] का अर्थ है– अपना । और 'धर्म्म' का अर्थ है–'धारक' । [illegible] है कि [illegible] कर्म्म, या ज्ञान, या भक्ति [illegible] लिए रहता है, वही उस 'स्व' का स्वरूप [illegible] अपेक्षा से 'स्व' बन रहे हैं । [illegible]) स्वरूप विभिन्न हैं । विभिन्न स्वरूपों को [illegible]

धारण करने वाले तीनों विभिन्नों के धर्म्म भी पृथक्-पृथक् ही मानें जायेंगे । फलतः तीन तन्त्रों के क्रमशः ईश्वरधर्म्म, जीवधर्म्म, जगद्धर्म्म, ये तीन स्वाभाविक विभाग हो जायेंगे ।

३०—सर्वधर्म्मोपपन्न विश्वेश्वरात्मा—

अपने आधिदैविक विवर्त, जीवानुगत आध्यात्मिक विवर्त एवं जगदनुगत आध्यात्मिक विवर्त, तीनों में समानरूप से व्याप्त रहते हुए (गीता के शब्दों में विभक्त तन्त्रों में अविभक्तरूप से व्याप्त रहते हुए) तीनों तन्त्रों के नियत धर्मों का अनुग्रहभाव से (निष्काममायात्मिका उत्थिताकाङ्क्षा से) सञ्चालन करते रहना ही ईश्वर का स्वधर्म्म है । ऋषि, पितर, देवदेवता गान्धर्वदेवता, आदि सात्त्विक आधिदैविक प्राणलक्षण दिव्य प्रजाओं के सत्त्वानुगत आधिदैविक कर्म्मों का, गन्धर्व-यक्षादि राजस-प्राणलक्षण दिव्य प्रजाओं के रजोऽनुगत आधिदैविक कर्म्मों का असुर-राक्षस-पिशाचादि तामस-प्राणलक्षण दिव्य प्रजाओं के तमोऽनुगत आधिदैविक कर्म्मों का साक्षी बने रहना, राजस प्राणी-लक्षण आध्यात्मिक जीवप्रजा के राजस आध्यात्मिक कर्म्मों का तथा तामस-भूतलक्षण-आधिभौतिक लोष्ठ-पाषाणादि जगल्लक्षणा प्रजा के आधिभौतिक कर्म्मों का साक्षी बने रहना उत्तरत यथयावत् विभिन्न धर्म्मियों के यथयावत् विभिन्न धर्म्मात्मक विभिन्न कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-भावों का साक्षी बने रहना ही ईश्वर का 'स्वधर्म्म' है । सर्वधर्म्मसमष्टि ही ईश्वरधर्म्म है । क्योंकि यह सर्वव्यापक बनता हुआ सर्वमूर्त्ति है । सत्-असत्-अच्छा-बुरा सब-कुछ ईश्वरधर्म्म के गर्भ में समाविष्ट है । इसी आधार पर ईश्वरधर्म्म के सम्बन्ध में भगवान् व्यास के द्वारा-'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इसी दृष्टि से यह भी कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि, पाञ्चभौतिक विश्वसर्ग में प्रतिष्ठित मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि यच्चयावत् प्राणी अच्छा-बुरा-जो भी कुछ कर रहे हैं वे सब ईश्वरधर्म्म का ही अनुगमन कर रहे हैं । यदि ऐसा है, तो स्वधर्म्म-परधर्म्म-विधर्म्म-आदि शब्दों का जन्म ही क्यों, और कैसे हुआ ?, यह एक समस्या उपस्थित हो जाती है, जिसका तब भलीभाँति निराकरण हो जाता है, जब कि जीवधर्म्म, और जगद्धर्म्म के तात्त्विक स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है ।

३१—प्राकृत जीवात्मा, और उसके स्वधर्म्म-परधर्म्म—

जीव ईश्वर का अंश अवश्य है परन्तु व्यापक नहीं । ईश्वर जहाँ महामायावच्छिन्न बनता हुआ विश्व-व्यापक है वहाँ जीव अक्षरानुगता योगमाया से समावृत रहता हुआ शरीरमात्र में सीमित है । अतएव यह तो सिद्ध विषय है कि, इसके लिए सर्वधर्म्मानुगमन असम्भव है । यह उसी परिच्छिन्न-सीमित धर्म्म का अनुगमन कर सकता है, जिस धर्म्म का इसके अपने तन्त्र से सम्बन्ध है । इसका अपना तन्त्र है वह अक्षर, जो योगमायात्मक है । योगमाया वह तत्त्व है, जिसके अपने त्रैगुण्य भेद से असंख्य विवर्त हो रहे हैं । इसप्रकार गुणोपाधिकृत आनन्त्य से योगमायात्मक अक्षर के अनन्त विवर्त हो जाते हैं । यह अक्षरानन्त्य ही अंशात्मक जीव के आनन्त्य का मूल कारण है । निर्गुणातीत,+ निर्गुणमायाधीन अतएव सर्वगुणाधारसूत्र, अतएव स्वधर्म्मोपपन्न

\+ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्-परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥
—गीता१३।३१

१	अव्ययः (मनः) अक्षरः (प्राणः) क्षरः (वाक्)	—पराक्षरगर्भितोऽव्ययः—ईश्वरः (सत्त्वानुगतः)—परधर्म्माक्रान्तः	
२	अक्षरः (प्राणः) अव्ययः (मनः) क्षरः (वाक्)	—अव्ययक्षरगर्भितोऽक्षरः जीवः (रजोऽनुगतः)—स्वधर्म्माक्रान्तः	सर्वधर्म्माक्रान्तः
३	क्षरः (वाक्) अक्षरः (प्राणः) अव्ययः (मनः)	—अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरः—जगत् (तमोऽनुगतः)—अवरधर्म्माक्रान्तः	

२६—प्रसङ्गोपात्त 'स्वधर्म्म', एवं उसके तीन विवर्त्तभाव—

'स्वधर्म्म' शब्द की चर्चा उपस्थित हो गई। अतः प्रसङ्गोपात्त इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न माना जायगा। 'स्वधर्म्म' शब्द को आधार बना कर आज अनेक प्रकार के विसंवाद खड़े हो रहे हैं। इन विसंवादों का एकमात्र कारण है 'स्वधर्म्म' शब्द के वैज्ञानिक अर्थ का परिज्ञानाभाव। किसी की दृष्टि में सत्य-दया-अहिंसा-अस्तेयादि स्मार्त सामान्य धर्म्म ही स्वधर्म्म है। किसी की दृष्टि में वेदशास्त्रोपवर्णित धर्म्म कर्म्म भक्ति, ज्ञान ही स्वधर्म्म है। किसी की दृष्टि में वर्णधर्म्म ही स्वधर्म्म है। इन सब विसंवादों के परिहार के लिए 'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः' [illegible] अथवा 'श्रेयान्-स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्' इत्यादि श्लोकानुगत गीताभूमिकाभाष्य का ही अवलोकन करना चाहिए। यहाँ तो प्रसङ्गप्राप्त इतना स्पष्टीकरण ही पर्य्याप्त होगा। 'स्व' का अर्थ है—'अपना'। और 'धर्म्म' का अर्थ है—'धारक'। स्वभाषा के अनुसार दोनों विभागों का यही अर्थ निकलता है कि, 'जो तत्त्व, जो कर्म्म, जो ज्ञान, जो भक्ति जो लोक अपने आपको स्वस्वरूप में धारण किए रहता है स्व को धारण किए रहता है वही उस 'स्व' का अपना धर्म्म है वही स्वधर्म्म है। ईश्वर-जीव-जगत्, तीनों ही अपने अपने स्वरूपकी अपेक्षा से 'स्व' बन रहे हैं। साथ ही तीनों का स्वरूप—(स्व—स्व—अपनापन अपनापन) परस्पर विभिन्न है। विभिन्न स्वरूपों को

धर्म्मयुक्त ही एकत्वानुगता महामाया के सम्बन्ध से विश्व में एक आत्मतत्त्व है। अव्ययातिरिक्त त्रिगुणाक्षर द्वारा वो योगमायासम्बन्ध से अनेक ही सिद्ध हो रहे हैं। अतएव अनन्ताक्षरानुगत अंशभूत जीववर्ग के लिए 'अंशो-नानात्वात्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अंशी ही एक होता है। अंश तथा अनेक होते हैं। जीव ईश्वर का अंश है, एतावता ही जीवनानात्व सिद्ध है। प्रत्येक जीव का अपना आत्मा अक्षर है, प्रत्येक अक्षर गुण-भेद से विभिन्न है। फलतः प्रत्येक जीव के स्व-धर्म्म (अक्षरधर्म्म) का विभिन्नत्व सिद्ध हो रहा है। जितने जीव, उनके उतने ही धर्म्म। जो जीव स्वाक्षरानुगत स्वकीय अक्षर-गुणानुगत ही धर्म्म एवं वही उस जीव का 'स्वधर्म्म' है। इस स्वधर्म्मातिरिक्त यावन्मात्र धर्म्म परधर्म्म-अधर्म्म-विधर्म्मादि में से कोई न भी धर्म्म। इस दृष्टि से एक जीवातिरिक्त अन्य यावन्मात्र जीवों के धर्म्म इस जीव के लिए परधर्म्म, जगद्धर्म्म भी परधर्म्म और ईश्वरधर्म्म भी परधर्म्म। इन परधर्म्मों में से जो धर्म्म जीवस्वरूप के विनाशक हैं, वे इसके लिए अधर्म्म। एवं जिन परधर्म्मों से इस एक जीव के स्वधर्म्म का स्वरूप विकृत हो जाय वे विरुद्ध धर्म्म इसके लिए विधर्म्म।

१२—प्रकृतिसिद्ध स्वधर्म्म-परधर्म्म- भावों की स्वरूपव्यवस्था—

परधर्म्मों में से कितने एक धर्म्म ऐसे भी हैं, जिनसे जीवसंस्था का विकास भी सम्भव है। वे उपादेय परधर्म्म भी स्वधर्म्मोपकारक बनते हुए स्वधर्म्मकोटि में ही प्रविष्ट माने जायँगे। निष्कर्ष यह निकला कि— ईश्वरधर्म्म क्योंकि सर्वधर्म्मसमष्टि है। अतएव जीवानुगत, तथा जगदनुगत यावन्मात्र धर्म्म इसके लिए स्वधर्म्म ही बन रहे हैं। यह केवल सर्वधर्म्मसाक्षी है। अतएव स्वधर्म्म-परधर्म्म-अधर्म्मादि सब भावों में रहता हुआ भी सर्वधर्म्मविनिर्मुक्त है। जीवधर्म्म क्योंकि नियत गुण-कर्म्मानुगत नियत-स्वरूपानुबन्धी है। अतएव जीवधर्म्म के लिए ईश्वरधर्म्म तथा जगद्धर्म्म साथ ही स्वातिरिक्त यावन्मात्र अन्य जीवधर्म्म परधर्म्म ही बन रहे हैं। यही अवस्था नियत गुण-कर्म्मानुबन्ध नियत स्वरूपानुबन्धी जगद्धर्म्म की है। स्वरूपानुगत जल का स्वधर्म्म है निम्न स्थान में प्रवाहित होना, स्वरूपानुगत अग्नि का स्वधर्म्म है—ऊर्ध्वभाग की ओर जाना। ताप अग्नि का स्वधर्म्म है, शैत्य जल का स्वधर्म्म है। जल में आग्नेय ताप का समावेश हुआ। इसका अर्थ हुआ जल के स्वधर्म्मभूत शैत्य में अग्नि के स्वधर्म्मभूत ताप का समाविष्ट होना। जलीय स्वधर्म्म (शैत्य) की दृष्टि से तत्प्रविष्ट यह आग्नेय धर्म्म उस सीमा पर्य्यन्त तो केवल 'परधर्म्म' ही माना जायगा जिस सीमा पर्य्यन्त इससे जलस्वरूप की क्षति नहीं होती। ताप ने जल के शैत्य पर आक्रमण अवश्य कर दिया, जलस्वरूप के लिए भय उपस्थित कर दिया इसी आधार पर 'परधर्म्मो भयावहः' सिद्धान्त नें जन्म लिया। यदि प्रवृद्ध ताप ने जल को क्षीण करना आरम्भ कर दिया, तो जलस्वरूप के विरुद्ध जाता हुआ यही आग्नेय तापरूप परधर्म्म जल के लिए 'विधर्म्म' (विरुद्ध-धर्म्म) बन गया। यदि अतिप्रवृद्ध प्रबल तापधर्म्म ने जल को वाष्परूप में परिणत कर उसका स्वरूप ही उच्छिन्न कर दिया, तो इस अवस्था में में आकर यही आग्नेय तापलक्षण परधर्म्म जल के लिए 'अधर्म्म' बन गया। परधर्म्म भले ही स्वयं भय न दो। परन्तु अपने भावी विधर्म्म-अधर्म्म स्वरूपों से यह भयावह (भय का आह्वान करने वाला) अवश्य ही है। उदाहरणमात्र है। यावन्मात्र स्वरूपानुगत-जगद्धर्म्म तथा जीवधर्म्मों के सम्बन्ध में यही व्यवस्था व्यवस्थित है।

३३–स्फोट-स्वर-वर्ण-निबन्धना पञ्चधर्म्मसृष्टि—

ईश्वरानुगत स्वभाव 'अव्यय' प्रधान है, यही शब्दमर्य्यादया 'अक्षरस्फोट' कहलाता है। जीवानुगत स्व-भाव 'अक्षर' प्रधान है, यही 'स्वरोऽक्षरम्' इस प्रातिशाख्य सिद्धान्तानुसार 'स्वर' कहलाया है। जगदनुगत स्वभाव 'आत्मक्षर' प्रधान है जो विकारक्षर से नित्य संश्लिष्ट है। आत्मक्षर 'वर्ण' कहलाया है, विकारक्षर 'व्यञ्जन' कहलाया है। विकारक्षरगर्भित आत्मक्षर 'वर्णसृष्टि' का प्रवर्त्तक बनता है, आत्मक्षरगर्भित विकारक्षर अक्षरसृष्टि का प्रवर्तक बनता है। दोनों सृष्टियों का निमित्त बनता है अक्षर, जिसके वर्णानुगत स्वरविवर्त के 'अ–इ–उ–ऋ–लृ' ये पाँच विवर्त माने गए हैं। इन पाँचों स्वरों में से 'अ–इ–उ' तीनों विशुद्ध स्वर हैं, व्यञ्जन (मर्त्य) धर्म्म से आत्यन्तिकरूप से वियुक्त हैं अमृताक्षरात्मा से अनुगत हैं। 'ऋ' स्वर 'र' की अपेक्षा अमृत किन्तु स्वरत्रयी की अपेक्षा उग्र बनता हुआ उग्राक्षर है। 'लृ' स्वर दन्तस्थान से संश्लिष्ट बन कर आत्यन्तिकरूप से उग्र है। आत्मक्षरानुगत इन पाँचों स्वरविवर्त्तों के इस दृष्टि से 'अ–इ१–उ'–'ऋ२'–'लृ३' ये तीन विभाग होजाते हैं। प्रथम विभाग व्यञ्जनासंसृष्ट स्वरप्रधान बनता हुआ अक्षरप्रधान है। द्वितीय विभाग व्यञ्जनगर्भित वर्णप्रधान बनता हुआ आत्मक्षरप्रधान है। तृतीय विभाग स्वरगर्भित व्यञ्जनप्रधान बनता हुआ विकारक्षरप्रधान है। इस दृष्टि से अक्षरानुगत जीवविवर्त्त तथा आत्मक्षरसंश्लिष्ट विकारक्षरानुगत जगद्विवर्त्त, दोनों के पाँच पाँच मुख्य विवर्त्त होजाते हैं। जीवसृष्टि का भी प्रत्येक प्राणी पाँच भागों में विभक्त है जगत्सृष्टि का भी प्रत्येक भूत पाँच ही भागों में विभक्त है। अनन्तविध जीवों का, तथा अनन्तविध भूतों का इन पाँचों में ही अन्तर्भाव होरहा है। फलतः दोनों विभागों का (जीवानुगत जीवधर्म्म, जगदनुगत जगद्धर्म्म दोनों का) पाँच-पाँच धर्म्मों में ही अन्तर्भाव होजाता है।

३४–चातुर्वर्ण्यधर्म्मस्वरूप की व्यवस्थिति—

स्वरप्रधान 'अकार' अग्निब्रह्मात्मक ब्रह्माक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ 'ब्रह्मतत्त्व' है यही ब्राह्मणवर्ण है, यही जीवभूतानुगत ब्राह्मण की मूलप्रतिष्ठा बनता है तदनुगत स्व-धर्म्म ही 'ब्राह्मणधर्म्म' है। स्वरप्रधान 'उकार' विश्वेदेवस्वरूप विष्ण्वक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ 'विट्तत्त्व' है यही वैश्यवर्ण की प्रतिष्ठा बनता है तदनुगत स्व-धर्म्म ही 'वैश्यधर्म्म' है। स्वरप्रधान 'इकार' साम्यात्मक मरुत्वानिन्द्ररूप इन्द्राक्षर से संश्लिष्ट बनता हुआ 'क्षत्रतत्त्व' है, यही क्षत्रियवर्ण है यही जीव-भूतानुगत क्षत्रियवर्ण की प्रतिष्ठा बनता है, तदनुगत स्व-धर्म्म ही 'क्षत्रियधर्म्म' है। 'ब्रह्म–विट्–क्षत्र' तीनों में वर्णक्रम तो 'ब्रह्म–क्षत्र–विट्' यह है किन्तु स्थितिक्रम 'ब्रह्म–विट्–क्षत्र' है। 'अ–इ–उ' रूप से इस स्थितिक्रम का ही समर्थन होरहा है। इस ओर ब्रह्म है, उस ओर क्षत्र है मध्य में विट् है। ब्रह्मवीर्य्य(ज्ञान)धर्म्मरूप रक्षक बनता हुआ शर्म्मन् है, क्षत्रवीर्य्य(पौरुष)वर्म्मरूप रक्षक बनता हुआ 'वर्म्मन्' है दोनों से सुरक्षित मध्यस्थ शरीररूप विट् सुगुप्त (सुरक्षित) रहता हुआ 'गुप्त' है। व्यञ्जनगर्भित वर्णप्रधान 'ऋ' पूषाप्राणात्मक सूर्य्यानुगत दिव्य भूभागमें संश्लिष्ट बनता हुआ 'सच्छूद्र' (सूरस शूद्र) तत्त्व है यही 'सच्छूद्रधर्म्म' है। वर्णगर्भित व्यञ्जनप्रधान, अतएव अवर्णात्मक लकार सूर्य्यविरुद्ध-दिगनुगत आसुर भूतप्रधान भूभाग से संश्लिष्ट बनता हुआ 'अवर्ण' तत्त्व है यही अवर्णात्मक-असच्छूद्र (असूरस शूद्र) है यही जीवभूतानुगत अन्त्यवर्णशूद्र की प्रतिष्ठा बनता है तदनुगत स्व-धर्म्म ही 'असच्छूद्रधर्म्म' है।

३५–स्वधर्म्मानुगत सामान्य–विशेषभाव—

इसप्रकार स्फोटस्थानीय अव्ययालम्बन पर प्रतिष्ठित स्वरस्थानीय गुणात्मक अक्षर, वर्णस्थानीय कर्म्मात्मक क्षरमक्षर, व्यञ्जनस्थानीय अवर्णात्मक–भूतमय–विकारक्षर, इन तीन विवर्तों से अक्षर–क्षरगुणक वीर्य–अवच्छिन्नों के त्रिधाविभक्त चतुष्टय अवच्छ्रूह, ये तीन विवर्त हो जाते हैं । ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य, तीनों द्विजातिवर्ण, शूद्रवर्ण चारों वर्णात्मक वीर्य एवं भूत हैं । अन्त्यज–अन्त्यावसायी–दस्यु–म्लेच्छ, चार अवर्ण–अवच्छ्रूह हैं । प्रत्येक वर्ण की, प्रत्येक अवर्ण की मूलप्रतिष्ठा उसका 'स्व–धर्म्म' ही है जो मन्त्र–वर्णादि भेद से परस्पर सर्वथा भिन्न है । साथ ही प्रत्येक वर्ण तथा अवर्णों के स्वधर्म्म की अपेक्षा अन्य अन्यजातक वर्ण–अवर्णों के स्वधर्म्म पूर्वपरिभाषानुसार परधर्म्म–विधर्म्म–अधर्म्म हो जा रहे हैं । यही प्राकृतिक–जन्मसिद्ध–गुणकर्म्मानुगत वर्णावर्णात्मक स्वधर्म्म का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका गीताभूमिका–कर्म्मयोगपरीक्षा–'ख' विभाग में विस्तार से विश्लेषण हुआ है । आगे चलकर स्त्रीत्व–बालत्व–पितृत्व–पुत्रत्व–भ्रातृत्व–पतित्वादि विशेष गुण–कर्म्मों से इस स्वधर्म्म के अवान्तर अनेक भेद हो जाते हैं । पूर्व पूर्व धर्म्म सामान्य कहलाए हैं उत्तर उत्तर धर्म्म विशेष कहलाए हैं । विशेष स्वधर्म्म विशेषभावों के संरक्षक हैं, सामान्य धर्म्म सामान्यभावों के संरक्षक हैं । दोनों में संघर्ष उपस्थित होने पर विशेषधर्म्म ग्राह्य बन जाता है सामान्य धर्म्म त्याज्य हो जाता है । क्योंकि सामान्यस्वरूप की अपेक्षा विशेषस्वरूप स्वरूपरक्षा में विशेषरूप से प्रधान माना गया है ।

उदाहरण के लिए यों स्पष्ट कीजिए कि, सत्यभाषण, अहिंसा आदि मनुष्यसामान्य के स्वधर्म्म हैं । साथ ही विभिन्न राष्ट्रों के देश–काल–भाषा–संस्कृति–सभ्यता–आचार–आदि भेदों से सम्बन्ध रखने वाला राष्ट्रधर्म्म प्रत्येक देश का राष्ट्रीय धर्म्म (स्वतन्त्रता) विभिन्न है । यही विभिन्न राष्ट्रीय स्वधर्म्म प्रत्येक राष्ट्र का अपना प्रातिस्विक विशेष–स्वधर्म्म है । यदि कोई दुष्ट राष्ट्र किसी अन्य शान्त–सुसमृद्ध राष्ट्र पर आक्रमण करता है उसकी श्री का अपहरण करना चाहता है, तो उस दशा में सत्य–अहिंसादि सामान्य स्वधर्म्मों की उपेक्षा कर उस शान्त राष्ट्र को अपने विशेष राष्ट्रीय स्वधर्म्म को आततायी के आक्रमण से बचाना चाहिए, एवं प्रधान कर्त्तव्य होगा । अवसर आने पर परिस्थिति के अनुसार इस विशेषधर्म्मापन्न, अतएव प्रातिस्विक स्वरूपभूत तत्त्व की रक्षा में इसे असत्य–अहिंसा–आदि का भी अनुगमन करना पड़ेगा । जीवनार्पण करके भी स्वविशेषधर्म्म की रक्षा करना इसका सर्वतोमुख कर्त्तव्य होगा । और 'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः' को चरितार्थ करना पड़ेगा । मान लीजिए उस शान्त राष्ट्र में वर्णप्रथा भी निवास करती है जिसके ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य धर्म्मादि स्वधर्म्म राष्ट्रधर्म्म की अपेक्षा विशेषधर्म्म बने हुए हैं, एवं इन विशेषों की अपेक्षा राष्ट्रीय धर्म्म एक सामान्यधर्म्म । दुर्भाग्य से राष्ट्रधर्म्माभिमानियों ने यदि इन वर्णधर्म्मों पर आक्रमण कर दिया तो पहिले इनकी रक्षा करना अनिवार्य्य होगा । स्मरण रखिए, व्यक्तिधर्म्म ही कुटुम्बधर्म्म की, कुटुम्बधर्म्म ही जातिधर्म्म की, जातिधर्म्म ही देशधर्म्म की, एवं देशधर्म्म ही राष्ट्रधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा बनता है । व्यक्ति के गुणों का ही परम्परया राष्ट्रीय गुणरूप में विकास होता है । व्यक्तिधर्म्म ही परम्परया राष्ट्रधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है । विशेषधर्म्म ही सामान्यधर्म्म का रक्षक है । यही कारण है कि, जिस राष्ट्र का व्यक्तित्व सुपरिष्कृत होता है वही राष्ट्र सु–योग्य बनता है । ठीक इसके विपरीत जिस राष्ट्र की व्यक्तिसम्पत् अपरिष्कृत रहती है उस राष्ट्र का वैसे राष्ट्र की वैसी अयोग्य प्रजा के

आन्दोलनों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारा यह वर्त्तमान राष्ट्रीय आन्दोलन है, जिसने व्यक्तिविकासमूलक आश्रमधर्म्म की, समाजविकासमूलक वर्णधर्म्मरूप विशेषधर्म्मों की न केवल उपेक्षा ही कर रक्खी है, अपितु प्रत्यक्षरूप से आक्रमण करते हुए अपने आपको निस्तत्त्व बना लिया है। निष्कर्ष— विशेषधर्म्म सदा प्रधान रहता है, एवं सामान्य धर्म्म इसकी तुलना में सदा गौण बना रहता है। विश्वधर्म्म विश्व के लिए स्वधर्म्म है, राष्ट्रीय धर्म्म तद्राष्ट्र के लिए स्वधर्म्म है, देशधर्म्म देश का, जातिधर्म्म जाति का, समाजधर्म्म समाज का, कुटुम्बधर्म्म कुटुम्ब का, एवं व्यक्तिधर्म्म व्यक्ति का स्वधर्म्म है। पूर्व पूर्व स्वधर्म्म उत्तरोत्तर के स्वधर्म्मों की अपेक्षा सामान्य बनते हुए गौणकोटि में प्रविष्ट हैं। एवं उत्तर उत्तर स्वधर्म्म पूर्व पूर्व के स्वधर्म्मों की अपेक्षा विशेष बनते हुए प्रधानकोटि में निविष्ट हैं।

३६—स्वधर्म्मानुगत स्वातन्त्र्य, एवं परधर्म्मानुगत पारतन्त्र्य—

'स्व' का प्रधान अर्थ है—'आत्मा', जिसका व्यक्ति से सम्बन्ध है। आत्मतन्त्रात्मक व्यक्तितन्त्र ही स्व-तन्त्र है। इसकी रक्षा-विकास से ही आगे के सामान्य-परतन्त्र स्व-तन्त्र में मुक्त रहते हैं। जब हम ही स्व-तन्त्र में प्रतिष्ठित नहीं, तो अन्य तन्त्र कैसे हमारे तन्त्र बन सकेंगे ?, एवं उस दशा में उन परधर्म्मों को हम कैसे स्वधर्म्म बना सकेंगे ? यह उन्हीं स्वतन्त्रताप्रेमियों से पूँछना चाहिए, जो स्वतन्त्रतामूलक स्वधर्म्म का तात्त्विक स्वरूप न जान कर व्यक्तितन्त्र की उपेक्षा कर अपना, और अपने साथ राष्ट्र का भी सर्वस्व नष्ट करने के भगीरथ प्रयास में तल्लीन हैं। निम्न लिखित परिलेखों से निरूपित स्वधर्म्मादि के स्वरूपों का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है।

अखण्डस्फोटरूपाव्ययाधारेण—अक्षरानुगतगुण,—क्षरानुगतकर्म्मभ्यां समुत्पन्ना
वर्णात्मिकासृष्टि, तदनुगता स्वधर्म्माश्च

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥

१—(अव्ययानुगत)——अखण्डस्फोट—सर्वात्मकः—वर्णात्मिकासृष्टेरालम्बनम् (१)

२—(अक्षरानुगताः)——स्वराः——सौराः
३—(आत्मक्षरानुगताः)—वर्णाः——पार्थिवाः } ——वर्णसृष्टेः प्रतिष्ठाभूमिः (२)
४—(विकारक्षरानुगतानि)—व्यञ्जनानि—भौमानि } ——अवर्णसृष्टेः प्रतिष्ठाभूमिः (३)

(१) 'अ' कार–महानुगताऽग्निः————वाङ्मुगतं ब्रह्म
(२) 'इ' कार–विश्वानुगता विश्वदेवाः—वागनुगतो विट्
(३) 'उ' कार–इन्द्रानुगता–इन्द्रः————वागनुगतं क्षत्रम्
} — ब्रह्मप्रधाना प्रथमसृष्टिः (१)

(४) 'ऋ' कार–हिरण्मयसूत्रम्————वागनुगतः सम्प्रदूरः]–विकारगर्भितप्रवरप्रधाना पञ्चसृष्टिः (२)

(५) 'लृ' कार–पाशुरसूत्रम्————वागनुगतः–असम्प्रदूरः]–पाप्मसर्गगर्भितविकारप्रधाना प्रत्यवायसृष्टिः (३)

———❀———

१
१ ब्राह्मणः (अ)–ब्रह्म–अग्निः—तदनुगतो धर्मः–ब्राह्मणजातेः स्वधर्मः
२–क्षत्रिय (उ)–इन्द्र–मरुत्वान् „ –क्षत्रियजातेः „
३–वैश्यः (इ)–विष्णुः–इन्द्र „ –वैश्यजातेः „
४–शूद्रः (ऋ)–अग्नि–पूषा „ –शूद्रजातेः „
} –द्विजातिधर्मः } –वर्णसृष्टिः
]–शूद्रधर्मः

२
५–अन्त्यजः (लृ)–घोरः–सूत्रम् „ –अन्त्यजानां „
६–अन्त्यावसायी (लृ)–पाप्मा–सूत्रम् „ –अन्त्यावसायिनां „
७–दस्यु (लृ)–पाप्मा–सूत्रम् –दस्यूनां „
८–म्लेच्छः (लृ)–पाप्मा–सूत्रम् „ –म्लेच्छानां „
}–अन्त्यसूत्रधर्मः]–अवर्णसृष्टिः

———❀

२७–सत्य अमृत–मायासिमका सीमरेखा—

महामाया की सर्वव्याप्ति के कारण ईश्वर को सर्वधर्ममूर्ति कहलाया गया है। यही सर्वेश्वर इसकी पूर्णता है। यद्यपि मायायुक्त जीव और जगत्, दोनों ईश्वरविवर्त भी 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' सिद्धान्तानुसार पूर्ण ही हैं। तथापि इस पूर्णता का पूर्ण विकास जीवविवर्त में ही हुआ है। कारण पूर्ण में सत्–असत् अनुगत है। जो मध्यस्थ होता है उसमें दोनों ओर के धर्मों का पूर्ण समन्वय रहता है। त्रिपुरुषविवर्त में अक्षर मध्यस्थ है। जीव का अपना स्वरूप अक्षरानुगत है। अतएव इसमें सर्वधर्मानीय सर्वसमष्टि प्रधान ईश्वरधर्म का भी समावेश होता है। एवं क्षरः स्थानीय पाञ्चभौतिक जगद्धर्म का भी समावेश होता है। गीतेश्वर के व्यक्तिस्वरूप–विवरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, जो अक्षर ——आत्मपर्व

विभाग ईश्वरानुगत है, उस सबका बीज में भी समन्वय है। इस पूर्णता-सम्पत्ति का प्रधान साधन है विज्ञानात्मा नामक बुद्धितत्त्व। मध्यस्थ, अतएव अक्षरानुगत सूर्य से प्रभूत बुद्धितत्त्व भी मध्य में प्रतिष्ठित है। इसके ऊर्ध्वभाग में अव्यक्तगर्भित महानात्मानुगत अमृतात्मलक्षण ईश्वरतत्त्व प्रतिष्ठित है, एवं अधोभाग में प्रज्ञानात्मगर्भित भूतात्मानुगत मर्त्यलक्षण जगत्तत्त्व प्रतिष्ठित है। मध्यस्थ अक्षरानुगत जीवतत्त्व मध्यस्था बुद्धि से युक्त रहता हुआ दोनों सत्त्वों से अनुगृहीत होरहा है। बुद्धिगत अमृतसम्पत्ति से अव्ययानुगत ईश्वरभाव का, बुद्धिगत मर्त्यसम्पत्ति से क्षरानुगत जगद्भाव का इस उभयात्मिका जीवसंस्था में समावेश होरहा है।

३८–मनुष्य–पशु–पक्षी–कीट–कृमि–सर्ग, और बुद्धितारतम्य—

उक्त विवेचन से एक निष्कर्ष और निकल आया। जिन जीवों में बुद्धि का विकास रहेगा, उनमें ही एक उभयविध पूर्णत्व का विकास रहेगा। कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य, इन पञ्चविध-स्थोविशाल-भध्यस्थ जीव वर्गों में बुद्धिविकास तारतम्य से प्रतिष्ठित है। कृमिजीवों में बुद्धितत्त्व प्रज्ञानमन से सर्वथा अभिभूत है। इनकी अपेक्षा कीटजीवों में थोड़ा विकास है, तदपेक्षया पक्षियों में तदपेक्षया पशुओं में बुद्धि उत्तरोत्तर अधिकमात्रा में विकसित है। इस क्रमिक विकास का पूर्ण विश्राम मनुष्यजीव पर होरहा है। अतएव जीवसर्गमात्र में पुरुषविध जीव ही बुद्धिमान् माना गया है। बुद्धिगत चिदंश का विकसित रहना ही बुद्धि का विकास है। चिदंश उस पुरुषात्मा (अव्ययात्मा) का अंश है, जो 'यो बुद्धे परतस्तु सः' सिद्धान्तानुसार बुद्धि से पर प्रतिष्ठित है। बुद्धि से परे अव्यक्तात्मगर्भित पारमेष्ठ्य महानात्मा प्रतिष्ठित है। सर्वव्यापक, अव्ययप्रधान चिदात्मा (ईश्वर) का इस अव्यक्तगर्भित बीजभूत महानात्मा पर ही अंशात्मना प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' इत्यादि गीतासिद्धान्त से प्रमाणित है। महद्गर्भित चिदात्मा ही 'प्रत्यगात्मा' कहलाता है यही अव्ययप्रधान पुरुषात्मा है, यही आध्यात्मिक ईश्वरात्मा है। सर्वप्रथम इसके चिद्भाव का अनुग्रह बुद्धि पर होता है। क्योंकि-बुद्धि, मन, भूतात्मा, आदि सत्त्वात्माओं में बुद्धि ही उसके सन्निकट है। बुद्धिलक्षण विज्ञानात्मा के अमृतविज्ञानात्मा, मर्त्यविज्ञानात्मा, ये दो विवर्त हो जाते हैं। अमृतविज्ञान विद्याबुद्धि नाम से, मर्त्यविज्ञान अविद्याबुद्धि नाम से व्यवहृत हुआ है जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इस दृष्टि से अमृतसूर्यानुगत विद्याप्रधान विज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि) मर्त्यसूर्यानुगत अविद्याप्रधान विज्ञानात्मा (अविद्याबुद्धि), चान्द्र प्रज्ञानात्मा पार्थिव भूतात्मा, सौम्य आम्भसात्मा, ये पाँच सत्त्वात्मा हो जाते हैं। अध्यात्मसंस्था में ईश्वरीय गूढ़ात्मा जैव गूढ़ात्मा, अव्यक्तात्मा महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, अम्भसात्मा जिन इन आठ पर्वों का पूर्व में अनेकधा स्वरूपविश्लेषण हुआ है उन आठों में से पाँचवाँ विज्ञानात्मा उभयविध बन रहा है। फलतः ८ के ९ आत्मपर्व हो जाते हैं। इन ९ आत्मपर्वों में से आरम्भ के चार आत्मपर्वों का तो अव्ययप्रधान ईश्वरात्मविवर्त्त में भोग हो रहा है। शेष रह जाते हैं पाँच आत्मपर्व। इन पाँचों का क्रमशः मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि, इन पाँच जीववर्गों में प्राधान्य रहता है। जिसका अर्थ यह होता है कि विद्याबुद्धिरूप अमृतविज्ञानात्मप्रधान मनुष्य में सौर चैतन्य सर्वापेक्षया अधिक है। अतएव यह सीधा खड़ा रहता है। अविद्याबुद्धिरूप मर्त्यविज्ञानात्मप्रधान पशुवर्ग में मनुष्यापेक्षया सौर चैतन्य कम है। तदपेक्षया प्रज्ञानप्रधान पक्षी में, तदपेक्षया भूतात्मप्रधान कीट में एवं तदपेक्षया अम्भसात्मप्रधान कृमि में सौर चैतन्य अल्पमात्रा से प्रविष्ट है। सूर्योपलक्षिता द्यु, जीवसृष्टि का पिता है, पृथिवी माता है। इस द्यावापृथिव्य रस से ही जीवसर्ग प्रवृत्त हुआ है। द्यावापृथिव्य रस के तारतम्य से ही जीवसर्ग पाँच भागों में विभक्त हो रहा

है। जिन जीवों में सौररस स्वल्पातिस्वल्पमात्रा में प्रविष्ट है पार्थिवरस का ही जिनमें प्राधान्य है विज्ञानमाया में सौम्य अन्नात्मा ही जिनमें प्रधान है, पार्थिवरसप्रधान वे ही जीव 'कृमि' कहलाए हैं। क्योंकि इनमें पार्थिवरस का ही प्राधान्य है अतएव ये भूपिण्ड को नहीं छोड़ सकते। पृथिवी पर रेंग रेंग कर ही इनकी जीवनयात्रा का निर्वाह होता है। यही प्रथम जीवसर्ग है। सौर रस कुछ अधिक मात्रा में आया, फलस्वरूप पार्थिव बन्धन यत्किञ्चित् शिथिल हुआ। यही विज्ञानमाया में पार्थिव भूतात्मप्रधान 'कीट' नामक जीव कहलाए हैं। सौर रसाधिक्य से ही इनमें भूपिण्ड को छोड़ कर उड़ने की भी शक्ति का समावेश हुआ। और अधिक सौर रस का आगमन हुआ। इससे आप्य प्रज्ञानानुगत पक्षी नामक जीवसर्ग का विकास हुआ। प्रज्ञान-विकास के सम्बन्ध से ही इस जीवसर्ग में प्रज्ञानानुगत-ऐन्द्रियक-आहार-निद्रा-भय-मैथुन-धर्मों का स्वरूप से विकास हुआ। आगे चल कर सौर पार्थिव रसों का सन्तुलन हुआ। जितना ही सौर रस, उतना ही पार्थिव रस। फलतः शिरोभाग और पुच्छभाग, दोनों समतुलित हो गए। वे ही मर्त्यसौरविज्ञानात्मप्रधान 'पशु' नामक जीव कहलाए। अब आगे चल कर सौर रस तो प्रबल हुआ और पार्थिव रस वशिष्णु बना। यही अमृतसौरविज्ञानात्म-प्रधान 'मनुष्य' नामक जीव कहलाया। क्योंकि इसमें सौर रस पार्थिव रसापेक्षया अधिक मात्रा में प्रविष्ट हुआ अतएव पशुवत् मस्तक-पुच्छ भागों से समतुलित न रह कर यह सौरभागानुगत मस्तक भाग से ऊपर ही गया। तारतम्येन जीवसृष्टि का उपक्रमस्थान सूर्य है जो सूर्य मध्यस्थ बनता हुआ मध्यस्थ अक्षर से अनुप्राणित है। अमृतात्मक सौर रस, मर्त्यसौर रस, आप्य रसवशीकृत सौर रस, पार्थिवरसवशीकृत सौर रस, एवं सौम्य भूतवशीकृत सौर रस, भेद से इसकी पांच अवस्था हो गईं। इन पांचों से ही क्रमशः उक्त पांच जीवसर्गों का विकास हुआ। इसी आधार पर-'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः'-'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'-'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि नैगमिक सिद्धान्त स्थापित हुए।

१
- १ १-ईश्वरगूढात्मा (सर्वव्यापकः)
- २ २-जैवगूढात्मा (शरीरपरिच्छिन्न)
- ३ ३-अव्यक्तात्मा (स्वायम्भुवः)
- ४ ४-महानात्मा (पारमेष्ठ्यः)

—अव्ययप्रधान—ईश्वरात्मा

२
- ५ ५-अमृतविज्ञानात्मा (सौर)]-(मनुष्य)
- ६-मर्त्यविज्ञानात्मा (सौर)]-(पशु)
- ६ ७-प्रज्ञानात्मा (आप्य)]-(पक्षी)
- ७ ८-भूतात्मा (पार्थिव)]-(कीट)
- ८ ९-अन्नात्मा (सौम्य)]-(कृमि)

—अक्षरप्रधानाः—जीवसर्गाः

१ ●—भूपिण्ड —]—धातुप्रधानं—जगत्

१—अमृतविज्ञानात्मप्रधाना जीवाः—सौररसप्रधानाः —विज्ञानयुक्ता —मनुष्याः

२—मर्त्यविज्ञानात्मप्रधाना जीवाः—सौरपार्थिवरसमसूच्छिताः —बुद्धिमन्तः —पशवः

३—प्रज्ञानात्मप्रधाना जीवाः—सौररसगर्भितचान्द्ररसाः —प्रज्ञोपजीविनः —पक्षिणः

४—भूतात्मप्रधाना जीवाः—सौररसगर्भितपार्थिवरसाः —अन्नपरायणाः —कीटाः

५—अन्नात्मप्रधाना जीवाः—सौररसगर्भितभौमरसाः —शरीरपरायणाः —कृमयः

प्रकारान्तरेण समन्वयः—

१— १—स्वयम्भूः (अव्यक्तात्मा)—अव्यक्तम्
२—परमेष्ठी (महानात्मा)—महत्
]—तत्प्रधानो मानवः (ईश्वरमेधितः) —ईश्वरः (स्वयम्भूः) —अव्ययानुग्रहः (पुरुषः)
३—सूर्य्यः (अमृतविज्ञानात्मा)—विद्याबुद्धिः—तत्प्रधाना मनुष्याः जीवाः

२— १—सूर्य्यः (मर्त्यविज्ञानात्मा)—अविद्याबुद्धिः—तत्प्रधानाः पशवः जीवाः
२—चन्द्रमाः (प्रज्ञानात्मा)—मनः—तत्प्रधानाः पक्षिणः जीवाः —जीवः (सूर्य्यः)—अक्षरानुग्रहः (प्रकृतिः)
३—पृथिवी (भूतात्मा)—शरीरी—तत्प्रधानाः कीटाः जीवाः
४—भूपिण्डः (चित्यात्मा)—शरीरम्—तत्प्रधानाः कृमयः जीवाः

३— १—भौमपदार्थाः (चित्याः)—विषयाः—तत्प्रधानाः पाषाणलोष्ठादयः जगत् —जगत् (भूपिण्डः)—क्षरानुग्रहः (विकृतिः)

२६—पुरुषार्थी मानव, एवं भोगार्थी जीव—

उक्त समन्वय-परिलेख को लक्ष्य बना कर प्रकान्त विषय का समन्वय कीजिए। परिलेख में पाठक देखेंगे कि, पञ्चविध जीवगणों में से बुद्धि का पूर्ण विकास भी अमृतविज्ञानात्मप्रधान मनुष्यविध जीववर्ग

में ही है, साथ ही विरामसत्ताक-पुरुष (ईश्वर) के निष्कर्म भी पाँचों में मनुष्य ही है। इसी आधार पर श्रुति का—'पुरुषो (मानवो) वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी निष्कर्म सम्बन्ध के कारण अक्षरात्म प्रकृतिवर्ग को अपनी मूलप्रतिष्ठा रखता हुआ भी मनुष्य अव्ययात्मक पुरुष-धर्मानुगति से 'पुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगा है। पुरुष (मनुष्य) के अतिरिक्त शेष पश्वादि चारों सर्ग विशुद्ध प्राकृतिक जीव हैं। प्रकृति ही इनका सञ्चालन करती है। ये स्वतन्त्र पुरुषार्थ करने में असमर्थ हैं। पुरुष (अव्यय) गत पौरुष (कृति) ही पुरुषार्थ कहलाता है। प्रकृतितन्त्र-प्राधान्य से ये प्राकृत जीव पुरुषार्थ नहीं कर सकते। इन्हें प्रकृति जिस जीवनधारा में प्रवाहित रखती है, उसी ओर इन्हें प्रवाहित रहना पड़ता है। परन्तु पुरुष (मनुष्य) विषयबुद्धि के अनुगत है, साथ ही पुरुष (अव्यय) धर्मानुगति से पुरुषार्थशाली बनता हुआ स्वमुक्तिलक्षणनैःश्रेयस में समर्थ हो जाता है। पुरुष (मनुष्य) ही पुरुषार्थ (अव्ययार्थ) सम्पादन कर सकता है। पश्वादि जीव पुरुषार्थसाधन में असमर्थ रहते हुए केवल 'भोगजीव' ही माने गए हैं।

४०–प्राकृत-भोगार्थी जीवों की प्राकृत-धर्मानुगति–

उक्त विवेचन ने यहाँ आकर स्वधर्म की परिभाषा अंशतः स्पष्ट करदी। जीव का 'स्व भाव (आत्मा) अक्षरप्रधान है। अक्षर प्रकृति है। प्रकृतिधर्म ही जीव का 'स्वधर्म' है। एवं अक्षरानुगत जीव-सर्गों की अपेक्षा से 'स्वधर्म' का अर्थ जीवधर्म ही माना जायगा। क्योंकि अव्ययानुगत ईश्वरधर्म तथा क्षरानुगत जगद्धर्म दोनों इस अक्षरधर्मापेक्षया 'परधर्म' ही बन रहे हैं। शास्त्रोपदेश का लक्ष्य है जीव, न कि ईश्वर, और जगत्। अतएव 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' वाक्य में पठित 'स्वधर्म' का अर्थ निकलता है एकमात्र-अक्षर-धर्म, प्रकृतिधर्म। शुक्रशोणित के मिथुनभाव में कर्मभोक्ता-औपपातिक जीवात्मा प्रविष्ट हो कर नवमासानन्तर भूमिष्ठ बनता है, जन्म लेता है। जन्मतः इसमें इन्द्रियाँ रहती हैं। स्वतः सर्वप्रथम इन्द्रियव्यापारलक्षण-श्रवण दर्शन स्पर्शन, रसन हस्तपादसञ्चालनादि इसके प्राकृतिक धर्म बनते हैं। मलमूत्रोत्सर्ग, बुभुक्षा पिपासा निद्रा तन्द्रा भय, क्रोध आलस्य आदि भी इसी प्रकृतिमर्यादा में प्रविष्ट हैं। समय पाकर यह बड़ा होता है। प्राप्तवयस्क होने पर शुक्र-शोणित (वृषा में शुक्र, एवं योषा में शोणित) का वेग प्रबल होता है। 'जाया मे स्यात्' कामना से दाम्पत्यभाव होता है। सन्तति होती है। उसके पालन-पोषण के लिए दम्पती उद्योग में प्रवृत्त होते हैं। सञ्चय करते हैं, खाते पीते हैं सन्तति का पालन करते हैं। इसप्रकार यावदायुर्भोगपर्य्यन्त यही सब कुछ होता रहता है। अन्त में जीवात्मा शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है। (आगे क्या होता है ? इस प्रश्न को छोड़ते हुए) ये ही तो सब कुछ जीवप्रकृति के प्राकृतिक धर्म हैं। यही तो स्वधर्म है। कौन प्राणी इस स्वधर्म से वञ्चित है। सभी तो एवंविध स्वधर्म का पालन करते करते ही एक दिन निधनावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। और इस दृष्टिकोण से जीवमात्र श्रेयःपन्था का ही तो अनुगमन कर रहे हैं। फलतः—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का बिना आदेश के ही पालन सिद्ध हो रहा है। ओमित्येतत्। जीवमात्र का यह स्वधर्म है यह निर्विवाद, साथ ही शास्त्रसम्मत भी। ऐसे स्वधर्म का अनुगमन ऐसे स्वधर्मानुगमन के योग्य ज्ञान प्राणिमात्र में है। इस जीवधर्मसामान्य के सामान्य स्वधर्म-की मूल प्रतिष्ठा अक्षरानुगता विद्या अक्षरात्मिका वह योगमाया है जिसने अक्षरानुगत भोगसाधन के द्वारा प्राणिमात्र को एवंविध स्वधर्म में निमग्न कर रक्खा है जिसका रहस्यशास्त्र में निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ॥
विषयश्च महाभाग ! याति चैवं पृथक् पृथक् ॥१॥
दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे ॥
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः ॥२॥
ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं, किन्तु ते नहि केवलम् ॥
यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशु-पक्षिमृगादयः ॥३॥
ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ॥
मनुष्याणाञ्च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तथोभयोः ॥४॥
ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान् पतङ्गाञ्छावचञ्चुषु ॥
कणमोक्षादृतान् मोहात् पीड्यमानानपि क्षुधा ॥५॥
मानुषा मनुजव्याघ्र सामिलाषाः सुतान् प्रति ॥
लोभात् प्रत्युपकाराय नन्वेतान् किं न पश्यसि ॥६॥

❀ ❀ ❀

तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्त्ते निपातिताः ॥
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणा ॥७॥
तन्नात्र विस्मयः कार्य्यो योगनिद्रा जगत्पतेः ॥
महामाया हरेश्चैषा तया संमोह्यते जगत् ॥८॥

❀ ❀ ❀

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥९॥

❀ ❀ ❀

४१–प्राकृत–धर्म्मातिक्रान्त स्वतन्त्रप्रज्ञ भोगार्थी मानव–

वर्त्तमान दृष्टिकोण के अनुसार–यों कह लीजिए कि, 'खाना–पीना–मौज उड़ाना ऐसा करते करते एक दिन मर जाना' यही जीवमात्र का वह अनादिनन्त प्राकृतिक स्वधर्म है, जिसका ज्ञान जन्मतः सब को प्राप्त है। एवं जिसे वर्त्तमानशिक्षा पुष्पित–पल्लवितमात्र कर देती है। सभी तो इस दृष्टि से धर्म्मात्मा हैं। सभी तो स्वधर्म के लिए जीते और मरते हैं। क्या यही वह 'स्वधर्म' है ?, जिसका पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा गीताशास्त्र में स्पष्टीकरण हुआ है ? क्या यही वह स्वधर्म है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण धर्म्मशास्त्रों का महारम्भ प्रयास प्रवृत्त हुआ है ?। यदि [illegible] तो शास्त्र अनावश्यक है। पशु-पक्षी का शास्त्र पन्ने है !,

कहाँ शिक्षा प्राप्त करते हैं ? । फिर भी वे स्वधर्म्मपालन तो करते ही हैं । फिर मनुष्य नामक जन्तुविशेषमें जिसे 'ज्ञानिनो मनुजाः' सत्यम् के अनुसार इतर प्राणियों की अपेक्षा कम्मत अधिक ज्ञानसम्पत्ति मिली है क्या वह मनुष्य बिना शास्त्र के स्वधर्म्म का पालन नहीं कर सकता ? । कर सकता है करता है भविष्य में भी करता रहेगा । अपने यथाजात ज्ञान से पश्वादि जिस स्वधर्म्म का पालन जैसे स्वभाव से करते चले आरहे हैं वैसे ही मनुष्य भी बिना शास्त्र के केवल अपने सहजज्ञान से ही इस स्वधर्म्मपालन में दक्ष है । किन्तु ।

इस 'किन्तु' ने थोड़ी विप्रतिपत्ति उपस्थित कर दी । जीवसामान्य के जीवत्वानुगत उक्त सामान्य-भावात्मक स्वधर्म्म के साथ साथ प्रत्येक जाति के जीवों की प्रकृति विभिन्न है । इसी प्रातिस्विक प्रकृति के अनुरोध पर उस जीव को चलना पड़ता है । यही प्रातिस्विक प्रकृति उस जीववर्ग का 'स्वधर्म' है । अन्न सब खाते हैं परन्तु प्रकृतिभेद से सभी अन्न सब वर्गों के लिए नियत नहीं है । पशु घास खाएँगे पक्षी अन्नकण खाएँगे कीट ओषधि-वनस्पतिरस का पान करेंगे, कृमि मिट्टी-मलमूत्रादि खाएँगे । इसी प्रकृतिभेद के अनुपात से मनुष्यजन्तु के भी आहारविहारादि नियत हैं । अन्यान्य प्राणी स्व-स्व-प्रकृत्यनुगत नियत स्व-स्व आहारादि लक्षण स्वधर्म्मपालन में ही प्रवृत्त रहते हैं । परन्तु मनुष्य इस प्राकृतिक नियम का अपवाद बन जाता है । क्यों ?, ज्ञानमात्रा जो इसको अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक मिली है । इसी से यह स्वतन्त्र बन कर प्राकृतिक मर्य्यादा का उल्लंघन कर जाता है । 'न देवा अतिक्रामन्ति न असुराः न पशवः न पितरः मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति' (शत० ब्रा०) इत्यादि श्रुति ने भी मानवीय मन की इस अमर्य्यादा का ही समन्वय किया है । मनुष्य पशु खालेगा पक्षी खा जाएगा कीट-कृमि खाजाएगा सब कुछ खाजाएगा पी जाएगा न करने का काम कर देगा, और इसप्रकार अपने ज्ञानविकास का दुरुपयोग करता हुआ यह स्वधर्म्म का अतिक्रमण कर जाएगा । इसप्रकार यह श्रेष्ठ मानव स्वधर्म्म मूल मानवधर्म्म की उपेक्षा कर पशुधर्म्मादि अन्य परधर्म्मों का अनुगामी बनता हुआ 'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति' को सार्थक बना देगा ।

४२—आधिकारिक, कर्म्मानुगत, भोगानुगत त्रिविध जीव, एवं मानव का बुद्धियोग—

वैज्ञानिकों ने हमें बतलाया है कि-आधिकारिक कर्म्मानुगत भोगानुगत, भेद से जीववर्ग तीन भागों में विभक्त है । प्रकृतिकेन्द्र की ओर से विभिन्न शक्तिकर्म्माधिकारों पर आरूढ सूर्य्य-चन्द्र-अग्न्यादि जीव आधिकारिक जीव हैं । 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (वेदान्तसूत्र) सिद्धान्तानुसार-आविर्भाव-समय से आरम्भ कर निधनपर्य्यन्त अपने अधिकृत कर्म्म में नियमतः आरूढ रहने वाले ये जीव कर्म्मबन्धन से असंस्पृष्ट हैं । कर्म्मस्वातन्त्र्य में असमर्थ केवल फलभोक्ता पश्वादि जीव भोगजीव हैं । आधिकारिक, तथा भोगजीव, दोनों के स्वधर्म्म पालन का उत्तरदायित्व ईश्वरीय प्रकृतिकेन्द्र पर अवलम्बित है जिस तत्त्व का 'भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः' इत्यादि वचन से समर्थन हुआ है । शेष रह जाता है—कर्म्मजीववर्ग जिसे 'मानव' उपाधि प्राप्त है । ज्ञान के प्रभव होने के गौरव से विभूषित इस मानवजीवसंस्था में ईश्वरवत् जीव भी स्वतन्त्र बन जाता है । अपने तत्त्व का स्वातन्त्र्य ही इसे प्रकृतिधर्म्म से वञ्चित कर देता है । और इस वञ्चना का सूत्रधार बनता है—वायनुगत प्रज्ञानमन । प्रज्ञानमन इन्द्रियों के द्वारा बहिर्मुख बना रहता है । बौद्धानुगत स्वधर्म्मपालन का मध्यस्था विज्ञानात्मिका व्यवसायात्मिका बुद्धि से सम्बन्ध बतलाया गया है । यदि मन स्वतन्त्र बन जाता है तो बुद्धिरूप स्वधर्म्म को मन के प्रति आत्मसमर्पण कर देना पड़ता है । मन चञ्चल होने

से सत्यमावापन्न है। इसके प्रति आत्मसमर्पण करते ही बुद्धि इस ऊर्ध्वस्थानीय भूतयधर्म्म से पृथक् होकर अविद्या (मर्त्य) भावापन्ना होजाती है। बुद्धि का स्वाभाविक सत्यविवेकलक्षण धर्म्म अभिभूत होजाता है, जिसके बल पर जीव स्वधर्म्म पालन में समर्थन हुआ करता है। बुद्धि के प्रति यदि जीवात्मा का आत्मसमर्पण रहता है, तो इस योग से सम्यग्द्वारा बुद्धि का स्वाभाविक विद्याभाग विकसित रहता है। ऐसी विद्याबुद्धि पर मन विजय प्राप्त नहीं कर सकता। अपितु बुद्धि मन पर विजय प्राप्त कर लेती है। बुद्धि मन के साथ रहे यह एक दृष्टिकोण है। मन बुद्धि के साथ रहे, यह एक दृष्टिकोण है। 'बुद्धियोग' शब्द दोनों स्थानों में प्रयुक्त होसकता है। और इसी आधार पर मनुष्य के यथयावत् योगों को 'बुद्धियोग' कहा जासकता है। परन्तु बुद्धिगर्भित मन से युक्त बुद्धियोग आत्मयोग से भी वञ्चित है साथ ही सहजयोग का विरोधी बनता हुआ योगविरोधी भी है। अव्ययात्मा से बुद्धि युक्त है, बुद्धि से मन, मन से इन्द्रियवर्ग इससे कर्म्म, युक्त है। एवं यह है सहजपरम्परानुगत सहज बुद्धियोग। अव्ययात्मा मन से, मन के गर्भ में बुद्धि बुद्धिगर्भित मन का इन्द्रियपरावर्तित्व, इन्द्रियों की विषयाधामता यह कृत्रिम परम्परा है। यहां भी बुद्धि युक्त अवश्य है, परन्तु अपने रूप से नहीं, अपितु मनःप्राधान्य से। यही अयोगात्मक बुद्धियोग है जो स्वधर्म्म मर्यादा से एकान्ततः बहिष्कृत है। स्वधर्म्मानुगत सात्त्विक योग प्रकृतितत्त्वपरिज्ञानसापेक्ष है। इसे प्राप्त कर तदनुरूप कर्म्मानुष्ठान करना ही मानवधर्म्म है, यही इसका स्वधर्म्म है। सामान्य से प्रकृतिस्वरूप-परिज्ञान प्राप्त करने योग्य विद्याबुद्धि भी इस में सहजया प्राप्त है। परन्तु इसका स्वधर्म्म में उपयोग न कर यह परधर्म्म (मनोऽनुगत इन्द्रियादि धर्म्म) में उपयोग कर इसे अविद्याभाव में परिणत कर देता है। यही इसके पतन का मूल कारण है जिस कारण के निराकरण के लिए ही गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है जिसका मूलसूत्र है यह बुद्धियोग, जिसका अव्ययानुगति से सम्बन्ध है। यह बुद्धितत्त्व जिसका प्रभव आधिदैविक बुद्धितत्त्व है। उसी (सूर्य्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

४३—सूर्य्य के जन्मदाता परमेष्ठी—

प्रकरणोपात्त 'स्वधर्म्म' का स्वरूपविश्लेषण किया गया। बुद्धियोगनिरुक्तनोपक्रम में कहा गया है कि आधिदैविक बुद्धितत्त्व (सूर्य्य) विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार बुद्धि का प्रभव सूर्य्य है, वैसे सूर्य्य का प्रभव कौन है, प्रश्न के उत्तर में श्रुति ने—आपोमय 'परमेष्ठी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। श्रुति ने बतलाया है कि पारमेष्ठ्यमण्डल वह मण्डल है जिसके गर्भ में पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व से सूर्य्य का प्रादुर्भाव हुआ है। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्' सिद्धान्तानुसार अप्तत्त्व भृगु-अङ्गिरा भेद से दो भागों में विभक्त है। आपः-वायु-सोम-समष्टि भृगुमयी है, अग्नि-यम-आदित्य-समष्टि अङ्गिरामयी है। आपः का आदित्य से, वायु का यम से एवं सोम का अग्नि से सम्बन्ध है। पारमेष्ठ्य सोम भी ऋत है, पारमेष्ठ्य अग्नि भी ऋत है। इस ऋत सोम की आहुति (परमाणुरूप से आपोमय समुद्र में व्याप्त अग्नि) में आहुति हुई, अग्नि बलशाली बन कर पुञ्जीभूत होने लगा। चिरकालिक इस व्यापार से परमेष्ठिमण्डल के गर्भ में बलवान् अग्नि घनपिण्डरूप में परिणत हो गया। अप्सपृष्ठ रश्मिविशिष्ट यही सत्यप्रपात्मक केन्द्रीय अग्निपिण्ड 'सूर्य्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

४४-परमेष्ठी के जन्मदाता स्वयम्भू, एवं सर्वप्रभव आत्मपुरुष—

यह तो हुआ उस भौतिक प्रत्यक्ष सूर्य के जन्मेतिवृत्त का विश्लेषण जिसका वर्तमान भौतिकविज्ञानवादी भी अपनी स्थूलदृष्टि से समर्थन कर सकेंगे। अब उस आधिदैविक तत्त्वात्मक सूर्यस्वरूप का विचार कीजिए, जिसका बुद्धितत्त्व से सम्बन्ध है। सूर्य के जन्मदाता परमेष्ठी का जन्मदाता कौन है, वैज्ञानिकों ने समाधान किया—आकाशात्मा प्राणमूर्ति स्वयम्भू। प्राणमूर्ति स्वयम्भू का जन्मदाता कौन है, उत्तर मिला 'आत्मा'। आत्मा का जन्मदाता कौन है, उत्तर मिला 'नाधिपाधिपः'। आत्मा स्वयं सबका जन्मदाता है अतएव वह नित्य है, शाश्वत है, अजन्मा है, अनुच्छित्तिधर्मा है। एवंविध आत्मा का क्या स्वरूप है, प्रश्न का उत्तर मिला—षोडशकलात्मक अव्ययपुरुष। इसने कैसे और किससे स्वयम्भू उत्पन्न किया है, प्रश्न का उत्तर मिला—इसने अपनी अव्ययानुगत मानस कामना से अक्षरानुगत प्राणात्मक तप से क्षरानुगत वाङ्मय श्रम से इन तीन व्यापारों से, तथा त्रयात्मक तीसरे वागम्भोपाधान से स्वयम्भू उत्पन्न किया। इसे उत्पन्न कर आत्मा कहाँ रहा? उत्तर मिला—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'—उत्पन्न कर वह उसी में प्रविष्ट होगया। आगे क्या हुआ? प्रश्न का समाधान हुआ—'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'—स्वयम्भुवी आकाशात्मिका वाक् ही ऋषिप्राण-प्रवेश से घन होकर आप्-अप्तत्त्वरूप में परिणत हो गई। यही अप्तत्त्वमण्डल 'सरिर' (सलिल) नाम का आपोमय मण्डल कहलाया एवं 'आपस्त्वमास्य' से आत्मगर्भित स्वयम्भू इस परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित हो गया। इसप्रकार-पुरुषात्मा स्वयम्भू परमेष्ठी, तीनों की समष्टि एक संस्थात्मिका बन गई। यहाँ तक मूलज्योति का अभाव था अतएव इस तत्त्व का अव्यक्तत्त्व प्रकृतिसिद्ध बना रहा। यही कारण है कि आज भी वह तत्त्वत्रयी स्थूलदृष्टि के लिए अव्यक्त ही बनी हुई है। व्यक्त तत्त्व की ही इन्द्रियद्वारा उपलब्धि होती है। उपलभ्य वस्तु का ही—'अयम्'-इदं-इदं-आगे-क्रम से अभिनय हुआ करता है। उपलब्धि के अनन्तर ही हम-'इम अमुक का जान गए, जानते हैं' व्यवहार होता है—जिसे 'अवगमन'-'अवगत' शब्दों से व्यवहृत किया गया है। अवगमन की प्रतिष्ठा उपलब्धि ही है। उपलब्धि का व्यक्तभाव से ही सम्बन्ध है। सम्यक्‌उपलब्धि भी 'व्यक्तमव्यक्तमतो लिङ्गम्' न्याय से व्यक्त के द्वारा ही होती है। अतएव व्यक्तभाव को सर्वोपलब्धि का द्वार माना गया है। यह व्यक्तीभाव आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित अग्नि-सोममूर्ति सूर्य से ही सम्बन्ध रखता है। सूर्य ही व्यक्त विश्व का प्रथम व्यक्त रूप है जैसाकि-'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। सौरज्योति ही उपलब्धि का प्रधान आलम्बन बनती है अतएव सौरप्राणोपनिषद् वैज्ञानिक विज्ञानपरिभाषा में 'अवरुद्धज्योति' नाम से व्यवहृत हुआ है जिसका उपनिषद्विज्ञानभाष्य-भूमिका में विस्तार विश्लेषण हुआ है।

४५-सूर्य का भौतिक, एवं दैविक स्वरूप—

भूतोपलब्धि ज्ञानोपलब्धि भेद से उपलब्धि तत्त्व दो भागों में विभक्त है। पर सामने रखना है। इसकी उपलब्धि (ज्ञान) तब तक असम्भव है जब तक कि सूर्य-चन्द्रमा-विद्युत्-अग्नि-दीपक-आदि किसी एक प्रकाश का इसके साथ सम्बन्ध न हो। प्रकाशरश्मियाँ भौतिक रूप से सम्बन्ध होंगी, तदाकारता से परिणत उन प्रकाशरश्मियों का प्रतिफलन होगा। वे प्रतिफलित रश्मियाँ ही सूर्यरश्मि से प्रादुर्भूत चक्षुर्मण्डल में प्रविष्ट होकर-'अयं घटः' इस भूतोपलब्धि का कारण बनेंगी। प्रकाश कोई भी हो सबका मूल सूर्य ही है। अतएव कहा जा सकता है कि सूर्यात्मक भूतरश्मि ही भूतोपलब्धि का कारण है। अस्मद्

जानामि' इस सामान्य ऐन्द्रियक घट ज्ञान का ही नाम 'भूतोपलब्धि' है। इन्द्रियद्वारा यह भूतोपलब्धि मन पर संस्काररूप से प्रतिष्ठित हो जाती है। इसी को दर्शनभाषा में-'पार्ष्टिज्ञान' कहा गया है। 'घटमहं जानामि, इत्यपि जानामि' यही इस पार्ष्टिज्ञान का स्वरूप है। 'मैं घड़ा जानता हूँ' यह भूतोपलब्धि है, 'जानता हूँ-यह भी जानता हूँ,' यह ज्ञानोपलब्धि है। विषयावच्छिन्न अवगम (बोध) भूतोपलब्धि है, संस्कारावच्छिन्न अवगम ज्ञानोपलब्धि है। इस ज्ञानोपलब्धि का मूल भी परम्परया सूर्य्यज्योति ही है। 'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः' सिद्धान्तानुसार हमारा आत्मा सूर्य्य चन्द्रमा अग्नि, वाक् (विद्युत्) आत्मा (संस्कार) इन पाँचों ज्योतियों में से स्वप्रतिष्ठा के लिए अवश्य ही किसी एक ज्योति की अपेक्षा रखता है। इनमें आत्मज्योति का ही नाम संस्कार ज्योति है, यही ज्ञानज्योति है। संस्कारों का आगमन सूर्य्यद्वारा ही होता है। अतएव ज्ञानज्योतिर्लक्षण संस्कार ज्योति (आत्मज्योति) का भी परम्परया सूर्य्यात्मक भूतज्योतिमूलकत्व ही सिद्ध होजाता है। भूतज्योतिर्म्मय सूर्य्य में ज्ञानज्योति को उत्पन्न करने का धर्म्म कहाँ से आया?, यह प्रश्न है। ऋषियों ने समाधान किया है कि भूतज्योतिर्घन सूर्य्य जिस सोममय पारमेष्ठ्य तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, उस महत्सोम' के गर्भ में 'सत्त्वष्टा' न्याय से ज्ञानज्योतिर्घन चिदात्मा प्रविष्ट रहता है। यही-'योऽसावादित्ये पुरुषः' के अनुसार आधिदैवत में 'आदित्यपुरुष' कहलाया है। इसी के सम्बन्ध से भूतज्योतिर्घन इरय सूर्य्य ज्ञानज्योतिर्गर्भित बना हुआ है। इसी ज्ञानज्योतिर्गर्भ-भाव से भूतज्योतिर्घन-सूर्य्य अपने बाह्य भूतज्योतिर्भाग से भूतोपलब्धि का एवं आभ्यन्तर ज्ञानज्योतिर्भाग से ज्ञानोपलब्धि का कारण बना हुआ है। तात्पर्य्य-स्वयम्भूरूप अव्यक्तगर्भित परमेष्ठीरूप महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित सूर्य्य में महद्गर्भित चिदात्मा भी प्रतिष्ठित रहता है। यही क्यों पारमेष्ठ्य यह सोमप्रधान बनता हुआ 'सुप्त' है। यहाँ चिदात्मा विकसित नहीं होता अपितु अन्तीन रहता है। और यह अग्निप्रधान बनता हुआ 'चित्त' है। अग्न्यनुगता चिति के सम्बन्ध से यहाँ आकर महद्गर्भित चिदात्मलक्षण षोडशीपुरुष का पूर्ण विकास हो जाता है। अतएव और इन्द्र तत्त्व-'इन्द्रो ह वै षोडशी' के अनुसार 'षोडशी' कहलाया है। भूतोपलब्धि का आधार इरय भौतिक सूर्य्य आधिभौतिक सूर्य्य है, एवं ज्ञानोपलब्धि का प्रवर्त्तक षोडशी-इन्द्र प्राणात्मक हिरण्यगर्भरूप अव्यक्त सूर्य्य आधिदैविक सूर्य्य है। दैविक अव्यक्त सूर्य्य आत्मा है जिसे लक्ष्य बना कर 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' इत्यादि श्रुतियाँ व्यवस्थित हैं। भौतिक इरय सूर्य्य अव्यक्त दैविक सूर्य्य का शरीर है जिसे लक्ष्य बना कर-'नूनं जना सूर्य्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि'-'हिरण्मयेन सविता रथेन' इत्यादि श्रुतियाँ व्यवस्थित हैं।

४६-ज्योति-र्गौ-रायु-र्म्मनोज्ञामय, बुद्धिप्रभव सूर्य्य—

परमेष्ठी के गर्भ में समुत्पन्न सूर्य्य ही उभयोपलब्धि का कारण बनता हुआ 'बुद्धयत मनस्य' निर्वचन से समर्थित है। अवगमन उपलब्धिमूलक है उपलब्धि बोधमूला है बोध सूर्य्यमूलक है। अतएव उस लब्ध्याधारभूत आत्मज्योतिर्गर्भित भूतज्योतिर्म्मय सूर्य्य को अवश्य ही आधिदैविक 'बुद्धि' तत्त्व कहा जासकता है। बुद्धिरूप इस आधिदैविक सूर्य्य में ताप, प्रकाश ये दो तत्त्व प्रत्यक्ष दृष्ट हैं। ताप अग्नितत्त्व है प्रकाश इन्द्रतत्त्व है। प्रकाश का मूल है-सोमाहुति। फलतः सोमतत्त्व की सत्ता भी स्वतः सिद्ध है। वाक् चित्य की सत्ता का स्पष्टीकरण पूर्व में किया ही जा चुका है। इसप्रकार सूर्य्य में प्रधानतः-क्रमित सोम अग्नि इन्द्र इन चार तत्त्वों का समन्वय सिद्ध हो जाता है। सोम अग्नि दोनों भूत हैं। इन्द्र प्राण है चित् मन है। भूत अर्थप्रधान है प्राण क्रियाप्रधान है मन ज्ञानप्रधान है। अर्थप्रधान सूर्य्य में उस अव्ययप्रधान मनोमय ज्ञानात्मा का

ही साम्राज्य है जो प्रज्ञानात्मा कहलाता है। सूर्य से नीचे रसप्रधान वाङ्मय भूतात्मा का ही साम्राज्य है जो–'यदधिकिञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्' के अनुसार मर्त्यात्मा कहलाता है। किन्तु मध्यप्रधान–प्राणमय–सौर कर्मात्मा मध्यस्थ होने से उभयधर्मावच्छिन्न बनता हुआ मनःप्राणवाङ्मयत्वेन सर्वात्मक है। यही पूर्वकथनानुसार षोडशी का पूर्ण विकास है। अतएव–'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार इसे ही 'आत्मसृष्टि' की प्रतिष्ठा माना गया है। सौर आत्मा जब तक उदित न था तब तक सब कुछ अव्यक्त रहता हुआ नानात्वेन अनुपलब्ध था। उस समय तो 'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्–अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः' लक्षण अविज्ञात तम का ही साम्राज्य था। सूर्योदय से ही नानाज्ञानोपलब्धियों का आविर्भाव हुआ। अयं सूर्यः, अयं चन्द्रमा, इयं पृथिवी, असौ द्यौः, इत्यादि विभिन्न-विभिन्न ज्ञानों का उदय क्योंकि ज्योतिर्मय प्रज्ञान सूर्य के द्वारा हुआ है अतएव बुद्धिरूप इस सूर्यात्मा को हम विभक्त ज्ञानापेक्षया 'विज्ञानात्मा' नाम से व्यवहृत करना भी अन्वर्थ बनता है। सामान्य नाम बुद्ध्यात्मा है, विभिन्न ज्ञानापेक्षया नाम विज्ञानात्मा है। दोनों ही नामों का 'उक्थ' (महत्सूर्यबिम्ब) से सम्बन्ध है। आगे जिन नामों का निर्वचन होने वाला है वे सब अन्वर्थ माने जायेंगे जैसा कि तथापि स्पष्ट कर दिया जायगा। चिद्रूप–सौर मनोमय ज्ञानभाग 'आयुर्मय' है, प्राणमय और प्राणमय क्रियाभाग ज्योतिर्मय है, सोम गर्भित अग्निलक्षण वाङ्मय अर्थभाग गौर्मय है। मनोमय आयुर्भाग का आत्मसृष्टि से, प्राणमय ज्योतिर्भाग का देवसृष्टि से तथा वाङ्मय गौर्भाग का भूतसृष्टि से सम्बन्ध है। ज्योतिः–गौः–आयुर्लक्षण ये ही तीनों तत्त्व 'वीरस्तोमा' कहलाए हैं जिनके आधार पर क्रमशः ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम नामक तीनों स्तोमयज्ञ वितत होते हैं। ज्ञानयुक्त सौर प्राणविशिष्ट यही 'देवात्मा' कहलाता है, यही ज्ञानयुक्त सौर आत्मा 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसा कि 'आत्मविज्ञानादि' निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है। आत्म–सूत्र–देव–सर्वप्रभवभूत, विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित, विश्वाध्यक्ष इसी सौर विज्ञानात्मा का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है–

१–अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
—श्वे॰ ५।१३।

२–यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति॥
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश॥
—ऋक् सं॰ १।१६४।२१।

३–एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
—श्वे॰ ६।१५।

४–यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥
—श्वे॰ ४।१८।

५—विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥
—प्रश्नोप० ४।११।

६—मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥
—मुण्डको० २।२।७।

१	१—स्वयम्भूः २—परमेष्ठी	—तदनुगतः षोडशीपुरुषो मनोमयोऽव्ययात्मा		—अमृतात्मा
२	१—सूर्यः	—तदनुगतः षोडशीपुरुषः प्राणमयोऽक्षरात्मा	—अत्र सर्वं समर्पितम्	—उभयात्मा
३	१—चन्द्रमाः २—पृथिवी	—तदनुगतः षोडशीपुरुषो वाङ्मयः क्षरात्मा		—मर्त्यात्मा

सूर्य्यविवर्त्तभावा —

१—चित्]—(१) मनोमयं ज्ञानविवर्त्तम्—अव्ययानुगतम् । आयुः—ततः—आत्मसृष्टिः—आयुष्टोमवितानश्च
२—इन्द्रः]—(२) प्राणमयं क्रियाविवर्त्तम्—अक्षरानुगतम् । ज्योतिः—ततः—देवसृष्टिः—ज्योतिष्टोमवितानश्च
३—सोमः }
४—अग्निः }—(३) वाङ्मयमर्थविवर्त्तम्—क्षरानुगतम् । गौः—ततः—भूतसृष्टिः—गोष्टोमवितानश्च

४७—योगेश्वर की भगवत्तालक्षणा 'भग' विभूति—

बुद्धिशब्दनिर्वचनपूर्वक आधिदैविक बुद्धि (सूर्य) तत्त्व का स्वरूप बतलाया गया। कहा जाता है कि, बुद्धितत्त्व आठ भागों में विभक्त है। इनमें चार विद्याबुद्धियाँ हैं, चार अविद्याबुद्धियाँ हैं। प्रश्न

होता है कि एक ही भुक्तितत्त्व के आठ विवर्त कैसे हो गए ? । प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में प्रश्न का समाधान कर भुक्तिशब्दनिर्वचनप्रकरण समाप्त किया जा रहा है । समाधान अत्यल्प है, केवल समन्वय कर देना है । विश्वाधिष्ठाता विश्वेश्वर ही 'योगेश्वर' कहलाए हैं वे ही सर्वसाधारण में 'भगवान्' नाम से प्रसिद्ध हैं जिस शब्द का अर्थ होता है—'भगयुक्त' । आत्मविभूति का ही नाम 'भग' है जिसका महिमारूप साहस्रीमण्डल से सम्बन्ध माना गया है । उदाहरण के लिए दीपार्चि (लौ) को आत्मा समझिए, जहाँ तक दीपप्रभा (प्रकाश) व्याप्त है उस परिमण्डल को 'महिमामण्डल' समझिए । महिमामण्डल में व्याप्त प्रभा (ज्योति) को 'विभूति' समझिए । विभूति का शासक मूलबिम्ब होता है उत्पत्तरूप मूलबिम्ब से ही महिमारूप विभूति का वितान होता है । अतएव अपनी महिमारूपा विभूति का उपक्रमरूप मूलबिम्ब ईश्वर का ऐश्वर्य है । यतः ईश्वर है उसका समप्रदेश महिमामण्डल है, तदनुरूप परिधि इसका विभूतिलक्षण ऐश्वर्य है । द्वादश आदित्यों में एक प्राणविशेषरूप आदित्य के द्वारा यह भगात्मिका विभूति प्राप्त हो जाती है । अतः उस आदित्यप्राणविशेष को भी 'भग' कह दिया जाता है । वस्तुतस्तु यही भगवान् (योगेश्वर) की भगवत्ता है । व्यक्त विभूति का वितान आदित्यघन सूर्यद्वारा ही हुआ है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है । अतः सूर्य को ही प्रधानतः 'भग' कहना अन्वर्थ बनता है । अतएव सूर्यनामगणना में—'इनो भगो धामनिधि' इत्यादि रूप से भग नाम का भी समावेश हुआ है *। योगेश्वर का विभूतितत्त्व ही भग है, तद्युक्त होने से ही योगेश्वर 'भगवान्' कहलाए हैं यही तात्पर्यनिष्कर्ष है ।

४८—उपाधिभेदभिन्न षड्विध भग-विभूतिवर्ग—

उपाधिभेद से योगेश्वरानुगत भग (विभूति) ६ भागों में विभक्त हो जाता है । विश्वव्यापक योगेश्वर ही विश्वेश्वर भगवान् हैं । इस भगवत्तत्त्व के विश्व और सर्वेश्वर भेद से दो विभाग स्वतः सिद्ध हैं । विश्व पञ्चपर्वा है ईश्वर त्रिपर्वा है इन तीन-पाँच के समन्वितरूप का ही नाम विश्वेश्वर है । अव्यय—अक्षर—आत्मक्षरानुगत मनःप्राणवाङ्मय त्रिपर्वा आत्मा (षोडशीपुरुष) ही विश्वप्रविष्ट आत्मा है एवं स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा पृथिवी, इन पाँच पर्वों की समष्टि उस विश्वप्रविष्ट आत्मा का शरीरात्मक विश्व है । इस दृष्टि से योगेश्वर के आरम्भ के आत्मा शरीर, ये दो विभाग हो जाते हैं । विश्व के पाँच विभाग हो जाते हैं । आत्मा के भी यद्यपि तीन पर्व हैं परन्तु उनकी स्वतन्त्र गणना न होकर तीनों की समष्टि एक 'आत्मा' नाम से ही व्यवहृत हुई है । कारण प्राणमय अक्षर—वाङ्मय—क्षर को गर्भ में रखते हुए मनोमय अव्यय अपारपारीण बनता हुआ 'विश्वसर्वस्व ईश्वर' विज्ञानानुसार सम्पूर्ण विश्व का एक आत्मा बना हुआ है । उधर विश्वानुगत पाँचों पर्व व्यक्तिलक्षण आत्मा पाँच ही हैं । इस दृष्टि से आत्म—विश्वसमष्टिलक्षण योगेश्वर के हम षोडशीपुरुष, स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य चन्द्रमा पृथिवी, ये ६ विभाग ही विज्ञानानुगत मानेंगे । आत्मरूप स्वयं षोडशीपुरुष विश्वहृदय में उपक्रम से व्याप्त है । इसका विभूतिस्वरूप महिमा से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है । यही पुरुषविभूति, जिसे आत्मश्वेश्वरविभूतिलक्षण विश्वेश्वर

* भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुर एता भवेह ॥
—तै० ब्रा० २।८।९।२

भगवान् का विभूतिलक्षणा प्रथम 'भग' है, जो 'वैराग्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। उक्थ आत्मा असङ्ग है रागशून्य है। फलतः इसकी अर्कोरूपा विभूति भी असङ्ग ही है। अतएव आत्मविभूति को 'वैराग्य' कहना अन्वर्थ बनता है।

अब विश्वविभूति का समन्वय कीजिए। विश्व का पहिला पर्व अव्यक्त स्वयम्भू है। उक्थरूप से वह परमेष्ठी के ऊर्ध्वभाग में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'परोरजा' नाम से प्रसिद्ध है। इस स्वयम्भू उक्थ से विनिर्गत प्राणमय अर्क सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। इस स्वायम्भुव प्राणमण्डल का ही नाम स्वायम्भुव विभूतिमण्डल है, जिसके गर्भ में परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–चारों विश्वपर्व (समष्टि) प्रतिष्ठित हैं। यही स्वायम्भुवी विभूति स्वायम्भुव 'भग' है यही 'ज्ञान' नामक दूसरा भग है। ज्ञानप्रधान अव्ययात्मा के प्रथम सम्पर्क में आने के कारण ही स्वायम्भुव भग को 'ज्ञान' कहना अन्वर्थ बन रहा है।

स्वयम्भू से नीचे और सूर्य्य से ऊपर आपोमय परमेष्ठीपिण्ड उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इस परमेष्ठी उक्थ से विनिर्गत आपोमय अर्क सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–लक्षण सम्पूर्ण रोदसीत्रैलोक्य में व्याप्त है। इस पारमेष्ठ्य आपोमण्डल का ही नाम पारमेष्ठ्य विभूतिमण्डल है, जिसके गर्भ में समष्टि सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, तीनों पर्व प्रतिष्ठित हैं। यही विभूति पारमेष्ठ्य 'भग' है, यही 'धर्म्म' नामक तीसरा भग है। सत्यात्मक नियतिलक्षणा धर्म्म की प्रथम प्रतिष्ठा पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व ही माना गया है। अतएव इसकी विभूति को 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है।

परमेष्ठी से नीचे और चन्द्रमा से ऊपर वाङ्मय सूर्य्यपिण्ड उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इस सूर्य्योक्थ से विनिर्गत वाङ्मय अर्क सौर–चान्द्र–पार्थिव–तीनों मण्डलों में व्याप्त हैं। इस सौरमण्डल का ही नाम सौर-विभूतिमण्डल है, जिसके गर्भ में समष्टि चन्द्रमा, पृथिवी, दोनों विवर्त प्रतिष्ठित हैं। यही सौरी विभूति सौर 'भग' है यही 'ऐश्वर्य्य' नाम का चौथा भग है। विभूति ही ईश्वर का ऐश्वर्य्य है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। ईश्वर (षोडशी आत्मा) का पूर्ण विकास चितिलक्षण सूर्य्य में ही होता है। अतएव सौर इन्द्रतत्त्व 'षोडशी' कहलाता है। इसीलिए सौरी विभूति को 'ऐश्वर्य्य' कहना अन्वर्थ बनता है। अपिच विभूतिरूप ऐश्वर्य्य का व्याप्तिभाव व्यक्त सूर्य्य पर ही अवलम्बित है। व्यक्त सूर्य्य ही अव्यक्त-स्वयम्भू-परमेष्ठी, तथा व्यक्त–चन्द्रमा–पृथिवी, चारों का व्यञ्जक बनता है। इसलिए भी सौरविभूति को ऐश्वर्य्य कहना अन्वर्थ बनता है।

सूर्य्य से नीचे (सृष्टिक्रमानुसार) अन्नमय चान्द्रपिण्ड उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इस चन्द्रोक्थ से विनिर्गत अन्नमय अर्क चान्द्र और पार्थिव मण्डल में व्याप्त हैं। इस चान्द्र–अन्नमण्डल का ही नाम चान्द्रविभूतिमण्डल है जिसके गर्भ में समष्टि पृथिवीमण्डल भुक्त है। यही चान्द्री विभूति चान्द्र भग है यही 'यश' नाम का पाँचवाँ भग है। चान्द्रमनोता रेत–श्रद्धा–यश–नाम से प्रसिद्ध है। रेतोमनोता का चान्द्र सोमरूप भूतभाग से श्रद्धामनोता का चान्द्र सौम्य प्रज्ञाभाग से तथा यशोमनोता का चान्द्र सौम्यप्राण–भाग से सम्बन्ध है। चान्द्रप्राण ही यश कहलाता है। मात्रा ही विभूति है। अतएव विभूतिलक्षण चान्द्र मात्रारूप भग को अवश्य ही 'यशो'–नाम से व्यवहृत किया जा सकता है।

हरिमूला सविविद्या के अनुसार अन्नादमय भूपिण्ड रसरूप से त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित है। इस भूपिण्डलोक से विनिर्गत अन्नादमय अर्द्ध पार्थिवमण्डल में, तथा अग्न्यादि पार्थिवप्रजा में व्याप्त है। इस पार्थिव अन्नादमण्डल का ही नाम पार्थिव विभूतिमण्डल है जिसके गर्भ में अग्निमनेत्रलोक प्रतिष्ठित है। यही पार्थिवी विभूति पार्थिव 'भग' है, यही श्री नाम का छटा भग है। वाक्विभूति ही विज्ञानभाषा में 'श्री' कहलाती है जैसाकि–'वाग्विर्दैव वै श्रीः' (श० उ० ब्रा० १।७।१।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। वाक्यविभूति ही 'श्री' कहलाती है। पृथिवी आपोमयी होने से वारुण-श्री भाव से युक्त है। इसलिए भी इस विभूति को 'श्री' कहना अन्वर्थ बनता है। साथ ही वैराग्यादि पाँचों विभूतियों का जहाँ अध्यात्मसंस्था के अन्तःपर्वो से सम्बन्ध है वहाँ इस पार्थिवी श्री विभूति का वाक्पर्व (शरीर) से सम्बन्ध है। इसलिए भी इसे 'श्री' कहना अन्वर्थ बनता है।

४६–षड्विध विभूतिमावों के समर्थक वचन—

इसप्रकार स्वायम्भुव (षोडशीपुरुषानुगत) वैराग्य, अव्यक्तस्वयम्भू–विवर्त्तानुगत ज्ञान अव्यक्त-परमेष्ठी–विवर्त्तानुगत धर्म्म अव्यक्त सूर्य्यविवर्त्तानुगत ऐश्वर्य्य, अव्यक्त चन्द्रविवर्त्तानुगत 'यश' अव्यक्त भूविवर्त्तानुगत श्री, इन ६ विभूतिलक्षण भगों से आत्मश्री विश्वेश्वर 'भगवान्' बन रहा है। षड्भग-युक्तता ही भगवान् की व्याख्या है *। वैराग्यरूप स्वरूपी पुरुषरूप महिमा विभूति, भग, ये सब शब्द पर्यायतः समानार्थक हैं। उक्त ६ ओं विवर्तों के ६ ओं विभूतिमण्डल विज्ञानभाषा में क्रमशः 'स्वमहिमा, परमाकाश महासमुद्र सम्वत्सर, नक्षत्र, भाववम्' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जिन विभूति-मण्डलों में क्रमशः 'वैराग्य–ज्ञान–धर्म्म–ऐश्वर्य्य–यश–श्री' ये ६ भग प्रतिष्ठित हैं। इन ६ ओं की क्रमिक प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले कुछ एक वचन इसलिए यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक है कि, विज्ञानपरम्परा के विलुप्त हो जाने से कल्पनाप्रिय विद्वान् इन वैज्ञानिक विषयों को भी काल्पनिक कहने का दुस्साहस कर बैठे हैं।

(१)–षोडशीपुरुषानुगतं विभूतिमण्डलं–'स्वमहिमा'–तत्र 'वैराग्य'–भगः प्रतिष्ठितः—

१–"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित –इति ?। 'स्वे महिम्नि' प्रतिष्ठितः। नाह मेवं ब्रवीमि। ब्रवीमीति होवाच–अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः"।

—छां० उ० ७।२४।१२।

२–"अथातो 'वैराग्य'-संस्कृते शरीरे ब्रह्मयज्ञनिष्ठो भवेत्, अथ पुनर्मृत्यु-जयति। तद्धु ह वा आत्मा द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः"।

—शाट्यायनारण्यक १३।१।

——❀——

*–ऐश्वर्य्यस्य च समग्रस्य, धर्म्मस्य, यशसः, श्रियः।
ज्ञान–वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरणा॥

(२)—स्वयम्भ्वनुगतं विभूतिमण्डलं—'परमाकाश'—तत्र 'ज्ञान'—भगः प्रतिष्ठित —

१—"योऽस्याध्यक्ष 'परमे व्योमन' सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद" ।
—ऋक्सं० १ ।१२९।७

२—'ज्ञानेना'—काशकल्पेन धर्म्मान् यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बद्धुम्बं वन्दे द्विपदा वरम् ॥
—गौडपादीयकारिका ४।१।



(३)—परमेष्ठ्यनुगत विभूतिमण्डलं—'महासमुद्र'—तत्र 'धर्म्म'—भग प्रतिष्ठितः—

"१—परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत् । स आपोऽभवत् । आपो वा इदं सर्वम्
(शत० ११।१।६।१६।) । आप' स्थ समुद्रे श्रिता"—तै० ब्रा० ३।११।१।४।

"२—यो वै धर्म्म, सत्य वै" (शत १४।४।२।२६)—आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्"
(तै० ब्रा० १।१।३।८)—"तयत्—तत् सत्यं—आप—एव तत् । आपो हि वै सत्यम् ।
(शत० ७।४।१।६।)—"वरुण धर्म्मणां पते" (तै० ब्रा० ३।११।४।१)।



(४)—सूर्य्यानुगतं विभूतिमण्डलं—'सम्वत्सर'—तत्र—'ऐश्वर्य्य'—भगः प्रतिष्ठित —

१—"बृहती हि सम्वत्सर" (श ६।४।२।१०)—"एष वै सम्वत्सरो—य एष—तपति"
(शत० १४।१।१।२७) ।

२—"मध्ये ह सम्वत्सरस्य स्वर्गो लोकः (सूर्य्यात्मकः)" (शत० ६।७।४।११)—
"सर्व्वैर्यद्वैयजमान स्वर्गं लोकमभिवहन्ति । तयत्रास्यैश्वर्य्यं स्यात्, यत्र वैनमभिवहेयुः,
एवंविदमेव तत्र प्रजायां वृणीयात्" । (गो० ब्रा० पू० १।५।१०)।



(५)—चन्द्रानुगतं विभूतिमण्डलं—'नक्षत्रम्'—तत्र 'यशो'—भगः प्रतिष्ठितः—

१—"तस्मात् सोमो राजा (चन्द्रमाः) सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति" (षड्विं०ब्रा० ३।१२)।—
"नक्षत्राणि स्थ—चन्द्रमसि श्रितानि" (तै० ब्रा० ३।११।१।१३)।

२—"यशो वै सोमो राजा" (ऐ० ब्रा० १।१३)—"यश उ वै सोमो राजा—अन्नाद्यम्"
(कौ० ब्रा० ४।६)।



(६)—पृथिव्यनुगतं–विभूतिमण्डलं–'अन्नम्'–तत्र 'श्री'-भगः प्रतिष्ठितः—

१–"पुरुषो ह वा अयं सर्वं 'अन्नम्'–इ विद्ले भवत –इत्याहुः। तस्येदमेव पृथिव्या रूपम्"–(ऐ० आ० २।१।२)।

२–"पृथिव्यप्सु प्रतिष्ठिता" (ऐ० आ० २।१।१)–"समुद्रो हीमामभितः पिन्वते" (शत० ७।४।१।८)–"आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्" (तै० आ० १।१।२।८)– "श्री–र्वै वरुण"–(कौ० ब्रा० १८।४)।



विश्वेश्वरो भगवान्—(विशुद्धविभूतिलक्षणः)—

(१) अव्ययप्रधानो विश्वेश्वरः	–मनःप्राणवाङ्मयः	–स्वमहिमा	–वैराग्यम्	–आत्मा—ईश्वरः	विश्वेश्वरो भगवान्
(२) अस्मत्स्वायम्भुवम्	–प्राणमयः (ब्रह्मा)	–परमाकाशः	–ज्ञानम्	–शरीरम्—विश्वम्	
(३) अस्मत्परमेष्ठी	–आपोमयः (विष्णुः)	–महासमुद्रः	–धर्मः		
(४) अस्मत्सूर्यः	–वाङ्मयः (इन्द्रः)	–सम्वत्सरः	–ऐश्वर्यम्		
(५) अस्मच्चन्द्रमा	–अन्नमयः (सोमः)	–नक्षत्रम्	–यशः		
(६) अस्मद्भूपिण्डः	–अन्नादमयः (अग्निः)	–भानम्	–श्रीः		



१०–विश्वेश्वर के चतुर्थांश से जीव का स्वरूप निर्माण—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' सिद्धान्तानुसार शरीरेश्वर जीव विश्वेश्वर भगवान् का पूर्णांश अंश है। अतएव जो कलाविभाग जो विभूतिमण्डल, एवं जो कलाशक्तियाँ उसमें हैं, वे कलायें वे विभूतिमण्डल वे भग इसमें भी प्रतिष्ठित हैं और यहाँ तक–'योऽसौ–सोऽहम्' के अनुसार जो वह है वही यह है। जैसा स्वरूप उसका है, वैसा ही स्वरूप इसका है। दोनों में एक ऐसा अन्तर प्रविष्ट हो रहा है जिससे दोनों अभिन्न रहते हुए भी विभिन्न हो रहे हैं। वह अन्तर है–पूर्णेन्द्रत्व और अर्द्धेन्द्रत्व। विश्वेश्वर सर्वत्र परिपूर्ण रहने से सर्वतः पाणिपादादिविशिष्ट बनता हुआ स्वायम्भुव परमाकाशमण्डल में सर्वतः व्याप्त रहता हुआ इन्द्रियातीतसर्वेन्द्र है। इस पूर्णविभूति के कारण इसमें व्याप्ता का सम्बन्ध नहीं होने पाता। इधर जीवात्मा अर्द्धांशमात्र से सम्बन्ध रखता हुआ अर्द्धेन्द्र है। अर्द्धांश से ही क्या, अर्द्धांश के भी अर्द्धांश से अर्थात् एक चतुर्थांश से इसकी प्रवृत्ति हुई है। परमाकाशात्मक स्वयम्भू-मण्डल चतुष्पाद से युक्त माना गया है इसी आधार पर विश्वेश्वर भगवान् चतुष्पात् कहलाए हैं।

इस आग्रयात्मक महाब्रह्माण्ड का विभाजक मध्यस्थ सूर्य्य है। सूर्यबिन्दु से इस ब्रह्माण्ड के दो विभाजन हो रहे हैं। ये ही दोनों विभाग पुराणपरिभाषा में 'अण्डकपाल' नाम से व्यवहृत हुए हैं। स्वयम्भू-परमेष्ठी, इन दो पिण्डों का ऊर्ध्वकपाल से सम्बन्ध है, यही अमृतप्रधान अमृतकपाल है। चन्द्रमा-भूपिण्ड, इन दो पिण्डों का अधःकपाल से सम्बन्ध है। यही मर्त्यप्रधान मर्त्यकपाल है। पूर्णाकाश (पूर्णब्रह्माण्ड) के इन अमृत-मर्त्य-कपालों का विभाजक मध्यस्थ सूर्य्य है। अमृतकपाल से संश्लिष्ट सौरतत्त्व अमृतप्रधान बनता हुआ अमृतात्म संस्था में मुक्त है। मर्त्यकपाल से संश्लिष्ट सौरतत्त्व मर्त्यप्रधान बनता हुआ मर्त्यात्मसंस्था में मुक्त है। इसप्रकार ऊर्ध्वकपालरूप अर्द्ध अमृताकाश में स्वयम्भू, परमेष्ठी, अमृत सूर्य्य इनकी, तथा अधःकपालरूप अर्द्ध मर्त्याकाश में मर्त्य सूर्य्य चन्द्रमा, भूपिण्ड इनकी प्रधानता सिद्ध हो जाती है। इन दोनों में से मर्त्याकाशानुगत मर्त्य-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड ही बीजसर्ग के उपादान बनते हैं शेष तीनों अमृत भाग गर्भीभूत रहते हैं। भूपिण्ड योनि बनता है मर्त्य सौर चान्द्ररस रेत बनते हैं, और इस द्यावापृथिव्य रसकी आहुति से बीजसर्ग उत्पन्न होता है यही इसकी पहिली अर्द्धेन्द्रता है। शुक्ल-कृष्ण के भेद से बीजसर्ग दो भागों में विभक्त है। अर्द्धाकाशात्मक मर्त्य सौर मण्डल 'सम्वत्सर' कहलाता है। अहोरात्र के भेद से इस अर्द्धाकाशात्मक सम्वत्सरचक्र के भी दो खण्ड हो रहे हैं। अहश्चक्र चान्द्ररसगर्भित सौररसप्रधान है, रात्रिचक्र सौररसगर्भित चान्द्ररसप्रधान है। सौररस आग्नेय है इसी से पुरुषसृष्टि होती है। चान्द्ररस सौम्य है, इसी से स्त्रीसृष्टि होती है। इसप्रकार केवल सौर अर्द्धाकाश के भी अर्द्ध सौर आकाश (अहश्चक्र) अर्द्ध चान्द्र आकाश (रात्रिचक्र) से बीज का निर्माण हुआ है। यही इसका दूसरा अर्द्धेन्द्रत्व है, जिसका निष्कर्ष यह निकलता है कि, पूर्णाकाश के चतुर्थांश से बीजसर्ग का विकास हुआ है जैसाकि-'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत् पुनः' (यजुः) इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है।

५१—अर्द्धेन्द्रात्मक जीव की दुःखप्रवृत्ति का मूलकारण—

अर्द्धेन्द्रानुगता अपूर्णता के अनुग्रह से जीव स्वाभाविक बुद्धियोगसम्पत्ति से वञ्चित होता हुआ इन्द्रियाराम बन जाता है। यही पाप्मा का प्रवेशद्वार है। इस पाप्मा के समावेश से इसका स्वाभाविक विभूतिरूप उसी प्रकार अभिभूत हो जाता है जैसे कि मेघावरण से आवृत सूर्य्य प्रकाश-विकास से अभिभूत हो जाता है। कैसा आश्चर्य्य है—जितने विभूतिरूप भग हैं उतने ही पाप्मारूप 'क्लेश' हैं। इनसे आत्मा क्लिश्यति, अतएव ये क्लेश कहलाए हैं। जिस प्रकार क्लेशनिवृत्ति, और भगविकास का मूल बुद्धितत्त्व है, तथैव भगाभिभव, एवं क्लेशप्रवृत्ति का मूलाधार विषयासक्त मन है। ६ भगों के क्रमशः रागद्वेषात्मिका आसक्ति, अज्ञान लक्षणा अविद्या अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश अपयशलक्षणा अकीर्ति, एवं दारिद्र्य लक्षणा अलक्ष्मी, ये ६ विपर्यय हैं। इन्हीं पाप्माओं के अनुग्रह से जीव उस ईश्वरानुगता विशुद्ध विभूतिरूप पूर्णता से वञ्चित रहता हुआ क्लेश के द्वारा दुःखी बन रहा है।

शरीरेश्वरो जीव —विभूति—पाप्मा—लक्षण—

(१)—प्रत्यगात्मा—जीवात्म्यथः —पुरुष —वैराग्यम् —आसक्ति

(१)—प्रज्ञानात्मा —अव्यक्त —ज्ञानम् —अविद्या

(२)—महानात्मा —ज्ञान —धर्म —अभिनिवेश

(३)—विज्ञानात्मा —बुद्धि —ऐश्वर्यम् —अस्मिता

(४)—प्रज्ञानसम्परिष्वक्त भूतात्मा-मनोऽनुगता दृष्टि—यश —जयकीर्ति

(५)—भूतम् —शरीरम् —श्री —लक्ष्मी

४२—बुद्धियोगानुबन्धिनी भगवत्तुष्टी—

उक्त चतुष्टय के अतिरिक्त इसमें धर्म्मविराट्-आयादि अन्यान्य और भी तत्त्वों का समावेश रहता है जिनका 'परमेश्वर का तात्त्विक स्वरूप' नामक खण्ड में दिग्दर्शन करा दिया गया है। प्रकृत में इस विवेचन से यही बतलाना है कि बुद्धियोग के सम्बन्ध में वैराग्यादि चार विभूतियाँ ही संगृहीत हुई हैं। कारण यही है कि मनोऽनुगत यश एवं शरीरानुगता श्री, इन दो धर्मों का प्रधानतः शीवसंस्था से सम्बन्ध है। कारण ईश्वरतत्त्व अमृतप्रधान है, जीव मर्त्यप्रधान है। वैराग्य, ज्ञान, धर्म्म, तीन का तो अमृततत्त्व से सम्बन्ध सिद्ध ही है। चौथा सूत्रानुगत ऐश्वर्य्य भी अपने अमृतभाव से अमृतात्मकादि में ही अन्तर्भूत हो रहा है। ज्ञानविज्ञानलक्षण ज्ञानधर्म्म अमृतसूत्रानुगत है, ज्ञानविज्ञानलक्षण सर्वधर्म्म मर्त्यसूत्रानुगत है। इस दृष्टि से वैराग्य ज्ञान धर्म्म ऐश्वर्य्य, इन चार का तो ईश्वरप्राधान्यत्व सिद्ध हो जाता है। एवं शरीरधर्म्म, यश भी, इन तीन का जीवप्राधान्यत्व सिद्ध हो रहा है। शरीरधर्म्म का यश में अन्तर्भाव है। फलतः जीवानुगत भग यश और श्री, ये दो ही शेष रह जाते हैं। चार भग ईश्वरानुगत बनते हुए अमृतबुद्धिप्रधान हैं। अतएव बुद्धियोग में चार ही भगों का संग्रह विज्ञानसम्मत माना गया है। केवल सूत्रानुगता बुद्धि के साथ ही चारों का सम्बन्ध क्यों मान लिया गया ? प्रश्न का भी समाधान कर लीजिए।

४३—अमृतसूत्रानुगता विद्याबुद्धिचतुष्टयी, एवं तत्सम्बन्धा भगचतुष्टयी—

बतलाया गया है कि, सूत्र ही (ज्ञानप्रधान होने से) हमारा प्रभव बनता है। सूर्य्य में विष्णु, सोम, इन्द्र, अग्नि, इन चार तत्त्वों का समन्वय बतलाया गया है। षोडशीपुरुषलक्षण वैराग्यप्रधान विज्ञात्मा का और विष्णुभाग से सम्बन्ध होता है। ज्ञानप्रधान अव्ययात्मा का और अग्निभाग से सम्बन्ध रहता है। पारमेष्ठ्य—सोमलक्षण—धर्मप्रधान—महानात्मा का और सोमभाग से सम्बन्ध रहता है। एवं अमृतवीर—इन्द्रलक्षण—ऐश्वर्य्यप्रधान—विज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि) का और इन्द्रभाग से सम्बन्ध रहता है। इसप्रकार सम्पूर्ण अव्यय धर्म्ममूर्ति और विज्ञानात्मा में ही पौरुष—स्वायम्भुव—पारमेष्ठ्य—सौर—चारों रूपों का समन्वय सिद्ध हो जाता है। इन चार भगों के कारण ही और विज्ञानात्मा के वैराग्यबुद्धि ज्ञानबुद्धि धर्म्मबुद्धि ऐश्वर्य्यबुद्धि, ये चार विवर्त हो जाते हैं। इन चारों में अव्ययात्मा के ज्ञानविज्ञान—मनोमय विद्याभाग का समावेश रहता है, इसलिए, तथा इन चारों में अव्ययात्मा का विद्याभाग विकसित होता है, इसलिए इसे—'विद्याबुद्धि' (अव्ययविद्याभागानुगतत्वात्, अव्ययविद्याविकासकत्वात्) कहना अन्वर्थ बनता है।

५४–विज्ञानात्मिका एक ही बुद्धि के आठ विवर्त्त—

लोकैश्वर्य्यप्रधान मर्त्यसूर्य्य, यशःप्रधान चन्द्रमा, श्रीप्रधान भूपिण्ड, तीनों अध्यात्मसंस्था क्रमशः अविद्याबुद्धि, प्रज्ञानमन, शरीर हैं। तात्पर्य्य इसका यही हुआ कि हमारी बुद्धि में वैराग्यादि चारों भग सूर्य्य से आते हैं। दूसरे शब्दों में सूर्य्य से आगता भगचतुष्टयी बुद्धि में प्रतिष्ठित होती है। चन्द्रमा से आगत यश मन में प्रतिष्ठित होता है, एवं पृथिवी से आने वाला श्रीभाग शरीर में प्रतिष्ठित होता है। प्रज्ञानमन के द्वारा पाप्माओं का समावेश होता है, जो पाप्मा 'क्लेश' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन ६ पाप्माओं में से अलक्ष्मी का शरीर से सम्बन्ध रहता है, अपकीर्ति का मन से सम्बन्ध रहता है। एवं रागद्वेषलक्षणा आसक्ति, अज्ञान-लक्षणा अविद्या, अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश, एवं अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता इन चारों का मर्त्य विज्ञानात्मा (अविद्या-बुद्धि) से सम्बन्ध रहता है। इन चारों में अव्ययात्मा के मनःप्राणवाङ्मय अविद्याभाग (कर्म्म) का समावेश रहता है, इसलिए, तथा इन चारों से अव्ययात्मा का अविद्याभाग उपकृत होता है, इसलिए इन्हें 'अविद्याबुद्धि' (अव्यय-अविद्याभागानुगृहीतत्वात्, अव्यय-अविद्याभागोपकारकत्वात्) कहना अन्वर्थ बनता है। इसप्रकार एक ही बुद्धितत्त्व के विद्यात्मिका भगचतुष्टयी, अविद्यात्मिका क्लेशचतुष्टयी सम्बन्ध से आठ विवर्त्त हो जाते हैं। उभयरूपा बुद्धि इन भग-क्लेशोपाधियों के सम्बन्ध से आठ विवर्त्तभावों में परिणत हो रही है। अनुपाधिक उक्थ रहता है इससे अनुपाधिक ही अर्क निकलते हैं। एक ही बुद्धितत्त्व के ये आठ सोपाधिक उक्थ विवर्त्त हैं, जिनके लिए प्राणानिकशास्त्र में–'अष्टौ बुद्धय' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। बुद्धि एक ही है एक ही रहती है। आठ उपाधियों के सम्बन्ध से इस एक की आठ ही अवस्थाएँ हो जाती हैं।

अध्यात्मम्—

१–पुरुषात्मा –शान्तात्मा –वैराग्योपेतः –पुरुषः

२–स्वयम्भूः –अव्यक्तात्मा –ज्ञानोपेतः –अव्यक्तः

३–परमेष्ठी –महानात्मा –धर्म्मोपेत –महान्

४–अमृतसूर्य्यः –विज्ञानात्मा –आर्षैश्वर्य्योपेत

५–मर्त्यसूर्य्यः –विज्ञानात्मा –लोकैश्वर्य्योपेत } –बुद्धि

६–चन्द्रमाः –प्रज्ञानात्मा –यश उपेतः –मनः

७–भूपिण्डः –भूतात्मा –श्रीयुक्त –शरीरम्

——श्री——

अष्टौ बुद्धयः—

(१)-अमृत-सौरचिद्भाग-पुरुषानुगता—वैराग्योपेता बुद्धिः—वैराग्यबुद्धिः—
(२)-अमृत-सौराग्निभाग—अव्यक्तानुगता-ज्ञानोपेता बुद्धिः—ज्ञानबुद्धिः—
(३)-अमृत-सौरसोमभाग—महदनुगता—धर्म्मोपेता बुद्धिः—धर्म्मबुद्धिः—
(४)-अमृत-सौरेन्द्रभाग—विज्ञानानुगता—ऐश्वर्य्योपेता बुद्धिः—ऐश्वर्य्यबुद्धिः—

—विद्याबुद्धिचतुष्टयी अमृतसौरानुगता

(१)—मर्त्य—सौरचिद्भाग—पुरुषानुगता—आसक्त्युपेता बुद्धिः—आसक्तिबुद्धिः—
(२)—मर्त्य—सौराग्निभाग—अव्यक्तानुगता अविद्योपेता बुद्धिः—अविद्याबुद्धिः—
(३)—मर्त्य—सौरसोमभाग—महदनुगता—अभिनिवेशोपेता बुद्धिः—अभिनिवेशबुद्धिः
(४)—मर्त्य—सौरेन्द्रभाग—विज्ञानानुगता—अस्मितोपेता बुद्धिः—अस्मिताबुद्धिः—

—अविद्याबुद्धिचतुष्टयी (मर्त्यसौरानुगता)

१—वैराग्यबुद्धिः—प्रतिपर्य्ययाः—(२)—आसक्तिबुद्धिः
१—ज्ञानबुद्धिः— „ (२)—अविद्याबुद्धिः
१—धर्म्मबुद्धिः— „ (२)—अभिनिवेशबुद्धिः
१—ऐश्वर्य्यबुद्धिः— (२)—अस्मिताबुद्धिः

—अवस्थाद्वयोपेता बुद्धिः—

इति—'बुद्धि'—शब्दनिर्वचनम् (१)

५६—'मनीषा'—शब्दनिर्वचनम् (२)—

मन की इच्छा (गति) का ही नाम 'मनीषा' है जो मनीषा अमरकोषानुसार बुद्धितत्त्वसमानार्थक शब्द माना गया है। तात्पर्य यही है कि इन्द्रियों के द्वार से मन बाहिर की ओर गमन किया करता है। इस गमन में-बुद्धितत्त्व अर्थरूप से सहायक बनता है। उभयरूप से एकत्र प्रतिक्रिया बुद्धि से निकलने वाले अर्थरूप प्राप्य का धर्म है 'मति'। मानसतत्त्व संकोचधर्म्मा बनता हुआ जहाँ स्थितिप्रधान है, वहाँ बुद्धितत्त्व अनिर्वचनीय

इन्द्रप्रधान बनता हुआ गतिप्रधान है। लोहलक्षण सोमात्मक मन विषय से संश्लिष्ट होना (चिपकना) चाहता है। तेजोलक्षणा आग्नेयात्मिका इन्द्ररूपा बुद्धि के सहयोग से ही इसमें गतिभाव का उदय होता है। मानसगति वस्तुतः बुद्धिगति है। गतिभावात्मिका बुद्धिगर्भिता मानसगति ही 'मनीषा' है, एवं यही 'मनीषा' शब्द का दार्शनिक निर्वचन है।

बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित बाह्य भौतिक विषयों का इन्द्रियों के द्वारा सर्वप्रथम इन्द्रियाध्यक्ष-सर्वेन्द्रिय-प्रज्ञान मन से (संस्काररूप में) सम्बन्ध होता है। ज्ञानजनित भावनासंस्कार, एवं कर्म्मजनित वासनासंस्कार, दोनों वैषयिक संस्कार मनःप्रदेश पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। संस्कारावच्छिन्न इस मन का बुद्धि अपने अर्करूप से भोग करती है। तात्पर्य्य-इन्द्रियद्वारा मन पर आए हुए विषयों का बुद्धि से सम्बन्ध होता है। यहाँ आकर संस्कारात्मक मन बुद्धि का अन्न बन जाता है। "अन्नं वा इरू" (ऐ० ब्रा० २।७) इस सिद्धान्तानुसार अन्न 'इट्' (इष्) कहलाया है। संस्कारावच्छिन्न मन बुद्धि का इट् बना रहता है। यही बुद्धि न कहला कर 'मनीषा' कहलाई है। निर्विषयलक्षणा, स्वस्थाने प्रतिष्ठिता ज्ञानात्मिका विशुद्धा बुद्धि बुद्धि है। एवं सविषया, अन्नरूपेण मनसि प्रतिष्ठिता सोपाधिका बुद्धि 'मनीषा' है। मनकी बुद्धि अपना अन्न बना लेती है, यह एक पक्ष है। इस पक्ष में मन बुद्धि का अनुगामी है। अतएव बुद्धिस्वरूप ऐसा मन कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। यही मन 'विज्ञानवान्' कहलाया है। यही मनोगर्भिता विद्याबुद्धि है, जो सारासारविवेक में समर्थ रहती है। यह तब सम्भव है, जबकि इन्द्रियवर्गसंयमपूर्वक मन को विषयासक्ति से सुरक्षित रक्खा जाता है। सांसारिक सुख को ही प्रधान मानने वाले यथाजात मनुष्य इन्द्रियसंयम में असमर्थ रहते हुए विषयासक्त बन जाते हैं। विषयासक्त मन बुद्धि से प्रबल बनता हुआ उसे अपना अन्न बना लेता है। बुद्धि मन के प्रति आत्मसमर्पण कर देती है। ऐसा मन ही अविज्ञानवान् कहलाया है। ऐसी बुद्धि ही अविद्याबुद्धि कहलाई है। इन्द्रियवर्गसंयम बुद्धिसापेक्ष है। बुद्धि के आत्मसमर्पण कर देने पर मन प्रबल हो जाता है, इन्द्रियवर्गसंयम टूट जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियवर्ग उच्छृङ्खल बन जाता है, जैसे बिना सारथि के रथाश्व। यदि मन का बुद्धि के प्रति आत्म-समर्पण है, तो बुद्धिरूप सारथि रथाश्व के समान इन्द्रियाश्व भी सन्मार्गानुगामी हैं। शास्त्रज्ञान, शुभसंस्कार, सुसङ्गति उपासना आदि के द्वारा जिनकी बुद्धि मन को अन्न बना लेती है उन्हीं की बुद्धि 'मनीषा' है, वे ही मनीषी हैं, विवेकशील हैं, युक्तात्मा हैं। अज्ञान, कुसंस्कार, कुसङ्ग, नास्तिक्य, आदि के द्वारा जिनका मन बुद्धि को अन्न बना लेता है वे ही यथाजात-मूढ़ हैं, विवेकशून्य हैं, अयुक्तात्मा हैं। निम्न लिखित दो मन्त्रों से ऋषि ने इन्हीं दोनों वर्गों का स्वरूपविश्लेषण किया है—

युक्तात्मा-मनीषी—यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥
—कठोप० १।३।६।

अयुक्तात्मा-मूढ़—यस्त्वविज्ञानवान् भवति, अयुक्तेन मनसा सदा
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे ॥
—कठोप० १। ५

तात्पर्य्य यही हुआ कि, मनोमर्मिता बुद्धि ही मन को इट् बनाती हुई 'मनीषा' कहलाई है। यही इस शब्द का वैज्ञानिक निर्वचन है, जिसका—'मनः—इट—यस्याः सा—मनीषा' इस वाक्य से अभिनय किया जा सकता है।

इति—'मनीषा'—शब्दनिर्वचनम् (२)

५६—'धिषणा'—शब्दनिर्वचनम् (३)—

इन्द्रियद्वारा प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित होने वाले संस्कार सामान्य विशेष भेद से दो भावों में विभक्त रहते हैं। शास्त्रीय, तथा लौकिक विषयों का जो जितना अधिक द्रष्टा—मन्ता—श्रोता होता है उसका सांस्कारिक ज्ञान उसी अनुपात से प्रबुद्ध रहता है। सामान्यदर्शी के संस्कार सामान्य रहते हैं बहुदर्शी के संस्कार विशेष रहते हैं। सामान्यज्ञ की अपेक्षा विशेषज्ञ की बुद्धि अधिक तत्त्वार्थों से युक्त रहती है। विशेषसंस्कार मनीषा को विशेष प्रबुद्ध बनाते हैं। सामान्य संस्कारानुगता बुद्धि जहाँ 'मनीषा' कहलाई है वहाँ विशेषसंस्कारानुगता-प्रबुद्धा—यही मनीषा बुद्धि 'धिषणा' नाम से व्यवहृत हुई है। सामान्य व्यक्तियों का इस प्रबुद्धा मनीषा से धर्षण हो जाता है। बहुदर्शी अतएव बहुविद् की धिषणाबुद्धि स्वाभाविक के बल से अन्य सामान्य विचारकों का वास्तव में धर्षण कर डालती है। लोकभाषानुसार यों कहिए कि विना विद्याभ्यास के भी मनीषा का उद्गम हो जाता है। देखा गया है कि जिन्होंने एक विना पढ़े लिखे साधारण मनुष्यों की भी सूझ—बूझ अद्भुत होती है। उनके विचार, उनकी सम्मति विवेकपूर्ण होती है। इसी सामान्य विवेकानुगता बुद्धि का नाम 'मनीषा' है जिसका प्रधानतः प्राचीन शुभ संस्कारों से सम्बन्ध है। ठीक इसके विपरीत बड़ा—बड़ा पण्डितम्मन्य पुस्तककीट—भी सूझ—बूझ से वञ्चित देखे गए हैं। परन्तु इनमें विना—पढ़े लिखे मनीषी के धर्षण करने की शक्ति रहती है। विद्याबल से धर्षणसामर्थ्ययुक्ता बनी हुई इनकी धिषणाबुद्धि मनीषियों का मुख अवरुद्ध कर देती है। पुस्तकज्ञानात्मिका विद्या के संस्कार से धर्षणधर्मिणी बनी हुई बुद्धि ही 'धिषणा' कहलाई है। अतएव धिषणा का 'विद्या वै धिषणा' (तै० ब्रा० ३।२।२।) यह लक्षण किया गया है। 'धिष्णोति—धर्षति—यया सा' ही इस शब्द का निर्वचन है। धिषणानुगत धर्षणादि ही 'प्रागल्भ्य' कहलाई है जो शास्त्रज्ञ विद्वानों में ही प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहती है।

इति—'धिषणा'—शब्दनिर्वचनम् (३)

५७—'धी'—शब्दनिर्वचनम् (४)—

बुद्धितत्त्वानुगत शब्दों में 'धी' शब्द विशेष महत्त्व रखता है। क्यों कि यह शब्द स्वरूपतः से उपपन्ना बुद्धि के धर्मभावों का वाचक बन रहा है। उदाहरण के लिए सूर्यमण्डल में प्रतिष्ठित सूर्यबिम्ब को उपपन्ना बुद्धि मानिए। इस उक्थबिम्ब के केन्द्र से चारों ओर ज्योतिर्म्मयी रश्मियाँ निकल रही हैं। इन रश्मियों का ही नाम 'स्वर्धारयति' निर्वचन से 'धर्म' है। उक्थबिम्ब एक है धर्मात्मिका प्राण रश्मियाँ अनेक हैं 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' हैं। इन्हीं धर्मों को 'धी' कहा गया है। धर्म क्योंकि एक

नहीं बनता है। अतएव इस शब्द का प्रयोग 'धियः' इस बहुत्वरूप से ही हुआ है, जैसाकि–'पुनन्तु मनसा धियः' इत्यादि मन्त्रवचन से प्रमाणित है। उक्थरूपा बुद्धि आत्मा है, अर्करूप धीभाग प्राण है। इसी आधार पर 'प्राणा धियः' (शत० ६।३।१।१३।) सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इन्द्रियद्वारा प्रज्ञान मन पर आए हुए सांसारिक विषयों का ग्रहण और आधान स्वयं उक्थरूप हृदयस्थ बुद्धितत्त्व पर न होकर इससे विनिर्गता प्राणात्मिका बुद्धिरश्मियों पर ही होता है। अतएव 'धीयते अनया' निर्वचन से इन प्राणात्मिका बुद्धिरश्मियों को 'धीः' कहना अन्वर्थ बनता है। मनीषा–धिषणा–प्रज्ञा–आदि पञ्चपर्व्वा बुद्धिविवर्तों की मूलप्रतिष्ठा यही 'धियः' रूपा धी बनती है। अपनी विशुद्ध रश्म्यवस्था में जहाँ यह 'धी' नाम से व्यवहृत होती है, वहाँ मनोऽश को गर्भ में लेकर यही 'मनीषा' नाम से, विद्यासंस्कारानुगता बन कर यही 'धिषणा' नाम से, प्रज्ञानमनोऽनुगत प्रज्ञाभाव से संश्लिष्ट होकर यही 'प्रज्ञा' नाम से, इत्यादिरूप से तत्तदुपाधिभेदों से तत्तद्विशेष नामों से व्यवहृत होने लगती है। अतएव इस सर्वव्यापिकरूपा धी का मनीषादि की अपेक्षा हम विशेष महत्त्व मान रहे हैं। सूर्य्य हमारी उक्थरूपा बुद्धि का प्रभव बनता है यह बतलाया गया है। क्या सूर्य्य उक्थरूप से आध्यात्मिक विज्ञानात्मा (बुद्धि) के रूप में परिणत होता है ?। नहीं। अपितु सूर्य्योक्थरूप बुद्धि की अर्करूपा रश्मि ही वेदम्पूतनप्रक्रिया से प्रज्ञानमण्डल पर आकर उसी प्रकार उक्थात्मक बुद्धिरूप में परिणत हो जाती है जैसे कि–जल–दर्पण–स्फटिकादि स्वच्छ पदार्थों पर आगत सूर्य्य-रश्मि सूर्य्यप्रतिबिम्बरूप उक्थभाव में परिणत हो जाती है। तात्पर्य्य–बुद्धिस्थानीय सूर्य्य से विनिर्गता धी-स्थानीया रश्मि ही हमारी उक्थरूपा बुद्धि का प्रभव बनती है। सौररश्मि से बुद्धि बन गई उक्थरूप से हृदय में प्रतिष्ठित हो गई। अब इसमें भी उसी प्रकार रश्मियाँ निकलनें लगती हैं, जैसे कि जलादि में प्रतिबिम्बित सूर्य्य से रश्मियाँ निकलनें लगती हैं। क्या सूर्य्यगत सवितृप्राण से हमारी उक्थरूपा बुद्धि को प्रेरणाक्रम मिलता है ?। नहीं। अपितु सौररश्मिरूपा धी का सम्बन्ध हमारी बुद्धिरश्मिस्थानीया धी के साथ ही होता है। अर्क से अर्क को ही प्रेरणाक्रम मिलता है। इसी आधार पर 'धियो यो नः प्रचोदयात्' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, उक्थबुद्धि से विनिर्गता, विशुद्ध मात्रात्मा, प्राणात्मिका बुद्धिरश्मियाँ ही 'धी', किंवा 'धियः' हैं।

इति–'धी'–शब्दनिर्वचनम् (४)



५८–'प्रज्ञा'–शब्दनिर्वचनम् (५)—

गीतोक्त बुद्धियोग की दृष्टि से 'प्रज्ञा' शब्द भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रख रहा है। जिस प्रकार 'विज्ञान' बुद्धि का स्वाभाविक धर्म्म है, एवमेव 'प्रज्ञान' मन का स्वाभाविक धर्म्म माना गया है। विज्ञान के सम्बन्ध से जहाँ बुद्धि 'विज्ञानात्मा' कहलाई है, वहाँ प्रज्ञान के सम्बन्ध से मन 'प्रज्ञानात्मा' कहलाया है। और इस दृष्टि से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'प्रज्ञा'-तत्त्व वास्तव में मनःप्रधान तत्त्व है। ऐसी स्थिति में मानसभावबोधक 'प्रज्ञा' शब्द बुद्धिभाव का संग्राहक कैसे मान लिया गया ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है जिसका स्थितप्रज्ञ–व्याख्या में यों समाधान किया है।

प्रज्ञानात्मा नामक सर्वेन्द्रिय मन का प्राण से युक्त चिद्भाग प्रज्ञानात्मक ज्ञान है प्राणभाग क्रिया है, सोम मात्रा भूत है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियद्वारा जो विषयसंस्कारात्मक प्रज्ञा–प्राण–भूतमय मन पर प्रतिष्ठित रहते

है वे भी मूलभाग में ही अन्तर्भूत है। प्रज्ञानमन के ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिप्रधान प्रज्ञा–प्राण–भूत, तीनों पर्व क्रमशः बुद्धि–मन–इन्द्रिय, इन तीन आत्मपर्वों से प्रधानतया सम्बद्ध रहते हैं। प्रज्ञानात्मक ज्ञान वस्तुतया बुद्धि का ज्ञान है। सोम चौक्र बनता है इस पर चिद्‌भितिरूपा विद्याबुद्धि का उसी प्रकार प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित हो जाता है जैसे कि चन्द्रमा पर सूर्यज्योति प्रतिष्ठित होजाती है। जिस प्रकार चान्द्रज्योति वस्तुतः सौरज्योति होने से परज्योति है एवमेव चान्द्रस्थानीय–मनोज्योतिर्लक्षणा प्रज्ञाज्योति सूर्यस्थानीया विज्ञानज्योति ही है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर 'स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। यह मानस प्रज्ञा भाग प्रज्ञानमन की स्वयं की सम्पत्ति नहीं है अपितु विज्ञानात्मा का प्रवर्ग्य भाग है। विज्ञानात्मा का विशुद्ध अव्यक्तगर्भित महानात्मा की देन है। महानात्मगर्भीभूत चिन्मय विज्ञात्मा का गर्भीभूत स्वरूप है। इसप्रकार परम्परया प्रज्ञाभाग का चिदात्मज्योतिरूप सिद्ध होजाता है। अतएव इस विशुद्ध मानस प्रज्ञाभाग को 'पुराणी प्रज्ञा' नाम से व्यवहृत करना चरितार्थ बनता है जैसा कि–'प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी' (गी॰ १५।४) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि) में ही अव्यक्तयुक्त चितिधर्म से चिदात्मा पूर्णरूप से विकसित होता है। अतएव बुद्धि से परे रहने वाले महान्, तत्पर अव्यक्त, और अव्यक्त से भी परे रहने वाले चिदात्मस्वरूप पुरुष को बुद्धियोगविशेषक गीताशास्त्र ने– 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इत्यादिरूप से बुद्धि से ही परे मान लिया है। इसी आधार पर यह कहा जासकता है कि मानसप्रज्ञा बुद्धि के द्वारा प्रतिबिम्बरूप से आगत विज्ञानभाग ही है। अपने इस प्राथमिक रूप से मानस प्रज्ञा सर्वथा स्थिर रहती है। ऐसी स्थिरप्रज्ञा से युक्त बुद्धियोगी ही 'स्थितप्रज्ञ' कहलाया है। मानस प्रज्ञा भाग तभी तक स्थिर रहता है जब तक कि यह स्वप्रभवभूत विद्याबुद्धि की ओर अनुगत रहता है। अतएव बुद्धियोग को ही स्थितप्रज्ञता का कारण माना गया है। प्रज्ञा का प्रभव वस्तुतः विद्याबुद्धि है एक मात्र इसी हेतु से प्रज्ञा को हम 'बुद्धि' स्वरूप में अन्तर्भूत मान सकते हैं। तात्पर्य–यह मानसी प्रज्ञा या अपने विशुद्ध रूप से बुद्धि की ओर अनुगत है बुद्धिरूपात्मिका बनती हुई बुद्धिस्वरूप में ही अन्तर्भूत है। प्रज्ञायुक्त बुद्धि ही प्रज्ञाबुद्धि है, किंवा बुद्धियुक्त प्रज्ञा ही प्रज्ञाबुद्धि है जो गीता के शब्दों में 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कहलाई है।

यदि प्रतिबिम्बग्राहक पात्र स्थिर रहता है तो प्रतिबिम्ब भी स्थिर रहता है। उस दशा में प्रतिबिम्ब एकरूप में परिणत रहता है। पात्रस्थ पानी के हिलते ही प्रतिबिम्ब हिल पड़ेगा। उसके अनेक विभाग हो जाएँगे। यही स्थिति यहाँ समझिए। शरीररूप पात्र में सोमरूप पानी भरा है, जिसे हम 'मन' कहते हैं। अविद्याबुद्धि से उत्पन्न विजातीय संस्कारागमनरूप धक्के से अकस्मात् मन हिल पड़ता है। इसके हिलते ही प्रतिबिम्बरूप प्रज्ञाभाग हिल पड़ता है। प्रज्ञा तत्तत्तत्पदार्थाभिमुख बनती हुई अपने विद्याबुद्ध्यनुगत स्वाभाविक स्थिरभाव का परित्याग करती हुई अव्यवसायरूप में परिणत हो जाती है। यदि मनोधरातल शान्त है स्थिर है तो उस प्रतिबिम्बरूपेण प्रतिष्ठिता प्रज्ञाबुद्धि एकरूप में परिणत रहती हुई अपने स्वाभाविक व्यवसायभाव से विकसित रहती है। व्यवसायबुद्धिरूपा प्रज्ञाबुद्धि स्वस्थ बनती हुई जहाँ तत्काल कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय कर डालती है वहाँ अव्यवसायात्मिका प्रज्ञाबुद्धि तद्विपरीतभावापन्न निर्णय बनती हुई इतस्ततः अनुधावन करती रहती

है।* जिसे लोक में 'समझ' कहा जाता है, वही प्रज्ञाबुद्धि है, जो मानसभाव बनता हुआ भी तत्त्वतः बौद्धभाव ही है। 'नहि प्रज्ञापरा प्रज्ञान धीः सिद्धये त, न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञामत' (कौ उप) इत्यादि के अनुसार प्रज्ञात्मिका बुद्धि, किंवा प्रज्ञाबुद्धि ही विषयज्ञान की प्रतिष्ठा बनती है। भूतात्मा जब इस बुद्धियोगलक्षणा व्यवसायबुद्धिरूपा प्रज्ञा से युक्त होजाता है, तो यह कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी असङ्ग बना रहता है-'निःसङ्ग प्रज्ञया भवेत्'।-'यच्छेद्वा प्रज्ञ्यात्मानं सम्भवो' का तात्पर्य्य भी यही है कि, भूतात्मा जब प्रज्ञाबुद्धि के द्वारा चिदात्मा से सम्बन्ध कर लेता है, तो उस दशा में यह बन्धन से विनिर्मुक्त होजाता है।'प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इत्यादि आदेश से भी इसी प्रज्ञाबुद्धि की ओर सङ्केत हुआ है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, प्रज्ञा-भाग भूतात्मक मन का बुद्धयनुगत-तत्प्रकम्पभूत-स्थिर-व्यवसायलक्षण-प्रज्ञाभाग ही 'प्रज्ञाबुद्धि' है। प्रतिबिम्बत्व ही इसका बुद्धित्व है। अतएव इसके मानसभावात्मक होने पर भी इसे बुद्धिस्वरूप में अन्तर्भूत मान लिया गया है। मनीषा-विपश्चा-धीः-आदि विवर्त्त आर्थात्मक हैं। किन्तु यह 'प्रज्ञा'-तत्त्व स्वतन्त्र तत्त्व है। धी का प्रतिबिम्ब ही प्रज्ञारूप में परिणत होकर स्वतन्त्र तत्त्व बनता है। तभी तो इस-'प्रज्ञानात्मा' रूप से स्वतन्त्र आत्मा माना गया है। तत्त्वात्मिका बुद्धि के धीरूप अर्थ से समनुभूत स्वरूपात्मकस्वरूप मानसप्रज्ञाभाव ही बुद्धयनुगत रहता हुआ 'प्रज्ञाबुद्धि' है। यही 'प्रज्ञा' शब्दनिर्वचनार्थ का संक्षिप्त स्वरूप विश्लेषण है जिसका-'प्रकर्षेण-व्यवसायात्मकरूपेण-जानाति-या-सा -'प्रज्ञायतेऽनया सा' यह स्वरूप है।

इति-'प्रज्ञा'-शब्दनिर्वचनम् (५)



५६-'शेमुषी'-शब्द निर्वचनम्(६)—

विद्याबुद्धि के वैराग्य ज्ञान धर्म्म, ऐश्वर्य्य, ये चार विवर्त्त बतलाए गए हैं। राग द्वेषात्मिका आसक्ति, मोहात्मिका अविद्या (अज्ञान), पापात्मक अभिनिवेश (अधर्म्म) तमोरूपा अस्मिता (अनैश्वर्य्य) ये चारों उक्त चारों विद्याबुद्धियों के आवरक अविद्याबुद्धिविवर्त्त हैं। जिस प्रकार निद्रानिमग्न मनुष्य अपने आप को भूल जाता है एवमेव इन चारों अविद्याबुद्धियों के आक्रमण से चारों विद्याबुद्धियों का स्वरूप आवृत हो जाता है। फलतः भूतात्मा स्वात्मस्वरूप से मूढवत् बन जाता है। क्योंकि अविद्याबुद्धिचतुष्टयी ही आत्मस्वरूपावरणलक्षण शयन का कारण बनती है। अतएव इस अवस्था ही 'शास्त्रप्रमाणात्मकस्वरूप' न्याय से 'शे' कहा जासकता है। 'शेते' ही 'शे'-भाव है। अविद्याबुद्धियुक्त आत्मा 'शान' है विद्याबुद्धियुक्त आत्मा 'जागर्त्ति' है। 'शेते' की प्रकृति का मूलकारण अविद्याबुद्धि-चतुष्टयी है। अतः इसे भी-'शेते' कहा जायगा। तात्पर्य्य-शे-मुषी' में-शे अविद्याबुद्धि का संग्राहक है। विद्याबुद्धिचतुष्टयी इस 'शे' का अपहरण कर लेती है अतएव-'शे'-अविद्या, तां मुष्णाति' निर्वचन से इस विद्याबुद्धि को अवश्य ही-'शेमुषी' कहा

* "व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥"

—गीता २।४१।

समझना है। तात्पर्य—'बुद्धि' शब्द जहाँ उभयमात्रान्विता विद्या-अविद्यात्मिका दोनों बुद्धियों का संग्राहक है, वहाँ 'शेमुषी' शब्द उभयमात्रान्विता 'विद्याबुद्धिरूपा' का ही संग्राहक बन रहा है।

इति—'शेमुषी'—शब्दनिर्वचनम् (९)

——※——

१०—'मति'—शब्दनिर्वचनम्—

पूर्वनिरुक्त 'प्रज्ञा' शब्द के बाद प्रस्तुत 'मति' शब्द का निर्वचन में प्राप्त हो रहा है। प्रज्ञा-शब्द-निर्वचन में बतलाया गया है कि, प्रज्ञा—प्राण—भूत—समष्टि का ही नाम प्रज्ञानमन है, एवं साथ ही तीनों पर्व क्रमशः बुद्धि-मन-इन्द्रियवर्ग के संग्राहक हैं। इसका तात्पर्य यही है कि, प्राण-भूतगर्भिता मानस-प्रज्ञा विज्ञानबुद्धि के प्रति आत्मसमर्पण करती हुई 'प्रज्ञाबुद्धि' है। प्रज्ञा-भूतगर्भित मानस प्राण मन के प्रति आत्म-समर्पण करता हुआ 'प्राणमय मन' है। एवं प्रज्ञा-प्राण-गर्भित मानसभूत इन्द्रियवर्ग के प्रति आत्मसमर्पण करता हुआ भूतात्मक इन्द्रियवर्ग है। इसप्रकार एक ही मन अपनी तीन पर्वों से त्रिरूप बन रहा है। बुद्धिरूप मन प्रज्ञाप्रधान है, मनोरूप मन प्राणप्रधान है, एवं इन्द्रियरूप मन भूतप्रधान है। इनमें बुद्धिरूप प्रज्ञाप्रधान मन जहाँ 'प्रज्ञा' कहलाया है, वहाँ मनोरूप प्राणप्रधान मन 'मति' नाम से व्यवहृत हुआ है। मन बुद्धि के प्रति आत्मसमर्पण करता हुआ बुद्धिरूप में परिणत होकर 'प्रज्ञा' है। वहाँ मन का स्वातन्त्र्य उच्छिन्न है। वही प्रज्ञात्मिका प्रज्ञा है। मन ने आत्मसमर्पण नहीं किया, अपितु स्वस्थान में ही प्रतिष्ठित रहते हुए इसने बुद्धि के विद्याधर्म का आकर्षण कर लिया। ऐसा ही मन 'प्रज्ञामय प्राण' है। यही मन 'मति' है। प्रज्ञामय मन में बुद्धि का प्राधान्य है, प्राणमय मन में मन का प्राधान्य है। बुद्धिप्रधान मन प्रज्ञा-प्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, मनःप्रधान मन प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है। प्रज्ञांश से ज्ञानमय, प्राणांश से क्रियामय बनता हुआ यह मन 'उभयात्मक' है—'उभयात्मकं मनः'। प्रज्ञा यदि प्राण में प्रत है तो मनन है। प्राण यदि प्रज्ञा में प्रत है तो ध्यान है। ध्यानवृत्ति में ज्ञान का प्राधान्य है, मननवृत्ति में क्रिया का प्राधान्य है। ध्यान-व्यापारविशिष्टा वही बुद्धि प्रज्ञा है, मननव्यापारयुक्ता वही बुद्धि मति है।

अन्तर्भूत मान ली गई है। प्रज्ञान, और मनन सभी सम्भव है, जबकि प्रज्ञाप्राणमूर्ति मन विद्याबुद्धि से समन्वय रखता है, यही निष्कर्ष है।

इति–'मति'–शब्दनिर्वचनम् (७)–

६१–'प्रेक्षा'–शब्दनिर्वचनम्'(८)–

चक्षुर्व्यापार भी प्रेक्षण कहलाया है, एवं इस व्यापार का प्रवर्तक चक्षु भी–'प्रेक्षते–पश्यत्यनेन' निर्वचन से 'प्रेक्षण' कहलाया है। यह प्रेक्षणव्यापार प्रकृत में यावत् इन्द्रियव्यापारों का उपलक्षण समझना चाहिए। इन्द्रियव्यापार विषयप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है। दर्शन, श्रवण, गन्धग्रहण, रसग्रहण, स्पर्श, आदि सभी ऐन्द्रियक व्यापार भूतप्रधान हैं। इन सब व्यापारों को 'प्रेक्षणम्' कह लीजिए। इन प्रेक्षणव्यापार (इन्द्रिय व्यापार) की जो मूलप्रतिष्ठा है, वही 'प्रेक्षा' है। मूलप्रतिष्ठा कौन है, वही प्रज्ञा–प्राण–भूतात्मक सर्वेन्द्रिय मन। सर्वेन्द्रियमन का इन्द्रियानुगत व्यापार ही 'प्रेक्षा' है। यदि ऐसा है, तो 'प्रेक्षा' शब्द का बुद्धिस्वरूप में समावेश क्यों माना गया है, उत्तर पूर्व के प्रज्ञा–मति–शब्दनिर्वचनों से यद्यपि स्पष्ट है, तथापि स्पष्टीकरण के लिए यहां भी दो शब्द कह दिए जाते हैं।

मूलस्रोत को लक्ष्य बना कर विषय का समन्वय कीजिए। 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' सिद्धान्त का निष्कर्ष यही निकलता है कि, बिना बुद्धियोग के न इन्द्रियों का विषयों के साथ योग सम्भव है, न मन का इन्द्रियों के साथ। कारण ऐन्द्रियक ज्ञान कर्म मन से आगत हैं, एवं मानस ज्ञान कर्म बुद्धि की देन है। इसीलिए तो समारम्भ में हमने सर्वविध (लौकिक, वैदिक) योगमात्र को 'बुद्धियोग' कहा है। बुद्धि में चित्–प्राण–भूत तीनों का समावेश है। सोममुक्त आयुःप्रवर्तक आत्मतत्त्व चित् है। मघवेन्द्रलक्षण ज्यातिर्मय प्राण है। वायुसोमाग्निलक्षण गोमण्डल भूत है। बुद्धि की ये तीनों सम्पत्तियां चिद्रूपत्वेन–इन्द्रत्वेन–अग्नित्वेन प्रसिद्ध हैं। अतएव ज्ञानक्रियार्थमूर्ति विज्ञानात्मा असङ्गपुरुष माना गया है जैसाकि–'असङ्गोऽयं पुरुषः–न सज्जते न व्यथते, न रिष्यति' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। विज्ञानात्मा की इन्हीं तीनों असङ्ग–सम्पत्तियों के प्रवर्ग्य भाग को लेकर प्रज्ञानात्मा अपने स्वरूपनिर्माण में समर्थ हुआ है। जिसप्रकार शुद्ध भी जल अशुद्ध क्षेत्र में आकर मलिन हो जाता है एवमेव तन्मयभाव अतएव असङ्ग बन हुए मनःक्षेत्र में आगत असङ्ग भी बुद्धि–सम्पत्तियां ससङ्गभाव में परिणत हो जाती हैं। फलतः बहिर्मुखों का ही प्रज्ञानवार प्रज्ञानात्मा समान बन जाता है। इस प्रज्ञानमन की प्रज्ञानिका चित्, मघवानिन्द्रविरूपलक्षण प्राण, सम्प्रज्ञलक्षण मन भागों के प्रवर्ग्य भागों को लेकर ज्ञानकर्मेन्द्रियां स्वस्वरूपसम्पादन में समर्थ होती हैं। अतएव इनमें भी (प्रत्येक इन्द्रिय में प्रधानता–अप्रधानता रूप से) प्रज्ञा–प्राण–भूत तीन मात्राओं का समावेश रहता है। इस विश्लेषण से निष्कर्ष यही निकलता है कि विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा इन्द्रियवर्ग तीनों ही चित्–प्राण–भूतमय हैं। साथ ही तीनों का मूलाधार विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही है।

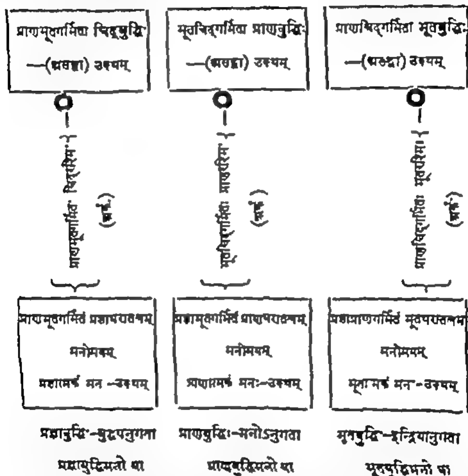
विज्ञानात्मा–आशुप्रवर्ग्य–आत्मा	मघवेन्द्रलक्षणं ज्योतिः	सावित्राग्निलक्षणं भूतम्
(चित्)	(प्राणः)	(भूतम्)
प्रज्ञानात्मा–प्रज्ञालक्षणा चित्	मरुत्वानिन्द्रलक्षण प्राणः	सोमलक्षणं भूतम्
इन्द्रियाणि–प्रज्ञामात्रा चित्	प्राणमात्रा–प्राणः	भूतमात्रा–भूतम्

मूलाधारभूत विज्ञानात्मा में चित् का प्राधान्य है तद्रूपरूप प्रज्ञानात्मा में प्राण का प्राधान्य है एवं तद्‌रूप इन्द्रियवर्ग में भूत का प्राधान्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि–प्राणभूतगर्भिता चित् विज्ञानात्मा है चिद्भूतगर्भित प्राण प्रज्ञानात्मा है एवं चित्प्राणगर्भित भूत इन्द्रियवर्ग है। इसका यह भी तात्पर्य निकला कि, तीनों में प्राणप्रधान प्रज्ञानात्मा (मन) क्योंकि मध्यस्थ है अतएव इसमें तीनों रूपों का समन्वय रहता है। बुद्धिसम्बन्धापन्न वही मन बुद्धिरूप में परिणत है इन्द्रियसम्बन्धापन्न वही मन इन्द्रियरूप में परिणत है। इससे यह भी निष्कर्ष निकला कि मन का उसीप्रकार कोई निश्चित स्वरूप–आकार–नहीं है, जैसे कि पानी का अपना कोई निश्चित आकार नहीं है। कलश–झारी, कूप तडाग यद्यपि यादृश आयतन का पानी अनुगमन करता है वह तादृश आकार में ही परिणत हो जाता है एवमेव सोमप्रज्ञालक्षण प्रज्ञानमन बुद्धि इन्द्रिय दोनों में से जिस रूप का आश्रय ले लेता है तद्रूप में ही वह परिणत हो जाता है। इसी रहस्य का भगवान् ने– प्रज्ञामयोऽयं पुरुषः (प्रज्ञानात्मा), यो यच्छ्रद्धः स एव सः इन शब्दों में विश्लेषण किया है। श्रद्धा वा आपः" (ते॰ ब्रा॰३।२।४।१) सिद्धान्तानुसार श्रद्धा अप्तत्त्व ही है, एवं यही प्रज्ञानमन की स्वरूपव्यवस्थिति है जिसका 'भक्तिविज्ञान' में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति'– 'तं यथा यथोपासते–तथैव भवति' इत्यादि वचन भी प्रज्ञानमन की इस परूपानुगमनता का ही समर्थन कर रहे हैं। बुद्ध्यनुगत वही मन योगयुक्त बनता हुआ मुक्तिप्रवर्तक है इन्द्रियानुगत वही मन भोगनियुक्त बनता हुआ बन्धनप्रवर्तक है *। मन की इस परवशता को लक्ष्य बना कर ही 'मेधा' शब्द का समन्वय कीजिए।

बुद्धियुक्त मन बुद्धिस्वरूपानुगत चित्–प्राण–भूत भेद से तीन भावों में परिणत हो जाता है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के चित्–भाग से अनुगत है, तो ज्ञानप्रधान वही मन 'प्रज्ञानमन' कहलाने लगता है, वही 'प्रज्ञाबुद्धि (ज्ञानबुद्धि) है जिसका विकासक्षेत्र बुद्धि ही बनती है। क्योंकि हमने बुद्धि को चित्प्रधान बतलाया है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के प्राणभाग से अनुगत है तो प्राणप्रधान वही मन 'प्राणमन' कहलाने लगता है यही प्राणबुद्धि (क्रियाबुद्धि) है जिसका विकासक्षेत्र स्वयं मन ही बनता है। क्योंकि मन को प्राणप्रधान बतलाया गया है। इसी आधार पर श्रुति का 'प्राणबन्धनं हि सोम्य! मनः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। यदि प्रज्ञानमन बुद्धि के भूतभाग से अनुगत है तो भूतप्रधान वही मन 'भूतमन' कहलाने लगता है वही

*—न देहो, न च जीवात्मा, नेन्द्रियाणि परन्तप!।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध–मोक्षयोः॥

मूलबुद्धि (अर्थबुद्धि) है जिसका विकासक्षेत्र इन्द्रियवर्ग ही बनता है। क्योंकि इन्द्रियवर्ग को मूलप्रधान बतलाया गया है। प्रज्ञानमनोपरातल के तीन विभाग हैं। प्रज्ञापरातल से यह बुद्धि के चिद्भाग से, प्राणपरातल से बुद्धि के प्राणभाग से, तथा मूलपरातल से बुद्धि के मूलभाग से युक्त रहता है। तीन मानक्षेत्र, तीनों पर बुद्धि के तीनों भागों का प्रतिबिम्ब, ये ही मनोऽनुगत तीन स्वतन्त्र उक्थ, तीनों उक्थ क्रमशः बुद्धि–मन–इन्द्रियवर्ग के उपकारक, यही निष्कर्ष है।



प्रज्ञाबुद्धिः–बुद्ध्यनुगता   प्राणबुद्धिः–मनोऽनुगता   मूलबुद्धिः–इन्द्रियानुगता

प्रज्ञाबुद्धिमनो वा   प्राणबुद्धिमनो वा   मूलबुद्धिमनो वा

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि, बुद्धियुक्त (बुद्धिप्रधानी–युक्त) एक ही मन बुद्धि–मन–इन्द्रिय–उपभाग क्रमशः प्रज्ञान–प्राण–मूल भेद से तीन उक्थभावों में परिणत हो जाता है। महानमन के विना बुद्धियुक्त ये ही तीनों रूप क्रमशः 'प्रज्ञा–मति–मेधा' नामों से व्यवहृत हुए हैं। बुद्ध्यनुगत मन का ज्ञान 'प्रज्ञा' है मनोऽनुगत मन का कर्म 'मति' है एवं इन्द्रियानुगत मन का अर्थस्वीकार 'मेधा' है। प्रज्ञात्मानार ज्ञानगम्य है, मेधात्मानार कम्पनूर्ण है। मेधात्मक मन को आधार बना कर इन्द्रियों का प्रमन्न व्यापार

सदा निःसंदिग्ध बना रहता है। विवेकदृष्टि ही प्रेक्षा है, तत्पूर्वक कर्म में प्रवृत्त होने वाला ही 'प्रेक्षापूर्वकारी' कहलाया है। अविवेकदृष्टि इन्द्रियानुगत मन का व्यापार है । यही सामान्य-लोकदृष्टि है जिसमें पदे पदे स्खलन है पतन है बन्धन है। भावदर्शन ही प्रेक्षा है। यह बुद्धि का ही धर्म्म है । तदुक्त प्रेक्षाभरी मन को आधार बना कर ही इन्द्रियप्रेक्षण वास्तविक प्रेक्षण बन सकता है। एक मार्मिक विशेषता और । प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा तीनों महद्बुद्धि के चित् प्राण-अविद्याभिभूत से अनुप्राणित है। अतएव तदुक्त प्रज्ञा-मति-प्रेक्षामय प्रज्ञानमन इस महद्बुद्धिसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा-वृत्तियों के द्वारा तत्तत् कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी निर्लिप्त बना रहता है। ठीक इसके विपरीत यही प्रज्ञानमन यदि अविद्याबुद्धि सहकृत तत्तद् इन्द्रियधर्म्मांधार में परिणत हो जाता है तो वह बुद्धयनुगत प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा वृत्तियों से वञ्चित रहता हुआ बन्धनपाश से नियन्त्रित हो जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा तीनों यद्यपि मानवभाव हैं तथापि तीनों के बुद्धिपर्वानुगत रहने से तीनों शब्द बुद्धिस्वरूप में अन्तर्भूत मान लिए गए हैं। इनमें 'प्रज्ञा' शब्द मनोगर्भिता बुद्धि का, किंवा बुद्धिचेष्टानुगामी मन का वाचक है। 'मति' शब्द बुद्धिगर्भित मन का किंवा मनश्चेष्टानुगता बुद्धि का वाचक है । एवं 'प्रेक्षा' शब्द बुद्धि-मनोगर्भित इन्द्रियात्मक मन का किंवा इन्द्रियचेष्टानुगता बुद्धि का वाचक है। दूसरे शब्दों में मनोऽनुगता प्रज्ञाबुद्धि 'प्रज्ञा' है मनोऽनुगता प्राणबुद्धि 'मति' है, मनोऽनुगता भूतबुद्धि 'प्रेक्षा' है। 'प्रेक्षा' बुद्धि इन्द्रियाधिष्ठात्री है प्राणबुद्धि मनोऽधिष्ठात्री है, प्रज्ञाबुद्धि स्वस्वरूपाधिष्ठात्री है। तीनों शब्द पर्याय समानार्थक बनते हुए भी तत्त्वतः भिन्नभिन्नार्थक ही सिद्ध हो रहे हैं।

इति-'प्रेक्षा'-शब्दनिर्वचनम् (८)



६२-'उपलब्धि'-शब्दनिर्वचनम् (९)—

इन्द्रियद्वारा प्रज्ञान मन पर संस्काररूप से विषय प्रतिष्ठित हुए, इसी को 'विषयलब्धि' (विषयप्राप्ति) कहा गया है। यह प्राप्ति सामान्य, विशेषरूप से दो भागों में विभक्त है। मार्ग में चलते फिरते हम इन्द्रियों के द्वारा विविध विषयों का ग्रहण किया करते हैं। प्रज्ञानमन संस्काररूप से उन्हें आत्मसात् भी करता रहता है। आगे बढ़ते जाते हैं, पिछे के विषयों के संस्कार मिटते जाते हैं। यही सामान्य प्राप्ति है जिसका क्षणिक संस्कार से सम्बन्ध है। चल पड़ा, आगे भूल गए। इस क्षणिक संस्कारलक्षणा प्राप्ति को केवल 'लब्धि' ही कहा गया है। ऐसा क्यों होता है? प्रश्न का उत्तर है-बुद्धियुक्तयोगाभाव । बुद्धि का उपयोग नहीं रहता यह तो नहीं कहा जा सकता। सर्वथा बुद्धियुपयोग के अभाव में तो मन का व्यापार ही अवरुद्ध हो जाता है। और उस दशा में इन्द्रियव्यापार हो ही नहीं सकता। फलतः बुद्धि का उपयोग है अवश्य, परन्तु इस दशा में बुद्धि का मन के साथ 'उप' भाव रहता है। ऐन्द्रियक व्यापार के साथ साथ बुद्धि अपने अन्तर्जगत् में किसी अन्य विषय को लक्ष्य बनाए रहती है। प्रधान रूप उस अन्य आभ्यन्तर लक्ष्य की ओर लगा रहता है। अतएव इस दशा में मन केवल बुद्धि की प्रतिच्छाया से युक्त रहता है । यही 'उपेक्षाबुद्धि' कहलाती है। उपेक्षाबुद्धिसहकृत मन से होने वाला ऐन्द्रियक व्यापार जिन संस्कारों को मन पर लक्षित करता है वे दृढ़मूल नहीं बनने पाते । क्योंकि दृढ़ता-स्थिरता-अपेक्षाबुद्धि के उपयोग पर ही निर्भर है । यदि हम आभ्यन्तर विषय की ओर से बुद्धि को हटा कर मन में पूर्णरूप से उसे नियुक्त कर देते हैं तो

उस समय आने वाले ऐन्द्रियक संस्कार निराकार के लिए दृढमूल बन जाते हैं। इसी स्थिति का 'अवधान पूर्वक देखो, गौर करो, तबियत लगा कर पढ़ो नहीं भूल जाओगे' इत्यादि वाक्यों से अभिनय हुआ है। प्रज्ञानमन के सर्वथा समीप (उप) पैनी हुई बुद्धि पर्यन्त सांस्कारिक लब्धि (विषयप्राप्ति) का पहुँच कर उसका दृढमूल बन जाना ही उपलब्धि है यही विशेषप्राप्ति है। सामान्यप्राप्ति मनोऽनुगता बनती हुई केवल 'लब्धि' है। विशेषप्राप्ति बुद्ध्यनुगता बनती हुई 'उपलब्धि' है। सांस्कारिकविषयावच्छिन्न प्रज्ञानमनोऽनुगता बुद्धि ही विषयोपलब्धि के कारण 'उपलब्धि' कहलाई है। विषयसंस्कारावच्छेद से यही बुद्धितत्व 'उपलब्धि' नाम से व्यवहृत होगा, यही तात्पर्य है। विषयसंस्कारग्राहिका व्यवसायबुद्धि भी 'उपलब्धि' है क्योंकि 'उपलभ्यते-ऽनया' निर्वचनानुसार अपना बुद्धि ही 'उपलब्धि' रूपा लब्धि का कारण बनती है। एवं विषयसंस्कार संस्कृता-विषयप्राप्ता बुद्धि भी 'उपलब्धि' नाम से ही व्यवहृत की जासकी, क्योंकि विषयोपलब्धि से यह स्वयं भी विषयात्मिका (विषयोपलब्धिरूपा) बन जाती है। यही उपलब्धिशब्द का संक्षिप्त निर्वचनार्थ है।

इति-'उपलब्धि'-शब्दविचनम् (९)



६३-'चित्' शब्दनिर्वचनम्-(१०)

'चिता भवति या सा चित्'—निर्वचनानुसार 'चित होने वाला तत्त्वविशेष ही 'चित्' है। आधि-दैविक-भौतिक-आत्मिक सम्बन्धात् पदार्थों का स्वरूप चिति-प्रक्रिया से ही सम्पन्न हुआ है। जिसप्रकार इष्टका पर इष्टका की चिति (चयन-चेजा) से एक प्रासाद खड़ा हो जाता है एवमेव रसगर्भित विभिन्न बलों की चिति से ही विविध विश्वों का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। और इस दृष्टि से चितिकर्मोपयुक्त सभी पदार्थों को जब 'चित्' कहा जा सकता है तो फिर 'चित्' शब्द बुद्धितत्त्व का संग्राहक किस आधार पर माना गया ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। उत्तर बुद्धि के प्रभव आधिदैविक बुद्धिस्थानीय सूर्य से पूछिए। यज्ञप्रक्रिया सवन चयन भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। अग्नि में सोमाहुति होना भी यज्ञ है। इस यज्ञ से आत्मा की वृद्धि नहीं होती। क्योंकि अन्नाधीन भी अन्नाद अग्नि आत्मसात् कर लेता है। यही 'सवनयज्ञ' है, जिसे 'हुत्वा' भी कहा गया है एवं जिसके अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु, सोमयाग भेद से पाँच विवर्त माने गए हैं। अग्नि में अग्नि की आहुति होना भी यज्ञ है। इस यज्ञ से आत्मा की वृद्धि होती है, क्योंकि अन्नाद अन्नाद को आत्मसात् नहीं कर सकता। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी है, परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है। स्वायम्भुव यज्ञ के गर्भ में सवन-चयन यथायोग्य यज्ञ प्रतिष्ठित हैं अतएव उसे हुत्वा-चित्वा दोनों ही कहा जा सकता है। अतएव स्वायम्भुव यज्ञ 'सर्वहुतयज्ञ' कहलाता है। [illegible] सर्वहुतयज्ञमूर्ति स्वयम्भू के विवर्त (महिमामण्डल) में प्रतिष्ठित आपोमय परमेष्ठी के आधार पर सवनयज्ञ प्रतिष्ठित है। एवं वाङ्मय सूर्य के आधार पर चयनयज्ञ प्रतिष्ठित है जो सौरसम्वत्सराग्निमय चयनयज्ञ पार्थिव-आन्तरिक्ष-दिव्य-पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोक-अन्तरिक्ष-द्युविभाग अग्निमय से सोमयज्ञरूप पञ्चचितिक बनता हुआ चयनार्थ ही माना गया है। पारमेष्ठ्य समुद्र में भृगुरूप से इतस्ततः अन्दम्भमाण अग्नियोऽग्निरूप व्याप्त रहते हैं। इनका परमेष्ठी की महिमा के गर्भ में चिनाव होने लगता है। कालान्तर में इन अग्निकणों की चितियों से आग्नेय हुआ प्रजाग्नि (चित्याग्नि) रूप में परिणत हो जाता है। अग्निचितियों से इत्थम्भूत बना चन्द्रिकाग्निलक्षण

कर्म से निर्लिप्त बना रहता है। विवेकदृष्टि ही प्रेक्षा है, तत्पूर्वक कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला ही 'प्रेक्षापूर्वकारी' कहलाता है। अविवेकदृष्टि इन्द्रियानुगत मन का व्यापार है। यही सामान्य-लोकदृष्टि है जिसमें पदे पदे स्खलन है पतन है बन्धन है। मर्यादर्शन ही प्रेक्षा है। यह बुद्धि का ही धर्म्म है। तद्युक्त प्रेक्षामयी मन को आधार बना कर ही इन्द्रियमें यथा वास्तविक प्रेक्षा बन सकता है। एक प्रासङ्गिक विशेषता और। प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा तीनों प्रज्ञाबुद्धि के चित्-माया-ग्रन्थिविनिमुक्त से अनुप्राणित हैं। अतएव तद्युक्त प्रज्ञा-मति-प्रेक्षामय प्रज्ञानमन इस प्रज्ञाबुद्धिसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा-वृत्तियों के द्वारा तत्तत् कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी निर्लिप्त बना रहता है। ठीक इसके विपरीत यदि प्रज्ञानमन यदि अविद्याबुद्धि तदद्वारा तदनु इन्द्रियकर्म्माकार में परिणत हो जाता है तो यह बुद्धयनुगत प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा-सम्पत्तियों से वञ्चित रहता हुआ बन्धनपाश से निपीडित हो जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि प्रज्ञा-मति-प्रेक्षा तीनों यद्यपि मानसभाव हैं, तथापि तीनों के बुद्धिपर्वानुगत रहने से तीनों शब्द बुद्धिस्वरूप में अन्तर्भूत मान लिए गए हैं। इनमें 'प्रज्ञा' शब्द मनोगर्भिता बुद्धि का, किंवा बुद्धिचेष्टानुगामी मन का वाचक है। 'मति' शब्द बुद्धिगर्भित मन का किंवा मनःचेष्टानुगता बुद्धि का वाचक है। एवं 'प्रेक्षा' शब्द बुद्धि-मनोगर्भित इन्द्रियात्मक मन का किंवा इन्द्रियचेष्टानुगता बुद्धि का वाचक है। दूसरे शब्दों में मनोऽननुगता प्रज्ञाबुद्धि प्रज्ञा है मनोऽनुगता प्राणबुद्धि 'मति' है, मनोऽनुगता भूतबुद्धि 'प्रेक्षा' है। प्रेक्षा' बुद्धि इन्द्रियाधिष्ठात्री है प्राणबुद्धि मनोऽधिष्ठात्री है, प्रज्ञाबुद्धि स्वस्वरूपाधिष्ठात्री है। तीनों शब्द अंशतः समानार्थक बनते हुए भी तत्त्वतः भिन्नार्थक ही सिद्ध हो रहे हैं।

इति-'प्रेक्षा'-शब्दनिर्वचनम् (८)



६७-'उपलब्धि'-शब्दनिर्वचनम् (६)—

इन्द्रियद्वारा प्रज्ञान मन पर संस्काररूप से विषय प्रतिष्ठित हुए, इसी को 'विषयलब्धि' (विषयप्राप्ति) कहा गया है। यह प्राप्ति सामान्य विशेषरूप से दो भागों में विभक्त है। मार्ग में चलते फिरते हम इन्द्रियों के द्वारा विविध विषयों का ग्रहण किया करते हैं। प्रज्ञानमन संस्काररूप से उन्हें तात्कालिक भी करता रहता है। आगे बढ़ते जाते हैं, पिछे के विषयों के संस्कार मिटते जाते हैं। यही सामान्य प्राप्ति है जिसका क्षणिक सत्कार से सम्बन्ध है। कब पढ़ा क्या भूल गए। इस क्षणिक संस्कारात्मिका प्राप्ति को केवल 'लब्धि' ही कहा गया है। ऐसा क्यों होता है ?, प्रश्न का उत्तर है-बुद्धिसहयोगाभाव। बुद्धि का सहयोग नहीं रहता यह तो नहीं कहा जा सकता। सर्वथा बुद्धिसहयोग के अभाव में तो मन का व्यापार ही अवरुद्ध हो जाता है। और उस दशा में इन्द्रियव्यापार हो ही नहीं सकता। फलतः बुद्धि का सहयोग है अवश्य, परन्तु इस दशा में बुद्धि का मन के साथ 'उप' भाव रहता है। ऐन्द्रियक व्यापार के साथ साथ बुद्धि अपने अन्तर्जगत् में किसी अन्य विषय को लक्ष्य बनाए रहती है। प्रज्ञान मन उस समय आभ्यन्तर लक्ष्य की ओर लगा रहता है। अतएव इस दशा में मन केवल बुद्धि की प्रतिच्छाया से युक्त रहता है। यही 'उपेक्षाबुद्धि' कहलाई है। उपेक्षाबुद्धिसहकृत मन से होने वाला ऐन्द्रियक व्यापार जिन संस्कारों को मन पर स्थापित करता है वे दृढमूल नहीं बनने पाते। क्योंकि दृढता-स्थिरता-अपेक्षाबुद्धि के सहयोग पर ही निर्भर है। यदि हम आभ्यन्तर विषय की ओर से बुद्धि को हटा कर मन में पूर्णरूप से उसे नियुक्त कर देते हैं तो

उस समय आने वाले ऐन्द्रियक संस्कार चिरकाल के लिए दृढमूल बन जाते हैं। इसी स्थिति का 'अवधान पूर्वक देखो, गौर करो, सम्बन्ध लगा कर पढ़ो नहीं भूल जाओगे' इत्यादि वाक्यों से अभिनय हुआ है। प्रज्ञानमन के सर्वथा समीप (उप) बैठी हुई बुद्धि पर्य्यन्त सांस्कारिक लब्धि (विषयप्राप्ति) का पहुँच कर उसका दृढमूल बन जाना ही उपलब्धि है यही विशेषप्राप्ति है। सामान्यप्राप्ति मनोऽनुगता बनती हुई केवल 'लब्धि' है। विशेषप्राप्ति बुद्ध्यनुगता बनती हुई 'उपलब्धि' है। सांस्कारिकविषयावच्छिन्न प्रज्ञानमनोऽनुगता बुद्धि ही विषयोपलब्धि के कारण 'उपलब्धि' कहलाई है। विषयसंस्कारावच्छेद से वही बुद्धितत्त्व 'उपलब्धि' नाम से व्यवहृत होगा, यही तात्पर्य्य है। विषयसंस्कारव्याप्तिरूप अपेक्षाबुद्धि भी 'उपलब्धि' है क्योंकि 'उपलभ्यते-अनया' निर्वचनानुसार अपेक्षा बुद्धि ही 'उपलब्धि' रूपा लब्धि का कारण बनती है। एवं विषयसंस्कार सम्पृक्ता-विषयप्राप्ता बुद्धि भी 'उपलब्धि' नाम से ही व्यवहृत की जायगी क्योंकि विषयोपलब्धि से यह स्वयं भी विषयात्मिका (विषयोपलब्धिरूपा) बन जाती है। यही उपलब्धिशब्द का संक्षिप्त निर्वचनार्थ है।

इति-'उपलब्धि'-शब्दनिर्वचनम् (९)



६३-'चित्' शब्दनिर्वचनम्-(१०)

'चिता भवति या सा चित्'—निर्वचनानुसार 'चित' होने वाला तत्त्वविशेष ही 'चित्' है। आधि-दैविक-भौतिक-आत्मिक यच्चयावत् पदार्थों का स्वरूप चिति-प्रक्रिया से ही सम्पन्न हुआ है। जिसप्रकार इष्टका पर इष्टका की चिति (चयन-चेजा) से एक प्रासाद बना ही जाता है एवमेव स्वर्गस्थित विभिन्न वर्णों की चिति से ही विविध विवर्तों का स्वरूप निर्माण हुआ है। और इस दृष्टि से विश्वसीमाबद्ध सभी पदार्थों को जब 'चित्' कहा जा सकता है तो फिर 'चित्' शब्द बुद्धितत्त्व का समाहक किस आधार पर माना गया ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। उत्तर बुद्धि के प्रभव आधिदैविक बुद्धिस्थानीय सूर्य्य से पूँछिए। यज्ञप्रक्रिया लवन, चयन, भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। अग्नि में सोमाहुति होना भी यज्ञ है। इस यज्ञ से आयतन की वृद्धि नहीं होती। क्योंकि अन्नसोम को अन्नाद अग्नि आत्मसात् कर लेता है। यही 'लवनयज्ञ' है जिसे 'हुत्' भी कहा गया है एवं जिसके अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, अयन सोमयाग भेद से पाँच विवर्त माने गए हैं। अग्नि में अग्नि की आहुति होना भी यज्ञ है। इस यज्ञ से आयतन की वृद्धि होती है, क्योंकि आधार अन्नाद को आत्मसात् नहीं कर सकता। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी है, परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है। स्वायम्भुव यज्ञ के गर्भ में लवन-चयन यथायोग्य प्रतिष्ठित हैं अतएव उसे हुत्-चित्या दोनों ही कहा जा सकता है। अतएव स्वायम्भुव यज्ञ 'सर्वहुत्यज्ञ' कहलाया है। इस सर्वहुतयज्ञमूर्ति स्वयम्भू के विवर्त (महिमामण्डल) में प्रतिष्ठित आपोमय परमेष्ठी के आधार पर लवनयज्ञ प्रतिष्ठित है। एवं वाङ्मय सूर्य्य के आधार पर चयनयज्ञ प्रतिष्ठित है जो सौरसम्वत्सराग्निमय चयनयज्ञ पार्थिव-आन्तरिक्ष-दिव्य-पृथिव्यन्तरिक्षद्युलब्ध अन्तरिक्ष-द्युलक्षित अग्निभेद से सोमयज्ञवत् पञ्चचितिक बनता हुआ पञ्चपर्वा ही माना गया है। पारमेष्ठ्य समुद्र में भृगुरूप से इतस्ततः इतस्ततः सम्भ्रममाण आङ्गिरोऽग्निकण व्याप्त रहते हैं। इनका परमेष्ठी की महिमा के गर्भ में चिनाव होने लगता है। कालान्तर में इन अग्निकणों की चितियाँ ही भूताग्नि-पुञ्ज रूपाग्नि (चिताग्नि) रूप में परिणत हो जाता है। अग्निचितियों से इतरूप यही आङ्गिरोऽग्निसञ्चय

उपचरित 'सूर्य' कहलाया है जैसा कि बुद्धिशब्दनिर्वचनप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। इसप्रकार 'चिति' भाव का सर्वप्रथम आविर्भाव सौरसंस्था में सूर्य्यरूप से ही हुआ है। यही विश्व में प्रथम 'चित्' है। इसी सामान्य से यह 'चित्' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। आगे त्रैलोक्य में जितनी चितियाँ सम्पन्न होतीं हैं उन सब का मूलप्रभव भी यही चित्–सूर्य्य बनता है। इसलिए भी इसे 'चित्' कहना अन्वर्थ बनता है। बुद्धि इसी चित्सूर्य्य का प्रवर्ग्य है। अतएव इसे भी 'चित्' कहना अन्वर्थ बन रहा है। इसप्रकार 'चित्' शब्द बुद्धि की अग्नि–अनुगता चिति–अवस्था का ही वाचक बन रहा है। बुद्धि का यह मूलात्मक स्वरूप जिसका सौर सावित्राग्निचिति से सम्बन्ध है 'चित्' शब्द से संग्रहीत हुआ है।

दूसरा निर्वचन 'चिदात्मा' से सम्बन्ध रखता है। आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाक् इन पाँच अन्तः भाव-चितियों से युक्तरूप, यथाक्रमगर्भित अव्ययात्मा ही 'चिदात्मा' कहलाया है। यही अव्ययात्मतत्त्व चितियों के सम्बन्ध से 'चित्' है। बतलाया गया है कि—'इन्द्रो ह वै षोडशी' के अनुसार सूर्य्य ही इस चिदात्मा की विभूतिभूमि है। 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' के अनुसार अध्यात्मसूर्य्यरूपा बुद्धि ही आध्यात्मिक चिदात्मा की विभूतिभूमि है। इसी आधार पर 'मेधा' शब्दनिर्वचनप्रकरण में हमनें विज्ञानात्मरूपा बुद्धि को चित्प्रभाला कहलाया है। चित् शब्द बुद्धि की इस चिदात्मप्रकाशावस्था का भी समर्थन कर रहा है। 'चित्' रूपा या सा चित् ही इस द्वितीय निर्वचन का स्वरूप है।

इति–'चित्'–शब्दनिर्वचनम् (१०)

—●—

६४–'संवित्'–शब्दनिर्वचनम्–(११)

'समित्येकीभावे' इस नैगमिक सिद्धान्तानुसार 'सम्' उपसर्ग एकीभाव का वाचक है। 'संवित्' शब्द के 'सम्–वित्' ये विभाग हैं। विद्–ज्ञाने,–विद–सत्तायां,–विद्–लाभे– तीनों धातुओं से 'वित्' का सम्बन्ध है। तात्पर्य इसका यह है कि, 'वित्' का अर्थ 'ज्ञान' भी है, सत्ता भी है, लाभ भी है। सत्ता 'अस्ति' भाव है यही 'सत्' है। ज्ञान 'चित्' है। लाभ रस 'आनन्द' है। सत्–चित्–आनन्द–की समष्टि ही 'सच्चिदानन्द–ब्रह्म' है। दार्शनिक परिभाषानुसार सत् 'अस्ति' है चित् 'भाति' है आनन्द 'प्रिय' है। अस्ति–भाति–प्रिय–नाम–रूप, इन पाँच विवर्तों में भाति की भाँति 'आत्मा' है अन्तिमत्रयी विश्व है। भाति का विकास क्षर प्रपञ्च से भाति का विकास 'अक्षर' प्रपञ्च से, एवं प्रिय का विकास 'अव्यय' प्रपञ्च से सम्बन्ध रखता है। आनन्द विज्ञान, मनः प्राण वाक् अव्यय की ये पाँच कलाएँ मानी गईं हैं। इनमें आनन्द 'आनन्द' है यही रसलक्षण 'प्रिय' है। विज्ञान चित् है, यही 'भाति' है। मनःप्राणवाक्समष्टि 'सत्' है यही 'अस्ति' है। आनन्दप्रधान यही अव्ययात्मा 'अव्यय' है विज्ञानप्रधान यही अव्ययात्मा 'अक्षर' है एवं मनःप्राण–वाक्प्रधान यही अव्ययात्मा आत्मक्षर है। इसप्रकार आनन्दघन–रसैकघन–निष्कल यही अव्यय अपने त्रिविधों के द्वारा अव्यय–अक्षर–क्षररूप में परिणत होकर त्रिवृत्स्वरूप बना हुआ है। आरम्भ में 'सत्' बना हुआ आत्मा वर्द्धिष्णुता में 'विराट' बन रहा है। निम्न लिखित परिलेख को लक्ष्य बना कर ही 'संवित्' शब्द की मीमांसा करनी चाहिए।

विश्वेश्वरस्य पञ्च पर्वाणि	(१) १–स्वयम्भूः (२) २ परमेष्ठी	—आनन्दप्रधाना अव्ययात्मसंस्था (आनन्द—आनन्दः-प्रियम्	—विश्वेश्वरः
	(३) १–सूर्य्यः	—विज्ञानप्रधाना अक्षरात्मसंस्था (विज्ञानम्—चित्–भाति	
	(४) १–चन्द्रमाः (५) २–पृथिवी	—मनःप्राणवाङ्मयी क्षरात्मसंस्था (मनःप्राणवाग्भावा -सत्-अस्ति	

विज्ञानप्रधाना अक्षरात्मसंस्था में ही सूर्य्य का उपभोग हो रहा है। मध्यस्थ होने से इस ज्ञानरूपा-भाति-रूपा-चित्लक्षणा चित् में ऊर्ध्वस्था आनन्दरूपा-प्रियरूपा-चित् एवं अधोऽवस्थिता मनःप्राण-वाग्रूपा-सद्रूपा-अस्तिलक्षणा चित्, दोनों का समन्वय हो रहा है। इसप्रकार सूर्य्यारम्भ में सम्-भावात्मक बने हुए सच्चिदानन्द के सत्-चित्-आनन्दानुगता तीनों चित्-समष्टियों का सृष्टिदशा में भी केवल मध्यस्थ सूर्य्य में ही एकत्र समन्वय हो रहा है। यहाँ आत्मा एक रूप से, किंवा अपनी त्रयत्रयी-स्वरूप से विकसित हो रहा है। अतएव सौर 'चित्' को व्यापक माना जा सकता है। अतएव च सर्वसमन्वयात्मिका सौरी 'चित्' को आत्मैकीभावप्रवृत्ति के कारण 'सम्' उपाधि से युक्त करते हुए 'संवित्' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है।

१–सामार्थको–'विद' धातुः (विद्‌ल-लाभे)—चित्-अव्ययानुगता
२ ज्ञानार्थको–'विद' धातुः (विद-ज्ञाने)—चित्–अक्षरानुगता —अत्र समन्वय–स्तैवा–
३–सत्तार्थको–'विद' धातु (विद–सत्तायाम्) चित–क्षरानुगता 'संवित्'

सम् भावात्मिका सौरी चित् ही वस्तुतः बुद्धि की 'चित्' है। इस सर्वसमन्वयभावात्मिका चित् की दृष्टि से बुद्धि को भी अवश्य ही 'संवित्' कहा जा सकता है। बुद्धि के इस अव्ययानुगत संवित्-भाव के विकास से ही अध्यात्मसंस्था में समत्वलक्षणा बुद्धियोगसम्पत् का उदय होता है। इसी के उदय से सविशेष भी भूतात्मा निर्दोष-समब्रह्म में प्रतिष्ठित होता हुआ समदर्शी बन कर नानात्वनिबन्धन मृत्युभाव से विमुक्त होजाता है। यही 'संवित्' का चरम रूप है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी-'संविदा वेयम्' (तै० ब्रा० ७।११।३) 'वागपूर्णी ब्रह्मणा संविदाना -'ब्रह्मणा संविदो (शत० ब्रा०)–'सा हि सर्वगता संवित्' इत्यादिरूप से संवित्-ज्ञान को सर्वसंग्राहक ही माना है। मन्दर्शनावरणपूर्वक अभेददर्शनानुगता ऊर्ध्व-अधोऽवस्थित-अव्ययावस्थया-मुपहिता-सर्वरूपा बुद्धिरूपा-आत्मसमत्विका चित् ही संवित् है। बुद्धयः" शब्द जहाँ बुद्धिमात्र के प्रातिस्विक विवर्तों के संग्राहक हैं, वहाँ 'संवित्' शब्द इसी बुद्धि के असाधारणीभूत सर्वव्यापक सर्वात्मक अतएव सम-भावा-त्मक रूप का संग्राहक बना हुआ है।

समभावापन्न, सर्वसमन्वयलक्षण 'समब्रह्म' * नामक अव्ययपुरुष ही मानव का मुख्य 'आत्मा' है जो ज्योतिषां ज्योतिर्बन बनता हुआ 'स्वयंप्रभा'-रूपेण माना गया है। वैराग्यबुद्धि के द्वारा ही इस समब्रह्म का अनुभव प्राप्त हुआ करता है। अतएव अव्ययात्मरूपा स्वतःप्रकाशलक्षणा 'संवित्' का सम्बन्ध वैराग्यबुद्धि के साथ ही मान लिया गया है। चतुर्विध विद्याबुद्धियों में संवित्-अव्ययात्मा से अभिन्न बनी रहने वाली वैराग्यविद्याबुद्धि भी इसी हेतु से संवित् कहलाने लगती है। जिसप्रकार 'शरीर' के आधार पर 'आवेश' प्रतिष्ठित है, मन के आधार पर 'उपवेश' प्रतिष्ठित है, सामान्य बुद्धि के आधार पर अनुशासन' प्रतिष्ठित है, एवमेव वैराग्यबुद्धिसहकृत अव्ययात्मा के आधार पर 'संवित्' प्रतिष्ठित है। शरीर-मनो-बुद्ध्यनुगत आवेश-उपवेश-अनुशासन भले ही निष्फल प्रमाणित हो जायँ, किन्तु अव्ययात्मानुगता 'संवित्' कदापि निष्फल नहीं बन सकती। वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठ आर्ष मानव प्रधानरूप से इस 'संवित्' की ही उपासना किया करते हैं जिसका 'भा० हि० भा०' की मानुकता' नामक तत्त्वानुप्राणात्मक सामयिक-निबन्ध के चतुर्थखण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निम्न लिखित वचन इसी 'संवित्' का यशोगान कर रहे हैं।

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमेत्येषि 'संविदे' षा स्वयंप्रभा ॥१॥
कृतारम्भ क्रियां तद्वत् व्यापृतविषयानपि ॥
स्फोरयदेकयत्नेन योऽसौ संवित् स्वयं प्रभुः ॥२॥

१ आत्मा-तदनुगता—'संवित्' (वैराग्यबुद्ध्यनुगता)।
२-बुद्धि—तदनुगतं—'अनुशासनम्' (सामान्यबुद्ध्यनुगतम्)।
३-मनः—तदनुगतः—'उपवेशः' (प्रज्ञानमनोऽनुगतः)।
४-शरीरम्-तदनुगतः—'आवेशः' (भौतिकशरीरानुगतः)।

इति-'संवित्'-शब्दनिर्वचनम् (११)

६५-'प्रतिपत्'-शब्दनिर्वचनम् (१२)-

'प्रतिपत्' शब्द 'अनुचर' शब्दसापेक्ष है। आत्मपृष्ठ'-पर 'प्रतिपदनुचरी' भी वैदिक विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। मूलाधार 'प्रतिपत्' कहलाता है क्योंकि मूल से विनिर्गत तूल मूलाधार में ही मग्न (आश्रित) रहते हैं। लौकिक उदाहरण के लिए राजा प्रतिपत् है प्रजा अनुचर है। गृहस्वामी प्रतिपत् है तदनुपरिवार अनुचर है। गुरु प्रतिपत् है शिष्यवर्ग अनुचर है। न्यायाधीश प्रतिपत् है तत्सम्बन्धकर्मचारीवर्ग अनुचर है। शास्त्रीय उदाहरण के लिए-शुक्लप्रतिपत् (पड़वा) तिथि प्रतिपत् है शेष १५ तिथियाँ प्रतिपत् से उपक्रान्त होती हुई अनुचर हैं। ईश्वर प्रतिपत् है, तदाश्रित-तत्प्रपञ्च आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक प्रपञ्च अनुचर है। चन्द्रमा प्रतिपत् है नक्षत्र अनुचर हैं। आधिदैविक सृष्टिविभाग, सृष्टिस्थिति आदि भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। सृष्टि स्वयम्भू-मूला है स्थिति सूर्यमूला है लय पृथिवी-मूला है। स्वयम्भूर्व विश्वेश्वर का शिरःस्थानीय है सूर्य हृदयस्थानीय है पृथिवी पादस्थानीया है। अतएव

---

* इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ गीता ५।१९।

इन तीनों सृष्टिविज्ञानों को शिरोमूल सृष्टिविज्ञान, हृन्मूल सृष्टिविज्ञान, पादमूल सृष्टिविज्ञान नामों से व्यवहृत किया जासकता है। सृष्टि (उत्पत्ति) का आरम्भ स्वयम्भू से होता है। आगे की परमेष्ठी-सूर्य्यादि सृष्टियां स्वयम्भूमूला हैं। अतएव इस सृष्टिदृष्टि से स्वयम्भू को प्रतिपद् माना जायगा, एवं परमेष्ठ्यादि चारों को अनुचर कहा जायगा। यही पहिला सृष्ट्यात्मक प्रतिपदनुचर-भाव है। सृष्टि की स्थिति आदानविसर्गात्मक यज्ञाधार हृदयस्थ सूर्य्य पर निर्भर है। इस स्थितिदृष्टि से सूर्य्य प्रतिपद् माना जायगा, एवं स्वयम्भू आदि चारों पर्व इसके अनुचर माने जायँगे। यही दूसरा स्थित्यात्मक प्रतिपदनुचर-भाव है। सृष्टि की दृष्टि से पादस्थानीया पृथिवी प्रतिपत् मानी जायगी, शेष चारों पर्व अनुचर माने जायँगे। एवं यही तीसरा दृष्ट्यात्मक प्रतिपदनुचरभाव कहलाएगा। तात्पर्य्य—उत्पत्तिरूपा सृष्टि की अपेक्षा स्वयम्भू सर्वमूल है, एवं स्थितिरूपा सृष्टि की अपेक्षा सूर्य्य सर्वमूल है एवं दृष्टिरूपा सृष्टि की अपेक्षा पृथिवी सर्वमूला है। क्योंकि स्थितिमूलक सृष्टिविज्ञान के अनुसार सूर्य्य ही प्रतिपत् है। अतएव तत्प्रसूता सूर्य्यस्थानीया बुद्धि को भी अवश्य ही 'प्रतिपत्' कहा जासकता है। आध्यात्मिक अव्यक्त,–महानात्मा प्रज्ञान भूतात्मा, चारों सत्कारसमपर्व मध्यस्था बुद्धि के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' के अनुसार बुद्धिनाश से सब कुछ विनष्ट है, एवं बुद्धिस्थिति से सबकुछ सुरक्षित है। बुद्धि के इस सर्वाश्रयभूत धर्म की अपेक्षा से ही इसे 'प्रतिपत्' कहना अन्वर्थ बनता है।

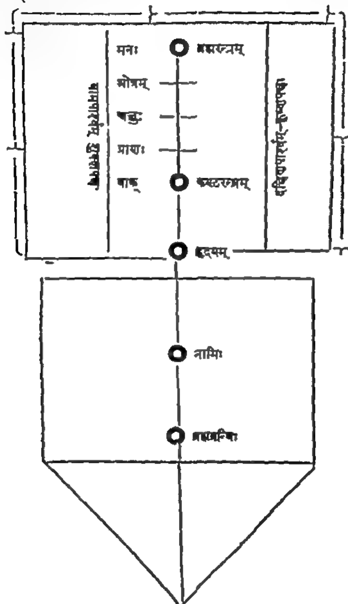
प्रतिपत् की अन्तिम सीमा का ही नाम अमावास्या है, एवं प्रतिपत् की अन्तिम सीमा का ही नाम पूर्णिमा है। अमागर्भिता तिथियों की, तथा पूर्णिमागर्भिता तिथियों की आश्रयभूमि भी यही प्रतिपत् है। प्रतिपत्स्थानीय सूर्य्य के आधार पर ही चान्द्र अमान्त-पूर्णिमान्त तिथियों का आविर्भाव तिरोभाव होता है। ठीक यही स्थिति अध्यात्म में समझिए। शिरोमूललक्षण ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर हृदयस्थान-पर्य्यन्त प्रदेश यह आकाश है जिसमें चन्द्रमास्थानीय प्रज्ञानमन परिक्रमा लगाता हुआ तिथि-भावों का अनुगामी बना रहता है। हृदयस्थान में विज्ञानात्मक सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इससे ज्योति का विनिर्गम हो रहा है। प्रज्ञान मन अर्करूप से हृदय से चल कर ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त अनुधावन करता है। वहाँ से चल कर पुनः हृदयस्थान में अर्पित हो जाता है। दक्षिणपार्श्व घोराग्निप्रधान होने से आध्यात्मिक कृष्णपक्ष है, वामपार्श्व चान्द्रसोम प्रधान होने से शुक्लपक्ष है। प्रज्ञानरूप चन्द्रमा का हृदयस्थान से वामपार्श्व की ओर ऊर्ध्व गमन आरम्भ हुआ। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि, शुक्लप्रतिपत्स्थानीय हृदय से चन्द्रमा वामपार्श्वानुगत शुक्लपक्ष की ओर चलने लगा। वामपार्श्व के तेजोनाड्यनुगत शुक्लपक्षगर्भित (वामपार्श्वगर्भित) कण्ठस्थान-समुच्छ्रित वाग्भाग (मुखमध्य) के समीप आते आते मन आधा (एक चतुर्थांश) प्रकाशित हो गया। यही इसकी शुक्लाष्टमी कहलाई। यहाँ से क्रमशः ऊपर जाता हुआ ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच गया। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' के अनुसार अग्निस्थानीय मुख पृथिवी (भूपिण्ड) स्थानीय माना गया है। वाक्-प्राण-चक्षु तीनों इन्द्रियों का अग्नि-वायु-रवि से ही तो निर्माण हुआ है। ये तीनों क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक के ही तो प्राण हैं। अतएव तदात्मिका वाक् (मुख) प्राण (नासिका) चक्षुर्गोलकों को अवश्य ही आध्यात्मिक पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक कहा जा सकता है। जब चन्द्रमा और सूर्य्य दोनों के मध्य में भूपिण्ड आजाता है दूसरे शब्दों में जब चन्द्रमा पृथिवी की परिक्रमा लगाता हुआ सूर्य्य से विप्रकृष्ट होकर पृथिवी और सूर्य्य के ठीक सामने आजाता है तभी इस पर सूर्य्य का प्रकाश पड़ता है एवं यही पूर्णिमाकाल माना गया है। ठीक यही स्थिति अध्यात्म में समझिए। हृदय स्थान में विज्ञान-लक्षण सूर्य्य प्रतिष्ठित है। मुखस्थान भूपिण्ड है। ब्रह्मरन्ध्रस्थान हृदय से ठीक सामने का स्थान है। जब

यहीं पर मनोरूप चन्द्रमा पहुँच जाता है। दूसरे शब्दों में जब चन्द्ररूप मन पृथिवीरूप मुखस्थान की परिक्रमा लगाता हुआ सूर्य्यरूपा बुद्धि से विमुक्त होकर पृथिवीरूप मुखस्थान की ओर बुद्धिरूप सूर्य्य के ठीक सामने आजाता है तभी इस पर बुद्धिरूप सूर्य्य का प्रकाश पड़ता है, एवं यही इसका पूर्णिमाकाल है। यही विज्ञान-भाषा में 'जाग्रदवस्था' कहलाई है। ब्रह्मरन्ध्र से नीचे नीचे प्रतिष्ठित सम्पूर्ण ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित-बुद्धिज्योति से ज्योतिष्मान् बने हुए मन की ज्योति से युक्त होकर प्रकाशित होती हुई स्वव्यापार आरम्भ कर देती हैं एवं यही जाग्रदवस्था है जिसका आध्यात्मिक-पूर्णिमाकाल से सम्बन्ध है। ब्रह्मरन्ध्र की चरम सीमा पर पहुँच कर मन जब दक्षिणपार्श्व की ओर से हृदयाभिमुख चला। यही कण्ठस्थान कृष्णपक्ष की प्रतिपद तिथि कहलाया। दक्षिणपार्श्व के तेजोनाड्यनुगत-कृष्णपक्षगर्भित (दक्षिणपार्श्व गर्भित) कण्ठस्थानसम-तुलित वागमाग (मुखस्थान) के समीप आते आते प्रकाश आधा रह गया यही इसकी आध्यात्मिक कृष्णाष्टमी कहलाई। यहाँ आकर चेतना अन्तर्मुख बन गई। यहाँ से ऊपर की ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार तो अवरुद्ध होगया। केवल मुख तथा हस्त-पादादि को थोड़ा प्रकाश मिला। यही आध्यात्मिक-'स्वप्नावस्था' कहलाई जिसमें वागव्यापार (बड़बड़ाना) हस्त-पादादि प्रक्षेप-आस्फालनरूप से होते रहते हैं। चेतना की आत्यन्तिक अप्रतीति नहीं है इसलिए तो इस अवस्था को सुषुप्ति नहीं कहा जासकता। चेतना के आत्यन्तिक उद्रेक का अभाव है इसलिए इसे जागृति नहीं कहा जासकता। अपितु उभयधर्म्मसमावेश से इसे 'सन्ध्या-वस्था' ही माना गया है, जैसा कि-'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' इत्यादि व्यासवचन से प्रमाणित है। यहाँ से मन ज्यों-ज्यों हृदयाभिमुख होता गया त्यों त्यों इसका इन्द्रियप्रानुगत ऊर्ध्वभाग तमोरूप में परिणत होने लगा। जब यह हृदयस्थान में पहुँच कर सूर्य्यरूपा बुद्धि से मिल कर पुरीतत्नाड़ी में चला गया तो ऊर्ध्वभाग आत्य-न्तिक रूप से तमोमय में परिणत होगया। इन्द्रियवर्ग प्रकाश से सर्वथा वञ्चित होगया। यही तीसरी सुषुप्त्य-वस्था कहलाई, जिसका-'स्वमपीतो भवति' निर्वचन से स्वपिति शब्द के द्वारा अभिनय किया जाता है। 'दर्शः सूर्य्येन्दुसङ्गमः' के अनुसार सूर्य्य के साथ चन्द्रमा के मिल जाने का ही नाम अमावास्या है। जब पृथिवी की परिक्रमा करता हुआ चन्द्रमा सूर्य्य की ओर चला जाता है सूर्य्यसम्मुख होजाता है तो इसका रश्मिमण्डलप्रधान ऊर्ध्वभाग तो प्रकाशित होजाता है एवं पृथिव्यनुगत अधोभाग अप्रकाशित होजाता है, यही अमावास्या है। पृथिवीस्थानीयमुख की परिक्रमा लगाता हुआ चन्द्रस्थानीय मन जब सूर्य्यस्थानीया बुद्धि की ओर चला जाता है-सम्मुख होजाता है तो इसका बुद्ध्यनुगत-आवरण अधोभागरूप (इन्द्रियानुगत) अर्द्ध-भाग अप्रकाशित हो जाता है और यही आध्यात्मिक अमावास्याकाल है। इसप्रकार अधिदैवतस्था चान्द्र-परिभ्रमणानुगता अधिदैवतसंस्था की भाँति मनःपरिभ्रमणानुगता इस अध्यात्मसंस्था में भी दर्श-पौर्णमास हुआ करता है जिसकी मूलप्रतिष्ठा प्रतिपद् ही है।

प्रकृति में सूर्य्यस्थानसंलग्न चन्द्रोपलक्षस्थान का नाम शुक्लप्रतिपद् है एवं सौरसीमापर्य्यवसान्त-सीमानुगत चन्द्रापक्रान्तस्थान का नाम कृष्णप्रतिपत् है। सूर्य्यस्थान मध्यस्थान है, सूर्य्यमण्डलस्थान अर्द्धस्थान है। इस दृष्टि से सूर्य्य ही उभयप्रतिपत्स्वरूप बन रहा है। अतः सूर्य्य को ही प्रतिपद् कहा जायगा, चाहे वह शुक्लप्रतिपत् हो, अथवा कृष्णप्रतिपत्। ठीक यही स्थिति अध्यात्म में समन्वित। हृदय में सूर्य्यरूपा बुद्धि धवरूप से प्रतिष्ठित है। इस स्थान से संलग्न चन्द्ररूप मनका उपक्रम स्थान ही शुक्लप्रतिपद् है। हृदयस्थ धवरूप विज्ञानात्मा की रश्मियाँ ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त व्याप्त रहती हैं। ब्रह्मरन्ध्रानुगत विज्ञानरश्मिमण्डल ही अर्द्ध-स्थान है। इस बुद्धिरश्मि-मण्डल की अन्तिम सीमारूप ब्रह्मरन्ध्रानुगत मनोमण्डलस्थान-स्थान का ही नाम

कृष्णाप्रतिपत् है। इसप्रकार अधिदैवतवत् अध्यात्म में भी बुद्धिरूप सूर्य्य ही उभयप्रतिपत् का स्वरूपसमर्पक बना हुआ है। बुद्धिस्वरूपसंग्राहक 'प्रतिपत्' शब्द हमें आदेश दे रहा है कि, मुझ से (प्रतिपत् शब्द से) बुद्धि की मनोऽनुगता उस स्थिति का ग्रहण करो, जिसका आध्यात्मिक दर्श पूर्णिमा-प्राप्ति से सम्बन्ध है। यही 'प्रतिपत्' शब्द का दूसरा वैज्ञानिक निर्वचन है जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण होरहा है।

प्रतिपत्स्वरूपदिग्दर्शनपरिलेख—



इति-'प्रतिपत्'-शब्दनिर्वचनम् (१२)

६६—'ज्ञप्ति'—शब्दनिर्वचनम्—(१३)

'ज्ञप-मिच्' (चु० प० से०) धातु से भावलक्षण क्तिन् प्रत्यय के द्वारा 'ज्ञप्ति' शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है—ज्ञान और ज्ञापन। जैसा कि—'ज्ञप ज्ञाने, ज्ञापने च मित्' इस कौमुदीप्रक्रिया से प्रमाणित है। ज्ञान का अर्थ है जानना, एवं ज्ञापन का अर्थ है 'बताना'। इन्द्रियद्वारा संस्काररूप से प्रज्ञानमन पर आए हुए विषयों को जानना भी बुद्धि का ही काम है, एवं स्वचित्-प्रज्ञानद्वारा प्रज्ञान मन के सहयोग से इन्द्रियों को विषयज्ञान कराना भी बुद्धि का ही काम है। इसप्रकार सांसारिक विषयबोध से यही बुद्धि जानने वाली भी बन रही है एवं ऐन्द्रियक ज्ञानापेक्षया यही बुद्धि बताने वाली भी बन रही है। संस्कारोपचिता तथा इन्द्रियानुगता, अतएव ज्ञान-ज्ञापनोभयात्मिका ऐसी बुद्धि ही 'ज्ञप्ति' कहलाई है।

इति—'ज्ञप्ति'—शब्दनिर्वचनम् (१३)

६७—'चेतना'—शब्दनिर्वचनम्—(१४)

'चित्'—और 'चेतना' शब्द प्रायः सर्वसाधारण में पर्याय माने जा रहे हैं। कारण यही प्रतीत होता है कि, बुद्धितत्त्वबोधक शब्दों में चित्—और चेतना, दोनों शब्द पठित हैं। परन्तु वस्तुतः दोनों शब्द भिन्नभावों के ही वाचक हैं। बुद्धि अपनी अभिनिविष्टि के सम्बन्ध से एवं चित्स्वरूपा चिदात्मा की निवास-भूमि बनने से 'चित्' कहलाता है। यही बुद्धि चिदात्मा की चितिव्याप्ति से चेतना कहलाई है। 'चीयते अनया सा'—'चिनोति या सा'—इत्यादि निर्वचनात्मक 'चेतना' शब्द का अर्थ है—'चिति करने वाला तत्त्व'। चिति करने वाला कौन? उत्तर है—'अक्षर' जो गीता में 'परप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सर्वकलाविशिष्टपरमेश्वरलक्षण अव्यय परात्परब्रह्म का यत्किञ्चित् प्रदेश मायाबलोदय से सीमित हो गया। माया-वच्छिन्न वही निष्कल परात्पर 'अव्यय' कहलाया। इस मायोदय के साथ साथ ही केन्द्रबल का उदय हुआ। यही केन्द्रबल अक्षर कहलाया। इसी के विपरिणाम-आगति-गति व्यापार से उस मायी अव्ययपुरुष पर रस-बल की चिति हुई। रसचिति अन्तश्चिति कहलाई, वही रसबल के तारतम्य से आनन्द-विज्ञान-भेद से दो भागों में विभक्त हो गई। बलचिति बहिश्चिति कहलाई। यही बलरस के तारतम्य से प्राण-वाक् भेद से दो भागों में विभक्त हो गई। इसप्रकार पञ्चकलविशिष्ट मनोमूर्ति, अतएव निष्कल अव्ययपुरुष इस अक्षरप्रकृति के व्यापार से होने वाली अन्तः-बहिश्चितियों से पञ्चकल बनता हुआ चिदात्मा बन गया। चिदात्मा का चिदात्मत्व क्योंकि अक्षरव्यापार पर अवलम्बित है दूसरे शब्दों में अक्षर ही स्वव्यापार से मनोमूर्ति अव्यय पर आनन्दादि का चयन करता हुआ उसे 'चिदात्म' स्वरूप में परिणत करता है अतएव (इस चितिप्रवृत्ति के कारण ही) अक्षर को 'चेतना' नाम से व्यवहृत किया जाना अन्वर्थ बनता है। चित् स्वयं वह अव्ययपुरुष है जिस पर रसबल की चिति होती है। चेतना वह अक्षरतत्त्व है जो आनन्द-विज्ञान-द्वारा चिति करता है। चित् ज्ञानप्रधान तत्त्व है चेतना क्रियाप्रधान तत्त्व है। और इस दृष्टि से चित्—चेतना-शब्दों की भिन्नार्थवाचकता भली भाँति प्रमाणित हो जाती है।

चितिप्रवर्तक, अतएव 'चेतना' नाम से व्यवहृत अक्षर की प्रतिष्ठाभूमि 'सूर्य' माना गया है। अतएव आधिभौतिक बुद्धिस्थानीय सूर्य का अक्षर ही 'चेतना' कहा जा सकता है। बुद्धि इसी अक्षरपक्ष

सूर्य्य का अंश है। अतएव इसे भी निःसन्दिग्धरूप से इस चितिप्रवृत्त्यपेक्षा से 'चेतना' कहना अन्वर्थ बन रहा है। अधिदैवत में यदि सौर अक्षरद्वारा विद्यात्मा का स्वरूप विकसित होता है, तो अध्यात्म में बुद्धियुक्त अक्षरद्वारा चित्यात्मा का स्वरूप निष्पन्न होता है। यह चितिभाव बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। अव्ययप्रधाना आत्मचिति बीजचिति है। अक्षरप्रधाना प्राणचिति देवचिति है। क्षरप्रधाना वाक्चिति भूतचिति है। भूतचिति स्थूलशरीर की, देवचिति सूक्ष्मशरीर की, एवं बीजचिति कारणशरीर की मूलप्रतिष्ठा बनती है। इन तीनों चितियों की समष्टि ही शरीरत्रयी है। इस चितिप्रसम्बन्ध से ही शरीरत्रयी की समष्टिरूप शरीर को 'काय' कहा गया है। इन तीनों चितियों की प्रवृत्ति मध्यस्थ अक्षरात्मा से ही हुई है। अतएव अक्षर को ही 'चेतना' कहना सार्थक बनता है। ज्ञानजनित संस्कार 'भावना' कहलाए हैं, कर्म्मजनित संस्कार 'वासना' कहलाए हैं। प्रज्ञानमनोऽनुगत-भावानुगत भावनासंस्कारयुक्त 'विद्याचिति' है। प्रज्ञानमनोऽनुगत-प्राणानुगत-वासनासंस्कारयुक्त 'कर्म्मचिति' है। इन दोनों प्रज्ञान-चितियों की प्रवृत्ति भी अक्षरात्मिका बुद्धि के सहयोग पर ही निर्भर है। इस दृष्टि से भी अक्षरात्मिका बुद्धि को 'चेतना' शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। तात्पर्य्य-अपने प्रातिस्विक अक्षरधर्म्म की अपेक्षा से यही बुद्धितत्त्व अपने चितिप्रवर्त्तक धर्म्मभाव से 'चेतना' कहलाया है।

इति—'चेतना'—शब्दनिर्वचनम् (१४)

६८—'विज्ञान'—शब्दनिर्वचनम्—(१५)

अवस्थाकृत भेदनिबन्धन—पूर्व प्रतिपादित बुद्धि, मनीषा, धिषणा, आदि शब्द जिस सीमा पर्य्यन्त समानार्थक हैं उस सीमा पर्य्यन्त इन्हें परस्पर अभिन्नार्थक भी माना जा सकता है। परन्तु एकरूपतया सर्वत्र सभी स्थलों में सभी शब्दों का प्रयोग कर देना, 'कोश में पठित हैं' इस कारणमात्र से इनमें पर्य्यायसम्बन्ध मान बैठना सर्वथा तत्त्वदृष्टि-विरुद्ध है। अपने उक्त-वक्ष्य-रूपों से विभिन्न उपाधियों के सम्बन्ध से बुद्धि-मनीषा-मेधा-आदि चौदह विवर्त्तभावों में विभक्त यह सौरप्रकाशात्मक बुद्धितत्त्व ही विज्ञानकाण्ड में 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रश्नोपात्त बुद्धि के इस 'विज्ञान' शब्द का भी तात्त्विक समन्वय कर लेना चाहिए। सर्वोत्तरोपादानसमष्टि सर्वोत्तरीय नाम ही स्वयं अपना तात्त्विक निर्वचनार्थ हमारे सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। यही तो संस्कृतभाषा का इतर समस्तभाषापेक्षया सर्वोत्कृष्टत्व, पूर्णत्व, विलक्षणत्व, तथा विशालत्व है। 'विज्ञान' शब्द स्वयं ही अपने तात्त्विक अर्थ का स्पष्टीकरण कर रहा है।

'विज्ञान' शब्द में 'वि-ज्ञान' दो विभाग हैं। विरुद्ध, विशेष, विविध, तीनों अर्थों का 'वि' उपसर्ग से सम्बन्ध है। अतः 'विरुद्धं ज्ञानं विज्ञानम्'— 'विशेषं ज्ञानं विज्ञानम्'— 'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' —विज्ञान शब्द के तीनों निर्वचनार्थ हो सकते हैं। ज्ञान और कर्म्म, दोनों तत्त्वों के तीन तीन विवर्त्त माने गए हैं। वास्तविक ज्ञान (जैसे को वैसा समझना) ज्ञानात्मक 'ज्ञान' है। जो जैसा है, उसे उससे विरुद्ध समझना विरुद्धज्ञानात्मक 'विज्ञान' है। अज्ञानावृत-मोह-लक्षण ज्ञान 'अज्ञान' है। इसप्रकार 'ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान' भेद से ज्ञान के तीन विवर्त्त हो रहे हैं। वास्तविक कर्म्म (जैसा करना चाहिए, वैसा करना) कर्म्मात्मक 'कर्म्म' है। विपरीत कर्म्म (जैसा करना चाहिए, उससे विरुद्ध करना) विरुद्ध कर्म्मात्मक 'विकर्म्म'

है। एवं अकर्म्मानुगत–आलस्य–प्रमादरूप कर्म्म 'अकर्म्म' है। इसप्रकार 'कर्म्म–विकर्म्म–अकर्म्म' भेद से कर्म्म के भी तीन ही विवर्त्त हो रहे हैं। ज्ञान कर्म्म का अनुयायी है, विज्ञान विकर्म्म का एवं अज्ञान अकर्म्म का अनुगामी है। इस ज्ञान–कर्म्म त्रयी में पठित विज्ञान, और विकर्म्म शब्दों का 'वि' उपसर्ग 'विरुद्ध' भाव का समर्थक है न कि विविधज्ञान, विशेषज्ञान का, एवं विविध कर्म्म, तथा विशेष कर्म्म का। कारण स्पष्ट है। ज्ञानविरुद्ध कर्म्म ही विरुद्ध होता है। एवं ज्ञानविरुद्ध ज्ञान ही विरुद्ध बनता है। इसप्रकार तत्तत्–प्रकरणों की दृष्टि से ही 'वि' उपसर्ग के विरुद्ध-विविध-विशेष-भावों का समन्वय करना चाहिए। बुद्धि को 'विज्ञानात्मा' कहा है। विज्ञानात्मा आत्मलक्षण प्राकृतिक ज्ञान है। यह विविध भावात्मक भी है, और विशेष भी है। अतः इसका 'विविधं ज्ञानं' भी निर्वचन हो सकता है एवं 'विशिष्टं ज्ञानं' भी निर्वचन हो सकता है। परन्तु इसका 'विरुद्धं ज्ञानं' निर्वचन नहीं हो सकता। क्योंकि प्राकृतिक ज्ञान कभी विरुद्ध ज्ञान नहीं बना करता। इस दशा में 'विज्ञानमय' पठित 'विज्ञान' शब्द के 'वि' उपसर्ग से प्रकृत में उक्त तीनों अर्थों में से 'विविध', और विशेष, ये दो ही अर्थ माने जाएंगे। और इसी दृष्टिकोण से विज्ञान शब्द का निर्वचन किया जायगा।

आत्मतत्त्व तत्त्वतः ज्ञानप्रधान है। ज्ञानप्रधान यह आत्मतत्त्व जिस महामायापरिच्छिन्न महाविश्व का आत्मा बना हुआ है, वह महाविश्व तत्त्वतः विज्ञानप्रधान है। ज्ञानात्मक आत्मा, और विज्ञानात्मक विश्व दोनों के समन्वित रूप का ही नाम 'विश्वेश्वर' है। इस दृष्टि से सर्वव्यापक आत्मब्रह्म के दो विवर्त्त हो जाते हैं। समस्त विश्वविज्ञानों को स्वगर्भ में लीन करते हुए अपने विशुद्ध ज्ञानरूप से प्रतिष्ठित रहना आत्मब्रह्म का ज्ञानप्रधान प्रथम विवर्त्त है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति के द्वारा इस ज्ञानप्रधान विवर्त्त का ही निरूपण हुआ है। समस्त ज्ञान को स्वगर्भ में लीन करते हुए अपने ज्ञानगर्भित विज्ञानरूप (विश्वरूप) से प्रतिष्ठित रहना आत्मब्रह्म का विज्ञानप्रधान दूसरा विवर्त्त है। 'नित्यं–विज्ञान–मानन्दं ब्रह्म' श्रुति के द्वारा इस विज्ञान-प्रधान विवर्त्त का ही निरूपण हुआ है। सत्य–ज्ञान–अनन्तलक्षण वही आत्मा आत्मा है। नित्य–विज्ञान–आनन्दमय वही आत्मा विश्व है। आत्मलक्षण आत्मब्रह्म ज्ञानात्मा है, विश्वलक्षण आत्मब्रह्म विज्ञानात्मा है। विज्ञानगर्भित ज्ञानात्मा आत्मा है ज्ञानगर्भित विज्ञानात्मा विश्व है। आत्मा ज्ञानप्रधान है एक है। विश्व विज्ञानप्रधान है विविधभावापन्न है। इसप्रकार एक ही आत्मतत्त्व अपने आत्मरूप से एकत्वलक्षण ज्ञानद्वारा 'आत्मा' बना हुआ है। एवं वही आत्मतत्त्व अपने विश्वरूप से अनेकत्वलक्षण विज्ञानद्वारा 'विश्व' बना हुआ है। आत्मविज्ञान 'ज्ञान' है विश्वज्ञान विज्ञान है। एकत्वनिबन्धन आत्मविज्ञान ज्ञान है अनेकत्वनिबन्धन विश्वज्ञान विज्ञान है। सृष्टिदशा में ज्ञान ही विज्ञान है। मुक्तिदशा में विज्ञान ही ज्ञान है। तात्पर्य–एक से अनेक की ओर जाना–विविध भावानुगमन करना 'विविधं ज्ञानं' लक्षण 'विज्ञान' है। यही सृष्टिदशा है। अनेक से एक की ओर जाना 'ज्ञान' है यही मुक्तिदशा है। एक अनेक कैसे बन गया ?, इस रहस्य को जानना भी विज्ञान है। एवं अनेक एकरूप में कैसे परिणत हो जाता है ? इस रहस्य को जानना भी ज्ञान है। एक आत्मब्रह्म अनेकरूपों में परिणत कैसे हो गया ?, यही भारतीय विज्ञानपरिभाषा है। नानाभावापन्न विश्व एक आत्मरूप में कैसे परिणत हो जाता है ?, यही भारतीय ज्ञानपरिभाषा है। आत्मविद्या ज्ञान है तत्प्रतिपादक शास्त्र ज्ञानशास्त्र है। विश्वविद्या विज्ञान है तत्प्रतिपादक शास्त्र विज्ञानशास्त्र है। कर्म्मात्मक विश्वविज्ञान प्रतिपादक वेदविद्यायुक्त ब्राह्मणारण्यकभाग विज्ञानशास्त्र है। ज्ञानात्मक आत्मज्ञानप्रतिपादक उपनिषद्भाग

ज्ञानशास्त्र है। परन्तु हमारा गीताशास्त्र आत्मदृष्ट्या सर्वमूलमूत अव्ययज्ञान का, तथा कर्मदृष्ट्या सर्वमूलमूत बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ 'ज्ञानविज्ञानशास्त्र' है, जैसा कि निम्न लिखित भगवद्वचन से प्रमाणित है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीता ७।२।

सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का मूलभूत आत्मतत्त्व एक, वही—'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' सिद्धान्तानुसार विश्वरूप में परिणत हुआ। उस एक आत्मतत्त्व से उत्पन्न विश्व नानागुण—धर्मों से आक्रान्त कैसे हो गया ?, विभिन्न गुण—धर्मों के द्वारा विविधज्ञानात्मक बनता हुआ विश्व विज्ञानरूप में कैसे परिणत हो गया ?, जबकि इसका मूल एक था ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका निराकरण अक्षरद्वारा किया गया है। आत्मा अव्ययप्रधान है, समभावात्मक है, एकरूप है, यह सब कुछ ठीक है। परन्तु महामायी अव्यय के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयमूर्त्ति योगमायात्मक अक्षर योगमायानुगत त्रैगुण्य धर्म्म के कारण नानाभावात्मक है। 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया' सिद्धान्तानुसार योगमायात्मिका, अतएव त्रिगुणभावमयी, इस अक्षरप्रकृति के द्वारा ही यह महामायी, अतएव गुणातीत, अतएव निर्द्वन्द्व, अतएव एकरस, अतएवच ज्ञान—प्रधान अव्ययात्मा विश्वकर्त्ता में प्रवृत्त होता है। इस गुणात्मक, अतएव नानाभावापन्न अक्षर के सम्बन्ध से ही एक भी आत्मा नानाभाव में परिणत होता हुआ विविध ज्ञानलक्षण विज्ञानस्वरूप में मुक्त हो जाता है। अक्षर की विकासभूमि सूर्य्य है। यही व्यक्तीभाव के द्वारा विविध ज्ञान का प्रवर्त्तक बनता है। सूर्य्यप्रादुर्भाव से पहिले पहिले 'इदं सर्वम्' एकप्रकार बनता हुआ अव्यक्तावस्था में ही परिणत रहता है। सूर्य्य ही अव्यक्त को नाना व्यक्तभावों में प्रकट करता है। क्योंकि अक्षरात्मक सूर्य्य ही विविध व्यक्तियों को अभिव्यक्त करता हुआ आत्मज्ञान को विविधज्ञानलक्षण विज्ञानस्वरूप प्रदान करता है अतएव इसे हम अवश्य ही आधिदैविक 'विज्ञानात्मा' कह सकते हैं। विश्वविज्ञानप्रतिष्ठाभूत सौर विज्ञान सहस्र रश्मियों के सहयोग से भूकेन्द्र में आकर अनन्त विज्ञानभावों में परिणत होता हुआ अपने विज्ञानधर्म्म को व्यक्त कर रहा है। चान्द्रसुषुम्णा—नाड़ी के द्वारा अध्यात्मसंस्था में प्रवर्ग्यप्रकार से भुक्त यह सौर विज्ञानात्मा ही आध्यात्मिक सूर्य्य है, जिसे हम 'बुद्धि' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। सुषुम्णानाड़ी के द्वारा आकाशस्थ नक्षत्र—ग्रहादि का भी रस अध्यात्म में भुक्त होता है, जो रस विभिन्न शक्तिगुण—धर्म्मोपेत है। अतएव तद्भुक्ता बुद्धि भी तत्तद्विशेषरसानुगत गुणधर्म्म भावों से युक्त हो जाती है। इस विशेष गुणधर्म्म समावेश से विविधज्ञानलक्षण विज्ञान विशेषज्ञानलक्षण भी बन जाता है। इसप्रकार विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि विविध ज्ञानमयी भी बन जाती है, एवं विशेषज्ञानमयी भी बन जाती है। प्रत्येक प्राणी की बुद्धि विभिन्न, प्रत्येक विभिन्न प्राणी की विभिन्न बुद्धि विविध ज्ञानमयी, और विशेषज्ञानमयी। यही तो विविध—विशेष ज्ञानलक्षण विज्ञान का विज्ञानत्व है। श्वानप्राण विज्ञान की विशेष योग्यता रखता है। इसी के बल पर यह पलायित चोर का अन्वेषण करने में समर्थ हो जाता है। ज्ञानयविष्ठ पुरुष में इस विशेषज्ञान का अभाव है। काक भविष्यविज्ञान का वेत्ता है। मूषक पार्थिव रस का परिज्ञाता है—'आखवो ह वै अस्या रसं विदुः' (शत०)। मयूर वर्षाविज्ञान में परिचित है। गृद्ध दृष्टिविज्ञान में निष्णात है। इसप्रकार प्रत्येक प्राणी का विज्ञानात्मा विविधज्ञान—योग्यता के साथ साथ विशेषज्ञान से युक्त हो

रहा है। इसी विशेष प्राकृतिक विज्ञान के तारतम्य से एक विद्वान भी कथानक पर कुण्ठित हो जाता है एवं मूर्ख भी सम्मान मोल लेता है। इसी विज्ञान की कृपा से दिन भर बोझ ढोने वाला एक श्रमजीवी जहाँ चार छः आना मात्र प्राप्त करता है वहाँ एक न्यायाधीश थोड़े परिश्रम से सहस्र वेतन का अधिकारी बन रहा है। मूल्य विज्ञान का है प्रज्ञान का नहीं। प्रज्ञान (मन) पार्थिव अन्न से उत्पन्न होता हुआ सबके घर की वस्तु है। 'अतिपरिचयादवज्ञा' इस लोकसूक्ति के अनुसार घर की वस्तु विशेष सम्मान नहीं पाती। विज्ञान सूर्य की वस्तु है सुदूर की वस्तु है। अतएव उसका विशेष समादर होता है। प्रज्ञानमन सब पार्थिव प्राणियों में समान है। अतएव तदनुगत आहार–निद्रा–भय–मैथुनादि धर्म प्राणिमात्र में समान हैं। इन में कोई विशेषता नहीं है। यदि हमने बच्चे से बच्चा पैदा किया सोते रहे, खाते रहे, विषयपरायण बन कर जीवन बिता दिया तो एक पशु में और हमारे में क्या अन्तर हुआ—'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'। विशेषता तो विशेषगुणशालिनी बुद्धि से ही सम्बन्ध रखती है। इसी विशेषबुद्धि के कारण प्रज्ञानद्वारा समधरातल पर भी प्रतिष्ठित रहने वाले मानवसमाज में गुरु–शिष्य–राजा–प्रजा–स्वामी–सेवक–आदि विशेष भेदव्यवहार प्रतिष्ठित रहते हैं। श्रमजीवी का यह दावा कि, हमें अतिपरिश्रम करने पर भी थोड़ा मिलता है और न्यायाधीश थोड़े श्रम से ही अत्यधिक प्राप्त कर लेता है, इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि उसमें उस विशेष बुद्धि का सम्बन्ध है जिसका मूल्य आँका जाता है। हाँ–प्रज्ञानसम्मत आहारादि धर्मों में वह, और न्यायाधीश समान हैं। अन्नचिन्ता में दोनों समानधर्मा हैं। यदि श्रमजीवी की अन्नचिन्ता भी उसके श्रम से दूर नहीं होती, तो यह विशेषबुद्धिशाली–राजन्यवर्गों का अन्याय है। अन्न–वस्त्र–मर्य्यादा से [illegible] समतुलित, यही भारतीय साम्यवाद है। व्यवहारव्यवस्था से सब अपने अपने नियत क्षेत्र में प्रतिष्ठित, यही स्वरूपसंरक्षणानुगता किन्तु विषमव्यवहारमूला विषमनिष्ठा भारतीय साम्यवादपद्धति है जिसमें विज्ञान प्रज्ञान दोनों का एकत्र समन्वय हो रहा है। अस्तु, प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, अवगन्तुगत बुद्धितत्त्व 'विविक्तज्ञान' तथा 'विशेषज्ञान' के सम्बन्ध से ही 'विज्ञान' नाम से व्यवहृत हुई है। बुद्धि को विज्ञान शब्द से उसी दशा में व्यवहृत किया जायगा जब कि बुद्धि के विविक्तज्ञानभाव, तथा विशेषज्ञानभाव की अपेक्षा होगी। बुद्धि-शब्दवत्, तथा प्रज्ञा–मति–मेधा–शब्दों की भाँति 'विज्ञान' शब्द का भी स्वरूपभाव से ही सम्बन्ध है। इसप्रकार निरुक्त १५ शब्दों में से बुद्धि, प्रज्ञा, मति, मेधा, उपलब्धि, चित्, संवित्, प्रतिपत्, विज्ञान, इन नौ शब्दों का तो स्वरूपभाव से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है एवं मनीषा, धिषणा, धी, शेमुषी, धृति, चेतना, इन ६ शब्दों का धर्मभाव से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। और यही बुद्धितत्त्वबोधक शब्दों का संक्षिप्त निर्वचन है, जिसे यथाक्रम लक्ष्य बनाए बिना 'बुद्धि' तत्त्व के वास्तविक स्वरूप पर दृष्टि नहीं जा सकती।

इति–'विज्ञान'–शब्दनिर्वचनम् (१५)

६९–'योग'–शब्दनिर्वचनोपक्रम—

'बुद्धि' शब्द के अनन्तर 'योग' शब्द की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। यह स्मरण रखने की बात है कि, जिस प्रकार विशुद्ध अव्ययात्मा, अव्ययगर्भित अक्षरात्मा, अक्षरगर्भित आत्मक्षरात्मा, आत्मक्षरगर्भित विकारक्षरात्मा, इन चार आत्मविवर्तों का क्रमशः स्वार्थी वर्णनिरूप (गीता), दोनों

उपनिषत् (ईशादि) आरण्यक ब्राह्मणभाग से (एवं उपनिषदनुगत शारीरकदर्शन, आरण्यकानुगत प्राधानिकदर्शन, ब्राह्मणानुगत, वैशेषिकदर्शन का क्रमिक सम्बन्ध माना जा सकता है), एवमेव अव्ययानुगत 'बुद्धियोग,' अक्षरानुगत 'ज्ञानयोग, आत्मक्षरानुगत 'भक्तियोग, एवं विकारक्षरानुगत 'कर्म्मयोग,' इन चारों योगों का भी इन्हीं चारों शास्त्रों से क्रमिक सम्बन्ध है। आत्मा ब्रह्म है, योग कर्म्म है। चारों ही शास्त्रों में यद्यपि ब्रह्मकर्म्मसमष्टि का ही निरूपण किया है। तथापि चारों में प्रतिपादित ब्रह्म-कर्म्मद्वन्द्व विभिन्न स्वरूप रख रहे हैं। अव्ययात्मा केवल गीता का प्रतिपाद्य विषय है, अतएव गीता में ही 'अव्यय' तत्त्व की स्पष्टरूप से उपलब्धि हुई है। 'बुद्धियोग' का विश्लेषण केवल गीता में हीं हुआ है। यही कारण है कि 'बुद्धियोग' शब्द भी केवल गीताशास्त्र में हीं प्रयुक्त हुआ है। योग, ज्ञानयोग कर्म्मयोग भक्तियोग, सांख्ययोग, राजयोग, हठयोग, लययोग अमनस्कयोग, ध्यानयोग, आदि आदि योगों के नाम तो सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। परन्तु सम्पूर्ण वेदशास्त्र का तथा दर्शनशास्त्र का अन्वेषण कर जाइए, गीता को छोड़ कर कहीं भी आपको 'बुद्धियोग' शब्द उपलब्ध नहीं होगा। यही कारण है कि, गीताशास्त्र को दर्शनशास्त्र की प्रतिस्पर्द्धता से युक्त कर इसकी व्याख्या करने वाले व्याख्याताओं की, एवं तदनुगामी गीताभक्तों की दृष्टि में गीता का वह वास्तविक सिद्धान्तरूप 'बुद्धियोग' नामक योग तिरोहित बना रहा। सभी व्याख्याताओं ने गीताप्रतिपादित योग का ब्रह्म-ज्ञान, भक्ति, कर्म्म, तीन योगों पर विश्रान्त मान लिया। और इसप्रकार विज्ञानदृष्टि के अभाव से तथा तथा दार्शनिकदृष्टि के अनुग्रह से विगत शताब्दियों से गीता का अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग सिद्धान्त सर्वथा गुप्त ही बना रह गया।

७०—गीताशास्त्रानुगत 'योग' शब्द का अन्वेषण—

गीता में तीन स्थलों पर तो अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग का 'बुद्धियोग' नाम से ही संग्रह हुआ है। तीन के अतिरिक्त इस बुद्धियोग के लिए केवल 'योग' शब्द व्यवहृत हुआ है। गीतोक्त विशुद्ध योग शब्द केवल बुद्धियोग का ही वाचक है। निम्न लिखित वाक्यों में पठित योग शब्द 'बुद्धियोग' का ही संग्राहक बना हुआ है—

१—दूरेण ह्यवरं कर्म्म-'बुद्धियोगात्'-धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ (गीता० २।४९)।

२—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि 'बुद्धियोगं' तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (गीता० १०।१०)।

३—चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः ।
'बुद्धियोग'-मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ (गीता १८।५७)।



१—एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धि', योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ (गीता० २।३९)।

२—योगस्थ कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं 'योग' उच्यते ॥ (गीता० २।४८) ।

३—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्मात् 'योगाय' युज्यस्व 'योगः' कर्म्मसु कौशलम् ॥ (गीता० २।५०) ।

४—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यसि निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा 'योग'मवाप्स्यसि ॥ (गीता० २।५३) ।

५—इमं विवस्वते 'योगं' प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (गीता ४।१) ।

६—एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता 'योगो' नष्टः परन्तप ! ॥ (गीता ४।२) ।

७—स एवायं मया तेऽद्य 'योगः' प्रोक्तः पुरातन ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ (गीता ४।३) ।

८—तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं 'योग'—मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥ (गीता ४।४२) ।

९—मय्यासक्तमनाः पार्थ ! 'योगं' युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ (गीता० ७।१) ।

१०—एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन 'योगेन' युज्यते नात्र संशयः ॥ (गीता० १०।७) ।

११—ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव 'योगेन' मां ध्यायन्त उपासते ॥ (गीता० १२।६) ।

१२—धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
'योगेना'—व्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥ (गीता० १८।३३) ।

१३—व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
'योगं' योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥ (गीता १८।७५) ।



१—संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
'योगयुक्तो' मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ (गीता० ५।६) ।

२—'योगयुक्तो' विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (गीता ५।७।) ।
३—नैते सृती पार्थ ! जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु 'योगयुक्तो' भवार्जुन ! ॥ (गीता ८।२७) ।
४—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते 'योगयुक्तात्मा' सर्वत्र समदर्शनः (गीता ६।२६।) ।
५—मय्यावेश्य मनो ये मां 'नित्ययुक्ता' उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे 'युक्ततमा' मताः ॥ (गीता १२।२।) ।
६—योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥ (गीता ४।४१।) ।
७—आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ (गीता ६।३।)
८—यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (गीता ६।४।) ।

—▭ ▭—

१—कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ (गीता ५।११।) ।
२—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
'युक्त' इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (गीता ६।८) ।
३—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स 'योगी' परमो मतः ॥ (गीता ६।३२।) ।
४—तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ (गीता ६।४६।) ।

—○●○—

१—कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (गीता २।५१।) ।
२—इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ! ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ! ॥ (गीता १५।२०।) ।

७१–सिद्ध बुद्धियोग, एवं साध्य बुद्धियोग का तारतम्य—

उक्त वचनप्रामाण्यानुसार हमें 'बुद्धियोग' शब्द के–'योग' शब्द का निर्वचन करते हुए 'बुद्धियोग' नामक गीता के 'समत्वयोग' को ही आधार बनाना पड़ेगा। 'योग' शब्द का सामान्य अर्थ है–'मेल' 'संगति'। अमुक का अमुक से योग है इसका अर्थ है–अमुक का अमुक से मेल है। मेल दो भावों की अपेक्षा रखता है। अतएव 'योग' शब्द की द्विनिष्ठता सिद्ध हो जाती है। द्विनिष्ठ यह योग सिद्ध, साध्य, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। दो वस्तुओं का मिल कर एकरूप बन जाना 'सिद्धयोग' है। एवं दो वस्तुओं का मेल कराने वाली द्विनिष्ठ क्रिया 'साध्ययोग' है। वस्तुतः सिद्धयोग ही योग है। साध्ययोग तो योग का साधनमात्र है। तथापि सिद्धयोगार्थ प्रवृत्त यह साध्य–योगानुगता क्रिया भी साध्यसाधनन्याय से 'योग' कहलाने लग गई है। सिद्धावस्थापन्न योगावस्था योग शब्द 'युज–समाधौ' (दि० आ० अ०) धातु से घञ् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न हुआ है। एवं साध्यावस्थापन्न योगक्रियावाचक योगशब्द 'युजिर्–योगे' (रु० उ० अ०) धातु से घञ् प्रत्यय के द्वारा सम्पन्न हुआ है। मेल योग है यही सिद्धयोग है यही गीता की 'समाधि' अवस्था है*। मेल कराने वाली क्रिया साध्ययोग है, योगप्रवर्तिका क्रिया है। सिद्धयोगानुगत योगी गीता के शब्दों में 'आरूढ–युक्त' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। एवं साध्ययोगानुगत योगी 'आरुरुक्षु–युञ्जान–' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। सिद्धयोग नित्य है, शाश्वत है अव्यवच्छिन्न है। साध्ययोग के द्वारा ही इस सिद्धयोग की प्राप्ति होती है। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' का बुद्धियोग यह सिद्धयोग है जो साध्यबुद्धियोग के अनुष्ठाता को अभ्यासक्रम के द्वारा कालान्तर में प्राप्त होता है। तभी तो उस के लिए 'ददामि' कहना अन्वर्थ बनता है। 'तत्स्वयं योग-संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (गी० ४।३८) वाक्य में पठित 'योगसंसिद्ध' वाला योग साध्ययोग है एवं 'कालेनात्मनि विन्दति' वाला योग सिद्धयोग है। 'तदा योगमवाप्स्यसि' (२।५३) वाला योग 'सिद्ध-योग' है। एवं 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय (२।४९) वाला योग साध्ययोग है। 'योगस्थ कुरु कर्माणि' (गी० २।४८) का 'योगस्थ' सिद्धयोग की ओर संकेत कर रहा है एवं–'युक्तत्व' शब्द साध्ययोग को लक्ष्य बना रहा है, जिस साध्ययोग का (क्रियात्मक योग का) 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गी० २।५०) इस उत्तरवाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

७२–सिद्धयोगानुगत कृतात्मा, एवं साध्ययोगानुगत विधेयात्मा—

सिद्धयोगावस्थापन्न आरूढ युक्त योगी 'कृतात्मा' कहलाता है एवं साध्ययोगावस्थापन्न 'आरुरुक्षु–युञ्जानयोगी'–'विधेयात्मा' कहलाता है + । रागद्वेषपरित्यागपूर्वक इंद्रियद्वारा नियतकर्मानुगत साध्य–

---

* श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
—गी० २।५३।

+ १–पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।
मुण्डकोप० ३।२।२।

२–रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
—गीता २।६४।

बुद्धियोगानुष्ठान में प्रवृत्त रहने वालों का विधेयात्मा शनैः शनैः अध्यात्माक कृतात्मा के प्रसादगुण की ओर क्रमेण होता हुआ विकसित होता जाता है। विकास की परमावस्था में पहुँच कर जब यह विधेयात्मा कृतात्मरूप में परिणत होजाता है तो उस स्थिति (सिद्धयोगस्थिति) में पहुँचने पर अध्यात्मा के पूर्ण प्रसाद (विकास) से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होजाती है। चिदाभासिका बुद्धि सर्वथा स्थिर होजाती है। यही सिद्धयोगाभिनिर्वाणलक्षण माना गया है *।

७३—योगपथच्युत विमूढात्मा, और उनका प्राकृत विषययोग

तीसरा विभाग 'विमूढात्मा' का है। पहुँचे हुए कृतात्मा हैं, पहुँचने की इच्छा से तदनुगत मार्ग पर आरूढ विधेयात्मा हैं। दोनों बुद्धियोगसम्पत् से युक्त हैं। एक युक्त हैं, दूसरे युज्यमान हैं। बुद्धि के अध्यात्मानुगत होने मात्र से विधेयात्माओं में पहुँचने की इच्छा जाग्रत हो पड़ती है। परन्तु जिनकी बुद्धि मर्त्यप्रधान विषयों में आसक्त रहती हुई अध्यात्मयोग से वियुक्त रहने के कारण अयुक्त है, अतएव जिनकी बुद्धि विषयों में आत्मसमर्पण करती हुई अपना स्वरूप ही खो बैठी है, उन आत्मानुग्रहवञ्चित-विषयभोगपरायण व्यक्तियों में पहुँचने की इच्छा भी नहीं होती। ऐसे ही व्यक्ति सर्वज्ञानविमूढ कहलाए हैं, जिन्हें भगवान् की ओर से 'विद्धि नष्टानचेतसः' यही पुरस्कार मिला है। ऐसे ही महापुरुष ! विमूढात्मा कहलाए हैं—। बुद्धियोगवञ्चित इन विमूढात्माओं को कभी शान्ति-सुख उपलब्ध नहीं होसकते। क्योंकि—

> नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना।
> न चाभावयतः शान्तिः, रशान्तस्य कुतः सुखम् ॥
> —गी० २।६६।

अयुक्ता बुद्धि भावनाशून्या है। किसकी भावना ?, कर्मात्मक अध्यात्मपुरुष की भावना। अक्ष-कर्म्म-भावनारूप अध्यात्म ही तो प्रसन्नतारूपा स्थिरशान्ति का प्रवर्त्तक है। जब उसके योगरूप बुद्धियोग का ही अभाव है तो शान्ति कैसे, और क्यों मिले ?। अस्तु इन सब विषयों का स्वयं मूलभाष्य में विस्तार से विशेषरूप

---

*—प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥
—गीता २।६५

+ सम्मवतः इसी विभागत्रयी के आधार पर शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय (वल्लभसम्प्रदाय) ने जीव वर्ग के पुष्ट, मर्य्यादित प्रवाही भेद से तीन विभाग माने हैं। लोक-विषयों में रत-आयस्थ-विकल-अहवा क्रम-मूलप्रवाह में प्रवाहित-भगवदनुग्रहवञ्चित यथाजात अज्ञानी जीव प्रवाही हैं ये ही विमूढात्मा हैं। शास्त्रीय-मर्य्यादामार्ग पर आरूढ गुणज जीव मर्य्यादित हैं। ये ही विधेयात्मा हैं। भगवदनुग्रहलक्षण 'पोष' से युक्त शुद्ध-जीव 'पुष्ट' हैं ये ही कृतात्मा हैं। यद्यपि भर्गो के सम्बन्ध से भगवान् बने हुए अध्यात्मानुग्रह से अनुगृहीत विधापरायण युक्त योगी ही पुष्ट हैं। अध्यात्मप्राप्ति के शास्त्रीय मार्ग में आरूढ-साधनपरायण युञ्जान योगी हीं मर्य्यादित हैं। एवं अनुग्रहवञ्चित-सर्वज्ञानविमूढ संसारप्रवाहनिमग्न जीव ही प्रवाही हैं। क्या वर्तमानयुग में शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय में ये तीनों विभाग इसी रूप से संपृहीत हैं ?, स एव प्रष्टव्यः।

होने वाला है । प्रकृत में तो हमें उस 'योग' शब्द की ही मीमांसा करना है जो योग विनिष्ठ बना हुआ है । किसका किसके साथ योग ?, यह प्रश्न उपस्थित है, जिसका उत्तर है—अव्ययात्मा के साथ विद्याबुद्धि का योग । क्या प्रस्तुत दशा में बुद्धि का अव्यय के साथ योग नहीं है ?, है और अवश्य है । बिना योग के तो प्रज्ञान एवं इन्द्रियादि का व्यापार ही नहीं हो सकता । फिर 'योग' की क्या अपूर्वता रही ? । उत्तर स्पष्ट है । साधारण दशा में अव्यय का बुद्धि के साथ योग है, बुद्धि का अव्यय के साथ योग नहीं है । और एवंविध योग का पर्यवसान आसक्तिमूलक विषयों पर ही विश्रान्त है । अतएव इस यथाजात मानवानुरूप प्राकृत योग को 'बुद्धियोग' न कह कर 'विषययोग' ही कहा जायगा ।

७४—विषययोगानुगता आत्मपर्वपरम्परा—

आत्मपर्वपरम्परा को लक्ष्य बना कर विषय का समन्वय कीजिए । सब से प्रथम स्थान अव्ययात्मा का है । इसके आगे स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा प्रतिष्ठित है । तदनन्तर पारमेष्ठ्य महानात्मा प्रतिष्ठित है । अव्यक्तात्म-गर्भित महानात्मा में अव्ययात्मा गर्भीभूत है । अतएव अव्यय-अव्यक्त-महान्, तीनों की समष्टि को एक विभाग माना जायगा । एवं अव्यक्तगर्भित महानात्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित अव्यक्तात्मपर्यन्त अव्ययात्मा की ही प्रातिस्विक सत्ता मानी जायगी । इसके आगे विज्ञानात्मा (बुद्धि) प्रतिष्ठित है । अनन्तर प्रज्ञानात्मा (मन) प्रतिष्ठित है । प्रज्ञान और इन्द्रियवर्ग के मध्य में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण देही भूतात्मा (कर्मात्मा) प्रतिष्ठित है । अनन्तर इन्द्रियवर्ग, अनन्तर शरीर, और अन्त में बाह्य भौतिक विषयप्रपञ्च । अव्यय का योग हुआ बुद्धि से बुद्धि का मन से मन का भूतात्मा से भूतात्मा का इन्द्रियों से एवं इन्द्रियों का शरीरद्वारा बाह्य विषयों से । इस पारम्परिक योग का तात्पर्य यही हुआ कि इन्द्रियों की विषयाभ्यासक्ति इन्द्रियों में भूतात्मा से भूतात्मा में मन से मन में बुद्धि से एवं बुद्धि में अव्यय से आती है । जिसका फलितार्थ यह निकला कि, बुद्धि-मन-भूतात्मा-इन्द्रिय-शरीर-द्वारा अव्यय का योग बाह्य विषयों पर विश्रान्त है । मूल से प्रवाहित ज्ञान स्रोत विषयों पर आके रुकता है । अतएव इस योग को 'विषययोग' कहा जायगा । 'अन्ते मतिः सा गतिः' न्याय से इस अव्ययप्रयोगात्मक बुद्धि-मन-भूतात्मा-इन्द्रिय-शरीर-विषयानुबन्धी बुद्धियोग-मनोयोग-भूतात्मयोग-इन्द्रिययोग-शरीरयोग-विषययोग—इन सब स्वाभाविक योगों की यहाँ अन्तिम योगस्थानीय विषय-योग ही बन रहा है ।

७५—बुद्धियोगस्वरूपाभिगृहण—

विषययोग का परिणाम क्या हुआ ? । स्वाभाविक अव्यययोग के स्वाभाविक विकास का तिरोभाव । कैसे ?, सुनिए ! बुद्धिपर्यन्त तो अव्ययविकास स्वस्वरूप से सुरक्षित रहा । परन्तु प्रज्ञान पर पहुँच कर इसका स्वरूप आवृत हो गया । मन पर विषयसंस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं । संस्कार विषयलीन हैं । इन संस्कारों से युक्त प्रज्ञान मन से मन चञ्चल बना हुआ है । अतएव तत्प्रतिबिम्बिता बुद्धि निर्बल बनती हुई अपने आपको मन के प्रति समर्पित किए हुए है । दूसरे शब्दों में बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर मनोरूप में परिणत हो रही है । तन्मयावरणावृता स्वात्मकर्त्तविमुखा मनोऽनुगता अतएव मनोऽभिमुखा इन्द्रियद्वारेण विषयासक्ता यही बुद्धि अविद्याबुद्धि कहलाई है जिसमें रागद्वेषात्मिका आसक्ति, अज्ञानलक्षणा अविद्या, अवर्म्मलक्षण अभिनिवेश, एवं अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता ये चार पाप्मा उदित रहते हैं । इन चारों अविद्यापर्वों के उदय से (जो

आगन्तुक हैं) बुद्धि के स्वाभाविक अनासक्तिलक्षण वैराग्य, विद्यालक्षण ज्ञान, निष्कामकर्मलक्षण धर्म्म, विकासलक्षण ऐश्वर्य्य चारों विद्याओं का अभिभव हो रहा है। अव्यय स्वस्वरूप से प्रकाशयुक्त है। किन्तु अविद्यावरण से वह भी उसी प्रकार मलीमस बना रहता है, जैसेकि स्वस्वरूप से श्वेतवर्णा भी सौरप्रकाश कृष्णवर्णरञ्जित आदर्श (काच) के भीतर प्रविष्ट होकर कृष्णवर्णात्मक बन जाता है। इसप्रकार संस्कारों के अनुग्रह से अव्ययात्मा, और विद्याबुद्धि, दोनों के मध्य में अविद्यावरण उपस्थित हो रहा है। इस मध्यस्थ विजातीय आवरण से अव्ययात्मयोग स्वाभाविक विद्यायोग के स्थान में अविद्यासंयोगात्मक बन रहा है। यही अव्ययात्मा के स्वाभाविक विकास के तिरोभाव का मूल कारण है। यहाँ आकर यह कहा जा सकता है कि, अव्यय का न तो बुद्धि के साथ ही योग है, न बुद्धि का अव्यय के साथ ही योग है, अपितु अविद्या के साथ ही बुद्धि का योग है। अविद्यात्मक इस व्यवधान, एवं बुद्धियोग से न तो अव्यय का विद्याभाग ही विकसित रहता, एवं न बुद्धि का विद्याभाग ही विकसित रहता। अविद्या विपर्ययस्वरूपा है। अतएव तद्रूप अव्यययोग तथा बुद्धियोग दोनों वस्तुगत्या विषमयोग ही बन रहे हैं। यही विषमयोग अशान्ति-दुःख-क्लेशादि की प्रवृत्ति का मूलकारण है। तन्निराकरणार्थ विद्यायोग अपेक्षित है। तत्प्राप्त्यर्थ साम्यलक्षण बुद्धियोग अपेक्षित है। तत्प्राप्त्यर्थ रागद्वेषादि के परित्यागपूर्वक कर्म्मानुष्ठान अपेक्षित है। तत्प्राप्त्यर्थ ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य-वेदानुपालन-अहिंसादि विद्याविभूतियों का अनुगमन अपेक्षित है। तभी उक्तलक्षण कर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्ति होगी। तभी बुद्धि का साम्यलक्षण योग होगा, तभी अव्ययात्मा का विद्याभाग विकसित होगा, तभी 'तदा योगमवाप्स्यसि' के अनुसार विद्याकर्म्मात्मक बुद्धियोगसम्पत्-प्राप्त हो सकेगी, एवं तभी अशान्ति-दुःख-क्लेशादि की आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव बन सकेगी जिसके लिए गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इत्थंभूत विद्यात्मक 'योग' से युक्ता बुद्धि ही 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुई है। यही 'बुद्धि' और 'योग' शब्दों से समन्वित 'बुद्धियोग' का संक्षिप्त स्वरूपनिर्वचन है जिसके चार विवर्त हो रहे हैं। एक ही बुद्धियोग के चार विवर्त कैसे हो गए?, इस प्रश्न का उत्तर है—'विद्यातत्त्व'। योगस्वरूपसम्पादक विद्यातत्त्व क्योंकि चतुर्धा विभक्त है, अतएव तदनुगत, किंवा तद्रूप बुद्धियोग भी चार ही विवर्तभावों में परिणत हो रहा है। अगले प्रकरण में इन्हीं चारों विद्याविवर्तों का, तथा तदनुगत चारों बुद्धियोगों का विश्लेषण अपेक्षित है।

इति—बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मक प्रथमप्रकरणे
'बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शनम्' नामक
चतुर्थस्तम्भ
(१)—४



श्रीः

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

''बुद्धि'-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)-४

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक–पूर्वखण्ड–का

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथमप्रकरण–उपरत

१



श्रीः

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

''बुद्धि'-तत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)-४

श्री

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक–पूर्वखण्ड–का

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन'

नामक

द्वितीयप्रकरण

२



श्री

अथ-बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके

द्वितीयप्रकरणे

'धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः

प्रथमस्तम्भ

(२)-१

श्री

धर्म्मबुद्धियोगानुगतम्—आर्षविद्यास्वरूपनिरूपणम्

प्रथमस्तम्भ

———❀———

१—भारतीय शास्त्र के चतुर्दश (१४) विवर्त—

'बुद्धियोग' शब्द का मूलाधार क्या है ?, 'बुद्धियोग' शब्द का क्या अर्थ है ?, 'बुद्धियोग' ही गीता का तात्त्विक सिद्धान्त क्यों माना गया ?, इत्यादि प्रश्नों का पूर्वप्रकरण में समाधान करने की चेष्टा की गई। अब प्रस्तुत प्रकरण में बुद्धियोगानुगता विद्याचतुष्टयी के एवं तदनुगता बुद्धियोगचतुष्टयी के स्वरूपनिर्देश की चेष्टा हो रही है। इस विद्याचतुष्टयी की, तथा योगचतुष्टयी की मूलप्रतिष्ठा क्योंकि 'विद्या' तत्त्व है, अतः सर्वप्रथम 'विद्या' शब्द के तात्त्विक स्वरूपपरिचय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। सर्वप्रथम लौकिक-व्यवहारदृष्टि से 'विद्या'-शब्दार्थ का समन्वय कीजिए। लोक में यह प्रसिद्ध है कि, 'अमुक व्यक्ति चौदह विद्यानिधान है'। शक्तिग्राहकशिरोमणि * इस लोकानुगत वृद्धव्यवहार से विदित होता है कि, शब्दराशिलक्षण विभक्त चौदह शास्त्रों का ही नाम ही चौदह विद्या है। भारतीय चौदह विद्याओं के ये विभाग क्रमशः इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं—१-शिक्षा २-कल्प ३-व्याकरण, ४-निरुक्त, ५-ज्योतिष, ६-छन्द, ७-ऋग्वेद ८-यजुर्वेद ९-सामवेद १०-अथर्ववेद ११-मीमांसा, १२-न्याय, १३-धर्म्मशास्त्र १४-पुराण। शास्त्रों में चौदह के स्थान में कहीं कहीं १८ विद्याविभाग भी स्वीकृत हुए हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थशास्त्र, इन चार के समन्वय से १४ के स्थान में १८ विभाग हो जाते हैं। निम्न लिखित वचनानुसार दोनों ही विभाग शास्त्रसम्मत हैं—

> अङ्गानि-वेदाश्चत्वारो-मीमांसा-न्यायविस्तरः ।
>
> धर्म्मशास्त्रं-पुराणञ्च-,विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥१॥
>
> आयुर्वेदो-धनुर्वेदो-गान्धर्वश्चेति वै त्रयः ।
>
> अर्थशास्त्र-चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥२॥
>
> —विष्णुपुराणे

२—वर्णधर्म्मानुगता शास्त्र-शस्त्र-वाणिज्य-शिल्प-विद्याचतुष्टयी—

'विज्ञानाति यया-ज्ञानं सम्पादयति यया-सा ज्ञानसाधनभूता शब्दब्रह्मात्मिका वाग्देवी विद्या' इस निर्वचन के अनुसार शब्दाभिव्यक्त ज्ञान उत्पन्न करने वाला वाङ्मय शब्दराशिलक्षण शास्त्र ही 'विद्या' है।

---

* 'शक्तिग्रहं-व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च' ।
तत्र-शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य (वृद्धव्यवहारस्य) ।

श्री

धर्म्मबुद्धियोगानुगतम्–आर्षविद्यास्वरूपनि[illegible]

प्रथमस्तम्भ

१–भारतीय शास्त्र के चतुर्दश (१४) विवर्त्त—

'बुद्धियोग' शब्द का मूलाधार क्या है ?, 'बुद्धियोग' शब्द का [illegible] का तात्त्विक सिद्धान्त क्यों माना गया है, इत्यादि प्रश्नों का पूर्वप्रकरण में [illegible] अब प्रस्तुत प्रकरण में बुद्धियोगानुगता विद्याचतुष्टयी का, एवं तदनुगत [illegible] चेष्टा हो रही है। इस विद्याचतुष्टयी की, तथा योगचतुष्टयी की [illegible] सर्वप्रथम 'विद्या' शब्द के तात्त्विक स्वरूपपरिचय की ओर ही पाठकों का [illegible] सर्वप्रथम लौकिक–व्यवहारदृष्टि से 'विद्या'–शब्दार्थ का समन्वय [illegible] 'अमुक व्यक्ति चौदह विद्यानिधान हैं'। शक्तिग्राहकशिरोमणि [illegible] होता है कि, शब्दशक्तिरूप नियत चौदह शास्त्रों का ही नाम [illegible] ये विभाग क्रमशः इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं—१–शिक्षा, २–कल्प [illegible] ज्योतिष, ६–छन्द, ७–ऋग्वेद, ८–यजुर्वेद ९–सामवेद, १० [illegible] १३–धर्म्मशास्त्र १४–पुराण। शास्त्रों में चौदह के स्थान में [illegible] हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद अर्थशास्त्र इन चार के [illegible] जाते हैं। निम्न लिखित वचनानुसार दोनों ही विभाग शास्त्रसम्मत हैं—

> अङ्गानि–वेदाश्चत्वारो–मीमांसा–न्यायविस्तरः ।
> धर्म्मशास्त्रं–पुराणञ्च–, विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥१॥
> आयुर्वेदो–धनुर्वेदो–गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
> अर्थशास्त्रं–चतुर्थं च विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥२॥
>
> —विष्णुपुराण

२–सर्वधर्म्मानुगता शास्त्र–शस्त्र–वाणिज्य–शिल्प–[illegible]

'विद्यानाति यथा–ज्ञानं सम्पादयति यया–सा [illegible] इस निर्वचन के अनुसार शब्दात्मक ज्ञान उत्पन्न करने वाला [illegible]

---

* 'शक्तिग्रहं–व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्या[illegible]
तत्र–शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य (वृद्धव्यवहार[illegible]

इस शास्त्रविद्या का जहाँ प्रधानतः ब्राह्मणवर्ण से सम्बन्ध है वहाँ शस्त्रविद्या का प्रधानतः क्षत्रियवर्ण से सम्बन्ध माना गया है। तीसरे वैश्यवर्ण के लिए वाणिज्यविद्या, तथा चौथे शूद्रवर्ण के लिए शिल्पविद्या प्रधानरूप से अनुग्राहिका मानी गई है। इस दृष्टिकोण के अनुसार शास्त्र, शस्त्र, वाणिज्य, शिल्प भेद से लौकिक-वैदिक-शास्त्र (दृष्टादृष्टफलसाधनभूता विद्या) वर्णक्रमानुसार चार भागों में विभक्त हो गये हैं। इन चारों शास्त्रों, किंवा विद्याओं को क्रमशः ब्राह्मणविद्या, क्षत्रियविद्या, वैश्यविद्या, शूद्रविद्या, इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। चारों ही विद्याएँ दो दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं। निगमविद्या, तथा आगमविद्या, भेद से दो विभाग ब्राह्मणविद्या के हैं। अस्त्रविद्या, तथा शस्त्रविद्या दो विभाग क्षत्रियविद्या के हैं। कृषिविद्या वाणिज्यविद्या, दो विभाग वैश्यविद्या के हैं। शिल्पविद्या, कलाविद्या, ये दो विभाग शूद्रविद्या के हैं। वर्णानुगता इन आठों विद्याओं में यावत् लौकिक पारलौकिक विद्याओं का अन्तर्भाव हो रहा है। यही भारतीय विद्या का वर्णव्यवस्थानुगत एक प्रकार का दृष्टिकोण है। हम जहाँ तक अनुमान करते हैं, अधिकांश भारतीय जनता अपने देश की इन विद्याओं के रहस्य से तो क्या नाममात्र से भी परिचित न होगी। भारतप्रजा होने के नाते उसका यह तो कर्त्तव्य हो ही जाता है कि, कम से कम वह अपने देश की विद्याओं का नाम तो जान ले। इसी दृष्टि से उन आठों विभागों के सामान्य नाम यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१	१-१-निगमविद्या २-२-आगमविद्या	शास्त्रविद्या—ब्राह्मणविद्या—ज्ञानविद्या—ब्राह्मणानाम्।
२	३-१-अस्त्रविद्या ४-२-शस्त्रविद्या	शस्त्रविद्या—क्षत्रियविद्या—क्रियाविद्या—क्षत्रियाणाम्।
३	५-१-कृषिविद्या ६-२-वाणिज्यविद्या	व्यवहारविद्या-वैश्यविद्या—अर्थविद्या—वैश्यानाम्।
४	७-१-शिल्पविद्या ८-२-कलाविद्या	मूलविद्या—शूद्रविद्या—गुणविद्या—शूद्राणाम्।

१–ज्ञानशक्तिप्रधानं—'ब्रह्म' वीर्य्यम्—तदनुगता शास्त्रविद्या—तस्याः फलं—'विद्वत्ता'

२–क्रियाशक्तिप्रधानं–'क्षत्र' वीर्य्यम्—तदनुगता शस्त्रविद्या—तस्याः फलं—'पौरुषम्'

३–अर्थशक्तिप्रधानं–'विट्' वीर्य्यम्—तदनुगता व्यवहारविद्या-तस्याः फलं—'व्यवहारकौशलम्'

४–गुणशक्तिप्रधानं–'शौद्रम्' वीर्य्यम्-तदनुगता भूतविद्या—तस्याः फलं—'चातुरी



१–कारणशरीरगर्भितं-आत्मक्षेत्रम्——ब्रह्मप्रधानक्षेत्रम्—ज्ञानक्षेत्रम्—तदनुगता शास्त्रविद्या

२–सूक्ष्मशरीरगर्भितं–कारणशरीरक्षेत्रम्–कारणशरीर प्र०क्षेत्रम्–क्रियाक्षेत्रम्–तदनुगता शस्त्रविद्या

३–स्थूलशरीरगर्भितं–सूक्ष्मशरीरक्षेत्रम्—सूक्ष्मस्य प्र क्षेत्रम्–अर्थक्षेत्रम्—तदनुगता व्यवहारविद्या

४ सर्वगर्भितं——स्थूलशरीरम्——स्थूलस्य प्र क्षेत्रम्–क्रियाक्षेत्रम्—तदनुगता भूतविद्या



१–मस्तकस्कन्धे—ज्ञानशक्तेर्विकासः—(ब्रह्माग्न्यनुगतः)—तच्छक्तिप्रधानाः ब्राह्मणाः—तदनुगता ब्राह्मणविद्या

२ उरोस्कन्धे——क्रियाशक्तेर्विकासः—(इन्द्राग्न्यनुगतः)—तच्छक्तिप्रधानाः क्षत्रियाः—तदनुगता क्षत्रियविद्या

३–उदरस्कन्धे——अर्थशक्तेर्विकासः—(विश्वेदेवाग्न्यनुगतः)तच्छक्तिप्रधानाः वैश्याः—तदनुगता वैश्यविद्या

४–शरीरस्कन्धे—गुणमात्रस्य विकासः-(अग्निसोमाग्न्यनुगतः)तद्गुणप्रधानाः शूद्राः—तदनुगता शूद्रविद्या



१–निगमागमस्वाध्यायरताः पुरुषाः—ब्राह्मणाः (ज्ञानोपजीविनः)। —चतुर्थाः

२–शस्त्रास्त्ररताः पुरुषाः—क्षत्रियाः (शस्त्रोपजीविनः)। —तृतीयाः

३–कृषि-वाणिज्यरताः पुरुषाः—वैश्याः (वाणिज्योपजीविनः)।—द्वितीयाः

४–शिल्पकलाप्रवीणाः पुरुषाः—शूद्राः (कलोपजीविनः)। —प्रथमाः



२–चारों विद्याओं की प्रतिष्ठा का तारतम्य—

उक्त चारों विद्याओं की स्थानप्रतिष्ठा का समन्वय कीजिए। शिल्प–कलानुगता शूद्रविद्या की मूल-प्रतिष्ठा कृषि–वाणिज्यानुगता वैश्यविद्या ही मानी गई है। कारण स्पष्ट है। जिस राष्ट्र का अर्थतत्त्व (पैसा) सुरक्षित, तथा स्वायत्त बना रहता है, उसी राष्ट्र में शिल्प–कला पनप सकते हैं पनपते हैं। अर्थतत्त्व की मूलप्रतिष्ठा है कृषि, एवं कृषि से उत्पन्न द्रव्यों का विनिमयात्मक वाणिज्य। 'धातु' का प्राधान्य इस देश में

कभी नहीं रहा। दूसरे शब्दों में यहाँ धातुभण्डार (रुपया-पैसा) कभी राष्ट्र की मौलिक सम्पत्ति का स्थान ग्रहण न कर सके, अपितु यहाँ 'राष्ट्र' की सम्पत्ति मुख्य रूप से 'अन्न' ही माना गया। देश के जिन भागों में देश के सौभाग्य से धनमान दुरिच्छा का प्रवेश नहीं हो पाया है वहाँ आज भी अन्न ही मुख्य सम्पत्ति मानी जा रही है एवं अन्न के पारस्परिक विनिमय से ग्रामवासियों के लौकिक व्यवहार प्रचालित हो रहे हैं। हमारा ऐसा विश्वास है कि, देश की योग-क्षेम चिन्ता के इस महासंकट का बहुत कुछ उत्तरदायित्व धातु-प्राधान्यवाद पर अवलम्बित है। धातुसंग्रह की कुत्सित मनोवृत्ति से ही देश की अन्नसम्पत्ति उन शिल्प-कलोपजीवी मानवों तक नहीं पहुँच पाती, जिनमें उस धातुव्याधि का सर्वथा अभाव है जिनके कि द्वारा धातुसम्पत्ति के संग्रह का मार्ग प्रशस्त बन जाया करता है। उनके कोश में धातुसंग्रह नहीं, जिनके कोश में संग्रह है-उनके अनुग्रह से अन्नसम्पत्ति बन गई बहुमूल्य, फलस्वरूप भूखों मरते हुए देश के श्रमजीवी शिल्पी, और कलाविदों का क्रमिक ह्रास आरम्भ हो गया। धातुसंग्रह के आधार पर जब ही अन्नसम्पत्ति को धातु के साथ मिला कर कभी देश के शिल्प, और कला विकसित नहीं किए जा सकते। क्या देश में खेती नहीं होती?, होती है। क्या खेती से अन्नसम्पत्ति उपलब्ध नहीं होती?, होती है। फिर अन्नचिन्ता क्यों?। उत्तर-वर्तमान युग की यह वाणिज्यव्यवस्था, जिसने दुर्भाग्य से धातुसंग्रहकामना को आधार बना लिया है। पहिले अन्नसम्पत्ति के लिए अन्नसम्पत्ति का विनिमय होता था। जो वस्तु जहाँ नहीं होती थी, विनिमय से वह वहाँ पहुँच जाती थी। और इसप्रकार योगक्षेम का निर्वाह होता रहता था। आगे चलकर अन्नसम्पत्ति के विनिमय के साथ साथ धातुविनिमय ने भी स्थान ग्रहण कर लिया। वस्तुओं का विनिमय हुआ, परन्तु धातु को लक्ष्य बना कर। मुगलशासनकाल ऐसे ही विनिमय का उदाहरण माना जा सकता है। धातु सर्वथा प्रधान नहीं बन पाया अवश्य इस काल में भी अन्नसम्पत्ति का अभाव चिन्ताजनक नहीं बन सका। खाने-पहिनने को मिलता था। फलस्वरूप देश की शिल्प-कलाएँ, यथाकथञ्चित् उस युग में बनी रह गए। और ब्रिटिश-शासनकाल में क्या हुआ?, वह आश्चर्यकर् तथ्य है। अन्नसम्पत्ति के विनिमय का स्थान धातुविनिमय ने एक बार ही छीन लिया। जिन नियत स्थानों में चोर-चोरतम चोरबाजारी के द्वारा आज वाणिज्य होता है वहाँ चले जाइए। हजारों-लाखों की बेची खरीदी सुनाई पड़ेगी। परन्तु जिन वस्तुओं के आधार पर यह सब कुछ सुनने सुनाने को मिलेगा, उन वस्तुओं के दर्शन भी आप न कर सकेंगे। हाँ वाणिज्यस्थान पर धातु के विनिमय का अवश्य साक्षात्कार सम्भव। भारतवर्ष के वाणिज्य-व्यवसायप्रधान जिन नगरसेठों के आपणों (दूकानों) में किसी युग में यहाँ प्रचुर अन्नसम्पत्ति परिपूर्ण रहती हुई देश की समृद्धि का परिचय दे रही थी, आज उन आपणों में मिलेंगे कागजी घोड़े कागजों का संग्रह (बहीखाते), और धातुखण्डों को सुरक्षित रखने वाली तिजोरियाँ। अन्नसम्पत्ति भक्ष्य सामग्री सड़ जायगी, नष्ट हो जायगी, परन्तु तब तक जनता के सामने न आ सकेगी, जब तक कि इसका धातुप्रिय वैश्यवर्ग उससे पर्याप्त धातुलाभ न कर लेगा। इसप्रकार धातु वाणिज्य के लिए नहीं रहा, अपितु वाणिज्य धातु का सेवक बन गया। कृषि-वाणिज्य, दोनों ने धातु की दासता स्वीकार कर ली। अब जिनके कोश में धातु है वे कृषि से लाभ भले ही उठालें परन्तु जिनके कोश में शिल्प-कला-विद्या-आदि मौलिक सम्पत्तियाँ हैं वे भूखों ही मरेंगी। परिणाम यह हो रहा है कि शिल्पी शिल्पव्यवसाय छोड़ रहे हैं, कलाविद् कला को कलाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं और विद्यार्थीक विद्या को नमस्कार कर बैठे हैं। एवं सर्वात्मनैकरूप से वे भी अनुगत हो रहे हैं उस धातुसंग्रह कर्म की ओर, जो आज एकमात्र योगक्षेम का साधक बना दिया गया है।

४–धातु का व्यामोहन, और अन्नसम्पत्ति का क्षय—

कृषि–वाणिज्य–कर्म में धातु क्यों प्रधान बना ?, इसका भी एक मनोरञ्जक इतिहास है। और वह इतिहास है–'हमारी आवश्यकतावृद्धि'। एवं इसका मुख्य कारण है–'आवश्यकतावृद्धि को प्रधानता देने वाले धातुलोलुप प्रतीच्य-परराष्ट्रों का सुयश' !। वे आए अतिथि बन कर, अतिथियों का हमने सत्कार किया। सत्कार से प्रभावित होकर वे बन गए हमारे कुटुम्बी। हम देखते गए उनकी ओर से प्रत्युपकार में जो उपहार हमें मिलते गए, हम उनकी सभ्यता के चाकचिक्य में पड़ कर उनका आदर ग्रहण करते गए, परिणामस्वरूप हमारी आवश्यकताएँ बढ़नें लगीं। आवश्यकतावृद्धि का अधिकाधिक उत्तेजना देने वाले उपहार भारत की शान्त मस्तिष्कों की शान्ति का दर्पदलन करने लगे। और इसप्रकार हम अपना सहज जीवन छोड़ कर सभ्य बन गए, जिस सभ्यता की रक्षा के लिए उन अतिथियों के द्वारा समर्पित उपहारों को अपनाना आज हमारे लिए अनिवार्य्य बन गया है। वे उपहार अन्नविनिमय से कैसे प्राप्त हो सकते हैं। उनके लिए तो धातु अपेक्षित है। अन्नसम्पत्ति हमारे शरीरभवन को सुरक्षित रख सकती है। परन्तु इससे मस्यप्राप्य प्रासाद योग्य साज उपकरण तो अन्नद्वारा प्राप्त नहीं किए जा सकते। अन्न ही क्या सर्वस्व भी देकर हमें अपनी सभ्यता की रक्षा तो करनी है। आज जाय धन जाय, आदर्श–संस्कृति–गाम्भीर्य–सब कुछ चला जाय, यह जाय किसी प्रकार हमारी वर्त्तमान सभ्यता पूरी होती रहें–हमारी ये प्रवृद्ध आवश्यकताएँ, और मिलता रहे इसके लिए हमें प्रचुर धन किसी भी सत्–असत् उपाय से ही सही। यही वह मनोरञ्जक, किन्तु सर्वनाशक इतिहास है जिसके अनुग्रह ने भारतराष्ट्र के कृषि और वाणिज्य पर धातुलवों का प्रभाव स्थापित किया है। कृषि–वाणिज्य के स्वरूप को नष्ट–भ्रष्ट करने वाले इस प्रभाव का ही यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि, आज राष्ट्र का शिल्प, एवं कला सर्वथा उच्छिन्नप्राय है। प्रश्न है इनके पुनरुज्जीवन का। यह तभी सम्भव है, जब कि राष्ट्र की कृषि–वाणिज्यानुगता वैश्यविद्या अपने वास्तविक कृषि, और वस्तुविनिमयरूपात्मक वाणिज्यरूप से पुनः विकसित हो। इसी स्थिति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, शूद्रविद्या की प्रतिष्ठा वैश्यविद्या ही है। दूसरे शब्दों में शिल्प–कला का प्रचार–प्रसार–रक्षा–विकासादि कृषि–वाणिज्य प्रचार प्रसार–रक्षा विकासादि पर ही अवलम्बित है। कृषि–वाणिज्य ही राष्ट्र का कोषबल है, यही भारतीय परिभाषा में राष्ट्र का कोष (सम्पत्ति) है। वह आज परवश है कुछ धातुप्रेमियों के अनुग्रह से स्वरूपतः से विकृत है। जब तक धातुमंभर है तब तक शिल्प–कलाभ्युदय असम्भव है–'भूखे भजन न होय गुसांई' प्रसिद्ध है।

५–सर्वस्वघातिका अर्थसञ्चयप्रवृत्ति, और राष्ट्र का पतन—

भारतीय कृषिवाणिज्यानुगता वैश्यविद्या की दुर्दशा क्यों हुई ?, क्यों यह पराधीन बनी, क्यों इस पर धातु–आवरण ने प्रभाव जमा लिया ?, इत्यादि प्रश्नों का एक समाधान पूर्व में किया जा चुका है। कृषि-वाणिज्य–लक्षण कर्म से योग–क्षेम की रक्षा होती है। प्रत्येक शरीरधारी अपनी जीवनयात्रा के लिए इस कर्म का अनिवार्य्यरूप से अनुगमन करता है। प्राकृतिक रहस्यज्ञान से अपरिचित स्वाधपारत्य मानवकर्ग भवीत, और वर्त्तमान की अपेक्षा भविष्य के आशापाश में विशेषरूप से आबद्ध रहता है। इस अप्रत्याशित भविष्यच्चिन्ता से ही इसमें स्वभावतः संग्रहवृत्ति का उदय होता है। 'अधिक से अधिक अर्थसम्पत्ति संचित रखना' इसका स्वाभाविक लक्ष्य बन जाता है। परिणाम इस वृत्ति का यह होता है कि अर्थसम्पत्ति का विनिमय रुक जाता है, और फलस्वरूप जो व्यय नहीं कर सकते, उनका योगक्षेम संदिग्ध बन जाता है। व्यय कौन

करता है। जिसके पास शक्ति है। आध्यात्मिक शक्ति नहीं। क्योंकि आध्यात्मिक शक्ति तो स्वभाव की विरोधिनी है। आधिभौतिक शक्ति ही इस स्वभाव का साधन बनती है। इसी शक्ति से शक्तिमान् बने हुए राष्ट्र उन अन्य अशक्त राष्ट्रों की अर्थसम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण कर लेते हैं, जिन अशक्त राष्ट्रों के पास इन आततायी राष्ट्रों के निरोध के साधन नहीं रहते। दण्डात्मक यही साधन भारतीय परिभाषा में 'क्षत्रबल' कहलाता है। क्षत्रबल के साधन हैं–'शस्त्रास्त्र'। शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित, पौरुषयुक्त, दण्डधारी, क्षत्रियसमाज जिस राष्ट्र के कृषि–वाणिज्य की रक्षा में तत्पर रहता है, उस राष्ट्र पर आततायियों का वश नहीं चला करता। यदि राष्ट्र का क्षत्रिय समाज लुप्त है तो कृषिवाणिज्य अरक्षित है। ऐसा अरक्षित क्षेत्र ही परायत्त बना करता है। और यही वह दूसरा मुख्य कारण है, जिसके अनुग्रह से हमारा अर्थबल हमसे छिन गया है। मानना पड़ेगा कि, कृषिवाणिज्यात्मिका वैश्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा शस्त्रास्त्रात्मिका क्षत्रियविद्या ही है। यदि आक्रान्ता यह समझता है कि अमुक राष्ट्र उसके शस्त्रास्त्रसुसज्जित क्षत्रिय समाज से सुरक्षित है, तो वह भूल कर भी उसकी सम्पत्ति पर दृष्टि डालने का साहस नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त स्वयं उस राष्ट्र का कृषि-वाणिज्यव्यवस्थापक वैश्यसमाज भी दण्डभयनिग्रह से स्वपथ का अनुगामी नहीं बन सकता। पराक्रम होता नहीं, व्यतिक्रम बनता नहीं। फलस्वरूप इस क्षत्रशासन में प्रतिष्ठित कृषि–वाणिज्य और शिल्पकला उत्तरोत्तर विकसित होते रहते हैं। बिना क्षत्रबल के एक व्यक्तिव्यापार तो क्या, सहस्र सहस्र व्यक्तिव्यापारियों के मुख से प्रतिक्षण सहस्र सहस्र कर विनिर्मित भी वाणिज्यव्यापार देश की अर्थसम्पत्ति को आततायियों के आक्रमण से नहीं बचा सकता। निष्कर्षतः क्षत्रियविद्या ही वैश्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा मानी जायगी।

६–शस्त्रवर्ग के द्वारा प्रजा का निर्मम शोषण—

क्या देश में क्षत्रियों का उत्पादन अवरुद्ध हो गया ?, शस्त्रविद्या के साथ साथ क्या शस्त्रविद्या भी लुप्त हो गई ? हाँ और ना दोनों ही उत्तर समीचीन प्रतीत होते हैं। क्षत्रिय हैं शस्त्र भी हैं, शस्त्र न भी रहे हों, तो उनके निर्म्माण की विद्या, और उपादानभूत साधन अभी तक उपलब्ध हैं। फिर देश का कृषि-वाणिज्य क्यों परायत्त बन गया ?। इसलिए कि, रक्षक वर्ग ने अर्थसम्पत्ति को प्रधान मान लिया। 'कुतस्तत्र भयोत्कर्षो रक्षको यत्र भक्षकः' परिचर्या करने वाले क्षत्रियवर्ग के शस्त्र का उपयोग जहाँ रक्षाकर्म्म में होना चाहिए था वहाँ इसका भी लक्ष्य कृषिवाणिज्य ही बन गया। भूस्वामी कृषकों का स्थान इन्होंने छीन लिया। रक्षावृत्ति का निरोधक यह वर्ग स्वयं ही व्यवसायानुगामी बन गया। अर्थ और शासन दोनों का समान क्षेत्र बन गया। फलस्वरूप शान्तिस्थापन के स्थान में यह वर्ग वैश्यवर्गापेक्षया भी कहीं अधिक शोषक बन गया। रक्षावृत्ति के आत्यन्तिक अभाव से तथा शोषणकर्म्म की पूर्ण प्रभुता से इस वर्ग ने [illegible] भी निर्लोभ बना डाला। शस्त्रास्त्रविद्या का स्थान अर्थविद्या ने ग्रहण कर लिया। देश का शासक रक्षक न रह कर वैश्य बन गया व्यापार का अधिष्ठाता बन गया। कारण 'आवश्यकतापूर्ति से सम्बन्ध रखने वाली यही विद्यालक्षिता'। 'हमें किसका भय है हमारे हाथ में शस्त्र है' इस भावना बल ने इनकी रक्षामि-का दृष्टि को स्वयंभूतिकरण में परिणत कर डाला। क्यों क्षात्रधर्म्म स्वरक्षात्मकधर्म से च्युत हो गया ?, प्रश्न का एकमात्र वास्तविक उत्तर है–'ब्राह्मणविद्या की विलुप्ति'। विद्याविलुप्ति [illegible] कर ब्राह्मणवर्ग की मृत्यु को ही कारण मानना अधिक समीचीन होगा। क्या ब्राह्मणजाति का मूलोच्छेद हो गया ?, हाँ इसलिए कहना पड़ेगा कि, निगमागम, दोनों ही विद्याओं का इस जाति ने सर्वथा परित्याग कर दिया जो निगमागम-

विद्या इस जाति के जीवन की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। सूर्य्यविद्या निगमविद्या है, पृथिवीविद्या आगमविद्या है। निगमविद्या यज्ञप्रधाना है आगमविद्या मन्त्र यन्त्र–तन्त्र–प्रधाना है। जब जब भी देश का क्षत्रबल उच्छृङ्खल हुआ, तब तब ही ब्राह्मणों ने इस उभय विद्याबल से इस वर्ग का नियन्त्रण किया। क्षत्रबल बहुत बड़ा बल है, यह ठीक है। परन्तु निगमागमात्मक विद्यातपोबल इससे भी उत्कृष्ट बल है। 'ब्रह्मतेजो बलं बलम्' लक्षण ब्रह्मबल के सामने क्षत्रबल को भी नतमस्तक होना पड़ता है। कारण यही है कि, क्षत्र बल जहाँ आधिभौतिक बाह्य पक्षप्रधान है वहाँ ब्रह्मबल आध्यात्मिक आभ्यन्तर पक्षप्रधान है। आध्यात्मिक बल ही आधिभौतिक बल की प्रतिष्ठा है। दूसरे शब्दों में ज्ञानबल ब्राह्मणात्मक है कर्म्मबल क्षत्रियबल है। जब कर्म्मबल ज्ञानबल का सहयोग खो देता है, तो ज्ञानवञ्चित कर्म्म अज्ञानमय बनता हुआ स्वरूपरक्षा के स्थान में स्वरूपनाश का ही कारण बन जाता है। 'मैत्रावरुणमहविज्ञान' का विश्लेषण करते हुए स्वयं वेदभगवान् ने इसी तत्त्व का स्पष्टीकरण किया है। वहाँ बतलाया गया है कि—

७–मित्र और वरुण की प्रतिद्वन्द्विता से राष्ट्रवैभव का अभिभव—

"आरम्भ में मित्र ब्रह्म और वरुण क्षत्र, दोनों पृथक् पृथक् थे। मित्र ब्रह्म अभिमन्ता (मार्गप्रदर्शक उपदेशक) था वरुण कर्म्म कर्त्ता था। दोनों बल विभिन्न पथानुगामी बन रहे थे। क्षत्र से पृथक् रहकर ब्रह्म ने अपना विकास तो अवश्य रोक लिया परन्तु इसकी स्वरूपहानि न हुई। उधर ब्रह्मसहयोग से वञ्चित क्षत्र का जीवित रहना ही कठिन हो गया। कारण स्पष्ट है। बिना कर्म्म के ज्ञान का विकासमात्र रुक सकता है, परन्तु ज्ञान की स्वरूपहानि नहीं होती। उधर यदि कर्म्म ज्ञान का सहयोग छोड़ देता है, तो कर्म्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। वरुणक्षत्र ने मित्रब्रह्म की उपेक्षा कर जो भी कर्म्म किया वही समृद्धि के स्थान में दुर्नाश का कारण सिद्ध हुआ। फलतः क्षत्र को ब्रह्म का आमन्त्रण करना पड़ा। दोनों के मेल से ही 'मैत्रावरुणग्रह' का स्वरूप सम्पन्न हुआ। यह आवश्यक है कि अपने प्रत्येक कर्म्म में क्षत्रिय ब्राह्मण को अभिमन्ता (परामर्शदाता–पथप्रदर्शक) बनावे तभी ज्ञानसहकृत इसका कर्म्म समृद्ध बन सकेगा। ब्रह्मप्रसूत (ज्ञानसहकृत) कर्म्म ही समृद्धि का कारण बना करता है। देखिए—

> "तद्–अनवक्लृप्तमेव–यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। यद्यु राजानं लभेत–समृद्धं तत्।
> एतद् त्वेवानवक्लृप्तं–यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते–अप्रसूतं
> ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समृध्यते। तस्मात्–क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेन
> उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। सं हैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्म ऋध्यते"।
>
> —शत० ब्रा० ४।१।४।६। ।

८–तात्कालिक उपचारों की व्यर्थता—

राजनीतिविद् वर्त्तमानयुग के राजनैतिक वैपद्विकता के कारणों का विश्लेषण करते हुए कहा करते हैं कि, भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है, अतएव यहाँ की अधिक जनता ग्रामों में निवास करती है। ग्रामदोष

से ही इस प्रजा का वास्तविक शोषण हुआ। अतएव देश को समृद्ध बनाने के लिए ग्रामजनता का उद्धार आवश्यक है। इसी सद्भावना से प्रेरित होकर आज 'ग्रामोद्धार'-'ग्रामसंगठन'-'ग्राम-शिक्षाप्रचार' आदि अनेक संस्थाएँ इतस्ततः पनप रही हैं। और इसप्रकार इन रचनात्मक-कार्य्यों का श्रेय अथवा कर राजनैतिक क्षेत्र से प्रतीत हो रहे हैं। उधर ग्रामीण जनता समझ रही है—हमारे बच्चों के लिए स्कूल खुल रहे हैं, दुर्भिक्ष के समय हमें अन्न-वस्त्र मिलता है, जलप्लावनावसरों पर हमारी रक्षा की जाती है, रोगावस्था में औषधियाँ बाँटी जाती हैं। इसप्रकार रक्षक रक्षित, दोनों ही वर्ग सन्तुष्ट हैं। कार्य्य सात्विक है, आवश्यक, और उपादेय भी। परन्तु ।

६—धर्म्मानुगति, और राष्ट्रसंरक्षण—

परन्तु क्या यह उपचार वास्तविक उपचार मान लिया जायगा?, क्या इन क्षणिक उपायों से हम राष्ट्र का वास्तविक हितसाधन कर लेंगे?। विश्वास कीजिए। जब तक सर्वसाधारण मानववर्ग के मनोभाव प्राकृतिक नित्यनियमसंचालक धर्म्मभावना को आधार नहीं बना लेंगे तब तक हमारी मानवप्रकृति सुस्थिर न बन सकेगी। जब तक मानवप्रकृति सुस्थिर न बन जायगी, तब तक प्रकृतिमण्डल शान्त न बन सकेगा। अशान्तप्रकृति आए दिन सूखा, जलप्लावन, दुर्भिक्ष, महामारी, अनावृष्टि-अतिवृष्टि, आदिरूप से आक्रमण करती ही रहेगी। हम अपने क्षणिक प्रयास करते करते थक जावेंगे परन्तु इस प्राकृतिक कोप को तबतक शान्त न कर सकेंगे जब तक कि मानवसमाज स्वधर्म्म पर आरूढ़ न होगा। शासकवर्ग मदान्ध बन कर अपनी विलासलीला में मस्त रहे, धनिक समाज अर्थसञ्चय में निमग्न रहे, ब्राह्मणवर्ग निद्रानिमग्न बना रहे, शूद्रवर्ग उच्छृङ्खल बना रहे, और कभी कभी आँसू पोंछने के लिए दो चार पैसे ग्रामीण जनता पर फेंक दिए जांय, इस निदान और चिकित्सा से कभी मानवसमाज का वास्तविक हितसाधन नहीं होसकता। आन्दोलनों के लिए ही होने वाले इन आन्दोलनों के गर्भ में हमारा वैयक्तिक स्वार्थ गुप्तरूप से पनपता रहे और हम इससे अपने आप की प्रतारणा करते रहें क्या यही 'मानवधर्म्म' है?। स्थावर विश्व और जङ्गम जगत् (प्राणी) दोनों की प्रतिष्ठालक्षणा मानवधर्म्म से कभी प्रकृति का कोप सम्भव नहीं। प्रकृति शान्त बनी रहे, देश का ब्राह्मणवर्ग ज्ञाननिष्ठ बना रहे, क्षत्रवर्ग शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर आततायियों के आक्रमण रोकता रहे, वैश्यवर्ग कृषि-वाणिज्य का विस्तार करता रहे, शूद्रवर्ग शिल्प-कलाकुशल बना रहे, इसप्रकार चारों वर्ण स्व-स्व मानवधर्म्म में आरूढ़ रहें प्रकृति अवश्य शान्त रहेगी, निरुपद्रव रहेगी। पर्जन्य का समय समय पर अनुग्रह होता रहेगा इस भाँति राष्ट्र अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करता हुआ शान्तिपूर्वक योग-क्षेमनिर्वाह में समर्थ बना रहेगा। यही तो हमारे राष्ट्र की वे मौलिक कामनाएँ हैं जिनमें मानवसमाज का अभ्युदय निहित है। यही हमारी राष्ट्रकल्पना है यही हमारे राष्ट्र की तात्त्विक परिभाषा है जिसकी मूलप्रतिष्ठा धर्म्म माना गया है एवं जिसका केवल एक ही मन्त्रभाग स्पष्टीकरण कर रहा है। सुनिए!

१०–भारतीय राष्ट्रकल्पना, और तत्स्वरूपसंरक्षक आर्षमन्त्र—

आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् !
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् !
दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः !
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् !
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु !
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् !
योगक्षेमो नः कल्पताम् !

यजुर्संहिता २२ अ० ।२२ मं०।

भारतीय राष्ट्रकल्पना का वर्त्तमानराष्ट्र कल्पना के साथ समतुलन कीजिए। भारतीय मानवसमाज की सबसे पहिली कामना है–'हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी उत्पन्न हों'। सबसे पहिले ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणवर्ग की माँग क्यों की गई ?, इसका उत्तर स्पष्ट है। आप के राष्ट्र में अन्न वस्त्र की कमी नहीं पशुसम्पत्ति की कमी नहीं, वृष्टि भी पर्य्याप्त होती है ओषधिवनस्पतियाँ भी समय पर उत्पन्न होती रहती हैं। दुधारी गायें भारवाही बैल तेज दौड़ने वाले घोड़े विजय की इच्छा रखने वाले योद्धा, सभी तो साधन–सामग्रियाँ आपके राष्ट्र में विद्यमान हैं। फिर आपका योग-क्षेम क्यों नहीं होता ?। प्रसिद्ध है कि, 'मूर्खों की सम्पत्ति का उपभोग बुद्धिमान् ही किया करते हैं'। ज्ञान में ही भोगसामर्थ्य है। जिस राष्ट्र की तदनुरूपा ज्ञानसम्पत्ति अर्ज्जित है, उस राष्ट्र की सम्पत्ति का उपभोग स्वयं वह नहीं कर सकता। अतएव सब साधनों में ज्ञानसाधन का ही प्राधान्य प्रमाणित होरहा है। ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ब्राह्मणसमाज के द्वारा यदि निगमागमात्मक ज्ञान सुरक्षित है, तो राष्ट्र की सम्पत्ति का कोई भी आततायी अपहरण नहीं कर सकता। इसी लिए मानवधर्म्मप्रचारक राष्ट्रवादी महर्षियों ने सबसे पहिले ज्ञानकामना को ही प्रधान स्थान देना आवश्यक माना।

ज्ञानसम्पत्ति का विकास शान्त–वातावरण की अपेक्षा रखता है। यह तभी सम्भव है, जबकि राष्ट्र का एक नियत मानवसमाज राष्ट्र की शान्ति के लिए सदा सन्नद्ध रहे। यही राष्ट्र की दूसरी माँग हुई, जिसके बिना पहिली माँग सुरक्षित नहीं रक्खी जासकती थी। यही दूसरा समाज शासकवर्ग कहलाया। कैसा शासकवर्ग ?, शरीर से बलवान् (शूर) धनुर्धारी (इषव्य: शस्त्रास्त्रसुसज्जित) नीरोग (अतिव्याधि) और वाहनसम्पत्ति से युक्त (महारथः)। ज्ञानप्रदाता ब्राह्मण रक्षक शासक, के अनन्तर कृषि–वाणिज्य के मूलभूत गोधन की माँग हुई भारवाही बैल माँगे गए, सेनाव्यूहार्थ तेज दौड़ने वाले घोड़े माँगे गए, और सभाप्रिय युवा यजमानपुत्र की (वैश्य की) माँग हुई। ब्राह्मण –क्षत्रिय,–वैश्य तीनों स्वधर्म्मनिष्ठ बन उत्पन्न हों, जब देश का नारीसमाज सुसंस्कृत हो ! 'पुरंधिर्योषा' से श्रुति यह माँगना भी न भूली। सब कुछ तो माँग लिया। अब शेष रहा प्रकृति का अनुग्रह। 'समय समय पर वर्षा होती रहे, ओषधियाँ पकती रहें और इसप्रकार राष्ट्र का योगक्षेम निर्विघ्न सुसम्पन्न होता रहे' इन शब्दों में सबके अन्त में 'योगक्षेम' की कामना की गई।

११–वर्तमान राष्ट्र की कामनाएँ, एवं उनकी आत्मानरमर्थापना–

आज हमारा राष्ट्र क्या चाहता है ?। जनक मंत्रणा में एकस्वर से 'धन धन' कामना का ही उद्घोष निकल रहा है। धन-धान्य चाहिए, उद्योग-शिल्प विकास होना चाहिए। यही तो आज आत्मनिर्भरता, नवीन मुख्य कामना बनी हुई है जो मानव की दृष्टि में किसी समय अन्त में अन्त की कामना थी। जिन्हें स्वप्न में मान-सम्मान नहीं मिला, उनका उद्घोष तो फिर भी क्षम्य माना जा सकता है। परन्तु देखते और सुनते हैं– जिन्हें यथेष्ट वेतन मिलता है, जिनके पास अनुपयोगी सुरक्षित हैं, वे समाज भी 'जरूरी–पेट को काम नहीं चलता, क्या कैसे चले' इस अर्थ के आकर्षण में ही संलग्न रहते हैं। हमारे वर्तमान राष्ट्र-नायकों का स्वतन्त्रता में बड़ा प्रेम है। प्रेम स्वाभाविक है, प्रत्येक मानव का आवश्यक धर्म भी। परन्तु स्वतन्त्रता का प्रथम लक्ष्य और स्वप्न जागता है–'धन-धान्य की चिन्ता दूर हो'। मानों मानवजीवन केवल भोजन के लिए ही निर्मित हो। यही तो दक्षिणी राष्ट्र की प्रधान देन है, जिसका मुख्य उद्देश्य है–"खाओ पीओ और मौज उड़ाने के लिए जीते रहो, दूसरे भले ही भूखे मरें, तुम जीते रहो"। ऋषि कहते हैं–"जीते रहो, और दूसरों को भी जीवित रहने दो। भोजन जीवन के लिए है, जीवन भोजन के लिए नहीं। अपने स्वधर्म पर अनन्यनिष्ठा से डटे रहो, परधर्मनिषेध का भार ईश्वर-विधाता पर छोड़ दो"। 'स्व' का अर्थ है 'आत्मा' तन्त्र का अर्थ है–'आत्मव्याप्तिलक्षण'। आत्मा का अपने स्थान में रहना ही उसका 'स्वातन्त्र्य' है, यही वास्तविक स्वतन्त्रता है। आत्मा ज्ञान–क्रिया–अर्थ–त्रिमूर्ति है। सृष्टिक्रमानुसार पहिले मनोमय ज्ञान है, अनन्तर प्राणमयी क्रिया है, अन्त में वाङ्मय अर्थ है। अतएव ज्ञान अपने पहिले, अनन्तर कर्म, और अन्त में अर्थसंग्रह। इस क्रम के विपरीत चलने वाले के अपचार में आत्मा को प्रतिष्ठित कर देना 'स्व–तन्त्र' का स्वरूप बिगाड़ देना है। आत्मस्वरूपानुगत स्वप्न ही पर–तन्त्रानुगामी बनता हुआ 'परतन्त्र' है। पाश्चात्य भोगवादात्मक अर्थतन्त्र को आधार बना कर हमारे अपने आप वाली वर्तमान स्वतन्त्र भारतीय दृष्टिकोण से विशुद्ध परतन्त्रता का ही स्वागत कर रही है।

१२–राष्ट्रीय शिक्षा का विकृत स्वरूप–

जिस राष्ट्र के अन्न-वस्त्र समुन्नत हो जाते हैं, उस राष्ट्र का पतन निश्चित है। क्योंकि अन्न और वस्त्र ही राष्ट्रबुद्धि के मुख्य आलम्बन हैं। आश्चर्य है कि हमारे वर्तमान आन्दोलनों में अन्न-वस्त्र शब्दों का भी समावेश नहीं। मजदूरों का उद्धार करो, देश का व्यापार बढ़ाओ, आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करो, संगठन करो, अनिवार्य शिक्षा लागू करो, रचनात्मक कार्य करो, रेडियो स्थापित करो, सड़कें बनाओ, पाठ बनाओ, कुछ कमीज सीप कर बाजार में बेचने जाओ। परन्तु राष्ट्र के मौलिक धन अन्न-वस्त्र की ओर दृष्टि डालने का भी कष्ट न उठाया। जिस महर्षिवंश ने मानवधर्म की शिक्षा प्राप्त की है, जिस परम्परा से राष्ट्र आत्मनिर्भरता के आश्रय से अपनी रक्षा करता है, वे अन्न-वस्त्र हमारे वर्तमान राष्ट्रनेताओं की दृष्टि में स्वभावतः ही तुच्छ बन गए हैं। देश की राष्ट्रीय संस्था (कांग्रेस) से क्या हम यह पूछने की धृष्टता कर सकते हैं कि–'भारतवर्ष को स्वतन्त्र बना देने वाली हमारी राष्ट्रीयसंस्था ने कभी अपने राष्ट्र के प्राणभूत मौलिक-दारिद्र्य के सम्बन्ध में भी भूल से ही सही–कभी दो शब्द कहने का भी अनुग्रह किया ?'। 'जिस राष्ट्र को आप निष्प्राण बनाना चाहें, उसके मौलिक दारिद्र्य को कुचल डालिए' राजनीति-कुशल नैतिकों के इस घातक-स्वार्थ-साधक सिद्धान्त का मर्म क्या

हमारे अहिंसावादी राष्ट्रपतियों ने नहीं सुना-समझा ? । नहीं, तो वे कैसे राष्ट्र , और राजनीति सूत्रधार उनकी कैसी यह राष्ट्रीय संस्था ? । यदि सुना समझा तो आज तक उसका प्रतीकार क्यों नहीं किया गया ? । क्यों नहीं हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने विरोधियों के कुचक्र से अपने भारत राष्ट्र की मौलिक साहित्यविभूति को निकालने का प्रयास किया ? । प्रयास न करते, इस सीमा तक भी भारतीय राष्ट्रप्रजा सम्भवतः मन मसोसे उदासीन बनी रहती । परन्तु देखते हैं, और दुःखपूर्ण आश्चर्य्य के साथ सुन रहे हैं कि, इधर कुछ समय से हमारी राष्ट्रीय संस्था ने 'राष्ट्रीयशिक्षा के नाम से जिस वर्धाशिक्षापद्धति' का नवीनतम आविष्कार करने का अनुग्रह किया है जिस राष्ट्रीय शिक्षापद्धति में मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम तथा जगन्माता सीता के लिए 'बादशाह राम, और बेगम सीता' जैसे आदर्श ? वाक्यों का उद्घोष हुआ है, उसे राष्ट्रीय शिक्षा क्या, 'शिक्षा' भी कहें, अथवा नहीं, यह भी विचारणीय है ।

१३–राष्ट्रीय विद्याक्षेत्र, और तत्सञ्चालक वर्ग–

हमें क्या चाहिए ? हमारे राष्ट्र का जीवनसाधन क्या है ? प्रश्नों का उत्तरदायित्व हमारे उस भारत राष्ट्र पर अवलम्बित है जिसमें त्रयीवेदमूर्ति कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है । अतएव जो भारत-राष्ट्र त्रयीविद्यामूलक किंवा निगमागमविद्यामूलक मानवधर्म्म के आधार पर प्रतिष्ठित है । उस मानवधर्म्म के आधार पर जिसका आदर्श (मोटो) है—'सर्वे सन्तु निरामयाः मा कश्चिद् दुःखमाग्भवेत्' यह । उस मानवधर्म्म के आधार पर, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है ज्ञान-विज्ञानात्मक निगमागमशास्त्र अतएव जो मानवधर्म्म प्राकृतिक बनता हुआ 'सनातनधर्म्म' नाम से विभूषित हुआ है । जिस सनातनधर्म्म के प्राङ्गण में सत्त्व-रज-स्तमोमयी गुणभूता प्रकृति के गुण-कर्म्म-भेदों के आधार पर समाजनिबन्धन वाञ्छवर्ण्य धर्म्म' व्यक्तिनिबन्धन आश्रमधर्म्म राजनीतिनिबन्धन राजधर्म्म, तथा प्रजाधर्म्म देशधर्म्म जातिधर्म्म कुल-धर्म्म आदि विभिन्न शाश्वतधर्म्मलक्षण विभिन्न कर्त्तव्य-कर्म्म (स्वधर्म्म) पुष्पित पल्लवित हुए हैं । ऐसे ज्ञान-विज्ञानसिद्ध यथमाक्त् प्राकृतिक अवान्तर धर्म्मों की समष्टि ही तो सनातनधर्म्म है और यही तो हमारे भारत राष्ट्र की मूलप्रतिष्ठा है । इसकी रक्षा ही हमारी राष्ट्ररक्षा है एवं इस रक्षा का अन्यतम साधन है—'निगमागमविद्या' । यही विद्या हमारी राष्ट्रविद्या है, जिसके प्रचार-प्रसार का भार ब्राह्मण पर डाला गया है । तभी तो निगमागमवित् ब्राह्मण को प्रत्येक राष्ट्रीय कर्म्म में भगवान् मनु ने प्रधान स्थान दिया है—

> सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
> सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
>
> —मनु १२।१ •

१४–प्रजापति के द्वारा धर्म्मसृष्टि–

इदम् विश्व कर्म्मप्रधान है । उधर चारों वर्णों में कर्म्मप्रधान वर्ण क्षत्रियवर्ण ही माना गया है । ऋषियों का यह सिद्धान्त है कि, धर्म्म ही कर्म्मप्रधान विश्व की मूलप्रतिष्ठा है । अतएव चारों वर्णों का अन्तिम शास्ता धर्म्म ही माना गया है । जब ब्रह्म स्वयं विश्वकर्म्म के सञ्चालन में असमर्थ रहा तो उसने अपने से भी श्रेष्ठ क्षत्ररूप उत्पन्न किया । इससे भी निर्वाह न हुआ तो विड्वर्ग उत्पन्न किया । इस पर भी

सन्तोष न हुआ, तो 'शूद्रवर्ण' उत्पन्न किया । चारों वर्ण उत्पन्न हो गए, विश्वकर्मसिद्धि के ज्ञान (ब्रह्म) कर्म (क्षत्र) अर्थ (विट्), पुष्ट (शूद्र) ये चारों साधन भी प्रस्तुत हो गए । परन्तु अभी तक सर्वसिद्धि न हुई । चारों अपने अपने नियत कर्मों में आरूढ़ रहें तभी तो विश्वकर्म का सुव्यवस्थितरूप से सम्पादन सम्भव है । इसी व्यवस्थिति के लिए ब्रह्म ने स्वयं अपने आपको नियतिलक्षण धर्म-स्वरूप से प्रकट किया । यही धर्मरूप चारों को स्व-स्व नियत मार्गों में प्रतिष्ठित रखता हुआ चारों के द्वारा सूत्र रह कर चारों को स्व-स्वरूप से धारण करता हुआ 'धर्म' नाम से व्यवहृत हुआ (देखिए शत० ब्रा० १४।४।२।२३।, अथवा गी० भू० 'कर्म्म-वर्ण' विभाग वर्णात्मकधर्मविज्ञान) । सर्वापेक्षया प्रधानीभूत धर्म्म स्वयं अतीन्द्रिय तत्त्व है । यह भी स्वविकास के लिए किसी बाह्य-भौतिक-इन्द्रियव्यापेक्ष साधन की अपेक्षा रखता है । सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः धर्म परायण होते हैं । उनको धर्म में प्रवृत्त रखने के लिए यद्यपि किसी अन्य प्रेरणा-दण्डभयादि की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि पौन्प्रकृतिक मनुष्यों को स्वधर्मारूढ़ रखने के लिए अवश्य ही किसी भौतिक नियन्त्रण की आवश्यकता हो जाती है । यह नियन्त्रणसूत्र दण्ड-भयात्मक होना चाहिए । प्रजा को यह भय रहना चाहिए कि, यदि मैं धर्म की अवहेलना करूँगा, तो मुझे आर्थिक-शारीरिक दण्ड सहना पड़ेगा । यह ठीक है कि धर्ममार्ग से स्खलित अधर्मपरायणों को प्रकृति की ओर से दण्ड अवश्य मिलता है । परन्तु यह प्राकृतिक दण्ड प्रकृतिविपाक के कारण विलम्बापेक्ष है । यही क्यों धर्मरहस्यवेत्ता भगवान् मनु के शब्दों में तो अधर्म पथानुगामी मनुष्य पहिले कुछ समय के लिए तो इसलिए समृद्धिशाली बन जाता है कि अधर्मलक्षण अधर्मसंस्कार से तत्कालीन तमोगुण अभिभूत हो जाता है । अभिभूत तमोगुण तत्प्रधाना पृथ्वी पर उसे बढ़ चढ़ा देता है । फलस्वरूप भूतैश्वर्यप्राप्ति होने लगती है वास्तविक उन्नत होने लगते हैं शत्रु सूरक्षा पर शत्रुदमन आरम्भ हो जाता है । यह मदोन्मत्तता जब चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो प्रकृति का विस्फोटन हो जाता है और उसी क्षण वह अधर्मी समूलविनाश में विलीन हो जाता है ❀ । इस कालान्तरभावी प्राकृतिक दण्ड के कारण वर्तमानप्रिय प्रजा के हृदय में इस अधर्म भावना का उदय हो जाता है कि 'धर्म नाम की वस्तु नहीं है । तभी तो अमुक व्यक्ति अधर्म करता हुआ भी सुखमूल बना हुआ है । यह सिद्ध विषय है कि अधर्म में जब भी मनुष्य प्रवृत्त होता है, आरम्भ में आत्मज्योति के निनाद से उसका मन ग्लानि करने लगता है । आरम्भ में मद्यपान हिंसा अथवा जघन्य और किसी अधर्म कार्य्य में प्रवृत्त होने वालों पर उनका हृदयस्थ अन्तर्यामी रोक लगाता है । यदि दुर्भाग्यादि के कारण मनुष्य उस समय अन्तर्यामी की शब्दध्वनि की उपेक्षा कर मद्यपानादि में प्रवृत्त हो जाता है तो अन्तर्यामी का स्वाभाविक प्रकाश इस क्षणिक अधर्म्मजनित आवरण से आवृत हो जाता है । घनच्छन्नगत्या आवरण के घन हो जाने पर आत्मप्रकाश सर्वथा अभिभूत हो जाता है । और तब यह निरोधात्मिका शब्दध्वनि भी सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है । उस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर आरम्भदशा में अधर्म्म-कार्य्यों से भय करने वाला वही व्यक्ति बड़े अभिमान से कहा करता है कि-'इस समय हम बड़े निर्बल थे धर्मों से डरते थे परन्तु आज सिद्ध हुआ, धर्म कर्म कोई वस्तु नहीं है । पतन की इसी

❀ अधर्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥
—मनु ४।१७४

चरम सीमा पर पहुँचे हुए महापुरुषों ! के लिए ही तो भगवान् ने कहा है- 'सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः'' । कहने का अभिप्राय है-अधर्मरत प्रजा के सम्पर्क में धार्मिक प्रजा में भी व्यामोह होने की आशङ्का रहती है । दण्ड मिलता है विलम्ब से, वैभवप्राप्ति प्रतीत होती है तत्काल, अतएव अनुकरणप्रिय मानवहृदय इस ओर आकर्षित हो जाता है । अपिच मानवीय मन स्वभावतः अधर्मा है । अधर्मसोम का प्रथमज मानव स्ववर्म्म से स्वभावतः पराङ्मुख बना रहता है । सोम आप्य तत्त्व है । अपतत्त्व स्वभावतः निम्नगामी है । अतएव पतनकार्यों की ओर इसकी स्वभावतः प्रवृत्ति रहती है । यही कारण है कि यदि किसी को यह कहा जायगा कि-'आप सूर्योदय से पहिले उठ कर स्नानादि से निवृत्त होकर ईश्वरस्मरण किया करें' तो वह कठिनता से इस कर्म्म में प्रवृत्त होगा । यदि यह कहा जायगा कि-'आप तो सुबह ९ बजे शय्या छोड़ें, यदि भूँख लगे-तो शय्या पर ही चाय-बिस्कूट (बिस्कुट) भक्षण कर डालें ऐसा करने से बड़ा पुण्य होगा' तो निश्चयेन वह तत्काल "स कर्म्म" में प्रवृत्त हो जायगा । इसी स्वभाव को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है कि, देवता-पितर-असुर-पशु-मनुष्य इन पाँचों प्रजाओं में से कोई भी प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण नहीं करते, केवल मनुष्य ही अतिक्रमण कर जाता है- 'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति' (शत० २।४।२।६।) ।

१५-राष्ट्रीय धर्मों के पारम्परिक पतन का इतिवृत्त—

मानवीय मन की इस स्वाभाविक अधःप्रवृत्ति के निरोध के लिए, अधर्म्मप्रवाहरूप अतएव थोड़े समय के लिए समृद्ध बने हुए व्यक्तियों के आवर्त्त ! से बचाने के लिए, यह आवश्यक है कि धर्म्मानुगमनप्रवृत्तिरक्षा के लिए भौतिकबल की व्यवस्था की जाय । उसी दण्ड से चारों वर्ण स्वस्ववर्म्म में नियमितरूप से आरूढ़ हो सकेंगे । धर्म्मप्रवृत्तिरक्षा के अतिरिक्त राष्ट्र के ज्ञानबल, और अर्थबल विकास के लिए भी किसी ऐसे दण्डधारी की आवश्यकता है, जिसकी रक्षा में राष्ट्र के ज्ञान अर्थबल परराष्ट्रों के, तथा स्वराष्ट्रीय आततायियों के आक्रमण से बचे रहें । इस प्रकार ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-चारों वर्णों की धर्म्ममार्गानुगति के लिए, तथा ब्रह्मानुगता विद्या, विडनुगत कृषिवाणिज्य, शूद्रानुगत शिल्प-कला, के विकास के लिए क्षत्रिय का सहयोग सर्वथा अपेक्षित है । क्योंकि एकमात्र क्षत्रिय के दण्डबल से ही चारों वर्णों की धर्म्मनिष्ठा सुरक्षित है, एवं इस दण्डरक्षा से रक्षित राष्ट्र के ही विद्या वाणिज्यादि पुष्पित पल्लवित हो सकते हैं । अतएव श्रुति ने इस सर्वसङ्ग्रहात्मक क्षित-कर्म्म की दृष्टि से चारों वर्णों में से 'क्षत्रियवर्ण' को ही श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पद प्रदान किया है, जैसाकि श्रुति के- 'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति' इस वचन से प्रमाणित है । तात्पर्य्य-राष्ट्र के उत्थान, पतन का प्रधानरूप से क्षत्रियस्वभाव पर ही उत्तरदायित्व है । जिस राष्ट्र में क्षात्रबल जागृत है, वही राष्ट्र विद्या-कृषि-वाणिज्य-शिल्प-कला आदि का अधिकारी बन सकता है । अतएव हम कहेंगे, और आग्रहपूर्वक सामिनिवेश कहेंगे, कि-यदि हमारे राष्ट्रवासी वास्तव में राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं यदि वे वास्तव में राष्ट्र की मौलिक संस्कृति-सभ्यता-आदर्शप्रचारक साहित्य की, कृषिवाणिज्य की, शिल्प-कला की समृद्धि के इच्छुक हैं, तो उन्हें सर्वप्रथम राष्ट्र के क्षात्रबल को ही प्रोत्साहन देना चाहिए । क्षात्रबल की उपेक्षा करना तो सर्वनाश का ही आमन्त्रण करना है ।

क्षात्रबल विकसित क्यों था ? और आज उसका पतन क्यों हो गया ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका उत्तर मिलता है-हमें-'नानेवासासु' इस श्रुति से । 'क्षत्र कर्म्म' है, क्रियाशक्तिप्रधान है । दण्डबल का उस दशा में दुरुपयोग अनिवार्य्य बन जाता है, जबकि इस आधिभौतिक बल के नीचे से आध्यात्मिक-

सन्तोष न हुआ, तो 'शूद्रवर्ण' उत्पन्न किया। चारों वर्ण उत्पन्न हो गए, विश्वकर्म्मसिद्धि के ज्ञान (ब्रह्म) कर्म्म (क्षत्र) अर्थ (विट्), गुण (शूद्र) ये चारों साधन भी प्रस्तुत हो गए। परन्तु अभी तक सर्वसिद्धि न हुई। चारों अपने अपने नियत कर्म्मों में आरूढ़ रहें तभी तो विश्वकर्म्म का सुव्यवस्थितरूप से सञ्चालन सम्भव है। इसी व्यवस्थिति के लिए ब्रह्म ने स्वयं अपने आपको नियतिलक्षण सत्य-स्वरूप से प्रकट किया। यही सत्यरूप चारों को स्व-स्व नियत मार्गों में प्रतिष्ठित रखता हुआ चारों के द्वारा पूर्ण रह कर चारों को स्व-स्वरूप से धारण करता हुआ 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ (देखिए शत० ब्रा० १४।४।२।२४। अथवा भी० सू० कर्म्म 'ख' विभाग वर्णव्यवस्थाविज्ञान)। सर्वापेक्षया प्रधानीभूत धर्म्म स्वयं अतीन्द्रिय तत्त्व है। यह भी स्वविकास के लिए किसी बाह्य-भौतिक-इन्द्रियगतापेक्ष साधन की अपेक्षा रखता है। सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः धर्म्म-परायण होते हैं। उनको धर्म में प्रवृत्त रखने के लिए यद्यपि किसी अन्य प्रेरणा-दण्डव्यवस्थादि की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि लोकप्रकृतिक मनुष्यों को स्वधर्म्मारूढ़ रखने के लिए अवश्य ही किसी भौतिक नियन्त्रण की आवश्यकता हो जाती है। वह नियन्त्रणसूत्र दण्ड-भयात्मक होना चाहिए। प्रजा को यह भय रहना चाहिए कि यदि मैं धर्म की अवहेलना करूंगी तो मुझे आर्थिक-शारीरिक दण्ड सहना पड़ेगा। यह ठीक है कि धर्म मार्ग से स्खलित अधर्म्मपरायणों को प्रकृति की ओर से दण्ड अवश्य मिलता है। परन्तु वह प्राकृतिक दण्ड प्रकृतिविपाक के कारण विलम्बनापेक्ष है। यही क्यों, धर्म रहस्यवेत्ता भगवान् मनु के शब्दों में तो अधर्म्म पथानुगामी मनुष्य पहिले कुछ समय के लिए तो इसलिए अभ्युदयशाली बन जाता है कि, तत्कालावस्था अधर्म्मसंस्कार से तत्कालीन तमोगुण अभिभूत हो जाता है। अभिभूत तमोगुण सत्त्वप्रधाना मूलप्रवृत्ति का उच्छेदक बन जाता है। फलस्वरूप भूतवैभवप्राप्ति होने लगती है, सांसारिक उत्कर्ष होने लगते हैं, शत्रु सूदन पर शत्रुशमन आरम्भ हो जाता है। यह मदोन्मत्तता जब परम सीमा पर पहुँच जाती है तो प्रकृति का विस्फोटन हो जाता है और उसी क्षण वह अधर्मी समूलविध्वंस में विलीन हो जाता है*। इस कालान्तरभावी प्राकृतिक दण्ड के कारण वर्तमानप्रिय प्रजा के हृदय में एक अधर्म्म भावना का उदय हो जाता है कि, 'धर्म नाम की वस्तु नहीं है। तभी तो 'अमुक व्यक्ति अधर्म करता हुआ भी सुखपूर्वक बना हुआ है। यह सिद्ध विषय है कि अधर्म में जब भी मनुष्य प्रवृत्त होता है, आरम्भ में आत्मज्योति के विकास से उसका मन ग्लानि करने लगता है। आरम्भ में मद्यपान हिंसा अथवा व्यभिचार और किसी अधर्म कार्य्य में प्रवृत्त होने वाले पर उसका हृदयस्थ अन्तर्य्यामी रोक लगाता है। यदि दुर्भाग्यादि के कारण मनुष्य उस समय अन्तर्य्यामी की शब्दध्वनि की उपेक्षा कर मद्यपानादि में प्रवृत्त हो जाता है तो अन्तर्य्यामी का स्वाभाविक प्रकाश इस क्रमिक अधर्म्मजनित आवरण से आवृत हो जाता है। अन्तःकरणस्थ आवरण के घन हो जाने पर आत्मप्रकाश सर्वथा अभिभूत हो जाता है। और तब वह निरोधात्मिका शब्दध्वनि भी सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। उस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर आरम्भदशा में अधर्म्म कार्यों से भय करने वाला वही व्यक्ति बड़े अभिमान से कहा करता है कि—'इस समय हम बड़े निर्बल थे धर्म्म से डरते थे परन्तु आज सिद्ध हुआ धर्म्म कर्म्म कोई वस्तु नहीं है। पतन की इसी

* अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥
—मनु० ४।१७४

परम सीमा पर पहुँचे हुए महापुरुषों ? के लिए ही तो भगवान् ने कहा है–"मय्यज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"। कहने का अभिप्राय है–अधर्म्मरत प्रजा के सम्पर्क मे धार्मिक प्रजा में भी व्यामोह होने की आशङ्का रहती है। दयक मिलता है विलम्ब से, वैभवप्राप्ति प्रतीत होती है तत्क्षण, अतएव प्रमुकरणप्रिय मानवहृदय इस ओर आकर्षित हो जाता है। अपिच मानवीय मन स्वभावतः श्रुतधर्म्मा है। श्रुतलोभ का प्रथमज मानव स्वधर्म्म से स्वभावतः पराङ्मुख बना रहता है। लोभ आप्य तत्त्व है। अपतत्त्व स्वभावतः निम्नगामी है। अतएव पतनकर्म्मों की ओर इसकी स्वभावतः प्रवृत्ति रहती है। यही कारण है कि यदि किसी को यह कहा जायगा कि–'आप सूर्य्योदय मे पहिले उठ कर स्नानादि से निवृत्त होकर ईश्वरस्मरण किया करें' तो वह कठिनता से इस कर्म्म में प्रवृत्त होगा। यदि यह कहा जायगा कि–'आप तो सुबह ९ बजे शय्या छोड़ें, यदि भूँख लगे–तो शय्या पर ही चाय-बिस्कुट (बिस्कुट) भक्षण कर डालें ऐसा करने से बड़ा पुण्य होगा' तो निश्चयेन वह तत्काल इस कर्म्म में प्रवृत्त हो जायगा। इसी अवभाव को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है कि, देवता–पितर–असुर–पशु–मनुष्य इन पाँचों प्रजाओं में से कोई भी प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण नहीं करते, केवल मनुष्य ही अतिक्रमण कर जाता है– 'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति (शत २।४।२।६।)।

१५–राष्ट्रीय वर्णों के पारस्परिक पतन का इतिवृत्त—

मानवीय मन की इस स्वाभाविक श्रुतप्रवृत्ति के निरोध के लिए, अधर्म्मपथारूढ, अतएव थोड़े समय के लिए समृद्ध बने हुए व्यक्तियों के आदर्शों ? से बचाने के लिए, यह आवश्यक है कि धर्म्मानुगमनप्रवृत्तिरक्षा के लिए मौलिकदण्ड की व्यवस्था की जाय। उसी दण्ड से चारों वर्ण स्वस्वधर्म्म में नियमितरूप से आरूढ हो सकेंगे। धर्म्मप्रवृत्तिरक्षा के अतिरिक्त राष्ट्र के ज्ञानबल, और अर्थबल विकास के लिए भी किसी ऐसे दण्डधारी की आवश्यकता है, जिसकी रक्षा में राष्ट्र के ज्ञान अर्थबल परराष्ट्रों के, तथा स्वराष्ट्रीय आततायियों के आक्रमण से बचे रहें। इस प्रकार ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्र–चारों वर्णों की धर्म्ममार्गानुगति के लिए, तथा ब्रह्मानुगता विद्या, विडनुगत कृषिवाणिज्य, शूद्रानुगत शिल्प–कला, के विकास के लिए क्षत्रिय का सहयोग सर्वथा अपेक्षित है। क्योंकि एकमात्र क्षत्रिय के दण्डभय से ही चारों वर्णों की धर्म्मनिष्ठा सुरक्षित है, एवं इस दण्डरक्षा से रक्षित राष्ट्र के ही विद्या वाणिज्यादि पुष्पित पल्लवित हो सकते हैं। अतएव श्रुति ने इस वर्णचतुष्टयात्मक विश्व-कर्म्म की दृष्टि से चारों वर्णों में से 'क्षत्रियजाति' को ही श्रेष्ठ–श्रेष्ठ पद प्रदान किया है, जैसाकि श्रुति के–'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति' इस वचन से प्रमाणित है। तात्पर्य्य–राष्ट्र के उत्थान, पतन का प्रधानरूप से क्षत्रियस्वभाव पर ही उत्तरदायित्व है। जिस राष्ट्र में क्षत्रबल जाग्रत है, वही राष्ट्र विद्या कृषि–वाणिज्य–शिल्प–कला आदि का अधिकारी बन सकता है। अतएव हम कहेंगे और आग्रहपूर्वक अभिनिवेश करेंगे, कि–यदि हमारे राष्ट्रवादी वास्तव में राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं यदि वे वास्तव में राष्ट्र की मौलिक संस्कृति–सभ्यता–आदर्शप्रचारक साहित्य की, कृषिवाणिज्य की, शिल्प–कला की समृद्धि के कामुक हैं, तो उन्हें सर्वप्रथम राष्ट्र के क्षत्रबल को ही प्रोत्साहन देना चाहिए। क्षत्रबल की उपेक्षा करना ही सर्वनाश का ही आमन्त्रण करना है।

क्षत्रबल निर्बलित क्यों या ?, और आज उसका पतन क्यों हो गया ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका उत्तर मिलता है–हमें–'नानेवासतु' इस श्रुति से। 'क्षत्र' कर्म्म है, क्रियाशक्तिप्रधान है। दण्डबल का उस दशा में दुरुपयोग अनिवार्य्य बन जाता है, जबकि इस आधिभौतिक बल के नीचे से आध्यात्मिक-

सन्तोष न हुआ, तो 'शूद्रवर्ण' उत्पन्न किया। चारों वर्ण उत्पन्न हो गए, विश्वकर्म सिद्धि के ज्ञान (ब्रह्म) कर्म (क्षत्र) अर्थ (विट्), पुष्टि (शूद्र) ये चारों साधन भी प्रयुक्त हो गए। परन्तु अभी तक सर्वसिद्धि न हुई। चारों अपने अपने नियत कर्मों में आरूढ़ रहें, तभी तो विश्वकर्म का सुव्यवस्थितरूप से सम्पादन सम्भव है। इसी व्यवस्थिति के लिए ब्रह्म ने स्वयं अपने आपको नियामकरूप धर्म-स्वरूप से प्रकट किया। यही धर्मरूप चारों को स्व-स्व नियत भावों में प्रतिष्ठित रखता हुआ चारों के द्वारा पूजित रह कर चारों को स्व-स्वरूप से धारण करता हुआ 'धर्म' नाम से व्यवहृत हुआ (देखिए शत० ब्रा० १४।४।२।२३। अथवा गी० भू० कर्म का विभाग वर्णव्यवस्थाविज्ञान)। सर्वापेक्षया प्रधानीभूत धर्म स्वयं अतीन्द्रिय तत्त्व है। यह भी स्वविकास के लिए किसी स्थूल-भौतिक-इन्द्रियसापेक्ष साधन की अपेक्षा रखता है। सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः धर्म-परायण होते हैं। उनको धर्म में प्रवृत्त रखने के लिए यद्यपि किसी अन्य प्रेरणा-उपक्रमादि की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि घोरप्रकृतिक मनुष्यों को स्वधर्मारूढ़ रखने के लिए अवश्य ही किसी भौतिक नियन्त्रण की आवश्यकता हो जाती है। वह नियन्त्रणरूप दण्ड-भयात्मक होना चाहिए। प्रजा को यह भय रहना चाहिए कि, यदि मैं धर्म की अवहेलना करूंगी, तो मुझे आर्थिक-शारीरिक दण्ड सहना पड़ेगा। यह ठीक है कि धर्ममार्ग से स्खलित अधर्मपरायणों को प्रकृति की ओर से दण्ड अवश्य मिलता है। परन्तु वह प्राकृतिक दण्ड प्रकृतिपरिपाक के कारण विलम्बसापेक्ष है। यही क्यों धर्मतत्त्ववेत्ता भगवान् मनु के शब्दों में तो अधर्मपथानुगामी मनुष्य पहिले कुछ समय के लिए तो इसलिए उन्नतिशाली बन जाता है कि तत्कालकृत अधर्मसंस्कार से तत्कालीन तमोगुण अभिभूत हो जाता है। अभिभूत तमोगुण तत्प्रधाना भूतसृष्टि का उपेक्षक बन जाता है। फलस्वरूप भूतैश्वर्यप्राप्ति होने लगती है, सांसारिक उत्कर्ष होने लगते हैं। इधर मूलरूप पर शत्रुदमन आरम्भ हो जाता है। यह मदोन्मत्तता जब चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो प्रकृति का परिपाक हो जाता है और उसी क्षण वह अधर्मी स्वकृतकर्म में विलीन हो जाता है *। इस कालान्तरभावी प्राकृतिक दण्ड के कारण वर्तमानप्रिय प्रजा के हृदय में इस अधर्म भावना का उदय हो जाता है कि, 'धर्म नाम की वस्तु नहीं है। तभी तो 'अमुक व्यक्ति अधर्म करता हुआ भी फूलफल रहा है'। यह सिद्ध विषय है कि अधर्म में जब भी मनुष्य प्रवृत्त होता है आरम्भ में आत्मज्योति के विकास से उसका मन ग्लानि करने लगता है। आरम्भ में मद्यपान, हिंसा अथवा अन्यान्य और किसी अधर्म कार्य में प्रवृत्त होने वाले पर उसका हृदयस्थ अन्तर्यामी रोक लगाता है। यदि दुर्भाग्यादि के कारण मनुष्य उस समय अन्तर्यामी की शब्दध्वनि की उपेक्षा कर मद्यपानादि में प्रवृत्त हो जाता है तो अन्तर्यामी का स्वाभाविक प्रकाश इस क्षणिक अधर्मजनित आवरण से आवृत हो जाता है। अन्ततोगत्वा आवरण के घन हो जाने पर आत्मप्रकाश सर्वथा अभिभूत हो जाता है। और तब वह निरोधात्मिका शब्दध्वनि भी सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। उस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर आरम्भदशा में अधर्म-कार्यों से भय करने वाला वही व्यक्ति बड़े अभिमान से कहा करता है कि-'इस समय हम बड़े निर्बल थे धर्म से डरते थे, परन्तु आज सिद्ध हुआ धर्म कर्म कोई वस्तु नहीं है। पतन की इसी

* अधर्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥
—मनु० ४।१७४

चरम सीमा पर पहुँचे हुए महापुरुषों ! के लिए ही तो भगवान् ने कहा है– 'सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः'' । कहने का अभिप्राय है–अधर्म्मरत प्रजा के सम्पर्क से धार्मिक प्रजा में भी व्यामोह होने की आशङ्का रहती है । द्रव्य मिलता है शिल्प से, वैभवप्राप्ति प्रतीत होती है तत्काल, अतएव अनुकरणप्रिय मानवहृदय इस ओर आकर्षित हो जाता है । अपिच मानवीय मन स्वभावतः अधर्मधर्म्मा है । असत्सोम का प्रथमज मानव सत्यधर्म्म से स्वभावतः पराङ्मुख बना रहता है । सोम आप्य तत्त्व है । अप्तत्त्व स्वभावतः निम्नगामी है । अतएव पतनकार्य्यों की ओर इसकी स्वभावतः प्रवृत्ति रहती है । यही कारण है कि यदि किसी को यह कहा जायगा कि–'आप सूर्य्योदय से पहिले उठ कर स्नानादि से निवृत्त होकर ईश्वरस्मरण किया करें' तो यह कठिनता से इस कर्म्म में प्रवृत्त होगा । यदि यह कहा जायगा कि–'आप तो सुबह ६ बजे शय्या छोड़ें, यदि मुँह लगे–तो शय्या पर ही चाय-बिस्कुट (बिस्कुट) भक्षण कर डालें ऐसा करने से बड़ा पुण्य होगा' तो निश्चयेन यह तत्काल इस कर्म्म में प्रवृत्त हो जायगा । इसी अप्भाव को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है कि, देवता–पितर–असुर–पशु–मनुष्य इन पाँचों प्रजाओं में से कोई भी प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण नहीं करते, केवल मनुष्य ही अतिक्रमण कर जाता है– 'मनुष्या एवैकेऽतिक्रमन्ति (शत २।४।२।६।) ।

१५–राष्ट्रीय वर्णों के पारस्परिक पतन का इतिवृत्त—

मानवीय मन की इस स्वाभाविक अधःप्रवृत्ति के निरोध के लिए, अधर्म्मपथारूढ अतएव थोड़े समय के लिए समृद्ध बने हुए व्यक्तियों के आदर्शों ! से बचाने के लिए, यह आवश्यक है कि धर्म्मानुगमनप्रवृत्तिरक्षा के लिए, नैतिकरक्षा की व्यवस्था की जाय । उसी दण्ड से चारों वर्ण स्वस्वधर्म्म में नियमितरूप से आरूढ हो सकेंगे । धर्म्मप्रवृत्तिरक्षा के अतिरिक्त राष्ट्र के ज्ञानबल, और अर्थबल विकास के लिए भी किसी ऐसे दण्डधारी की आवश्यकता है, जिसकी रक्षा में राष्ट्र के ज्ञान अर्थबल परराष्ट्रों के, तथा स्वराष्ट्रीय आततायियों के आक्रमण से बचे रहें । इस प्रकार ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्र–चारों वर्णों की धर्म्ममार्गानुगति के लिए, तथा ब्रह्मानुगता विद्या विडनुगत कृषिवाणिज्य, शूद्रानुगत शिल्प–कला, के विकास के लिए क्षत्रिय का उपयोग सर्वथा अपेक्षित है । क्योंकि एकमात्र क्षत्रिय के दण्डभय से ही चारों वर्णों की धर्म्मनिष्ठा सुरक्षित है, एवं इस दण्डरक्षा से रक्षित राष्ट्र के ही विद्या वाणिज्यादि पुष्पित पल्लवित हो सकते हैं । अतएव श्रुति ने इस वर्णचतुष्टयात्मक विश्व-कर्म्म की दृष्टि से चारों वर्णों में से 'क्षत्रियभाव' को ही श्रेष्ठ–श्रेष्ठ पद प्रदान किया है, जैसा कि श्रुति के–'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति' इस वचन से प्रमाणित है । तात्पर्य्य–राष्ट्र के उत्थान, पतन का प्रधानरूप से क्षत्रियस्वभाव पर ही उत्तरदायित्व है । जिस राष्ट्र में क्षत्रबल जागृत है, वही राष्ट्र विद्या कृषि–वाणिज्य–शिल्प–कला आदि का अधिकारी बन सकता है । अतएव हम कहेंगे, और आग्रहपूर्वक अभिनिवेश करेंगे, कि–यदि हमारे राष्ट्रधारी वास्तव में राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, यदि वे वास्तव में राष्ट्र की मौलिक संस्कृति–सभ्यता–आदर्शप्रचारक साहित्य की, कृषिवाणिज्य की, शिल्प–कला की समृद्धि के इच्छुक हैं, तो उन्हें सर्वप्रथम राष्ट्र के क्षत्रबल को ही प्रोत्साहन देना चाहिए । क्षत्रबल की उपेक्षा करना तो सर्वनाश का ही आमन्त्रण करना है ।

क्षत्रवर्ण निकृष्ट क्यों था !, और आज उसका पतन क्यों हो गया !, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका उत्तर मिलता है–हमें–'नानेवासतु' इस श्रुति से । 'क्षत्र' कर्म्म है, क्रियाशक्तिप्रधान है । दण्डकर्म का उस दशा में दुरुपयोग अनिवार्य्य बन जाता है, जबकि इस आधिभौतिक बल के नीचे से आध्यात्मिक-

ज्ञानरूप दत्त लिया जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान के नियन्त्रण से नियन्त्रित आधिभौतिक दण्डबल जहाँ रक्षण कर्म्म में उपयुक्त होता है, वहाँ अध्यात्मज्ञानवञ्चित दण्डबल सत्कर्म्म का अनुगामी बनता हुआ समृद्धि नाश का कारण बन जाता है। क्षत्रियसमर्थों के यहाँ क्या दण्डविधान नहीं है ?। है और प्रचुर है। क्या उस दण्डनीति का सत्कारकर्म्म में उपयोग होता है ?, नहीं। क्यों ?। इसलिए कि, उनकी दण्डनीति ने अध्यात्मज्ञान का आश्रय छोड़ दिया है। उस अध्यात्मज्ञान का जिसके उपदेष्टा निगमागमविद्याचार्य ब्राह्मण थे। भारतीय शासनपद्धति के महत्त्वपूर्ण विभाग पुरातन में जिस वेदविद्-ब्राह्मण के आधार पर चलते थे, वही ब्राह्मणसमाज ज्ञानाश्रय से वञ्चित होकर आज अपने आध्यात्मिक ज्ञानविभाग में भी असमर्थ बन रहा है। महानुभाव-'नमस्कार पं० जी महाराज' कह कर ब्राह्मण से पीछा छुड़ा लेता है अथवा अनुभाव उपेक्षा से मुख मोड़ लेता है। और इसप्रकार ज्ञानाश्रय से वञ्चित, तिरस्कृत देश का वह ब्राह्मणसमाज, जिसे देश के ज्ञान का प्रतिनिधि बनाया गया था आज पददलित बनाया जारहा है। क्या फिर भी क्षत्रियसमाज अपना गौरव सुरक्षित रख सकता है ?, श्रुति कहती है—'असम्भव'।

यह ठीक है कि मौतिकदण्डनेतृत्व का अधिष्ठाता क्षत्रियसमाज उत्थापन का अधिकारी है। परन्तु इसे स्मरण रखना चाहिए कि, इसकी योनि ब्राह्मण ही है। ज्ञान के आधार पर ही कर्म्म का उद्गम हुआ है। ब्रह्म ज्ञानमय होने से शाश्वत है, नित्य है। क्षत्र क्रियामय होने से क्षणधर्म्मा है। यदि क्षणिक क्रियामय क्षत्र को शाश्वत प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है तो इसे अवश्य ब्राह्मण को पुरोधा बनाना पड़ेगा। बिना वेदवित् ब्राह्मणपुरोधा के शासक अपनी सत्ता भी सुरक्षित नहीं रख सकता। उधर ब्राह्मण यदि ज्ञानाश्रय से वञ्चित रह जायगा, तो उसका विप्रसमाज नष्ट हो जायगा परन्तु स्वरूपहानि नहीं होगी। अतएव श्रुति को कहना पड़ा कि—'जो शासक ब्राह्मण के सहयोग के बिना दण्डनीति का अनुगमन करता है वह कभी समृद्ध नहीं बन सकता। जिस ब्राह्मण को ज्ञानाश्रय प्राप्त नहीं हुआ, उसका ज्ञान विकसित नहीं होता। इसलिए राष्ट्र-अभ्युदयेच्छु का कर्त्तव्य है कि, वह अपने कार्य्य में ब्राह्मणपुरोधा को ही अभिमन्ता बनावे। ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय से ही राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है—(देखिए शत० ४।१।४।५।)।

१६-राष्ट्रीय ब्राह्मणवर्ग की जीवन्मृत्यु—

क्षत्रबल ने ब्रह्मबल का आश्रय क्यों छोड़ दिया ?, यह प्रश्न उपस्थित हुआ, इसका उत्तर है-'ब्रह्मबल की मृत्यु' जिसका कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। जिस प्रकार शास्त्रों में 'जीवन्मुक्ति' नाम की विदेह मुक्ति प्रसिद्ध है एवमेव 'जीवन्मृत्यु' का भी स्थान समझना चाहिए, जिसके आधार पर-'जीता ही मरा हुआ' किंवदन्ती प्रचलित है। जीता हुआ ही ब्राह्मण कौनसा मरा हुआ कहलाएगा ?, इसका समाधान करते हुए आचार्यों ने कहा है—'ब्राह्मण शब्द की प्रतिष्ठा ब्रह्मवीर्य्य है। ब्रह्मवीर्य्य की प्रतिष्ठा निगम, और तदनुगत आगमशास्त्र है। जो ब्राह्मण ब्राह्मणयोनि में जन्म लेकर भी स्वप्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मवीर्य्यविधायक वेदशास्त्र का अध्ययन नहीं करता उसका ब्राह्मणत्वसम्पादक ब्रह्मवीर्य्य अभिभूत हो जाता है। निगमागमशास्त्र-ज्ञानवञ्चित ऐसे ही नाम के ब्राह्मण जीवित ही मृत हैं अथवा शूद्रसम हैं +। इसप्रकार शास्त्रानभ्यास ही

\+ योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥
—मनु० २।१६८

ब्राह्मण की मृत्यु का पहिला एवं प्रधान कारण बन रहा है। ब्रह्मवीर्य्य एक प्राकृतिक दिव्यप्राणात्मिका दिव्य-विभूति है। श्वेतवस्त्र की निर्म्मलता सुरक्षित रखने के लिए जैसे उसे तदनुरूप स्थानादि में सुरक्षित रखना पड़ता है एवमेव इस ब्रह्मवीर्य्य की विद्यानुगता दिव्यशक्ति की रक्षा के लिए सन्ध्या-तर्पण-बलिवैश्वदेव-गायत्रीजप-द्रव्यशुद्धि-आहारशुद्धि-आदि आचारधर्म्मों का पालन करना अनिवार्य्य होता है। इस आचार धर्म्म के परित्याग से भी ब्रह्मवीर्य्य कुकुलित हो जाता है। यही ब्राह्मण की मृत्यु का दूसरा कारण है। योग्यता है शक्ति है साधन हैं परन्तु प्रमादवश न वेदाभ्यास में प्रवृत्ति होती, न आचारसेवन होता। इस प्रमादलक्षण आलस्य से भी ब्राह्मण जीवन्मृत बन जाता है। इन तीनों मृत्युकारणों का मूलकारण है-अन्नदोष। अन्न से रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्र-ओज के द्वारा पर्य्यन्त में 'मन' बनता है। मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है बुद्धि वीर्य्यात्मिका है। गुणभेद से अन्न विभिन्न गुण धर्म्मोपेत हैं। अतएव सद्गुणक अशन्-सत्-अन्न खाया जायगा तद्गुणक ही अशन्-सत् मन बनेगा। मन की अनुरूपता से ही बुद्धि में अशन्-सद्वीर्य्यों का आधान होगा। जो ब्राह्मण अन्नमर्य्यादा का अतिक्रमण कर जाते हैं, बिना विवेक के चाहे जिसका अन्न, चाहे जो अन्न चाहे जितना अन्न, चाहे जिस समय, चाहे जिस अवस्था में भक्षण-चर्वणादि आरम्भ कर देते हैं वे मृत्यु का साक्षात्‌रूप से आमन्त्रण कर रहे हैं। यही अन्नदोष मृत्यु का चौथा कारण बनता है। अन्नदोष से ही आलस्य का उदय होता है, आलस्य से ही आचार का परित्याग होता है आचारपरित्याग से ही वेदाभ्यास निरोध होता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, चारों मृत्युकारणों में अन्नदोष ही मुख्य द्वार है। सौभाग्य से ! आज ब्राह्मणवर्ग के यहाँ चारों ही कारणों ने सर्वात्मना आतिथ्य स्वीकार कर रक्खा है। चारों से सर्वात्मयी बना हुआ ब्राह्मणसमाज जीवन्मृत न बने तो महा आश्चर्य्य है। और ऐसे शास्त्रोपजीवी ब्राह्मणसमाज की शास्त्र समाज उपेक्षा न करे, तो महा आश्चर्य्य है। जीवित व्यक्तियों का भय माना जाता है। ब्राह्मण जीवित हैं कहाँ !, भयसाधक निगमागमबल उनके कोश में है कहाँ ! जिसके भय से बलपूर्वक वे ब्रह्मबल का उद्बोधन कराने में समर्थ बन सकें। तात्पर्य्य यह निकला कि—

१७-सर्वविद्याप्रतिष्ठात्मिका विद्या—

राष्ट्र-अभ्युदय के लिए शिल्प-कला अपेक्षित तदर्थमेव कृषि-वाणिज्य अपेक्षित, तदर्थमेव शस्त्रास्त्रानुगत क्षत्रबल का प्रबोधन अपेक्षित, तदर्थं निगमागमानुगत ब्रह्मबल का उद्बोधन अनिवार्य्य, एवं तदर्थं अध्यात्मविद्याप्रधान भारतीय शास्त्रों का प्रचार-प्रसार नितान्त अपेक्षित। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि, शिल्प-कलात्मिका शूद्रविद्या की प्रतिष्ठा कृषि-वाणिज्यानुगता वैश्यविद्या है। वैश्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा शस्त्रास्त्रानुगता क्षत्रियविद्या है। एवं इन सब विद्याओं की मूलप्रतिष्ठा सर्वविद्यागर्भिता निगमानुगता ब्राह्मणविद्या है जो स्वयं ब्राह्मणवर्ग को अध्यात्मविद्यानिष्ठ बनाती है, क्षत्रियवर्ग को अस्त्र-शस्त्रशिक्षा प्रदान करती है वैश्यवर्ग को कृषि-वाणिज्य कौशल सिखाती है, एवं शूद्रवर्ग को शिल्प-कला में दक्ष बनाती है। तभी तो एतद्देशप्रसूत द्विजाति को सर्वविद्यागुरु माना गया है, जिसका धर्म्मर्षिमनु ने निम्न लिखित शब्दों में उद्घोष किया है—

- अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

—मनुः ५।४

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
—मनुः २।२०।

चारों वर्णों से सम्बन्ध रखने वाली चारों विद्याओं की स्थानप्रतिष्ठा का आवश्यक दिग्दर्शन कराया गया । अब दो शब्दों में इन विद्याओं के नामों का भी उल्लेख कर दिया जाता है जिससे हमारे सामान्य-जिज्ञासु वर्ग को अपने राष्ट्र की इस मूलनिधि के नाममात्र-श्रवण का पुण्यलाभ तो हो जाय । सर्वप्रथम ब्राह्मणानुगता ब्रह्मवीर्य्यप्रधाना निगमागमविद्या के नाम ही उपस्थित किए जा रहे हैं ।

१८—ब्रह्मवीर्य्यानुगता निगमागमविद्या—(१)—निगमशास्त्रम्—

अपने आप प्रकट होने वाली विद्या 'स्वयं निर्गता सा' निर्वचन से 'निगमविद्या' कहलाई है एवं निगमविद्या के द्वारा आई हुई निगममूला विद्या 'निगमादागता सा' निर्वचन से 'आगमविद्या' कहलाई है । स्वयं प्रादुर्भूता निगमविद्या का नाम ही 'वेदविद्या' है । इस अपौरुषेयलक्षणा वेदविद्या का प्रतिपादक शब्दशास्त्र ही 'निगमशास्त्र' किंवा 'वेदशास्त्र' है । निगमविद्यामूला आगमविद्या का प्रतिपादक शब्दशास्त्र ही आगमशास्त्र है । ये ही दो भारतीय मुख्य शास्त्र हैं । निगमशास्त्र में प्रतिपादिता निगमविद्या स्वर्गविद्या है, पुरुषविद्या है । आगमशास्त्र में प्रतिपादिता आगमविद्या पृथिवीविद्या है, प्रकृतिविद्या है । पुरुषविद्या केवल 'विद्या' है, प्रकृतिविद्या 'महाविद्या' है । दोनों विद्याओं की समष्टि ही 'सृष्टिविद्या' है । 'पुरुषः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार विश्व पुरुषप्रधान है । अतएव तल्लक्षणा इस सृष्टिविद्या (विश्वविद्या) को विज्ञानभाषा में 'पुरुषविद्या' कहा जायगा । पुरुषविद्याभिन्ना विद्यालक्षणा निगमविद्या, एवं महाविद्यालक्षणा आगमविद्या दोनों के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण 'गी० भू० बहिरङ्गपरीक्षा उत्तरखण्ड' में किया जा चुका है । अतएव तत्सम्बन्ध में विश्लेषण अनावश्यक है । प्रकृत में दोनों विद्यात्मक शास्त्रों के नाममात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं । क्रमप्राप्त पहिले निगमविद्या को ही लीजिए ।

१९—मन्त्रब्राह्मणात्मक प्राजापत्यशास्त्र—

भूत भविष्यत्-वर्त्तमान तीनों कालों में समानरूप से अप्रतिहतगति से काम करने वाली तपःप्रभाव से प्राप्त होने वाली, इन्द्रियातीत विषयों का भी प्रत्यक्ष करने वाली, योगजसिद्धि नाम की दिव्यदृष्टि से देखने वाले महामहर्षियों के द्वारा शब्दराशिरूप में गुम्फित स्वतःप्रमाणभूत शास्त्र ही वेदशास्त्र है यही निगमशास्त्र है । प्रत्यक्षप्रमाण की अपेक्षा से ही यह शास्त्र 'श्रुतिशास्त्र' कहलाया है । वेदशास्त्र ऋषियों की जहाँ प्रत्यक्षदृष्टि है वहाँ वही हमारे लिए 'श्रुति' है । दृष्टि ही श्रुति है यही श्रुति का श्रुतित्व है । ज्ञानयज्ञ, कर्मयज्ञ, भेद से इस शास्त्र के आगे जाकर दो विभाग हो गए हैं । प्राकृतिक सृष्टिविज्ञान इतिहास, वेदस्तुति, ये तीन विषय ज्ञान के हैं । एवं बुद्धियोगसापेक्ष निष्कामकर्म्मप्रधान ज्ञानयोग प्रातिस्विकात्मक भक्तियोग, तथा प्रातिस्विककर्म्मप्रधान कर्मयोग ये तीन विषय कर्म्मयज्ञात्मक हैं । ज्ञानविषयमयी ज्ञानप्रधाना बनती हुई 'ब्रह्म' है । कर्म्मविषयमयी कर्म्मप्रधाना बनती हुई 'कर्म्म' है । ब्रह्म-कर्म्म की समष्टि ही प्रजापति है । अतएव ज्ञान-कर्म्मात्मक निगमशास्त्र को हम इस दृष्टि से 'प्रजापतिशास्त्र' भी कह सकते हैं । प्रजापतिशास्त्र का

ज्ञातव्यभाग 'मन्त्रवेदशास्त्र' कहलाया है, एवं कर्त्तव्यभाग 'ब्राह्मणवेदशास्त्र' कहलाया है। विज्ञान-स्तुति-इतिहास-प्रधान मन्त्रवेद के ऋक्-यजु-साम-अथर्व, ये चार विभाग हैं। प्रत्येक विभाग क्रमशः २१-१ १-१ -९-संख्याओं में विभक्त है। फलतः मन्त्रवेदशास्त्र की पुस्तकें शाखाभेद से ११३१ हो जाती हैं। ज्ञानयोगप्रधान ब्राह्मणभाग 'उपनिषत्' नाम से भक्तियोगप्रधान ब्राह्मणभाग 'आरण्यक' नाम से, तथा कर्मयोगप्रधान ब्राह्मणभाग 'विधि' नाम से सम्बोधित हुआ है। मन्त्रात्मक ज्ञातव्य वेदभाग की प्रत्येक शाखा के साथ ब्राह्मणात्मक कर्त्तव्य वेदभाग के तीनों विभागों का समन्वय है। शाखात्मिका मन्त्रसंहिता, विधि, आरण्यक उपनिषत्, इन चार पर्वों के समन्वय से एक शाखा का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। फलतः कर्त्तव्यवेदभाग के विधि-आरण्यक-उपनिषत्-तीनों विभागों की प्रत्येक की शाखाभेद से ११३१ संख्या हो जाती है। सम्भूय ज्ञातव्य मन्त्रवेद, एवं कर्त्तव्य ब्राह्मणवेद-विभागात्मक निगमशास्त्र की पुस्तकें ४५२४ (चारहजार पाँचसौ चौबीस) हो जाती हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

* १-ऋग्वेदशाखाग्रन्थाः	२१	—विधिग्रन्था	२१	आरण्यकग्रन्थाः	२१	उपनिषद्ग्रन्था	२१
२-यजुर्वेदशाखाग्रन्थाः	१ १	„	१११	„	१११	„	१११
३-सामवेदशाखाग्रन्था	१	„	१ ०	„	१		१
४-अथर्ववेदशाखाग्रन्थाः	९		९	„	९	„	९
	११३१		११३१		११-१		११३१

४५२४ (चार-हजार-पाँचसौ-चौबीस-ग्रन्थ)

१-मन्त्रवेदः -ज्ञातव्यवेद (विज्ञानेतिहासस्तुतिनिरूपक-ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणः) } वेदनामधेयम्
२-ब्राह्मणवेद -कर्त्तव्यवेद (ज्ञानभक्तिकर्मयोगनिरूपकः-विध्यारण्यकोपनिषल्लक्षणः) }

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्याहुराचार्य्याः —

२०-दृष्टिभेद से वेदशास्त्र का समन्वय—

दूसरी दृष्टि से वेदशास्त्र का समन्वय कीजिए। अङ्गी, अङ्ग भेद से वेदशास्त्र दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। अङ्गी वेदशास्त्र का उपकारक अङ्गभूत शास्त्र प्रथमाङ्ग मध्यमाङ्ग उत्तमाङ्ग भेद से तीन भागों में विभक्त है। मन्त्रब्राह्मणात्मिका ऋक्-यजु-साम-अथर्व-संहितानुगामी अङ्गीभूत वेदशास्त्र है। ऋक्-यजुः-साम-अथर्व चारों अङ्गीभूत वेदशास्त्रों के क्रमशः अर्थवेद धनुर्वेद गान्धर्ववेद आयुर्वेद ये चार उपवेद हैं। यही प्रथमाङ्गशास्त्र है। वाक्संस्कारक-शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण प्राणसंस्कारक छन्द-कल्प

* ऋगादि के तात्त्विक स्वरूप क्या हैं? इनका २१-१ १-इत्यादि नियमित संख्याविभाग क्यों माना गया है, इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक समाधान उपनिषद् विज्ञानभाष्यभूमिका १-२-१ खण्डों में देखना चाहिए।

एवं मनःसंस्मारक गणित-फलित-सिद्धान्तात्मक त्रिभागापन्न ज्योतिष, इन ६ शास्त्रों की समष्टि मध्यमाङ्ग है, यही भाग यहाँ 'वेदाङ्ग' नाम से प्रसिद्ध है। इतिहासयुक्त पुराण, योग, न्याय, मीमांसा, इनकी समष्टि 'उपाङ्ग' है। इस दृष्टि से ब्रह्मविद्याशास्त्र के ४ विभाग हो जाते हैं। अवश्यभूत प्रथम-मध्यम-उत्तराङ्ग-विभाग-त्रयी के क्रमशः ४-६-४ विभाग हो जाते हैं। ४ ब्रह्मविद्याशास्त्र १४ अङ्गशास्त्र सम्भूय १८ विभाग हो जाते हैं। 'विद्या ह्यष्टादशैव ता' से इन्हीं १८ विभागों का संग्रह हुआ है जैसाकि तत्त्वभारतम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है।

२१-विभिन्न दृष्टि से निगमशास्त्र का समन्वय—

अन्य दृष्टि से निगमशास्त्र का समन्वय कीजिए। 'श्रुति-स्मृति' भेद से भारतीय विद्या के दो विभाग माने जा सकते हैं। इनमें मन्त्रब्राह्मणात्मक-४५२८ संख्यात्मक-आत्मक एवं व्याख्यान-वेदशास्त्र ही मुख्यरूप से निगमशास्त्र है, यही श्रुतिशास्त्र है। एतदतिरिक्त चारों उपवेद, शिक्षादि षडङ्ग, इतिहासादि, सर्वविध आगमग्रन्थ सम्पूर्ण शास्त्रसमाज श्रुतिरूप निगमशास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित रहता हुआ 'स्मृतिशास्त्र' है। श्रुतिपथ का अनुगमन करने वाला ही स्मृतिशास्त्र कहलाता है। इसी आधार पर व्याख्याताओं ने गीतादि वचनों के सम्बन्ध में भी 'तथा चाह स्मृतिः' इत्यादि रूप से 'स्मृति' शब्द का प्रयोग किया है। इस स्मृति-शास्त्र के ही आगे जाकर अनेक अवान्तर विभाग हो जाते हैं। कुछ विभाग तो निगमशास्त्र के उपकारक बनते हैं, एवं कुछ विभाग आगमशास्त्र के उपकारक बनते हैं। निगमोपकारक स्मृतिशास्त्र का निगमविद्या में अन्तर्भाव कर लिया जाता है। एवं आगमोपकारक स्मृतिशास्त्र का आगमविद्या में अन्तर्भाव कर लिया जाता है। पुराणादि कुछ एक शास्त्र ऐसे भी हैं जिनका तत्तदध्याय से निगम आगम दोनों के साथ सम्बन्ध माना जाता है। उभयनिष्ठ होने के कारण इनकी स्वतन्त्ररूप से 'पुराण' नाम से भी गणना हो जाती है। आचार्य-भेद से प्रत्येक स्मृतिशास्त्र के अन्य अनुसंख्या में विभक्त हैं। प्रत्येक शास्त्र शत-सहस्रादि ग्रन्थों में विभक्त हो रहा है। आचार्यभेदभिन्न अनवधारत् शिक्षाग्रन्थात्मक शिक्षाशास्त्र, श्रौतसूत्रग्रन्थ-गृह्यसूत्रग्रन्थ-धर्म-आचारिक सूत्रग्रन्थ (मन्वादि स्मृतियाँ)-समष्टिरूप कल्पशास्त्र, व्याकरणग्रन्थात्मक व्याकरणशास्त्र, छन्दो-ग्रन्थात्मक छन्दःशास्त्र, निरुक्तग्रन्थात्मक निरुक्तशास्त्र, ज्योतिषग्रन्थात्मक ज्योतिषशास्त्र, इन ६ स्मृतिशास्त्रों का प्रधानतः वेदशास्त्र से सम्बन्ध है। बिना इनके वेदार्थपरिज्ञान का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अतएव इन्हें 'वेदाङ्ग' नाम से व्यवहृत किया गया है। अथर्ववेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, इन चारों उपवेदात्मक स्मृतिशास्त्रों का भी निगमशास्त्र में ही अन्तर्भाव है। मानवेतिहासात्मक इतिहासग्रन्थ (महाभारतादि) समष्टिरूप इतिहासशास्त्रात्मक स्मृतिशास्त्र का भी निगम में ही अन्तर्भाव है।

२२-अष्टादश विषयात्मक निगमागमानुगत भारतीय पुराणशास्त्र—

सृष्टि प्रतिसृष्टि वंश वंशानुचरित, मन्वन्तर, गाथा कल्पशुद्धि पुराण, संहिता डामर, यामल ज्योतिष्मान, भुवनकोश इति तथा अन्तर, देश, उपाख्यान, इन अठारह वाचिक विषयों से युक्त चतुर्वर्ग-परलोकात्मक १८ पुराण और उपपुराणशास्त्र का सृष्ट्यादि-सम्बन्ध से जहाँ निगमशास्त्र में अन्तर्भाव है वहाँ डामर-यामलादि के सम्बन्ध से आगमशास्त्र में भी अन्तर्भाव है। कारण-सृष्टिविज्ञानादि जहाँ निगमशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं, वहाँ डामर-यामलादि आगमशास्त्र के मुख्य विषय माने गए हैं। 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इत्यादि रूप से स्पष्ट ही पुराण को निगमशास्त्रोपबृंहक माना गया है।

'सृष्ट्यादि अवतारादि भवादि आयतियादि आयतनादि' भेद से १८ पुराण क्रमशः ६ ६ ४-१-१ इन संख्याओं में विभक्त हैं। ब्रह्म पद्म, विष्णु वायु, भागवत नारद ये ६ पुराण सृष्ट्यादात्मक हैं। लिङ्ग वामन वराह, कूर्म मत्स्य, स्कन्द, ये ६ पुराण अवतारवादात्मक हैं। अग्नि भविष्य, मार्कण्डेय ब्रह्मवैवर्त ये चार पुराण भववादात्मक हैं। गरुडपुराण आयतिवादात्मक है। एवं ब्रह्माण्डपुराण आयतनवादात्मक है। निम्न लिखित परिलेख से इनकी कल्पानुगता श्लोकसंख्या का स्पष्टीकरण हो रहा है—

पुराणनामानि		कल्पनामानि	श्लोकसंख्या	(४००००० श्लोकात्मकं पुराणशास्त्रम्)
१-ब्रह्मपुराणम्	(१)	सत्यकल्पानुगतम्	१०० ०	-सृष्ट्यादि पद (६)
२ पद्मपुराणम्	(२)	हिरण्मयकल्पानुगतम्	५५०००	
३-विष्णुपुराणम्	(३)	वाराहकल्पानुगतम्	२३ ००	
४-वायुपुराणम्	(४)	श्वेतकल्पानुगतम्	२४०००	
५-भागवतपुराणम्	(५)	सारस्वतकल्पानुगतम्	१८००	
६-नारदपुराणम्	(६)	बृहत्कल्पानुगतम्	२५०००	
७-लिङ्गपुराणम्	(१)	आग्नेयकल्पानुगतम्	११ ००	-अवतारवाद पद (६)
८-वामनपुराणम्	( )	कूर्मकल्पानुगतम्	१० ००	
९-वराहपुराणम्	( )	मानवकल्पानुगतम्	२४०००	
१०-कूर्मपुराणम्	(४)	लक्ष्मीकल्पानुगतम्	१७०००	
११-मत्स्यपुराणम्	(५)	सप्तकल्पानुगतम्	१४००	
१२-स्कन्दपुराणम्	(६)	तत्पुरुषकल्पानुगतम्	८११	
१३-अग्निपुराणम्	(१)	ईशानकल्पानुगतम्	१५४००	-भववाद चत्वारि (४)
१४ भविष्यपुराणम्	(२)	अघोरकल्पानुगतम्	१४५००	
१५-मार्कण्डेयपुराणम्	(३)	शकुनिकल्पानुगतम्	९ ००	
१६-ब्रह्मवैवर्तपुराणम्	(४)	रथन्तरकल्पानुगतम्	१८ ००	
१७-गरुडपुराणम्	(१)	तार्क्ष्यकल्पानुगतम्	१९०००	आयतिवाद-एकम् (१)
१८-ब्रह्माण्डपुराणम्	(१)	भविष्यत्कल्पानुगतम्	१ ०००	-आयतनवादे-एकम् (१)

२३–निगमागमानुगत भारतीय दर्शनशास्त्र के ३६ विवर्त—

दर्शनशास्त्र भी भारतवर्ष का एक मुख्य स्मृतिशास्त्र है, जिसके कुछ एक पक्षों का तो निगम में अन्तर्भाव है एवं कुछ एक पक्ष आगमशास्त्र से सम्बद्ध हैं। गीताभूमिका–द्वितीयखण्ड के 'आत्मपरीक्षात्मक 'ख' विभाग में इन ६ पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले ३६ ही भारतीय दर्शनों का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। लोकायतिक, माध्यमिक, वैज्ञानिक, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, स्याद्वादिक, इन ६ अनीश्वरदर्शनों का निगमागमविरुद्ध अनीश्वरवाद से सम्बन्ध है। सांख्यप्रवचन, शैव, नकुलीशपाशुपत, रसेश्वरसिद्धान्त, कापालिक, वैशेषिक, इन ६ भक्तेश्वरदर्शनों का तथा निर्विशेषाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, चैतन्यवाद इन ६ अव्यक्तेश्वरदर्शनों का निगमशास्त्र में अन्तर्भाव है। सौर, शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, स्मार्त, इन ६ विभूतिकर्मेश्वरदर्शनों का निगम–आगम दोनों से सम्बन्ध है। ऊर्ध्व–पूर्व–दक्षिण–पश्चिम–उत्तर–अधः–इन ६ ही आम्नायदर्शनों का केवल आगमशास्त्र से सम्बन्ध है। याज्ञिक, मीमांसक, नैय्यायिक, व्यावहारिक, पौराणिक, इन ६ दर्शनाभासों का विभूतिकर्मेश्वरदर्शनवत् निगमागम दोनों से सम्बन्ध है। इस प्रकार ३६ दर्शनशास्त्रों में से १ दर्शनशास्त्रों का निगमागमशास्त्र में अन्तर्भाव हो रहा है। यही निगमविद्यानुगत अन्य दृष्टिकोण है। इन सबके अतिरिक्त अर्वाचीन मर्मज्ञ आचार्यों के द्वारा प्रणीत निगमानुगत निबन्धनों का भी हम निगमशास्त्र में ही अन्तर्भाव मानेंगे जो प्रायः उक्त सभी निगमग्रन्थों पर लिखे गए हैं। यदि इस दृष्टि से निगमानुगत ग्रन्थसंख्या का अन्वेषण किया जाय तो यह संख्या एक प्रकार से असंख्यातीत भाव पर विश्राम कर रही है। जिन दृष्टिकोणों का अभी तक उल्लेख हुआ है निम्न लिखित क्रमिक परिलेखों से उनका स्पष्टीकरण हो जाता है।

द्वितीयदृष्टिकोणानुगतः परिलेख —

विधि–आरण्यक–उपनिषदनुगतो ऋग्वेदः (१)	अर्थवेदः (१)	शिक्षा, छन्दः	इतिहास-पुराणानि
विधि–आरण्यक–उपनिषदनुगतो यजुर्वेदः (२)	धनुर्वेदः (२)	व्याकरणम्	न्यायः
विधि–आरण्यक–उपनिषदनुगतः सामवेदः (३)	गान्धर्ववेदः (३)	निरुक्तम्	मीमांसा
विधि आरण्यक–उपनिषदनुगतोऽथर्ववेदः (४)	आयुर्वेदः (४)	कल्पः, ज्योतिषम्	योगः
अङ्गिशास्त्रम् ४	प्रथमाङ्गशास्त्रम् ४	मध्यमाङ्गशास्त्रम् ६	उपाङ्ग-शास्त्रम् ४
निगमशास्त्राणि ४ (४×४)	निगमाङ्गशास्त्राणि १४		
निगमशास्त्रम्—१८ पञ्चाशत्—'विद्या ह्यष्टादशैव ता' इत्याद्युक्तिभिमुक्तम्			

ऋग्वेदशाखाग्रन्था	२१	(१) अर्थवेदग्रन्था	(१०) श्रौतसूत्रग्रन्थात्मका कल्पग्रन्था
यजुर्वेदशाखाग्रन्था	१०१	(२) धनुर्वेदग्रन्था	(११) गृह्यसूत्रग्रन्थात्मका कल्पग्रन्थाः
सामवेदशाखाग्रन्था	१०००	(३) गान्धर्ववेदग्रन्था	(१२) सामयाचारिकसूत्र० कल्पग्रन्था
अथर्ववेदशाखाग्रन्था	९	(४) आयुर्वेदग्रन्था	(१३) सोपपुराणानि १८ महापुराणानि
विधिभागग्रन्था	११३१	(५) शिक्षाग्रन्था	(१४) ३६ दर्शनशास्त्रेषु २४ दर्शनानि
आरण्यकभागग्रन्था	११३१	(६) व्याकरणग्रन्थाः	
उपनिषद्भागग्रन्था	११३१	(७) छन्दोग्रन्थाः	
		(८) निरुक्तग्रन्था	
श्रुतिशास्त्रम्		(९) ज्योतिषग्रन्था	
		निगमानुगत—स्मृतिशास्त्रम्	
श्रुति–स्मृतिलक्षणं–निगमशास्त्रं–निगमविद्यात्मकम्			

२४–सूर्यवीर्य्यानुगता आगमविद्या (२)–आगमशास्त्रम्—

दूसरा क्रमप्राप्त आगमशास्त्र है जिसका दुर्भाग्य से वर्त्तमान में प्रायः प्रचाराभाव होगया है। आगमशास्त्र पार्थिवशास्त्र है। अतएव सूर्य्यानुगत निगमशास्त्र की अपेक्षा यह सदा कनिष्ठ माना गया है। कहना पड़ेगा कि आगमसिद्धियों के निकल जाने से ही भारत का मनुष्यवर्ग निर्वीर्य्य बन गया है। यदि सौभाग्य से आरम्भ से भी भारतवासमात्र आगमबल प्राप्त कर लें, तो आज भी यह इतर वर्णों का नियन्ता बन सकता है। जिस प्रकार निगमविद्या के ऋक्–यजुः–साम–अथर्व–विधि–आरण्यक–उपनिषत्–भेद से ७ प्रधान पर्व हैं एवमेव यह आगमविद्या सिद्धान्त, संहिता, कल्प, यामल डामर, तन्त्र इन ६ भागों में विभक्त है। जिस प्रकार निगमशास्त्र के अवान्तर पर्व ४५,२४ भागों में विभक्त है, तथैव इस आगम शास्त्र के अवान्तर पर्व १२ भागों में विभक्त है। यही मुख्य आगमशास्त्र है। सेतिहासपुराणों का, कतिपय दर्शनों का इस आगमशास्त्र में भी अन्तर्भाव माना गया है जैसा कि निगमशास्त्रप्रसङ्ग में स्पष्ट किया जाचुका है। १८ संहिताओं में इतिहासपूर्वक प्रकीर्णक तात्त्विक विषयों का निरूपण हुआ है। १४ सिद्धान्तग्रन्थों में रसायनादि वैज्ञानिक विद्याओं का विश्लेषण हुआ है। ६ कल्पग्रन्थों में क्रमशः ऊर्ध्वाम्नायानुगत योगरहस्य (१), पूर्वाम्नायानुगत मन्त्ररहस्य (२), पश्चिमाम्नायानुगत यन्त्ररचनात्मक शाक्तमन्त्ररहस्य (३),

उत्तराम्नायानुगत पश्चिमाम्नायात्मक शाम्भवाम्नायरहस्य (४), दक्षिणाम्नायानुगत पश्चिमाम्नायात्मक देवोपासनारहस्य (५) एवं अपराम्नायानुगत अघोराम्नायरहस्य (६) इन रहस्यों का विश्लेषण हुआ है। १० भागों में विभक्त यामलग्रन्थों में वृष्टिविज्ञानादि लक्षण नैमित्तिक विज्ञानों का विश्लेषण हुआ है। ८ भागों में विभक्त डामरग्रन्थों में अभिचारप्रयोगों का स्पष्टीकरण हुआ है। एवं ६४ भागों में विभक्त तन्त्रग्रन्थों में मणि-मन्त्र-औषधि-प्रभाव विज्ञानों, एवं तत्पुरुषों का उपाहरण हुआ है।

आगमशास्त्रविभागाः (१२०)

(१) संहिताग्रन्थाः—१८—इतिहासाख्या नानाप्रकीर्णकविषया.

(२) सिद्धान्तग्रन्थाः १४—रसायनाद्यो वैज्ञानिकविषया

(३) कल्पग्रन्था—६—षडाम्नायाः

(४) यामलग्रन्थाः—१०—वृष्टिविज्ञानादि—नैमित्तिकविज्ञानानि

(५) डामरग्रन्था—८—अभिचारविद्या

(६) तन्त्रग्रन्था—६४—मणिमन्त्रौषधिविज्ञानानि

———

२५—निगमागमविद्यामूला दिव्यविद्याचतुष्टयी—

उक्त निगमागमविद्याओं के आधार पर—जिन्हें हम प्राकृतविद्या कहेंगे—भारतीय महर्षियों ने आगम-तन्त्र के आधार पर जिन चार दिव्य विद्याओं का आविष्कार किया है वह दिव्यविद्याचतुष्टयी भारतीय ज्ञानकोष की एक अद्भुत सम्पत्ति है। आध्यात्मिक मनस्तत्त्व, आध्यात्मिक ज्ञानेन्द्रियवर्ग, आध्यात्मिक कर्मेन्द्रियवर्ग, आधिभौतिक भूतवर्ग, क्रमशः इन चार तत्त्वों के आधार पर चारों के रूपों से चार दिव्य विद्याओं का विकास हुआ है जिन्हें हम क्रमशः मनोविद्या ज्ञानेन्द्रियविद्या कर्मेन्द्रियविद्या, भूतविद्या इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। प्रत्येक विद्या के अवान्तर दो दो मुख्य विभाग हैं। प्रत्येक अवान्तर विभाग आठ आठ अवान्तर विभागों में विभक्त है। इस क्रम से ४ के ६४ विभाग हो जाते हैं। यही भारतीयचतुःषष्टि दिव्यविद्यायें हैं जिनके आविर्भाव का श्रेय एकमात्र भारतवर्ष को ही प्राप्त है।

मनोविद्या १	ज्ञानेन्द्रियविद्या २	कर्मेन्द्रियविद्या ३	भूतविद्या ४
१—योगविद्या (८)	१—कलाविद्या (८)	१—आगममन्त्रविद्या (८)	१—महौषधिविद्या (८)
२—दिव्यदर्शिविद्या (८)	२—स्वप्नसिद्धिविद्या (८)	२—आगमयन्त्रविद्या (८)	२—यन्त्रविद्या (८)
१६	१६	१६	१६

६४—दिव्यविद्यापरम्परा

२६–मनोविद्यानुगत –षोडशविद्याविभाग –

१–मनोविद्या (मनोबलानुगता)—

मनःसंयमादुत्पन्ना— योगसिद्धयः अष्टौ—	इन्द्रियसंयमादुत्पन्ना दिव्यदृष्टयः अष्टौ—
(१) १–अणिमा	(९) १–अतीतानागतज्ञानं, आत्मान्तरज्ञानञ्च
(२) २–महिमा	(१०) २–दूर-परोक्षज्ञानम्
(३) ३–गरिमा	(११) ३–सर्वभूतरुतज्ञानम्
(४) ४–लघिमा	(१२) ४–मनोविज्ञानम्
(५) ५–प्राप्तिः	(१३) ५–भूगर्भज्ञानम्
(६) ६–प्राकाम्यम्	(१४) ६–भुवनज्ञानम्
(७) ७–ईशित्वम्	(१५) ७–ओषधिप्रभावज्ञानम्
(८) ८–वशित्वम्	(१६) ८–ताराज्योतिःप्रभावज्ञानम्
(१) सैषा–योगविद्या ८	(२) सैषा दिव्यदृष्टिविद्या ८

—मनोविद्या–षोडशविद्या—

—१—

२७-इन्द्रियविद्यानुगता–षोडशविद्याविभागा –

२–ज्ञानेन्द्रियविद्या (ज्ञानेन्द्रियसत्तानुगता)––

हृदयस्थमातृत्वभास्तपोबलसिद्धयोऽष्टौ––प्राणस्थमातृत्वमा देवबलसिद्धयोऽष्टौ

(१७) १–देवसाक्षात्कार-आत्मपुरुषसिद्धि	(२५) १–अघम्मूढ
(१८) २ वस्ता–हस्तनाम्नी	(२६) २–परकायप्रवेशा
(१९) ३–आत्मोत्कर्षाधायक	(२७) ३–मायाहारिणी
(२०) ४–स्वपुरुषसाक्षात्कारः	(२८) ४–मृतसंजीवनी
(२१) ५–विश्वरूपदर्शनम्	(२९) ५–स्वायुसंवर्तनी
(२२) ६–आत्मसम्मोहनम्	(३) ६–हास्यनिग्रहणी
(२३) ७–उपभुविविद्या	(३१) ७–आकृतिपरिवर्तिनी
(२४) ८–संस्कारोपधानी	(३२) ८–लिङ्गपरिवर्तिनी

(१) सैषा तपोविद्या (२) सैषा देवबलसिद्धिविद्या

८ ८

––ज्ञानेन्द्रियविद्या–षोडशविद्या––

—२—

२८–कर्मेन्द्रियविद्यानुगता षोडशविद्याविभागाः

३–कर्मेन्द्रियविद्या (कर्मेन्द्रियबलानुगता)–

निगममन्त्रबलोत्पन्ना सिद्धयोऽष्टौ

(३३) १–सर्पाकर्षिणी
(३४) २–अग्निज्वलस्तम्भिनी
(३५) ३–अदृश्यकरणी
(३६) ४–निग्रहानुग्रहणी
(३७) ५–पुत्रसंजननी–पुत्रेष्टिः
(३८) ६–आयुष्यप्या–वसुवर्षिणी
(३९) ७–आपोनप्त्रीयम्
(४०) ८–मधुविद्या

(१)–सैषा निगममन्त्रविद्या

८

आगममन्त्रबलोत्पन्ना सिद्धयोऽष्टौ

(४१) १–मारणम्
(४२) २–मोहनम्
(४३) ३–उच्चाटनम्
(४४) ४–वशीकरणम्
(४५) ५–विद्वेषणम्
(४६) ६ स्तम्भनम्
(४७) ७–आकर्षणम्
(४८) ८–सीरक्षणम्

(२)–सैषा आगममन्त्रविद्या

८

—कर्मेन्द्रियविद्या-षोडशविद्या—

२९–भूतविद्यानुगता –षोडशविद्याविभागाः

४–भूतविद्या (शिल्प-कला-विज्ञानानुगता शरीरानुगता च)–

महौषधिबलादुत्पन्ना सिद्धयोऽष्टौ

(४९) १–मृतसंजीवनीगुटिका
(५०) २–संजीवनकरणी
(५१) ३–विशल्यकरणी
(५२) ४–सावर्ण्यकरणी
(५३) ५–संधानकरणी
(५४) ६–अरिष्टभैषज्या
(५५) ७–हिम्मप्रसाविनी
(५६) ८–मधाविद्युत्

(१)–सैषा महौषधिविद्या

८

यन्त्रबलानुगताः सिद्धयोऽष्टौ

(५७) १–विम्बविमानं त्रिचक्रं रथाकारम्
(५८) २–पुष्पकविमानं हंसरथो वर्हिष्णु
(५९) ३–सौभविमानं नगराकारम्
(६०) ४–सुवर्णविमानं नौकाकारम्
(६१) ५–हर्म्यविमानं हयपुग्माकारम्
(६२) ६–पद्मविमानं पद्माकारम्
(६३) ७–अमृतवाणी विश्वरूपा
(६४) ८–शिलासम्वरणी–समरस्थरिका

(२)–सैषा यन्त्रविद्या

८

—भूतविद्या-षोडशविद्या—

२०—ब्रह्मबलानुगता निगमागमविद्याओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

जिस स्मृतिशाली युग में उक्त निगमागमविद्यायें पुष्पित पल्लवित थीं, उस युग में होने वाली घटनाएँ आज इन विद्याओं की विस्मृति से असम्भव प्रतीत हो रही हैं। विषय अप्रकृत है तथापि हम लोभसंवरण नहीं कर सकते। भारतीय महापुरुषों ने इन दिव्यविद्याओं को केवल पुस्तकों का ही विषय नहीं बनाया था अपितु—राष्ट्र अभ्युदय के लिए वे इनका समय समय पर उपयोग भी करते रहते थे। जिस राष्ट्र में ब्रह्मवीर्यानुगत इन दिव्यविद्याओं का प्रचार हो अन्य किस राष्ट्र की शक्ति है कि, वह उस राष्ट्र की ओर आँख उठा कर भी देख सके। हमारा ब्राह्मणसमाज आज योग-क्षेम जैसी सामान्य चिन्ता भी दूर करने में असमर्थ है। वह ब्राह्मणसमाज जिनके दिव्यविद्याबल के प्रभाव से बड़े बड़े साम्राज्य विकम्पित हो उठते थे। और आज !, आज वे ही भूदेव पाश्चात्य की उपाधि प्राप्त करने में अपने आपको भाग्यशाली मान रहे हैं। जो क्षत्रिय-वैश्यसमाज ब्राह्मणसमाज को पाचादि व्यवसायकर्म्म में नियुक्त रखने का पुरुषार्थ कर रहे हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि यदि ब्राह्मणसमाज का अभ्युत्थान न हुआ, तो उनका यह स्वतन्त्रतापूर्ण शासन और उनका महत् वाणिज्य स्मृतिगर्भ में विलीन ही नहीं हो जायगा अपितु वे अपना स्वरूप ही खो बैठेंगे। 'जिन्हें मूल नैव शाखा न पुष्प' न्याय उन्हें नहीं भुला देना चाहिए। यदि वास्तव में वे अपना, और अपने राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं तो उन्हें सब से पहिले ब्राह्मणसमाज का उद्बोधन करना चाहिए। एवं उन्हें साम-दामादि उपायों से विद्याविमुख अतएव मूढभाव आपन्नों को निगमागमविद्याभ्यास में प्रवृत्त करना चाहिए। अन्यथा तो सभी अन्यथा हो ही रहा है। जो शेष है, वह और अन्यथा हो जायगा। सौभाग्य से भारतीय राष्ट्र को निगमागमशास्त्र प्राप्त है। जिन दिव्यविद्याओं का उल्लेख हुआ है वे भी लोकपक्ष शास्त्रस्थ हो अभी तक सुरक्षित हैं। इस ओर ध्यान आकर्षित होने मात्र में विलम्ब है। योग्यतानुसार से सभी को आज भी व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया जा सकता है। राष्ट्र को पङ्गु बनाने वाले अकर्म्म बनाने वाले विशुद्ध भाग्यवाद के द्वारा पुरुषार्थहीन बनाने वाले अन्यथा-शास्त्र-शून्य-व्यसन को छोड़ कर जब तक राष्ट्र मानवधर्म्मप्रचारक-निगमागमशास्त्र-स्वाध्याय का अनुगामी नहीं बन जायगा, तब तक सर्वोत्तम रचनात्मक-कार्य्य करते हुए पद पद आगे बढ़ने पर भी, आत्मवृहत्समाज को मन्दिरशिखर पर विराजमान कर देने पर भी, त्रिलोकमात्र को युद्धक्षेत्र में पराभूत बना देने पर भी, एवं प्रत्यक्ष अन्यान्य प्रकाशमान उपायों से भी हमारा राष्ट्र और राष्ट्रवासी स्वप्न में भी राष्ट्र का वास्तविक-स्थायी अभ्युदय नहीं कर सकेंगे। जिन १४ विद्याओं की तालिका पूर्व में उद्धृत हुई है उनमें से आरम्भ की थोड़ी विद्याओं व्यावहारिक उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं कि। वे विद्यायें केवल वर्त्तमानयुग की भाँति पूर्व युगों में केवल पुस्तकों का ही विषय नहीं रहीं हैं। अपितु राष्ट्र-अभ्युदय के लिए इनका अवसरविशेषों में उपयोग भी होता रहा है।

१—अणिमाविद्या—

अपने पाञ्चभौतिक शरीर को यथेच्छ सूक्ष्म बना लेने की विद्या ही 'अणिमा' है। आज इस विद्या के प्रभाव से अपने शरीर को इच्छामात्र से क्षणमात्र में मच्छर के समान सूक्ष्म बना सकते हैं, इस से भी सूक्ष्माकार में परिणत कर सकते हैं। सुप्रसिद्ध वीर्य्यशाली हनुमान् इसी अणिमा के प्रभाव से मच्छराकार सूक्ष्म बन कर सुरसा के शरीर से निकलने में समर्थ हुए थे।

२–महिमाविद्या—

अपने पाञ्चभौतिक शरीर को यथेच्छ बड़ा बना लेने की विद्या ही 'महिमा' है। आप इस विद्या के प्रभाव से शरीर को इच्छामात्र से क्षणभर में पर्वताकार, इससे भी बृहत् बना सकते हैं। महाभारत के सुप्रसिद्ध योद्धा हिडिम्बागर्भज भीमपुत्र घटोत्कच ने इसी महिमा के बलपर अपने शरीर को इतना विशाल बना लिया था कि, जब कर्ण के द्वारा फैंकी गई 'एकपुरुषघातिनी शक्ति (अस्त्र) से वह मरा, तब उसके विशाल शरीर से कौरवों की एक अक्षौहिणी सेना दब मरी थी।

३–गरिमाविद्या–

अपने पाञ्चभौतिक शरीर को यथेच्छ भारी बना लेने की विद्या ही 'गरिमा' है। आप इच्छामात्र से अपना शरीर पर्वतसम भारी बना सकते हैं। लिपपर्वत की ओर जाते हुए स्वनवपुत्र भीम के बलाभिमान को दूर करने के लिए भीमाग्रजि ने इसी विद्या के प्रभाव से अपना शरीर ऐसा भारी बना लिया था कि, स्वयं भीम भी वायुसुत मारुति को बल से मस्त न कर सके थे। बलवान् भी रावणसूनु अङ्गद का पैर रावण सभा में न हटा सके थे। बालक श्रीकृष्ण के मुक्के के भार से बलिष्ठ भी चाणूरमल्ल तिलमिला उठा था।

४–लघिमाविद्या–

अपने शरीर को यथेच्छ हल्का बना देने वाली विद्या ही 'लघिमा' है। पार्थिव आकर्षण का नाम ही शरीरभार है। इसी भार से हम भूतल छोड़ने में असमर्थ रहते हैं। 'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्' (यो॰ द॰ ३।४२) सिद्धान्तानुसार शरीरतत्त्व का भारशून्य आकाशतत्त्व के साथ सन्निकर्षन–सम्बन्ध स्थापित कर देने से शरीर पार्थिवाकर्षण से विमुक्त होता हुआ रुई के समान हल्का हो जाता है। और उस दशा में वह व्यक्ति बिना किसी साधन के शरीरमात्र से पक्षी–वत् आकाश में उड़ सकता है। इसी विद्याबल पर केवल वायु के आधार पर भगवान् मारुति समुद्रोल्लङ्घन में समर्थ हुए थे। सुप्रसिद्ध भक्त नारद आकाशमार्ग से अनेक बार श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ द्वारिका में, एवं अन्यत्र आया जाया करते थे। 'चरन् दवदीयितरन्ध्रमम्बरादिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः' प्रसिद्ध है। 'खात पपातावनिं तूर्णे भक्तैरनुचरैः सह' (वा॰ रा॰ यु॰ १९) के अनुसार भक्तराज विभीषण इसी विद्या से आकाश मार्ग के द्वारा रामसेना में पहुंचे थे।

५–प्राप्तिविद्या–

जिस विद्या से अपने स्थान पर बैठे बैठे ही सैकड़ों कोस दूर रहने वाली वस्तु का अपने सामने बैठ प्रत्यक्ष कर लिया जाता है, वही 'प्राप्तिविद्या' है। चन्द्रग्रहण हो रहा है आकाश में आप देख रहे हैं–अपनी आँखों के सामने। आप भूतल पर खड़े खड़े ही पर्वत की चोटी पर लगे वृक्षों के फल–पुष्प तोड़ रहे हैं। व्यासकृपया इसी विद्या के बल पर सञ्जय धृतराष्ट्रभवन में बैठे बैठे ही युद्ध के दूरस्थदर्शन–वर्णन में समर्थ हुए थे।

६–प्राकाम्यविद्या–

पार्थिवादि आग्नेय आवरणों को निरावरणभाव में परिणत कर देने वाली यह अद्भुत विद्या ही 'प्राकाम्यविद्या' कहलाई है, जिसके द्वारा आप यथेच्छ गमन कर सकते है। सरोवर की भाँति भूमि में डुबकी

समा सकते हैं, पाषाणशिला में प्रविष्ट हो सकते हैं, पानी में बरसों रह कर भी पानी के कष्ट से बच सकते हैं अग्नि आप को जला नहीं सकता, वायु आपको स्थानच्युत नहीं कर सकता, सूखे मैदान में आप अदृश्य बन सकते हैं आकाश में परिणत हो सकते हैं कारा के बंद फाटक से बाहिर निकल सकते हैं। जब जरासन्ध के सैनिकों ने गोमन्त पर्वत पर पहुँचे हुए श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर लिया था, तो आप इसी विद्या के प्रभाव से अदृश्य बन कर द्वारिका पहुँच गए थे। दरवाजा भले ही आपके आकार से छोटा हो, आपको झुकने की आवश्यकता नहीं है। इच्छामात्र से द्वार आपके अनुरूप बड़ा हो जायगा। दृष्टिमात्र से शून्य भी घट जल से भर जायँगे। शुष्कवृक्ष दृष्टिमात्र से प्रफुल्लित हो जायगा। हाथों से मसले जाकर भी पुष्प अपना विकास न छोड़ेंगे (देखिए म० वनपर्व अ० [illegible])। सुप्रसिद्ध भारतीय सम्राट् 'नल' इस प्राकाम्यविद्या में पूर्ण निष्णात थे।

७—ईशित्वविद्या—

पूर्वोक्त अणिमादि छहों विद्याओं को अन्य विद्यामार्गों में परिणत कर देने की अलौकिक शक्ति ही ईशित्व है। अपनी लघिमा के प्रवेश से हनुमान ने द्रोणाचल को लघिमायुक्त कर दिया था। भगवान् कृष्ण ने गोवर्द्धन के भार को लघिमारूप में परिणत कर दिया था। विश्वामित्र ने राजा त्रिशङ्कु को आकाश में रोक दिया था। द्वारिका में बैठे बैठे ही कृष्ण ने हस्तिनापुर में द्रौपदी का चीर बढ़ा दिया था। अगस्त्य समुद्र का शोषण कर गए थे। मत्स्य ने जलमग्ननौका को अपने शृङ्ग पर रोक लिया था। 'अन्तर्धान-विद्या' का भी इसी विद्या में अन्तर्भाव माना गया है जिसका—'कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्' (पा० यो० ३।२१) इत्यादि योगसूत्र से विश्लेषण हुआ है।

८—वशित्वविद्या—

अपने से अधिक शक्तिशाली को वश में कर लेना ही वशित्व है। अतएव महर्षियों के तपःप्रभाव से हिंसक सिंहादि पशु ग्रामसिंह (श्वान) बने रहते हैं। श्रीकृष्ण ने इसी के प्रभाव से नागराज का वशीकरण किया था। कालबेलिए सर्प पर प्रभाव जमा लेते हैं। सुप्रसिद्ध तान्त्रिक 'वशीकरणविद्या' का भी इसी में समावेश माना गया है।



९—अतीतानागतज्ञानविद्या—

वर्तमान के अतिरिक्त भूत, और भविष्यत् की स्थितियों का वर्तमानवत् बोध करा देने वाली विद्या ही 'अतीतानागतविद्या' है। महाराज वसिष्ठ ने इसी के प्रभाव से राजा दिलीप को यह संकेत किया था कि, तुमने कामधेनु की पुत्री नन्दिनी का अपमान किया था। उसी के शाप से तुम सन्तति से वञ्चित हो। महामुनि वाल्मीकि ने इसी के द्वारा रामचरित का संकलन किया था। भगवान् वेदव्यास ने इसी के द्वारा आदिपर्व में कौरव-पाण्डवों के पूर्वजन्मों का अनुवर्णन किया है। इसप्रकार इस विद्या के प्रभाव से भूतकाल की सम्पूर्ण घटनाओं का साक्षात्कार किया जा सकता है। 'धर्मलक्षणावस्थापरिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्' (पा० यो० ३।१६) इत्यादि से इसी का विश्लेषण हुआ है। 'जन्मान्तरज्ञान' का भी इसी में अन्तर्भाव है जिसका—'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्' (पा० यो० ३।१८) सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

इसी के आधार पर भगवान् ने कहा है— अर्जुन ! तू और मैं, अनेक जन्म ले चुके हैं। परन्तु मैं जानता हूँ तू नहीं जानता'। इन अतीत ज्ञानों के अतिरिक्त कल्कि आदि के भविष्य का भी भारतीय ज्ञान प्रसिद्ध है। पुराणों में आगामी राजवंशों का वर्णन इसी के आधार पर हुआ है। कलियुग में होने वाले विपरीत धर्मों का शताब्दियों से पहिले पुराणों में जो वर्णन हुआ है उसकी सत्यता का आज हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। उदाहरण के लिए–"शूद्राश्च ब्राह्मणाचाराः ब्राह्मणाः शूद्रवृत्तयः" यह भविष्योक्ति आज सर्वात्मना चरितार्थ हो रही है। ब्राह्मणवर्ग शूद्रवत् आचरण कर रहा है, और शूद्र ब्राह्मण बनने के लिए उतावले हो गये हैं। स्पृश्य अस्पृश्य कोटि में आ रहे हैं अस्पृश्य स्पृश्य बनाए जा रहे हैं। तभी तो देश के एक महान् नेता ने किसी जिज्ञासु के इस प्रश्न का–'यदि अस्पृश्य स्पृश्य बन जायेंगे, तो ब्राह्मणों का क्या स्थान रहेगा'–उत्तर दिया था कि–'ब्राह्मण चाहेंगे, तो अस्पृश्य मान लिए जायेंगे' यह समाधान किया था। होने वाले सूर्य चन्द्रग्रहणों का परिज्ञान भी इसी विद्या से सम्भव है। सुप्रसिद्ध 'कालज्ञान' का भी इसी में अन्तर्भाव है। इसी से मृत्युज्ञान हो जाता है। 'आयापुर्ष्यविद्' का भी इसी में अन्तर्भाव है।

१०–दूरातिक्रान्तदर्शनविद्या—

जिस विद्या के प्रभाव से अपने से सर्वथा विदूर, साथ ही इन्द्रियपरोक्ष विषयों का ज्ञान हो जाता है, वही 'दूरातिक्रान्तदर्शनविद्या' कहलाती है। इसी के प्रभाव से द्वारिका में बैठे बैठे श्रीकृष्ण ने द्रौपदी के वस्त्रापहरणाक्रम का साक्षात्कार कर लिया था। इन्द्रियों से नहीं दिखाई देने वाले सूक्ष्म पदार्थों का, भित्ति–पर्वत आदि के उस पार रक्खी हुई वस्तुओं का, देशान्तर में स्थित वस्तुओं का इसप्रकार सूक्ष्म, व्यवहित विप्रकृष्ट, तीनों भावों का इससे साक्षात्कार हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म–व्यवहित–विप्रकृष्ट–शब्द भी इसके द्वारा सुन लिए जाते हैं। द्रौपदी की करुणपुकार इसी के द्वारा सुन ली गई थी। कृष्णार्जुनसंवाद रूपा गीता का संजय ने व्यासप्रदत्त इसी विद्या के द्वारा धृतराष्ट्रभवन में बैठे बैठे ही श्रवण कर लिया था 'प्रवृत्त्या लोकन्यासात् सूक्ष्म–व्यवहित–विप्रकृष्ट–ज्ञानम्' (पा यो ३।२५)–'श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्' (पा यो ३।४) इत्यादि से इसी का स्पष्टीकरण हुआ है।

११–सर्वभूतरुतज्ञानविद्या—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके'–'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' *—'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' इत्यादि श्रौत–स्मार्त सिद्धान्तों के अनुसार यच्चयावत् प्राणी व्यक्त–अव्यक्त वाणी का प्रयोग करते रहते हैं। 'ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे' रहस्यशास्त्र (दुर्गासप्तशती) के अनुसार प्राणी–मात्र में जब ज्ञानशक्ति है तो अवश्य ही उनमें शब्दशक्ति का भी समावेश मानना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान का अभिव्यञ्जन शब्द से ही सम्भव है। सिद्ध है कि पिपीलिका (चींटी) आदि जिन प्राणियों को हम निःशब्द समझते हैं, वे भी बोलते हैं। इन समस्त प्राणियों की व्यक्ताव्यक्तभाषा का परिज्ञान जिस विद्या से होता है वही 'सर्वभूतरुतज्ञानविद्या' कहलाती है। इसी के द्वारा युधिष्ठिर–विदुरादि पक्षीभाषा का उल्लेख करने में

* न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वाक्यपदी।

समर्थ हुए हैं। प्रसिद्ध है कि, भवदत्त और काश्मिरस्थ महाराज विपोलिका के शब्दों का परिज्ञान रखते थे। 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरः, तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' (पा० यो० ३।१७) सूत्र ने इसी विद्या का विश्लेषण किया है।

१२—मनोविज्ञानविद्या—

अन्य प्राणियों के मनोभावों का बोध करा देने वाली ही 'मनोविज्ञानविद्या' है। बाह्य वातावरण ही इस विद्या की प्रतिष्ठा बनता है। शरीर के चारों ओर व्याप्त भूतवायु 'वातवायु' है, इसे ही 'वातावरण (वायु का आवरण) कहा गया है। आध्यात्मिक प्राणवायु—जो रोमकूपों से बाहिर निकल कर आवरणरूप वातवायु में उच्चावचभाव उत्पन्न किया करता है—के आधार पर यह वातावरण प्रतिष्ठित है। एवं प्राणमन के आधार पर प्राणवायु प्रतिष्ठित है। मन में जैसे भी उच्चावच संकल्प–विकल्प उठते रहते हैं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राणवायु में भी वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इस मनोऽनुगत प्राणवायु के प्रत्याघात के अनुरूप ही शारीर बाह्य वायु में उच्चावच परिवर्त्तन होते रहते हैं। इस बाह्य वातावरण को पहिचान कर यह बतलाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति इस समय अमुक इच्छा कर रहा है। यही मनोविज्ञानविद्या है। मन्त्रश्रुति कहती है कि–'मनसे जो संकल्प होता है वह प्राणवायु पर आता है (प्राणवायु से भूतवायु पर)। एवं यह वातावरण ही विद्वानों को यह बतला देता है कि, हे पुरुष! इस समय तू यह चाहता है *। ब्राह्मणश्रुति ने भी इसी भाव का निम्न लिखित शब्दों में समर्थन किया है—

"मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति-इति। मनसा संकल्पयति-तत् प्राणमभिपद्यते। प्राणो वातम्। वातो देवेभ्य आचष्टे—यथा पुरुषस्य मनः"।

—शत० ब्रा० ३।४।२

'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्' (पा० यो० ३।१९) के अनुसार दूसरों की मानस-स्थिति को जान लेना ही मनोविज्ञान है। यह निश्चित है कि, मानस वृत्तियों के अनुरूप ही बाह्य वातावरण की सूक्ष्म चेष्टाओं में उच्चावच परिवर्त्तन होते रहते हैं जिनका बुद्धिमान् मनुष्य बिना भी मनोविज्ञानविद्या के केवल शरीरचेष्टाओं से भी सहसा अनुमान लगा लिया करते हैं। मन में जैसे भी विचार होते हैं आंखों, दृष्टि, नासिका, आदि शरीरव्यापारों में भी वैसे ही चेष्टाओं का उदय होता रहता है। इन शरीरचेष्टाओं से भी हम दूसरों की मानसिक स्थिति का अनुमान लगा लिया करते हैं।

१३—भूगर्भविज्ञानविद्या—

अथर्ववेदानुमोदित महौषधियों से चक्षुरिन्द्रिय का संस्कार करने पर इसमें पारदर्शकता का उदय हो जाता है। सुप्रसिद्ध अञ्जनादि ही पारदर्शकता का प्रतिबन्धक माना गया है। जिस पार्थिव पदार्थ में

---

* मनसा संकल्पयति, तद्वातमपिगच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः॥

अभिप्राण जितनी अधिक मात्रा में रहता है, वह पदार्थ उसी अनुपात से अधिकाधिक घनावयव बना रहता है। पत्थरों में अभिप्राण अधिक है। अतएव पाषाणस्तर से उस पार रक्खी हुई वस्तु हम नहीं देख सकते। काच में अभिप्राण अल्पमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतएव इसके उसपार रक्खी वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। वायु में अभिप्राण नहीं के समान है। अतएव वायु प्रायशः अत्यामच्छद बना रहता है। महौषधिविशेष के द्वारा चक्षु में अभिप्राणनिराकरणशक्ति का समावेश हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी महौषधि से संस्कृत चक्षुरिन्द्रिय से घन पदार्थों के अन्तस्तल में भी चक्षुर्व्यापार अप्रतिहत बन जाता है, एवं यही 'भूगर्भविज्ञानविद्या' है। जमीन से १ हाथ नीचे तक की वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। क्योंकि महौषधि से सम्पन्न दिव्य अञ्जन से चक्षु में इतनी ही शक्ति का समावेश होता है।

१४–भुवनज्ञानविद्या—

जिस विद्या के द्वारा सातों लोकों का साक्षात्कार हो जाता है वही भुवनज्ञानविद्या है। जिस प्रकार क्षुद्रविराट्–स्वरूप आध्यात्मिक जीवप्रजापति के शरीर का आकार अष्टाक्षर गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से आठ प्रादेशमित बनता हुआ ८४ अङ्गुल का है एवमेव महाविराट्स्वरूप आधिदैविक ईश्वरप्रजापति के शरीर का आकार भी सात वितस्तियों के सम्बन्ध से ८४ अङ्गुल का ही माना गया है। ईश्वरशरीर की ये सातों वितस्तियाँ ही क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, इन नामों से व्यवहृत हुई हैं। क्षुद्रवित्त भूपिण्ड 'भूलोक' है। भूपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर ग्रह–नक्षत्र–तारादि युक्त भूपर्यन्त लोक अन्तरिक्षलोक है, यही भुवर्लोक है। इससे आगे का पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, पञ्चविंश, त्रयस्त्रिंशत् भेद से पञ्चधा विभक्त सौर माहेन्द्रलोक तीसरा स्वर्लोक है। सूर्य और परमेष्ठी के मध्य का लोक प्राजापत्य-लोक है, यही चौथा महर्लोक है। परमेष्ठी जनलोक है, परमेष्ठी और स्वयम्भू के मध्य का लोक तपोलोक है एवं स्वयम्भू सत्यलोक है। इन्हीं तीनों लोकों की समष्टि 'ब्रह्मलोक' है *। इन सात लोकों में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–भू, ये क्रमशः सत्य–जनः–स्वः–भूः–ये चार तो सत्यलोक हैं, एवं चारों के सन्धिभागों से सम्बद्ध तपः–महः–भुवः–तीनों अमृतलोक हैं। सत्यस्वरूपात्मक ये सातों लोक ही सप्तभुवन हैं, जिनके केन्द्र में सूर्य प्रतिष्ठित है। सप्तभुवनदर्शन के लिए इसी मध्यस्थ सूर्य में चक्षुरिन्द्रिय का संयम करना पड़ता है। इस संयम से चक्षु में विश्वद्रष्टा सूर्य के विश्वदर्शनधर्म्म का समावेश हो जाता है और यही भुवनज्ञान–विद्या है, जिसका 'भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात्' (पा० यो० ३।२५।) सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

१५–ओषधिप्रभावज्ञानविद्या—

कुछ एक ओषधियों में अपूर्व दिव्यशक्तियाँ रहती हैं, जिनके स्पर्शमात्र से अद्भुत प्रभाव का अनुभव होता है। सोम, हरीतकि, विभीतक (बहेड़ा), कपित्थ अपामार्ग, आदि एकविध ओषधियों के अचिन्त्य–अद्भुत प्रभावों का अथर्ववेद में बड़े विस्तार से उपवृंहण हुआ है। इन ओषधिप्रभावों का यथावत् परिज्ञान सामान्य लौकिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके लिए एक विशेषदृष्टि अपेक्षित है, जो

---

*–मर्त्यस्त्रिभूमिको लोकः, प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

समर्थ हुए हैं। प्रसिद्ध है कि, भगवान् और काम्पिल्य महाराज पिपीलिका के शब्दों का परिज्ञान रखते थे। 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरः, तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' (पा० यो० ३।१७) सूत्र ने इसी विद्या का विश्लेषण किया है।

१२–मनोविज्ञानविद्या—

अन्य प्राणियों के मनोभावों का बोध करा देने वाली ही 'मनोविज्ञानविद्या' है। वायु वातावरण ही इस विद्या की प्रतिष्ठा बनता है। शरीर के चारों ओर व्याप्त भूतवायु 'वातवायु' है, इसे ही 'वातावरण' (वायु का आवरण) कहा गया है। आध्यात्मिक प्राणवायु–जो रोमकूपों से बाहिर निकल कर आवरणात्मक वातवायु में उत्तापचमाप उत्पन्न किया करता है–के आधार पर यह वातावरण प्रतिष्ठित है। एवं प्रज्ञानमन के आधार पर प्राणवायु प्रतिष्ठित है। मन में जैसे भी उच्चावच संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं, तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राणवायु में भी वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इस मनोऽनुगत प्राणवायु के प्रत्याघात के अनुरूप ही शारीर बाह्य वायु में उच्चावच परिवर्तन होते रहते हैं। इस बाह्य वातावरण को पहिचान कर यह बतलाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति इस समय अमुक इच्छा कर रहा है। यही मनोविज्ञानविद्या है। श्रुति कहती है कि–'मनसे जो संकल्प होता है वह प्राणवायु पर आता है (प्राणवायु से भूतवायु पर)। एवं यह वातावरण ही विद्वानों को यह बतला देता है कि हे पुरुष ! इस समय तू यह चाहता है *। ब्राह्मणश्रुति ने भी इसी भाव का निम्न लिखित शब्दों में समर्थन किया है—

"मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति-इति। मनसा संकल्पयति-तत् प्राणमभिपद्यते। प्राणो वातम्। वातो देवेभ्य आचष्टे–यथा पुरुषस्य मनः" ।

—शत० ब्रा० ३।४।२

'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्' (पा० यो० ३।१९) के अनुसार दूसरों की मानस-स्थिति को जान लेना ही मनोविज्ञान है। यह निश्चित है कि, मानस वृत्तियों के अनुरूप ही बाह्य वातावरण की सूक्ष्म चेष्टाओं में उच्चावच परिवर्तन होते रहते हैं, जिनका बुद्धिमान् मनुष्य बिना भी मनोविज्ञानविद्या के केवल शरीरचेष्टाओं से भी यथाशक्य अनुमान लगा लिया करते हैं। मन में जैसे भी विचार होते हैं आंखों, दृष्टि भृकुटि, आदि शरीरव्यापारों में भी वैसे ही चेष्टाओं का उदय होता रहता है। इन शरीरचेष्टाओं से भी हम दूसरों की मानसिक स्थिति का अनुमान लगा लिया करते हैं।

१३–भूगर्भविज्ञानविद्या—

अथर्ववेदसमर्थित महौषधियों से चक्षुरिन्द्रिय का संस्कार करने पर इनमें पारदर्शकता का उदय हो जाता है। सुप्रसिद्ध अभिमान ही पारदर्शिता का प्रतिबन्धक माना गया है। जिस पार्थिव पदार्थ में

* मनसा संकल्पयति, तत्प्राणमपिपद्यते।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥

अतिप्राय जितनी अधिक मात्रा में रहता है, वह पदार्थ उसी अनुपात से अधिकाधिक घनावयव बना रहता है। पाषाण में अतिप्राय अधिक है। अतएव पाषाणस्तर से उस पार रक्खी हुई वस्तु हम नहीं देख सकते। काच में अतिप्राय अल्पमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतएव इसके उसपार रक्खी वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। वायु में अतिप्राय नहीं के समान है। अतएव वायु प्रायशः आत्मस्वच्छ बना रहता है। महौषधिविशेष के द्वारा चक्षु में अतिप्रायनिराकरणशक्ति का समावेश हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी महौषधि से संस्कृत चक्षुरिन्द्रिय से घन पदार्थों के अभ्यन्तरतल में भी चक्षुर्व्यापार अप्रतिहत बन जाता है एवं यही 'भूगर्भविज्ञानविद्या' है। जमीन से १ हाथ नीचे तक की वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। क्योंकि महौषधि से सम्पन्न दिव्य अञ्जन से चक्षु में इतनी ही शक्ति का समावेश होता है।

१४—भुवनज्ञानविद्या—

जिस विद्या के द्वारा सातों लोकों का साक्षात्कार हो जाता है वही भुवनज्ञानविद्या है। जिस प्रकार क्षुद्रविराट्—स्वरूप आध्यात्मिक औपप्रजापति के शरीर का आकार अक्षरगायत्रीछन्द के सम्बन्ध से आठ प्रादेशमित बनता हुआ ८४ अङ्गुल का है एवमेव महाविराट्स्वरूप आधिदैविक ईश्वरप्रजापति के शरीर का आकार भी सात वितस्तियों के सम्बन्ध से ८४ अङ्गुल का ही माना गया है। ईश्वरशरीर की ये सातों वितस्तियाँ ही क्रमशः भूः भुवः, स्वः, महः जनः, तपः सत्यम्, इन नामों से व्यवहृत हुई हैं। भूपिण्ड भूपिण्ड 'भू लोक' है। भूपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर ग्रह—नक्षत्र—तारादि युक्त भूपर्यन्त लोक अन्तरिक्षलोक है, यही भुवर्लोक है। इससे आगे का पञ्चदश, सप्तदश एकविंश, पञ्चविंश, अष्टचत्वारिंशत् भेद से पञ्चधा विभक्त और माहेन्द्रलोक तीसरा स्वर्लोक है। सूर्य और परमेष्ठी के मध्य का लोक प्राजापत्य-लोक है यही चौथा महर्लोक है। परमेष्ठी जनलोक है परमेष्ठी और स्वयम्भू के मध्य का लोक तपोलोक है एवं स्वयम्भू सत्यलोक है। इन्हीं तीनों लोकों की समष्टि 'ब्राह्मलोक' है *। इन सात लोकों में स्वयम्भू-परमेष्ठी—सूर्य—भूः, ये सम्बद्ध सत्य—जनत्—स्वः—भूः—ये चार तो अपलोक हैं, एवं चारों के सन्धिभागों से सम्बद्ध तप—महः—भुवः—तीनों अन्तर्लोक हैं। कृष्णरसात्मक ये सातों लोक ही सप्तभुवन हैं, जिनके केन्द्र में सूर्य प्रतिष्ठित है। सप्तभुवनदर्शन के लिए इसी मध्यस्थ सूर्य में चक्षुरिन्द्रिय का संयम करना पड़ता है। इस संयम से चक्षु में विश्वद्रष्टा सूर्य के विश्वदर्शनधर्म का समावेश हो जाता है और यही भुवनज्ञान-विद्या है, जिसका 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (पा० यो० ३।२६) सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

१५—ओषधिप्रभावज्ञानविद्या—

कुछ एक ओषधियों में अपूर्व दिव्यशक्तियाँ रहती हैं, जिनके स्पर्शमात्र से अद्भुत प्रभाव का अनुभव होता है। सोम, हरीतकि, विभीतक (बहेड़ा), अतीक अपामार्ग, आदि एवंविध ओषधियों के अचिन्त्य—अद्भुत प्रभावों का अथर्ववेद में बड़े विस्तार से उपवर्णन हुआ है। इन ओषधिप्रभावों का यथावत् परिज्ञान सामान्य लौकिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके लिए एक विशेषदृष्टि अपेक्षित है, जो

*—भूर्भुवस्त्रिभूमिको लोकः, प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रस्य स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

समर्थ हुए हैं। प्रसिद्ध है कि, भगवान् और कापिलेय महाराज पिपीलिका के शब्दों का परिज्ञान रखते थे। 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरः, तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' (पा० यो० ३।१७) सूत्र ने इसी विद्या का विश्लेषण किया है।

१२—मनोविज्ञानविद्या—

अन्य प्राणियों के मनोभावों का बोध करा देने वाली ही 'मनोविज्ञानविद्या' है। बाह्य वातावरण ही इस विद्या की प्रतिष्ठा बनता है। शरीर के चारों ओर व्याप्त भूतवायु 'बाह्यवायु' है, इसे ही 'वातावरण' (वायु का आवरण) कहा गया है। आध्यात्मिक प्राणवायु—जो रोमकूपों से बाहिर निकल कर आवरणरूप बाह्यवायु में उच्चावचभाव उत्पन्न किया करता है—के आधार पर यह वातावरण प्रतिष्ठित है। एवं प्रज्ञानमन के आधार पर प्राणवायु प्रतिष्ठित है। मन में जैसे भी उच्चावच संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं, तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राणवायु में भी वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इस मनोऽनुगत प्राणवायु के घातप्रतिघात के अनुरूप ही शरीर बाह्य वायु में उच्चावच परिवर्त्तन होते रहते हैं। इस बाह्य वातावरण को पहिचान कर यह बतलाया जा सकता है कि, अमुक व्यक्ति इस समय अमुक इच्छा कर रहा है। यही मनोविज्ञानविद्या है। मन्त्रश्रुति कहती है कि—'मनसे जो संकल्प होता है वह प्राणवायु पर आता है (प्राणवायु से भूतवायु पर)। एवं यह वातावरण ही विद्वानों को यह बतला देता है कि, हे पुरुष! इस समय तू यह चाहता है *। ब्राह्मणश्रुति ने भी इसी भाव का निम्न लिखित शब्दों में समर्थन किया है—

"मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति-इति। मनसा सङ्कल्पयति-तत् प्राणमपिपद्यते। प्राणो वातम्। वातो देवेभ्य आचष्टे—यथा पुरुषस्य मनः"।

—शत० ब्रा० ३।४।१

'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्' (पा० यो० ३।१९) के अनुसार दूसरों की मानस-स्थिति को जान लेना ही मनोविज्ञान है। यह निश्चित है कि मानस वृत्तियों के अनुरूप ही बाह्य वातावरण की तुलना चेष्टाओं में उच्चावच परिवर्तन होते रहते हैं, जिनका बुद्धिमान् मनुष्य बिना भी मनोविज्ञानविद्या के केवल शरीरचेष्टाओं से भी यथावत् अनुमान लगा लिया करते हैं। मन में जैसे भी विचार होते हैं, वाणी, दृष्टि, गति, आदि शरीरव्यापारों में भी वैसे ही चेष्टाओं का उदय होता रहता है। इन शरीरचेष्टाओं से भी हम दूसरों की मानसिक स्थिति का अनुमान लगा लिया करते हैं।

१३—भूगर्भविज्ञानविद्या—

अथर्ववेदसमर्थित महौषधियों से चक्षुरिन्द्रिय का संस्कार करने पर इसमें पारदर्शिता का उदय हो जाता है। सुप्रसिद्ध अभिमाया ही पारदर्शिता का प्रतिबन्धक माना गया है। जिस पार्थिव पदार्थ में

---

* मनसा संकल्पयति, तत्प्राणमपिगच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः॥

प्रतिप्राण जितनी अधिक मात्रा में रहता है, वह पदार्थ उसी अनुपात से अधिकाधिक घनात्मक बना रहता है। पाषाण में प्रतिप्राण अधिक है। अतएव पाषाणस्तर से उस पार रक्खी हुई वस्तु हम नहीं देख सकते। काच में प्रतिप्राण अल्पमात्रा में प्रतिष्ठित है। अतएव इसके उसपार रक्खी वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। वायु में प्रतिप्राण नहीं के समान है। अतएव वायु प्राणवत् अत्यमन्तच्छ बना रहता है। महौषधिविशेष के द्वारा चक्षु में प्रतिप्राणनिराकरणशक्ति का समावेश हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी महौषधि से संस्कृत चक्षुरिन्द्रिय से घन पदार्थों के अन्तस्तल में भी चक्षुर्व्यापार अप्रतिहत बन जाता है एवं यही 'भूगर्भविज्ञानविद्या' है। जमीन से १ हाथ नीचे तक की वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है। क्योंकि महौषधि से सम्पन्न दिव्य अञ्जन से चक्षु में इतनी ही शक्ति का समावेश होता है।

१४–भुवनज्ञानविद्या—

जिस विद्या के द्वारा सातों लोकों का साक्षात्कार हो जाता है वही भुवनज्ञानविद्या है। जिस प्रकार क्षुद्रविराट्–स्वरूप आध्यात्मिक जीवप्रजापति के शरीर का आकार अक्षाक्षर गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से आठ बारे(?) अभिमित बनता हुआ ८४ अङ्गुल का है एवमेव महाविराटस्वरूप आधिदैविक ईश्वरप्रजापति के शरीर का आकार भी सात वितस्तियों के सम्बन्ध से ८४ अङ्गुल का ही माना गया है। ईश्वरशरीर की वे सातों वितस्तियाँ ही क्रमशः भूः भुवः, स्वः महः जनत्, तपः सत्यम् इन नामों से व्यवहृत हुई हैं। सुप्रसिद्ध भूपिण्ड 'भूलोक' है। भूपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर ग्रह–नक्षत्र–तारादि युक्त भु व स्वर्यन्त लोक अन्तरिक्षलोक है, यही भुवर्लोक है। इससे आगे का पञ्चदश, सप्तदश एकविंश, पञ्चविंश, अष्टचत्वारिंशत् भेद से पञ्चधा विभक्त सौर माहेन्द्रलोक तीसरा स्वर्लोक है। सूर्य और परमेष्ठी के मध्य का लोक प्राजापत्य-लोक है यही चौथा महर्लोक है। परमेष्ठी जनल्लोक है परमेष्ठी और स्वयम्भू के मध्य का लोक तपोलोक है एवं स्वयम्भू सत्यलोक है। इन्हीं तीनों लोकों की समष्टि 'ब्रह्मलोक' है *। इन सात लोकों में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–भूः, से सम्बद्ध सत्य–जनत्–स्वः–भू–ये चार तो सत्यलोक हैं, एवं चारों के सन्धिभागों से सम्बद्ध तप–मह–भुवः–तीनों भृगुलोक हैं। अमृतत्वात्मक ये सातों लोक ही सप्तभुवन हैं, जिनके केन्द्र में सूर्य प्रतिष्ठित है। सप्तभुवनदर्शन के लिए इसी मध्यस्थ सूर्य में चक्षुरिन्द्रिय का संयम करना पड़ता है। इस संयम से चक्षु में विश्वद्रष्टा सूर्य के विश्वदर्शनधर्म का समावेश हो जाता है और यही भुवनज्ञान–विद्या है जिसका 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (पा० यो० ३।२६) सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है।

१५–ओषधिप्रभावज्ञानविद्या—

कुछ एक ओषधियों में अपूर्व दिव्यशक्तियाँ रहती हैं जिनके स्पर्शमात्र से अद्भुत प्रभाव का अनुभव होता है। सोम हरीतकि, गिलोय (गिलोय), कलिहारी अपामार्ग, आदि एवंविध ओषधियों के अचिन्त्य–अद्भुत प्रभावों का अथर्ववेद में बड़े विस्तार से उपवर्णन हुआ है। इन ओषधिप्रभावों का यथावत् परिज्ञान सामान्य लौकिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। इसके लिए एक विशेषदृष्टि अपेक्षित है, जो

---

*–भूर्ग्निरग्निभूमिको लोकः, प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रस्य स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

'दिव्यदृष्टि' नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसी से अतीतभविष्यत् परिज्ञात होते हैं, जिस दिव्यदृष्टि का भगवान् भर्तृहरि ने निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण किया है—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥१॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥

—वाक्यपदीय ६।३।१०।६।

१६—ताराज्योतिःप्रभावज्ञानविद्या—

प्राणतत्त्व ही प्राणी-जगत् की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–सूत्र प्रभामण्डल यह प्राणतत्त्व ही 'ऋषि' कहलाता है। आधिदैविक, आध्यात्मिक, आदि विविध भेदानुगत इन ऋषिप्राणों में से 'चैत्रनाक्षत्र ऋषिप्राण' का सृष्टिकर्म में अपना प्रधान हस्तक्षेप रहता है। आकाश में प्रतिष्ठित ज्योतिःस्वरूपात्मक नक्षत्र विभिन्न प्राणों की राशि है। तत्तन्नक्षत्र-द्वारा अध्यात्म में तत्तत् प्राणों का समावेश होता रहता है। चान्द्रस्थिति के अनुपात से इन नाक्षत्रिक प्राणों के भोग में तारतम्य होता रहता है। इन नक्षत्रप्राणों के आधिक्य प्रभावों का परिज्ञान जिस विद्या से सम्भव है वही 'ताराज्योतिः प्रभावज्ञानविद्या' है जिसका स्वरूप चन्द्रतारतम्य पर निर्भर है जैसाकि—'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्' (पा यो ३।२६।) इस सूत्र से प्रमाणित है।

—१६—

सैषा—ब्रह्मवीर्य्यानुगता निगमागमविद्या—ब्राह्मणविद्या प्रथमा

—१—

२१—क्षत्रवीर्य्यानुगता शस्त्रास्त्रविद्याओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

क्षत्रवीर्य्यानुगता विद्या भी निगमागममूला ही है जिसके अस्त्रविद्या शस्त्रविद्या भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। मन्त्रात्मिका प्रहार्यविद्या अस्त्रविद्या है भूतात्मिका प्रहार्यविद्या शस्त्रविद्या है। अस्त्रायुध मन्त्रप्रधान हैं, एवं इनके मन्त्रायुध मन्त्रयुक्त शस्त्र भेद से दो विवर्त्त हैं। विशुद्ध मन्त्रों की शक्ति से काम लेना मन्त्रायुध विभाग है। मन्त्र से युक्त भूतास्त्रों से काम लेना मन्त्रयुक्त शस्त्रविभाग है। 'हुङ्कारेणैव तं भस्म सा चकाराम्बिका ततः' यह मन्त्रात्मक आयुध का उदाहरण है। अपने स्थान पर बैठे बैठे ही मन्त्रबल से शत्रुसंहार कर डालना ही मन्त्रात्मक आयुध का कर्म है। हनुमती संग्राम के अवसर पर इन्द्रजित् ब्रह्म के द्वारा सम्मोहनास्त्र प्रक्षेप से रामलक्ष्मण का मोहनिद्रा में निमग्न हो जाना मन्त्रयुक्त भूतायुध का उदाहरण है। बिना मन्त्र के केवल शस्त्रों से उपयोग लेना शस्त्रविद्या से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार ब्रह्मवीर्य्यानुगता ब्राह्मणविद्या १४ भागों में विभक्त है एवमेव क्षत्रवीर्य्यानुगता क्षत्रियविद्या से सम्बद्ध धनुर्विद्या के भी १४ ही विभाग माने गए हैं जो विद्याचतुर्दशी 'दिव्यास्त्रविद्या' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन १४ अस्त्र विद्याओं के दैवास्त्रविद्या, ब्रह्मास्त्रविद्या, मैत्रास्त्रविद्या, कामास्त्रविद्या, भेद से मुख्य चार भेद-विभाग माने गए हैं। चारों १६–१६ अवान्तर भागों में विभक्त हैं। सम्पूर्ण ६४ विभाग हो जाते हैं।

श्रीमद्वाल्मीकिरामायण में दण्डचक्रादि ५ दिव्यास्त्रों का प्रकारान्तर से उल्लेख हुआ है। वहीं इन पचासों दिव्यास्त्रों के दिव्यास्त्रसंहारों का स्पष्टीकरण हुआ है। दिव्यास्त्रों की शक्ति को रोकने वाला अस्त्र ही 'दिव्यास्त्रसंहार' कहलाता है। यह अस्त्रविद्या केवल भारतवर्ष की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। लौकिक शस्त्र विद्या के प्रधान १८ विभाग माने गए हैं। नीचे लिखी तालिकाओं से इन अस्त्र–शस्त्र–विद्याओं के नाममात्र से परिचय हो जाता है—

दिव्यास्त्राणि—६४

१–दैवास्त्र (१६)	२–यौनास्त्र (१६)	३–भौमास्त्र (१६)	४–कर्मास्त्र (१६)
१–ब्रह्मशिरोऽस्त्र	१–स्कन्दास्त्र	१–मकरास्त्र	१–दमनास्त्र
२–ब्रह्मास्त्र	२–प्रमथास्त्र	२–सौपर्णास्त्र	२–स्तम्भनास्त्र
३–पाशुपतास्त्र	३–वैनायकास्त्र	३–भास्करास्त्र	३–कम्पनास्त्र
४–वैष्णवास्त्र	४–कूष्माण्डास्त्र	४–चक्रास्त्र	४–जृम्भणास्त्र
५–वारुणास्त्र	५–गणास्त्र	५–मानवास्त्र	५–जम्भकास्त्र
६–नारायणास्त्र	६–गान्धर्वास्त्र	६–पाषाणास्त्र	६–मूर्च्छनास्त्र
७–ऐन्द्रास्त्र	७–राक्षसास्त्र	७–अस्तकूटास्त्र	७–निमीलनास्त्र
८–प्राजापत्यास्त्र	८–पैशाचास्त्र	८–वामकास्त्र	८–कल्पास्त्र
९–आग्नेयास्त्र	९–मौनास्त्र	९–ऐषीकास्त्र	९–प्रस्वापनास्त्र
१ –वायव्यास्त्र	१०–वैतालास्त्र	१०–पत्रास्त्र	१०–ज्वरास्त्र
११–कौबेरास्त्र	११–शरभास्त्र	११–कालिकास्त्र	११–भ्रामकास्त्र
१२–राजन्यास्त्र	१२–वार्षास्त्र	१२–औदुम्बरास्त्र	१२ अचेतनास्त्र
१३–त्वाष्ट्रास्त्र	१३–शाबरास्त्र	१३–राजसास्त्र	१३–मोहनास्त्र
१४–कालास्त्र	१४–भैरवास्त्र	१४–हैमनास्त्र	१४–वैपुल्यास्त्र
१५ –याम्यास्त्र	१५–मायास्त्र	१५–गुल्मास्त्र	१५–तिमिरास्त्र
१६–वानयास्त्र	१६–नागास्त्र	१६–शौरास्त्र	१६–तमसास्त्र
१६	१६	१६	१६
६४			

दिव्यास्त्राणि-५० (वाल्मीकिमत)

१-दण्डचक्रास्त्र (१)
२-धर्मचक्रास्त्र (२)
१ ३-कालचक्रास्त्र (३)
४-विष्णुचक्रास्त्र (४)
५-ऐन्द्रचक्रास्त्र (५)

६-धर्मपाशास्त्र (१)
२ ७-कालपाशास्त्र (२)
८-वारुणपाशास्त्र (३)

---

३ ९-शुष्काशन्यस्त्र (१)
१०-आर्द्राशन्यस्त्र (२)

---

४ ११-मोदकीगदास्त्र (१)
१२-शिखरीगदास्त्र (२)

---

५ १३-कङ्कालमुसलकपालास्त्र (१)
१४-कमठकिङ्किणीकमस्त्र (२)

१५-वज्रास्त्र (१)
१६-शैवास्त्र (२)
१७-शूलवरास्त्र (३)
६ १८-ब्रह्मशिरोऽस्त्र (४)
१९-ऐषीकास्त्र (५)
२०-ब्रह्मास्त्र (६)

२१-पिनाकास्त्र (१)
२२-नारायणास्त्र (२)
७ २३-आग्नेयास्त्र (३)
२४-वायव्यास्त्र (४)
२५-हयशीर्षास्त्र (५)
२६-क्रौञ्चास्त्र (६)

२७-विद्याधरास्त्र (१)
२८-गान्धर्वास्त्र (२)
२९-प्रस्वापनास्त्र (३)
३०-प्रशमनास्त्र (४)
३१-सौम्यास्त्र (५)
३२-वर्षणास्त्र (६)
३३-शोषणास्त्र (७)
३४-सन्तापनास्त्र (८)
३५-विलापनास्त्र (९)
३६-मादनास्त्र (१०)
३७-कन्दर्पास्त्र (११)
३८-मानवास्त्र (१२)
= ३९-पिशाचास्त्र (१३)
४०-तामसास्त्र (१४)
४१-सौमनास्त्र (१५)
४२-संवर्तास्त्र (१६)
४३-मौसलास्त्र (१७)
४४-सत्यास्त्र (१८)
४५-मायास्त्र (१९)
४६-सौरास्त्र (२०)
४७-साम्यास्त्र (२१)
४८-त्वाष्ट्रास्त्र (२२)
४९-दारुणास्त्र (२३)
५ -मानवास्त्र (२४)

(द्रष्टव्य वा०रा० बा० २७ सर्ग)

दिव्यास्त्रसंहारा — ५०

१—सत्यवान्
२—सत्यकीर्ति
३—धृष्ट
४—प्रतीहार
५—अपराङ्मुख
६—अवाङ्मुख
७—लक्ष्य
८—अलक्ष्य
९—दृढनाभ
१०—सुनाभ
११—दशाक्ष
१२—शतवक्त्र
१३—दशशीर्ष
१४—शतोदर
१५—पद्मनाभ
१६—महानाभ
१७—दुन्दुनाभ
१८—स्वनाभ
१९—ज्योतिष
२०—शकुन
२१—नैरास्य
२२—विमल
२३—योगंधर
२४—विनिद्र
२५—दैत्य
२६—प्रमथन
२७—शुचिबाहु
२८—महाबाहु
२९—निष्कलि
३०—विरुचि
३१—सार्चिमाली
३२—धृतिमाली
३३—वृत्तिमान
३४—रुचिर
३५—पित्र्य
३६—सौमनस
३७—विधूत
३८—मकर
३९—करवीर
४०—रति
४१—धन
४२—धान्य
४३—कामरूप
४४—कामरुचि
४५—मोह
४६—आवरण
४७—जृम्भक
४८—सर्पनाथ
४९—पन्थान
५०—वरुण

लौकिक-युद्धशस्त्राणि—१८

संख्या	संस्कृत	पर्याय	हिन्दी
१—	खड्ग-सधर्मा	कृपाणः, ऋष्टिः असिः करवालः,	तलवार, खाँडा
२—	धनु-सशरम्	चापः धन्वा,	तीर—कमान
३—	परिघः-कालदण्डः	परिघातिनी	लाठी
४—	पट्टिशम्	* * *	बेत
५—	तोमरः	सर्वला	गुरगुज
६—	कुन्तः	प्रासः	भाला बल्लम
७—	खेटः	ईली करवाल	कटारी गुप्ती
८—	गदा	* * *	गुर्ज
९—	परशु	परस्वधः स्वधितिः, कुठारः	फरसा, कुठार, कुल्हाड़ी
१०—	चक्रम्	* * *	चक्र
११—	शूलम्	* * *	शूल
१२—	शक्ति	कासूः	बर्छी
१३—	मुद्गरः कूटमुद्गरः	घनः द्रुघणः	मुगदर
१४—	पाशः	* * *	फाँस
१५—	हलमुसलम्	* * *	हल-मूसल
१६—	भिन्दिपालः	सृगः	गोफिया-ढेलवाँस
१७—	छुरिका	शस्त्री असिपुत्री	छुरी-चाकू
१८—	शतघ्नी-भुशुण्डी	* * *	तोप-बन्दूक

सैषा—चत्वारिंशदनुगता—अस्त्रशस्त्रविद्या क्षत्रियविद्या द्वितीया

ब्राह्मणविद्यायां—प्रतिष्ठिता

—२—

३२–विड्वीर्य्यानुगता कृषिवाणिज्यविद्या का दिग्दर्शन—

विड्वीर्य्यानुगता कृषिविद्या तथा वाणिज्यविद्या का भी उक्त विद्याद्वयी की भाँति बहुविस्तार है। कृषि की मूलप्रतिष्ठा क्योंकि गोवंश है। अतएव गीताचार्य्य ने 'कृषि–गोरक्ष–वाणिज्यं, वैश्यकर्म्मस्वभावजम्' इत्यादि रूप से तीनों को वैश्यवर्ण के सहजकर्म्म मान लिए हैं। इन तीनों कर्म्मों के भेद से वैश्यवर्ण के कृषिबल, गोबल, वाणिज्यबल, ये तीन विभाग हो जाते हैं। विशुद्ध खेती करने वालों का समुदाय पृथक् है। गोवंशपालक समुदाय पृथक् है। एवं कृषि से उत्पन्न अन्नसम्पत्ति तथा शूद्रसमाज के द्वारा निर्मित शिल्प–कलाओं के यातायात की व्यवस्था करने वाला वैश्यसमाज पृथक् है। फलपाकान्त ओषधिवर्ग वनस्पतिवर्ग, कृषि के ये दो मुख्य विभाग हैं। गोरक्षाकर्म्म पशुरक्षामात्र का उपलक्षण है जिसमें अश्वविद्या, हस्तिविद्या आदि विभिन्न पशुविद्याओं का भी अन्तर्भाव है। रत्नपरीक्षा धातुपधातुपरीक्षा, रसोपरसपरीक्षा विषोपविषपरीक्षा, खनिजद्रव्यपरीक्षा, शिल्पकलानुगत वस्तुक्रयविक्रय, आदि विभाग वाणिज्यविद्या में अन्तर्भूत हैं। दुःख है कि, ब्रह्म–क्षत्रवत् विड्वीर्य्य ने भी आज अपने इस स्वधर्म्म–लक्षण स्वकर्म्म का परित्याग कर दिया है। कारण पूर्व में बतलाया जा चुका है। वासनातृष्णा की पूर्ति का एकमात्र साधन वाणिज्य है। अतः वैश्यवर्ण का प्रधान लक्ष्य केवल वाणिज्य ही रह गया है। वाणिज्य भी कैसा ?, जिसका स्वरूपनिर्म्माण होता है शूद्रवर्ण के द्वारा और इस का लाभ उठाता है केवल वैश्यसमाज। इसी अनुचित लाभ–लालसा ने कृषिप्रधान भारत की कृषि का तथा गोवंश का ह्रास किया है। शूद्रसमाज के द्वारा सम्पादित कृषिधन भी आज इसी वैश्यसमाज के अनुग्रह से वाणिज्य की वस्तु बन गया है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्त्तमान संकटकाल है। जिनके पास अन्नकोष सुरक्षित है वे अपनी वासुलालसा के कारण उसे महर्घतम बना रहे हैं। फलस्वरूप वासुवञ्चित सामान्यवर्ग योगक्षेमचिन्ता से भी त्राण नहीं पा रहा। परिश्रम करता है–सामान्यवर्ग, लाभ उठाते हैं–वासुपति (पूँजीपति)। कारण–ब्रह्म–क्षत्र की निर्बलता। शासन अवश्य है। परन्तु वर्त्तमान शास्ता भी तो वासुपरायण ही हैं। फिर वह समानधर्म्मा वैश्यवर्ग का नियन्त्रण करे तो कैसे करे, एवं क्यों करे। इसप्रकार ब्रह्म–क्षत्र के अभिभव से आज विड्वीर्य्यानुगता वैश्यविद्या भी अभिभूत ही हो रही है। यही योगक्षेमालम्बनभूता कृषि–वाणिज्यविद्या का संक्षिप्त दुःखपूर्ण इतिवृत्त है।

सैषा-विड्वीर्य्यानुगता-कृषिवाणिज्यविद्या-वैश्यविद्या-तृतीया

क्षत्रविद्यायां-प्रतिष्ठिता

—३—

३३–शूद्रवर्णानुगता शिल्पकलाविद्या का दिग्दर्शन—

कृषि–वाणिज्य ही अर्थचिन्तानिवृत्ति का मुख्य द्वार है। जब यही परास्त बन गया तो देश की शिल्प–कला कैसे, किस आधार पर प्रतिष्ठित रह सकती थी। जिन जिन शिल्प–कलाओं ने भारत का मस्तक उन्नत किया था ?, इस प्रश्न का भी अधिकार आज हमारे हाथ से छिन चुका है। प्रजापति कश्यप के प्राकृतिक शिल्प की तुलना करने वाले भारतीयों के जिस शिल्प ने किसी युग में समस्त विश्व को अपने अनुरूप, मनोहर तथा उपयोगि शिल्पों से चमत्कृत किया था वही भारतीय शिल्प वासुलोलुपों के अनुग्रह से

आज स्मृतिगर्भ में विलीन हो रहा है । इतर विद्याओं की भाँति ६४ कलाएँ भी आज पुस्तकों का ही विषय बन गई हैं । सम्पन्न वास्तु-पुरुषों श्रेष्ठियों के जो भवन किसी युग में भारतीय शिल्पकलावैभव का यशोगान करते थे आज वे ही भवन पश्चिमी-परिग्रह पर अश्रुमोचन कर रहे हैं । भवनकला की शिल्पकला का उदाहरण क्या अन्यत्र उपलब्ध हो सकता है ? । दक्षिण भारत के मन्दिरों की शिल्प-कला के साथ क्या वर्त्तमानयुग की शिल्पकलाएँ समता कर सकती हैं ? । क्या आज वैसे शिल्पी, वैसे कलाविद् नहीं रहे ? । नहीं । परन्तु उन्हें किसी ओर से प्रोत्साहन नहीं मिल रहा । एक चने की दाल पर दो हाथियों का युद्ध अङ्कित करने वाले एक चाँवल के दोनों पुटों पर 'यतो धर्म्मस्ततो जयः'-'महाराजाधिराज चिरायु रहें' लिख डालने वाले इमली के पत्ते से केवल सीकों से छिद्ररहित पंखा हाथ से बनाने वाले आश्चर्य मूर्त्तियों का निर्म्माण करने वाले पश्चिमी देशों के बड़े से बड़े कारखाने में निर्म्मित वस्तु की समप्रतिमा से प्रतिकृति बनाने वाले शिल्प-कलाविद् आज भी विद्यमान हैं । परन्तु वे बिचारे कहीं से एक 'धन्यवाद' शब्द भी प्राप्त करने में असमर्थ हैं । इसीलिए वह परम्परा क्रमशः उच्छिन्न होती जा रही है । शिल्प-कला का स्थान आज यन्त्रों ने (मशीनरी ने) छीन लिया है । यन्त्रों के द्वारा मानवीय जीवन में कहाँ तक विकास हुआ है ? इस प्रश्न का समाधान तो यन्त्राविष्कारक ही भलीभाँति कर सकते हैं । हमारा कहना तो इस सम्बन्ध में ऐसा मन्तव्य है कि, यन्त्रों की प्रचुरता, पैरवसमाज की पदलोलुपता, प्रतीच्य-नीति का अन्धानुकरण, आदि कारणों से ही भारतीय शिल्प कला का ह्रास हुआ एवं होता जा रहा है । ह्रास किस सीमा पर पहुँच चुका है ?, प्रश्न का समाधान इसी से हो जाता है-कि, परिवार के उपयोग में आने वाले सुई-डोरों तक के लिए हमें समुद्रपार की प्रतीक्षा करनी पड़ती है । भारतीय नाट्यकला नृत्यकला वाद्यकला, गीतकला आदि आदि अध्यात्मक ललितकलाओं पर भी पश्चिमी वाद्यनृत्यकलाओं ने अपना एकाधि-पत्य इसलिए स्थापित कर लिया है कि शिल्प-कलात्मक भारतीय शासक स्वयं आत्मस्वरूप खो बैठे हैं ।

पार्थिव 'पूषा' प्राण ही भौतिक 'पुष्टि' का आधार माना गया है, जिसका पाञ्चभौतिक शरीर से ही प्रधान सम्बन्ध है । अतएव पूषाप्राणनिबन्धन पार्थिव-भौतिक-शिल्प तथा कला-वर्गों को मनोनिर्म्मित शरीर-प्रधान ही माना जायगा । निष्कर्षतः आत्मा, बुद्धि, मन शरीर, मानव के इन चार आध्यात्मिक पर्वों में से शिल्प-कला का सम्बन्ध मनोगर्भित शरीर से ही माना जायगा । आत्मगर्भिता बुद्धि जहाँ मानव की 'संस्कृति' का आधार है वहाँ मनोनिर्म्मित शरीर मानव की 'सभ्यता' का आधार माना गया है । संस्कृति जहाँ शाश्वत है सर्वकालव्यापिनी । है वहाँ सभ्यता युगधर्म्मानुपात से परिवर्त्तनशीला है । और संस्कृति, तथा सभ्यता में से यही वह महान् विभेद है जिसे न समझने के कारण ही वर्त्तमान युग का सभ्य मानव शिल्प-कलादि को 'संस्कृति' नाम से उद्घोषित करते रहने की मयावहा भ्रान्ति का अनुगामी बना हुआ है ।

युगधर्म्मों के सञ्चालक शासक माने गए हैं जैसाकि-'राजा कालस्य कारणम्' (महाभारत) इत्यादि से स्पष्ट है । यही कारण है कि शासक की मानसिक-शारीरिक वृत्तियों के अनुपात से युग-युग में शरीरकल्पना मन-शरीरनिबन्धना शिल्प-कलानुगता सभ्यताओं में परिवर्त्तन होता रहता है जबकि आत्मबुद्धिमूला संस्कृति इन युगधर्म्मानुगत शासनव्यवस्थानिबन्धन परिवर्त्तन से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बनी रहती है भवननिर्म्माणशिल्प काष्ठशिल्प वस्त्रनिर्म्माणशिल्प स्थूलवस्त्रशिल्प चर्म्मपरिधाननिर्म्माणशिल्प, केशप्रसाधनशिल्प ये ६ शिल्प के प्रधान पर्व्व माने गए हैं जिनमें शरीरानुगत मनोभाव का ही प्राधान्य है । इन पर्व्वों के शिल्प के अवान्तर भेद असंख्य हैं ।

तक्षा च, तन्तुवायश्च, नापितो, रजकस्तथा ।
पञ्चमश्चर्म्मकारश्च, कारव , शिल्पिनो मता ॥

इत्यादि सूक्ति के अनुसार लकड़ी की कारीगरी का अधिष्ठाता ही तक्षा है, जिसे 'रथकार' (खाती) कहा गया गया है । वस्त्रनिर्म्माता ही 'तन्तुवाय' है जो लोकभाषा में 'जुलाहा' कहलाया है । केशविन्यासशिल्प का अधिष्ठाता ही–'नापित' (नाई) कहलाया है । निर्म्मित वस्त्रों को कौशल प्रदान करने वाला शिल्पी 'रजक' (धोबी) कहलाया है । चमड़े के शिल्प का अधिष्ठाता 'चर्म्मकार' (चमार) कहलाया है । एवं सर्वविध वास्तु (मकान) शिल्प का अधिष्ठाता 'कारु' कहलाया है, जिसे 'कुम्भकार–प्रजापति–कारीगर–शिल्पी–विश्वकर्म्मा आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है ।

आज जिसे सभ्यता की भाषा में 'पुरातत्त्व' कहा जाता है, उसका तत्पोवर्धित शिल्प में ही अन्तर्भाव है जो पुरातत्त्व शासनव्यवस्थानिबन्धना–युगधर्म्मानुगता–सभ्यता का ही परिचायक माना गया है । यह पुन: संस्मरणीय है कि, इत्थंभूत पुरातत्त्व का एवं तदनुबन्धी शिल्पों का हमारी संस्कृति से कोई अव्यवहित सम्बन्ध नहीं है । संस्कृति का परिचायक तो एकमात्र निगमागमपुराणादि मौलिक साहित्य ही माना गया है जिसमें प्रधानरूप से आत्मस्वरूपानुगत तत्त्वों का उपबृंहण हुआ है । यही स्थिति शिल्पानुबन्धिनी कला के सम्बन्ध में विचरित है जिसके नृत्य–गीत–वाद्य–चित्र–आदि कतिपय भेदों का पन्थापोह आज 'संस्कृति' के नाम से सर्वत्र प्रतिध्वनित है । मनस्तत्त्व के अधिष्ठाता सोममय चन्द्रमा के गन्धर्वप्राण तथा अप्सराप्राण से सम्बन्ध रखने वाली इन कलाओं का भी स्वतः मनश्शरीरभावों से ही सम्बन्ध अभिव्यक्त हो रहा है जिसका मन:शरीरप्रधान बालवृन्द–नारीवृन्द–तथा चतुर्थ वर्ग से ही प्रधान सम्बन्ध प्रकृतिसिद्ध है । निःसीम दुर्भाग्य है आज इस संस्कृतिनिष्ठ भारतवर्ष का कि यह भी एकमात्र परदर्शनानुगता मनश्शरीरनिबन्धना सर्वनाशप्रवर्तिनी भावुकता के आवेश में आकर नृत्य–गीत–वाद्यादि को ही अपना महान् ! सांस्कृतिक प्रचार ! मानने मनवाने के व्यामोह का अनुगामी बनता जा रहा है । अहो दुरधिगम्येयं कालमहिमा ।

भारतीय चतुर्विध किंवा सार्वभौमविध शिल्प एवं चतुष्षष्टिविध (६४) कला, दोनों का ही आज की शिल्प–कलाओं से समतुलन भी सम्भव नहीं है । उदाहरण के लिए केवल भारतीय प्रासादनिर्म्माणशिल्प का ही लक्ष्य बनाइए । जिस दिन से 'सीमेन्ट' नामधारी भयावह वस्तु का भारतीय प्रासादशिल्प में समावेश हुआ है, देश का सम्पूर्ण शिल्पकौशल ही उच्छिन्न हो गया है । प्रासादनिर्म्माणोपयोगी सब प्रकार के परिग्रह भारत में प्रचुरता से विद्यमान हैं । अतीत भारत ने अपने घर के इन्हीं सुलभ प्राकृतिक पार्थिव मृत्–परिग्रहों के द्वारा कैसे सुदृढ़तम कलापूर्ण–महिमागरिमामय शिल्पों का निर्म्माण किया था, जिनकी तुलना में आज के सीमेन्ट तत्त्व ! से विनिर्म्मित शिल्पों का कुछ भी तो महत्त्व नहीं है । वे साधन यद्यपि आज भी सुलभ हैं । और सौभाग्य से उन्हीं प्राकृतिक परिग्रहों से शिल्पनिर्म्माता शिल्पी भी यथावधि तो विद्यमान हैं । किन्तु सीमेन्ट के प्रलोभन ने इस समस्या को ऐसी जटिल बना दिया है कि, मानों इस दुर्लभ पदार्थ के बिना हम जीवित ही नहीं रह सकते । कैसी विडम्बना है ?, और कैसा है यह हमारा भावुकतापूर्ण व्यामोहन ! यही योगक्षेमसम्पन्नभूत भारतीय शिल्पकलाविद्या का दुःखपूर्ण इतिवृत्त है, जो कलानामधेयविशेष के द्वारा उपरत हो रहा है ।

ता वा एताः शैवतन्त्रोक्ताश्चतुःषष्टिकलाः (६४)—

१—गीतम् (१)
२—वाद्यम् (२)
३—नृत्यम् (३)
४—नाट्यम् (४)
५—आलेख्यम् (५)
६—विशेषकच्छेद्यम् (६)
७—तण्डुलकुसुमबलिविकाराः (७)
८—पुष्पास्तरणम् (८)
९—दशनवसनाङ्गरागाः (९)
१०—मणिभूमिकाकर्म (१०)
११—शयनरचनम् (११)
१२—उदकवाद्यम् (१२)
१३—उदकघाताः (१३)
१४—चित्रायोगाः (१४)
१५—माल्यग्रथनविकल्पाः (१५)
१६—शेखरापीडयोजनम् (१६)
१७—नेपथ्ययोगाः (१)
१८—कर्णपत्रभङ्गाः (२)
१९—गन्धयुक्तिः (३)
२०—भूषणयोजनम् (४)
२१—ऐन्द्रजालम् (५)
२२—कौचुमारयोगाः (६)
२३—हस्तलाघवम् (७)
२४—चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रिया (८)
२५—पानकरसरागासवयोजनम् (९)
२६—सूचीवापकर्माणि (१०)
२७—सूत्रक्रीडा (११)
२८—प्रहेलिका (१२)
२९—प्रतिमाला (१३)
३०—दुर्वाचकयोगाः (१४)
३१—पुस्तकवाचनम् (१५)
३२—नाटिकाख्यायिकादर्शनम् (१६)
३३—काव्यसमस्यापूरणम् (१)
३४—पट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः (२)
३५—तर्ककर्माणि (३)
३६—तक्षणम् (४)
३७—वास्तुविद्या (५)
३८—रूप्यरत्नपरीक्षा (६)
३९—धातुवादः (७)
४०—मणिरागज्ञानम् (८)
४१—आकरज्ञानम् (९)
४२—वृक्षायुर्वेदयोगाः (१०)
४३—मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः (११)
४४—शुकसारिकाप्रलापनम् (१२)
४५—उत्सादनम् (१३)
४६—केशमार्जनकौशलम् (१४)
४७—अक्षरमुष्टिकाकथनम् (१५)
४८—म्लेच्छितकविकल्पाः (१६)
४९—देशभाषाज्ञानम् (१)
५०—पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम् (२)
५१—यन्त्रमातृका (३)
५२—धारणमातृका (४)

५३–सम्पाट्यम् (५)
५४–मानसीकाव्यक्रिया (६)
५५–क्रियाविकल्पाः (७)
५६–छलितकयोगाः (८)
५७–अभिधानकोषच्छन्दोज्ञानम् (९)
५८–वस्त्रगोपनानि (१०)
५९–द्यूतविशेषः (११)
६०–आकर्षक्रीडा (१२)
६१–बालकक्रीडनकानि (१३)
६२–वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानम् (१४)
६३–वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम् (१५)
६४–वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानम् (१६)

सैषा-शूद्रवर्णानुगता शिल्पकलाविद्या-शूद्रविद्या चतुर्थी
विद्विद्यायां प्रतिष्ठिता

—४—

३४–'विद्या'–स्वरूपपरिचयोपक्रम—

प्रत्यक्षदृष्टि से विचार करने पर भारतीय 'विद्या' के सम्बन्ध में पूर्वप्रदर्शित चतुर्विद्याविभाग ही हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। 'विद्या' का क्या स्वरूपपरिचय ? प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मानुगता निगमागमविद्या, क्षत्रानुगता अस्त्रशस्त्रविद्या विडनुगता कृषिवाणिज्यविद्या एवं शूद्रानुगता शिल्पकलाविद्या, ये चार विद्याएँ ही हमारे सामने आती है जिनका शब्दात्मक शास्त्र से ही सम्बन्ध है। गीता की ज्ञानचतुष्टयी से सम्बन्ध रखने वाली विद्याचतुष्टयी का क्या इन चारों शास्त्रात्मिका विद्याओं में से किसी के साथ सम्बन्ध है ?, अथवा तो गीता का 'विद्या' पदार्थ चारों से कोई विभिन्न तत्त्व है ?, इस प्रश्न के समाधान से पहिले 'विद्या' शब्द के वैज्ञानिक स्वरूप का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा।

३५–पराव्यय, एवं अवरक्षर से संश्लिष्ट परावर अक्षर की परा-अपरा-विद्याएँ—

पारस्थानीय 'पर' नामक ज्ञानमूर्त्ति अव्यय के सम्बन्ध से सर्वज्ञ बने हुए, अवरस्थानीय 'अवर' नामक 'अर्थमूर्त्ति' क्षर के सम्बन्ध से 'सर्ववित्' बने हुए, एवं मध्यस्थानीय अतएव अवर क्षर की अपेक्षा पर होने के कारण तथा पर अव्यय से अवरकोटि में प्रतिष्ठित होने के कारण 'परावर' नाम से प्रसिद्ध सर्वशक्तिमय अक्षर को ही मौलिक विश्व का निमित्तकारण माना गया है। यह अक्षरज्ञान अव्यय के सम्बन्ध से 'परज्ञान' है एवं क्षर के सम्बन्ध से अपरज्ञान है। अक्षरतत्त्व पराव्यय की पराप्रकृति कहलाई है एवं क्षरतत्त्व अव्यय की अपराप्रकृति कहलाई है। पराप्रकृतिरूप अक्षर प्रकृति है, अपराप्रकृतिरूप क्षर प्रकृतिविकृति है एवं 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इस सांख्यसिद्धान्तानुसार अव्ययतत्त्व पुरुष कहलाया है। अव्ययपुरुष की पराप्रकृति (अक्षरज्ञान) ही–'पराविद्या' है एवं अपराप्रकृति (क्षरज्ञान) ही 'अपराविद्या' है। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इस गीतासिद्धान्तानुसार मौलिक विश्व क्षरात्मक है मर्त्य है। फलतः मर्त्य नामरूपकर्मात्मक विश्वविद्या ही 'अपराविद्या' है। मौलिक विश्वाधारभूत अक्षर अमृत है। यही नामरूपकर्मातीता

ता वा एता शैवतन्त्रोक्ता चतुःषष्टिकलाः (६४)—

१–गीतम् (१)
२–वाद्यम् (२)
३–नृत्यम् (३)
४–नाट्यम् (४)
५–आलेख्यम् (५)
६–विशेषकच्छेद्यम् (६)
७–तण्डुलकुसुमबलिविकाराः (७)
८–पुष्पास्तरणम् (८)
९–दशनवसनाङ्गरागाः (९)
१०–मणिभूमिकाकर्म (१०)
११–शयनरचनम् (११)
१२–उदकवाद्यम् (१२)
१३–उदकघातः (१३)
१४–चित्रायोगाः (१४)
१५–माल्यग्रथनविकल्पाः (१५)
१६–शेखरापीडयोजनम् (१६)
१७–नेपथ्ययोगाः (१)
१८–कर्णपत्रभङ्गाः (२)
१९–गन्धयुक्तिः (३)
२०–भूषणयोजनम् (४)
२१–ऐन्द्रजालम् (५)
२२–कौचुमारयोगाः (६)
२३–हस्तलाघवम् (७)
२४–चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रिया (८)
२५–पानकरसरागासवयोजनम् (९)
२६–सूचीवापकर्माणि (१०)
२७–सूत्रक्रीडा (११)
२८–प्रहेलिका (१२)
२९–प्रतिमाला (१३)
३०–दुर्वाचकयोगाः (१४)
३१–पुस्तकवाचनम् (१५)
३२–नाटिकाख्यायिकादर्शनम् (१६)
३३–काव्यसमस्यापूरणम् (१)
३४–पट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः (२)
३५–तर्कुकर्माणि (३)
३६–तक्षणम् (४)
३७–वास्तुविद्या (५)
३८–रूप्यरत्नपरीक्षा (६)
३९–धातुवादः (७)
४०–मणिरागज्ञानम् (८)
४१–आकरज्ञानम् (९)
४२–वृक्षायुर्वेदयोगाः (१०)
४३–मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः (११)
४४–शुकसारिकाप्रलापनम् (१२)
४५–उत्सादनम् (१३)
४६–केशमार्जनकौशलम् (१४)
४७–अक्षरमुष्टिकाकथनम् (१५)
४८–म्लेच्छितकविकल्पाः (१६)
४९–देशभाषाज्ञानम् (१)
५०–पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम् (२)
५१–यन्त्रमातृका (३)
५२–धारणमातृका (४)

५३–सम्पाठ्यम्	(५)	५९–द्यूतविशेष	(११)
५४–मानसीकाव्यक्रिया	(६)	६०–आकर्षक्रीडा	(१२)
५५–क्रियाविकल्पा	(७)	६१–बालकक्रीडनकानि	(१३)
५६–छलितकयोगा	(८)	६२–वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१४)
५७–अभिधानकोषच्छन्दोज्ञानम्	(९)	६३–वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१५)
५८–वस्त्रगोपनानि	(१०)	६४–वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	(१६)

सैषा-शूद्रवर्णानुगता शिल्पकलाविद्या-शूद्रविद्या चतुर्थी विड्विद्यायां प्रतिष्ठिता

—४—

३४–'विद्या'–स्वरूपपरिचयोपक्रम—

प्रत्यक्षदृष्टि से विचार करने पर भारतीय 'विद्या' के सम्बन्ध में पूर्वप्रदर्शित चतुर्विद्याविभाग ही हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। 'विद्या' का क्या स्वरूपपरिचय है, प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मानुगता निगमागमविद्या, क्षत्रानुगता अस्त्रशस्त्रविद्या, विडनुगता कृषिवाणिज्यविद्या, एवं शूद्रानुगता शिल्पकलाविद्या ये चार विद्यायें ही हमारे सामने आती हैं जिनका शब्दात्मक शास्त्र से ही सम्बन्ध है। गीता की ब्रह्मचतुष्टयी से सम्बन्ध रखने वाली विद्याचतुष्टयी का क्या इन चारों शास्त्रसिद्ध विद्याओं में से किसी के साथ सम्बन्ध है ?, अथवा तो गीता का 'विद्या' पदार्थ चारों से कोई विभिन्न तत्त्व है ?, इस प्रश्न के समाधान से पहिले 'विद्या' शब्द के वैज्ञानिक स्वरूप का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा।

३५–पराव्यय, एवं अवरक्षर से संश्लिष्ट परावर अक्षर की परा-अपरा-विद्याएँ—

ज्ञानस्थानीय 'पर' नामक ज्ञानमूर्त्ति अव्यय के सम्बन्ध से सर्वज्ञ बने हुए, क्रियास्थानीय 'अवर' नामक 'कर्म्ममूर्त्ति' क्षर के सम्बन्ध से 'सर्ववित्' बने हुए, एवं मध्यस्थानीय अतएव अवर क्षर की अपेक्षा पर होने के कारण तथा पर अव्यय से अवरकोटि में प्रतिष्ठित होने के कारण 'परावर' नाम से प्रसिद्ध सर्वशक्तिमय अक्षर को ही मौलिक विश्व का निमित्तकारण माना गया है। यह अक्षरज्ञान अव्यय के सम्बन्ध से 'परज्ञान' है एवं क्षर के सम्बन्ध से अवरज्ञान है। अक्षरतत्त्व परब्रह्म अव्यय की पराप्रकृति कहलाई है एवं क्षरतत्त्व अव्यय की अपराप्रकृति कहलाई है। पराप्रकृतिरूप अक्षर प्रकृति है, अपराप्रकृतिरूप क्षर प्रकृतिविकृति है एवं 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इस सांख्यसिद्धान्तानुसार अव्ययतत्त्व पुरुष कहलाता है। अव्ययपुरुष की पराप्रकृति (अक्षरज्ञान) ही–'पराविद्या' है एवं अपराप्रकृति (क्षरज्ञान) ही 'अपराविद्या' है। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इस गीतासिद्धान्तानुसार भौतिक विश्व क्षरात्मक है, मर्त्य है। अतएव मर्त्य नामरूपकर्म्माभिन्न विश्वविद्या ही 'अपराविद्या' है। भौतिक विश्वाधारभूत अक्षर अमृत है। यही नामरूपकर्म्मातीत

ब्रह्मविद्या है, यही पराविद्या है। पराविद्या सामान्यसत्तात्मिका बनती हुई प्रत्यस्तमितभेदशून्या महाविद्या है जिसे वैज्ञानिकों ने 'ब्रह्मज्ञान' * नाम से व्यवहृत किया है। अपराविद्या विशिष्टसत्तात्मिका बनती हुई केवल 'विद्या' है जिसे वैज्ञानिकों ने 'नामज्ञान' नाम से व्यवहृत किया है। सामान्यसत्तात्मिका ब्रह्मविद्या (पराविद्या) विद्यात्मिका विद्या है एवं विशिष्टसत्तात्मिका कर्मविद्या (अपराविद्या) अविद्यात्मिका विद्या है। मर्त्यभाव ही अविद्या है। अतएव मृत्युप्रधाना अपरा कर्मविद्या को अवश्य ही अविद्यात्मिका विद्या कहा जा सकता है। अमृतभाव ही विद्या है अतएव अमृतप्रधाना परा ब्रह्मविद्या को अवश्य ही विद्यात्मिका विद्या कहा जा सकता है। अविद्यात्मक क्षर, विद्यात्मक अक्षर दोनों का शास्ता विद्या-अविद्यातीत (अक्षर-क्षरातीत) वही सीमा अव्ययपुरुष है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥
—श्वे० उप० ५।

उक्त मीमांसा से निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञान का नाम विद्या है। एवं यह विद्या ब्रह्मज्ञान-नामज्ञान भेद से पराविद्यात्मिका अमृतप्रधाना आत्मविद्या तथा अपराविद्यात्मिका मृत्युप्रधाना विश्वविद्या इन दो मार्गों में विभक्त है। धर्मांशदृष्टि का प्रश्न चल रहा है। अतएव पूर्व में बतलाई गई निगमागमादि चारों विद्याओं को हम 'कर्मविद्या' किंवा विश्वविद्या ही कहेंगे जो विश्वविद्या शब्दब्रह्मात्मप्रथमा बनती हुई केवल 'नामविद्या' मानी गई है। सुप्रसिद्ध वेदवित् नारद जब ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा लेकर महर्षि सनत्कुमार की सेवा में उपस्थित होते हैं, तो उनसे सर्वप्रथम प्रश्न किया जाता है कि, नारद! तुम पढ़ने तो आए हो। परन्तु पहिले यह बतलाओ कि अबतक तुमने क्या पढ़ा है? । उत्तर में नारद जिन अधीत विद्याओं की नामावली सनत्कुमार के सम्मुख उपस्थित करते हैं उनके सम्बन्ध में सनत्कुमार का यही निर्णय रहता है कि, नारद! अभी तुमने 'नामविद्या' का ही अध्ययन किया है जिस उत्तर का तात्पर्य है—'विश्वविद्या' ×। नामविद्यात्मिका अपरा

---

* प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

× "अधीहि भगव! इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः"। तं होवाच-यद्वेत्थ तेन मा (मां) उपसीद। ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति। स होवाच—'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं चतुर्थम्। इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्। पित्र्यं-राशिं, दैवं-निधिं, वाकोवाक्यं, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्यां,—एतद्भगवोऽध्येमि। सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित्। * *। तं होवाच (सनत्कुमारः)—यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा—नामैवैतत्।"

विश्वविद्या की अधिष्ठात्री अक्षरात्मिका आत्मविद्या है, जिसे 'पराविद्या' कहा गया है, एवं जिसका मूल आगमशास्त्रोक्ता महाविद्या में निगूढ़ माना गया है। इसप्रकार अक्षर–क्षर के भेद से विद्यातत्त्व 'परा–अपरा' इन दो मार्गों में विभक्त हो रहा है जिन दोनों विभागों का निम्न लिखित श्रुति से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है—

> "तस्मै स होवाच—'द्वे विद्ये वेदितव्ये'—इति ह स्म ब्रह्मविदो वदन्ति 'परा' चैव, 'अपरा' च। तत्र अपरा–'ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते"—मुण्डकोपनिषत् १।१।४-५,।

३६–अपराविद्यात्मिका क्षरविद्या के तीन विवर्त—

पराविद्यात्मिका अक्षरविद्या की चर्चा थोड़ी देर के लिए छोड़िए एवं पहिले अपराविद्यात्मिका क्षरविद्या का समन्वय कीजिए। क्षरविद्या को विद्या न कह कर 'क्षरज्ञान' कहना ठीक होगा जिसका अर्थ है–'क्षरज्ञान'। 'क्षरज्ञान' का तात्पर्य्य है 'विश्वज्ञान'। विश्वज्ञान मृत्युमायापन्न है एवं–'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति' के अनुसार मृत्युलक्षण नानात्वनिबन्धन है। अतएव मृत्युनिबन्धन विश्वज्ञान को ज्ञान न कह कर 'विज्ञान' (विविधं ज्ञानं विज्ञानम्) शब्द से व्यवहृत करना अधिक समीचीन होगा। विविध–ज्ञानात्मिका, अतएव विज्ञानात्मिका इस क्षरविद्या की मूलप्रतिष्ठा वह अक्षरविद्या है जो अपने एकत्व–निबन्धन अमृतभाव से विशुद्ध ज्ञानैकरसात्मिका है। ज्ञानविद्या अक्षरविद्या है विज्ञानविद्या क्षरविद्या है। ज्ञानविद्या आधार है यही विश्वमूल है। विज्ञानविद्या आधेय है यही विश्व है। मायादि परिग्रहों के सम्बन्ध से ज्ञानविद्या ही अपने अविकृतपरिणामभाव से विज्ञानविद्यास्वरूप में परिणत हो रही है। 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' सिद्धान्तानुसार वह एक ज्ञान ही नाना ज्ञानमार्गों में परिणत हो रहा है 'अक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते'। ज्ञानात्मक अक्षर से समुद्भूत विज्ञानभाव के यों तो असंख्य विवर्त्त हैं। परन्तु उन सबका संग्रह तीन विवर्त्तों में हो जाता है। सर्वविध विविध ज्ञानों का अन्तर्भाव तीन विवर्त्तों में माना जा सकता है। वे ही तीनों विवर्त विज्ञानभाषा में क्रमशः–'विद्या'–'ब्रह्म'–'वेद' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। उपाधिदृष्ट्या तीनों पृथक् रहते हुए भी निरुपाधिदृष्ट्या तीनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। इसी आधार पर तीनों के सम्बन्ध में–'त्रयी विद्या'–'त्रयं ब्रह्म'–'त्रयो वेदाः' यह अभेदव्यवहार प्रतिष्ठित है।

३७–वेद–ब्रह्म–विद्या–त्मिका क्षरविद्या, एवं तद्रूपा निगमागमविद्या—

विश्वज्ञान इन्हीं तीन भागों में विभक्त है। शब्द, विषय, संस्कार, ये तीन ही ज्ञानसाधन हैं। हमें तत्तद्विषयवाचक तत्तच्छब्दों के सुनने से तत्तद्विषयों का तात्कालिक ज्ञान होता है। वह शब्दावच्छिन्न तात्–कालिक ज्ञान ही 'वेद' है। जिस प्रकार शब्द सुनने से हमें शब्दवाच्य विषयों का ज्ञान होता है, एवमेव विषयों के देखने से भी उन विषयों का तात्कालिक ज्ञान होता है। यह विषयावच्छिन्न तात्कालिक ज्ञान ही 'ब्रह्म' है। शब्द सुने से उत्पन्न होने वाला एवं विषय देखने से उत्पन्न होने वाला तात्कालिक ज्ञान मनोराज्य की प्रबलता से कालान्तर में संस्काररूप में परिणत होता हुआ दृढमूल बन जाता है। यही 'विशेषज्ञान' कहलाया

है। संस्कारावच्छिन्न यह विशेष स्थायी ज्ञान ही 'विद्या' कहलाता है । संस्कारात्मक विद्याज्ञान ही व्यवहार की प्रतिष्ठा बनता है। देख-सुन कर जिन्हें स्मरण नहीं रहता, वे विद्याशून्य हैं। इसप्रकार शब्दश्रवणावच्छिन्न ज्ञान विषयदर्शनावच्छिन्न ज्ञान, एवं संस्कारावच्छिन्न ज्ञानभेद से विश्वविज्ञानात्मक ज्ञान के 'वेद-ब्रह्म-विद्या' ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। शब्दविद्या वेदविद्या है विषयविद्या ब्रह्मविद्या है संस्कारविद्या विद्याविद्या विद्या है। एवं इन तीनों औपाधिक विद्याओं (ज्ञानों) का पूर्वोक्त 'नामविद्या' में ही अन्तर्भाव है, जिसके चतुर्भेदभिन्न चारों विवर्त्तों का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

३८—गीतानुगता अव्ययविद्या, एवं लोकानुगता परविद्यात्रयी—

आत्मज्ञानात्मिका पराविद्या आधिदैविक तत्त्व है एवं विश्वविज्ञानात्मिका अपराविद्या आधिभौतिक तत्त्व है। विशुद्ध पराविद्या निर्गुणब्रह्म है, विशुद्ध अपराविद्या अविकार-भाजन-विश्व है। इन्हीं दो विभिन्न तत्त्वों के आधार पर लोकोक्त सुप्रसिद्ध सांख्य तथा योग-निष्ठाओं का आविर्भाव हुआ है। पराविद्यात्मक, कर्म्मभाव से विमुक्त, विशुद्ध ज्ञानब्रह्म (पराविद्या) सांख्यनिष्ठात्मक ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा माना गया है, जिसमें साध्य भी ज्ञान है तथा साधन भी ज्ञान है। अपराविद्यात्मक, विशुद्ध विश्वकर्म्म (अपराविद्या) योगनिष्ठात्मक कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा माना गया है जिसमें साध्य भी कर्म्म है तथा साधन भी कर्म्म है। इन दोनों निष्ठाओं के माध्यम से एक तीसरी उभयनिष्ठा और प्रादुर्भूत हो गई है, जिसमें पराविद्या का ज्ञान साध्यरूप से तथा अपराविद्या का कर्म्म साधनरूप से समाविष्ट माना गया है। यही उभयनिष्ठा 'भक्तियोग' नाम से व्यवहृत हुई है। यही भावनात्मिका योगत्रयी है, जिसका भक्तिरहस्य-पूर्वखण्ड में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कहना है कि शास्त्रों में अव्यक्त-व्यक्तरूप से उपवर्णित परा अपरा-विद्याओं के आधार पर ही लोकप्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों की कल्पना हुई है। परापरविद्याओं की मूलप्रतिष्ठारूपा अव्ययविद्या एवं अव्ययविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित बुद्धियोग इनके प्रचार-प्रसार का तथा आविर्भाव का एकमात्र श्रेय भगवान् गीताचार्य्य को ही प्राप्त है। अव्ययपुरुष स्वयं गूढ़तमा है अप्रत्यक्ष है। अतएव तद्विद्या तथा तद्योग सर्वसाधारण की दृष्टि में निगूढ़ ही बना हुआ है। यही कारण है कि, लोकनिष्ठात्रयी के अनुगामी व्याख्याताओं की दृष्टि में गीता की यह अव्ययविद्या एवं तदनुगत बुद्धियोग, दोनों अप्रत्यक्ष ही बने रह गए, और इसप्रकार अव्ययविद्यात्मक गीताशास्त्र इतर शास्त्रवत् केवल साम्प्रदायिक शास्त्र ही बना रह गया एवं रह गया केवल लोकप्रचलित योगत्रयी का समर्थक। इसी भ्रान्ति के उन्मूलन के लिए विद्याविश्लेषण करना आवश्यक समझा गया जिसका निष्कर्ष यही है कि अव्ययानुगता सर्वविद्या अव्ययविद्या है तदनुगत योग बुद्धियोग है। पराविद्या अक्षरविद्या है तदनुगत योग ज्ञानयोग है। अपराविद्या क्षरविद्या है तदनुगत योग कर्म्मयोग है। परापरविद्या अक्षरक्षरविद्या है तदनुगत योग भक्तियोग है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर ही गीतास्था विद्याविभूति, तथा योगविभूति का समन्वय करना चाहिए।

- परात्परात्मविद्या—अव्ययविद्या—तदनुगतो बुद्धियोगः (सर्वात्मभावलक्षणः) }—गीताविद्या

१—पराविद्या——अक्षरविद्या——तदनुगतो ज्ञानयोगः (आधिदैविकसाधनलक्षणः)
२—परापरविद्या——अक्षरक्षरविद्या—तदनुगतो भक्तियोगः (आधिदैविक आधिभौतिक साधनरूपः) }—लोकविद्या
३—अपराविद्या——क्षरविद्या——तदनुगतः कर्म्मयोगः (आधिभौतिकसाधनलक्षणः)

३९–गीताशास्त्र की अव्ययविद्या, एवं तदनुगता योगचतुष्टयी—

अपरात्मिका परविद्या का, परात्मिका अक्षरविद्या का, एवं तदनुगता लोकनिष्ठात्रयी का स्वरूपपरिचय कराया गया। अब दो शब्दों में गीताशास्त्राभिमता अव्ययविद्या का भी स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लीजिए। अव्ययब्रह्म यथाशक्त् भूतसर्गों में समरूप से अवस्थित है, जिसके लिए–'समं सर्वेषु भूतेषु'–'अविभक्तं विभक्तेषु'–'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' इत्यादि वचन उद्धृत हुए हैं। सर्वत्र समरूपेण अवस्थिति ही अव्ययविद्या का साक्षात्कार है, जिसका मूलसूत्र है–'रागद्वेष' की आत्यन्तिक निवृत्ति, एवं वैराग्य की यथार्थप्राप्ति। राग में भी आत्मक्षेत्र विषम बना रहता है द्वेष में भी आत्मा भारी रहता है। अतएव रागद्वेषयुक्त मन विषम बना रहता है। मनकी विषमता बुद्धि को विषमा बनाए रहती है। विषमबुद्धि अव्ययात्मा के अनुकूल योग से वञ्चित रहती हुई बुद्धियोग से बहिष्कृत रह जाती है। यही कर्म्मभोक्ता जीवात्मा के दुःख का मूल कारण है। परविद्या अक्षरविद्या, अपने प्रातिस्विकरूप से त्रिगुणभावापन्ना बनती हुई जहाँ दुःख का कारण है वहाँ ये ही विद्याएँ अव्ययविद्यापारेण उपयोग में आती हुई त्रिगुणातीता बन कर शाश्वत आनन्दविकास का कारण बन जाती हैं। व्यवहार हो परविद्या का, अथवा अक्षरविद्या का, किन्तु दृष्टि रहे अव्ययविद्या पर, यही मानव का परम पुरुषार्थ है। समदर्शन अव्ययविद्यामूलक है, विषमवर्त्तन परविद्यामूलक है। विषमव्यवहारसापेक्ष विषमर्य्यादाओं की सुव्यवस्था के लिए जहाँ वर्णाश्रमानुगता परविद्या का अनुगमन नीत्या आवश्यकरूप से अनिवार्य्य मानती हुई हमारे सम्मुख ऐहिक सुखसम्पत्ति का सामाज्य उपस्थित करती है, वहाँ साथ साथ त्रिगुणासक्ति से आत्मतत्त्व को बचाने के लिए समदर्शनात्मिका अव्ययविद्या को लक्ष्य बनाने के लिए आग्रह करती हुई हमारे सम्मुख पारलौकिक निःश्रेयससम्पत्ति का सामाज्य उपस्थित कर रही है। केवल परविद्या से ऐहिक सुख मिल सकता है परन्तु आत्मशान्ति नहीं। केवल अक्षरविद्या से आत्मशान्ति का उद्रेक होसकता है, परन्तु ऐहिक सुख का नहीं। परापरविद्या से आत्मशान्ति भी मिल सकती है, ऐहिक सुख भी प्राप्त होसकता है, परन्तु लोकाभ्युदय सम्भव नहीं। इन तीनों विभूतियों का संग्रह तो अव्ययदृष्टि पर ही अवलम्बित है। विषय-स्पष्टीकरण के लिए यों देखिए कि, परविद्यात्मक कर्म्मकर्मयोग से लोकवैभव मिल सकता है, परन्तु आत्म शान्ति नहीं। अक्षरविद्यात्मक ज्ञानयोग से आत्मशान्ति का कालान्तर में उदय हो सकता है परन्तु लोकवैभव नहीं। परापरविद्यात्मक भक्तियोग से आत्मा में प्रसादगुण का उदय भी सम्भव है, वैभवप्राप्ति भी सुलभ है परन्तु लोकाभ्युदय नहीं। अवश्य ही हमें इन तीनों लोकनिष्ठाओं में से किसी भी एक के अनुगमन करते समय किसी ऐसे तत्त्व को आधार बना लेना पड़ेगा जो तीनों में समरूप से व्याप्त हो। वही सुप्रसिद्धा अव्ययविद्या है। इसके समभाव को आधार बना कर परविद्यात्मक कर्म्मयोग में प्रवृत्त होने वाले का कर्म्म निष्काम बनता हुआ आत्मशान्ति का लोकसंग्रह का तथा ऐहिक सुख का तीनों का साधक बन जाता है। यही अवस्था अव्ययविद्यायुक्त परापरविद्यात्मक भक्तियोग की होजाती है। कर्म्मयोगापेक्षया इसमें ईश्वरानुरक्तिप्राधान्य के कारण आत्मप्रसाद का विशेष उत्कर्ष रहता है। अतएव कर्म्मयोगापेक्षया इसकी स्थानप्रतिष्ठा उच्च मानी गई है। यही स्थिति अव्ययविद्यायुक्त अक्षरविद्यात्मक ज्ञानयोग की होजाती है। इसमें लोकसंग्रह का अभाव है, साथ ही–'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' के अनुसार मार्ग भी कर्म्म–भक्त्यपेक्षया दुस्तर है। आत्मप्रसाद भी अव्यक्त रहता है। अत. योगत्रयी की स्थानतुलना में इसे कर्म्मयोग की अपेक्षा भी निम्न मान लिया गया है।

स्व-क्षेत्र परक्षेत्र, भेद से अव्ययविद्या दो मार्गों में विभक्त रहती है। स्वक्षेत्रानुगता-स्वतन्त्रा अव्ययविद्या विविध पथ है, तदनुगता विद्या विशुद्ध अव्ययविद्या है। यहाँ रागद्वेषात्मिका आसक्ति का आत्यन्तिक अभाव है। अतएव इस विशुद्ध अव्ययविद्या को 'वैराग्यविद्या' कहा गया है, एवं तदनुगत बुद्धियोग 'वैराग्यबुद्धियोग' कहलाता है। अक्षर क्षरक्षेत्र अव्यय के लिए परक्षेत्र है। परक्षेत्रानुगता अव्ययविद्या के अक्षरविद्या, अक्षरक्षरविद्या, क्षरविद्या इन तीन परक्षेत्रों के भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं। अक्षरविद्यात्मक परक्षेत्र में युक्ता अव्ययविद्या अक्षरात्मिका अव्ययविद्या है। यहाँ अविद्या का अभाव है। अतएव इस अक्षरात्मिका अव्ययविद्या को 'ज्ञानविद्या' कहा गया है, एवं तदनुगत ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग 'ज्ञानबुद्धियोग' कहलाता है। अक्षर-क्षरविद्यात्मक परक्षेत्र में युक्ता अव्ययविद्या अक्षर-क्षरात्मिका अव्ययविद्या है। यहाँ अस्मिता का अभाव है। अतएव इस अक्षरक्षरात्मिका अव्ययविद्या को 'ऐश्वर्यविद्या' कहा गया है, एवं तदनुगत भक्तियोगात्मक बुद्धियोग 'ऐश्वर्यबुद्धियोग' कहलाता है। क्षरविद्यात्मक परक्षेत्र में युक्ता अव्ययविद्या क्षरात्मिका अव्ययविद्या है। यहाँ अभिनिवेश का अभाव है। अतएव इस क्षरात्मिका अव्ययविद्या को 'धर्मविद्या' कहा गया है एवं तदनुगत कर्मयोगात्मक बुद्धियोग 'धर्मबुद्धियोग' कहलाता है। धर्मबुद्धियोग विशुद्ध क्षरविद्यानुगत अव्यय कर्मयोग का संयोजित रूप है, ऐश्वर्यबुद्धियोग विशुद्ध अक्षरक्षरविद्यानुगत अव्यय भक्तियोग का संयोजित रूप है, ज्ञानबुद्धियोग विशुद्ध अक्षरविद्यानुगत कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का संयोजित रूप है, एवं वैराग्यबुद्धियोग विशुद्ध अव्ययविद्यानुगत विशुद्ध बुद्धियोग है। यही गीता का 'समत्वयोग' है, जिसकी अविस्मरणा से युक्त रहने के कारण लोकसंग्रहमयी को भी बुद्धियोगसम्पत् प्राप्त हो गई है। स्थानप्रतिष्ठानुसार प्रथम स्थान वैराग्यबुद्धियोग का है, द्वितीय स्थान ऐश्वर्यबुद्धियोग (भक्तियोग) का है, तृतीय स्थान धर्मबुद्धियोग (कर्मयोग) का है, एवं अन्तिम स्थान ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग) का है। इसप्रकार स्व-परक्षेत्र के सम्बन्ध से वैराग्यविद्यालक्षणा एक ही अव्ययविद्या वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म-भेद से चार मार्गों में विभक्त होती हुई विद्याचतुष्टयी-रूप में परिणत हो रही है। एवं विद्याभेद से ही तदनुगत वैराग्यबुद्धियोगलक्षण एक ही योग वैराग्यादि चार मार्गों में परिणत हो रहा है।

४०—गीताशास्त्रान्वित 'विद्या'—स्वरूपोपसंहार—

जिस आदि युग में भगवान् ने सर्वप्रथम राजर्षि विवस्वान् के प्रति इस वैराग्यलक्षणा अव्ययविद्या का एवं तदनुगत वैराग्यबुद्धियोग का उपदेश किया था, तब से आरम्भ कर यह विद्यापरम्परया प्रधानरूप से मनु-इक्ष्वाकु-जनक-आदि राजर्षिवंश में ही प्रतिष्ठित रही। अतएव यह अव्ययविद्या (वैराग्यविद्या) 'राजर्षिविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। अध्यात्मनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध ज्ञानयोग कपिलादि सिद्धपुरुषों (सिद्धर्षि) में प्रधानरूप से प्रचलित था। भगवान् के द्वारा अव्ययविद्या के समावेश से सिद्धों की इस ज्ञानविद्या में संशोधन हुआ। संशोधन भगवान् का था, परन्तु मूलतत्त्व सिद्धों का था। अतएव ज्ञानलक्षणा यह अव्ययविद्या 'सिद्धविद्या' नाम से ही प्रसिद्ध हुई। भक्तिनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध भक्तियोग विशेषतः अम्बरीषादि राजवंश में पुष्पित पल्लवित रहा। भगवान् ने ऐश्वर्यविद्या के समावेश से इसका भी संशोधन-मात्र किया। अतएव ऐश्वर्यलक्षणा यह अव्ययविद्या 'राजविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। योगनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध कर्मयोग का आविर्भाव हिरण्यगर्भ नामक महर्षि के द्वारा हुआ। एवं यह योग आगे भी आर्षवंश परम्परा में ही प्रचलित रहा। भगवान् ने धर्मविद्या के समावेश से इसका भी केवल संशोधन ही किया।

अतएव धर्म्मसम्बन्धा यह अव्ययविद्या 'आर्षविद्या' नाम से ही प्रसिद्ध हुई । इसप्रकार अव्ययविद्या के आधार पर एक अपूर्वयोग का तथा तीन संशोधित योगों का आविर्भाव हुआ । यही अव्ययविद्या-विवर्तों का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है । गीताशास्त्र के १८ अध्यायों में १-२-४-५ क्रम से इसी विद्याचतुष्टयी, तथा योग-चतुष्टयी का क्रमिक निरूपण हुआ है ।

१-स्वरूपेणानुगता अव्ययविद्या ———वैराग्यविद्या (राजर्षिविद्या) तदनुगत-वैराग्यबुद्धियोग (विशुद्धबुद्धियोग)

२-अक्षरस्वेनानुगता अव्ययविद्या——ज्ञानविद्या (सिद्धविद्या) तदनुगतः-ज्ञानबुद्धियोग (सं ज्ञानयोग)

३-अक्षरक्षरत्वेनानुगता अव्ययविद्या—ऐश्वर्य्यविद्या (राजविद्या) तदनुगत-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः (सं भक्तियोग)

४-क्षरत्वेनानुगता अव्ययविद्या———धर्म्मविद्या (आर्षविद्या) तदनुगत-धर्म्मबुद्धियोगः (सं कर्म्मयोग)



गीताक्रमानुसार यद्यपि चारों का 'वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म' यही क्रम है । परन्तु क्योंकि वैराग्य-विद्या गीता का अपना मुख्य सिद्धान्त है । अतः प्रस्तुत प्रकरण में विपरीत क्रम से ही चारों अव्ययविद्याओं का, तथा तदनुगत अव्यययोगों का स्वरूपविश्लेषण किया जायगा । सर्वप्रथम आर्षविद्या का अनन्तर राजविद्या का, एवं सर्वान्त में राजर्षिविद्या का स्पष्टीकरण किया जायगा । यही स्पष्टीकरण 'बुद्धियोगपरीक्षा' की वास्तविक प्रतिष्ठा माना जायगा । उसी की ओर क्रमशः बुद्धियोगप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है ।

इति-विद्यास्वरूपपरिचय



४१-गीताशास्त्रप्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य-

ईश्वरसंस्था आधिदैविक नाम से जीवसंस्था आध्यात्मिक नाम से एवं जगत्संस्था आधिभौतिक नाम से प्रसिद्ध है । अव्ययतत्त्व आधिदैविक है यह ज्ञानप्रधान है एवं ईश्वरसंस्था में इसी की प्रधानता है । अक्षरतत्त्व आध्यात्मिक है, यह क्रियाप्रधान है, एवं जीवसंस्था में इसी की प्रधानता है । क्षरतत्त्व आधिभौतिक है यह अर्थप्रधान है एवं जगत्संस्था में इसी की प्रधानता है । क्षर अक्षरगर्भित अव्ययपुरुष ईश्वर है अव्यय-क्षरगर्भित अक्षर जीव है, एवं अव्ययाक्षरगर्भित क्षर जगत् है । तीनों में तीनों का उपभोग हो रहा है, केवल प्रधानता अप्रधानता में अन्तर है । गीताशास्त्र आध्यात्मिक जीव की अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धि के लिए प्रवृत्त हुआ है । दूसरे शब्दों में गीतोपदेश का मुख्य लक्ष्य जीवात्मा है । जीवात्मा इस जीवन में भी पूर्ण सुखी रहे, एवं पाञ्चभौतिक शरीरपातानन्तर भी इसे यथाशान्ति प्राप्त हो इसी उद्देश्य से गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है । जीवात्मा दुःखी क्यों रहता है ? इसे ऐहिक सुख, और आमुष्मिक शान्ति क्यों नहीं मिलती ? यह प्रश्न है, जिसका समाधान वैज्ञानिकों ने यह किया है कि जीवात्मा अक्षरप्रधान है । अक्षरतत्त्व 'योगमाया' नाम की वह प्रकृति है, जिसमें सत्त्व-रज-तमो-गुणत्रयी का समावेश रहता है । इस गुणत्रयात्मिका योगमाया के आवरण से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित आत्मपुरुष अपने स्वाभाविक विद्याविकास से वञ्चित रहता है । यह अव्यक्तावस्थान्धतमस ही जीवात्मा की अशान्ति का मूल कारण है ।

४२–जीवात्मा की अशान्ति का मूल कारण–

अव्ययपुरुष 'आनन्द–विज्ञान–मनः प्राण–वाक् भेद से पञ्चकोशात्मक माना गया है। पञ्चकोशात्मक इस अव्ययपुरुष के विद्यामय, अविद्यामय भेद से दो विभाग रहते हैं। आनन्दविज्ञानमनोमय यही अव्ययपुरुष रसप्रधान बनता हुआ विद्यामय है यही मुक्तिसाक्षी ज्ञानात्मा है। मनःप्राणवाङ्मय यही अव्ययपुरुष बलप्रधान बनता हुआ कर्ममय है, यही अविद्यामय है यही सृष्टिसाक्षी कर्मात्मा है। मुक्तिसाक्षी विद्यामय सृष्टिसाक्षी कर्ममय से आवृत रहता है। इसका कारण यही है कि—'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्' के अनुसार गुणत्रयात्मिका योगमाया के द्वारा ही यह कर्ममय सृष्टिकर्म' में प्रवृत्त होता है। इस योगमाया के सम्पर्क से ही अध्यात्मसंस्था का आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यामय तो स्वविकास से आवृत रह जाता है एवं मनःप्राणवाङ्मय अविद्यामय प्रबल बन जाता है। यह अविद्याप्राबल्य ही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

योगमाया अक्षरात्मिका है। अक्षर मध्यस्थ है। इस मध्यस्थता से इसके त्रिगुणभाव का आधार 'विज्ञानात्मा' बनता है। अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–भूतात्मा इन पाँच अक्षरात्माओं में बीच विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही मध्यस्थ है। यही अक्षरात्मिका, अतएव मध्यस्था योगमाया का उपयोग होता है। बुद्धितत्त्व में चार विद्याभाव हैं, चार अविद्या भाव हैं जिनका पूर्व प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार विद्यातत्त्व हैं। इनके विकास से यही बुद्धि 'विद्याबुद्धि' कहलाती है। अभिनिवेश, अविद्या, आसक्ति, अस्मिता ये चार अविद्यातत्त्व हैं। इनके विकास से यही बुद्धि 'अविद्याबुद्धि' कहलाने लगती है। अविद्याचतुष्टयी क्लेशप्रवृत्ति का कारण बनती हुई 'क्लेश' नाम से व्यवहृत हुई है एवं विद्याचतुष्टयी क्लेशनिवृत्ति का कारण बनती हुई भग नाम से व्यवहृत हुई है। जीवात्मा अक्षरप्रधान है, अक्षर गुणत्रयप्रधान है। अतएव तत्प्रधाना जीवसंस्था में गुणत्रयानुगता अविद्यात्मिका क्लेशचतुष्टयी प्रधान बनी रहती है एवं इसकी प्रधानता से ज्ञानाधीना विद्यात्मिका भगचतुष्टयी आवृत रहती है, और यही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

क्लेशात्मिका अविद्याबुद्धिचतुष्टयी से अव्ययात्मा के कर्मात्मक अविद्याभाग को तो प्रोत्साहन मिलता है एवं ज्ञानात्मक विद्याभाग आवृत हो जाता है। भगात्मिका विद्याबुद्धिचतुष्टयी से अव्ययात्मा के ज्ञानात्मक विद्याभाग को तो प्रोत्साहन मिलता है तथा कर्मात्मक अविद्याभाग आवृत हो जाता है। इस स्थिति से निष्कर्ष यह निकला कि, विद्याबुद्धि का यदि अव्ययात्मा के साथ योग हो जाता है तो अव्ययात्मा का विद्याभाग स्वस्वरूप से विकसित हो जाता है फलस्वरूप सर्वविध क्लेशों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यदि अविद्याबुद्धि का अव्ययात्मा के साथ योग सुरक्षित रहता है तो अव्ययात्मा का विद्याभाग आवृत बना रहता है, फलस्वरूप सर्वविध क्लेश अनायासेन प्राप्त रहते हैं। धर्मादि बुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अव्यय के विद्याभाग का उपकार होता है। अतः विद्योपकारकत्वात् इस बुद्धिचतुष्टयी को 'विद्याबुद्धि' कहना अन्वर्थ बनता है। अधर्मादि बुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अव्यय के अविद्याभाग को प्रोत्साहन मिलता है अतः अविद्योपकारकत्वात् इस बुद्धिचतुष्टयी को 'अविद्याबुद्धि' कहना अन्वर्थ बनता है। बुद्धि इसलिए 'विद्याबुद्धि' कहलाती है कि, इससे अव्यय का विद्याभाग उपकृत है। बुद्धि इसलिए 'अविद्याबुद्धि' कहलाती है कि, इससे अव्यय का अविद्याभाग उपकृत है।

भगवुद्धि विद्योपकारकत्वात् विद्याबुद्धि है, क्लेशबुद्धि अविद्योपकारकत्वात् अविद्याबुद्धि है, यही निष्कर्ष है। जीवसंस्था में स्वभावतः क्लेशबुद्धि का प्राधान्य है, और यही आध्यात्मिक जीव की अशान्ति का मूल कारण है।

४३—गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष—

'यदेव विद्यया-करोति, श्रद्धया-उपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति (छां उप १।१।१ ।) इस मौत सिद्धान्त के अनुसार विद्या, श्रद्धा उपनिषत्, के सहयोग से किया जाने वाला कर्म्म बलवत्तर होता है। यहाँ उपनिषत् शब्द मौलिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखता है। मौलिक उपपत्तिके परिज्ञान से 'इदमित्थमेव नान्यथा' इत्याकारक विश्वास का उदय हो जाता है, जैसाकि उप भू प्रथमखण्ड के 'उपनिषद्‌पुरुषरहस्य' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। मनोयोग का नाम 'श्रद्धा' है जो उपनिषत्परिज्ञान पर अवलम्बित है। कार्य्य-कारणसम्बन्ध-परिज्ञान ही 'विद्या' है। जिस प्रकार से पद्धति से आत्मा का लक्ष्य के साथ योग होता है—वह विशेष प्रकार—जो कि कार्य्यकारणसम्बन्धपरिज्ञानात्मक है—ही विद्या' है। भगवुद्धिचतुष्टयी का अव्ययात्मा के विद्याभाग के साथ योग हो जाना ही जीवात्मा की शान्ति का मूलकारण है। यह योग कैसे हो !, इसके लिए विद्या-उपनिषत्-श्रद्धा-तीनों साधन अपेक्षित हैं। योग के मौलिक स्वरूप का परिज्ञान 'योगोपनिषत्' है। योग के साथ मनोयोग हो जाना 'योगश्रद्धा' है। एवं कार्य्यकारणसम्बन्धपरिज्ञानात्मक योगप्रकार जान लेना 'योगविद्या' है। इसप्रकार योगविद्या (योगानुष्ठानप्रकार) योगश्रद्धा, एवं योगोपनिषत् तीनों के समन्वय से ही क्लेशनिवर्त्तक भगवुद्धि का अव्ययविद्या के साथ योग सम्भव है। सम्पूर्ण गीताशास्त्र का यही निरूपणीय विषय है। अव्यय ब्रह्म है तत् प्राप्तिप्रकारभूता विद्या 'ब्रह्मविद्या' है। ब्रह्मविद्या के द्वारा प्राप्तव्य अव्ययविद्या के साथ होने वाला बुद्धि का योग 'योग' है। ब्रह्मविद्या और योग ये दो ही तो गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। इसीलिए तो गीताध्यायोपसंहार में—इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु—'ब्रह्मविद्यायां—योगशास्त्रे' यह उद्धृत हुआ है जिसका तात्पर्य्य है—'अव्ययविद्यायां बुद्धियोगशास्त्रे'। अव्यय-अक्षर-क्षर-भागों में से यहाँ गीता मुख्यरूप से 'अव्ययब्रह्म निरूपक शास्त्र है वहाँ बुद्धि ज्ञान, भक्ति, कर्म्म-योगों में से मुख्यतः 'बुद्धियोग' निरूपक शास्त्र है। अव्ययब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण करते हुए तत्प्राप्तिप्रकारभूता अव्यय-ब्रह्मविद्या का निरूपण करना, तथा उसके साथ होने वाले भगवुद्धियोग का निरूपण करना ही गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष है।

४४—गीतानुगता विद्या, और योग—

भगवचतुष्टयी के सम्बन्ध से अव्ययब्रह्मविद्यारूप योगप्राप्तिप्रकार चार भागों में विभक्त हैं। वे विद्यायें चारों प्रकार ही राजर्षिविद्या-सिद्धविद्या-राजविद्या-आर्षविद्या इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यही गीता की विद्याचतुष्टयी है जिसका हमें अधिक विश्लेषण करना है। दूसरा है—'योग' पदार्थ। गुणकर्मात्मिका योगमाया के आवरण से आवृत अतएव स्व-विद्याभाग से अविकसित अप्रकाशित-अव्ययात्मा को विद्याकाश से प्रकाशित करने का साधन-उपाय ही 'बुद्धियोग' है। विद्याबुद्धि का अव्यय के विद्याभाग से योग हो जाना ही सिद्धलक्षण बुद्धियोग है जिसके लिए-'ददामि बुद्धियोगं तम्' कहा गया है। ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त अतएव स्वविद्याभाग से विकसित विद्याघन ही 'बुद्धियुक्त' नाम से व्यवहृत किया जाएगा, जैसाकि-'इमं विवस्वते

योगं मोक्षनाहमव्ययम् (४।१।) इस गीतावचन से प्रमाणित है। यहाँ स्वयं ही भगवान् ने योग को 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत किया है। इसप्रकार बुद्धियोगप्राप्ति–उपायरूप साम्ययोग भी बुद्धियोग है अव्यय के साथ युक्त बुद्धि भी बुद्धियोग है एवं ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त विद्याव्यय भी बुद्धियोग है। राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धि का योग वैराग्यबुद्धियोग है, इससे 'आसक्ति' नाम के प्रतिद्वन्द्वी (अविद्याबुद्धि) की निवृत्ति होती है। सिद्धविद्यानुगता ज्ञानबुद्धि का योग ज्ञानबुद्धियोग है इससे 'अविद्या' नाम के प्रतिद्वन्द्वी की निवृत्ति होती है। राजविद्यानुगता ऐश्वर्य्यबुद्धि का योग ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है इससे 'अस्मिता' नाम के प्रतिद्वन्द्वी की निवृत्ति होती है। एवं आर्षविद्यानुगता कर्म्मबुद्धि का योग कर्म्मबुद्धियोग है इससे 'अभिनिवेश' नामक प्रतिद्वन्द्वी निवृत्त होता है। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्र का संक्षिप्त इतिवृत्त है। चार विद्याएँ, चार योग यही गीताशास्त्र का तात्त्विक विषय है। चारों विद्याओं में राजर्षिविद्या अव्ययविद्या है शेष तीनों विद्याएँ परोक्षानुगता हैं। चारों योगों में वैराग्यबुद्धियोग अव्ययोग है शेष तीनों योग परोक्षानुगत योग हैं जिनका लोककल्याणार्थ से संशोधनपूर्वक भगवान ने गीताशास्त्र में संग्रह कर दिया है। यही गीता की विद्या के तथा गीता के योग का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

४५–धर्म्म, और नीति का साहचर्य्य—

उक्त चारों विद्याओं में से अन्तिम की आर्षविद्या का तथा तदनुगत कर्म्मबुद्धियोग का गीता के ११ वें अध्याय से आरम्भ कर १८ वें अध्यायपर्य्यन्त ८ अध्यायों में प्रतिपादन हुआ है। सर्वप्रथम हमें इसी विद्या–योगविभूति की मीमांसा करनी है। इस विद्या-योग-की प्रतिष्ठा 'धर्म्म'तत्त्व है। अतः विद्या-योगविभूति की मीमांसा से पहिले दो शब्दों में धर्म्म तत्त्व का स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। धर्म्मशब्द के साथ 'नीति' शब्द बिना ही निमन्त्रण के उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा और शरीर, दोनों नित्य सम्बद्ध हैं एवमेव धर्म्म और नीति का भी भारतीय दृष्टिकोण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीति शरीर-स्थानीया है धर्म्म आत्मस्थानीय है। नीति वही नीति है जो धर्म्म स्वरूप का संरक्षण करती है। धर्म्म वही धर्म्म है जो अपने आधार पर प्रतिष्ठित नीति को लोकसम्मुख में प्रवृत्त रखता है। ऐसी नीति अनीति है जो धर्म्म स्वरूप पर आक्रमण कर उसे स्वरूपच्युत कर देती है। ऐसा धर्म्म अधर्म्म है जो नीति को लोकसंरक्षण की विघातिका बना देता है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर धर्म्म, एवं नीति का समन्वय कीजिए।

४६–धर्म्मपद्धति, और नीतिपद्धति—

अध्यात्मसंस्था का जिस पद्धति से जीवननिर्वाह होता है वह पद्धति ही अध्यात्मसंस्था का धर्म्म तथा नीति है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा, और शरीर, ये दो मुख्य विभाग हैं। आत्मपर्व अन्तर्मुख है, शरीरपर्व बहिर्मुख है। अन्तर्मुख आत्मतत्त्व इन्द्रियातीत है बहिर्मुख शरीरतत्त्व इन्द्रियग्राह्य है, प्रत्यक्ष है। आत्मा और शरीर के इन स्वरूपभेदों के आधार पर ही धर्म्म तथा नीतिमार्ग व्यवस्थित हुए हैं। प्राणप्रधान आत्मा भूतप्रधान शरीर की प्रतिष्ठा है अतएव धर्म्म को नीति की प्रतिष्ठा कहा जाता है। इदंप्रपञ्च स्थावर–जङ्गम (जड़–चेतन) भेद से दो भागों में विभक्त है। स्थावरप्रपञ्च 'स्थिर' है, जङ्गमप्रपञ्च 'जगत्' है। स्थिर (जड़–प्रपञ्च), और जगत् (चेतन प्रपञ्च) दोनों दृश्य–भौतिक प्रपञ्चों की मूलप्रतिष्ठा धर्म्म ही माना गया है। इसी आधार पर–'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्राणात्मक धर्म्म–

पथ के आधार पर प्रतिष्ठित भूतात्मक नीतिपथ आगे जाकर 'धर्म्मपथ' में ही अन्तर्भूत होजाता है। यही कारण है कि अन्तर्मुख धर्म्म, एवं बहिर्मुखा नीति के विभिन्न स्वरूपयुक्त होने पर भी भारतीय दृष्टिकोण से नीति भी धर्म्ममार्ग ही मान लिया गया है। तात्पर्य्य—भारतीय परिभाषा में नीति वही नीति है जिसकी प्रतिष्ठा धर्म्म है। धर्म्ममार्गच्युत विशुद्ध नीतिमार्ग यहाँ अनीतिपथ ही माना गया है। लोकव्यवहार नीतिमार्ग पर प्रतिष्ठित है पारलौकिक श्रेयास धर्म्म है। यदि लौकिक चातुरी केवल चातुरी है, इससे केवल लौकिक स्वार्थसाधन, साथ ही आत्मविश्वासतिरोभावपूर्वक पारलौकिक श्रेयास की हानि होती है, तो ऐसी चातुरी यहाँ नीति न मान कर अनीति ही मानी गई है। 'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी' इस लोकसूक्ति के अनुसार चातुरी (नीति) वही चातुरी है जिससे लोकव्यवहारसंरक्षणपूर्वक आत्मश्रेयास सुरक्षित बना रहता है। शरीरव्यवहार आत्मव्यवहारानुकूल बना रहे, यही यहाँ की नीति है आत्मव्यवहार शरीर-व्यवहारानुकूल बना रहे, यही यहाँ का धर्म्म है। और इस दृष्टिकोण से धर्म्म-और नीति के पृथक्‌धर्मा होने पर भी दोनों का एकत्र समन्वय होरहा है। इस समन्वय से कभी दोनों के संघर्ष का अवसर उपस्थित नहीं होता। यदि कभी किसी प्रसङ्ग पर नीतिमार्ग धर्म्ममार्ग पर आक्रमण करता हुआ प्रतीत होने लगता है, तो उस दशा में यहाँ उस नीतिमार्ग की उपेक्षा कर दी जाती है। दोनों के कादाचित्क संघर्ष में धर्म्म का ही समादर किया जाता है। धर्म्मविरुद्ध नीतिमार्ग यहाँ सदा से उपेक्षणीय ही माना गया है। धर्म्ममार्ग का सदसद्विवेचक वेदवित् ब्राह्मण है, नीतिमार्ग का संरक्षक मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा है। राजा का नीतिमार्ग ब्राह्मण के धर्म्ममार्ग को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। अतएव भारतीय नीतिमार्ग का प्रवर्त्तक-संरक्षक राजा यहाँ निष्कर्षतः धर्म्ममार्ग का ही संरक्षक माना गया है। राजा की राजनीति धर्म्ममार्ग का ही संरक्षण करती है। यहाँ आकर हम कह सकते हैं कि यहाँ धर्म्म और नीति कहने मात्र के लिए दो विभिन्न पथ हैं। वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं। वेदशास्त्रसिद्ध धर्म्म ही यहाँ की राजनीति की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

> क्रमेण शृणु राजेन्द्र ! यया नीत्या नियुज्यते ॥
> आत्मा, सुतो, वा भार्य्या वा, तद्विशेषं शृणुस्व मे ॥१॥
> ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान् वयोवृद्धान् सुदर्शनान् ॥
> सेवेत प्रथमं विप्रानसूयापरिवर्जितान् ॥२॥
> तेभ्यश्च शृणुयान्नित्यं वेदशास्त्रविनिर्णयम् ॥
> यद्ब्रुस्ते च तत् कार्य्यं प्राज्ञैश्चैतन्नृपश्चरेत् ॥३॥
>
> —कालिकापुराण—राजनीति कि अ० ८४ अ०।

४७—मतवाद की मीमांसा—

नीतिमार्ग धर्म्ममार्ग पर किस दशा में प्रतिष्ठित रहता है?, इस प्रश्न का उत्तर आत्मप्रधानता पर निर्भर है। आत्मस्वरूप का सम्बन्ध शुक्लतत्त्व से एवं शरीरस्वरूप का सम्बन्ध कृष्णतत्त्व से माना गया है, जैसा कि भूमिका प्रथमखण्ड में 'शुक्ल-कृष्णतत्त्व' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादन किया जाचुका है। पूर्व-

देशों में इन्द्र का प्राधान्य है, वरुण गौण है। अतएव इन्द्रानुगत आत्मतत्त्व वहाँ प्रधान है, वरुणानुगत शरीर गौण है। आत्मा के आधार पर वहाँ शरीर प्रतिष्ठित है। आत्मा के प्राधान्य से ही यहाँ आत्मा यहाँ मनुष्यत्व है, वहाँ वरुण-गौणता से शरीर कष्ट है। पश्चिम दिशा के दिक्पाल वरुण पश्चिम देशों में प्रधान हैं, इन्द्र गौण हैं। अतएव वरुणानुगत शरीर वहाँ प्रधान है, इन्द्रानुगत आत्मा गौण है। शरीर के आधार पर वहाँ आत्मा प्रतिष्ठित है। शरीरप्राधान्य से ही वहाँ शरीर वहाँ मनुष्यत्व शुक्ल है, वहाँ इन्द्र-गौणता से आत्मा वनोऽभिभूत है। यहाँ नीति धर्म के लिए है, वहाँ धर्म नीति के लिए है। यहाँ धर्म नीति का आधार है, वहाँ नीति धर्म का आधार है। यहाँ दोनों के संघर्ष में नीति की उपेक्षा की जाती है, वहाँ दोनों के संघर्ष में धर्म की उपेक्षा की जाती है। यहाँ का प्रत्येक धर्म प्राकृतिक बनता हुआ धर्म है, वहाँ का धर्म मानवीय कल्पना से सम्बन्ध रखता हुआ 'मत' है। और यही धर्म तथा मत में परोक्ष का अन्तर है, जिसे न समझ कर ही मतवाद की भाँति भारतीय धर्म भी वर्त्तमान शिक्षित-वर्ग की दृष्टि में एक अनावश्यक साथ ही शान्तिविघातक तत्त्व बनता जा रहा है।

४८–मतवाद का स्वरूपपरिचय—

मतवाद और धर्म के तात्त्विक स्वरूप का निर्णय कर के ही हमें भारतीय धर्म की उपादेयता की मीमांसा करनी चाहिए। तत्तत्समयविशेषों में तत्तत्सामयिक परिस्थिति के अनुसार तत्तत्समय के व्यवहार-कुशल बुद्धिमान् समाजनेताओं के द्वारा सामाजिक स्थितिके संरक्षणके लिए तत्तत्समय के लिए ही जो नियमोपनियम प्रचार बने हैं, उन तत्तत्सामयिक-सामाजिक-नियमोपनियमों की समष्टि का ही नाम 'मतवाद' है। भारतवर्ष में प्रच-लित सम्प्रदायवाद, सम्प्रदायें, पश्चिमी देशों में प्रचलित विभिन्न धर्मपंथ सब मानवीय मन से सम्बन्ध रखते हुए मतवाद हैं। जो भारतीय सनातन वेदधर्म पर प्रतिष्ठित है (थी) उसको छोड़ कर समस्त विश्व के धर्मों को केवल 'मतवाद' ही कहा जाएगा। सृष्टचारम्भ से आरम्भ कर प्रलयपर्य्यन्त समानरूप से प्रवर्तित नित्यसिद्ध शाश्वत नियमोपनियमसमष्टि ही 'धर्म' है, जिसके उद्भव का प्रकार-प्रकार का एकमात्र श्रेय तपःपूत उन ऋषियों की तपश्चर्या महर्षियों को ही मिला है, जिनकी दृष्टि का आधार वेदशास्त्र है, एवं जिनकी दृष्टि से यह मानवधर्म मनुस्मृति में प्रतिपादित हुआ है। धर्म कभी नहीं बदलता, बदलते हैं–मतवाद। धर्म और नीति में कभी संघर्ष उपस्थित नहीं होता। संघर्ष होता है–मतवाद, तथा नीति में। यही कारण है कि पश्चिमी देशों में धर्म नामक मतवाद के साथ नीति का भयानक संघर्ष होता रहा है। धर्म में विज्ञान तर्क युक्ति आदि का समादर है। अतः इनमें संघर्ष के कारण उपस्थित ही नहीं हो सकते। मतवाद में केवल अन्धश्रद्धा है, वहाँ विचारस्वातन्त्र्य का द्वार सर्वथा अवरुद्ध है। अतएव केवल अभिप्राय के बल पर पुष्पित ऐसे मतवादों में धर्म का भस्म हो जाना स्वाभाविक है। रूस के साम्यवाद ने इसी मतवाद के भ्रम से धर्म और ईश्वर की उपेक्षा करने में ही अपना कल्याण समझा। साम्यवाद का भ्रम ऐसे बड़े मतवादियों धर्म की परिभाषा उनके लक्ष्य में न आई। मानते हैं मतवादात्मक धर्म ही विश्वकी अशान्ति का कारण है। क्योंकि इसमें धर्मवाद की मूलप्रतिष्ठारूप मनोदर्शन का नितान्त अभाव है। मतवाद व्यक्तिगत स्वार्थ का प्रोत्साहन करता है। प्रायः वैयक्तिक स्वार्थ ही अनार्थविरोध का कारण बनता है। दुःख है कि भारतीय सनातनधर्म का स्थान भी आज सम्प्रदायात्मक मतवाद ने छीन लिया है अथवा तो छीनता जा रहा है। सभी सम्प्रदायवाद इस स्थान पर प्रतिष्ठित रहते हुए साथ ही वैदिक धर्म रक्षा में आत्मसमर्पण

करते हुए जहाँ उपादेय, अतएव संरक्षणीय हैं वहाँ अपने अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को ही प्रधानता देते हुए, अपने आप ही को कल्याण का प्रवर्त्तक समझते हुए, साथ ही इतर सम्प्रदायों की निन्दा कर समाज-संगठन तोड़ने का महापातक करते हुए सर्वथा अनुपादेय अतएव उपेक्षणीय ही हैं। सम्प्रदायवाद की घातक प्रतिच्छाया के अनुग्रह से ही आज धर्म्म की सार्वभौमिकता अरक्षणीय बन रही है। जो सनातनधर्म्म किसी युग में सम्पूर्ण विश्व की शान्ति का सन्देशवाहक था वही आज सम्प्रदाय के रंग से रञ्जित होकर अशान्ति का कारण बन रहा है। सम्प्रदायवाद के घातक अभिनिवेश (दुराग्रह-हठधर्मी) से ही साम्यवाद के मूलभूत 'समदर्शन' का विनाश हुआ है एवं समदर्शन का विनाश ही समाजशान्ति का उच्छेदक बना है।

शासनसत्ता के अनुग्रह से पश्चिमी देशों का पूर्व-देशों से सम्बन्ध हुआ। इस सम्बन्ध से दोनों की पुरातन संस्कृतियों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ। परिणाम क्या हुआ ?, यह भी एक अनुसन्धान की सामग्री है, जिसका दो शब्दों में विश्लेषण कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। हमनें उनसे क्या लिया ? इसका उत्तर स्पष्ट है। विजेता की संस्कृति विजितों को विवश बन कर स्वीकार करनी पड़ती है। फलतः हमनें उनकी संस्कृति सभ्यता आदर्श साहित्य, को ही अपने अभ्युदय का कारण समझा। अपनापन छोड़ कर हम सर्वात्मना 'दासधर्म्म' में दीक्षित हो गए। हमारे वे सब आचार-व्यवहार हमारी ही दृष्टि में केवल ढोंग बन गए, जिनका हमनें उनके आचार-व्यवहार से विरुद्ध गमन देखा। उन्हें हम से क्या मिला ?, सब कुछ। इसप्रकार इस पारस्परिक सम्बन्ध में हमनें सब कुछ खो दिया, और उन्होंनें सब कुछ पा लिया। वे वे ही बने रह कर जहाँ सब कुछ पा गए, वहाँ हमनें 'वे' बन कर सब कुछ खो दिया। हमनें वैदिक सिद्धान्तों की उपेक्षा की, उन्होंने वैदिक संस्कृति का मुक्तकण्ठ से यशोगान किया। हमनें भारतीय अध्यात्मवाद को केवल कल्पना समझा उन्होंनें इसी को शान्ति का कारण माना। उनके इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता के लिए एक दो उदाहरण उद्धृत कर देना भी अनावश्यक न माना जायगा।

४६-पश्चिमी साम्यवाद पर एक दृष्टि—

जर्मनी के अधिनायक हर हिटलर के आध्यात्मिक गुरु सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'नीत्शे' महोदय ने प्रायः विश्व के सम्पूर्ण मतों (ISM) का तथा मजहबों (RELISEON) का अध्ययन किया। इनके अध्ययन से आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'मत और मजहब, दोनों मानवजीवन की स्वाभाविक शान्ति के अन्यतम शत्रु हैं। न तो इनसे राष्ट्र का यौगिक विकास ही हो सकता, एवं न इनसे मानव की व्यक्तिसंस्था का ही कोई अभ्युदय सम्भव। क्योंकि इनके नियम संकुचित, अतएव दासता के प्रवर्त्तक हैं''। आगे जाकर जब नीत्शे को यह विदित हुआ कि, धर्म्मतत्त्व मत और मजहब से कोई विभिन्न वस्तु है जिसमें बुद्धि-तर्क-विज्ञान का समादर है जिसकी दृष्टि उदार है जिसके नियम विकसित हैं तो वे धर्म्मतत्त्व के परिज्ञान के लिए व्यग्र हो पड़े। आपने वैदिक-ग्रन्थों का अध्ययन किया। इस वेदस्वाध्याय के अनन्तर वेदसिद्ध सनातनधर्म्म के सम्बन्ध में आपकी यह धारणा हो गई कि-"वेद से बढ़ कर कोई भी उत्तम वैज्ञानिक ग्रन्थ नहीं है एवं न वेदसिद्ध मानवधर्म्म के अतिरिक्त कोई धर्म्म ही"। मानवधर्म्मप्रतिपादिका 'मनुस्मृति' के सम्बन्ध में आपका यह कथन था कि- इसमें सूर्य्य का सा प्रकाश है। इसमें मानवजीवन को सफल बनाने वाले वैज्ञानिक-तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है। यदि मनुष्य मनु महाराज के बताए हुए सामाजिक नियमों का पालन करे, तो वह कभी दुःखी नहीं रह सकता'। सुप्रसिद्ध वेदाभ्यासी जर्मनी मेक्समूलर महोदय के भी

इस सम्बन्ध में ये ही विचार थे। आपने एक समय एक महत्त्वपूर्ण परिषत् (सभा) में समारोहपूर्वक से इस सम्बन्ध में अपने ये विचार प्रकट किए थे कि—"यदि मुझ से पूछा जाय कि, किस देश के वायुमण्डल में मानसिक विकास की ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न हुई हैं जिन्होंने जीवन-विज्ञान के गूढ़तम रहस्यों पर विचार किया है जिनके अध्ययन की आवश्यकता प्लेटो, और काण्ट जैसे पण्डितों को भी है ?, तो मैं भारत की ओर इशारा करूँगा"। डॉक्टर वैलेण्टाइन की सम्मति में— 'वेद संसार का सर्वोत्तम ग्रन्थ है और भारतीय मन से सुसंस्कृत लोग'। बर्लिन विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर माननीय ब्लूमफील्ड साहिब ने वर्त्तमानकालीन सामाजिक स्थिति का पर्याप्त अध्ययन किया। परिणाम में आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—"यदि महात्मा कार्ल मार्क्स (रूस के साम्यवाद के आचार्य्य) अपने जीवन में एक बार भी चन्द घण्टों के लिए मनुस्मृति का अवलोकन कर लेते तो बहुत सम्भव था कि, वे साम्यवाद के प्रवर्त्तक होने के बजाय वैदिक-धर्म्मवाद के एक समर्थ प्रचारक बन जाते। किन्तु योरोप का दुर्भाग्य था कि उन्हें ऐसा अवसर ही प्राप्त न हुआ"। जिस युग में पश्चिमी विद्वानों की रुचि वेद-स्वाध्याय की ओर अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी, उस रुचि को देख-सुन कर उस युग के सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आइन्स्टीन महोदय व्याकुल हो पड़े। आप अपने समय के कट्टर नास्तिक थे। आपका विश्वास था कि मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है इस मानवीय शक्ति से बढ़ कर कोई अन्य शक्ति नहीं है। इस दृष्टिकोण को सिद्धान्त बना कर आपने वेद-धर्म्म की कटुपरीक्षा आरम्भ की। तब से पहिले आपने गीता का अध्ययन आरम्भ किया। केवल एक महीने के स्वाध्याय से ही आपका दृष्टिकोण बदल गया। वेदशास्त्रसम्मत पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास करते हुए आपने यह स्वीकार कर लिया कि— 'अणु, तथा परमाणुओं की सूक्ष्म शक्तियों का आधार अवश्य ही सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् नवाविष्कृत पदार्थ है जिसे स्वीकार किए बिना मानव का अभ्युदय असम्भव है"। आगे चलकर आपने यह विश्वास प्रकट किया कि, "उच्चतम शिखर पर पहुँच कर विज्ञान धर्म्म के गूढतम-अतीन्द्रिय तत्त्व में विलीन हो जाता है"। इसी प्रकार मिसेज मार्लो, बेली, स्लोक वॉन आदि विदुषियों, और विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से वेद-धर्म्म की उपादेयता स्वीकार कर पुनः भारतीयों का उद्बोधन कराया है।

पश्चिमी विद्वान् इसप्रकार जहाँ उत्तरोत्तर हमारे धर्म्म की ओर आकर्षित होते जा रहे हैं वहाँ आत्मसंस्कृति में निमग्न हम भारतीय,-विशेषतः शिक्षित भारतीय-उनके पुरुषार्थ का अनुकरण करना ही अपना परमपुरुषार्थ मान रहे हैं। अपने धर्म्म का विरोध और पश्चिमी (रूस के) साम्यवाद का समर्थन करते हुए भारतीय सभ्यता पर कलङ्क के छींटे फैंकते हुए हम अपने हाथों ही अपने सर्वनाश का आमन्त्रण करते हुए 'प्रगति' के सुख स्वप्नों की कल्पनामय अवस्था में तल्लीन हो रहे हैं। जैसाकि कहा गया है कार्ल मार्क्स का साम्यवाद कहने भर के लिए साम्यवाद है। तत्त्वतः वह विशुद्ध विषमवाद है। मानते हैं कि, जहाँ तक आर्थिक समस्या का प्रश्न है वहाँ तक मार्क्स की विचारधारा थोड़ा सुधार कर सकती है। मार्क्स का यह कहना कि,—"मजहब गरीब, मजदूर, और किसान के लिए अफीम है, जो उसे अपने अधिकार का ज्ञान नहीं होने देता" कहना किसी सीमा पर्यन्त सत्य है। हम स्वयं मतवादलक्षण मजहब को शान्ति का शत्रु मान रहे हैं। परन्तु इससे आगे बढ़ने में साम्यवाद से सामञ्जस्य नहीं माना जा सकता। प्रोफेसर ब्लूमफील्ड के शब्दों में मार्क्स को केवल यूरोपीय मतों का ही ज्ञान था जिनमें दोषों का रहना अनिवार्य्य है। अतएव मजहब से ऊब कर उन्होंने उसका विरोध किया। धर्म्म क्या है ? धर्म्म और मत में क्या अन्तर है ?, इस प्रश्न के समाधान का क्योंकि उन्हें अवसर नहीं मिला अतएव उन्होंने 'साम्यवाद' की सृष्टि कर डाली। किन्तु

और ईसाइमत (मत) में परस्पर पर्य्याप्त संघर्ष हुए हैं । मार्क्स के युग में भी योरोप में मतवादों के अत्याचार ने प्रकराल्प धारण कर रक्खा था । ईसाईमत का पालन–पोषण राजाओं तथा क्रूर पूँजीपतियों के द्वारा होता था । और इसप्रकार ईश्वर के नाम पर गरीबों का चूँसा हुआ रक्तकोष उसी प्रकार पूँजीपति पादरियों के उपासनामन्दिरों में सञ्चित होता रहता था जैसाकि वर्त्तमान भारत के पूँजीपतियों के द्वारा पुष्पित पल्लवित सम्प्रदायाचार्य्यों के कोष मुग्ध अन्धभक्तालु आस्तिकप्रजा के शोषणकर्म्म से संग्रहीत अतुलद्रव्यराशि से परिपूर्ण हैं । ऐसी स्थिति में मार्क्स ने जो कुछ किया, ठीक किया । धर्म्म के नाम पर मतवाद का पोषण करने वालों के लिए यदि मार्क्स इस से भी कठिन दण्डव्यवस्था करते तो हम उनका भी अभिनन्दन ही करते । परन्तु दुःख है कि धर्म्म के तात्त्विक स्वरूप न जानने कारण अनीश्वरवादात्मक ऐसे साम्यवाद का उनकी ओर से आविष्कार हो पड़ा जो क्षणभर के लिए शान्ति का कारण बनता हुआ भी उत्तरोत्तर अशान्ति का ही जनक सिद्ध हुआ । आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्मसंयम और इच्छादमन की मूलप्रतिष्ठा है । आध्यात्मिक ज्ञानात्मक ईश्वरीय धर्म्म से वञ्चित मार्क्स के भौतिक साम्यवाद में भी मतवाद की भाँति आत्मसंयम, और इच्छादमन का अभाव है । अतएव केवल अर्थकामात्मक साम्यवाद आत्मशान्ति से कोसों दूर रहता हुआ मानवजीवन को सुशान्त बनाए रखने में नितान्त असमर्थ है, जिसका प्रत्यक्षप्रमाण रूसाद्यायात्त अशान्ति ही पर्य्याप्त है * ।

५०–भारतीय साम्यवाद और धर्म्मदृष्टि–

भारतीय साम्यवाद की मूल प्रतिष्ठा वह धर्म्म है जिसके रूप अहिंसा दया अस्तेय आत्मसंयम, इच्छा दमन आदि गुण माने गए हैं । एवंविध धर्म्म से ही साम्यवाद विश्वशान्ति का कारण बन सकता है, जो साम्यवाद गीता के शब्दों में 'समत्वयोग' कहलाया है । समदर्शन ही इस समत्वयोग की आधारशिला है एवं यही भारतीय साम्यवाद की मौलिक परिभाषा है जिसे न समझ कर वर्त्तमान युग के कतिपय राष्ट्रीय मोहासक्तों ने गीता के साम्यवाद के साथ मार्क्स के साम्यवाद की तुलना कर डालने की भ्रान्ति कर डाली है । क्या पूँजीपति होना दोष है ? नहीं । क्या सब समानरूप से सुखी रह सकते हैं ?, जब कि सुख–दुःख प्राप्ति का स्वकर्म्म–संस्कारों से सम्बन्ध है ?, नहीं । फिर साम्यवाद का क्या अर्थ ? । साम्यवाद यही आदेश करता है कि यह ठीक है कि अमुक व्यक्ति अपने कर्म्मों से ही दुःखी है । परन्तु मानवता के नाते तुम्हारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, तुम उसके दुःख में हाथ बँटाओ । यथाशक्ति अर्थव्यवस्था से उसकी पारिवारिक स्थिति को सँभालो । यह भावना तभी हो सकती है जब आत्मा में दया–करुणा–अहिंसा–सर्वभूतहितरति, आदि गुणों का विकास हो । इन गुणों का विकास तभी सम्भव है जब कि आत्मा धर्म्ममार्ग पर आरूढ हो । धर्म्मभावना के आधार पर प्रतिष्ठित समदर्शनमूला साम्य–भावना ही पूँजीपतियों की प्रकृतियों में सहज उदारता का समावेश कर सकती है । और धर्म्मान्विका यह उदारता ही दुःखी–असमर्थ–असहाय को कष्ट में भी शान्ति का रसास्वादन करा सकती है । यही हमारा धर्म्ममूलक साम्यवाद है जिसके द्रष्टा हैं महर्षि (ब्राह्मण), एवं

* श्वेतक्रान्तिमूलक भारतीय साम्यवाद तथा रक्तक्रान्तिमूलक प्रतीच्य साम्यवाद इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का विशद विवेचन 'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता' नामक स्वतन्त्रचतुष्ट्यात्मक समालोचक निबन्ध के 'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश' नामक तृतीयखण्ड में देखना चाहिए ।

संरक्षक हैं–राजर्षि (क्षत्रिय)। धर्म मार्ग के उपदेशक ब्राह्मण एवं धर्मानुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रिय दोनों ही विभाग आज लुप्त हैं। ऐसी स्थिति में सर्वलोकसंरक्षक गुणस्वभाव (वैश्यस्वभाव–पूँजीपति) यदि उच्छृङ्खल न बने तो महा आश्चर्य है। और उभय रक्षाक्रम से वञ्चित ऐसे पूँजीपतियों के द्वारा प्रजावर्ग का रक्तशोषण न हो, तो महा आश्चर्य है। तभी तो हम साभिनिवेश यह निवेदन करने की धृष्टता कर रहे हैं कि, यदि हम वास्तव में भारत राष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, तो सर्वप्रथम हमें दरिद्र सामान्य प्रजा के दुःखों का सहयोगी बनना पड़ेगा। इसके लिए पूँजीपति वैश्यसमाज का ध्यान धर्ममूलक अपरिग्रह की ओर आकर्षित करना पड़ेगा। इसके लिए धर्मानुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रियसमाज का आश्रय लेना पड़ेगा। एवं क्षत्रियसमाज की दण्डनीति को धर्मानुगत बनाए रखने के लिए वेदशास्त्रसम्मत मानवधर्म के उपदेशक ब्राह्मणवर्ग का आश्रय लेना पड़ेगा। अन्त में ब्राह्मणवर्ग को वर्तमान सम्प्रदायवाद (मतवाद) की संकुचित दृष्टि से बचा कर इसे शाश्वत आर्ष–मानवधर्म में पुनः दीक्षित करने के लिए विलुप्तप्राय वेदविज्ञान का पुनरुद्धार करना पड़ेगा। तभी भारतीय धर्म और नीति की उक्त परिभाषाएँ पुष्पित पल्लवित हो सकेंगी, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन अन्य निबन्ध में हुआ है।

५१–आत्मानुगत धर्मतन्त्र, और शरीरानुगत नीतितन्त्र–

उक्त धर्म और नीतिस्वरूप विश्लेषण का निष्कर्ष यही हुआ कि आत्मतन्त्र धर्मप्रधान है, शरीरतन्त्र नीतिप्रधान है। धर्मप्रधान आत्मा के आधार पर ही तो नीतिप्रधान शरीर प्रतिष्ठित है। नीतिप्रधान शरीर ही धर्मप्रधान आत्मा की आश्रयभूमि है। दोनों में मुख्य यद्यपि धर्मप्रधान आत्मा है, तथापि आत्मस्वरूप का रक्षा–विकास तो शरीरस्थिति पर ही अवलम्बित है। शरीर ही तो धर्मात्मक आत्मा का वह धाम केन्द्र है, जिसके स्वस्थ–सबल रहने पर ही आत्मा स्वधर्मानुगमन में समर्थ बनता है। इसी आधार पर–'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि बिना नीतिमार्ग को आगे किए धर्म रक्षा असम्भव है। विशुद्ध धर्म दूसरे शब्दों में नीतिनिरपेक्ष धर्म कभी सुरक्षित नहीं रह सकता। स्वधर्म रक्षा के लिए प्रत्येक दशा में नीतिमार्ग का अनुगमन अपेक्षित है। और इसीलिए भारतीय धर्म के साथ भारतीय राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। अतएव राजनीति का सञ्चालक भारतीय शासक यहाँ धर्म रक्षात्मक–धर्म संरक्षक माना गया है। अतएव स्वधर्म के अनन्यनिष्ठ भगवान् कृष्ण ने–'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को आधार बना कर स्व–धर्म रक्षा के लिए समय समय पर नीतिमार्ग का अवलम्बन किया है। शिखण्डी को आगे कर अर्जुन से भीष्म पर प्रहार कराना, 'अश्वत्थामा हतः–नरो वा कुञ्जरो वा' के आधार पर द्रोण का वध कराना, भीम के द्वारा दुर्योधन की जंघा पर गदाप्रहार करवाना, रथचक्र के भूमि में फँस जाने पर असहाय कर्ण पर प्रहार करवाना ये सब नीति मार्ग के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, जिनका स्वधर्म रक्षा के लिए स्वयं भगवान् की ओर से प्रयोग हुआ है। यह ध्रुव सत्य है कि बिना नीतिमार्ग के धर्ममार्ग कभी सुरक्षित नहीं रह सकता। तभी तो यहाँ धर्म के साथ नीति का अभेद सम्बन्ध माना गया है। नीतिमार्ग भी तो एक प्रकार का धर्म ही है। इसीलिए तो शासक के राजनैतिक मार्ग को यहाँ 'राजधर्म' नाम से ही व्यवहृत किया गया है। दुःख है कि, अब कुछ एक शताब्दियों से इस देश में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है कि, धर्ममार्ग एक स्वतन्त्र पथ है एवं राजनीति एक स्वतन्त्र पथ है, दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में ऐसा

मन्तव्य है कि, इसी भ्रान्ति ने भारतीय साम्राज्य का अपहरण किया है। विगत शताब्दियों के धर्म्मप्रिय भारतीय राजाओं में धर्म्म भावना का अनुचित समादर करते हुए आक्रान्ताओं को बार बार क्षमा कर अपना और अपने साम्राज्य का नाश कर लिया जिसके उदाहरण भारत के अन्तिम सम्राट् पृथिवीराज चौहान हैं।

५२–मताभिनिवेश के दुष्परिणाम—

मताभिनिविष्ट यवनों के अनन्तर राजनीतिकुशल विदेशी शासकों की इस देश पर अनुग्रहदृष्टि हुई। नीति के तात्त्विक स्वरूप को भुला देने वाले इस भारतीयों के हृदय में पुनः इस आशङ्का का जन्म हो पड़ा कि, कहीं ये नवागन्तुक अतिथि भी हमारे धर्म्म पर तो प्रहार न कर बैठेंगे। यही हमारी निर्बलता का मुख्य बीज था। हम भूल चुके थे इस सिद्धान्त को कि, नीतियुक्त धर्म्म पर कोई भी आक्रान्ता अपना आक्रमण सफल नहीं बना सकता। हम तो उक्त भ्रान्ति के अनुग्रह से कोरे धार्म्मिक बने रह गए थे। 'दूसरों की कमजोरी से लाभ उठाना सबसे बड़ी बुद्धिमानी है' राजनीति के इस अन्वर्थ सिद्धान्त का मर्म्म समझने वाले उन नवागन्तुकोंनें भारतभूमि पर पैर रखते ही हमारी इस कमजोरी का पता पा लिया। फिर क्या था। महारानी विक्टोरिया के शासनकाल में यह घोषणा कर दी गई कि 'हमारी राजनीति किसी के धर्म्म में कोई हस्तक्षेप न करेगी'। इस भ्रान्त भारतीयों ने बड़ी प्रसन्नता से इस घातक घोषणा का अभिनन्दन करते हुए अपनी नग्न मूर्खता का स्वरूप विदेशी शासकों के सम्मुख रखने में अपने आपको गौरवान्वित माना। भूतसिद्धिप्रधान उनकी राजनीति के प्रयोग आरम्भ हुए, इस कौशल से कि जिनके द्वारा अलक्ष्यरूप से हमारा सर्वस्व दिन दहाड़े लुटने लगा। हम धर्म्म-धर्म्म चिल्लाते रहे और उनकी राजनीति के महोदर में हमारा धर्म्म, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आचारव्यवहार, शिल्प कला, वाणिज्य, सब कुछ विलीन होते गए। आगे जाकर उक्त घोषणा की भी उपेक्षा आरम्भ हुई। लेजिस्लेटिव में अन्तर्जातीय विवाहादि प्रश्न उपस्थित होने लगे। उनके द्वारा नहीं, भारतीयों के ही द्वारा। इसलिए कि राजनीति के व्यामोह ने उन्हें धर्म्म स्वरूपज्ञान से सर्वथा वञ्चित कर दिया था। तभी तो आज के शिक्षित भारतीयों के यह अनर्गल प्रलाप देखे–सुने जा रहे हैं कि विवाह का धर्म्म से क्या सम्बन्ध ?, खान पान से धर्म्म का क्या सम्बन्ध ?। मानों इनकी दृष्टि में धर्म्म तो एक यह लोकातीत–अव्यवहार्य्य पदार्थ है जिसका मानवसमाज के दैहिक प्रत्यक्षजीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जहाँ हमारी राजनीति तक धर्म्ममूला थी वहाँ हमारा धर्म्मपथ भी धर्म्मसीमा से बहिष्कृत मान लिया गया। तब कहीं जाकर हमारे धर्म्मनेताओं (पण्डितसमाज) की आँखें खुलीं। विक्टोरिया की घोषणा दोहराई गई। परन्तु सुनता कौन था। व्यवहारजगत् में उसी की सुनी जाती है जिसके हाथ में नीतिशास्त्र सुरक्षित रहता है। वह धर्म्मनेताओं के पास है कहाँ। फिर इन निर्बलों की कौन सुने और क्यों सुनें। आज भी तो हम उसी भ्रान्तभावना को दोहराने का पाप कर रहे हैं। किसी भी धार्म्मिकसभा पर चले जाइए। पहिली घोषणा यह होगी कि 'हमारी यह संस्था, यह सभा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। हमारा लक्ष्य एकमात्र धर्म्म प्रचार है'। घोषणा करने वालों से क्या हम यह पूछ सकते हैं कि, धर्म्मावतार ! क्या राजनीति धर्म्म नहीं है ?। क्या आपके धर्म्म शास्त्रों में राजनीति का निरूपण नहीं हुआ ?, क्या आपकी राजनीति को धर्म्म (राजधर्म्म) नाम से व्यवहृत नहीं किया गया ?। फिर आपने किस आधार पर यह मान लिया कि, धर्म्म का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्मरण रखिए, यदि अब भी इसी भ्रान्ति में पड़े रहे तो धर्म्मरक्षा तो आप क्या करेंगे,—अपनी रक्षा भी आप न कर सकेंगे। धर्म्म को मूलप्रतिष्ठा बनाइए, राजनीति को धर्म्म प्रयोग का द्वार बनाइए। तभी तो आपके राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है। उधर विदेशियों

की नकल करने वाले वर्त्तमान राष्ट्रवादियों से हम यह निवेदन करेंगे कि परिस्थितिवशात् अनुग्रह से उनके सम्मुख धर्म्म का जो स्वरूप उपस्थित हुआ है, नीतिसमन्वित, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत वह धर्म्म वस्तुतः मतवाद है शान्तिविघातक सम्प्रदायविशेष है। एतावता ही भारतीय सिद्धान्तसिद्ध धर्म्म की ओर से उनका तटस्थ हो जाना श्रेयःपन्था नहीं है। उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जिस अहिंसा के आधार पर वे भारतवर्ष के अभ्युदय की कामना कर रहे हैं, जिस राजनीति के द्वारा वे साम्यवाद के सुख स्वप्न देख रहे हैं, वह अहिंसा वह साम्यवाद सम्यग्दर्शनानुगत बनता हुआ धर्म्ममूलक ही है। बिना धर्म्म को आधार बनाए न तो उनका राष्ट्रकल्पना ही कभी पुष्पित पल्लवित हो सकती एवं न धर्म्मवञ्चित, अतएव काल्पनिक अहिंसावाद को ही वे सुरक्षित रख सकेंगे।

५३–धर्म्म, और अधर्म्म वंशपरिचय—

अहिंसावादी राष्ट्रीय नेता कहा करते हैं जगत् को अपना मित्र समझो। अहिंसा को मुख्य बनाओ!। मुख्यामक!!। परन्तु कैसे?। क्या यह विशुद्ध राजनीति–मार्ग विश्वमैत्री का अनुगामी बन सकता है जिसका तमोगुणप्रधान राष्ट्रवासना मात्र व्यवहार से सम्बन्ध है?। सार्वजनिकस्वार्थ आवरणस्वरूप से अपेक्षित हिंसापथ का अपनाने वाले राजनीति–पथ में क्या अहिंसावाद सुरक्षित रह सकता है?। कभी नहीं। यह तो धर्म्म भावना को मूलाधार बनाने पर ही सम्भव है। क्योंकि मैत्री, अहिंसा, सन्तोष सर्वभूतहितरति आदि गुण धर्म्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। हमारे राष्ट्रीय नेता तटस्थ से भी एक बार भी भारतीय धर्म्म तत्त्व पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते तो धर्म्म के प्रति उनकी यह उपेक्षा न होती। धर्म्माधर्म्मवंशों का दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्र ने हमें बतलाया है कि, दक्षप्रजापति की ६ कन्याओं में १३ कन्याओं का धर्म्म के साथ पाणिग्रहण हुआ है। इन १३ पत्नियों से धर्म्म के १३ पुत्र उत्पन्न हुए हैं, यही धर्म्म वंश है। वे पत्नियाँ क्रमशः श्रद्धा मैत्री, दया शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया उन्नति, बुद्धि मेधा तितिक्षा, ह्री (लज्जा), मूर्त्ति, इन नामों से प्रसिद्ध हैं (श्रीमद्भागवत)। भागवतोक्त इन १३ पत्नियों के क्रमशः श्रद्धा से ऋत (सत्य) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्री से प्रसाद (आत्मविश्वास) दया से अभय शान्ति से सुख तुष्टि से सन्तोष, पुष्टि से गर्व (आत्माभिमान) क्रिया से योग (कर्म्मबुद्धियोग) उन्नति से दर्प (आत्मनिर्भरता–स्वावलम्बिता) बुद्धि से अर्थ (धनसम्पत्ति), मेधा से स्मृति तितिक्षा (सहनशक्ति) से क्षेम ह्री से प्रश्रय एवं मूर्त्ति से नरनारायण (नर बाल नारायण ईश्वर, दोनों का सहसम्बन्ध) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, नारायण को यदि पृथक् माना जाय है तो १३ के स्थान में चौदह संख्या हो जाती है। पुराणान्तरों में इसी धर्म्म वंश का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

श्रद्धा–लक्ष्मी–धृति–स्तुष्टि–पुष्टि–र्मेधा–तथा क्रिया।
बुद्धि–र्लज्जा–वपु–शान्ति–सिद्धि–कीर्ति–स्त्रयोदशी॥
पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्म्मो दाक्षायणीः प्रभुः॥ १॥

श्रद्धा–कामञ्च, श्री–दर्पं, नियमं धृतिरात्मजम् ॥
सन्तोषञ्च तथा तुष्टिः, लोभं पुष्टिरसूयत ॥ २ ॥
मेधा–श्रुतं, क्रिया–दण्डं, नयं–विनयमेव च ॥
बोधं बुद्धिः, स्तथा लज्जा विनयं, वपु–रात्मजम् ॥ ३ ॥
व्यवसायं प्रजज्ञे वै, क्षेमं शान्तिरसूयत ।
सुखं सुखा सिद्धिः, यशः कीर्त्तिरित्येते धर्म्मसूनवः ॥ ४ ॥

अधर्म्मवंश का निरूपण करते हुए शास्त्र ने कहा है—हिंसा अधर्म्म की पत्नी है, इससे अनृत (मिथ्याभाषण) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। निकृति नाम की कन्या उत्पन्न हुई है, जिसके गर्भ से नरक, और भय नाम के दो पुत्र (अधर्म्म के दौहित्र) उत्पन्न हुए हैं। नरक का विवाह माया से हुआ है भय का विवाह वेदना से हुआ है। माया से मृत्युपुत्र उत्पन्न हुआ है, वेदना से दुःखपुत्र उत्पन्न हुआ है। मृत्यु से व्याधि, शोक तृष्णा क्रोधादि पुत्र उत्पन्न हुए हैं। यही अधर्म्म का संक्षिप्त वंशविस्तार है, जो वर्त्तमान युग में सर्वात्मना पुष्पित पल्लवित हो रहा है। और निश्चयेन यही अधर्म्म वंश आज वर्त्तमान युगकल्पना का मूलाधार बनता हुआ हिंसा, मिथ्याभाषण माया वेदना व्याधि शोक तृष्णा, क्रोधादि का उद्बोधक सिद्ध हो रहा है। (मार्कण्डेयपुराण)। श्रद्धादि क्षमा, तप दान नियम क्षमा शौच, अस्तेय, अहिंसा तुष्टादि, इन दश अङ्गों से युक्त धर्म्म ही आत्मकल्याणपूर्वक इन्द्रियदमन का कारण बनता हुआ उस भारतीय साम्यवाद का पोषक बनता है जिसमें धर्म्मात्मिका आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'समदर्शन' को प्रधान बना कर नैत्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला विषमवर्त्तन (प्रकृतिभेदभिन्न विभिन्न व्यवहार) पुष्पित पल्लवित हुआ है। ठीक इसके विपरीत इन्द्रियपरायणता असत्य, कृपणता उच्छृङ्खल आहारविहार, अशुचि, हिंसा, भ्रान्ति, इत्यादि अङ्गों से युक्त अधर्म्म ही आत्मपतनपूर्वक इन्द्रियस्वच्छन्दतादि का कारण बनता हुआ उस पाश्चात्य साम्यवाद का पोषक बन रहा है जिसमें आत्माधःपतनमूलक अधर्म्मजनित विषमदर्शन तथा शरीरानुगत समवर्त्तन (प्रकृतिभेदविरुद्ध अप्राकृतिक समानाधिकार) पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। दोनों साम्यवादों में से कौन उपादेय है ?, इस प्रश्न के निर्णय का भार विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ते हुए इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से यही निवेदन करना पर्य्याप्त समझते हैं कि किसी भी साम्य पद्धति की किंवा सिद्धान्त की उपयोगिता उसके फल से निर्णीत होती है। परस्पर में हम एक दूसरे के शत्रु बने रहें स्पर्धानिष्ठा में निमग्न रहें व्यक्तिप्रतिष्ठा में मदोन्मत्त बने रहें और ऐसा करते हुए विभिन्नप्रकृति वाले सर्वथा असमान मनुष्यों को समानाधिकार का पाठ पढ़ाते हुए उन्हें स्वयोग्यताननुगत अधिकारभिन्न विभक्त कर्म्मपथ से च्युत करते रहें एवंविध विषमदर्शनानुगत समवर्त्तनप्रधान पश्चिमी साम्यवाद एक साम्य पद्धति है। इसका फल क्या हुआ ?, यह आज प्रत्यक्ष हो चुका है। इसी दुष्कल्पना से आज न केवल भारत ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज अप्रत्याशित संघर्षों में निमग्न हो रहा है। इसी फल से इसकी उपयोगिता स्पष्ट है। परस्पर में मैत्रीभाव रखते, स्पर्धानिष्ठा से बचे रहें, व्यक्ति–

को नष्ट करने वाले वर्त्तमान राष्ट्रवादियों से हम यह निवेदन करेंगे कि पश्चिमअनुग्रह से उनके सम्मुख धर्म का जो स्वरूप उपस्थित हुआ है नीतिनयवर्जित, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत यह धर्म वस्तुतः मतवाद है शान्तिविघातक सम्प्रदायविशेष है। एकमात्र ही भारतीय विज्ञानसिद्ध धर्म की धार से उनका सम्बन्ध हो जाना श्रेयस्कर नहीं है। उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जिस अहिंसा के आधार पर वे भारतवर्ष के अभ्युदय की कामना कर रहे हैं, जिस राजनीति के द्वारा वे साम्यवाद के सुख स्वप्न देख रहे हैं वह अहिंसा वह साम्यवाद समदर्शनानुगत बनता हुआ धर्ममूलक ही है। बिना धर्म को आधार बनाए न तो उनकी राष्ट्रकल्पना ही कभी पुष्पित पल्लवित हो सकती, एवं न धर्मवर्जित, अतएव काल्पनिक अहिंसावाद को ही वे सुरक्षित रख सकते।

५३–धर्म, और अधर्म वंशपरिचय—

अहिंसावादी राष्ट्रीय नेता कहा करते हैं जगत् को अपना मित्र समझो। अहिंसा को मुख्य बनाओ।। सुखान्तम्।।। परन्तु कैसे ?। क्या यह विशुद्ध राजनीति–मार्ग विश्वमैत्री का अनुगामी बन सकता है जिसका क्षमागुणप्रधान सर्वदेशव्यापक बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध है ?। कार्यकारणभावापन्न व्यवहारपक्ष में अपेक्षित हितरूप की मानवान् बाह्य राजनीति–पथ में क्या अहिंसाभाव सुरक्षित रह सकता है ?। कभी नहीं। यह तो धर्मभावना को मूलाधार बनाने पर ही सम्भव है। क्योंकि मैत्री, अहिंसा, सन्तोष, सर्वभूतहितरति, आदि गुण धर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। हमारे राष्ट्रीय नेता यदि कदाचित् एक बार भी भारतीय धर्म तत्त्व पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते तो धर्म के प्रति उनकी यह उपेक्षा न होती। धर्माधर्मवंशों का निरूपण करते हुए शास्त्र ने हमें बतलाया है कि, दक्षप्रजापति की ६ कन्याओं में १३ कन्याओं का धर्म के साथ पाणिग्रहण हुआ है। इन १३ पत्नियों से धर्म के १३ पुत्र उत्पन्न हुए हैं यही धर्मवंश है। वे पत्नियाँ क्रमशः श्रद्धा मैत्री, दया शान्ति तुष्टि, पुष्टि, क्रिया उन्नति, बुद्धि मेधा तितिक्षा, ह्री (लज्जा), मूर्त्ति, इन नामों से प्रसिद्ध हैं (श्रीमद्भागवत)। भागवतोक्त इन १३ पत्नियों में क्रमशः श्रद्धा से शुभ (सत्य) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्री से प्रसाद (आत्मविश्वास) दया से अभय शान्ति से सुख तुष्टि से मुद् पुष्टि से स्मय (आत्माभिमान) क्रिया से योग (धर्मबुद्धियोग) उन्नति से दर्प (आत्मनिर्भरता–स्वावलम्बिता) बुद्धि से अर्थ (तत्त्वज्ञप्ति), मेधा से स्मृति तितिक्षा (सहनशक्ति) से क्षेम ह्री से प्रश्रय एवं मूर्त्ति से नरनारायण (नर जीव, नारायण ईश्वर, दोनों का सहकर्म) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, नारायण को यदि पृथक् माना जाता है तो १३ के स्थान में चौदह संख्या हो जाती है। पुराणान्तरों में इसी धर्मवंश का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

> श्रद्धा–लक्ष्मी–धृति–स्तुष्टि–पुष्टि–र्मेधा–तथा क्रिया।
> बुद्धि–र्लज्जा–वपुः–शान्ति–सिद्धि–कीर्ति–स्त्रयोदशी ॥
> पत्न्यर्थे प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः ॥ १ ॥

श्रद्धा—कामञ्च, श्री—दर्प, नियम धृतिरात्मजम् ॥

सन्तोषञ्च तथा तुष्टि, र्लोभं पुष्टिरसूयत ॥ २ ॥

मेधा—श्रुत, क्रिया—दण्ड, नय—विनय मेव च ॥

बोधं बुद्धि, स्तथा लज्जा विनय, वपु—रात्मजम् ॥ ३ ॥

व्यवसाय प्रजज्ञे वै, क्षेम शान्तिरसूयत ।

सुखं सिद्धि, र्यशः कीर्तिरित्येते धर्म्मसूनव ॥ ४ ॥

अधर्म्मवंश का निरूपण करते हुए शास्त्र ने कहा है—हिंसा अधर्म्म की पत्नी है, इससे अनृत (मिथ्याभाषण) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। निकृति नाम की कन्या उत्पन्न हुई है, जिसके गर्भ से नरक, और भय नाम के दो पुत्र (अधर्म्म के दौहित्र) उत्पन्न हुए हैं। नरक का विवाह माया से हुआ है, भय का विवाह वेदना से हुआ है। माया से मृत्युपुत्र उत्पन्न हुआ है, वेदना से दुःखपुत्र उत्पन्न हुआ है। मृत्यु से जरा व्याधि, शोक तृष्णा क्रोधादि पुत्र उत्पन्न हुए हैं। यही अधर्म्म का संक्षिप्त वंशविस्तार है, जो वर्त्तमान युग में सर्वात्मना पुष्पित पल्लवित हो रहा है। और निश्चयेन यही अधर्म्मवंश आज वर्त्तमान राष्ट्रकल्पना का मूलाधार बनता हुआ हिंसा, मिथ्याभाषण माया, वेदना व्याधि, शोक तृष्णा, क्रोधादि का उत्तेजक सिद्ध हो रहा है। (मार्कण्डेयपुराण)। ब्रह्मचर्य्य, सत्य, तप, दान नियम क्षमा शौच, अस्तेय, अहिंसा सुशान्ति, इन दश अङ्गों से युक्त धर्म्म ही आत्मसंयमपूर्वक इन्द्रियदमन का कारण बनता हुआ उस भारतीय साम्यवाद का पोषक बनता है जिसमें धर्म्मात्मिका आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'समदर्शन' को प्रधान बना कर भौतिकात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला विषमवर्त्तन (प्रकृतिभेदसिद्ध विभिन्न व्यवहार) पुष्पित पल्लवित हुआ है। ठीक इसके विपरीत इन्द्रियपरायणता असत्य, कृपणता उच्छृङ्खल आहारविहार, अशुचि, हिंसा, अशान्ति, इत्यादि अङ्गों से युक्त अधर्म्म ही आत्मवञ्चनापूर्वक इन्द्रियस्वच्छन्दता का कारण बनता हुआ उस पाश्चात्य साम्यवाद का पोषक बन रहा है जिसमें आत्मावरणमूलक अधर्म्म जनित विषमदर्शन तथा शरीरानुगत समवर्त्तन (प्रकृतिभेदविरुद्ध अप्राकृतिक समानाधिकार) पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं। दोनों साम्यवादों में से कौन उपादेय है ?, इस प्रश्न के निर्णय का भार विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ते हुए इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से यही निवेदन करना पर्य्याप्त समझते हैं कि किसी भी कार्य्य पद्धति की किंवा सिद्धान्त की उपयोगिता उसके फल से निर्णीत होती है। परस्पर में हम एक दूसरे के शत्रु बने रहें, अर्थलिप्सा में निमग्न रहें, व्यक्तिप्रतिष्ठा में मदोन्मत्त बने रहें और ऐसा करते हुए विभिन्नप्रकृति वाले असमानधर्मा मनुष्यों को समानाधिकार का पाठ पढ़ाते हुए उन्हें स्वयोग्यतानुगत अधिकारसिद्ध विभक्त कर्म्मपथ से च्युत करते रहें एवंविध विषमदर्शनानुगत, समवर्त्तनात्मक पश्चिमी साम्यवाद एक कार्य्यपद्धति है। इसका फल क्या हुआ ?, यह आज प्रत्यक्ष हो चुका है। इसी राष्ट्रकल्पना से आज न केवल भारत ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज अमरवाञ्छित सङ्घर्षों में निमग्न हो रहा है। इसी फल से इसकी उपयोगिता स्पष्ट है। परस्पर में मैत्रीभाव रक्खें, अर्थलिप्सा से बचे रहें, व्यक्ति-

मन्त्रिता के मोह में न पड़ें और ऐसा करते हुए विभिन्नप्रकृतिक मनुष्यों को विभिन्न कर्मों में प्रतिष्ठित रखते हुए उन्हें स्वलक्ष्य पर आरूढ़ बनाए रहें। वर्णविद समदर्शनानुगत विषमवर्त्तनात्मक पूर्वोक्त साम्यवाद एक कार्य-पद्धति है पूर्ण परीक्षित सिद्धान्त है। इसका फल क्या हुआ था?, यह उस अतीत भारत से पूछिए, जिसमें सुख-शान्ति का पूर्ण साम्राज्य था। इसी फल से इसकी आवश्यक उपादेयता प्रमाणित है और प्रमाणित है भारतीय समदर्शनानुगत आत्मयुक्त धर्म, तथा विषमवर्त्तनानुगत शरीरयुक्त नीति की उपादेयता। यही धर्म और नीति का प्रासङ्गिक स्वरूपविश्लेषण है।

५४–धर्मस्वरूपजिज्ञासा–

साम्यवाद के प्रसङ्ग में पूर्व में हमनें जिस धर्मतत्त्व का यशोगान किया उसका तात्त्विक स्वरूप परिचय भी अपेक्षित है। मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्माचार्यों नें धर्म के जो लक्षण किए हैं वे सुप्रसिद्ध हैं। तत्तद्-स्मृति ग्रन्थो में उनका अवलोकन किया जा सकता है। धर्म के मूलभूत विज्ञानतत्त्व के विलुप्तप्राय हो जाने से पश्चिमी विज्ञान के आकर्षण से प्रभावित होने वाले वर्तमान शिक्षित भारतीयों की दृष्टि में केवल शब्दप्रमाणात्मक स्मार्त धर्मलक्षणों का विशेष महत्त्व नहीं है। अतएव प्रस्तुत परिच्छेदों में हमें विज्ञानदृष्टि से ही धर्मतत्त्व का स्वरूपपरिचय कराना है जिस परिचय के अनन्तर किसी भी वैज्ञानिक को धर्म की शाश्वत उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं रह सकता। 'धर्म' शब्द का अक्षरार्थ है—'धारण करने वाला'। धारणार्थक 'धृञ्' धातु से ('धृञ् धारणे भ्वादि-गण उ० ८।१।२७) 'मन्' प्रत्यय के द्वारा 'धर्म' शब्द निष्पन्न हुआ है। किस को धारण करने वाला कौन तत्त्व धर्म है? यह प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें सर्वप्रथम 'धारण' का अर्थ करने की आवश्यकता हुई। क्योंकि 'धारण' अर्थ आधाराधेयभाव से भी सम्बन्ध रखता है। सम्पूर्ण पदार्थों को पृथिवी ने धारण कर रक्खा है। इस दृष्टि से पृथिवी पार्थिव पदार्थों का धर्म है। शरीर पर वस्त्र है, वस्त्रों पर रङ्ग है मेज पर पुस्तक है स्थान में इमारत है। क्या इन सम्बन्ध-सम्बन्धानुसूत धारणभावों का ही नाम धर्म है?। तब तो अधर्म भी धर्म बन जाएगा। क्योंकि अधर्म लक्षण पाप के आधार पर भी तो अपराधी प्रतिष्ठित रहते हैं। क्या धारणार्थक धर्म की यही तात्त्विक परिभाषा है?।

५५–स्वधर्म, परधर्म–परिभाषा–

प्रश्न के समाधान के लिए वैज्ञानिकों नें धर्म तत्त्व के 'स्वधर्म' 'परधर्म' भेद से दो भेदविभाग माने हैं। जिस तत्त्व से जिस भौतिक पदार्थ का स्वरूप धृत रहता है वही धारक तत्त्व उस भौतिक पदार्थ का स्वधर्म है। इस स्वधर्म के आश्रित अन्य आगन्तुक धर्म ही उस भौतिक वस्तु के लिए परधर्म है। यदि परधर्म आश्रित भौतिक पदार्थ की स्वरूपहानि नहीं करते उसके स्वरूपरक्षक स्वधर्म को हानि नहीं पहुँचाते तब तक तो वे परधर्म आश्रितधर्म कहलाते हैं। यदि इन परधर्मों से पदार्थ के स्वधर्म की हानि हो जाती है तो वे ही परधर्म अधर्म कहलाने लगते हैं। इसप्रकार स्वधर्म आश्रितधर्म अधर्म भेद से धर्म तत्त्व के तीन विवर्त हो जाते हैं। आश्रितधर्म अधर्मरूप परधर्म प्रत्येक दशा में भयावह ही बना रहता है जैसा कि—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' वचन से प्रमाणित है। भौतिक विज्ञान (पदार्थविद्या) की दृष्टि से पहिले तीनों के उदाहरणों का समन्वय कीजिए। अपां संघातो विलयनं

च तेजःसंयोगात्' (वै द ५।२।८) सिद्धान्तानुसार 'ध्रुव' नामक घनाग्निधर्म के समावेश से वही पानी संघातभाव में परिणत होता हुआ तुषार (बर्फ) बन जाता है, एवं 'धर्त्र' नामक तरलाग्निधर्म के समावेश से वही पानी द्रवभाव में परिणत हो जाता है। जल में द्रवधर्म विज्ञानदृष्टया सांसिद्धिक (नित्य) नहीं है अपितु नैमित्तिक है। घनाग्नि पानी को घन बना देता है तरलाग्नि तरल बना देता है। पानी को तरलरूप में परिणत करने वाला तरलाग्नि पानी में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट हो रहा है। आत्मसमर्पणसम्बन्ध ही अन्तर्य्याम सम्बन्ध कहलाता है। तरलाग्नि के तापलक्षण स्वधर्म ने जल के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने ताप धर्म को जल के द्रवत्वरूप स्वधर्म में परिणत कर रक्खा है। वही ताप द्रवत्वरूप से जल का स्वधर्म बन रहा है। यही द्रवत्व जल का स्वरूपलक्षण स्वधर्म है। क्योंकि इसी द्रवधर्म की सत्ता में द्रवलक्षण जल की स्वरूपसत्ता है। जिस दिन यह द्रवत्व उत्क्रान्त हो जाता है, उसी क्षण जल का स्वरूप भी उत्क्रान्त हो जाता है। अतएव स्वधर्मरूप इस द्रवत्व को हम जल का स्वरूपधारक स्वधर्म कहने के लिए सन्नद्ध हैं। स्वधर्म युक्त इस जल को किसी पात्र में रख कर हमनें इन्धन के संयोग से इसमें आग्नेय ताप का बहिर्य्याम-सम्बन्ध से प्रवेश कराया। पानी गरम हो गया। यह आगन्तुक तापधर्म जलाश्रित बनता हुआ जल का आश्रित धर्म लक्षण परधर्म है। इसके आ जाने से पानी का कुछ बनता नहीं निकल जाने से पानी का कुछ बिगड़ता नहीं। अतएव इसे आगन्तुकधर्म कहना अन्वर्थ बनता है। यदि अग्निसंयोग तीव्र कर दिया जाता है, तो आगन्तुक तापधर्म प्रबल बन जाता है। प्रबल तापधर्म जल को वाष्परूप में परिणत कर उसका स्वरूपनाश कर देता है। इस दशा में आश्रितधर्मलक्षण यही ताप जल के स्वधर्म का स्वरूप-विघातक बनता हुआ अधर्मलक्षण परधर्म बन जाता है। इसप्रकार बहिर्य्यामसम्बन्ध से प्रविष्ट आगन्तुकधर्म चरम सीमा पर पहुँच कर अधर्म बन जाता है। यही परधर्मात्मक अधर्म स्वधर्म का उच्छेदक बनता हुआ धर्मीपदार्थ के स्वरूपनाश का कारण बन जाता है। इस धर्म तत्त्व-निर्वचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि जिस प्राणात्मिका शक्ति के आधार पर भूतात्मक (भूतात्मक) पदार्थों का यावत् स्वरूप प्रतिष्ठित, सुरक्षित रहता है वह धारक शक्तितत्त्व ही उस पदार्थ का धर्म, किंवा स्वधर्म है। एवं जिसके समावेश से पदार्थधर्मोच्छेदद्वारा पदार्थस्वरूप विनष्ट हो जाता है, वही उस पदार्थ के लिए अधर्म किंवा भयावह परधर्म है। जब तक धर्मी पदार्थ स्वधर्म से युक्त है, धर्म पर प्रतिष्ठित है तभी तक उस की स्वरूपस्थिति है। ताप-प्रकाश सूर्य्य के धर्म हैं इनके निकल जाने पर सूर्य्य का कोई स्वरूप नहीं। शैत्य प्रकाश आह्लादादि चान्द्रधर्म हैं इनके अभाव में चन्द्रमा का कोई मूल्य नहीं। तत्तत् पदार्थों की तत्तत् विभिन्नप्रकृति के भेद से विभिन्न तत्तत् स्वधर्म हैं तत्तत् पदार्थों के भिन्न भिन्न धर्म हैं। इसप्रकार प्रकृतिभेद से एक ही धर्म आगे आ कर चेतनधर्म अचेतनधर्म पशुधर्म मानवधर्म देवधर्म, गन्धर्वधर्म आदि अनन्त शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो जाता है। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि जो धर्म किसी के लिए स्वधर्म है वही अन्य प्रकृति वाले के लिए अधर्म है। शैत्यधर्म चन्द्रमा का जहाँ स्वधर्म है वही शैत्यधर्म अग्नि के लिए परधर्म बनता हुआ अधर्म है। इसी प्रकृति भेद के आधार पर धर्माधर्म की व्यवस्था हुई है। यही क्यों, देश-काल-पात्र-द्रव्य श्रद्धा के तारतम्य से वही धर्म परिस्थितिविशेष में अधर्म बन जाता है वही अधर्म धर्म बन जाता है। निरपराध का मारना अधर्म है सापराध आततायी को मार देना धर्म है। वही हिंसा एक स्थान पर अधर्म बन रही है अन्यत्र वही धर्म बन रही है। इसलिए तो धर्म का कोई नियत लक्षण नहीं किया जा सकता। देश-कालादि की

मनुष्यत्व से धर्म्म का स्वरूप तात्कालिक बन कर ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसी आधार पर आगे जाकर धर्म्म के–देशधर्म्म, जातिधर्म्म, कुलधर्म्म आदि अनेक विभाग हो जाते हैं। इसी आधार पर धर्म्माचार्य्यों ने धर्म का निम्न लिखित यौगिक लक्षण किया है—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्म्मलक्षणम् ॥

—व्या० स्मृ० १।६।

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥

—या० स्मृ० आ० ३। ३४३।

जड़ हो अथवा चेतन, पशु हो अथवा मनुष्य, देवता हो अथवा ऋषि जिसकी जैसी प्रकृति है, जिसका जैसा वर्ण है, वर्णानुगत उस प्राकृतिक वीर्य्य की स्वरूपरक्षापूर्वक जो धारक तत्त्व उस वस्तुतत्त्व की स्वरूपरक्षा करता है, वही उस वस्तुतत्त्व का धर्म्म है। हृदय में प्रतिष्ठित अन्तर्य्यामी ही प्रकृतितत्त्व है। यही प्रकृति उस वस्तुतत्त्व को नियतपथानुगामी बनाए रहती है। अतएव इस प्रकृति को 'नियतितत्त्व' कहा गया है। यही नियत तत्त्वभाव धर्म्मतत्त्व है (देखिए शत० ब्रा० १४।४।२।२६।) जिसका वर्णव्यवस्था के निर्माण के लिए ब्रह्म की ओर से प्रादुर्भाव हुआ है। यही वह सनातन तत्त्व है, जिसका मौलिक विज्ञान तो श्रुतिशास्त्र (वेदशास्त्र) में निरूपित हुआ है, एवं व्यवहार्य्य आदेश स्मृतिशास्त्र में उद्धृत हुए हैं, जैसा कि गीताभूमिका 'ख' विभाग के आर्षधर्म्म प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकृतिभेद के आधार पर सुव्यवस्थित यही वैज्ञानिक धर्म्मभेद भारतीय सनातनधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। वैज्ञानिक नियत धर्म्म एक ही अभ्युदयभाव को वस्तुतत्त्व का अनुगामी बनाता हुआ इसे निःश्रेयसभावापन्न बनाता है। इसी आधार पर महर्षि कणाद ने धर्म्म का लक्षण किया है—

'यतोऽभ्युदय–निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' ।

—वैशेषिक दर्शन १।१।२।

१६–धर्म्मविषयविप्रतिपत्ति, और तन्निराकरण—

यदि लक्षण धर्म्म प्राकृतिक है, तो इसके लिए आदेश की आवश्यकता क्यों हुई ? । पशु, पक्षी, ऋषि, देवता, गन्धर्व, सभी तो प्राकृतिक धर्म्मों में बिना किसी की प्रेरणा के ही आरूढ़ हैं। मनुष्य भी जब प्राकृतिक वर्ण है, तो उसके लिए शास्त्रानुशासन क्यों आवश्यक माना गया है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। जिसका समाधान है–मनुष्य का स्वाभाविक अनृतलक्षण असद्भाव। अनृत महान् ही इसकी योनि बनता है। सत्यतत्त्व सत्यधर्म्म से स्वभावतः वञ्चित है। अतएव मानवधर्म्म 'अनृतसंहित' ही माना गया है। इसी प्राकृतिक अनृतभाव के कारण मनुष्य प्रमादग्रस्त बनता हुआ अपने स्वाभाविक मानवधर्म्म से स्खलित हो जाता है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से भी प्रमाणित है—

* अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। तेन पूतिरन्तरतः । (शत० १।१।१।१)
सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः (शत० १।१।१।४)।

"ता इमाः प्रजाः—यथैवोपजीवन्ति—यथैवास्य प्रजापतिर्व्यदधात् । नैव देवा अति क्रामन्ति, न पितरः, न पशवः । मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति" ।

—शत० ब्रा० २।४।२।५,६, ।

प्रज्ञामूलक अतएव अनृतात्मक मानवानुगम्य प्रज्ञापराध से होने वाले इस मर्य्यादातिक्रमण के निरोध के लिए ही इसके लिए शास्त्रोपदेश अपेक्षित हुआ । कैसा शास्त्रोपदेश ? जिस के प्रवर्त्तक वे आप्तमहर्षि थे जिन्होंने इन्द्रियातीत गुप्ततम प्राकृतिक रहस्यों का साक्षात्कार किया एवं उन्ही के आधार पर मानवधर्म्मात्मक प्राकृतिक नियमोपनियमों का शब्दरूप से सम्पादन किया । आशिषमपि, विधि—निषेधात्मक यही सम्पन्न शब्द राशि अनुशासनधर्म्म के सम्बन्ध से—शास्त्र कहलाया जिसका निर्वचन गी० भू० प्रथमखण्डान्तर्गत 'शास्त्र शब्दनिर्वचन' प्रकरण में किया जा चुका है । यही शास्त्र मानव कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य का अन्यतम तथा निर्भ्रान्त निर्णायक माना गया, जिसके सम्बन्ध में स्वयं गीताचार्य्य की—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्या कार्य्यव्यवस्थितौ' यही सम्मति प्राप्त हुई है । तात्पर्य्य—श्रुति—स्मृति—पुराण—निबन्धों में प्रतिपादित, एतच्छा-स्त्रनिष्णात सद्विद्वानों के द्वारा अनुष्ठित प्रकृतिसिद्ध मानव—कर्म्मकलाप ही धर्म्म है जिसके अनुगमन में मानव की स्वरूप—रक्षा है । जिसके परित्याग से मानव का स्वरूपविनाश है । यही भारतीय वैज्ञानिक धर्म्म का संक्षिप्तस्वरूप परिचय है जिसका यथावत् बोध प्राप्त करने के अनन्तर कोई भी इसकी उपयोगिता का विरोध नहीं कर सकता । इस धर्म्म—परिभाषा को अवगत कर लेने पर हमारे नवशिक्षित भारतीयों को यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि धर्म्म केवल पारलौकिक निःश्रेयस का ही साधक नहीं है, अपितु इसका ऐहलौकिक अभ्युदय के साथ भी घनिष्ट सम्बन्ध है । हमारे ऐहिक, आमुष्मिक, सर्व्वविध कर्म्मकलापों का साफल्य धर्म्मानुगमन पर ही सम्पन्न है । धर्म्मानुगत कर्म्म ही गीतापरिभाषा में सत्कर्म्म है शेष धर्म्म विरुद्ध कर्म्म विकर्म्म अकर्म्म बनते हुए आत्म—शरीर—पतन के ही कारण हैं—'तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति' ।

५७—विज्ञानसिद्ध धर्म्म के अवान्तर भेद—

यों तो विज्ञानसिद्ध इस धर्म्म के अनन्त भेद हैं परन्तु बुद्धियुक्त प्राणिवर्ग की दृष्टि से इसका कतिपय संस्थाओं से भी विश्लेषण किया जा सकता है । निरन्तर यज्ञ तपो—दान लक्षण नियमानुरिक्त प्रवृत्तिकर्म्म का अनुगमन करते रहना, सात्त्विक भावपूर्वक वैराग्य उपासना में रत रहना, निरन्तर त्रिभुवन—स्तुति का अनुगामी बने रहना ये सब देवधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य भूदेव है । बाहुपराक्रम से काम लेना सत्यरक्षा को आधार बनाए रखना युद्धव्यापार में निरत रहना विशुद्ध नीतिमार्ग का अनुगमन करना ये नर देवधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य देव है । ज्ञानयोग में रत रहना, ब्रह्मविज्ञान का अनुगमन करना इत्यादि—सिद्धधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य सिद्ध है । नृत्य गीत—वाद्य—में रत रहना सरस्वती की उपासना करना ये सब गान्धर्वधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य गन्धर्व है । नाटक के कार्य्यों में प्रवृत्त रहना, विज्ञानतत्त्वा नुगमन करना कामदेव की उपासना करना ये सब विद्याधरधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य विद्याधर है । सर्वविध शिल्प—कलाओं में निपुण बने रहना गान्धर्वविद्यानिष्ठ बन रहना, शिवोपासना में रत रहना, ये

एव कम्पुरुषधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य किम्पुरुष हैं। ब्रह्मचर्य, मानपालित्व, योगाभ्यासरति, सर्वत्रकामचारित्व, ये सब पैतृकधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य पितर हैं। ब्रह्मचर्य नियमित आहारविहार, वल्कल धन गरिमा निम्नोक्तनियम सेवन इत्यादि आर्षधर्म्म हैं, तदनुगामी मनुष्य ऋषि हैं। शास्त्रस्वाध्याय ब्रह्मचर्य, दान यजन यथार्थवक्ता अनायास शौच माङ्गल्य शिव-रामस्तुपासन इत्यादि मानवधर्म्म हैं, तदनुगामी मनुष्य मानव हैं। धनलाभ, ऐन्द्रियक भोग स्वाध्याय शिवपूजन अहङ्कार, क्रोध इत्यादि गुह्यकधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य गुह्यक हैं। परदारगमन परधनलोलुपता, स्वप्नक्रोधादि धर्म्म राक्षसधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य राक्षस हैं। परदारगमन अविवेकता, मद्य-मांससेवन अज्ञान अपवित्रता, असत्यभाषण इत्यादि पैशाचधर्म्म हैं तदनुगामी मनुष्य पिशाच हैं। सुकेशी नामक राक्षस के प्रश्न करने पर महर्षियों ने इन्हीं द्वादश धर्म्मशालियों का विश्लेषण किया है।

सुकेशिरुवाच—किं लक्षणो भवद्धर्म्मः, किमाचरणसत्क्रियः।
यमाश्रित्य न सीदन्ति देवाद्यास्तु, तदुच्यताम् ॥
ऋषय ऊचुः—योनयस्तु द्वादशैता सहधर्म्मास्तु राक्षस।
ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदा ॥
—वामनपुराण ११ अध्याय।

५८—प्राकृतिक—धर्म्मस्वरूपपरिचय—

देव, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, किम्पुरुष, पितर, ऋषि गुह्यक राक्षस, पिशाच, ये ग्यारह सुप्रसिद्ध देवयोनियाँ हैं। इनका ईश्वरशरीर में यथास्थान आयतन है। मनुष्य में इन ग्यारहों का समावेश हुआ है। जिस मनुष्य में जिस प्राकृतिक देव-दैत्यादि का प्राधान्य अन्ततः रहता है, वह तत्स्वभावानुगत तद्धर्म्म की ओर ही अभिमुख रहता है। इसी आधार पर वेदपुरुष में मानवस्वभाव में ही उक्त बारह के विभिन्न भेद हैं। तत्त्व यही है कि, मनुष्य तत्तद्भावधर्म्मों का अनुगमन करता हुआ अपने आपको तत्तद्भावि भावों से युक्त कर सकता है। इन द्वादश धर्म्मयोनियों में मानवस्वभावानुगत मानवधर्म्म इसलिए सर्वापेक्षया महत्त्वपूर्ण माना जायगा कि, इसमें ईश्वरवत् सर्वधर्म्मों का समन्वय हो रहा है जो 'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च' सिद्धान्त ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है वह तदंशभूत पुरुष के लिए भी घटित हुआ है। इसी आधार पर 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। मनुष्य अपने से उच्चभूमिका में पहुँच कर देवता बन सकता है। निम्न भूमिका में पहुँच कर वही राक्षस, पिशाचादि का अनुगामी बन सकता है। जिस कोटि के धर्म्म का यह अनुगमन करेगा यह उसी रूप में परिणत हो जायगा। क्योंकि पुरुष के श्रद्धात्व का अपना कोई रूप नहीं है। अपितु वह यजन के अनुरूप ही श्रद्धा को परिणत हो जाना पड़ता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—'तं यथायथोपासते तदेव भवति' इत्यादि श्रौत-स्मार्त सिद्धान्तों के अनुसार तदनुगत श्रद्धा ही इसके धर्म्म की आधारशिला बनती है। यही कारण है कि, श्रद्धात्व के तारतम्य-

मतों के स्वरूप में परिणत हो जाने से आज हम भारतीयों की श्रद्धा स्वधर्म से विमुख होती जा रही है एवं परधर्म का अनुगमन करती जा रही है। स्वयं भारतीयों की दृष्टि में उनका वैदिक सनातन-धर्म आज अश्रद्धेय बना हुआ है एवं मतवादलक्षण परधर्म इनकी दृष्टि में श्रद्धेय बनता जा रहा है। यह व्यामोह तभी दूर हो सकता है, जब कि हम भारतीय उस मानवधर्म का तात्त्विक स्वरूपपरिचय प्राप्त करें जिसमें स्वाभाविकताक चातुर्वर्ण्यधर्म तथा व्यवस्थापक आश्रमधर्म पुष्पित पल्लवित हुए हैं। कामधाता श्रद्धा से यही कामना करते हुए धर्मस्वरूपपरिचय उपरत हो रहा है *।

आर्षविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित धर्म नाम की विद्याबुद्धि से युक्त 'कर्मबुद्धियोग' नामक योग ही गीताशास्त्र में 'निष्कामकर्मयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस दृष्टि से गीता को 'कर्मयोगशास्त्र' कहा जासकता है। 'कहा जासकता है' इस साधारण वाक्य का प्रयोग इस लिए किया जारहा है कि निष्काम-कर्मयोग गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय है-ब्रह्मविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित वैराग्य नामकी विद्याबुद्धि से युक्त 'वैराग्यबुद्धियोग' नामक योग, जो गीताशास्त्र में 'बुद्धियोग'-'योग'-'समत्वयोग' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। और इस दृष्टि से गीताशास्त्र को प्रधानतः 'बुद्धि-योगशास्त्र' कहना ही सर्वात्मना सुसङ्गत बनता है। ऐसी स्थिति में जिन अर्वाचीन (विद्वान्) गीताव्याख्याताओं ने गीताशास्त्र को एकदेशतया जो 'कर्मयोगशास्त्र' नाम से व्यवहृत कर दिया है वह उनका आग्रहपरम्परानुगामि' अतएव असामान्य सिद्धान्त ही माना जायगा। इसी असामान्य सिद्धान्त को प्रधानता देते हुए आज सर्वसाधारण के मुख से, विशेषतः गीताभक्त राष्ट्रीय दल के श्रीमुख से यह कहते सुना गया है-कि, गीता केवल निष्काम-कर्म का उपदेश दे रही है। अब से इति पर्य्यन्त गीता में मुख्यरूप से केवल निष्कामकर्मयोग का ही प्रतिपादन हुआ है। भ्रान्ति का पर्यवसान यहीं समाप्त नहीं होजाता। अपितु जब हम उन निष्कामकर्म-पक्षपातियों की ओर से उपस्थित की गई कर्मपरिभाषा पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें आश्चर्यचकित इस-लिए रह जाना पड़ता है कि जिस गीताशास्त्र को आधार बना कर वे अपने कर्मवाद का स्वरूप सामान्य प्रजा के सम्मुख उपस्थित करने के लिए आगे बढ़ते हैं उस कल्पित कर्मवाद का गीताशास्त्र में एक शब्द से

---

* उक्त धर्मस्वरूपपरिचय-प्रकरण में हमने यत्रतत्र धर्म को 'प्रकृतिसिद्ध' धर्म कहा है जिसका अर्थ होता है 'प्राकृतधर्म'। प्रकृति का अपने प्राकृतिकविलक्षण स्वभाव से परिवर्तनशीला है, तो तद्रूप प्राकृतधर्म 'शाश्वतसनातन' कैसे हुआ? यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका व्यवहारबुद्धयात्मक सामयिक निबन्ध में विस्तार से समाधान हुआ है। प्रकृत में यही जानकर सन्तोष कर लेना चाहिए कि, पूर्व में 'विद्या' स्वरूप प्रसङ्ग में हमनें अक्षर-क्षर-मूला जिन परा-अपरा-विद्याओं (विश्वविद्याओं) का दिग्दर्शन कराया है प्राकृत धर्म का इन्हीं प्राकृत क्षराक्षरविद्याओं से सम्बन्ध है जिसे हम विश्वधर्म' भी कह सकते हैं। सर्वाधारभूत अव्ययात्मा ही इस प्राकृत विश्वधर्म की प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठात्मक यही अव्ययात्मधर्म-'शाश्वतस्य च धर्मस्य' (गीता) के अनुसार शाश्वत सनातनधर्म है जो सर्वथा अप्राकृत (पुरुषात्मक) है। इस शाश्वत आत्मधर्म पर प्रतिष्ठित विश्वधर्म ही प्राकृतधर्म है जिसे 'प्रतीकधर्म' माना गया है। आत्म-धर्मानुगत यह प्रकृतिधर्म भी आत्मस्वरूप का संग्राहक बन जाता है। फलतः ही विभिन्न मताक्रान्त इस प्राकृतधर्म को भी (प्रतीकधर्म को भी) 'शाश्वत सनातनधर्म' उपाधि से समन्वित मान लिया है। इस व्यवच्छेद-दृष्टि को लक्ष्य बना कर ही अन निरूपित 'धर्म' स्वरूप का समन्वय करना चाहिए।

भी कहीं भी समर्थन नहीं हुआ है। भारतीय वेदादि शास्त्रों में वर्णाश्रमधर्म्मविरोधी, हीनाचारविहरगयुक्त जो उच्छृङ्खल कर्म्म थाद एकान्ततः निषिद्ध माना गया है, धर्मवत्मानुगत विश्वमदर्शनयुक्त, अतएव अधर्म-सम्पृक्त, अतएव विकर्म्म'-अकर्म्मात्मक जो अशास्त्रीय कर्म्म स्वयं गीताशास्त्र में पदे पदे निम्न भाषित हुआ है, निष्कामकर्म्म'भक्त राष्ट्रीय गीताभक्तों की दृष्टि में निन्द्य-निषिद्ध अशास्त्रीय कर्म्म वाद ही आज गीता का निष्काम कर्म्म'योग बना हुआ है। यदि वे शास्त्रसिद्ध गीतासम्मत वर्णाश्रमधर्म्मानुगत निष्काम वैदिककर्म्म को आगे कर गीता को निष्कामकर्म्म'प्रधान घोषित करने का अनुग्रह करते तब भी किसी सीमापर्य्यन्त उन का अपराध क्षम्य था परन्तु जब हम यह देखते हैं कि, गीताके नाम की अनन्यभक्ति प्रकाशित करते हुए जब वे गीता से एकान्ततः विरुद्ध अपने कल्पित कर्म वाद को ही गीतासम्मत मानने-मनवाने की धृष्टता कर रहे हैं तो कहना पड़ता है कि अभी वे गीताशब्द के अक्षरार्थ से भी अपरिचित हैं। सब के साथ समानरूप से व्यवहारकर्त्ता ईश्वरीय सृष्टि में सब को समानाधिकार प्राप्त है वर्णाश्रमव्यवस्था एवं तदनुगत अधिकारभिन्न पृथक्-पृथक् नियत कर्म्म केवल प्राचीनों की भ्रान्त कल्पना है इत्यादि मानवमात्र का आदर्शवाद विधान करने वाले इन राष्ट्रीय निष्कामकर्म्मयोगियों को सम्भवतः अवतक यह भी विदित न हुआ-होगा कि, 'निष्कामकर्म्मयोग' का शब्दार्थ भी क्या है ?। यह तो है उनकी प्रज्ञास्थिति और वैसा है उन का कर्म्मयोग एवं सर्वोपरि गीताशास्त्र का अवलम्बन एवैकमध्ययनधर्म ।

५६—निष्कामशब्द की निरर्थकता—

निष्कामशब्द का अर्थ है-'बिना कामना-इच्छा-के किया गया कर्म्म'। तत्परता से विचार कीजिए, क्या बिना इच्छा के कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव है ?। इसी निष्कामकर्म्म' का मुख्य दृष्टिकोण है-'फलाशा का सर्वथा परित्याग जिसका-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस वचन से ही स्पष्टीकरण हुआ है। यहीं आकर 'निष्कामकर्म्म का सिद्धान्ततः अर्थ होता है 'किसी भी फलप्राप्ति की इच्छा न रखते हुए कर्म्म करना। शास्त्र कहता है कर्म्म करने वाला कर्म्मात्मा ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय है। कारण-उस का स्वरूप 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मन-प्राण-वाक्-मय है। मनःपर्व ज्ञानशक्तिप्रधान है प्राणपर्व क्रियाशक्तिप्रधान है एवं वाक्पर्व अर्थशक्तिप्रधान है। इसके इन तीनों पर्वों से क्रमशः काम तप श्रम इन तीन विभिन्न भावों की प्राप्ति होती है। ज्ञानमय मन से किंवा मनोमय ज्ञान से सर्वप्रथम 'इदं कुर्य्याम्, इदं मे स्यात्' इत्याकारक 'काम (कामना-इच्छा) का उदय होता है। जिसके लिए वेद ने कहा है-'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक्सं० १०।१२९।४)। कामना मन का ही रेत है एवं प्रत्येक कर्म्मप्रवृत्ति से पहिले इसका उदित होना अनिवार्य है। लौकिक-पारलौकिक-सत्-असत्-कोई सा भी कर्म्म हो प्रत्येक के मूल में मनोमयी कामना प्रतिष्ठित है। इस कामनाप्रवृत्ति का उदय का मूल कारण है-'फलाशा'। यदि हमें यह बोध हो जाय अथवा तो बोध करा दिया जाय कि अमुक कर्म्म करने से कोई फल नहीं मिलेगा तो यह स्वाभाविक है कि, उस कर्म्म में हमारी प्रवृत्ति ही न होगी। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' इस लौकिक न्याय के अनुसार बिना प्रयोजन-फल को लक्ष्य बनाए एक मूढ भी किसी काम में हाथ नहीं डालता। मुख से 'निष्काम' शब्द का उच्चारणमात्र कर देने की कथा तो दूसरी है। नहीं, तो हम पूछते हैं क्या विरक्त या कोई से बड़ा विद्वान् भी अपने हृदय पर हाथ रख ...

यह सकता है कि, 'हम तो बिना फलेच्छा के ही, बिना कामना के ही कर्म कर रहे हैं' ? । फलेच्छा की जाति में अन्तर हो सकता है । किसी की फलेच्छा संकुचित हो सकती है, किसी की विशाल । परन्तु फलेच्छा का रहना प्रत्येक दशा में अनिवार्य इसलिए है कि बिना इच्छा के प्राणव्यापारलक्षण तप (स्पन्द-कृति-चेष्टा) असम्भव है एवं बिना तप के वाग्व्यापारलक्षण श्रम (शरीरव्यापारलक्षण बहिर्व्यापार) असम्भव है । हम क्षुद्रप्राणियों की तो बात ही क्या, जब कि सम्पूर्ण विश्व का अधीश्वर स्वयं प्रजापति भी स्वकर्मसिद्धि के लिए काम-तप-श्रम-लक्षणा व्यापारत्रयी का ही अनुगमन करता है, जैसा कि—'असद्वा इदमग्र आसीत् । सऽकामयत—'एकोऽहं बहु स्याम्' । सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्' । तस्य कामयमानस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । प्रत्येक कर्म सर्वप्रथम कामना सापेक्ष है । हाथ हिलाना एक कर्म है । सर्वप्रथम 'हाथ हिलाऊँ' इस कामना का उदय होता है, यह कर्मात्मा की मन कला का व्यापार है । इस मानसेच्छा के अव्यवहितोत्तर काल में ही प्राणव्यापारलक्षण तप हो पड़ता है । इच्छा के होते ही हृदय में आरम्भ का हस्तस्पन्द हाथ उठान का अन्तर्व्यापार हो पड़ता है जिसे वेदभाषा में क्रतु, दर्शनभाषा में कृति, व्यवहारभाषा में स्पन्द-चेष्टा एवं आस्तिकभाषा में 'कोशिश' कहा गया है । यही प्राणव्यापार है जिसका हमें अपने अन्तर्जगत् में अनुभव होता है । इस अन्तर्व्यापार के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वाग्व्यापारलक्षण बहिर्व्यापार हो पड़ता है, हाथ हिल पड़ता है । यही कर्ममात्र की सामान्य-अनिवार्य व्यवस्था है । मूलाधार आत्ममय मन इसमें क्रमानुपूर्व्येण सर्वप्रथम इच्छा का उदय तदनन्तर कृति का उदय अनन्तर कर्म (बहिर्व्यापार) का उदय एवं इच्छा-कृति-कर्म इन तीनों आत्मव्यापारों से कर्म की स्वरूपनिष्पत्ति । इसी क्रमानुबन्ध का निम्न लिखित वचनों से समर्थन हुआ है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ॥
कृतिजन्यं भवेत् कर्म, तस्मात् कृत्युपजायते ॥१॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ॥
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥२॥
—मनुः २।४।

६०—फलत्यागानुगत निष्कामकर्म का महान् व्यामोहन—

बिना श्रम (शरीरव्यापार) के कर्मसिद्धि असम्भव, बिना तप (प्राणव्यापार) के श्रम असम्भव, एवं बिना काम (मनोव्यापार) के तप आदि असम्भव । अतः स्वभावात् कर्मसिद्धियों की अन्तिम विश्राम-भूमि कामना (इच्छा) है । अब बतलाइए, आपके निष्काम कर्म का क्या महत्त्व रहा ? । निष्काम शब्द का यह अभ्युपगतार्थ क्या आपके कल्पित निष्कामभाव को सुरक्षित रख सकेगा ? । यदि हाँ तो अनुग्रह कर बतलाइए कैसे ? । यदि नहीं, तो आप से ही यह कहना छोड़ दीजिए कि निष्कामकर्म केवल कहने मात्र की वस्तु है, व्यवहारदशा में इसका कोई उपयोग नहीं । आप प्रश्न करेंगे—यदि ऐसा ही है तो भगवान ने यह कैसे किस आधार पर यह कहा कि 'तुम कामना को छोड़ते हुए कर्म करो' । उत्तर में हम आप से निवेदन करेंगे कि, भगवान ने तो कहीं भी यह नहीं कहा है कि, 'तुम काम न उठाकर बिना किसी इच

यथेच्छ कर्म्म में प्रवृत्त हो जाओ'। अपितु ठीक इसके विपरीत युद्धकर्म्म के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करते हुए भगवान् ने यही कहा है कि–'तुझे अवश्य इस क्षत्रियवर्गोचित इस युद्धकर्म्म में इसलिए प्रवृत्त होना चाहिए कि, इस युद्धकर्म्म में तेरा दोनों भांति लाभ है। मर गया तो स्वर्ग मिलेगा और जय हो तो साम्राज्य सुख का उपभोग करेगा—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (गी० २।३७)। इसी फल को आगे कर भगवान् अर्जुन को युद्ध के लिए सन्नद्ध करते हैं–'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः। स्वर्ग, और साम्राज्यसुखोपभोग,–फलों को उद्देश्य बना कर अर्जुन को युद्धकर्म्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् ने 'फलाशा छोड़ कर कर्म्म करो' यह कहाँ किससे कब कह डाला? हम से कम उपलब्ध गीताशास्त्र में तो हमें कहीं भी ऐसी भगवदुक्ति उपलब्ध नहीं हुई। फिर आपने किस आधार पर अपने कल्पित निष्कामवाद को भगवत्सम्मत बतलाने का साहस कर डाला ?। उत्तरिए, सम्भवतः गीता के 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस वाक्य ने आपको भ्रम में डाल दिया है। हमने निष्कामकर्म्मवादियों को प्रायशः गीता के इस वाक्य का उच्चारण करते सुना है। और इसका यह अर्थ भी सुना है कि भगवान् कहते हैं 'तुम केवल निष्कामकर्म्म करो, फल की इच्छा न करो'। सम्भवतः इसी भ्रान्त अर्थ ने आपको आज निष्कामकर्म्मवादी बना डाला है। दुःख है कि आपने स्वयं गीता का अध्ययन नहीं किया। केवल सुन–सुना कर ही आप गीताविद् बन गए। नहीं, तो उक्त वाक्य के सम्बन्ध में आपको भ्रान्ति न होती। लीजिए, पूरा श्लोक उद्धृत करते हुए आज हम इसके अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली भ्रान्ति का निराकरण किए देते हैं। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

> कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि॥ (गी०२।४७)।

६१–कर्म्म, और कर्म्मफल–मीमांसा—

"ते कर्म्मणि एव अधिकारः फलेषु कदाचन मा (अधिकारबुद्धिं कुरु, इति शेषः) कर्म्मफलहेतुः मा भूः। ते अकर्म्मणि सङ्गः–मा (भूत्–इति शेषः)" इत्यन्वयात्मक श्लोक का अभिप्राय यही है कि–'तेरा कर्म्म में ही अधिकार है (अतएव) फल में कभी अधिकार बुद्धि न कर। (तू) कर्म्मफल का कारण न बन (साथ ही) तेरा अकर्म्म में आग्रह न हो"। अब तात्पर्यार्थ पर दृष्टि डालिए। अग्निप्रज्वलित होता रहे, और पानी गरम न हो, यह असम्भव है। चलते रहें, और मार्ग न कटे यह असम्भव है। तात्पर्य्य अनुकूल कर्म्म यदि यथोचित है तो अवश्यमेव वह फल का जनक बनता है। कोई भी कर्म्म यथाविधि से किया जाने पर अवश्यमेव तदनुरूप फल उत्पन्न करता है। इसप्रकार कर्म्म तत्त्व 'कर्म्म और कर्म्मफल' इन दो भावों में विभक्त रहता है। अब अधिकार का प्रश्न उपस्थित होता है। हम आप से पूँछते हैं कि, इन दोनों में से किस पर आपका अधिकार है ?। कर्म्म, और कर्म्मफल दोनों के जनक क्या आप [illegible] हैं ?। इसी सम्बन्ध में भगवान् निर्णय करते हैं–तुम कर्म्म मात्र के अधिकारी हो, फल के प्रति तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। बात यथार्थ है। जो जिस कार्य्य का आरम्भ प्रवर्तक होता है वही उस कार्य्य का अधिकारी माना गया है। फलसाधक कर्म्म का आरम्भक कर्म्मात्मा है, अतएव कर्म्मात्मा अवश्य ही कर्म्माधिकारी माना जा सकता है, माना जाता है। परन्तु कर्म्मफल का कर्म्मात्मा आरम्भक नहीं है। कर्म्मफल कर्म्मात्मा (हम) उत्पन्न नहीं करता।

कर्मफल उत्पन्न होता है—'कर्म' से। अतः कर्म को ही कर्मफल का कारण (प्रवर्त्तक—जनक) माना जायगा। और ऐसी स्थिति में कर्म को ही कर्मफल का अधिकारी माना जायगा। स्वयं पाचक (रसोइया) पाकद्रव्यरूप फल (भोज्य पदार्थ) का कारण नहीं है, अपितु पाचक का पाकद्रव्यसम्पादनानुरूप पाककर्म ही पाकद्रव्य का कारण बनता है। सहजभाषा में—हम स्वयं कर्मफल उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा सुव्यवस्थित कर्म ही कर्मफल का जनक बनता है। बस 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' वचन से इसी विभक्त अधिकारमर्य्यादा का विश्लेषण हुआ है। भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, तुम्हारा (कर्म कर्त्ता का) अधिकार केवल कर्म में है। अतएव कर्मफलों के कारण बनने की अनधिकार चेष्टा मत करो। बात अभी पूरी स्पष्ट नहीं हुई। अतएव उत्तरार्द्ध में भगवान् को कहना पड़ा कि, 'मा कर्मफलहेतुर्भूः'। तुम कर्मफल के कारण मत बनो। भगवान् का अभिप्राय यही है कि कर्मफल के हेतु तुम नहीं हो, अपितु तुम्हारा कर्म कर्मफल का हेतु है। कारण—तुम कर्मफल उत्पन्न नहीं करते अपितु तुम्हारे कर्म से कर्मफल उत्पन्न होता है। जब कर्मफल के तुम कारण हो ही नहीं, तो बतलाओ तुम कर्मफल में अधिकारबुद्धि का समावेश क्यों कर रहे हो!

६३—अधिकारानुगत कर्म—

अब जब भगवान् के इस कथन से भ्रान्ति में पड़ कर कर्म की ओर से उदासीन हो सकते हैं। जिस कर्मफल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि कह दिया जाय कि 'तुम्हारा फल में कोई अधिकार नहीं है तुम्हारा अधिकार है केवल कर्म में। फल का नाम लेना भी तुम्हारा अपराध है', तो अवश्यमेव वह अज्ञ मनुष्य अधिकारमर्य्यादा के तत्त्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म की ओर से उदासीन बन सकता है। वह यह समझता हुआ कि, 'जिस फल के लिए मैं कर्म करने जा रहा हूँ, उस फल पर जब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म करूँ ही क्यों?' कर्म छोड़ बैठेगा और अकर्म्मण्य बन जायगा जो भगवान् को किसी भी दशा में अभीप्सित नहीं है। इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि'। जिसका एक तात्पर्य्य यही है कि—'अधिकारमर्य्यादा का तत्त्व न समझने के कारण कहीं तुम अकर्म्म में आसक्ति न कर बैठना, कर्म न छोड़ बैठना। विश्वास रक्खो! कर्म कभी निरर्थक नहीं जाता। यदि तुम अनन्यनिष्ठा के साथ कर्मस्वरूपसम्पादन कर लोगे तो अवश्यमेव उससे फल उत्पन्न होगा। और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा। तुम फल के अधिकारी नहीं हो, इसका तात्पर्य्य यह न समझो कि, तुम फल से वञ्चित हो रहे हो। अरे! कर्म पूरा हो गया तो फल तुम्हारे लिए ही सुरक्षित है। हमारा अभिप्राय तो यही है कि, कर्म्मानुष्ठानकाल में तुम फल की कामना से बचे रहो। यह तभी सम्भव है, जब कि तुम यह समझलो कि, कर्म के कारण तुम हो और फल का कारण कर्म है। इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि, तुम अनन्यनिष्ठा से कर्म में अवश्य प्रवृत्त रहोगे, कभी अकर्म में (कर्मपरित्याग में) तुम्हारी प्रवृत्ति न होगी। साथ ही फल भी यथासम्भव (कर्मस्वरूप परिपाकानन्तर) तुम्हें मिल जायगा। अतः अधिकारमर्य्यादा के इस तत्त्व को न समझ कर कभी तुम्हें अकर्म्मसङ्गी (कर्मपरित्यागी) नहीं बन जाना चाहिए। 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' वाक्य का यही एकप्रकार का सामान्य दृष्टिकोण है।

यथेच्छ कर्म्म में प्रवृत्त हो जाओ'। अपितु ठीक इसके विपरीत युद्धकर्म्म के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करते हुए भगवान् ने यही कहा है कि–'तुम्हें अवश्य इस क्षत्रियवर्णोचित इस युद्धकर्म्म में इसलिए प्रवृत्त होना चाहिए कि, इस युद्धकर्म्म में तेरा दोनों भांति लाभ है। मर गया तो स्वर्ग मिलेगा जीत गया तो साम्राज्य सुख का उपभोग करेगा—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (गी० २।३७)। इसी पक्ष को आगे कर भगवान् अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करते हैं–'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः'। स्वर्ग और साम्राज्यसुखोपभोग,–इन्हीं को उद्देश्य बना कर अर्जुन को युद्धकर्म्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् ने 'फलाशा छोड़ते हुए कर्म्म करो' यह कहाँ लिखदिया, यह कब कह डाला !, कम से कम उपलब्ध गीताशास्त्र में तो हमें कहीं भी ऐसी भगवदुक्ति उपलब्ध नहीं हुई। फिर आपने किस आधार पर अपने कल्पित निष्कामवाद को भगवत्सम्मत बतलाने का साहस कर डाला !। ठहरिए, सम्भवतः गीता के 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस वाक्य ने आपको भ्रम में डाल दिया है। हमने निष्कामकर्म्मवादियों को प्रायः गीता के इस वाक्य का उच्चारण करते सुना है। और इसका यह अर्थ भी सुना है कि, भगवान् कहते हैं 'तुम केवल निष्कामकर्म्म करो, फल की इच्छा न करो'। सम्भवतः इसी भ्रान्त अर्थ ने आपको भ्रान्त निष्कामकर्म्मवादी बना डाला है। दुःख है कि आपने स्वयं गीता का अध्ययन नहीं किया। केवल सुन–सुना कर ही आप गीताविद् बन गए। नहीं तो उक्त वाक्य के सम्बन्ध में आपको भ्रान्ति न होती। लीजिए, पूरा श्लोक उद्धृत करते हुए आज हम इसके अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली भ्रान्ति का निराकरण किए देते हैं। श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !!

> कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (गीता२।४७)।

६१–कर्म्म, और कर्म्मफल–मीमांसा—

"ते कर्म्मणि एव अधिकारः फलेषु कदाचन मा (अधिकारबुद्धिं कुरु, इति शेषः) कर्म्मफलहेतुः मा भूः। ते अकर्म्मणि सङ्गः–मा (भूत्–इति शेषः)" इत्यन्वयात्मक श्लोक का अक्षरार्थ यही है कि–'तेरा कर्म्म में ही अधिकार है (अतएव) फल में कभी अधिकार बुद्धि न कर। (तू) कर्म्म फल का कारण न बन (साथ ही) तेरा अकर्म्म में सङ्ग न हो। अब तात्पर्य्यार्थ पर दृष्टि डालिए। अग्नि प्रज्वलित होता रहे, और पानी गरम न हो, यह असम्भव है। चलते रहें और मार्ग न कटे यह असम्भव है। तात्पर्य्य अनुकूल कर्म्म यदि यथाविधि है तो अवश्यमेव वह फल का जनक बनता है। कोई भी कर्म्म व्यवस्थितक्रम से किया जाने पर अवश्यमेव तदनुरूप फल उत्पन्न करता है। इसप्रकार कर्म्म तत्त्व 'कर्म्म और कर्म्मफल' इन दो धाराओं में विभक्त रहता है। अब अधिकार का प्रश्न उपस्थित होता है। हम आप से पूँछते हैं कि, इन दोनों में से किस पर आपका अधिकार है ?। कर्म्म और कर्म्मफल दोनों के जनक क्या आप ही हैं ?। इसी सम्बन्ध में भगवान् निर्णय करते हैं–तुम कर्म्म मात्र के अधिकारी हो, फल के प्रति तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। बात यथार्थ है। जो जिस कार्य्य का कारण प्रवर्त्तक होता है, वही उस कार्य्य का अधिकारी माना गया है। फलजनक कर्म्म का कारण कर्म्मात्मा है अतएव कर्म्मात्मा अवश्य ही कर्म्माधिकारी माना जा सकता है, माना जाता है। परन्तु कर्म्मफल का कर्म्मात्मा कारण नहीं है। कर्म्मफल कर्म्मात्मा (तुम) उत्पन्न नहीं करता।

कर्म्मफल उत्पन्न होता है–'कर्म्म' से । अतः कर्म्म को ही कर्म्मफल का कारण (प्रवर्त्तक–जनक) माना जायगा। और ऐसी स्थिति में कर्म्म को ही कर्म्मफल का अधिकारी माना जायगा। स्वयं पाचक (रसोइया) पाकद्रव्यरूप फल (भोज्य पदार्थ) का कारण नहीं है अपितु पाचक का पाकद्रव्यसम्पादनानुरूप पाककर्म्म ही पाकद्रव्य का कारण बनता है। सहजभाषा में–हम स्वयं कर्म्मफल उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा सुव्यवस्थित कर्म्म ही कर्म्मफल का जनक बनता है। अतः 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन' वचन से इसी विभक्त अधिकारमर्य्यादा का विश्लेषण हुआ है। भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, तुम्हारा (कर्म्म कर्त्ता का) अधिकार केवल कर्म्म में है अतएव कर्म्मफलों के कारण बनने की अनधिकार चेष्टा मत करो। बात अभी पूरी स्पष्ट नहीं हुई। अतएव उत्तरार्द्ध में भगवान् को कहना पड़ा कि 'मा कर्म्मफलहेतुर्भूः'। तुम कर्म्मफल के कारण मत बनो। भगवान् का अभिप्राय यही है कि कर्म्मफल के हेतु तुम नहीं हो, अपितु तुम्हारा कर्म्म कर्म्मफल का हेतु है। कारण–तुम कर्म्मफल उत्पन्न नहीं करते अपितु तुम्हारे कर्म्म से कर्म्मफल उत्पन्न होता है। जब कर्म्मफल के तुम कारण हो ही नहीं, तो बलात् तुम कर्म्मफल में अधिकारबुद्धि का समावेश क्यों कर रहे हो!

६२–अधिकारानुगत कर्म्म—

अब कहीं भगवान् के इस कथन से भ्रान्ति में पड़ कर कर्म्म की ओर से उदासीन हो सकते हैं। जिस कर्म्मफल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि कह दिया जाय कि तुम्हारा फल में कोई अधिकार नहीं है तुम्हारा अधिकार है केवल कर्म्म में। फल का नाम लेना भी तुम्हारा अपराध है', तो अवश्यमेव यह भ्रान्त मनुष्य अधिकारमर्य्यादा के तत्त्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म्म की ओर से उदासीन बन सकता है। वह यह समझता हुआ कि 'जिस फल के लिए मैं कर्म्म करने जा रहा हूँ, उस फल पर जब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म्म करूँ ही क्यों?' कर्म्म छोड़ बैठेगा और अकर्म्म हम बन जायगा जो भगवान् को किसी भी दशा में अभीप्सित नहीं है। इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि–'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि', जिसका एक तात्पर्य्य यही है कि–'अधिकारमर्य्यादा का तत्त्व न समझने के कारण कहीं तुम अकर्म्म में आसक्त न कर बैठना कर्म्म न छोड़ बैठना। विश्वास रक्खो! कर्म्म कभी निरर्थक नहीं जाता। यदि तुम अनन्यनिष्ठा के साथ कर्म्मस्वरूपसम्पादन कर लोगे तो अवश्यमेव उससे फल उत्पन्न होगा। और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा। तुम फल के अधिकारी नहीं हो, इसका तात्पर्य्य यह न समझो कि, तुम फल से वञ्चित हो रहे हो। अरे! कर्म्म पूरा हो गया तो फल तुम्हारे लिए ही सुरक्षित है। हमारा अभिप्राय तो यही है कि, कर्म्मानुष्ठानकाल में तुम फल की कामना से बचे रहो। यह तभी सम्भव है, जब कि तुम यह समझलो कि कर्म्म के कारण हम हैं और फल का कारण कर्म्म है। इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि तुम अनन्यनिष्ठा से कर्म्म में अवश्य प्रवृत्त रहोगे कभी अकर्म्म में (कर्म्मपरित्याग में) तुम्हारी प्रवृत्ति न होगी। साथ ही फल भी यथासम्भव (कर्म्मस्वरूप परिपाकानन्तर) तुम्हें मिल जायगा। अतः अधिकारमर्य्यादा के इस तत्त्व को न समझ कर कभी तुम्हें अकर्म्मवादी (कर्म्मपरित्यागी) नहीं बन जाना चाहिए। मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि वाक्य का यही एकप्रकार का सामान्य दृष्टिकोण है।

६४–'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का समन्वय—

अब एक दूसरे तात्त्विक दृष्टिकोण से उक्त वाक्य का समन्वय कीजिए। क्रिया कर्म है जिसका गुणभूतों के पारस्परिक संघर्ष से स्वरूप सम्पन्न हुआ है *। गुणात्मक यह क्रियारूप कर्म ही क्रिया और अर्थ भेद से दो भागों में परिणत होता हुआ 'कर्म', और 'अकर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ गुणकृत्यात्मक है जैसाकि–'गुणकृतो ह्यर्थः' से प्रमाणित है। इसी दृष्टिकोण से नास्तिकदर्शन के–'अर्थक्रियाकारित्वं सत्' इस महासूत्र का समन्वय हुआ है। तात्पर्य यही है कि क्रियासमष्टि ही अर्थचिति की चरम सीमा पर पहुँच कर निष्क्रियभाव में परिणत होती हुई अर्थस्वरूप में प्रकट होती है। निष्क्रिय अर्थ क्रियात्मक कर्म का ही उत्तररूप है। अर्थ का पूर्वरूप क्रियात्मक कर्म है कर्म का पूर्वरूप ज्ञान है। वही ज्ञान मनों के योग से कर्म बनता है वही कर्म अर्थचिति से अर्थ बनता है। ज्ञानाकार वस्तुचिति के अभाव में एकरूप बना हुआ ज्ञानबल ही वस्तुचिति के तारतम्य से मनोमय ज्ञान प्राणमय कर्म वाङ्मय अर्थ इन तीन विवर्त भावों में परिणत हो रहा है जैसाकि 'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्'–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। ज्ञान कर्म अर्थ तीनों में ज्ञान भी निष्क्रिय बनता हुआ 'अकर्म' तत्त्व है एवं कर्मान्त का अर्थ (भौतिक पिण्ड) भी निष्क्रिय बनता हुआ 'अकर्म' है। ज्ञानात्मक अकर्म तत्त्व तो [illegible] ज्ञानधर्म में लक्ष्य बनता है अतएव इसके साथ तो सङ्गप्रतिज्ञा आसक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता हो सकता। अतएव न–'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' का अकर्म ज्ञानात्मक अकर्मतत्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः' इस श्लोक में पठित 'अकर्म' शब्द–'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः'–'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत आहितम्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपवर्णित ज्ञानात्मक अमृतलक्षण अकर्म ब्रह्म एवं क्रियात्मक मृत्युलक्षण कर्म, दोनों के अन्योऽन्यपरिणाम–सम्बन्ध के अनुसार से जहाँ ज्ञानलक्षण अकर्म ब्रह्म का वाचक है वहाँ–'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' का 'अकर्म' शब्द 'सङ्ग' शब्दसम्पर्क से अर्थात्मक अकर्म का ही वाचक माना जाएगा। क्योंकि अर्थ ही आसक्तिरूप सङ्ग का जनक बनता है। इस दृष्टि से हम इस वाक्य के 'अकर्मणि' का अर्थ 'फल' करेंगे। कर्म तो क्रियात्मक कर्म है। इस कर्म से उत्पन्न लेपकारक भाग अर्थलक्षण अकर्म है। भगवान् कहते हैं इस अकर्म रूप फल में तुम्हारा सङ्ग (आसक्ति) नहीं होना चाहिए। यही दूसरा तात्त्विक दृष्टिकोण है। फल के सङ्ग का तो क्या तात्पर्य? एवं फलसङ्ग से हानि क्या हो सकती है?, यह विस्तारपूर्वक सिद्ध किए बिना 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' का मर्म समझ में नहीं आ सकता अतः अब शब्दों में इसका स्पष्टीकरण भी कर लीजिए।

६५–इच्छा, और बन्धन–मीमांसा—

इच्छा, कर्म कर्मजनित फल और फलासक्ति, इन चार परिधियों में से बन्धन का कारण कौन है, पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए। इच्छा (कामना) क्या बन्धन का कारण है? देखते हैं—स्वेच्छा से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करता हुआ भी 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से स्वेच्छा से उत्पन्न विश्व

---

* गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

के गर्भ में रहता हुआ भी सर्वकर्मा जगदीश्वर बन्धन से रहित है। इसी से सिद्ध है कि इच्छा बन्धन का कारण नहीं है। वैसी इच्छा !—स्वेच्छा न कि परेच्छा। स्वेच्छा, और परेच्छा में अहोरात्र का अन्तर है। स्वाभाविक–नियत कर्मों की अनिवार्या इच्छा स्वेच्छा कहलाई है इसी को विज्ञानभाषा में 'काम' कहा गया है। 'कम्' सुख का वाचक है 'अकार' मन का वाचक है। सुख में ओतप्रोत मन का नाम ही 'काम' है। 'क्–अ–म्–अः' के समन्वय से ही 'काम' शब्द निष्पन्न हुआ है। विस्पष्ट यह है— 'सुख, मन सुख विषयानुगत मन कभी सुखी–शान्त रह सकता है जबकि विषय उसकी इच्छा के आधीन बने रहते हैं। विषय ही मन का बन्धन है। इस बन्ध पर अपना प्रभुत्व रखने वाला विषयों को दास बनाए रखने वाला मन ही सुखानुरागी बनता हुआ 'कामः' है, यही इसका अबन्धनरूप है। यही कामात्मिका इच्छा स्वेच्छा है। ईश्वर इस कामात्मिका इच्छा को मूल बना कर कर्म में प्रवृत्त होता है। अतएव वह स्वयं विषयों पर अपना प्रभुत्व रखता है विषय उसके दास बने रहते हैं। ऐसा स्वाभाविक सहज कामभाव रहता हुआ भी बन्धन से विमुक्त है। अतएव गीतापरिभाषा में ऐसा स्वेच्छात्मक कामभाव 'निष्कामभाव' कहलाया है। निष्कामभावात्मिका इच्छा ही काम, कामना स्वेच्छा, आत्मेच्छा, ईश्वरेच्छा, इत्यादि नामों से व्यवहृत हुई है।

दूसरी है—'परेच्छा'। आत्मा स्व है, पञ्चविषय 'पर' है। विषयों के अभिचार से अभिभूत वही स्वेच्छा (आत्मेच्छा) पर विषयानुगता बनती हुई 'परेच्छा' बन जाती है। परेच्छात्मिका यही विषयेच्छा काम न कहला कर केवल 'इच्छा' शब्द से इसलिए सम्बोधित हुई है कि, इसमें कामवत् मन विषयों को अपना दास नहीं बनाए रहता अपितु स्वयं भूतात्मक विषयों का (भोग्य का) दास बन कर अपना स्वाभाविक ज्ञानरूप आत्मविभाव आवृत कर लेता है और यही विषयदास बने हुए मन की लुब्धावस्था है जिसका 'इच्छा' शब्द से अभिनय हुआ है। भोग्य विषय भूतात्मक होने से 'इट्' है तत्र लुब्ध मन ही 'इट्–अन्नं तत्र शेते मनः' निर्वचन से इच्छात्मक है। विषयकाष्ठा में मन की स्वाभाविक शान्ति का इसलिए उच्छेद हो जाता है कि विषय अनन्त है। अनन्त विषयों के कारण मन की बुद्धियोगानुगता एकाग्रमनस्थिति का निरोध हो जाता है। इसके अनुबन्धन से मन व्यग्र हो पड़ता है। यह व्यग्रत्व ही कामकामी (इच्छापरायणता) मन की अशान्ति का कारण बन जाता है—'स शान्तिमाप्नोति, यः–निष्कामः, इच्छाधीनस्तु कामकामी न शान्तिमाप्नोति'– ('स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' (गी० २।२।))। यही इच्छा परेच्छा, विषयेच्छा जीवेच्छा आदि नामों से व्यवहृत हुई है। तात्पर्य—विषयप्रवर्तिनी इच्छा इच्छा है, एवं यह विषयासक्तिप्रवर्तिका बनती हुई बन्धन का कारण है। मनोव्यापारवर्तिनी इच्छा काम है यही निष्कामभाव है एवं यह विषयासक्तिनिवर्तिका बनती हुई अबन्धना है।

अभी विषय सर्वात्मना स्पष्ट नहीं हुआ। इच्छाद्वयी के स्पष्टीकरण के लिए सुप्रसिद्ध दार्शनिक–शब्दद्वयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दर्शन में 'उत्थिताकांक्षा और उत्थाप्याकांक्षा, ये दो शब्द उक्त दो स्वेच्छा परेच्छाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अपने आप उठी हुई इच्छा उत्थिताकांक्षा है यही स्वेच्छा आत्मेच्छा किंवा बन्धननिवर्तिका ईश्वरेच्छा है। इस इच्छा का उद्भव तो यद्यपि मन में ही होता है। परन्तु यह मन बुद्धि का दास बना रहता है। बुद्धिदास मन सत्त्व–धीर वैभोगवश बुद्धितत्त्व के सतत धर्म से आक्रान्त रहता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञान–पान–स्नेहात्मक धर्म से अभिभूत रहता है।

[illegible] इस बुद्धियुक्त मन 'उस महातृष्णा' [illegible] न पुण्यापुण्य-रूप-कर्मों की [illegible] में [illegible] गया है। [illegible] परन्तु [illegible] के अनुसार बुद्धि में दो [illegible] प्रतिष्ठित है। बुद्धियुक्त मन में बुद्धि [illegible] में इस [illegible] का स्वाभाविक अनुकूल-अनुसार रहता है। अतएव बुद्धियुक्त मानस इच्छा इसके [illegible] में परिणत रहती हुई बन्धन-निवर्त्तिका बनी रहती है। यही [illegible] का [illegible] है। [illegible] स्मृति के द्वारा अर्थात् यह इच्छा उपास्याकांक्षा है यही [illegible] बन्धननिवर्त्तिका [illegible] है। इस इच्छा का [illegible] भी यद्यपि इस मन में ही है। परन्तु यह मन बुद्धि के [illegible] है। बुद्धिमानी यह मन बन्धु बुद्धियों का [illegible] हुआ [illegible] में प्रधान बना रहता है। अतएव बुद्धि का [illegible] विद्यामय [illegible] से [illegible] है। अविद्याबुद्धि में युक्त ऐसा मन पुण्यापुण्य-कर्मों में [illegible] हो जाता है। बुद्धि और मन के मध्य में [illegible] (संस्था) प्रतिष्ठित है। [illegible] मानस इच्छा का [illegible] बना रहता है। अतएव मानस इच्छा [illegible] में परिणत होती हुई बन्धननिवर्त्तिका बनी रहती है। यही उपास्याकांक्षा का [illegible] है। [illegible] के अनुकूल आहार विहार [illegible] जिस इच्छा से [illegible] होते हैं वह स्वाभाविक इच्छा ही [illegible]कांक्षा है। [illegible] आहार-विहारों की अभिलाषी [illegible] इच्छा ही [illegible]कांक्षा है। [illegible] इच्छा से [illegible] नहीं होते अतएव ऐसी [illegible] बन्धननिवर्त्तिका है। [illegible] इच्छा से [illegible] का उदय होता है अतएव ऐसी इच्छा बन्धन [illegible] है।

६६—कर्म और बन्धन-मीमांसा—

इच्छा बन्धन का कारण है कि नहीं ?, प्रश्न की मीमांसा समाप्त हुई। अब कर्मों की तरफ चलिए। क्या कर्म बन्धन का कारण है ?, इस प्रश्न की भी यही मीमांसा है जो इच्छारूप प्रश्न की मीमांसा पूर्व में हुई है। [illegible]कांक्षा से [illegible] स्वाभाविक कर्म [illegible] कहलाता है। एवं ऐसा कर्म [illegible] कर्म बना हुआ बन्धन है [illegible]—'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' इत्यादि [illegible] में [illegible] है। [illegible] का [illegible] है—[illegible]। [illegible] है। इस [illegible] कर्म का [illegible] है। [illegible] इसी [illegible] से [illegible] होता रहता है। [illegible] इस [illegible] में [illegible] हुआ भी [illegible] है इसमें [illegible] है। यदि मानव का कर्म भी [illegible] को [illegible] है तो उसका भी वह कर्म [illegible] (विषयभाव) बना हुआ [illegible] से [illegible] बन कर बन्धन बन जाता है। मानव की [illegible] इच्छा का [illegible] है। [illegible] उपास्याकांक्षा है। [illegible] कर्म [illegible] के [illegible] में [illegible] बना हुआ [illegible] का [illegible] बन जाता है। अतएव उपास्याकांक्षा में [illegible] कर्म [illegible] में [illegible] रहता हुआ [illegible] बन जाता है। [illegible] कर्म [illegible] कर्म है जिसे [illegible] कहा गया है। यही [illegible] है। [illegible] कर्म [illegible] हो अथवा [illegible] यह उस अधिकारी का [illegible] है। एवं [illegible] ऐसे [illegible] कर्म की इच्छा [illegible] नहीं है अपितु [illegible] है। अतएव ऐसा कर्म [illegible] बन्धन

है। उदाहरण के लिए–हिंसात्मक वधकर्म्म में नियुक्त वधिक के वध कर्म्म की इसलिए निन्दा नहीं होती कि इस कर्म्म में वधिक की इच्छा का समावेश नहीं है अपितु लोकतन्त्रात्मक शासक की इच्छा से प्राप्त अधिकारसम्पत्ति के पालन के लिए वह वधकर्म्म में प्रवृत्त होता है। 'केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' ही अधिकारकर्म की व्याख्या है। इच्छा उसकी निमित्तमात्र हम, फिर बन्धन कैसा ! ! 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' से भी इसी अबन्धन मुक्तकर्म्म का समर्थन हुआ है। अधिकारसिद्ध कर्म्म तथा ईश्वरेच्छा (उचितवाञ्छा–कामना) मूलक बनते हुए निष्कामकर्म्म हैं और ये अबन्धन हैं। ये ही गीतापरिभाषा में 'सहजकर्म्म' कहलाए हैं, जिनके लिए भगवान् ने–'सहजं कर्म्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्' यह व्यवस्था की है। जीवेच्छा–(उत्याज्याकांक्षा)–मूलक, अतएव व्यक्तिस्वार्थानुगत, कर्म्म काममय बनते हुए सकामकर्म्म हैं, एवं ये बन्धन हैं। 'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः' से इसी के परित्याग का आदेश हुआ है। तात्पर्य्य–ईश्वरेच्छाप्रवृत्त कर्म्म अबन्धन है, तथा जीवेच्छा प्रवृत्त कर्म्म आसक्ति के द्वारा बन्धन हैं।

६७–फल, और बन्धन–मीमांसा–

क्या फलों से बन्धन होता है ?, प्रश्न के समाधान से पहिले फल के स्वरूप का अन्वेषण कीजिए। ईश्वर ने कर्म्म किया इस कर्म्म से फल उत्पन्न हुआ वही ईश्वर का अन्तर्जगत् कहलाया। 'संस्कार' का ही नाम अन्तर्जगत् है। अन्तर्जगत् ही कर्म्म जनित फल है। संस्कारप्रवर्तक जीवात्मा को लक्ष्य बना कर अन्त जगत् के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। 'सद्सद्चाहमर्जुन' के अनुसार 'अहं'–शब्दवाच्य जीवात्मा ज्ञानलक्षण ब्रह्मात्मक सत् एवं कर्म्मलक्षण मृत्युरूप असत्, दोनों की समष्टि है। अपनी ज्ञानकला से जीवात्मा जानता है कर्म्मकला से कर्म्म करता है। जानाति, करोति इन दो व्यापारों पर ही जीव का पुरुषार्थ विश्रान्त है। इन दोनों कलाओं के व्यापार से जीवात्मा पर (जीवात्मिक प्रज्ञानमनोवराख्य पर) भावना वासना नामक दो प्रकार के संस्कार लचित होते रहते हैं। हम कुछ कर नहीं रहे, चुपचाप बैठे हैं परन्तु अपने बौद्धजगत् में केवल ज्ञान के सहारे नवीन नवीन कल्पनाएँ करते रहते हैं। यही ज्ञानीय व्यापार है। इससे जो ज्ञानात्मक संस्कार उत्पन्न होता है, वही ज्ञानफल है। यही ज्ञानजनित संस्कार 'भावना' कहलाया है। इसी प्रकार कर्म्म करने से जो मन पर एक प्रकार का अतिशय प्रतिष्ठित हो जाता है वही कर्म्मजनित फल है वही 'वासना संस्कार' कहलाता है। भावना, वासना-संस्कार ज्ञानीय, कर्म्मात्मक विषयभेद से असंख्य हैं। इन असंख्य, उभयविध संस्कारों की राशि ही हमारा 'अन्तर्जगत्' है। यही हमारे जीवन की मूलप्रतिष्ठा है। संस्कारों के उन्मूलन से जीव मुक्त हो जाता है। हम अपनी आंखों से जिन सूर्य्य–चन्द्र–पशु–पक्ष्यादि विषयों को देखते हैं रसना से जिन रसों का अनुभव करते हैं नाक से जिन गन्धों का आघ्राण करते हैं मनसे जिन विषयों का मनन करते हैं इन्द्रियानुभूत उन सब विषयों का हमारे सांस्कारिक अन्तर्जगत् से ही सम्बन्ध है। हम हमारे ज्ञानकर्म्म से ईश्वरीय अन्तर्जगत (जीवापेक्षया बहिर्जगत्) के आधार पर इन्द्रियों के द्वारा निर्म्मित अपने सांस्कारिक अन्तर्जगत् का ही ऐन्द्रियक अनुभव करते हैं। विश्वास कीजिए। जो सूर्य्य हम देखते हैं, वह हमारा बनाया हुआ सांस्कारिक सूर्य्य है। प्रकृतिसिद्ध सूर्य्यचन्द्रादि के आधार पर हमारे मानस पटल पर सांस्कारिक चन्द्र सूर्य्यादि का तात्कालिक निर्म्माण होता है। तत्त्वात्मक भेदविज्ञान से वह दूरी भी हमारे अन्तर्जगत् में ही उत्पन्न हो जाती है। अतएव भान ऐसा होने लगता है मानों हम सूर्य्य

को आकाश में क्षितिज देख रहे हैं। वस्तुतः यह दूरी, यह सब दृश्य हमारे अन्तर्जगत् में ही प्रतिष्ठित है। यही ऐन्द्रियक विषयों के सम्बन्ध में घटित है। महाविशिष्ट ईश्वरीय सूर्य्य जो भूपिण्ड से भी कहीं सहस्रगुणित बृहत्प्रमाण है। उसे हम कैसे देखते हैं ?। एक बात और—महाविशिष्ट सूर्य्यादि पदार्थ ईश्वर के ज्ञानात्मक अन्तर्जगत्-धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च ईश्वर का अन्तर्जगत् है। जब एक जीव अन्य जीव के भी अन्तर्जगत् को नहीं देख सकता तो वह ईश्वरीय अन्तर्जगत् का साक्षात्कार कैसे कर सकता है ?। अन्य व्यक्ति प्रमुक समय क्या कल्पना कर रहा है उसमें कौन कौन सांस्कारिक ज्ञान-कर्म्म (भावना-वासना) प्रतिष्ठित हैं ?, यह दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने यह स्थिर किया है कि, प्रत्येक आत्मा स्व-स्व अन्तर्जगत् का ही द्रष्टा है। एवं प्रत्येक का अन्तर्जगत् उसके प्रातिस्विक ज्ञानकर्म्म से ही सम्पन्न हुआ है जो सम्पन्नरूप भावना-वासना-संस्कारात्मक है।

उक्त स्थिति का ईश्वरीय कर्म्म के साथ समतुलन कीजिए। तथाविध सूर्य्य-चन्द्रादि युक्त पाञ्चभौतिक महाविश्व ईश्वरीय ज्ञानकर्म्म से समुत्पन्न ईश्वरीय अन्तर्जगत् है। यह विश्व ही ईश्वरीय कर्म्म से उत्पन्न वह फल है जो अन्तर्जगत् रूप से सदा ईश्वरीय ज्ञानकर्म्माधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इसप्रकार ईश्वर स्व ज्ञान कर्म्म जनित विश्वरूप फल से नित्य युक्त है। देखते हैं—विश्वात्मक फल से नित्य-युक्त रहता हुआ भी ईश्वर ध्रुवकर्म्म मूला—निष्कामभावात्मिका कामना के सम्बन्ध से फल में आसक्त नहीं है। अतएव वह फल रहता हुआ भी ईश्वरस्वातन्त्र्य पर आक्रमण नहीं कर रहा। ठीक इसीप्रकार जो जीवात्मा अपने ज्ञान-कर्म्म -व्यापार का मूल ईश्वरेच्छा बना लेता है उस जीवात्मा के ईश्वरेच्छानुकूल ज्ञानकर्म्म से समुत्पन्न फलात्मक भावना-वासनासंस्कारसंघरूप अन्तर्जगत् जीवस्वातन्त्र्य पर आक्रमण नहीं कर सकता। यदि जीव अपनी स्वार्थमूला उत्पाद्याकांक्षा को मूल बना कर कर्म्मफल उत्पन्न करता है तो इस फल के प्रति उसकी अवश्यमेव आसक्ति हो जाती है। और इच्छा (जीवेच्छानुगत) ज्ञानकर्म्म से उत्पन्न ऐसा सांस्कारिक फल अवश्यमेव जीवस्वातन्त्र्य का विघातक बन जाता है।

६८—फलासक्ति, और बन्धन-मीमांसा—

अब शेष रह जाती है—'फलासक्ति जिसका मूल है—मानव जीवेच्छा। यह आसक्ति ही जीवपारतन्त्र्य का मूलकारण है जिसके मूल में राग-द्वेष व्यवस्थित हैं जिन रागद्वेषों का 'रागद्वेषवियोगेन' वैराग्यबुद्धियोग स्वरूप में विस्तार से विश्लेषण किया जाने वाला है। इसप्रकार इच्छा कर्म्म फल फलासक्ति चारों में से जीवेच्छानुगता फलासक्ति का ही बन्धनप्रवर्तकत्व सिद्ध हो जाता है। इच्छा रखिए, परन्तु ईश्वरेच्छाभिन्न इच्छा, बन्धन न होगा। कर्म्म कीजिए परन्तु ईश्वरेच्छानुकूल यज्ञार्थकर्म्म कभी बन्धन न होगा। फलाभि-मुख बने रहिए, परन्तु इच्छा को ईश्वरेच्छारूप में परिणत रखिए, कभी फल आत्मस्वातन्त्र्य पर आक्रमण न करेंगे। ऐसा करने पर फलासक्ति स्वतः निवृत्त हो जायगी, फलों (संस्कारों) के साथ ग्रन्थिबन्धन सम्भव न होगा। ऐसी इच्छा रखते हुए भी आप निष्काम कहलाएँगे ऐसी निष्कामभावना से किया हुआ कर्म्म भी निष्कामकर्म्म कहलाएगा ऐसे कर्म्म से उत्पन्न फल (संस्कार) भी आपके स्वाभाविक आत्म-विकास को आवृत न कर सकेंगे। इसप्रकार अकर्म्मरूप फल के प्रति सङ्ग (आसक्ति) न रखते हुए आप केवल कर्म्म के ही द्रष्टा बने रहेंगे। फलभोक्ता भी बन जाएँगे फलासक्ति से भी बचे रहेंगे। इसी तत्त्व को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' (अकर्म्मात्मके सांस्कारिके फले ते सङ्ग—आसक्तिर्मा भूत्)।

६६–फलसङ्गस्वरूपविश्लेषण—

फलसङ्ग (फलासक्ति) का क्या तात्पर्य्य ?, एवं फलासक्ति से हानि क्या हो जाती है ?, प्रश्नों के समाधान की चेष्टा की गई। परन्तु अभी यथावत् स्पष्टीकरण नहीं हुआ। सहजभाषा में स्पष्टीकरण कीजिए। आप अधिकारसिद्ध कर्म्म में प्रवृत्त हुए, कर्म्म प्रवृत्ति का लक्ष्य बनाया आपने कर्म्म जनित फल को, क्योंकि बिना फल को उद्देश्य बनाए तो आप तज्जनक कर्म्म में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। यहां तक परिस्थिति ठीक ठीक बनी रही। फलोद्देश्य को सफल बनाने के लिए आपने तदनुकूल कर्म्म आरम्भ किया। कर्म्म काल में आपने बार बार भावी फल की ओर अनुधावन आरम्भ कर दिया। और यही एक ऐसी भयङ्कर भूल हो गई, जिससे आपका कर्म्मकौशल बिगड़ गया। आपकी मानस शक्तियां परिमित हैं। एक समय में सर्वात्मना एक ओर ही इस शक्ति के समावेश से कर्म्म स्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न बन सकता है। आपने अपनी शक्ति को कर्म्म के साथ साथ भावी फल की पर्य्येषणा में भी समाविष्ट कर दिया। कर्म्म में जिस अनन्यशक्ति का समावेश होना चाहिए था, न हो सका। कर्म्म अपूर्ण रह गया। पूर्ण कर्म्म ही तो पूर्ण फल का जनक बना करता है। अनन्यभावात्मिका पूर्णशक्ति के समावेश से ही तो कर्म्म पूर्णता का कारण बनता है। जब आपने कर्म्मानुष्ठानकाल में बार बार फलपर्य्येषणा की ओर मानस–शक्तियों का दुरुपयोग कर डाला तो जिस पूर्ण शक्ति के समावेश से कर्म्म सर्वाङ्गीण बनता है, वह पूर्णशक्ति पूर्ण कहाँ रही ?। यही क्यों कभी कभी तो इस फलपर्य्येषणा का यह दुष्परिणाम होता देखा गया है कि फलपर्य्येषणात्मिका फलासक्ति में (काल्पनिक फल की आसक्ति में) ही मन की अधिक शक्ति समाविष्ट हो जाती है। और उस शेखचिल्ली की भांति तब हमारी आँखें खुलती हैं जब हम देखते हैं कि, फलजनक कर्म्म हमने पूरा किया नहीं, कर्म्म–(पुरुषार्थकर्म्म) साधक अन्तर्य कर्म्मों का स्वरूप और बिगाड़ लिया। उदाहरण के लिए एक उस पाचक को लक्ष्य बनाइए, जो सब सामग्री लेकर पाककर्म्म में प्रवृत्त हो रहा है। पाचक रसोई बनाने बैठा। पाचक का पाककर्म्म पुरुषार्थ–कर्म्म है। क्योंकि पाककर्म्म से समुत्पन्न पाकफल का (सिद्ध-सम्पन्न-द्रव्यों का) उपभोगभोग से सम्बन्ध है। चूल्हा जलाना, कढ़ाही चढ़ाना, दुग्ध–शर्करा–तण्डुल–आदि का उसमें प्रक्षेप करना आदि आदि अनेक कर्म्मों से पाककर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन अनेक कर्म्मों से पुरुषार्थलक्षण पाककर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अतएव इन पुरुषार्थसाधक पाचक के अवान्तर कर्म्मों को हम 'अन्तर्य कर्म्म' (अन्तः-पुरुषार्थ कर्म्म', तत्साधक अवान्तरकर्म्म करणार्थकर्म्म') कह सकते हैं। दुर्भाग्य से पाचक इन कर्म्मों के साथ साथ ही फलपर्य्येषणा आरम्भ कर देता है। कल्पना करने लगता है–अहा ! आज ऐसी बढ़िया रसोई बनेगी कि खाने वाले प्रसन्न हो जायँगे। खीर ऐसी बनेगी, साग वैसे सुस्वादु बनेंगे। इन कल्पनाओं का परिणाम यह होगा कि मन की जिस अवधानशक्ति से पाचक के करणार्थकर्म्म पुरुषार्थकर्म्म को सर्वाङ्गीण बनाते हुए कर्म्म फल (पाकद्रव्य) को पूर्ण करने वाले थे वे अन्तर्य कर्म्म फलपर्य्येषणाजनिता अनवधानता से विकृत हो जायँगे। दूध जल जायगा खीर या तो कच्ची रह जायगी, अथवा जल जायगी, साग में नमक अधिक गिर जायगा। इसप्रकार कर्म्म काल में फलपर्य्येषणा से फलजनक कर्म्म और तत्साधक अन्तर्यकर्म्मों का स्वरूप विकृत हो जायगा परिणामस्वरूप कर्म्म फल आशाजनक न बन सकेगा।

मान लेते हैं–पाचक पाककर्म्म में अत्यन्त कुशल है। वह आँख मींच कर भी अन्दाज से जो भी करेगा, पाकफल उसी से निर्विघ्न पूर्ण होजायगा। इस स्थिति में फलपर्य्येषणा में क्या दोष रहा ?, जब कि

फलकर्मणा करते हुए भी पाचक का पाककर्म्म सुसम्पन्न होगया ? इसका उत्तर है–आसक्तिरूप बन्धन। फलकर्मणा फलासक्ति है। इससे आत्मा में फलसंस्कार के साथ ग्रन्थिबन्धनलक्षण बन्धन होजाया करता, जो ग्रन्थिबन्धनलक्षण स्मृति के द्वारा फलकामना की ओर मनको आकर्षित करता हुआ उसकी स्वाभाविक शान्ति भङ्ग किया करता है। इसी सम्पूर्ण परिस्थिति को लक्ष्य बना कर भगवान् कहते हैं –भाई ! तुम्हारा अधिकार केवल फलजनक कर्म्मों के लिए नियत है। कर्म्म करना तुम्हारा कर्त्तव्य है कर्म्म फलोंको उत्पन्न करना तुम्हारा काम नहीं। यदि तुमने अनन्य–निष्ठा से कर्म्म का स्वरूप सर्वाङ्गीण बना लिया तो फल अवश्य उत्पन्न होगा। अतएव फल की चिन्ता–फलैषणा–छोड़ कर तुम केवल कर्म्म के अधिकारी बने रहो, अपने आपको कर्म्म का हेतु बनाओ, कर्म्मफल का हेतु मत बनाओ। क्योंकि कर्म्मफल का हेतु तुम नहीं, तुम्हारा कर्म्म है। यदि तुम फलचिन्तापेक्षा करते हुए कर्म्म के साथ साथ (कर्म्मानुष्ठान काल में) फल का भी हेतु अपने आप को बना लोगे तो कर्म्म में अनन्यता न रहेगी, कर्म्म स्वरूप अपूर्ण रह जायगा, फलतः कर्म्मफल सुसम्पन्न न हो सकेगा। यदि पुरुषार्थाभाव से कर्म्म फल सुसम्पन्न बन भी जायगा तो फलासक्ति से तुम अपने आप को न बचा सकोगे, जो फलासक्ति आत्म–पराजित आत्मबन्धन का कारण मानी गई है। अतएव हम आग्रह करते हैं कि, तुम कर्म्म रूप फल में आसक्ति न रक्खो–'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि'। ऐसा करने से तुम्हारे कर्त्तव्य–पुरुषार्थकर्म्म भी सर्वाङ्गीण बन जायँगे इस कर्म्मकौशल से फल भी सुसम्पन्न हो जायगा और सबसे बड़ा लाभ होगा कि, तुम फलासक्ति से भी बच रहोगे। इसप्रकार फलकामनासक्ति-परित्याग के अनुग्रह से तुम करते हुए भी लिप्त न बनोगे-'कुर्वन्नपि न लिप्यते'+'न करोति न लिप्यते'*।

७०–इच्छानिबन्धना कर्म्ममीमांसा–

'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' श्लोक की उक्त मीमांसा से स्पष्ट है कि, इस श्लोक का यह तात्पर्य्य सर्वथा असङ्गत है कि, 'तुम बिना इच्छा के कर्म्म करो'। भला ऐसी असम्भव आज्ञा भगवान् दे भी कैसे सकते थे। नाहीं इससे कर्म्मत्याग का समर्थन हुआ है। प्रत्येक कर्म्म की प्रवृत्ति भी कामनापूर्वक ही होगी, चाहे आशा रक्खें अथवा न रक्खें सुसम्पन्न कर्म्म से फल भी अवश्य ही उत्पन्न होगा। फल (संस्कार) का आत्मा से सम्बन्ध भी अनिवार्य्य होगा। ऐसी स्थिति में भ्रान्त कर्म्मवादियों के इच्छारहित निष्कामकर्म्म का कर्म्मसंन्यास का क्या अर्थ रहा ?, यह उन्हीं कल्पित निष्कामकर्म्मवादियों से पूँछना चाहिए। क्या निष्कामकर्म्म गीता का सिद्धान्त नहीं है ? । है और अवश्य है। परन्तु न तो–'हम बिना इच्छा के कर्म्म करते हैं अतएव हमारा कर्म्म निष्काम है' यह कहने मात्र से ही कर्म्म निष्काम बन जाता एवं न ऐसे कथनमात्र पर कल्पित इच्छापरित्यागलक्षण उक्त कर्म्म ही गीताभिमत कर्म्म माना जा सकता। अपितु गीताभिमत 'निष्काम' शब्द का अर्थ है–ईश्वरेच्छा एवं निष्कामकर्म्म का अर्थ है–ईश्वरेच्छानुगत प्राकृतिक कर्म्म। हमारी अध्यात्मसंस्था में ईश्वर, जीव, दोनों प्रतिष्ठित हैं। ईश्वरेच्छा कामना है जीवेच्छा इच्छा है। ईश्वरीय कामना से युक्त कर्म्म प्राकृतिक कर्म्म निष्कामकर्म्म है। जैव इच्छा से

* ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्ग त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
गीता

युक्त कर्म्म' इन्द्रियानुगत क्रियानुगति से सकामकर्म्म हैं। सकामकर्म्म प्रत्येक दशा में फलासक्त्युन्मुख बनते हुए सबन्धन हैं, निष्कामकर्म्म फलासक्तिविरहित रहते हुए अबन्धन हैं और यही गीता का कर्म्म मार्ग है जिसकी मूलप्रतिष्ठा 'आर्षविद्या' मानी गई है, जिसका स्वरूपविश्लेषण ही प्रकृत स्तम्भ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

ईश्वरेच्छा सहज इच्छा है, यह स्वयं उत्थित होती हुई 'उत्थिताकांक्षा' कहलाई है। अतएव तदनुगत निष्कामकर्म्म भी गीतापरिभाषा में सहजकर्म्म कहलाए हैं। जो यह कहते हैं—'हम तो निष्कामकर्म्म करते हैं' सचमुच वे बड़ी भ्रान्ति में हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, निष्कामकर्म्म होते हैं किए नहीं जाते। 'करिष्यस्यवशोऽपि तत्' के अनुसार निष्कामकर्म्म अपने आप होते रहते हैं हमें निमित्त बना कर वे स्वत: प्रवृत्त होते रहते हैं। इनमें हमारी (जीव की) इच्छा का अणुमात्र भी समावेश नहीं है। यदि हम यह कहते समझते हैं कि 'हम निष्काम कर रहे हैं' तो यह निष्कामकर्म्म कहाँ रहा?। अहन्तामूला इच्छा का तो हमने आरम्भ में ही समावेश कर दिया। चाहिए, करते हैं कर रहे हैं करेंगे आदि सब व्यवहार जीवेच्छाप्रधान बनते हुए सकामकर्म्म हैं। और इन्हीं का अनुगमन करने वाले वर्त्तमानयुग के गीताप्रेमी अभिनिवेश कहा करते हैं 'हम तो गीता के आदेश का पालन कर रहे हैं'। कैसी भ्रान्ति है?।

७१–आर्षविद्याप्रतिष्ठात्मक ऋषितत्त्व—

छोड़िए इस विवाद को। आप तो गीता की कर रही हैं उसका समन्वय कीजिए। यह सिद्ध हो चुका है कि गीताभक्त कर्म्म वा' विशुद्ध शास्त्रीय कर्म्म वा' है। क्योंकि शास्त्रीय कर्म्म ही प्राकृतिक हैं प्राकृतिक कर्म्म ही ईश्वरेच्छानुगत सहज कर्म्म हैं जिनकी मूलप्रवृत्ति 'ऋषिवंश' से हुई है। अतएव यह कर्म्मात्मक धर्म्म पथ 'आर्षधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। अतएव तन्मूला विद्या 'आर्षविद्या' कहलाई है। ऋषि ही ईश्वरीय कर्म्म की प्रतिष्ठा कैसे है?। इसके लिए ऋषिमूलक सृष्टिविज्ञान का विश्लेषण आवश्यक होगा। वही संक्षेप से आर्षधर्म्म प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

धर्म्म' अधर्म्म पाप–पुण्य सत्–असत् अहः–रात्रि, विश्व आदि आदि में से जिस समय किसी की सत्ता न थी, तो उस समय क्या था?, दूसरे शब्दों में जब कुछ न था तो क्या था?, इस सृष्टिकारणात्मक प्रश्न का उत्तर देते हुए तत्त्वद्रष्टा श्रुति ने हमें बतलाया कि–'आज जिस विश्वप्रपञ्च को तुम सद्रूप से अपने अनुभव का अनुगी निर्देश का लक्ष्य बना रहे हो सृष्टि से पहिले सत्–सृष्टि (विद्यमान विश्वप्रपञ्च) से पहिले यह सब कुछ 'असत्' ही था। (और यह असत् ही इस सदात्मा विश्व का मूलप्रभव था)–'असद्वा इदमग्र आसीत्'। सत् का अर्थ होता है–भाव। असत् का अर्थ माना गया है–'अभाव'। क्या भावात्मक (सत्तात्मक) विश्व का मूलकारण अभावार्थक असत् है?, नहीं। क्योंकि अभाव किसी का उपादानकारण नहीं बन सकता। जो स्वयं 'नास्ति रूप' है वह अस्ति का कारण कैसे बन सकता है?। फिर श्रुति के असत् का क्या अर्थ?, इसी प्रश्न को लक्ष्य बना कर श्रुति ने स्वयं आगे चल कर यह प्रश्न किया कि सद्विश्व का कारण अभावात्मक असत् तो बन नहीं सकता। फिर उस कारणात्मक असत्' का क्या स्वरूप?। 'किं तदसदासीत्–इति'?। श्रुति स्वयं उत्तर देती है–'सृष्टि का मूलकारणरूप यह असत् तत्त्व (अभावात्मक-असत् नहीं, अपितु) 'ऋषि' नामक 'असत् तत्त्व ही था – ऋषयो वाव तदग्रे ऽसदासीत्। ऋषि शब्द

भी सन्देहास्पद है। अरण्य–ऋषिराज्य की अनेकधा प्रसिद्धि देखी–सुनी जाती है। वेदतत्त्वद्रष्टा वसिष्ठ–कश्यपादि मानव ऋषि भी 'ऋषि' कहलाए हैं। यही क्यों, सर्वसाधारण की दृष्टि में तो 'ऋषि' शब्द का अर्थ मानव ऋषि ही है जो सत्–सृष्टिमर्य्यादा में अन्तर्भुक्त रहते हुए 'असत्'लक्षणा ऋषि मर्य्यादा से बहिष्कृत है। अतएव प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि–'सत्–सृष्टि का मूलभूत असल्लक्षणा ऋषि क्या वस्तुतत्त्व है ?–'के ते ऋषय–इति ?'। इसी ऋषितत्त्व का परिचय कराती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है–'प्राणतत्त्व का ही नाम ऋषि है–'प्राणा वा ऋषयः'। प्राण को ऋषि क्यों कहा गया ?, इस प्रश्न का समाधान करती हुई अन्त में श्रुति कहती है–'उन प्राणों ने इस विसर्ग से पहिले क्योंकि इस विसर्ग की इच्छा करते हुए श्रम, और तप से गमन किया था अतएव–'इच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्' इस निर्वचन से वैज्ञानिकों ने उस सृष्टिमूलक प्राणतत्त्व को 'ऋषि' नाम से व्यवहृत किया–'स यत् पुरास्मात् सर्वस्मात्–इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्–तस्मात्–ऋषयः'' (देखिए–शत० ब्रा० ६।१।१।१)।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, इन पाँचों गुणभूतों (तन्मात्राओं) से असंस्पृष्ट अव्यवधायक (स्थान न रोकने वाला) अतएव अमूर्त्त अतएव केवल शक्त्यात्मक, अतएव इन्द्रियधर्म्मों से अतीत अतएव च इन्द्रिय–अग्राह्य तत्त्वविशेष ही विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस प्राण के समावेश से ही भौतिक वस्तु 'प्राणी' कहलाई हैं जिनके जड़प्राणी चेतनप्राणी, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। पाषाण लोष्ठ आदि जिन पदार्थों को हम 'जड़' कहते हैं, उनमें भी वह प्राणात्मा विद्यमान है, केवल इन्द्रियविकास का अभाव है। अतएव चेतन अचेतन का मूलविभाजक इन्द्रिय, और इन्द्रियाभाव ही माना गया है न कि प्राणास्तित्वाभाव, जैसाकि–'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्' इत्यादि से भी प्रमाणित है। प्रत्यक्ष में भी जड़पदार्थों के 'जायते अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते अपक्षीयते नश्यति' इन नैगमिक षड्भावविकारों के द्वारा प्राण का अनुमान हो रहा है। पाषाण जब पुराना हो जाता है तो उसके संघटक भौतिक परमाणु स्खलित हो जाते हैं। जो पाषाण अपनी युवावस्था में दृढावयव था, वही वृद्धावस्था में आकर जीर्ण शीर्ण हो जाता है, उसके अवयव साधारण से बलप्रयोग से च्युत कर दिए जाते हैं, और उस दशा में पाषाण के लिए हमारे मुख से यही निकलता है कि 'अब पत्थर में दम नहीं रहा'। यह अनुभूत 'दम' ही हमारा 'प्राण' तत्त्व है जिसे हम देखते नहीं, किन्तु शक्तिरूप से अनुमान अवश्य लगा लेते हैं। इसप्रकार प्राणतत्त्व की जड़–चेतनोभयव्याप्ति सर्वात्मना सिद्ध हो जाती है। श्रुति ने इस प्राणतत्त्व को 'असत्'–'ऋषि' इन दो नामों से व्यवहृत किया है। जिस भौतिक जड़–चेतन पदार्थ में जब तक प्राणतत्त्व अन्तर्य्यामिरूपेण से समाहित रहता है, तभी तक वह पदार्थ सत्तामात्र (अस्तिभाव) में परिणत रहता हुआ सत् (विद्यमान) कहलाता है। प्राणोत्क्रमण ही तत्तत् पदार्थों की सत्ता की उत्क्रमण है। सत्तोत्क्रमण ही उस पदार्थ को असत् (अभाव) रूप में परिणत करती है। अतएव कहा और माना जा सकता है कि, पदार्थ प्राणसमावेश से ही 'सत्' कहलाते हैं। जिनमें प्राण रहता है वही 'सत्' है, क्योंकि असत् प्राण ही 'सत्' है इसका तद्भाव ही वस्तुतद्भाव की मूलप्रतिष्ठा है। 'घटे घटाभावः' प्रत्यक्षमूलक 'सामान्ये सामान्याभावः' इस न्याय के अनुसार असत्ता में असत्ता का अभाव है। जैसे मनोमय, प्राणमय आत्मा इसी न्याय के अनुसार 'अमना अप्राण' कहलाता है जिसका तात्पर्य होता है–'मनोऽमन–प्राणाप्राण'। तथैव यह असत्प्राण भी असत् कहलाता है। जिसमें सत् (प्राण) रहता है वह भौतिक वस्तु 'सत्' है। असत् (प्राण) में सत् (प्राण) कहाँ रहेगा कैसे रहेगा ? एकमात्र इसी आधार पर अर्थात् तत्सापेक्ष भी

प्राणतत्त्व विज्ञानभाषा में 'असत्' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका तात्पर्य निकलता है—'ऋतरूप' । इसीलिए तो 'असद्वा इदमग्र आसीत्' श्रुति का अन्यत्र 'सदेवेदमग्रे सोम्य असदासीत् कथमसतः सज्जायेत' इस रूप से समन्वय हुआ है। असत् ही सृष्टि का मूल था एवं वह सत् था। अभावात्मक असत् से भावात्मक सद्विश्व उत्पन्न भी कैसे हो सकता था। 'तत् सदासीत्' से भी प्राण के इस स्वभाव का ही विश्लेषण हुआ है। तात्पर्य—प्राणतत्त्व की शुद्ध ऋतरूपता ही इसके 'असत्' नाम व्यवहार का मूलकारण है।

असल्लक्षण उक्त प्राणतत्त्व के सम्बन्ध में श्रुति ने 'इच्छन्-श्रमेण-तपसा' कहते हुए इसके साथ इच्छा तप, श्रम, सृष्टि के इन तीन सामान्य अनुबन्धों का सम्बन्ध माना है। इच्छा मन का व्यापार है, मन ज्ञानप्रधान है। तप प्राण का व्यापार है प्राण क्रियाप्रधान है। एवं श्रम वाक् का व्यापार है वाक् अर्थप्रधाना है। ज्ञानमय मन की इच्छा क्रियामय प्राण का तप अर्थमयी वाक् का श्रम सृष्टिकर्म्म में तीनों अपेक्षित हैं, जैसाकि 'कर्म्मयशेषाधिकारस्ते' इत्यादि श्लोकमीमांसा करते हुए पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इच्छात्मक ज्ञानमय मन ही अव्यय विकासभूमि है, वह सृष्टिकर्म्म का आलम्बन कारण बनता है, जिसे विज्ञानभाषा में 'अधिष्ठान' कहा गया है शब्दपरिभाषा में 'स्फोट' कहा गया है। तपोलक्षण क्रियामय प्राण अक्षर की विकासभूमि है जो शब्दपरिभाषा में 'स्वर' कहलाया है। यही सृष्टि का निमित्तकारण बनता है। एवं श्रमात्मक अर्थमय वाक्तत्त्व क्षर की विकासभूमि है, जो विज्ञानभाषा में 'आरम्भण एवं' शब्दपरिभाषा में 'वर्ण' कहलाया है यही सृष्टि का उपादानकारण बनता है। आलम्बन, निमित्त, उपादान इन तीन कारणों के एकत्र समन्वय से ही सृष्टि कार्य्य का विकास हुआ है। इसी आधार पर तार्किकों का 'कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्त्वम्'—'(न तु कारणस्य)' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। उत्पन्न काय्यरूप वस्तु के स्वरूपविश्लेषण से भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है। प्रत्येक पदार्थ में पदार्थ का 'रूप' पदार्थ का 'कर्म्म' पदार्थ का 'नाम' इन तीन विभागों का समन्वय उपलब्ध होता है। रूप—कर्म्म—नाम, तीनों पदार्थ के मर्त्यभाव हैं। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' के अनुसार नामपर्व क्षरात्मक वाक्तत्त्व पर प्रतिष्ठित है कर्म्मपर्व अक्षरात्मक प्राणतत्त्व पर प्रतिष्ठित है, एवं रूपपर्व अव्ययात्मक मनःपर्व पर प्रतिष्ठित है। मन—प्राण—वाग्भावेन प्रतिष्ठित रूप—कर्म्म—नाम की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्व है। इस विश्लेषण से हमें यह मान लेना पड़ेगा कि केवल प्राणतत्त्व ही सृष्टि का मूल नहीं है अपितु इच्छात्मक मन श्रमात्मिका वाक्, दोनों से युक्त तपोलक्षण प्राण ही सृष्टि का मूल है। इसी लिए श्रुति को 'इच्छन्त—श्रमेण—तपसा' कहना पड़ा है। इच्छन्त—मन सम्बन्ध का सूचक है श्रमेण वाक्सम्बन्ध का सूचक है एवं तपसा स्वयं प्राण के सम्बन्ध का सूचक बन रहा है। यदि ऐसा है तो फिर श्रुति ने 'असत्' का अर्थ केवल प्राण ही क्यों लिया ? तब तो श्रुति को 'किं तदसदासीत्' प्रश्न के उत्तर में कहना चाहिए था। 'मन आसीत्, प्राण आसीत्, वाक् आसीत्' । इस प्रश्न का भी निराकरण कर लीजिए।

७२—ऋषिप्राण की सत्तात्मकता—

अव्ययप्रभव, इच्छारूपक्रिमन ज्ञानमय मन सृष्टिकर्म्म में आलम्बनरूप से अपेक्षित अवश्य है, परन्तु अपने स्वाभाविक ज्ञानभावाभ्य के कारण यह 'कर्म्म' मर्य्यादा से असंश्लिष्ट रहता हुआ गतिशून्य है।

* 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्—मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (   )।

एवमेव अक्षरात्मक श्रमशक्तिघन, अर्थमय वाक्तत्त्व ही यद्यपि सृष्टि का उपादान बनता है। परन्तु अपने स्वाभाविक अर्थप्राधान्य से यह जड़ है गतिशून्य है। सक्रियकर्म्म कर्म है क्रियामय है, क्रियाप्रधान है व्यापारसापेक्ष है। यह धर्म एकमात्र अक्षरात्मक, तपःशक्तिघन क्रियामय प्राणतत्त्व का ही है। प्राण ही गतिधर्म्मा है। इसके अग्रगामी बनने पर मन की इच्छा और वाक् का श्रम सक्रियकर्म में सफल होता है। यहीं देख लीजिए न। आप केवल बड़ी बड़ी इच्छाएँ करते रहें किसी कर्म की सिद्धि नहीं होगी। आपके समीप श्रमात्मक शरीर भी है श्रमात्मक अन्य द्रव्यादि भौतिक साधन भी हैं। परन्तु जब तक आप प्राणव्यापार (चेष्टा) को अग्रगामी न बना लेंगे तब तक आपकी इच्छा आपका श्रम कभी सफल न होगा। इसी से एक तत्त्व और निकल आया। कितने एक मनुष्य हाथ-पैर हिलाते तो प्रतीत होते हैं। परन्तु देखते हैं फिर भी उनका कर्म सर्वात्मना सफल नहीं होता। कारण यही है कि उन्होंने इच्छा भी की, शरीरानुगत श्रम भी किया परन्तु प्राणव्यापारलक्षण तप को उन्होंने गौण बना डाला। प्राणव्यापार-लक्षण तप का इच्छा और श्रमने भाग कर लिया। अतएव इनका कर्म सफल न हो सका। यही वर्तमान प्रगतियों का तत्त्व है। हमें अपने बड़ी आयोजनों में सफलता क्यों नहीं मिलती? जब कि हम इच्छा करते हैं दौड़धाम करते हैं चेष्टा भी करते हैं?। उत्तर है-तप का अभाव, प्राणव्यापार की शिथिलता। प्राणव्यापारात्मक 'तप' का ऋषियों ने लक्षण किया है-'परार्द्धे तप इत्याचुर्यम् स्वं ददाति'। बड़ा महत्त्वपूर्ण लक्षण है। 'उसे ही वैज्ञानिक 'तप' कहते हैं जिसमें कर्म्मानुगामी स्वयं अपने आपको दान कर देता है' यही तपःलक्षण का तात्पर्य है। यही तप गीतापरिभाषा में 'अनभ्यसिता' कहलाते है। अपनी आभ्यन्तर शक्तियों का सर्वस्व दान ही तप है यही आत्मसमर्पण है। यही वास्तविक प्राणव्यापार है यही कर्म साफल्य का मूलाधार है। यदि हमारी स्वदान के स्थान में 'परदान' की ओर प्रवृत्ति है, यदि हम अपने प्राण को ध्यानशीलता पर रख कर उपासनकर्म्मा द्वारा उसे संघर्ष में नहीं डाल सकते तो स्वप्न में भी हमारे परस्पर-व्यात्मक ये वर्तमान निस्तत्त्व आयोजन कभी श्रेयःप्राप्ति का कारण नहीं बन सकते। निवेदन प्रकृत में यही करना है कि मनः-प्राण-वाक्-तीनों में मन भी स्वतः निष्क्रिय है वाक् भी स्वतः निष्क्रिय है। सक्रिय है एकमात्र अक्षरात्मक वह प्राणतत्त्व, जो ज्ञानमय मन और अर्थमयी वाक् दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ उस ओर के मनोमय ज्ञान से ज्ञानमय, इस ओर के वाङ्मय अर्थ से अर्थमय एवं स्वानुगत प्राणमयी क्रिया से युक्त रहता हुआ ज्ञान-क्रियार्थमय बन कर सर्वात्मक बनता हुआ सक्रियकर्म में समर्थ हो जाता है। प्राण ही 'अरिग्न (गतिधर्म्मा)' है। इसके गमन से ही इच्छात्मक मन श्रमात्मिका वाक् दोनों सम्प्रयुक्त बनते हैं एकमात्र प्राण के इसी गतिकर्म से श्रुति ने अक्षरात्मक प्राण को ही प्रधानरूप से सृष्टिकर्म का प्रवर्त्तक माना है जैसाकि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से भी प्रमाणित है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति॥

स्वयं गीताशास्त्र भी इसी तीन सिद्धान्त का अनुगमन कर रहा है। अव्यक्ततत्त्व पुरुष है अक्षरतत्त्व अव्यक्तप्रकृति नाम की 'पराप्रकृति' है। एवं क्षरतत्त्व व्यक्तप्रकृति नाम की 'अपराप्रकृति' है। पुरुष मनोमय है पराप्रकृति (अव्यक्ताक्षर) प्राणमयी है अपराप्रकृति (व्यक्ताक्षर) वाङ्मयी है। 'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे' यही अक्षर श्रुति के- 'अक्षरात् सोम्य! भावाः प्रजायन्ते' से समन्वित है। एवं-'रात्र्यागमे

७२–सप्तर्षिलक्षण ऋषिप्राण का परिचय—

विविधरूपों से युक्त उक्त प्राणलक्षण, असत् नामक ऋषितत्त्व का 'सप्तर्षि' नामक विशेष विभाग (जाति) ही सृष्टि का मूल बनता है। 'चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से इन सहकृत (साथ रहने वाले) सात प्राणों का '४–२–१' इस क्रम से सन्निवेश हुआ है, जिसका हम अपनी शरीरसंस्था में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। कण्ठारम्भ से आरम्भ कर मूलारम्भपर्य्यन्त वितत शरीरयष्टि के चार समविभाग कर लीजिए। इनमें चार प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इस प्राणचतुष्टयी के आधार पर ही पक्ष–पुच्छप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव तदपेक्षया इस प्राणचतुष्टयी को आत्मा नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। दक्षिण हस्तपाद दक्षिण पक्ष है, वाम हस्तपाद वाम पक्ष है, मेरुदण्ड की अन्तिम अधःसीमारूप त्रिकास्थि पुच्छ है। तत्र प्रतिष्ठित प्राण इसलिए 'प्रतिष्ठा' (पुच्छं प्रतिष्ठा) कहलाता है कि, जब तक अध्यात्मसंस्था में त्रिकास्थिगतप्राण स्वस्वरूप से विकसित रहता है, तभी तक इसके आधार पर शरीरयष्टि तनी रहती है। (वृद्धावस्था में) इस प्राण के मूर्च्छित हो जाने पर कमर झुक जाती है। इस प्रकार शिरोभाग को छोड़ कर मध्याङ्ग (धड़) हस्तपाद, त्रिकास्थि, इन तीनों स्थानों में क्रमशः आत्मप्राणचतुष्टयी पक्षप्राणद्वयी, पुच्छप्राण ये सात प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। सातों प्राण अव्ययमनस्त्वेन अमृतात्मक हैं, एवं क्षराक्षरत्वेन मर्त्य हैं। इन सातों का अमृतरस ही 'श्री' नामक प्राण कहलाया है। यह श्रीप्राण शिरोभाग में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव तन्त्रपरिभाषा में बलि पशु का शिरोभाग 'श्री' कहलाया है। तात्पर्य्य–ऋषिप्राण की 'सप्तर्षि' जाति ही 'सप्तपुरुषपुरुषात्मक पुरुष-प्रजापति' कहलाता है। यही सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथभाष्य में द्रष्टव्य है।

सप्तर्षिलक्षण प्रजापति सर्वप्रथम मनोलक्षण आलम्बन के आधार पर अपने वाग्गर्भित प्राणभाग से तत्त्वात्मक वेद का प्रवर्त्तक बनता है जो वेदतत्त्व ऋक्–साम से अनुगृहीत रहता हुआ 'यजुः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यत् प्राणात्मक ऋषि है 'जू' वाक्तत्त्व है। वाक्–प्राण की समष्टि ही 'यजुः' है। स्थितिप्रकृतिक वागाकाश 'जू है'। गतिप्रकृतिक प्राणवायु 'यत्' है। मन के आधार पर प्रतिष्ठित 'यत्' नामक ऋषिप्राण के गत्यात्मक व्यापार से 'जू' नामक वाक्तत्त्व के उपादानद्वारा आगे की पारमेष्ठ्यादि सृष्टियों की प्रवृत्ति हुई है। इसप्रकार सम्पूर्ण विश्व उक्त प्राणात्मक ऋषि के व्यापार से ही उत्पन्न हुआ है। प्राणात्मक ऋषि वेद की पूर्वावस्था है, स्वयं तत्त्ववेद ऋषिप्राण की उत्तरावस्था है। अतएव 'ऋषिर्वेदमन्त्रः' इत्यादिरूप से ऋषि, और वेद का तादात्म्य मान लिया गया है। इस ऋषितत्त्व को ही हमने अव्यक्त 'प्रकृति' कहा है। इसी आधार सांख्य ने प्रकृति को ही विश्वकर्त्री मान लिया है। प्रकृति से वेद के द्वारा समुत्पन्न विश्व, एवं विश्वप्रजा वर्ण–अवर्णभेद से दो भागों में विभक्त रहती है जिसका 'गीता भू. 'ख' विभागान्तर्गत 'वर्णव्यवस्था-विज्ञान' में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। प्रकृति (ऋषिप्राण) अपने त्रिगुणभाव से आगे जाकर विभिन्नधर्म्मानुगता बन जाती है। विभिन्न धर्म्मानुगता प्रकृति से समुत्पन्न वर्णों में भी प्रकृत्यनुसार ही धर्म्म (प्रकृति–स्वभाव–स्वधर्म्म) विभक्त हुआ है। स्वयम्भू मनु नामक प्राणतत्त्व (अव्यक्तप्रकृति) से समुत्पन्न विश्व एवं उसके प्राकृतिक नियतिलक्षण धर्म्म का ही नाम 'आर्षधर्म्म' है। ऋषिप्राण क्योंकि इस धर्म्मप्रवृत्ति की मूलप्रतिष्ठा है अतएव वर्ण–अवर्णात्मक यह प्राकृतिक धर्म्म 'आर्षधर्म्म' कहलाया है। ऋषिप्राण ही स्वयम्भू मनु है, अतएव तन्मूलक इस प्राकृतिक धर्म्म को 'मानवधर्म्म' भी कहा जा सकता है। प्रकृति (ऋषिप्राणात्मक-प्राण)–'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' के अनुसार नित्य है, सनातन है, अतएव लोकव्यवहार

प्रमीयन्ते सर्वप्राण्यवस्थावन्धे' गीतावर श्रुति के—'तत्र पैचापिपर्षि' से समर्थित है। अतएव—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति ने 'इच्छन्त–श्रमेण–तपसा' द्वारा सृष्टिकर्म में मनः–प्राण–वाक्–तीनों का सहयोग स्वीकार करते हुए भी 'ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्–प्राणा वा ऋषयः–ते यत्पुरा–तस्मादृषयः' यह कह कर *गतिधर्मा क्रियात्मक, अव्यक्त प्राणतत्त्व को ही सृष्टिकर्म का प्रथम प्रवर्तक माना है। गतिधर्म से ही* यह श्रमव्यापी तपोमूर्ति प्राणतत्त्व 'ऋषि' कहलाया है।

प्रसङ्गवश इस गतिधर्मा ऋषितत्त्व के 'सप्तर्षि'–'पञ्चर्षि'–'द्व्यर्षि'–'एकर्षि' आदि अनेक विवर्त हैं। इनके भी आगे जाकर असंख्य विवर्त हो जाते हैं। इन असंख्य आधिदैविक ऋषिप्राणों के आधार पर आगे जाकर पितृप्राण देवप्राण असुरप्राण गन्धर्वप्राण पशुप्राण मानवप्राण आदि आदि अनेक विवर्त हो जाते हैं। इसप्रकार यह ऋषिप्राण विविधरूपापन्न बनता हुआ असंख्य, अतएव अव्यक्त आपाततः साधारण व्यक्तियों के लिए अचिन्त्य–अविज्ञेय ही बना रहता है। गम्भीरमूल इन ऋषियों का परिज्ञान ऋषिदृष्टि पर ही अवलम्बित है जिससे मनुष्यदृष्टि सर्वथा वञ्चित रहती है। ऋषितत्त्व के इसी वैविध्य का लक्ष्य बना कर तत्त्वद्रष्टा ऋषि ने कहा है—

विरूपास इद् ऋषयः, त इद् गम्भीरवेपसः।
त अग्नेः परिजज्ञिरे, तेऽङ्गिरसः सूनवः॥
—ऋक्सं०

मनोमय अव्यय 'शाश्वतधर्म' नामक परात्पर से अविनाभूत रहता हुआ 'शाश्वतब्रह्म' है। प्राणमय अक्षरतत्त्व इन्द्र है। वाङ्मय क्षरतत्त्व सोमगर्भित अग्नि है। अव्यय, अक्षर, क्षर–समष्टि षोडशीप्रजापति है। अव्यय प्राणमय अक्षर, किंवा क्रियात्मक प्राणतत्त्व ही 'योऽयं मध्यतःप्राण' निर्वचन से इन्द्र है। यही अव्यक्त स्वयम्भू नामक 'मनु' है। इसप्रकार मनोमय अव्यय तथा वाङ्मय क्षर, दोनों से नित्य अविनाभूत, अतएव मनःप्राणवाङ्मय अव्यक्तप्राणमय स्वयम्भू को ही सृष्टि का प्रवर्तक माना गया है। इसके इन्द्रात्मक रूप को लक्ष्य बना कर ही *भगवान् मनु ने* कहा है—

१—ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
—मनु० १।६–७।

२—योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

३—एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये, प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके, परे प्राण–मपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

४—एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्म–वृद्धि–क्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥
मनु० १२।१२३–१२४।

भाषा में यही धर्म्म 'सनातनधर्म्म' नाम से सुप्रसिद्ध हुआ है। ऋषिप्राण से कैसे विश्व उत्पन्न हुआ है ?, उत्पन्न विश्व के प्राकृतिक धर्म्मों का क्या स्वरूप है ?, कारणभूत ऋषिप्राण के साथ कार्य्यभूत विश्वधर्म्म का क्या सम्बन्ध है ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान करने वाली कार्य्य-कारण-विज्ञानात्मिका ऋषिप्राणानुगता ऋषिविद्या (प्राणविद्या-वेदविद्या) ही 'आर्षविद्या' है, तदनुगत प्राकृतिक वर्णाश्रमधर्म्म ही वैदिक कर्म्मयोग है, जिसका उपोद्घातरूप गीतापरिभाषानुसार 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

७४–ऋषिप्राणात्मिका आर्षविद्या–

'आर्षविद्या' शब्द का अर्थ है—'ऋषि की विद्या'। यह ऋषिविद्या 'तत्त्वात्मिका शब्दात्मिका' भेद से दो भागों में विभक्त है। तत्त्वात्मिका आर्षविद्या ईश्वरीय विद्या है, शब्दात्मिका आर्षविद्या मानव-ऋषि विद्या है। मानव-ऋषिविद्या से ही तत्त्वात्मिका आर्षविद्या का बोध होता है। ईश्वरीय आर्षविद्या वाच्य है, मानव-ऋषिविद्यात्मिका आर्षविद्या वाचक है। यह शब्दब्रह्मविद्या है, वह अर्थब्रह्मविद्या है। अर्थब्रह्म-विद्या के मूल प्राणविध ऋषि हैं, शब्दब्रह्मविद्या के मूलप्रवर्त्तक प्राणीविध मनुष्य-ऋषि हैं। मानव-ऋषि-वंश में परम्परया प्रतिष्ठित यही आर्षविद्या 'वेदविद्या' कहलाई है, जिसमें प्रतिपादित प्राकृतिक कर्म्म 'विद्या-समुचित प्रवृत्त कर्म्म' कहलाया है, एवं जिसके यज्ञकर्म्म तपःकर्म्म दानकर्म्म ये तीन अवान्तर मुख्य पर्व माने गए हैं। तात्पर्य्य इस विश्लेषण का यही है कि, अतीतानागतज्ञ, विदितवेदितव्य आविर्गतयाथात्म्य भारतीय महर्षियों ने चिरकाल के तपोयोग से (प्राणव्यापार से) प्रादुर्भूता अतीतानागतपरिज्ञानमूला योगज-दृष्टि (ऋषिदृष्टि, आर्षदृष्टि) से प्रकृति के प्राणात्मक ऋषितत्त्वों का साक्षात्कार किया। जिस तत्त्ववेत्ता मानव ने जिस प्राणात्मक ऋषि, का एवं तदनुगत विश्वकर्म्म का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, वह मानव, एवं उस मानव के वंश में समुत्पन्न तत्प्राणपरीक्षक वैज्ञानिक उस प्राणऋषि के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। सर्वमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू प्राण के परीक्षक 'स्वयम्भू मनु' कहलाए। इसीप्रकार वशिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र अङ्गिरा, भृगु, अत्रि दक्ष रुद्र, आदि आदि प्राणों के प्रथमद्रष्टा तत्त्ववेत्ता क्रमशः वशिष्ठादि नामों से ही प्रसिद्ध हुए, जो नाम इन मानव ऋषियों के 'यशोनाम' माने गए हैं। स्वयम्भू मनु इस ऋषिविद्या के मूलप्रवर्त्तक माने गए। क्योंकि प्रकृति में अव्यक्त स्वयम्भू ही ऋषिविद्या का मूल है। स्वयम्भू मनु से आरम्भ कर आगे की मानव ऋषिपरम्परा में ही ऋषिप्राणात्मिका इस आर्षविद्या का प्रधानरूप से परम्परया प्रचार रहा। अतएव मानवधर्म्मशास्त्रात्मिका यह ऋषिविद्या, 'आर्षविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई।

७५–मानवऋषिवंशानुगता आर्षविद्या–

पूर्व के 'विद्यास्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, निगमागमविद्या अपराविद्या है, अपराविद्या है। त्रिगुणात्मिका योगमाया के सम्बन्ध से यह अपराविद्या-(वेदविद्या, वेदोक्त-कर्म्मकाण्ड) त्रिगुणभावापन्ना है, जैसा कि—'त्रैगुण्यविषया वेदा' इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। सम्पूर्ण विश्व विश्वप्रजा, एवं विश्वप्रजा के प्राकृतिक कर्म्म त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमूलक बनते हुए त्रिगुण-

माहात्म्य है। सर्वत्र त्रिगुणभाव का साम्राज्य है *। इसी त्रिगुणभाव के कारण अभ्युदय–स्वर्गमूलक भी वे त्रिवर्गकर्म (वैदिक यज्ञादिकर्म) त्रैगुण्य बने हुए हैं। त्रिगुणभावापन्न ऐसे प्रवृत्ति–लक्षण वैदिक कर्म व्यष्टि–स्वार्थ के परिपोषक बनते हुए आसक्तिमूलक हैं। अतएव एतद्विध काम्ययोग बन्धन का प्रवर्त्तक बनता हुआ त्याज्य है। भारतवर्ष में परम्परया प्रचलित आर्षविज्ञानुगत कर्मयोग महत्त्वप्रधान ही बना हुआ था।

आज भी तो यज्ञकर्म प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में— 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिरूप से कामनानुगत त्रिगुणभाव का ही प्राधान्य उपलब्ध हो रहा है। तभी तो भगवान् ने सर्व वेद को ही त्रिगुणात्मक बतलाया है। क्या भगवान् वेदशास्त्र एवं तन्मूलक कर्मकाण्ड कर्मयोग के विरोधी हैं ? । नहीं, सर्वथा नहीं। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'–'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्य-मेव तत्' इत्यादिरूप से वेदशास्त्र एवं तन्मूलक मानवधर्मशास्त्र को कर्तव्य–कर्म निर्णायक माननेवाले यज्ञादि कर्मों की अवश्य–कर्तव्यता का समर्थन करने वाले पदे पदे शास्त्रानुगत वर्णाश्रममूलक नियत स्वधर्म पालन के लिए प्रेरित करने वाले सर्वोपरि गीतोपदेश के मुख्य पात्र अर्जुन को क्षत्रियवर्णोचित धार्मिक युद्धकर्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् वेदशास्त्र एवं तन्मूलकशास्त्रीय कर्मयोग को त्याज्य ठहराते होंगे यह कल्पना भी अनुचित है। भगवान् का विरोध केवल आसक्ति से है जो त्रिगुणभावात्मिका है। क्योंकि वह त्रिगुणात्मिका है। भगवान् केवल त्रिगुणभाव का विरोध कर रहे हैं। इसीलिए तो–'त्रैगुण्य-विषया वेदा' के अनन्तर ही भगवान् ने–'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' रूप से अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण कर दिया है। यह बतलाया जा चुका है कि, विषयकामना तदनुगत कर्म तज्जनित फल फलासक्ति, चारों में से फलासक्ति ही बन्धन का कारण है। फलासक्ति का मूल भोगकामना है–भोगस्वरूप योगमायानुगत है, योगमाया त्रिगुणात्मिका है। इसके परित्याग से जीव विषयानुगत बनता हुआ त्रिगुणातीता स्थिति में परिणत हो जाता है। और उस दशा में पहुँचने पर इसका कर्म आसक्तिमूलक के स्थान में आसक्तिनिवर्तक बन जाता है। अतएव इसे 'नियतकर्म' कहा गया है। नियतकर्म भी प्राकृतिक बनता हुआ 'धर्म्य' अवश्य है। परन्तु यह कर्म आगे जाकर फलासक्तिरूप में परिणत होता हुआ काम्यात्मक बन कर 'अधर्म' रूप में परिणत हो जाता है। आर्षकर्ममार्ग कामभाव से आत्मनाशात्मक अधर्म बन जाता है। अतएव भगवान् ने इस श्रुति-सम्प्रदायानुगत कर्मयोग में यह संशोधन आवश्यक माना है कि तुम कर्म अवश्य करो, परन्तु अपनी (फल की) कामना को प्रधान न बना कर उसे ईश्वरार्पित कर दो। इससे तुम्हारा कर्ममार्ग भी सुरक्षित रहेगा कर्मफल भी यथावसर उत्पन्न हो जायगा उसका तुम उपभोग भी कर सकोगे साथ ही बन्धन से भी बचे रहोगे। यही आर्षविज्ञानुगत गीतोक्त 'धर्म्यबुद्धियोग' है जिसे हम 'संशोधित कर्मयोग' कह सकते हैं। इसका प्रधानतः भारतवर्ष में ही प्रचार रहा है। इसीलिए आज भी तो ब्राह्मण के लिए लोक में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि–'अमुक ब्राह्मण बड़ा कर्मठ है' कर्म–धर्म ही तो ब्राह्मण का स्वरूप है।

---

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

गी० १८।४० ।

७६–वर्णाश्रमव्यवस्थानुगता आर्षविद्या—

वर्णाश्रम–व्यवस्थानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्मकलाप ही कर्मयोग है। यही धर्म्म है। तन्मूला वेदविद्या ही आर्षविद्या है। कामभावात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ सकम्मन है। निष्कामभावात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धर्म्म बुद्धियोग' है। लोकप्रचलिता योगनिष्ठा (कर्म्मयोग) और भगवत् सम्मता योगनिष्ठा (धर्म्म बुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्म्मयोग है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है–वेदशास्त्र एवं तन्मूलिका वर्णाश्रमव्यवस्था। त्रिगुणभाव के परित्याग से दृष्टि 'सम' हो जाती है अतएव ऐसा कर्म्म योग 'समत्वयोग' बन जाता है। समन्वयानुगत, अतएव आत्मनि–श्रेयसप्रवर्त्तक साथ ही प्रकृतिभेदभिन्न विभिन्न वर्णानुगत विभिन्न व्यवहारानुगत अतएव लोकाभ्युदयप्रवर्त्तक, शास्त्रसिद्ध ऐसा समत्वयोग ही गीता का 'साम्यवाद' है यही निष्कामकर्म्मयोग है, जिसका स्वरूप न जान कर केवल अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर स्थित वर्णाश्रमविरोधी, त्रिगुणभावापन्न, उच्छृङ्खल, विषमदर्शनानुगत–समव्यवहारात्मक प्रतीच्य साम्यवाद के साथ हमारे वर्त्तमान राष्ट्रीय गीताभक्त समतुलन करने का अक्षम्य अपराध करते हुए 'दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' को चरितार्थ कर रहे हैं।

७७–प्राचीनाभिमता कर्म्मयोगनिष्ठा—

सांख्यनिष्ठा त्यागमूला है, योगनिष्ठा संग्रहमूला है। सांख्यनिष्ठा प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग है, इसमें कर्म्म का परित्याग है। योगनिष्ठा प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग है इसमें कामना का संग्रह है। और इस दृष्टि से दोनों लोकनिष्ठाएँ बुद्धियोगसम्पत् से वञ्चित रहती हुई पृथक्–पृथक् बन रही हैं। भगवान् ने योगात्मिका कर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इसे ही (कर्म्मयोग का ही) उभयनिष्ठात्मक बना सकते। यह तभी सम्भव है क्योंकि तुम अपने कर्म्म योग में त्याग और संग्रह दोनों का समन्वय कर लोगे। त्याग करो कामना का (जिसका तात्पर्य्य है–फलेच्छा का परित्याग), संग्रह करो वर्णानुगत प्राकृतिक कर्म्म का। काम–त्याग से तुम्हारी यही कर्म्म योगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुई आत्मविद्याप्रवर्त्तिका बन कर निःश्रेयस–(मुक्ति)–साधिका बन जायगी, एवं यही कर्म्म योगनिष्ठा कर्म्म संग्रह से कर्म्म योगनिष्ठा बनती हुई लोकसंग्रहप्रवर्त्तिका बन कर अभ्युदय–(भुक्ति)–साधिका बन जायगी। इसप्रकार उभयात्मिका ऐसी योगनिष्ठा (कर्म्म योग–धर्म्म बुद्धियोग) से तुम्हारे ऐहिक–आमुष्मिक दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेंगे।

७८–भगवत्सम्मता धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा—

ठीक इसके विपरीत, यदि तुमने अपने शास्त्रीय कर्म्म योग को लोकव्यामोहानुगत बनाते हुए केवल संग्रह अनुगमन किया तो, ऐसा कामनामय कर्म्म तुम्हारी लोकस्थिति का संरक्षक बनता हुआ भी तुम्हें तुम्हारे पुरुषार्थैकधाम आमुष्मिक आत्मनिःश्रेयस से वञ्चित रख देगा। और तुम–स्वर्ग–सुख भोगने पर भी–ण पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार–'जायस्व म्रियस्व' इस दुःखमय–अशान्त–भवमय–चक्र से अपना न कर सकोगे। 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' के अनुसार कामत्याग से तुम्हारी गनिष्ठा 'सांख्यनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदात्री बन जायगी, यही योगनिष्ठा कर्म्म संग्रह से 'योगनिष्ठा' भुक्तिप्रदात्री बन जायगी। और इसप्रकार इस संयोजित–'धर्म्म बुद्धियोग' लक्षण उभयनिष्ठात्मक,

आपन्न हैं। सर्वत्र त्रिगुणभाव का साम्राज्य है *। इसी त्रिगुणभाव के कारण अध्यात्म–आत्मसूत्रक भी ये निरवकर्म (वैदिक प्रवृत्तिकर्म) भावानुगत बने हुए हैं। त्रिगुणभावापन्न ऐसे प्रवृत्ति–लक्षण वैदिक कर्म व्यक्ति–स्वार्थ के परिपोषक बनते हुए आसक्तिजनक हैं। अतएव एवंविध कर्मयोग बन्धन का प्रवर्तक बनता हुआ त्याज्य है। भूपिण्ड में परम्परया प्रचलित आर्षविद्यानुगत कर्मयोग प्रवृत्तिप्रधान ही बना हुआ था।

आज भी तो यज्ञकर्म प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में—'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिरूप से कामनानुगत त्रिगुणभाव का ही प्राधान्य उपलब्ध हो रहा है। तभी तो भगवान् ने स्वयं वेद को ही त्रिगुणात्मक बतलाया है। क्या भगवान् वेदशास्त्र एवं तत्सिद्ध यज्ञादिलक्षण कर्मयोग के विरोधी हैं ? । नहीं, सर्वथा नहीं। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'–'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्य-मेव तत्' इत्यादिरूप से वेदशास्त्र, एवं तन्मूलक मानवधर्मशास्त्र को कर्तव्य–कर्म निर्णायक माननेवाले यज्ञादि कर्मों की अवश्य–कर्तव्यता का समर्थन करने वाले पदे पदे शास्त्रानुगत धर्ममर्यादानुसार विमल स्वकर्म पालन के लिए प्रेरित करने वाले सर्वोपरि गीतोपदेश के मुख्य पात्र अर्जुन को क्षत्रियवर्णोचित, शास्त्रीय युद्धकर्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् वेदशास्त्र, एवं तत्प्रतिपादित कर्मयोग को त्याज्य ठहराते होंगे यह कल्पना भी अनुचित है। भगवान् का विरोध केवल आसक्ति से है, जो कामानुगता तत्स्वार्थता से है। क्योंकि वह त्रिगुणात्मिका है। भगवान् केवल त्रिगुणभाव का विरोध कर रहे हैं। इसीलिए तो–'त्रैगुण्य-विषया वेदा' के अनन्तर ही भगवान् ने–'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' रूप से अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण कर दिया है। यह बतलाया जा चुका है कि ईश्वरकामना तदनुगत कर्म तज्जनित फल फलासक्ति, चारों में से फलासक्ति ही बन्धन का कारण है। फलासक्ति का मूल जीवकामना है–जीवस्वरूप योगमायानुगत है, योगमाया त्रिगुणात्मिका है। इसके परित्याग से जीव ईश्वरानुगत बनता हुआ त्रिगुणातीता स्थिति में परिणत हो जाता है। और उस दशा में पहुँचने पर इसका कर्म आसक्तिजनक के स्थान में आसक्तिनिवर्तक बन जाता है। अतएव इसे 'निवृत्तकर्म' कहा गया है। प्रवृत्तकर्म भी प्राकृतिक बनता हुआ 'धर्म' अवश्य है। परन्तु यह धर्म आगे चलकर फलासक्तिरूप में परिणत होता हुआ आत्मावरक बन कर 'अधर्म' रूप में परिणत हो जाता है। आर्षधर्ममार्ग तत्प्रमाण से कामनोपहत्या अधर्म बन जाता है। अतएव भगवान ने इस आर्ष-सम्प्रदायानुगत कर्मयोग में यह संशोधन आवश्यक माना है कि, तुम कर्म अवश्य करो, परन्तु अपनी (जीव की) कामना को प्रधान न बना कर उसे ईश्वरार्पित कर दो। इससे तुम्हारा कर्ममार्ग भी सुरक्षित रहेगा कर्मफल भी यथावसर उत्पन्न हो जायगा उसका तुम उपभोग भी कर सकोगे साथ ही बन्धन से भी बचे रहोगे। यही आर्षविद्यानुगत गीतोक्त 'धर्मबुद्धियोग' है जिसे हम 'संशोधित कर्मयोग' कह सकते हैं। इसका प्रधानतः ब्राह्मणवंश में ही प्रचार रहा है। इसीलिए आज भी तो ब्राह्मण के लिए लोक में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि–'अमुक ब्राह्मण बड़ा कर्मठ है' कर्म–धर्म ही तो ब्राह्मण का स्वरूप है।

---

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्–त्रिभिर्गुणैः ॥
गी० १८।४० ।

७६–वर्णाश्रमव्यवस्थानुगता आर्षविद्या—

वर्णाश्रम–व्यवस्थानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्मकलाप ही कर्मयोग है। यही धर्म्म है। तन्मूला वेदविद्या ही आर्षविद्या है। कामनात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ बन्धन है। निष्कामभावात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धर्म्म बुद्धियोग' है। लोकसम्मता योगनिष्ठा (कर्म्म योग) और भगवत् सम्मता योगनिष्ठा (धर्म्म बुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्म्मयोग है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है–वेदशास्त्र एवं तन्मूलिका वर्णाश्रमव्यवस्था। त्रिगुणभाव के परित्याग से दृष्टि 'सम' हो जाती है, अतएव ऐसा कर्म्म योग 'समत्वयोग' बन जाता है। समदर्शनानुगत, अतएव आत्मनि भेदव्यवस्थापक, साथ ही प्रकृतिभेदभिन्न विविध वर्णानुगत विविध व्यवहारानुगत, अतएव लोकाभ्युदयप्रवर्त्तक, शास्त्रसिद्ध ऐसा समत्वयोग ही गीता का 'साम्यवाद' है यही निष्कामकर्म्म योग है, जिसका स्वरूप न जान कर केवल अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर भिन्न, वर्णाश्रमविरोधी, त्रिगुणभावापन्न उच्छृङ्खल विषमदर्शनानुगत–समव्यवहारात्मक प्रतीच्य साम्यवाद के साथ हमारे वर्त्तमान राष्ट्रीय गीताभक्त समतुलन करने का अपराध अपराध करते हुए 'दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' को सर्वात्मना चरितार्थ बना रहे हैं।

७७–प्राचीनाभिमता कर्म्मयोगनिष्ठा—

सांख्यनिष्ठा त्यागमूला है, योगनिष्ठा संग्रहमूला है। सांख्यनिष्ठा प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग है, इसमें कर्म्म का परित्याग है। योगनिष्ठा प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग है इसमें कामना का संग्रह है। और इस दृष्टि से दोनों साधननिष्ठाएँ बुद्धियोगधर्म्म से वञ्चित रहती हुई पृथक्–पृथक् बन रही हैं। भगवान् ने योगाभिमत कर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इसे ही (कर्म्म योग को ही) उभयनिष्ठात्मक बना डालो। यह तभी सम्भव है, जबकि तुम अपने कर्म्म योग में त्याग और संग्रह दोनों का समन्वय कर दोगे। त्याग करो कामना का (जिसका तात्पर्य है–फलेच्छा का परित्याग) संग्रह करो वर्णानुगत प्राकृतिक कर्म्म का। काम त्याग से तुम्हारी यही कर्म्म योगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुई आत्मविकासप्रवर्त्तिका बन कर निःश्रेयस–(मुक्ति)–साधिका बन जायगी, एवं यही कर्म्मयोगनिष्ठा कर्म्मसंग्रह से कर्म्म योगनिष्ठा बनती हुई लोकसंग्रहप्रवर्त्तिका बन कर अभ्युदय–(भुक्ति)–साधिका बन जायगी। इसप्रकार उभयाभिमता ऐसी योगनिष्ठा (कर्म्म योग–धर्म्म बुद्धियोग) से तुम्हारे ऐहिक–आमुष्मिक दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जायँगे।

७८–भगवत्सम्मता धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा—

ठीक इसके विपरीत यदि तुमने अपने शास्त्रीय कर्म्म योग को कामनानुगत बनाते हुए केवल संग्रह का अनुगमन किया तो, एवं कामनामय कर्म्म तुम्हारी लोकस्थिति का संरक्षक बनता हुआ भी तुम्हें तुम्हारे परमपुरुषार्थलक्षण आमुष्मिक आत्मनिःश्रेयस से वञ्चित रख देगा। और तुम–स्वर्ग–सुख मानने पर भी—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार– आवागमन लक्षण इस दुःखमय–अशान्त–भवभय–चक्र से अपना त्राण न कर सकोगे। 'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' के अनुसार कामत्याग से तुम्हारी यही योगनिष्ठा 'सांख्यनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदात्री बन जायगी, यही योगनिष्ठा कर्म्म संग्रह से 'योगनिष्ठा' बनती हुई भुक्तिप्रदात्री बन जायगी। और इसप्रकार इस भगवदभिमत–धर्म्म बुद्धियोग' लक्षण, उभयनिष्ठात्मक,

निष्कामकर्म योगात्मक कर्म योग से तुम उन फल को प्राप्त कर लोगे जिनकी मूलप्रतिष्ठाभिका, अव्ययात्म भीमा विद्या ही 'आर्षविद्या' कहलाई है।

७९–धर्मबुद्धियोगात्मक कर्मयोग का समन्वय—

विभिन्न दृष्टियों से आर्षविद्या एवं तदनुगत धर्म बुद्धियोग का स्वरूपविश्लेषण किया गया। अब एक अन्य दृष्टि से इसका समन्वय किया जाता है। 'धर्म' तत्त्व का स्वरूप–परिचय कराते हुए हमनें यह स्पष्ट किया है कि–'प्रकृतिसिद्ध–प्रकृतिभिन्न–वर्णाश्रमानुगत–विभिन्न–कर्म का कर्म का ही नाम 'धर्म' है। इस कर्मात्मक धर्म तत्त्व के ही आगे जाकर 'विधिधर्म' 'कर्मात्मकधर्म' 'सांस्कारिकधर्म' भेद से तीन विभाग हो जाते हैं। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' (प्रतिदिन सन्ध्या करो) 'अहरहः स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः' (प्रतिदिन शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए), इत्यादि आदेशात्मक जिन आदेशों का विधान कर रहे हैं वे आदेशात्मक विधिवचन ही 'विधिधर्म' है। मन्वादिशास्त्र इस विधिधर्म के सम्बन्ध से ही 'धर्मशास्त्र' कहलाए हैं। विधि के साथ साथ इनमें निषिद्ध धर्मों (अधर्मात्मक कर्मों) का भी समावेश हुआ है। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (किसी को कष्ट न दो) 'नक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' उगते हुए सूर्य को नहीं देखना चाहिए) इत्यादि निषेधों का भी धर्म शास्त्र में ही संग्रह हुआ है। कर्मात्मक धर्म की इतिकर्तव्यता बतलाने के कारण धर्म (कर्म) प्रतिपादक विधि–निषेध–वाक्यों का संग्रहात्मक शास्त्र 'तात्स्थ्यन्याय' से धर्मशास्त्र (धर्मप्रतिपादकशास्त्र) कहलाया है जिस शास्त्रात्मक, विधिनिषेध–वाक्यात्मक धर्म को हम 'विधिधर्म' कह सकते हैं। शास्त्र ने जैसा करने की आज्ञा दी वैसा हमनें किया। जिसका निषेध किया, वह न किया। इस अनुष्ठेय धर्म का नाम ही 'कर्मात्मकधर्म' है, और यही धर्म का वास्तविक स्वरूप है। विधिधर्म केवल आदर्शधर्म है। जब तक धर्म केवल शब्दों में सीमित है तब तक वह शास्त्रमर्यादा से नियन्त्रित रहता हुआ हमारा कोई उपकार नहीं कर सकता। आचरण करने पर ही धर्म धारणात्मक बनता हुआ हमारी स्वरूपरक्षा करता है। अतएव सनातनधर्म 'क्रियात्मकधर्म' माना गया है। 'आत्मना धृतः सन् आत्मनः स्वरूपं रक्षति' ही धर्म का स्वरूपलक्षण है। विधि निषेध वचनों को (विधिधर्म को) हमारा आत्मा धारण नहीं करता। धारण करता है वह विधिनिषेधानुगत कर्म को। अतः कर्म को ही धर्म कहना सामर्थ्य बनता है। वह विधिधर्म जहाँ धर्मशास्त्र में सुरक्षित रहता है वहाँ कर्मात्मक वास्तविक धर्म धर्मी में सुरक्षित रहता है। यही 'कर्मात्मकधर्म'–नामक दूसरा धर्मविभाग है।

८०–ज्ञानकर्मात्मिका धर्ममीमांसा—

कर्मात्मक धर्म ज्ञानगर्भित है। अतएव इस कर्मात्मक धर्म के आगे जाकर ज्ञानप्रधान धर्म, कर्मप्रधान धर्म ये दो विभाग हो जाते हैं। ज्ञानात्मक धर्म से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह 'भावनाधर्म' कहलाया है एवं कर्मात्मक धर्म से उत्पन्न संस्कार वासनाधर्म कहलाया है। हमारे ज्ञानाचरण और कर्माचरण से संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं। ये उत्पन्न भावना–वासनासंस्कार भी ज्ञानकर्मवत् आत्मा के साथ युक्त रहते हुए 'धर्म' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। इसी संस्कार–धर्म पुञ्ज का नाम चितिकल्पना में 'उक्थ' है। यही उक्थधर्म आगे ज्ञानकर्मप्रवृत्ति का कारण बनता है। यदि उक्त निर्देश कर जाते

है तो आत्मा जीवन्मुक्त बन जाता है। अतएव मानना पड़ेगा कि, जब तक सांस्कारिक धर्म्म है, तभी तक अध्यात्मसंस्था की स्वरूपरक्षा है। इन्हीं से जन्म-कर्म्म-चक्र प्रवाहित रहता है। यही भावनावासना संस्काररूप तीसरा 'सांस्कारिकधर्म्म' है, जिसे हम कर्म्मात्मकधर्म्म से उत्पन्न 'फल' भी कह सकते हैं।

८१—एकादशेन्द्रियाधिष्ठाता कर्म्मात्मा—

क्या फल बन्धन का कारण है ?' प्रश्न की मीमांसा करते हुए पूर्व में यह बतलाया गया है कि अध्यात्मसंस्था का स्वरूपरक्षक उसका अन्तर्जगत् है एवं भावना-वासनात्मक संस्कारपुञ्ज से ही इस अन्तर्जगत् का निर्म्माण हुआ है। यही सांस्कारिक अन्तर्जगत् ज्ञानकर्म्मजनित फल है जो ईश्वरधर्म्मानुगत बनता हुआ कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। ईश्वरधर्म्मानुगत संस्कार जहाँ आत्मधर्म्म है, वहाँ यही जीवधर्म्मानुगत बनता हुआ 'अभिनिवेश' नामक अधर्म्म बन जाता है। यही अभिनिवेश फलासक्तिरूप में परिणत होता हुआ आत्मस्वरूपावरक बन कर आत्मबन्धन का कारण बन जाता है। 'अभिनिवेश' का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें संस्कार का एक विभिन्न दृष्टि से समन्वय करना पड़ेगा।

आत्मा ज्ञान-कर्म्ममय है यह स्पष्ट किया जा चुका है। ज्ञान-कर्म्ममय कर्म्मात्मा जिन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-कर्म्मव्यापार के सञ्चालन में समर्थ होता है वे इन्द्रियाँ भी ज्ञानेन्द्रिय कर्म्मेन्द्रिय, भेद से दो भागों में ही विभक्त हैं। चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना, त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक् पाणि, पाद पायू उपस्थ ये पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्म्मगर्भित ज्ञानप्रधान हैं कर्म्मेन्द्रियाँ ज्ञानगर्भित कर्म्म प्रधान हैं। ग्यारहवाँ संकल्प-विकल्पात्मक मन उभयात्मक है इसमें ज्ञान-कर्म्म का समानरूप से समन्वय है। सम्भूय दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्यात्मसंस्था में ११ इन्द्रियाँ हो जाती हैं जिनका वैदिक वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र मन, इन पाँच इन्द्रियों में अन्तर्भाव माना गया है जिनका 'आत्मस्वरूप-प्रतिपत्ति' नामक परिच्छेद में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जिसप्रकार अन्य राष्ट्र की प्रजा पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए पहिले वहाँ के राष्ट्रपति पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है एवमेव इन्द्रियवर्ग के संयम के लिए पहिले तदधिष्ठाता उभयात्मक मन का संयम अपेक्षित होता है जैसाकि निम्न लिखित मनु-वचन से स्पष्ट है—

१—एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥

२—श्रोत्र-त्वक्-चक्षुषी-जिह्वा-नासिका-चैव पञ्चमी ।
पायू-पस्थं हस्त-पाद-वाक्-चैव दशमी स्मृता ॥

३—बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्म्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥

४—एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥

—मनु० २। ८९, ९० ९१ श्लो० ।

८२–आत्मेन्द्रियमनोयुक्त–भोक्तात्मा—

मनोऽनुगत ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न भावनासंस्कार एवं मनोऽनुगत कर्म्मेन्द्रियों से उत्पन्न वासनासंस्कार आत्मा पर प्रतिष्ठित रहता है। अतएव आत्मा संस्कार–संस्कृत बनता हुआ स्वभिमान से अभिभूत हो जाता है। आत्मस्वरूपप्रविप्त् से अपरिचित प्रश्न कर सकते हैं कि 'जब शास्त्रों ने आत्मा को 'न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति' इत्यादिरूप से सर्वथा असङ्ग बतलाया है तो उसे भावना–वासनासंस्कार कैसे आवृत कर सकते हैं ? । जिस प्रकार अहो-रात्र जल में रहता हुआ भी पद्म जलसम्पर्क से पृथक्–निर्लेप बना रहता है एवमेव अहोरात्र इन्द्रियानुगत ज्ञान–कर्म्म (भावना–वासना) में रत रहता हुआ भी आत्मा–'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमि-वाम्भसा' के अनुसार सर्वथा असङ्ग–निर्लेप ही रहता है। ऐसी अवस्था में संस्कारों से आत्मा को लिप्त बतलाना और तत्प्रमाण से आत्मा को दुःखी मानना कैसे सङ्गत हो सकता है ? । प्रश्नों का समाधान 'ब्रह्मोदियति' प्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। सर्वव्यापक अव्ययात्मा अवश्य ही प्रत्येक दशा में असङ्ग है जिसे 'अक्षरात्मा' कहा गया है। इस अव्यय–त्मयविज्ञानतत्त्व के आधार पर अव्ययादि पाँच अवस्था-त्माओं का विकास होता है जिनमें दो ज्ञानात्मा ही असङ्ग हैं एवं तीन ससङ्ग हैं। स्वयम्भू के अव्यय प्राण (ऋषि) तत्त्व से समुत्पन्न अव्ययात्मा और सूर्य्य के असङ्ग सावित्राग्नि से उत्पन्न विज्ञानात्मा (बुद्धि), ये दो ज्ञानात्मा तो असङ्ग हैं। परमेष्ठी के स्नेहधर्म्मा अतएव ससङ्ग सोमतत्त्व से समुत्पन्न महानात्मा चन्द्रमा के भास्वर–स्नेहगुणक–सोम से उत्पन्न प्रज्ञानात्मा (मन), एवं वाक्तत्त्वगर्भित पृथिवी से समुत्पन्न वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्ति कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा, ये तीन त्रयात्मा ससङ्ग हैं। महानात्मा कर्म्मात्मा की योनि है प्रज्ञानात्मा कर्म्मप्रवृत्ति का द्वार है। महद्गर्भित प्रज्ञानसम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा अपने महत्–प्रज्ञान–एवं स्वात्मगत ससङ्गधर्म्म से अवश्यमेव संस्कारग्राहक बना रहता है। जिस मन के द्वारा संस्कार उत्पन्न होते हैं, वह मन स्नेहगुणक सोमप्रधान बनता हुआ ससङ्ग है। कर्म्मात्मा का इस ससङ्ग मन के साथ ग्रन्थिबन्धन–सम्बन्ध है। उभयात्मक ससङ्ग मन से ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भावनासंस्कार का, एवं कर्म्मेन्द्रियों के द्वारा वासनासंस्कार का उदय होता है। मन से उत्पन्न संस्कार मन पर प्रतिष्ठित रहते हैं। कर्म्मात्मा मन से ग्रथित है अतएव मन पर प्रतिष्ठित संस्कार कर्म्मात्मा को भी आवृत कर लेते हैं। अतएव इन्द्रिय, मन, कर्म्मात्मा तीनों के समन्वित रूप को ही उपनिषद् ने–'भोक्तात्मा' (कर्म्मफलभोक्ता सांसारिक कर्म्मात्मा) नाम से व्यवहृत किया है–'आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोपनिषत्)।

८३—अनुभव, और भय–तत्त्वपरिचय—

अनुभव और भय ये दो व्यापार ही उक्त संस्कारों की मूलप्रतिष्ठा हैं। अनुभवाहित संस्कार ही भावना है इसमें ज्ञानेन्द्रियव्यापार का प्राधान्य है। भयाहितसंस्कार ही वासना है इसमें कर्म्मेन्द्रियव्यापार प्रधान है। जिनमें एक संस्कार केवल अनुभवाहित (भावनात्मक) हैं जिनमें एक केवल भयाहित (वासना-

त्मक) हैं एवं कितनें एक अनुभव-भ्रमाहित (भावनावासनात्मक, उभयात्मक) हैं। हम चुपचाप बैठे हैं, कोई कर्म्म नहीं कर रहे, कर्म्मेन्द्रियां शान्त हैं। एक व्यक्ति आकर कहता है कल प्रातः तुम्हें अमुक श्रेष्ठपुरुष ने मिलने बुलाया है। सुनते ही अन्तर्जगत् में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। तत्क्षण प्रज्ञानमन में एक प्रकार की छाप लग जाती है। यही केवल ज्ञानात्मक अनुभवाहित भावनासंस्कार का उदाहरण है। किसी के हम जोर से थप्पड़ मार देते हैं। हमारे अन्तर्जगत् में एक क्षोभ की लहर दौड़ जाती है। इसकी छाप भी प्रज्ञानमन में तत्काल उसी प्रकार प्रतिष्ठित होजाती है, जैसे कि बालू के टीले पर हाथ मारने से उस पर हाथ की छाप लग जाती है। यही केवल कर्म्मात्मक भ्रमाहित वासनासंस्कार का उदाहरण है। भोजन कर रहे हैं। ज्ञानेन्द्रियों का भी व्यापार हो रहा है कर्म्मेन्द्रियों का व्यापार भी प्रक्रान्त है। स्वाद, गन्ध, प्रत्यक्ष, शष्कुली (पापड़) खाने से शब्दादि ज्ञानभाव भी प्रक्रान्त हैं हस्तव्यापारलक्षण कर्म्म भी प्रक्रान्त है। यही अनुभव-भ्रमाहित भावनावासनोभयसंस्कार का उदाहरण है। तात्पर्य्य-भावनात्मक अनुभवाहितसंस्कार, एवं वासनात्मक भ्रमाहितसंस्कार, दोनों कर्म्मात्मानुगत स्नेहगुणक, सोम्य प्रज्ञानमनोधरातल पर अंकित होजाते हैं। संस्कारों का प्रज्ञानधरातल पर अंकित होजाना ही-'अभिनिवेश' है।

८४-विभूति, योग, बन्धन-लक्षणा सम्बन्धत्रयी-

अभिनिवेश शब्द की तात्पर्य्यार्थावगति के लिए सम्बन्धत्रयी का ज्ञान लेना आवश्यक होगा। विभूति योग, बन्धन भेद से दो वस्तुओं का किंवा अनेक वस्तुओं का परस्पर होने वाला सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त माना गया है। सूर्य्यातप सूर्य्यप्रतिबिम्ब सूर्य्यचित्र, तीनों तीनों सम्बन्धों के उदाहरण माने जासकते हैं। एक काच पर सूर्य्य के आतप (धूप) का सम्बन्ध होरहा है। जैसे त्रैलोक्य के अन्य पदार्थों के साथ आतप का सम्बन्ध है एवमेव इस काच के साथ भी व्याप्तरूप से आतप का सम्बन्ध होरहा है। काच, और आतप का यह सम्बन्ध विभूतिसम्बन्ध है जिसे हम असम्बन्धात्मक सम्बन्ध ही कहेंगे। दर्पण पर सूर्य्यबिम्ब लक्षित होजाता है। दर्पण पर प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित अवश्य है। परन्तु दर्पण के साथ प्रतिबिम्बित सूर्य्य का हृद्ग्रन्थि-बन्धन नहीं है। अतएव दर्पण को स्थानान्तरित करते ही प्रतिबिम्ब स्वाश्रयसूर्य्य में विलीन होजाता है। दर्पण और प्रतिबिम्बित सूर्य्य का यही पारस्परिक सम्बन्ध 'योगसम्बन्ध' है, जिसे हम 'निवेश' रूप सम्बन्ध कहेंगे। किसी विशेष साधन से संमार्जित दर्पण पर सूर्य्य का चित्र खींचा गया। सूर्य्य प्रतिबिम्बित होगया, दर्पण पर सूर्य्य का चित्र (फोटो) उतर आया। इस चित्रात्मक सूर्य्य के साथ दर्पण का जो सम्बन्ध है यही 'बन्धन' सम्बन्ध कहलाता है। इसमें चित्रित सूर्य्य अभिन्न (सर्वात्मना) दर्पण में निविष्ट (प्रविष्ट) होजाता है। अतएव हृद्ग्रन्थिबन्धनात्मक इस सम्बन्ध को हम अवश्य ही 'अभिनिवेश' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार भावना-वासना-संस्कारों का भी कर्म्मात्मा के साथ होने वाला पारस्परिक सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त रहता है। इन तीन सम्बन्धों के अधिष्ठान बनते हैं-तीन आत्मा। अव्ययात्मा असङ्ग है। यही आध्यात्मिक ईश्वर है। यदि कर्म्मात्मा की इच्छा इस असङ्ग अव्ययात्मा में समर्पित है, तो जिस प्रकार अव्ययेश्वर सर्वत्र विभूतिसम्बन्ध से व्याप्त रहता हुआ भी निर्लेप है एवमेव अव्यया मात्रानुगत कर्म्मात्मा भी रहते हुए भी संस्कारों के साथ विभूतिसम्बन्ध से सम्बन्ध करता हुआ निर्लेप बना रहता है। ऐसा कर्म्मात्मा (जीवात्मा) 'कुर्वन्नपि-न लिप्यते' के अनुसार साक्षात् ईश्वर है। दूसरा है-विज्ञानात्मा (बुद्धि), जिसे हमनें अग्न्यग्नि के सम्बन्ध से असङ्ग बतलाया है। यदि कर्म्मात्मा इस विज्ञानात्मा को प्रधानरूप से आलम्बन बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होवे,

है तो तदनुरूप संस्कार प्रतिबिम्बरूप से कर्म्मात्मा पर प्रतिष्ठित रहते हैं। यही दूसरा योगसम्बन्ध है जिसे शाप्य-बुद्धियोग कहा जासकता है। तदनुगामी पुरुष बुद्धियोगी कहलाए हैं। तीसरा है—प्रज्ञानात्मा (मन), जिसे हमनें चान्द्रसोम के सम्बन्ध से उत्पन्न बतलाया है। इस मनका स्नेहगुण सूक्ष्म तत्त्व है जिससे साधारण धन कृष्णवर्णात्मक चित्रग्राहक पत्र (प्लेट) रूप में परिणत होजाता है। यदि कर्म्मात्मा इस प्रज्ञानात्मा को प्रधानरूप से आलम्बन बना कर ऐन्द्रियक कर्म्मों में प्रवृत्त होता है, तो तदनुरूप संस्कार चित्ररूप से कर्म्मात्मा में सर्वात्मना लिप्त रहजाते हैं, संस्कारों के साथ कर्म्मात्मा का ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध होजाता है। यही तीसरा बन्धनसम्बन्ध है जिसे काम्यकर्म्मपाश कहा जासकता है। तदनुगामी मनुष्य ही कामकामी-विषयपरायण-संसारी कहलाए हैं। इसप्रकार आत्मा, विज्ञान प्रज्ञान प्राधान्य से संस्कारों का कर्म्मात्मा के साथ तीन प्रकार से सम्बन्ध सम्भव है। अमृतमूलक विमुक्तिसम्बन्ध भी बन्धन है, विज्ञानमूलक योगसम्बन्ध भी बन्धन है। वास्तव में तो प्रज्ञानमूलक बन्धनसम्बन्ध, हृदयग्रन्थिबन्धन अन्तर्यामसम्बन्ध जिसे 'अभिनिवेश' कहा गया है। सिद्ध है कि, स्वयं संस्कार अपनी ओर से, अपने स्वरूप से बन्धन के कारण नहीं हैं, अपितु संस्कारों का प्रज्ञानमूलक बन्धनसम्बन्धात्मक अभिनिवेश ही आत्मबन्धन का कारण है जो अभिनिवेश 'पञ्चाशिख' नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस प्रकार एक श्वेतवस्त्र बाह्यसम्पर्क से लगने वाले रंग से रञ्जित होकर अपनी स्वाभाविक श्वेतता से आवृत होजाता है, दूसरे शब्दों में वस्त्र की रक्तता से युक्त वस्त्र में लगे हुए रङ्ग से जैसे वस्त्र का स्वाभाविक शौक्ल्य तिरोहित होजाता है, एवमेव वस्त्रस्थानीय प्रज्ञान मन के स्नेह-गुण (कामनामयी-आसक्ति) की व्याप्ति से स्वस्वरूप से ज्ञानज्योतिर्म्मय भी आत्मा का स्वाभाविक ज्योतिर्मय आवृत होजाता है। इस एक अभिनिवेश से ही बुद्धि के धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य, ये चारों विभाभाग आवृत होते हैं, तदात्मा कर्म्मात्मा मुकुलित बन जाता है। स्मरण रखिए, संस्कारों का कर्म्मात्मा के साथ हृदयग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध होजाना ही अभिनिवेश है। दूसरे शब्दों में 'ग्रन्थिबन्धन' का ही नाम अभिनिवेश है। इससे यह भी निष्कर्ष निकल जाता है कि, ग्रन्थिबन्धनात्मक में केवल योग, तथा विमुक्ति-सम्बन्ध से रहने वाले संस्कार उसी प्रकार आत्मस्वरूप के आवरक नहीं बन सकते जैसे कि पड़ा हुआ भी विषमपदार्थ ईश्वर के स्वाभाविक विभव को आवृत नहीं कर सकता। तात्पर्य्य-संस्कार स्वयं दोष नहीं हैं, आत्मस्वरूपप्रतिबन्धक नहीं हैं, अपितु संस्कारग्रन्थिबन्धनरूप अभिनिवेश ही आत्मविकास का प्रतिबन्धक है। संस्काराभिनिवेश (संस्कारग्रन्थिबन्धन) आत्मरूप सूर्य्य के विद्यमान प्रकाश को आवृत करने वाला कृष्णाभ्र है। संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश विजातीय बनता हुआ 'पर-तन्त्र' है, विजातीय तन्त्र है। इस पर (विजातीय) तन्त्र के पाश में आकर आत्मा अपने स्वतन्त्ररूप विकासयोग से वञ्चित होता हुआ 'परतन्त्र' बन जाता है। स्व-तन्त्रानुगत आत्मा जहाँ सुशान्त रहता है, वहाँ परतन्त्रानुगत आत्मा अतिशयक्लेश अशान्त बन जाता है। शान्तिभाव आत्मसुख है, अशान्तिभाव आत्मदुःख है। इसप्रकार स्वतन्त्र परतन्त्र भाव ही सुख-दुःख-प्रवृत्ति के मूल बने हुए हैं। स्वातन्त्र्य सुख है, पारतन्त्र्य दुःख है, यही सुख-दुःख का तात्त्विक लक्षण है जिसका निम्न लिखित स्मार्त वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है—

यद्यत् परवशं कर्म्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ॥
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥ १ ॥
सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ॥
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥ २ ॥
—मनु ४।१५९,१६०।

८५–अभिनिवेशात्मक संस्कारबन्धन—

बतलाया गया है कि, संस्कार दुःख के कारण नहीं हैं, अपितु संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश दुःख का कारण है। कारण यही है कि, उत्थाप्याकांक्षा नाम की आसक्तिमूला जीवकामना (जीवेच्छा) से उद्बुद्ध महान मन तो प्रबल हो जाता है एवं अतएव विज्ञानात्मा (बुद्धि) निर्बल बन जाता है। ज्ञानकर्म्मेन्द्रियवर्ग शरीररथ के 'अश्व' हैं, महान मन प्रग्रह (लगाम) है, बुद्धि सारथि है। सारथि के प्रमादी बन जाने से लगाम का हाथों से छूट जाना अनिवार्य्य है। लगाम के नियन्त्रण के शिथिल होते ही अश्वों का उत्पथगमन करना अनिवार्य्य है। इसप्रकार कामासक्ति के अनुग्रह से प्रबल बने हुए मन के प्राबल्य से बुद्धि के प्रमादशील बनते हुए इस मनोराज्य में इन्द्रियाश्व स्वतन्त्र (असंयत) बन जाते हैं। विषयानुगति का विवेक जाता रहता है। इसप्रकार असंयत इन्द्रियों की उच्छृङ्खलता से आने वाले संस्कार मनःप्राबल्य से कर्म्मात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धनरूप में परिणत हो जाते हैं। अतएव आवश्यक है कि, इन्द्रियों का संयम किया जाय, इन्हें प्रकृत्यनुकूल नियताहारविहारपरायण बनाया जाय, तदर्थ मन पर बुद्धि का नियन्त्रण किया जाय एवं तदर्थ जीवकामना को ईश्वरकामना में अर्पित किया जाय। इस ईश्वरकामात्मक निष्कामभाव से जीवकाम निर्बल हो जायगा, मनःप्राबल्य हट जायगा। इसी काम-निष्कामभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् मनु ने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ॥
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ १ ॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ॥
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ २ ॥
—मनु २।९३,१००।

८६–विद्या, काम, कर्म्मात्मक शुक्रतत्त्व—

'सर्वान् संसाधयेदर्थान्' यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है। मनु कह रहे हैं कि, इन्द्रिय-मन-संयमपूर्वक यदि तुम पुरुषार्थसाधक कर्म्मों में प्रवृत्त रहोगे, तो तुम संस्कारबन्धन में भी आबद्ध न होगे, साथ ही लोकाभ्युदय से भी वञ्चित न रहोगे। यही तो कामत्याग-कर्म्मसंग्रहात्मक निष्कामकर्म्मयोग का सम्यक्कर्म्मयोग तथा वैशिष्ट्य है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण समस्या का विशेषरूप से ध्यान कर लीजिए। ज्ञान-कर्म्म-जनित भावना-वासना-संस्कार तारतम्य से शिथिल हट-बनते रहते हैं। कितने एक संस्कार उत्पन्न होते ही विलीन हो जाते हैं, कितने

महीनों, कितने वर्षों रहते हैं। कितने एक यावज्जीवन रहते हैं, कितने एक जन्मान्तरपर्य्यन्त अनुधावन करते हैं। अनुधावन क्या करते हैं ऐसे दृढ़मूल संस्कार ही तो जन्मान्तरप्राप्ति के कारण बनते हैं। भावना-वासना-त्मक संस्कारों का अत्यन्ताभाव ही जन्म-मृत्यु-चक्र का ही पर्य्यवसान है। ज्ञान-कर्म्म से उत्पन्न होने के कारण भावना-वासना संस्कार भी 'ज्ञान-कर्म्म' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। सांसारिक ज्ञान 'विद्या' कहलाया है सांसारिक कर्म्म 'अविद्या' कहलाया है, दोनों की मूलाधारभूता तीसरी कामना है। विद्या (भावना) अविद्या (वासना) काम तीनों की समष्टि ही 'शुक्र' (जन्मान्तरप्राप्ति का उपादानभूत रेत) नाम से व्यवहृत हुए हैं। जब तक कामबीज सुरक्षित है तब तक संस्कारात्मक शुक्र सुरक्षित है। जब तक शुक्र सुरक्षित है तब तक जन्म-मृत्यु-बन्ध दुर्निवार है। अतएव कामनाक्षय ही शुक्रातिवर्त्तन का कारण माना गया है। देखिए।

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्व निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीरा॥
—मुण्डक ३।२।१।

८७—संस्कारात्मक भाग्यवाद—

आत्मा में संचित संस्कार ही 'भाग्य' है, जो कर्म्मजनित होने से 'कर्म्म' ही कहलाया है। अतएव दुःखी मनुष्य के लिए कहा जाता है कि—'इसके कर्म्म ही ऐसे हैं'। यहाँ कर्म्मव्यवहार संस्कारों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन सांसारिक कर्म्मों की संचित, प्रारब्ध, क्षीण, ये तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। जिन संस्कारों का भोग आरम्भ नहीं होता वे 'संचितकर्म्म' हैं। भोगानुगत संस्कार 'प्रारब्ध' कर्म्म हैं। एवं भुक्त संस्कार 'क्षीणकर्म्म' हैं। इनमें निष्कामकर्म्म योगात्मक धर्म्मबुद्धियोग से संचित कर्म्मों की ही निवृत्ति सम्भव है। प्रारब्धकर्म्मों का क्षय तो भोग पर ही निर्भर है। यही कारण है कि, धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठ निष्कामकर्म्मयोगी भी प्रारब्धकर्म्मवश दुःखी देखे-सुने जाते हैं। प्रारब्धानुगत व्याधिक्लेशों से वे भी अपने आपको नहीं बचा सकते। हाँ भोगानुभव में अवश्य साधारण मानवापेक्षया उनमें विशेषता रहती है। योगप्रभाव से उनमें मात्रा-स्पर्शादि शारीरिक कष्टों की तितिक्षा (सहनशक्ति) उत्पन्न हो जाती है। प्रारब्धक्लेश उनकी स्वाभाविक आत्मशान्ति को कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। उधर सामान्य जीव योगाभाव से इन क्लेशों से घबरा-घबरा जाते हैं। इनमें तितिक्षा का सर्वथा अभाव रहता है।

८८—संस्कारबन्धनकारणजिज्ञासा—

संस्कार उत्पन्न हो अवश्य होंगे। परन्तु प्रश्न है—इनके बन्धन का। ज्ञान-कर्म्म से उत्पन्न भावना-वासनासंस्कार दृढ़मूल क्यों बन जाते हैं?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्नोपस्थिति का कारण यही है कि, इसमें आत्मस्थ मन को कामसंकल्पनरूप अभिनिवेश का जनक बतलाया है। मन के स्वरूप को देखते हुए यह बात असङ्गत प्रतीत होती है। मन स्नेहगुणक अवश्य है परन्तु इसमें स्थिरधर्म्म का अभाव है। सोम-इन्द्रवायु के कारण साथ ही विषयात्मक सुख के तृप्तिजनक न होने के कारण मन किसी भी ऐन्द्रियक विषय पर चिरकाल पर्य्यन्त दृढ़ नहीं रह सकता। यह क्षण क्षण नवीन नवीन विषयकामनाओं का अनुगामी बना रहता है। कभी इधर, कभी उधर, यही इसका चाञ्चल्य है। 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण!' रूप से गीता

ने भी मन के इस अस्थिरधर्म्म का समर्थन किया है । मन के इस स्वाभाविक चाञ्चल्य का इसलिए भी सुरक्षित रहना अनिवार्य्य है कि, जिस सौम्य चन्द्रमा से यह प्रभूत है वह चन्द्रमा भी गतिधर्म्मप्रधान ही है । जब मन की अस्थिरता शास्त्र, एवं अनुभव से उभयथा प्रमाणित है, तो इसे ग्रन्थिबन्धनरूप स्थिरधर्म्म का प्रवर्त्तक कैसे माना जा सकता है ? । मनका यह अस्थिरधर्म्म ही हमारे उक्त पूर्व प्रश्नोत्थान का कारण बन जाता है कि, चमनामय मन जब चञ्चल है, तो तदनुगत संस्कार दृढमूल कैसे बन जाते हैं ? ।

८९–बुद्धिस्वरूपपरिचय के द्वारा–जिज्ञासासमाधि–

प्रश्न का उत्तर मिलेगा आपको 'बुद्धि' से । बुद्धि चूंकि सावित्राग्नि से प्रयुक्ता होने के कारण जहाँ सत्त्व है वहाँ–'मध्ये एकल एव स्थाता'–'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः'–'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति' इत्यादि सिद्धान्तानुसार स्थितिलक्षण सूर्य्य से प्रयुक्त होने के कारण बुद्धि स्थिरधर्म्मप्रयोजिका भी बन रही है । चान्द्र सोमानुगत चञ्चलभाव और चाञ्चल्य, ये जहाँ प्रज्ञानमन के स्वरूपधर्म्म हैं, वहाँ सौर सावित्राग्न्यनुगत अचञ्चलभाव, और स्थिरता, ये विज्ञानबुद्धि के स्वरूपधर्म्म हैं । यदि मन को बुद्धि का सहयोग मिल जाता है, तो मन अपने चञ्चलभाव से, एवं बुद्धि की स्थिरता से संस्कारों को दृढमूल बनाने में समर्थ हो जाता है । बुद्धि का सहयोग कैसा ? परतन्त्रतामूलक । यदि बुद्धि स्वतन्त्र है, तब तो यह मन के प्रति आत्मसमर्पण नहीं करती, अपितु ठीक इसके विपरीत यह मन को अपना दास बना लेती है । परिणामस्वरूप बुद्धिवशवर्त्ती मन का चञ्चलभाव बुद्धि के अचञ्चलभाव से आक्रान्त हो जाता है । और उस स्थिति में बुद्धि का स्थिरधर्म्म मानस–संस्कारों में उपयुक्त न हो कर आत्मनिष्ठानुगामी बन जाता है । यदि बुद्धि मन के प्रति आत्मसमर्पण कर देती है, तो इसका स्वातन्त्र्य उच्छिन्न हो जाता है । मनोवशवर्त्तिनी ऐसी बुद्धि का अचञ्चल धर्म्म तो प्रबल बने हुए मन के चञ्चल धर्म्म से आक्रान्त हो जाता है, एवं बुद्धि का स्थिर धर्म्म मन के चञ्चलभाव से मिश्रित हो कर मनोऽनुगता इन्द्रियों के द्वारा आगत संस्कारों की दृढता में निमित्त बन कर उपयुक्त हो जाता है । बुद्धि मनोऽपेक्षया स्वतन्त्र रहती है–निष्कामभाव से । मन बुद्ध्यपेक्षया परतन्त्र रहता है–कामभाव से । निष्काम–भावात्मिका बुद्धि ईश्वरकामना से युक्त रहती हुई मानस कामना (लोकैषणा) को भी निष्कामभाव में परिणत कर डालती है । सकामभावात्मक मन लोककामना से युक्त रहता हुआ बुद्धिकामना (ईश्वरकामना) को भी सकामभाव में परिणत कर डालती है । निष्कामभावात्मिका बुद्धि से युक्त मन परतन्त्र है, अतएव बुद्धियुक्त मन शुभाशुभ उभय संस्कारबन्धन से विमुक्त है–'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत–दुष्कृते' । सकामभावात्मक मन से युक्ता बुद्धि परतन्त्र है । अतएव मनोयुक्ता यही बुद्धि अपने स्थिरधर्म्म का मन में आत्मसमर्पण करती हुई संस्कारों की दृढता की प्रवर्त्तिका बन जाती है । निष्कर्ष यही हुआ कि–बुद्धिगर्भित कर्ममय मन संस्कार–बन्धनात्मक अभिनिवेश का जनक है, एवं मनोगर्भिता निष्कामबुद्धि संस्कारबन्धनात्मक अभिनिवेश की निवर्त्तिका है ।

९०–अपक्षा–उपक्षा–बुद्धि का तात्त्विक स्वरूपपरिचय–

मनोगर्भिता बुद्धि दर्शनभाषा में 'उपेक्षाबुद्धि' कहलाई है । एवं मन के गर्भ में युक्ता बुद्धि–'अपेक्षा बुद्धि' कहलाई है । अपेक्षाबुद्धि मनोवशवर्त्तिनी बुद्धि है, यही बन्धनप्रवृत्ति का मूल है । उपेक्षाबुद्धि बुद्धिवश–वर्त्ती मन है यही बन्धननिवृत्ति का मूल है । अपेक्षा–उपेक्षा–शब्दों के अर्थों का भी स्पष्टीकरण इसलिए

आवश्यक है कि, जैसा अर्थ व्यवहार में इन शब्दों का समझा जा रहा है, वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। अपेक्षा का अर्थ किया जाता है 'लगन'–'सावधानता'। उपेक्षा का अर्थ किया जाता है–'टालमटोली'–असावधानता–(लापरवाही)। दत्तचित्त से काम करना अपेक्षा है, लापरवाह बन कर काम करना उपेक्षा है। 'उपेक्षाबुद्धि से युक्त कर्मों से बन्धन संस्कार दृढ़ नहीं बनते' इस सिद्धान्त की रक्षा भी सम्भव नहीं। क्योंकि यदि कर्म्म में उपेक्षा (असावधानता–लापरवाही) है तो कर्म्मस्वरूप ही सम्पन्न नहीं होता। कर्म का स्वरूप तभी सुसम्पन्न हो सकता है जबकि अपेक्षाबुद्धिपूर्वक मनोयोग से उसमें प्रवृत्ति होती है। सकाम कर्म्म हो, अथवा निष्काम कर्म्म। कर्म्म अपनी स्वरूपसिद्धि के लिए प्रत्येक दशा में अपेक्षाबुद्धि के सहयोग की ही अनिवार्य्य अपेक्षा रखता है। तभी तो कर्म्मनिष्पत्ता का उदय होता है। 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि श्लोकार्थ का विवेचन करते समय भी पूर्व में हमने यही कहा है कि पूर्ण सावधानता के साथ कर्त्तव्य–कर्म्म में अनन्यभाव से प्रवृत्त हो जाना ही हमारा आधिकारिक धर्म्म है। क्या उपेक्षा में अनन्यभाव का उदय हो सकता है ? । नहीं, सर्वथा नहीं। भाष्य के व्याख्याता यहीं पर स्पष्ट कर दिया गया है कि, कर्म्मानुष्ठानकाल में यदि हम भावी फल की भी चर्चा करने लग जाते हैं तो कर्म्म अधूरा रह जाता है। फिर उपेक्षा रखने से तो कर्म्म की पूर्णता कैसे सम्भव हो सकती है। साथ ही यह भी निश्चित है कि अपेक्षापूर्वक किया हुआ कर्म्म संस्कार–बन्धन का प्रवर्त्तक बन जाता है। फिर हमने किस आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित कर डाला कि "उपेक्षा–बुद्धियुक्त कर्म्म बन्धन का प्रवर्त्तक नहीं बनता अतः हमें उपेक्षाबुद्धिपूर्वक ही कर्म्म' में प्रवृत्त होना चाहिए"।

६१–ईश्वर, एवं जीवानुगत अपेक्षा–उपेक्षा–भावों का तारतम्य—

उक्त विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए ही उपेक्षा–अपेक्षा शब्दों के तत्त्व का परिज्ञान अपेक्षित हो जाता है। कर्म्मफलानुगता बुद्धि ईश्वरधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि है, जीवात्मानुगता बुद्धि जीवधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि है। जीवधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि काम्य–कर्म्मयोग का स्वरूप बनाती है, एवं ईश्वरधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि निष्कामकर्म्म भाव को स्वरूप प्रदान करती है। काम्य कर्म्म योगानुष्ठान में ईश्वरधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि उपेक्षाभाव में परिणत रहती है एवं जीवधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि अपेक्षाभाव में परिणत रहती है। निष्कामकर्म्म योगानुष्ठान में जीव–धर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि उपेक्षाभाव में परिणत रहती है एवं ईश्वरधर्म्मात्मिका अपेक्षाबुद्धि अपेक्षाभाव में परिणत रहती है। दोनों कर्म्मों में एक अपेक्षाभावप्रधाना रहती है, एक उपेक्षाभावप्रधाना रहती है। ईश्वरानुगता अपेक्षा जीवानुगता अपेक्षा को उपेक्षारूप में परिणत कर डालती है, वही उपेक्षाबुद्धियुक्त निष्कामकर्म्मयोग है। ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इसलिए तो कर्म्मस्वरूप सम्पन्न हो जाता है। जीवानुगता बुद्धि की उपेक्षा है इसलिए कर्म्मजनित संस्कारों का ग्रन्थिबन्धन नहीं होने पाता। जीवानुगता अपेक्षा ईश्वरानुगता अपेक्षा को उपेक्षारूप में परिणत कर डालती है। यही अपेक्षाबुद्धियुक्त काम्य कर्म्म योग है। जीवानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इसलिए तो कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न हो जाता है, ईश्वरानुगता बुद्धि की उपेक्षा है इसलिए ग्रन्थिबन्धन हो जाता है। निष्कर्ष यही निकला कि ईश्वरानुगता बुद्धियुक्ता जीवानुगता अपेक्षाबुद्धि की उपेक्षा जहाँ निष्काम–कर्म्म का मूल है, वहाँ जीवानुगता अपेक्षाबुद्धियुक्ता ईश्वरानुगता अपेक्षाबुद्धि की उपेक्षा काम्यकर्म्म का मूल है। निष्कामकर्म्म में जीवानुगता बुद्धि की उपेक्षा है, किन्तु ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। कर्म्मप्रवर्त्तक चूँकि जीवात्मा है, अतएव इस निष्कामकर्म्मयोग 'उपेक्षाबुद्धियुक्त' नाम से व्यवहृत कर लिया जाता है, जो सर्वथा बन्धननिवर्त्तक माना गया है। काम्यकर्म्म' में ईश्वरानुगता बुद्धि की उपेक्षा है, किन्तु जीवानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। इसलिए काम्य–कर्म्म योग 'अपेक्षाबुद्धियुक्त' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है, जो

एकान्ततः बन्धनप्रवर्त्तक है। दोनों स्थलों में एक की उपेक्षा है तो अन्य की अपेक्षा है। ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि से सहकृत जीवात्मा का कर्म जीवबुद्धिदृष्टि से उपेक्षासहकृत–बन्धनकर्म है यही उपेक्षाबुद्धिसहकृत (जीवापेक्षा सहकृत) निष्कामकर्मयोग है, जिसका उत्तरदायित्व ईश्वर पर अवलम्बित है। इस कर्म का प्रवर्त्तक ईश्वर है जीव निमित्तमात्र है। ईश्वरोपेक्षाबुद्धिसहकृत जीवात्मा का कर्म जीवबुद्धि-दृष्टि से अपेक्षासहकृत सम्बन्धन कर्म है, यही अपेक्षाबुद्धिसहकृत (जीवापेक्षासहकृत) काम्य-कर्मयोग है जिसका उत्तरदायित्व जीव पर अवलम्बित है। इस कर्म का प्रवर्त्तक जीव है, ईश्वर निमित्तमात्र है।

६२–लौकिक उदाहरणों के माध्यम से अपेक्षा–उपेक्षा–भावों का समन्वय—

उपेक्षा–अपेक्षा के एक शास्त्रीय विश्लेषणमात्र से तब तक विषय स्पष्ट नहीं होता जब तक कि उदाहरणपूर्वक इसका स्पष्टीकरण नहीं कर दिया जाता। आध्यात्मिक कर्म्म के ईश्वर और जीव, ये दो तत्त्वाधी मान लीजिए। ईश्वर जिन कर्म्मों का प्रेरक बनता है वे कर्म्म यथार्थकर्म्म कहलाए हैं इन्हें ही हम स्वाभाविक–स्वधर्म्मात्मक प्राकृतिक–सहजकर्म्म कहा करते हैं। नियत समय पर हम प्रकृति की प्रेरणा से भोजन–कर्म्म में प्रवृत्त हुए। प्रकृत्यनुसार भोजन किया। यह कर्म्म ईश्वरीय प्रेरणा से सम्बद्ध माना जायगा। इससे जो संस्कार होगा उसका कर्म्मात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन न होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए ईश्वरद्वारा नियत दैनिक–नियत आहार द्रव्यों का हमें दूसरे दिन न तो स्मरण होता न उनके लिए हम व्यग्र बनते। जीव जिन कर्म्मों का प्रेरक बनता है वे कर्म्म अयथार्थ कहलाए हैं इन्हें ही हम कृत्रिम–अप्राकृतिक–कर्म्म कहा करते हैं। इनमें जीवकामना का प्राधान्य रहता है। हमने (जीवात्मा ने) अपनी मानस कामना की प्रेरणा से किसी भी दिन किसी विशेष भोज्यद्रव्य का अनुगमन किया। कामना हुई आज तो कलाकन्द खाया जाय। कामनानुसार कलाकन्द खाया। यह आहार ईश्वर–कामना के विपरीत किन्तु जीवकामना के अनुकूल हुआ। अतएव इसके खाने से उत्पन्न संस्कार के साथ कर्म्मात्मा का ग्रन्थिबन्धन हो गया। प्रमाण यही है कि दैनिक–नियत–आहार–द्रव्यों में जीवेच्छा की प्रेरणा से समाविष्ट विशेष–आहारद्रव्यों से सम्बन्ध रखने वाला संस्कारबन्धन स्मृतिद्वारा बार बार जीवात्मा को तद्विषयकतृष्णा की ओर ले जाया करता है। नियत आहार के लिए मन कभी लालायित नहीं होता। किन्तु अनियत आहार के लिए मन चला करता है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। आप अपने मकान में दिन में कभी बार आते जाते हैं। इसीलिए अनेक बार आपको सीढ़ियों पार करनी होती हैं। सीढ़ियों पर चढ़ते हैं उतरते हैं। यह स्वाभाविक गमनागमन ईश्वरकामना से सम्बन्ध रखता है अतएव इससे गमनागमन–जनित संस्कार का ग्रन्थिबन्धन नहीं होता। सैकड़ों बार गमनागमन करते हुए भी आप यह नहीं बतला सकते कि आपके मकान में कितनी सीढ़ियाँ हैं ?। क्यों ? क्या देखकर नहीं चलते ?, क्या चढ़ने–उतरने में उपेक्षा है ?। यदि ऐसा होता तो आप गिर पड़ते। परन्तु ऐसा होता ही नहीं ?। फिर संख्या का स्मरण क्यों नहीं ?। कारण यही है कि यह गमनागमन स्वाभाविक है ईश्वरेच्छानुगत है। अतएव संस्कारबन्धन नहीं होने पाता।

तीसरा उदाहरण लीजिए। आप घर से निकल कर उद्यान पहुँचते हैं। मार्ग में सैकड़ों स्त्री–पुरुष पशु पक्षियों विविध वस्तुओं पर आपकी दृष्टि का अवलोकन करते जाते हैं। उद्यान में पहुँच कर बड़ी निश्चिन्त

लता–गुल्म–वृक्ष–पुष्प–फलादि पर भी आप की दृष्टि जाती ही है। क्या घर लौटने के पीछे आप को उन सब दृश्यों का स्मरण रहता है?। नहीं इसलिए कि आपका यह दृष्टिकर्म ईश्वरानुगत बनता हुआ स्वाभाविक है। अतएव दृश्यदर्शन से उत्पन्न संस्कारों का ग्रन्थिबन्धन नहीं हो पाता। यदि आप मानसकामना को अग्रणी बना देते हैं तो अवश्य ही तद्विशिष्ट संस्कार ग्रन्थिप्रवर्तक बन जाते हैं। मान लीजिए–किसी पुरुषविशेष पशु–पक्षिविशेष किंवा पुष्प–फलविशेष के प्रति आपकी कामना आकर्षित हो जाती है, तो अवश्य ही तज्जनित संस्कार ग्रन्थिप्रवर्तक बन जाता है। और उसकी स्मृति उसकी पुनःप्राप्ति–दर्शन–के लिए आपको व्यग्र बनाए रहती है। अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि, स्वाभाविक कर्म जनित संस्कार ईश्वरानुगत बनते हुए जहाँ अबन्धन हैं वहाँ कृत्रिम कर्मजनित संस्कार जीवानुगत बनते हुए बन्धन हैं। इस तत्त्व को समझ लेना ही तो गीता के निष्काम–कर्मयोग का तत्त्व समझ लेना है। जीवनयात्रानिर्वाहक आप यथावसर लौकिक कर्मों का अनुगमन करते हैं। सब कुछ सुनें–देखें–बोलें खावें, परन्तु अपनी इच्छा को ईश्वर में अर्पित करदें। कभी कर्म जनित संस्कार ग्रन्थिबन्धन के प्रवर्तक न बनेंगे एवं आप ऐसा करते हुए 'न करोति न लिप्यते' को चरितार्थ बना देंगे। कामनासिद्धि से क्षोभात्मक सुख होता है, कामनिष्फलता में क्षोभात्मक दुःख होता है। सुख अनुकूलवेदना है, दुःख प्रतिकूलवेदना है। दोनों में ही अशान्ति है। यदि कामना नहीं है तो प्राप्ति में भी क्षोभ नहीं होता अप्राप्ति में भी क्षोभ नहीं होता। उभय स्थितियों में वह स्थिरप्रज्ञ आपूर्यमाण शान्त समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ–निरवग्रह–बना रहता है। अतएव सर्वकाम–परित्याग ही श्रेयस्कर है जिसका यों समर्थन हुआ है —

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ॥
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥१॥
यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान्, यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ॥
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥२॥
श्रुत्वा–स्पृष्ट्वा–च दृष्ट्वा च–भुक्त्वा–घ्रात्वा च यो नरः ॥
न हृष्यति, ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥३॥

—मनु० २।९४।९५।९८।

६३–भावना–वासना–संस्कारात्मक कर्मारम्भ, एवं बन्धनविमोचक आसक्त्यानुगत—धर्मबुद्धियोग—

भावना–वासना–संस्कार ग्रन्थिमूल क्यों बन जाते हैं?, इस प्रश्न का मार्मिक विश्लेषण किया गया। और यह स्पष्ट किया गया कि, अपेक्षाबुद्धि के संस्कार ग्रन्थिमूल बनते हैं एवं उपेक्षाबुद्धि से संस्कारबन्धन नहीं होता। अब दो शब्दों में अपेक्षाबुद्धिव्याहृत संस्कारों के तारतम्य का भी समन्वय कर लीजिए। अपेक्षा–बुद्धि के तारतम्य से ही संस्कारबन्धन में तारतम्य व्यवस्थित रहता है। सामान्य अपेक्षा से बन्धन सामान्य रहता है विशेष अपेक्षा से विशेष। सामान्य–विशेष अपेक्षाओं से उत्पन्न सामान्य–विशेष संस्कार अपेक्षा के पौर्वापर्यक्रम से स्थानपरत्वेन पर तिरोहित रहते हैं। विशेष अपेक्षाजनित संस्कार पौर्वापर्य का कभी कभी अतिक्रमण भी कर जाते हैं, जैसाकि उदाहरण से स्पष्ट है। आपसे एक व्यक्ति किसी विषय के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। विषय (संस्कार) सामान्य अपेक्षाजनित है अतएव वह विशेष अपेक्षाजनित विशेष संस्कार के

नीचे दबा हुआ है। अतएव प्रश्न के साथ ही उसका उद्‌गम नहीं होने पाता। आप उत्तर देते हैं—'ठहरिए! थोड़ा सोचलूँ'। इस उत्तर के साथ ही आप उसी प्रकार सोचने लगते हैं, जैसे एक व्यक्ति अन्धेरे में रक्खी हुई वस्तु को टटोलने लगता है। बुद्धि का व्यापार आरम्भ होता है। कालान्तर में आप उस दबे हुए संस्कार को ढूँढ निकालते हैं और प्रश्नकर्त्ता का समाधान कर देते हैं। ढूँढने वाली बुद्धि है, ढूँढा जाने वाला तत्त्व संस्कार पुञ्ज है, एवं संस्कारपुञ्जाधार प्रज्ञानधरातल है। क्योंकि प्रज्ञानधरातल पर उच्चावचरूप से अनन्त संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव सामान्य शक्तिशाली विज्ञानात्मा तत्काल उसे नहीं पा सकता। अपितु उसे प्रयास करना पड़ता है और प्रयास की सफलता पर उसके मुख से उसी प्रकार 'लीजिए, सुनिए, याद आगया' ये शब्द निकल पड़ते हैं जैसे कि अन्धेरे में खोजने वाले के मुख से वस्तु मिलने पर 'मिल गई—मिल गई' यह वाक्य निकल पड़ता है। हम ढूँढते हैं, ढूँढने से वस्तु मिल जाती है। अतएव मानना पड़ता है कि, प्रज्ञान से सम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा पर अवश्य ही संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनका मूलजनक अपेक्षाभाव ही बना रहता है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि बहुप्रयास करने पर भी स्मरण नहीं होता। इसके दो कारण हैं। यदि अपेक्षाबुद्धि सामान्य है, निर्बल है तो तदुत्पन्न संस्कार थोड़े समय पीछे ही विलीन (नष्ट) हो जाते हैं। इन नष्ट संस्कारों की स्मृति असम्भव है क्योंकि स्मृति संस्कारमूला है। दूसरा कारण नु याद आने का है—संस्कार का पौर्वापर्य्य। पूर्वकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न संस्कार उत्तरकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के नीचे दब जाते हैं। अतएव सामान्यबुद्धि उन पूर्व संस्कारों के अन्वेषण में असमर्थ हो जाती है। इस संस्कारतत्त्व-मीमांसा से निष्कर्ष हमें यही निकालना है कि, ज्ञान—कर्म्ममय कर्म्मात्मा के ज्ञानांश से संयुक्त काममय मन के प्रज्ञांश से ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपेक्षाबुद्धिव्यापार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे—'भावना' नाम से व्यवहृत हुए हैं। एवं कर्म्मांश से संयुक्त काममय मन के प्राणांश से कर्म्मेन्द्रियों के द्वारा अपेक्षाबुद्धि-व्यापार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं वे—'वासना' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। कर्म्मात्मा में ये दो प्रकार के संस्कार ही प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में इस संस्कारराशि का नाम ही 'कर्म्मात्मा' है। संस्कारी कर्म्मात्मा ही जन्म—मृत्यु की शृङ्खला में आबद्ध रहता है जिससे उन्मुक्त करने के लिए गीताशास्त्र का निष्कामकर्म्मयोग प्रवृत्त हुआ है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है—अव्यक्त अर्थ्यात्मात्मिका 'आपविद्या', एवं जिसके आधार पर प्रतिष्ठित है—'धर्म्मबुद्धियोग'।

६४—स्वधर्म्म-परधर्म्मानुगत आत्म-अनात्म-भाव—

दूसरी दृष्टि से संस्कारों के महत्त्व का समन्वय कीजिए। धर्म्म, ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य्य, ये चारों विद्या-बुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं। ऐसी विद्याबुद्धि अव्यक्तात्मा के विद्याभाग से युक्त रहती हुई आत्मबुद्धि है। ऐसी आत्मबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा (जीवात्मा) वस्तुगत्या 'आत्मा' है। अधर्म्म (अभिनिवेश) अज्ञान (अविद्या) रागद्वेष (आसक्ति), अनैश्वर्य्य (अस्मिता) ये चारों विपर्य्यय अविद्याबुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं। ऐसी अविद्याबुद्धि अव्यक्तात्मा के अविद्याभाग से युक्त रहती हुई अनात्मबुद्धि है। ऐसी अनात्मबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्परिष्वक्त कर्म्मात्मा वस्तुगत्या अनात्मा है, आत्मस्वरूप से वञ्चित है। इसी पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म्मादि चारों विद्याबुद्धिधर्म्म कर्म्मात्मा के स्वस्वधर्म्म हैं, एवं अधर्म्मादि चारों अविद्याबुद्धिधर्म्म कर्म्मात्मा के अधर्म्म हैं। जब तक स्वस्वधर्म्म सुरक्षित है तभी तक धर्म्मी कर्म्मात्मा स्वस्वरूप से सुरक्षित है। जिस दिन यह स्वस्वधर्म्म आहत हो जाता है, उस दिन आत्मा का स्वरूप भी तिरोहित हो जाता है।

९५–अन्तरङ्गप्रकृतिविशिष्ट निर्गुण अव्ययपुरुष—

'प्रकृति' शक्ति ही शक्ति-धर्म्म है, जैसाकि 'अव्ययस्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है। आत्मा पुरुष है। पुरुष प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। जिस दिन प्रकृति न रहेगी, उस दिन पुरुष भी न रहेगा। इसी आधार पर—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रकृतितत्त्व अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। अक्षर एवं आत्मक्षर की समष्टि अन्तरङ्गप्रकृति है, इसका पुरुषस्वरूप में अन्तर्भाव है। अतएव अव्ययपुरुषवत् अक्षर-आत्मक्षर–नामक अन्तरङ्गप्रकृति का भी भगवान ने—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' इत्यादि रूप से 'पुरुष' नाम से व्यवहार कर दिया है। अन्तरङ्गप्रकृति ही अव्ययपुरुष का स्वभाव है, इसी के आधार पर पुरुष सगुण बनता है। अव्ययात्मा का विशेषत्व इसी अन्तरङ्गप्रकृति पर अवलम्बित है। अतएव इसे हम अव्ययेश्वर का 'स्वधर्म' कह सकते हैं। अन्तरङ्गप्रकृति का आलम्बनस्थान यद्यपि त्रिगुणात्मक है और इस दृष्टि से त्रैगुण्य भी यद्यपि इसका धर्म बन रहा है, तथापि अव्ययात्मा के विद्या-कर्म्म-पर्वों की समता के कारण इसकी आसक्ति का प्रभाव उस पर नहीं हो पाता। अतएव वह गुणमय विश्व में व्याप्त रहता हुआ भी 'निर्गुण' ही कहलाता है जैसाकि निम्न लिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

> अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
> शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥
>
> गीता १३।३१।

९६–अमृत-मृत्यु-भावात्मक ज्ञानकर्म्मात्मक अव्ययपुरुष—

'आत्मप्रकृति' लक्षणा अन्तरङ्ग-प्रकृति क्योंकि कभी नहीं बदलती, अतएव इसे 'नित्यप्रकृति' कहा जा सकता है। विज्ञान और मूल भाग में यह समानरूप से प्रतिष्ठित रहती है। जिस समानता का तात्पर्य यही है कि ज्ञान-कर्म-जनित भावना-वासना-संस्कारों से न इसका ह्रास होता, न वृद्धि होती। अपितु–'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्' के अनुसार यह सदा समभाव्यस्थ समानरूपा ही बनी रहती है। जिस दिन स्वधर्म्मलक्षणा यह अन्तरङ्गप्रकृति उद्बुद्ध हो जाती है, उस दिन अव्ययपुरुष मायाबन्धन से विमुक्त हो अव्यक्त परात्पर-परमेश्वर में विलीन हो जाता है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य-सम्बन्धी आत्मा के स्वधर्म्म हैं, इससे इस भ्रान्ति में नहीं पड़ जाना चाहिए कि–अविद्यात्मक कर्म्म आत्मा का स्वधर्म्म नहीं है। यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है कि आनन्द-विज्ञान-मनोमय विद्याभाग, एवं मनः-प्राण-वाङ्मय अविद्याभाग (कर्म्मभाग) दोनों आत्मस्वरूप में अन्तर्भूत हैं। जैसे विद्या (ज्ञान) आत्मा का आत्मधर्म्मलक्षण स्वधर्म्म है, तथैव अविद्या (कर्म्म) भी आत्मा का स्वरूपधर्म्म ही माना गया है। ज्ञान-कर्म्म दोनों के समन्वितरूप का ही नाम अव्ययात्मा है। इसका यह ज्ञानभाग ब्रह्मलक्षण अमृत है, यह कर्म्मभाग कर्म्मलक्षण मृत्यु है। इसप्रकार–'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !' के अनुसार अमृत-विद्याभागवत् मर्त्य अविद्याभाग (कर्म्म) भी आत्मस्वरूपप्रतिष्ठा बनता हुआ स्वधर्म्मकोटि में ही निविष्ट है।

विद्या (ज्ञान) एवं अविद्या (कर्म्म) भी आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। अतएव प्रयास करने पर भी कर्म्म का परित्याग नहीं किया जा सकता। अतएव जो वेदान्ती (कर्म्मत्यागानुयायी ज्ञानयोगी, विशुद्ध सांख्यनिष्ठ) ज्ञानयोग को कर्म्मत्यागात्मक मानते आ रहे हैं, यह उनकी ऐकान्तिक भ्रान्ति ही है। कर्म्म तो विद्यावत् आत्मा का स्वरूप है स्वधर्म्म है। जिस दिन यह निःशेष हो जायगा, उस दिन तो आत्मस्वरूप ही विलीन हो जायगा। अतएव सर्वकर्म्मत्यागलक्षणा, अतएव असम्भव इस कल्पित सांख्यनिष्ठा मक संन्यासयोग (ज्ञानयोग) का आमूलचूड़ खण्डन करते हुए भगवान् ने कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

—गीता ३।५।

६७—कामत्यागात्मिका कर्म्मसंग्रहात्मिका सन्यासनिष्ठा, और अव्ययपुरुष—

जब कर्म्म का परित्याग नहीं, तो त्यागात्मक संन्यास की क्या परिभाषा ?, 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' का क्या तात्पर्य्य ? प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

—गीता १८।२।

विद्यात्मक स्वरूपधर्म्म, एवं अविद्यात्मक (कर्म्मात्मक) स्वरूपधर्म्म स्वयं स्वस्वरूप से आत्मधर्म्म बनते हुए अबन्धन हैं। दोनों का समत्व ही दोनों के स्वधर्म्मत्व का स्वरूपसंरक्षक है। दोनों में से जो भी विषम बन जाता है वही अधर्म्मरूप में परिणत होता हुआ बन्धन बन जाता है। केवल विद्या भी प्रतिबन्धिका है, केवल अविद्या भी प्रतिबन्धिका है। दोनों की विषमता का मूलकारण है—कामनामयी रति, फलासक्तिरूप अभिनिवेश, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। 'विद्यायां रताः' * से स्वयं उपनिषत् ने भी रति को ही विद्या का भी बन्धनप्रवर्त्तक स्वीकार किया है। कामना से दोनों का समत्व उच्छिन्न हो जाता है। यह कामनामयी विषमता ही बन्धन का मूल है। इसी तत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी, स योगी च, न निरग्निर्नचाक्रियः ॥

—गीता ६।१।

---

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

—ईशोपनिषत्

है। पाँचों के २१ क्रम से दो विभाग हैं। मनोऽनुगत स्वायम्भुव अव्यक्त, तद्गर्भित विष्णुनुगत पारमेष्ठ्य अव्यक्त महान् दोनों की समष्टि एक विभाग है, इसे ही हम विशुद्ध सत्वात्मक 'महान्' कहते हैं।

१०१—परिरप्रकृति, और आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–त्रयी—

इन्द्रानुगत सौर वाक्तत्व, सोमानुगत चान्द्र आपस्तत्व, अग्न्यनुगत पार्थिव आकाशतत्व इन तीनों उत्तर प्रकृतियों की समष्टि का एक विभाग है। महान् के साथ इन तीनों का सम्बन्ध होता है। इसी से विशुद्ध सत्वात्मक अव्यक्तगर्भित महान् षड्गुणक बन जाता है। सौरतत्व के समावेश से महान् में 'अहङ्कृति' का, चान्द्रतत्वसमावेश से महान् में 'प्रकृति' का, एवं पार्थिवतत्वसमावेश से महान् में 'आकृति' का समावेश होजाता है। आकृतिमात्राप्रवर्तिका पृथिवी, तथा प्रकृतिमात्राप्रवर्तक चन्द्रमा, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाले अहङ्कृतिमात्राप्रवर्तक सूर्य्य के परमेष्ठ्यनुगत सत्-पूर्णमासकर्म्म से अव्यक्तगर्भित महान् में सत्व–रज–तम, इन तीन गुणों का प्रादुर्भाव होजाता है। सूर्य्य का परमेष्ठी महान् के चारों ओर परिक्रमा लगाना ही दर्शपूर्णमास है। सौर अहङ्कृतिमात्रानुगत सौर प्रकाश से युक्त वही महान् 'सात्विकी प्रकृति' है। 'चित्रं देवानामुदगात्' के अनुसार सौर तत्व देवात्मक देवता है। सत्वानुगत महान् का इसी देवतत्व से सम्बन्ध है। अतएव सात्विकी प्रकृति को अवश्य ही 'दैवीसम्पत्' कहा जासकता है। सूर्य्यगर्भित चन्द्रमा के प्रकृतिमात्र से वही महान् 'राजसी' प्रकृति है। 'चन्द्रमसा प्रेता मानव आभूतम्' इत्यादि श्रौतसिद्ध–सिद्धान्तानुसार चान्द्रसोमतत्व मानवकर्म का उपादान है। रजोऽनुगत महान् का इसी मानवकर्म से सम्बन्ध है। अतएव राजसीप्रकृति को अवश्य ही 'मानवीसम्पत्' कह सकते हैं। सूर्य्यगर्भिता पृथिवी के आकृतिमात्र से वही महान् 'तामसी' प्रकृति है। 'एतेन (शरीरेण) अमुं लोकं तेऽप्यन्तो मन्यमने (श्रुति उप) के अनुसार पार्थिव–सूर्य्यबिम्ब अन्तर्धान–आकृतिमात्राप्रवर्तक अग्नि नामक अग्नि ही आसुरीसृष्टि का जनक माना गया है। अतएव तद् समष्टि तामसीप्रकृति को अवश्य ही 'आसुरीसम्पत्' कहा जासकता है। सौर अहङ्कृतिमात्रानुगत ज्योतिर्मय वह महान् 'सत्व' है। सूर्य्यगर्भित पार्थिव आकृतिमात्रानुगत सूर्य्यबिम्बरश्मिनुगत तमोमय वह महान् 'तम' है। एवं सूर्य्यगर्भित चान्द्र प्रकृतिमात्रानुगत सामान्य (अतएव सत्व तमोमय–ज्योतिस्तमोमय) भाग 'रज' है।

१०२—शाक्–श्रम–प्रमाद–मयी षड्गुणात्मिका परिरप्रकृति—

यों देखिए कि–चन्द्रमा का जो भाग सूर्य्यानुगत रहता हुआ प्रकाशित रहता है, वह सत्वात्मक चन्द्रमा है। सूर्य्यबिम्बरश्मिनुगत अप्रकाशित अर्द्ध चन्द्रमा तमोमय है। एवं सन्धिभाग रजोमय है। ठीक इसी प्रकार सूर्य्यसम्बन्ध–तारतम्य से महान् में भी सूर्य्यानुगत अर्द्ध महान, सूर्य्यबिम्बरश्मिनुगत अर्द्ध महान्, एवं सन्धि महान् भेद से सत्व (प्रकाश), तम (अन्धकार) रज (सन्धिभाव), ये तीन अवस्थाभेद होजाते हैं। सत्व और अहङ्कृति का एक गुण है वह सात्विकी दैवसृष्टि का मूलाधार है। रज और प्रकृति, दोनों का एक गुण है वह राजसी मानवसृष्टि का मूलाधार है। तम और आकृति, दोनों का एक गुण है एवं वह आसुरी सृष्टि का मूलाधार है–'तस्मात्–असुरस्य अमाय मायां च महती (महाभारत)'–(शत २।४।२१)। [illegible]

[illegible]

समदर्शन से युक्त विश्वदृष्टिमूलक विषमवर्त्तन ही गीता का निष्कामकर्म्मयोग है। विषमता का प्रवेश होता ही तब है, जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम विशुद्ध विश्वदृष्टि के आधार पर विश्वधर्म्म प्रतिष्ठित कर देते हैं। समदर्शन में विश्वगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए जहाँ समता के प्रवर्त्तक बनते हैं वहाँ विषमदर्शन में वे ही विश्वगुण आत्मगुण (आत्मधर्म्म) के आवरक बनते हुए विषमता के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। गुणपरित्याग विषमत्वनिवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणप्रधान शरीर से युक्त रहने वाली अध्यात्मसंस्था के लिए गुणपरित्याग एकान्ततः असम्भव है। इसे तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणानुगत स्वधर्म्म का पालन करते हुए ही निर्गुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इसका एकमात्र उपाय है—गुणात्मक कर्म्मों को निष्कामभाव से युक्त कर देना। ऐसा कर लेने से गुणमय विश्वधर्म्मों के यथावत् पालन से लोकसंग्रहलक्षण व्यवहार की भी रक्षा हो जायगी एवं गुणातीत आत्मधर्म्म भी सुरक्षित बना रह जायगा। यही तो निष्कामकर्म्म का अभूतपूर्व-अश्रुतपूर्व कौशल है, जो 'कर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१००—बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तगर्भित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति के गुणभावों की भी मीमांसा कर लीजिए। सात्त्विकी, राजसी तामसी, भेद से अव्यक्तप्रकृति तीन विवर्त्त भावों में परिणित रहती है। सात्त्विकी प्रकृति 'दैवीसम्पत्' है तामसी प्रकृति 'आसुरीसम्पत्' है एवं राजसी प्रकृति 'मानवीसम्पत्' है। योगमायात्मिका इस एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमनें मौलिक विभागेन 'अव्यक्त' कहा है और साथ ही इस अव्यक्त को चतुर्दशधा ऋषि-भरणात्मक बतलाया है। यह अव्यक्त मायातत्त्व ही अपने प्राणात्मक अव्यक्तरूप का सुरक्षित (अक्षुण्ण) रखता हुआ यजु के गर्भ वाक् भाग को स्वव्यापार (तप) से व्यक्त-परमेष्ठी के रूप में परिणत कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से स्वयं भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। इस गर्भीभाव से प्राणप्रधान अव्यक्त स्वयम्भू, एवं वाक् से उत्पन्न आपोमय व्यक्त पारमेष्ठी, दोनों के समन्वित रूप को ही त्रिगुणात्मिका 'बहिरङ्गप्रकृति' मान लिया जाता है। आपोमय परमेष्ठी 'महान्' है, प्राणमय स्वयम्भू अव्यक्त है। अव्यक्त अव्यक्त है महान् व्यक्त है। सांख्यशास्त्र की गुणात्मिका व्यक्तप्रकृति महान् है अव्यक्तप्रकृति स्वयम्भू अव्यक्त है। 'व्यक्ताव्यक्तात् सनातनः' के अनुसार अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर की समष्टिरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ 'सनातन' तत्त्व है। अव्यक्त स्वयम्भू, और व्यक्त महान्, दोनों की समष्टि को आप इसलिए 'महान्' कह सकते हैं कि सनातन पुरुषविशिष्ट अव्यक्त स्वयम्भू छत्रन्याय से महद्गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिस्विक स्वरूप से अभी केवल विशुद्ध तत्त्वमूर्त्ति है। त्रिगुणभावोत्पत्ति इसी महान् से आगे 'वाक्-अन्न अन्नाद' इन तीन भावों से उत्पन्न होती है। भूपिण्ड गायत्राग्निप्रधान बनता हुआ अन्नादप्रकृतिक है अग्नि ही अन्नाद है। चन्द्रमा सोमप्रधान बनता हुआ अन्नप्रकृतिक है सोम ही 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं—यच्चन्द्रमाः' के अनुसार अन्न है। सूर्य्य सावित्राग्निगर्भित इन्द्रप्रधान बनता हुआ वाक्प्रकृतिक है 'वागिन्द्र' के अनुसार सावित्राग्निगर्भित इन्द्र ही वाक् है। इसप्रकार वागिन्द्रात्मक सूर्य्य, अन्नसोमात्मक चन्द्रमा, एवं अन्नादाग्न्यात्मक भूपिण्ड तीनों उत्तर पर्वों में क्रमशः वाक्—अन्न—अन्नाद ये तीन प्रकृतिभाव प्रतिष्ठित हैं। पारमेष्ठ्य 'आपः' प्रकृतिभाव स्वायम्भुव 'माया' प्रकृतिभाव दोनों के मिलाने से स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य्य चन्द्रमा पृथिवी, पाँच विश्वपर्वों के क्रमशः माया-आपः-वाक्-अन्न अन्नादः ये पाँच प्रकृतिभाव होजाते हैं। पाँचों की समष्टि ही बहिरङ्गप्रकृति

९८–विद्या-अविद्या-प्रकृतिविशिष्ट अव्ययपुरुष—

आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यात्मा (आत्मा का विद्याभाग) अक्षर के सहयोग से पुष्पित–पल्लवित होता है, एवं मनःप्राणवाङ्मय अविद्याभाग (आत्मा का कर्म्मभाग) आत्मक्षर के सहयोग से विकसित होता है। अतएव विद्यात्मानुगता अक्षरप्रकृति को हम 'विद्याप्रकृति' कह सकते हैं, एवं अविद्यानुगता आत्मक्षरप्रकृति को 'अविद्याप्रकृति' कहा जा सकता है जैसा कि–'क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं (अक्षरं) तु विद्या' (श्वे०) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से भी प्रमाणित है। विद्याप्रकृति (अक्षर) अविद्याप्रकृति (आत्मक्षर), दोनों का समत्व ही आत्मविद्या (आत्मज्ञान) आत्माऽविद्या (आत्मकर्म्म) ही आत्मसमता की प्रतिष्ठा है। विद्या–अविद्यात्मिका अक्षर–क्षर–प्रकृति का यह समत्व ही विद्या–अविद्यात्मक आत्मा की अन्तरङ्गप्रकृति है, स्वभाव है स्वधर्म्म है। अन्तरङ्गप्रकृति की स्वाभाविक समता क्यों विषमता में परिणत हो जाती है ?, इस प्रश्न का उत्तर है–'बहिरङ्गप्रकृति'।

९९–गुणात्मिकाबहिरङ्गमायापरा 'वेदप्रकृति', एवं तन्मूलक कर्म्मबुद्धियोग—

आत्मक्षर की अपेक्षा अव्ययात्मा अव्यक्त है, अव्यक्त अक्षर की अपेक्षा आत्मक्षर व्यक्त है एवं यही स्वरूपदृष्ट्या विश्वक्षर (अपञ्चीकृत गुणभूत) की अपेक्षा व्यक्त आत्मक्षर अव्यक्त है। तात्पर्य–विश्व की उपादानभूता विश्वक्षरप्रकृति की अपेक्षा अक्षरवत्–आत्मक्षर भी अव्यक्त ही बन रहा है। इसके अतिरिक्त व्यक्त विश्व की अपेक्षा से (आत्मक्षरापेक्षया व्यक्त बनी हुई भी) बहिरङ्गप्रकृति (विश्वक्षर) अव्यक्त बन रही है। 'निरपेक्ष अव्यक्त' नाम से व्यवहृत की जाने वाली बहिरङ्गप्रकृति ही वैकारिक विश्व का मूल बनती है। इस बहिरङ्गप्रकृति के–'प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नादाः' ये पाँच विवर्त हो जाते हैं, जिनके क्रमिक विकास का 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। प्राणतत्त्व इन पाँचों का मूल है, यही ऋषितत्त्व है, जिसे हमनें पूर्व में आर्षमानवधर्म्म का मूलप्रवर्त्तक बतलाया है। बहिरङ्ग-प्रकृतिलक्षण इस ऋषिप्राणतत्त्व से ही पितर–देव–असुर–गन्धर्व–पश्वादि प्राणों के द्वारा वैकारिक विश्व तथा विश्वकर्म में प्रतिष्ठित हुआ, एवं प्राणानुगत वर्ण-आश्रम-धर्म्मों का विकास हुआ है। प्राणतत्त्व वाक् से अविनाभूत है। प्राण-वाक् की समष्टि ही यजुर्वेद है जो ऋक्सामात्मक छन्दोभावों से अविनाभूत है। अतएव इस बहिरङ्गप्रकृति को 'वेदप्रकृति' कहा जा सकता है जिसके सम्बन्ध में भगवान् मनु ने 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' 'वेदशास्त्रों हि निर्बभौ'–'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित किए हैं। आत्मक्षरपर्य्यन्त, अविद्यात्मक त्रिगुणभाव का विकास इसी बहिरङ्गप्रकृति में आकर हुआ है। इससे पहिले की सृष्टि मानसीसृष्टि है, ज्ञानसृष्टि है, गुणातीता समसृष्टि है, आत्मसृष्टि है। अतएव–'तत्र ब्राह्मणस्य भवति' इत्याद्यनुसार वहाँ विभिन्नगुणमूलक ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्र–भावों का अभाव है। बहिरङ्गप्रकृतिमूला सृष्टि वैकारिकीसृष्टि है, कर्म्मसृष्टि है, गुणमयी विषमसृष्टि है, विश्वसृष्टि है। आत्मसृष्टि ही विश्वसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा है। विश्वसृष्टि विभिन्नगुणमूला होने से विभिन्नधर्म्मात्मिका है। आत्मसृष्टि गुणातीता बनती हुई अभिन्नधर्म्मात्मिका है। अभिन्नस्वरूप आत्मधर्म्म है, विभिन्न स्वरूप विश्वधर्म्म है। आत्मधर्म्माधारेण प्रतिष्ठित विश्वधर्म्म जहाँ आत्मसमता के कारण शान्तिप्रद है, वहाँ आत्मधर्म्म से वञ्चित विश्वधर्म्म आत्मविषमता के कारण बनते हुए अशान्ति के प्रवर्त्तक माने गए हैं। आत्मदृष्टिमूलक

समदर्शन से युक्त विषमदृष्टिमूलक विषमवर्त्तन ही गीता का निष्कामकर्म्मयोग है। विषमता का प्रवेश होता ही तब है जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम विशुद्ध विषमदृष्टि के आधार पर विश्वधर्म्म प्रतिष्ठित कर देते हैं। समदर्शन में विश्वगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए जहाँ समता के प्रवर्त्तक बनते हैं, वहाँ विषमदर्शन में वे ही विश्वगुण आत्मगुण (आत्मधर्म्म) के आवरक बनते हुए विषमता के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। गुणपरित्याग विषमतानिवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणप्रधान शरीर से युक्त रहने वाली अध्यात्मसंस्था के लिए गुणपरित्याग एकान्ततः असम्भव है। हमें तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणानुगत स्वधर्म्म का पालन करते हुए ही निर्गुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इसका एकमात्र उपाय है—गुणात्मक कर्म्मों को निष्कामभाव से युक्त कर देना। ऐसा कर लेने से गुणमय विश्वधर्म्मों के यथावत् पालन से लोकसंग्रहमूलक व्यवहार की भी रक्षा हो जायगी एवं गुणातीत आत्मधर्म्म भी सुरक्षित बना रह जायगा। यही तो निष्कामकर्म्म का अभूतपूर्व–अश्रुतपूर्व कौशल है, जो 'धर्म्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१००–बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तगर्भित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति के गुणभावों की भी मीमांसा कर लीजिए। सात्त्विकी, राजसी तामसी, भेद से अव्यक्तप्रकृति तीन विवर्त्त भावों में परिणत रहती है। सात्त्विकी प्रकृति 'दैवीसम्पत्' है, तामसी प्रकृति 'आसुरीसम्पत्' है एवं राजसी प्रकृति 'मानवीसम्पत्' है। योगमायात्मिका इस एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमनें भौतिक विश्वापेक्षया 'अव्यक्त' कहा है और साथ ही इस अव्यक्त को महुर्लक्षण अग्नि-प्राणात्मक बतलाया है। यह अव्यक्त प्राणतत्त्व ही अपने प्राणात्मक अव्यक्तरूप का सुरक्षित (अक्षुण्ण) रखता हुआ वस्तु के मर्त्य वाक् भाग को स्वव्यापार (तप) से व्यक्त-परमेष्ठी के रूप में परिणत कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से स्वयं भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। इस गर्भीभाव से प्राणप्रधान अव्यक्त स्वयम्भू, एवं वाक् से उत्पन्न आपोमय व्यक्त पारमेष्ठी, दोनों के समन्वित रूप को ही त्रिगुणात्मिका 'बहिरङ्गप्रकृति' मान लिया जाता है। आपोमय परमेष्ठी महान् है, प्राणमय स्वयम्भू अव्यक्त है। अव्यक्त अव्यक्त है, महान् व्यक्त है। सांख्यशास्त्र की गुणात्मिका व्यक्तप्रकृति महान् है, अव्यक्तप्रकृति स्वयम्भू अव्यक्त है। 'अव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः' के अनुसार अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर की समष्टिरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ 'सनातन' तत्त्व है। अव्यक्त स्वयम्भू, और व्यक्त महान्, दोनों की समष्टि को आप इसलिए 'महान्' कह सकते हैं कि, सनातन पुरुषविशिष्ट अव्यक्त स्वयम्भू तत्सृष्ट्वा न्याय से महद्गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिस्विक स्वरूप से अभी केवल विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति है। त्रिगुणभावोत्पत्ति इसी महान् से आगे 'वाक्-अन्न-अन्नाद' इन तीन भावों से उत्पन्न होती है। भूपिण्ड गायत्र्याग्निप्रधान बनता हुआ अन्नादप्रकृतिक है, अग्नि ही अन्नाद है। चन्द्रमा साम प्रधान बनता हुआ अन्नप्रकृतिक है, सोम ही 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं—यच्चन्द्रमाः' के अनुसार अन्न है। सूर्य्य सावित्राग्निगर्भित इन्द्रप्रधान बनता हुआ वाक्प्रकृतिक है, 'वागिन्द्र' के अनुसार सावित्राग्नि गर्भित इन्द्र ही वाक् है। इसप्रकार वागिन्द्रात्मक सूर्य्य, अन्नसोमात्मक चन्द्रमा, एवं अन्नादाग्न्यात्मक भूपिण्ड तीनों उत्तर लोकों में क्रमशः वाक्–अन्न–अन्नाद ये तीन प्रकृतिभाव प्रतिष्ठित हैं। पारमेष्ठ्य आप प्रकृतिभाव स्वायम्भुव प्राण प्रकृतिभाव दोनों के मिलाने से स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य्य चन्द्रमा पृथिवी, पाँच विश्वपर्वों के क्रमशः प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद ये पाँच प्रकृतिभाव हो जाते हैं। पाँचों की समष्टि ही बहिरङ्गप्रकृति

है। पाँचों के २१ क्रम से दो विभाग हैं। ब्रह्मानुगत स्वायम्भुव अव्यक्त, तद्गर्भित विष्णवनुगत पारमेष्ठ्य व्यक्त महान् दोनों की समष्टि एक विभाग है, इसे ही हम त्रिगुण सत्वात्मक 'महान्' कहते हैं।

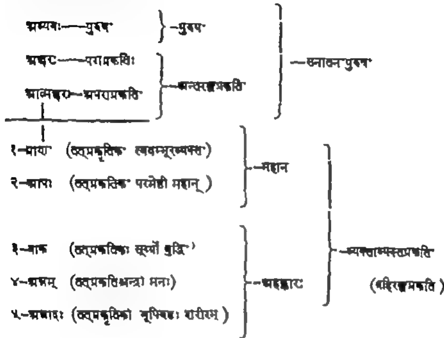
१०१–बहिरङ्गप्रकृति, और आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–त्रयी—

इन्द्रानुगत सौर वाक्तत्त्व, सोमानुगत चान्द्र अपतत्त्व, अग्न्यनुगत पार्थिव अन्नादतत्त्व इन तीनों उत्तर प्रकृतियों की समष्टि का एक विभाग है। महान् के साथ इन तीनों का सम्बन्ध होता है। इसी से त्रिगुण सत्त्वमय अव्यक्तगर्भित महान् षड्गुणक बन जाता है। सौरतत्त्व के समावेश से महान् में 'अहङ्कृति' का चान्द्रतत्त्वसमावेश से महान् में 'प्रकृति' का, एवं पार्थिवतत्त्वसमावेश से महान् में 'आकृति' का समावेश होजाता है। आकृतिमात्रप्रवर्त्तिका पृथिवी, तथा प्रकृतिमात्रप्रवर्त्तक चन्द्रमा दोनों को अपने गर्भ में रखने वाले अहङ्कृतिमात्रप्रवर्त्तक सूर्य्य के परमेष्ठ्यनुगत सर्वपूर्णमात्रधर्म्म से अव्यक्तगर्भित महान् में सत्व–रज–तम इन तीन गुणों का प्रादुर्भाव होजाता है। सूर्य्य का परमेष्ठी महान् के चारों ओर परिक्रमा लगाना ही सौरदर्श–पूर्णमास है। सौर अहङ्कृतिमात्रानुगत सौर प्रकाश से युक्त वही महान् 'सात्त्विकी' प्रकृति है। 'चित्रं देवाना–मुदगात्' के अनुसार सौर तत्त्व देवात्मक देवता है। सत्वानुगत महान् का इसी देवतत्त्व से सम्बन्ध है। अतएव सात्त्विकी प्रकृति को अवश्य ही 'दैवीसम्पत्' कहा जासकता है। सूर्य्यगर्भित चन्द्रमा के प्रकृतिमात्र से वही महान् 'राजसी प्रकृति है। 'चन्द्रमसाप्रेता अद्यत आवृतम्' इत्यादि श्रौतसिद्ध–सिद्धान्तानुसार चान्द्रसोम–तत्त्व मानवसर्ग का उपादान है। रजोऽनुगत महान् का इसी मानवसर्ग से सम्बन्ध है। अतएव राजसीप्रकृति को अवश्य ही 'मानवीसम्पत्' कह सकते हैं। सूर्य्यगर्भिता पृथिवी के आकृतिमात्र से वही महान् 'तामसी प्रकृति है। 'एतेन (शरीरेण) असु लोकं जग्मन्तो मन्यन्ते (छां० उप०)' के अनुसार पार्थिव–सूर्य्यविरुद्ध तमःप्रधान–आकृतिमात्रप्रवर्त्तक अहरहः ग्रामक अग्नि ही आसुरीसृष्टि का जनक माना गया है। अतएव तत्–सम्बद्ध तामसीप्रकृति को अवश्य ही 'आसुरीसम्पत्' कहा जासकता है। सौर अहङ्कृतिमात्रानुगत ज्योतिर्मय बना महान् 'सत्व' है। सूर्य्यगर्भित पार्थिव आकृतिमात्रानुगत सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत तमोमय बना महान् 'तम' है। एवं सूर्य्यगर्भित चान्द्र प्रकृतिमात्रानुगत चान्द्र (अतएव अर्द्ध तमोमय–ज्योतिस्तमोमय) भाग 'रज' है।

१०२–वाक्–श्रम–प्रसाद–मयी षड्गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति—

यों देखिए कि–चन्द्रमा का जो भाग सूर्य्यानुगत रहता हुआ प्रकाशित रहता है वह सत्वात्मक चन्द्रमा है। सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत अप्रकाशित अर्द्ध चन्द्रमा रजोमय है। एवं तन्मध्यस्थ रजोमय है। ठीक इसी प्रकार सूर्य्यसम्बन्ध–तारतम्य से महान् में ही सूर्य्यानुगत अर्द्ध महान् सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत अर्द्ध महान्, एवं मध्यस्थ महान् भेद से सत्व (प्रकाश) तम (अन्धकार) रज (उभयमय) ये तीन अवस्थाभेद होजाते हैं। सत्व और अहङ्कृति का एक क्रम है यह सात्त्विकी देवसृष्टि का मूलाधार है। रज और प्रकृति, दोनों का एक युग्म है यह राजसी मानवसृष्टि का मूलाधार है। तम और आकृति दोनों का एक युग्म है, एवं यह तामसीसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा है–'तस्य–असुरेभ्यः तमश्च मायां च प्रददौ (प्रजापतिः)'–(शत० २।४।२।५)। यों भी समन्वय किया जासकता है कि–सत्व–अहङ्कृति की समष्टिरूप सौरतत्त्व बुद्धितत्त्व है तत्प्रधान मनुष्य देवता है। रजः–प्रकृतिसमष्टिरूप चान्द्रतत्त्व प्रज्ञानमन है तत्प्रधान मनुष्य मनुष्य है। तमः–आकृति–समष्टिरूप पार्थिवतत्त्व शरीर है तत्प्रधान मनुष्य असुर है। असुरप्रकृतिक मनुष्य शरीरसुख को प्रधान मानता है। मानवप्रकृतिक मनुष्य मनःशान्ति को मुख्य मानता है। एवं देवप्रकृतिक मनुष्य बुद्धिविकास को

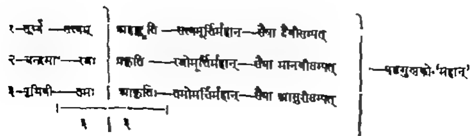
ही अपना पुरुषार्थ समझता है। तात्पर्य प्रकृत में यही है कि—अव्यक्तगर्भिता विशुद्धसत्त्वलक्षणा 'महान' नामकी बहिरङ्गप्रकृति सूर्य-चन्द्रमा-पृथिव्यनुगत-वाक्-अन्न अन्नाद इन तीन बहिरङ्गप्रकृतियों से त्रिगुणात्मिका बन जाती है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—



१—सूर्यः तदनुगत-अहङ्कृतिभावः—तदनुगतो महान्—'सात्त्विकीप्रकृतिः'

१—चन्द्रमा, तदनुगत—प्रकृतिभावः—तदनुगतो महान्—'राजसीप्रकृतिः'

१—पृथिवी, तदनुगत—आकृतिभावः—तदनुगतो महान्—'तामसीप्रकृतिः'



१०३–मानवसर्गानुगता गुणासक्ति–

उक्त मीमांसा से इस प्रश्न का भी समाधान हो जाता है कि, ईश्वर में गुणासक्ति क्यों नहीं होती ?, जबकि वह भी यावत् गुणात्मक विश्व में नित्य प्रविष्ट है । जीव ही गुणबन्धन से क्यों आबद्ध हो जाता है ?, जबकि वह ईश्वर का ही अंश है । जीवसृष्टि का मूलाधार सूर्य्य माना गया है जैसाकि–'सूर्य्य आत्मा जगत स्तस्थुषश्च' इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है । सूर्य्य ही अपने दर्शपूर्णमासात्मक परिभ्रमण से स्व (सूर्य)–चन्द्रमा–पृथिवी के द्वारा महान् को सत्त्व-रज-स्तमो-भावों से, तथा अहंकृति-प्रकृति–आकृति-भावों से महान् को षड्गुणक बनाता है । अतएव सौर जीवसर्ग में ही सूर्य्यानुगत गुणषट्क का प्राधान्य रहता है । विशेषतः मानवसर्ग की प्रतिष्ठारूप चन्द्रमा स्नेहगुणक है । अतएव इसी सर्ग में गुणासक्ति का उदय होता है ।

१०४–गुणत्रयी का व्यूहन–

उक्त तीनों गुणों का परस्पर व्यूहन होता है । इस व्यूहन से प्राणिमात्र में गौण–प्रधानरूप से तीनों का समावेश हो जाता है । प्रत्येक प्राणी में मात्रातारतम्य से यद्यपि तीनों गुण प्रतिष्ठित हैं तथापि–'छत्रिन्याय' से वह प्राणी तद्गुण नाम से ही व्यवहृत किया जाता है जिस प्राणी में जिस गुण का प्रधानरूप से विकास रहता है । महदात्मानुगत इसी गुणत्रयीविज्ञान को लक्ष्य बना कर भगवान् मनु ने कहा है—

> १—सत्त्वं, रज, स्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ।
> यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् 'महान्' सर्वानशेषतः ॥
> २—यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
> स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥
> —मनु० १२।२४।२५ ।

१०५–सत्त्व–रज–स्तम–प्रकृतिभेदभिन्ना ज्ञानत्रयी–

इन शब्दों में मानव–प्रकृतियों का स्वरूपपरिचय भी प्राप्त कर लीजिए, जो कि 'आर्षविद्या' का मुख्य [illegible] विषय माना गया है । सबको समानदृष्टि से देखना विभक्त सांसारिक पदार्थों में उस एक अविभक्त ब्रह्मतत्त्व पर दृष्टि रखना एतद्विध ज्ञान 'सात्त्विक' है * । विभिन्नदृष्टिमूलक पृथग्भावनामय विभिन्न ज्ञान 'राजस' है = । एवं तत्त्वशून्य, [illegible], भूतसम्पत्ति का ही प्रधान लक्ष्य बनाने वाला, एकपक्षीय–

---

*—सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
—गीता १८।२० ।

=—पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥
—गीता १८।२१।

मय ज्ञान 'तामस' है —। रागद्वेषशून्य आसक्तिरहित फलकामनाविमुक्त, प्रकृतिसिद्ध, नियतकर्म्म (निष्काम-कर्म्मयोगलक्षण धर्म्मबुद्धियोग) 'सात्त्विक' है A. । बहुपरिश्रमसाध्य, अतएव क्लान्तिजनक, उत्थाप्याकांक्षा-मूलक, 'अहङ्करोमि' भावात्मक कर्म्म (काम्यकर्म्मयोगलक्षण वेदोक्त कर्म्मकाण्ड), 'राजस' है B । "हमारे स्वार्थसाधक अमुककर्म्म से समाज का कैसा अपकार होगा, स्वयं हमारी क्या दशा हो जायगी, हमें अपने अमुक-कर्म्म में अपने पुण्यसंस्कारों की, आध्यात्मिक बल की शान्ति की किस प्रकार बलि चढ़ानी पड़ेगी, हमारे कर्म्म से कितने निरपराधों का सर्वनाश हो जायगा, इत्यादि अनुबन्ध, क्षय, हिंसादिपरिणामों की उपेक्षा कर अपने आपको—हम सब कुछ कर सकते हैं, करेंगे," रूप से अपने आपको सर्वशक्तिशाली मानने का दम्भ करते हुए मोहपूर्वक जो कर्म्म किया जाता है वही 'तामस' है C. । फलासक्ति से विमुक्त अपने आपको 'अहङ्करोमि' इस अहंभाव से पृथक् रखने वाला हानि–लाभ, दोनों में धैर्य्य रखने वाला, उत्साहयुक्त, फलप्राप्ति–अप्राप्ति, दोनों स्थितियों में शान्त बना रहने वाला कर्म्मकर्त्ता सात्त्विक है D । फलासक्त फलप्राप्ति के लिए उग्र लालायित परपीड़ाप्रवर्त्तक, शौचाचार–पराङ्मुख, थोड़ीसी सफलता पर हा–हा रूप से अट्टाट्टहास करने वाला, थोड़ी भी निष्फलता से 'हाय–हाय' करने वाला कर्म्म-कर्त्ता 'राजस' E है । अस्तव्यस्तरूप से अनियमितरूप से, कर्म-

---

—यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्य्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥
—गीता १८।२२।

A–नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
—गीता १८।२३।

B–यत्तु कामेप्सुना कर्म्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
—गीता १८।२४।

C–अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥
—गीता १८।२५।

D–मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥
—गीता १८।२६।

E–रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥
—गीता १८।२७

परिमित ढंग से कर्म्म करने वाला, कार्य्याकार्य्यविवेकज्ञानशून्य, देव-द्विज-गुरु-श्रेष्ठ आदि सम्मान्य महानुभावों के आगे उद्धत-उच्छृङ्खल व्यवहार करने वाला (विनयशून्य), अपने मन, वाक्, काय (संकल्प-शब्द-कर्म्म) से सदा दूसरों की निन्दा करने वाला, समालोचना करने वाला, आवश्यक कार्य्यों में भी आलसी बना रहने वाला, धन के मिल जाने पर भी अपने आपको दुःखी-निर्धन-पोषित करते रहने वाला, मन्-विलम्बित् समय में पूरे हो जाने वाले कामों को दिनों-मासों-वर्षों का अनुगामी बनाने वाला, एवंविध कर्म्मकर्त्ता 'तामस' कहलाता है F। (विशेष विस्तार के लिए देखिए, गीता १८ अध्याय, श्लोक २३ से ४० श्लोक पर्य्यन्त, एवं तदनुगत गीताविज्ञानभाष्य)।

१०५—राजर्षि मनु सम्मत गुणत्रयस्वरूपदिग्दर्शन—

राजर्षि मनु कहते हैं—'जो मनुष्य वेदाभ्यास में रत रहते हैं, शास्त्रोक्त स्नानादि शुचिकर्म्मों का यथावत् पालन करते हैं, इन्द्रियसंयमपूर्वक लोक-वेद-व्यवहारों का सम्पादन करते हैं, अहर्निश दानादि सत्क्रियाओं में तत्पर रहते हैं, उन्हें सत्त्वगुणप्रधान समझना चाहिए' *। लक्षीभूत कर्म्मों के आरम्भ में पूर्ण रुचि करने वाले, थोड़े में ही अपना धैर्य्य खो देने वाले, असदात्मीय कर्म्मों में प्रवृत्त होते रहने वाले, निरन्तर विषयों की ओर आसक्त बने रहने वाले महानुभावों को रजोगुणप्रधान मानना चाहिए +। परसम्पत्ति को सदा गिद्ध-दृष्टि से ताकते रहने वाले, अहर्निश भोगैश्वर्य्य को ही अपना आराध्य बनाने वाले (लिप्सालु), अधीर, क्रूर, ईश्वर-परलोकादि में विश्वास न रखने वाले, आचारशून्य, अपने आपको सदा गरीब बताते हुए दूसरों के आगे हाथ फैलाने वाले ऐसे प्रमादीमनुष्यों को तमोगुणप्रधान मान लेना चाहिए ×। जिन (हिंसा-चोरी-मिथ्याभाषण-अभक्ष्यभक्षण-मद्य-परस्त्रीगमन आदि आदि) कर्म्मों को करता हुआ, जो कर्म्मकर्त्ता अपने अन्तर्जगत में लज्जा का अनुभव करता है, उनम-

---

F—अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥
—गीता १८।२८।

*—वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्म्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥
—मनु १२।३१।

+—आरम्भरुचिताऽधैर्य्यमसत्कार्य्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥
—मनु १२।३२।

×—लोभः स्वप्नो ऽधृतिः क्रौर्य्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥
—मनु १२।३३।

दार को अनुमान लगा लेना चाहिए कि, लज्जानुभव कराने वाले ऐसे सब कर्म्म तमोगुणप्रधान हैं A । जिन कर्म्मों से (धर्म्मशाला–स्मार्तकर्म्म–श्रावर्त्त–वापी–कूप–तडागनिर्म्माण–प्याऊ–अनाथालय–आदि कर्म्मों से) व्यक्ति संसार में अपना नाम चाहता है जो विपन्नावस्था में भी दुःखी नहीं देखे जाते उनके ऐसे कर्म्मों से अनुमान लगा लेना चाहिए कि, ये रजोगुणप्रधान हैं B । जो व्यक्ति अपने आपको सब से सीखने वाला बनाए रहते हैं, अथवा तो जो वेदार्थतत्त्वपरिज्ञान के लिए सदा लालायित रहते हैं, जो अपने शास्त्रानुगत) कर्म्म करते हुए कभी लज्जा का स्मरण भी नहीं करते जिनके ऐसे कर्म्मों से जिन्हें सदा आत्मसन्तोष प्राप्त होता रहता है, उनके ऐसे कर्म्मों से हमें यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि, वे व्यक्ति सत्त्वगुणप्रधान हैं C । यही गुणत्रयपरीक्षा की सामासिक D (संक्षिप्त औरवास्तविक) निकषा (कसौटी) है । तमोगुण सदा काम (पशुकाम) को लक्ष्य बनाता है, रजोगुण सदा अर्थ को आराध्य बनाता है एवं सत्त्वगुण सदा मोक्षमूलक धर्म्म को लक्ष्य बनाता है । सांसारिक विषयभोगपरायणता काम है धनसम्पत्तिप्राप्ति अर्थ है, एवं ऐहलौकिक अभ्युदयपूर्वक पारलौकिक निःश्रेयसभावप्राप्ति का साधन धर्म्म है—'तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति' ।

तमसो लक्षणं कामो, रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्म्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥
—मनु १२।३८।

१०६–गुणात्मिका प्रकृति का आत्ममूलक त्रिवृद्भाव, एवं तन्मूलक नव (९) योनि–विवर्त्त–

गुणभेद से सम्बन्ध रखने वाली योनियों का भी सामासिक स्पष्टीकरण कर लीजिए । सत्त्वगुणात्मिका दैवीसम्पत् से सम्बन्ध रखने वाली गति 'उत्तमा' है रजोगुणात्मिका मानवीसम्पत् से युक्ता गति 'मध्यमा'

A–यत्कर्म्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ।
—मनु १२।३५।

B–येनास्मिन् कर्म्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥
—मनु १२।३६।

C–यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥
—मनु १२।३७।

D–त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥
—मनु १२।३४।

है, एवं तमोगुणाश्रिता आसुरी सम्पत्-लक्षणा योनि 'अधमा' है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के प्रकृतिसिद्ध त्रिगुणभाव के कारण * क्योंकि प्रत्येक गुण त्रिवृद्भाव से त्रिगुणात्मक है। अतएव तीन गतियों के अवान्तर नौ विवर्त हो जाते हैं। सात्त्विक गुणोपेत महानात्मा से युक्त कर्म्मात्मा देवयोनि का अधिकारी बनता है, रजोगुणोपेत कर्म्मात्मा मानवयोनि का अनुगामी बनता है, एवं तमो-गुणान्वित कर्म्मात्मा को तिर्य्यग्योनि का अनुगमन करना पड़ता है। विद्याकर्म्म के तारतम्यानुगत गुणत्रय-तारतम्य से इन्हीं तीन के अवान्तर ९ विवर्त बन जाते हैं जैसाकि राजर्षि ने कहा है—

> १–येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते ।
> तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥
> २–देवत्वं सात्त्विका यान्ति, मनुष्यत्वं च राजसाः ।
> तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्य, मित्येषा त्रिविधा गतिः ॥
> ३–त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ॥
> अधमा–मध्यमा–अग्र्या च कर्म्म–विद्या–विशेषतः ॥
>
> —मनुः १२–३९, ४०, ४१ ।

धातुरूपाम् रत्नसत्त्व, गिरिपर्वत, पाषाण–लोष्ठादि स्थावरात् असंज्ञजीव धातुजीव कहलाए हैं। इन्हें ही लोकभाषा में 'जड़' कहा गया है। ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–वल्ली–आदि अन्तःसंज्ञजीव 'मूलजीव' नाम से व्यवहृत हुए हैं। धातुजीव और मूलजीव, दोनों अपने प्रभाव से स्थानान्तरण में असमर्थ रहते हुए स्वस्थान में ही प्रतिष्ठित रहते हैं अतएव इन्हें 'स्थावर' नाम से भी व्यवहृत किया गया है। एवंविध स्थावरप्रपञ्च, एवं कृमि कीट, मत्स्य सर्प कच्छप, पशु मृग, ये 'ससंज्ञजीव' नामक जीव (१) अधमा तामसी योनि से सम्बद्ध हैं। तमोगुण का आत्यन्तिक विकसितरूप ही अधम तमोगुण है। तद्युक्त कर्म्मात्मा को उक्त योनियों में से ही तारतम्य से कोई भी योनि प्राप्त होती है। हाथी, अश्व शूद्र, म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र, शूकर, वराह, ये योनिमात्र (२) मध्यमा तामसी योनि है। कथागायक चारण सुपर्णपक्षी (गरुडादि) गुप्तचर पुरुष, राक्षस, पिशाच इत्यादि योनिमात्र (३) उत्तमा तामसी योनि है। इसप्रकार तमोगुण के तारतम्य से एक ही तमोगुण योनित्रयी का प्रवर्त्तक बन रहा है।

जो क्षत्रिय क्षात्रधर्म्म से च्युत हो जाता है जिस अवस्था क्षत्रिय का यथोचित संस्कारकाल (२२ वर्ष) अतिक्रान्त हो जाता है स्वधर्म्मच्युत वही क्षत्रिय 'व्रात्य' क्षत्रिय कहलाता है जिसे लोकभाषा में 'जातिच्युत' (वर्णच्युत) उपाधि से अलङ्कृत किया जाता है। ऐसे व्रात्य क्षत्रिय से असवर्णा (जातिच्युता क्षत्रियाणी) से उत्पन्न सन्तति झल्ल मल्ल निच्छिवि, नट, करण खस, द्रविड, आदि उपजाति–नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। मल्लकारी राजसेवक 'मल्ल' कहलाए हैं। सिखाये हुए मस्त हाथी को [illegible]

*—आत्मानुबन्धी इस त्रिवृद्भाव का विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य–प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

(डोम-चौंट) से वश में करना इन्हीं का कार्य्य है। राजपूताना में ये लोग 'सटमार' नाम से प्रसिद्ध हैं। राजप्रासादों में मदिरापान करते हुए हारादि की व्यवस्था करने वाले (छड़ीदार-छड़ीगार) पुरुष भी इसी झल्ल-कोटि में अन्तर्भूत हैं। बाँस-रस्सा-ढोलक आदि साधनों के द्वारा कलाप्रदर्शनपूर्वक लोकानुरञ्जन करने वाले 'नट' कहलाए हैं। बाहुयुद्ध-विविध व्यायामकुशल पुरुष (पहलवान) 'मल्ल' कहलाए हैं। शस्त्रव्यवसाय के द्वारा, पशुव्यवसाय के द्वारा मद्यव्यवसाय के द्वारा जीविकानिर्वाह करने वाले पुरुष शस्त्रजीवी-पशुजीवी-पानजीवी कहलाए हैं। ये सब योनिभाव (१) 'अधमा राजसी योनि' है। अभिषिक्त राजवर्ग, क्षात्रप्रतिष्ठित क्षत्रियवर्ग, राजाओं, एवं क्षत्रियों के कुलपुरोहित ब्राह्मण शास्त्रविद्यापारङ्गत पुरुष, इत्यादि योनिभाव (२) 'मध्यमा राजसी योनि' है। गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवयोनि के अनुयायी विद्याधरादि, अप्सराएँ, इत्यादि योनिभाव (३) 'उत्तमा राजसी योनि' है *।

वानप्रस्थी, संन्यासी, ब्राह्मण, विमानचारी पुरुष (योनियाँ) नक्षत्र, दैत्य, इत्यादि योनिभाव (१) 'प्रथमा सात्त्विकी योनि' है। यज्ञकर्म्मनिष्ठ ब्राह्मण, वेदतत्त्वद्रष्टा ऋषि, अभिमानी देववर्ग अग्निष्वात्तादि सप्तविध पितर, ध्रुवादिप्रधान ज्योतिर्लोक, वत्सर, साध्य, इत्यादि योनिभाव(२)'मध्यमा सात्त्विकी योनि' है। चतुर्मुख ब्रह्मा, मरीच्यादि सर्गप्रवर्त्तक ऋषि, धर्म्म, महान् अव्यक्त, इत्यादि योनिभाव (३) 'उत्तमा-सात्त्विकी योनि' है। मानवधर्म्मशास्त्रोपवर्णिता गुणानुगता नवधा विभक्ता योनियों का यही दिग्दर्शन है +।

१०७—अपूप्रकृतिलक्षणा गुणमयी महत्प्रकृति, एवं तद्रूप परिमोक—

उक्त प्राकृतिक-विज्ञान-विश्लेषण का निष्कर्ष यही है कि, अव्ययात्मा मूलगत्या आत्मा है, अक्षरसमष्टिरूपा इसकी अन्तरङ्गप्रकृति है। एवं पाञ्चभौतिक अन्नात्मक भौम शरीरानुगता अन्नादप्रकृति, सोमात्मक चान्द्र प्रज्ञानात्मानुगता मनःप्रकृति, इन्द्रात्मक सौर विज्ञानात्मानुगता वाक्प्रकृति प्रज्ञात्मक स्वायम्भुव अव्यक्तात्मानुगता प्राणप्रकृति इन चारों विकारप्रकृतियों को तथा वैश्वानरात्मक अर्कजीववर्ग वैश्वानरतैजसात्मक अन्तःसंज्ञजीव वे ही प्राज्ञात्मक ससंज्ञजीव इन त्रिविध पार्थिव कर्म्मात्माओं को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला विष्णवात्मक पारमेष्ठ्य महानात्मा से अनुगत 'अपूप्रकृति' ही त्रिगुणभावात्मिका

---

* झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च॥
—मनु १०।२२।

+ प्राकृतिमूलक-ऋषिप्राणनिबन्धन गोत्रवर्ग प्रकृतिमूलक-देवप्राणनिबन्धन वर्णवर्ग एवं आकृतिमूलक पितृप्राणनिबन्धन जातिवर्ग इन तीनों प्राकृत सर्गों से सम्बन्ध रखने वाला वर्णभेदात्मक प्रजास्वरूप बड़ा ही विलक्षण है, जिसे यथावत् न जानने के कारण ही आज का केवल आकृतिमूलक मानव आकृतिमूला जाति को ही मानवस्वरूप की व्यवस्थापिका मानने जैसी महती भ्रान्ति कर रहा है जिसके दुष्परिणामस्वरूप मानव का प्रकृतिमूलनिबन्धन देवप्राणानुगत भौतिक स्वरूप आज सर्वथैव अव्यवस्थित बन गया है जिसके इतिहास का 'रक्तक्रान्ति का महान् सन्देश' नामक स्वतन्त्र प्रकाशित निबन्ध में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

नैसर्गिकप्रकृति है। क्षिति (धृति) भाव, मन इन्हीं की स्वाभाविकी यही सहजभावना नैसर्गिकप्रकृति है। शुक्लशुक्ल विज्ञानगर्भिता आत्मा में यह नैसर्गिकप्रकृति आत्मस्वरूपानुगत अव्यक्तता के विकास का कारण बनती हुई आत्मा का कल्याणानुबन्धिनी बनती है। वहाँ मनःप्रधाना प्राज्ञात्मिका आत्मा में यही नैसर्गिकप्रकृति आत्मस्वरूपानुगत अव्यक्तता के विकास को अवरुद्ध करती हुई आत्मा का 'अधम' बन जाती है। अर्थात्प्रिय आत्मा शुद्ध है, विरुप्रिय आत्मा बद्ध है। आत्मस्वरूपानुगता प्रकृति है इसमें सत्त्व-रज-तमो-गुण त्रिगुणात्मक स्वस्वरूप से भिन्नभावेन में परिणत रहते हैं। अतएव 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' प्रकृति का यह लक्षण माना गया है। व्यावहारिक दशा यही है जिस प्रकार 'वात-पित्त-कफ' इन तीन धातुओं की समता ही स्वास्थ्य की प्रतिष्ठा है, एवमेव सत्त्व-रज-तमो-गुणों की विषमता ही अस्वस्थता की प्रतिष्ठा है। जिस दिन धातुएँ विषम बन जाती हैं, अस्वास्थ्य का उदय हो जाता है। एवमेव जिस दिन गुणत्रयी सम बन जाती है, आत्मस्वरूप उद्भासित हो जाता है। धातुसाम्य शरीर की स्वस्थता, एवं गुणसाम्य आत्मा की स्वस्थता ही स्वास्थ्य की प्रतिष्ठा है। वैसर्गिक यही है—इन प्रकृति के धर्मानुबन्धित सत्त्व गुण ही गुणत्रय का समन्वय में परिणत करते हुए 'स्वस्थ' बन सकते हैं। त्रिगुणात्मिका नैसर्गिकप्रकृतिप्रधाना स्थिति को बुद्धियोग के द्वारा हम गुणातीत अतएव स्वभावसिद्धा आत्मस्वरूपानुगता प्रकृति की अनुगामी बना लेंगे, उस दिन स्वभाव से भिन्न बने हुए भी, अतएव वैषम्य से युक्त बने हुए भी हम स्वाभाविक स्वास्थ्य का कुछ न बिगाड़ सकेंगे। स्वभाव की अवस्था में सम बने वाली गुणत्रयी पुनः हमें इस बन्धन में नहीं डाल सकेगी। यही स्वभाव ही तो प्रकृति-साम्य का फल है। वह गुणों निष्कामकर्मयोगात्मक बुद्धियोग से इस बंधन से ही प्राप्त हो सकता है।

१०८—नैसर्गिकप्रकृति, एवं सांस्कारिकप्रकृति का स्वरूपदिग्दर्शन—

नैसर्गिक स्वभाव—प्रकृतियों का स्वरूप-दिग्दर्शन कराया गया। अब कुछ सांस्कारिक स्थिति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया है कि इस—जन्मजनित स्वभाव—संस्कार का ही नाम नैसर्गिकप्रकृति है। कालान्तर में यह आगन्तुक सांस्कारिक कर्म आत्मा के स्वाभाविक धर्मों का रूप धारण कर लेते हैं। जिनमें की नैसर्गिक सांस्कारिक, दोनों ही दो प्रकृतियाँ मानी गई हैं जिनका हम क्रमशः नैसर्गिकप्रकृति सांस्कारिकप्रकृति इन नामों से भी व्यवहार कर सकते हैं। पूर्वजन्म में सञ्चित कर्म उत्पादक के कारण बनते हैं। उत्तरजन्म में उदय होने वाले इस जन्मजनित संस्कारपुञ्ज का ही नैसर्गिकप्रकृति माना गया है। एवं वर्तमान जन्म में इस—कर्मों से उत्पन्न संस्कारपुञ्ज 'सांस्कारिक प्रकृति' कहलाता है। इन्द्रियानुगता, स्वभावसिद्धा नित्यस्वभावात्मा प्रकृति नैसर्गिक है, कर्मानुबन्धानुगता संस्कारमयी प्रकृति सांस्कारिकी है। स्वभाव शब्द से प्रकृति और सांस्कारिक दोनों से संस्कारमयी एक ही प्रकृतिशब्द से ही लिया जा रहा है। नैसर्गिकी प्रकृति जहाँ 'जन्मसिद्धा' कहलाती है वहाँ सांस्कारिकी प्रकृति 'प्रयत्नकर्मसिद्धा' नाम से प्रसिद्ध है। जन्मसिद्धा प्रकृति का अपरिहार्य रूप दैवनिबन्धन है, इनसे बुद्धि कर्म प्राकृतिक है एवं सांस्कारिक कर्म प्रयत्नजनित हैं। अतएव स्वभावानुगत मानवजीवन में दोनों प्रकृतियों का समन्वय है जिसका अर्थ यही है कि जिन कर्मों से मनुष्य देवस्वभाव भी बन सकता है वह कल्प प्रकृति से यहाँ इसी आत्मा बना भी सकता है।

१०९—अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी, तथा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति—

'अधिकारसिद्धा' सांस्कारिकी प्रकृति की प्रतिष्ठा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति ही बना करती है। 'अधिकार' शब्द वर्णव्यवस्था का सूचक है। जिसके वीर्य्य में जन्मत जो वर्ण प्रतिष्ठित रहेगा, वह तदनुगत संस्कार का ही अनुगामी बनेगा। 'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्' वाक्य जहाँ जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृतिका समर्थन कर रहा है, वहाँ—'संस्कारविशेषाच्च' (वसिष्ठस्मृति) वाक्य अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। 'संस्कारतत्त्व' भावनावासनात्मक 'ज्ञानकर्म्मसंस्कार,' 'वैधसंस्कार' भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। जन्मसिद्ध संस्कार देश–काल–पात्र–द्रव्य–शुक्र–शोणित–आदि दोषों से स्व–विकास से मुकुलित बने रहते हैं। अतएव देखा जाता है कि, जन्म के ब्राह्मण पिता, ब्राह्मणी माता से उत्पन्न भी सन्तति जन्मतः ब्राह्मण रहती हुई भी ब्राह्मण्य से वञ्चित रह जाती है। इन आगन्तुक दोषों का हटाने के लिए, जन्मसिद्ध वर्णवीर्य्य की कमी पूरी कर उसे सर्वाङ्गीण बनाने के लिए, साथ ही उसमें वैशिष्ट्य आधान के लिए वैज्ञानिकों ने तत्त्वर्णानुगत तत्तद् द्रव्यसाधनों के द्वारा दोषमार्जक–हीनाङ्गपूरक–अतिशयाधानात्मक जिस वैज्ञानिक प्रकार का आविष्कार किया है वही 'वैधसंस्कार' कहलाया है, जो श्रौत–स्मार्त गर्भाधानादि संस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। जन्मसिद्धा नैसर्गिकी, अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली वर्णव्यवस्था का, तथा वैध–गर्भाधानादि संस्कारों का गीताभूमिका 'ख–ग खण्डों में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जन्मसिद्धा प्रकृति की क्या पहिचान है, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान ने कहा है—

> मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वित ।
> सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार' कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥१॥
> रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचि ।
> हर्षशोकान्वित कर्ता राजस परिकीर्त्तित ॥२॥
> अयुक्त प्राकृतः स्तब्ध शठो नैष्कृतिकोऽलस ।
> विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥३॥

—गीता १८।२६ २७ २८।

११०—निग्रह किं करिष्यति—

भगवान् कहते हैं कि जिसकी जैसी प्रकृति है उसे बाध्य होकर उसीका अनुसरण करना पड़ता है। इसी आधार पर प्रान्तीय भाषा में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है–कि 'जाय का पड्या सुभाव जासी जीव से'। जिसका जैसा जन्मसिद्ध स्वभाव है, वह उसके मरने पर ही मिटता है अर्थात् जन्मसिद्ध प्रकृति नहीं बदली जा सकती। यहाँ 'स्वभाव' से स्वधर्मलक्षणा अन्तरङ्गप्रकृति अभिप्रेत नहीं है। अपितु जन्मसिद्धा नैसर्गिकी बहिरङ्गप्रकृति ही अभिप्रेत है। मान लीजिए, किसी का स्वभाव क्रोधी है। गुरुदेव प्रयत्नपूर्वक समझाते हैं-कि, 'देखो क्रोध का परित्याग कर दो यह मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु है। क्रोध एक प्रकार का वह वडाग्नि है जो नसों मे तत्काल उत्पन्न होता है। अग्नि ही शरीर का बल है। यदि तुम इस शरीर से बाहिर निकाल दोगे, तो निर्बल बन जाओगे। यह बलाधानकर्ता अग्नि बाहिर न निकल जाय, इसलिए तुम्हें इसे (क्रोधाग्नि

को) भी माना चाहिए, । गुरूपदेश के इस मर्म को हम स्पष्ट समझ रहे हैं । मान लीजिए—आलस्य में कोप हमारा शत्रु है । यह सब कुछ जानते–मानते–मानते हुए भी निरन्तरायरूप से यह उत्पन्न हो पड़ता है । क्यों ?, कर्मसिद्ध स्वभाव । स्वभावसिद्ध संस्कारानुरूप ही तो हमारा उदय है जैसा उदय होता है उसमें वैसे ही तो धर्म निकलते हैं । इसी आधार पर भगवान ने कहा है–'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' ॐ ।

१११–पुण्य–पापादि द्वन्द्वों का विधूनन—

जब तक उदयकर्ता प्रकृति (स्वभाव) स्वस्वरूप से सुरक्षित है तब तक उसका निग्रह सम्भव है नहीं असम्भव है । इसीसे यह भी तथ्य निकल आता है कि यदि किसी उपाय से उदय का स्वरूप बदल दिया जाता है तो प्रकृति का भी विपर्य्यय सम्भव बन जाता है । जब तक भेद है तब तक प्रकाशधर्म्म का आवृत रहना अनिवार्य्य है । हाँ अनुरूप–उपाय प्रवेश से यदि भेद हटा दिया जाता है तो प्रकाशधर्म्म का प्राकट्य सम्भव है । प्रकृतिविपर्य्य ही परम विपर्य्य का मूल माना गया है । यों देखिए, संस्कारान्तरों से कर्त्तव्यरूपा भी दैवी-सम्पत् आसुरीसम्पत् बन जाती है आसुरीसम्पत् दैवीसम्पत् में परिणत होती देखी गई है । काम–क्रोध–मद–उपधा–आदि कलुषित संस्कारोंके समावेश से अनुष्ठान दब जाते हैं विषम स्वरूप विकसित हो जाते हैं । सगुण-यज्ञादि सम्बन्ध–सम्बन्धों से उत्पन्न धार्मिक संस्कारोदय से दैवीसम्पत् पल्लवित हो जाती है । तात्पर्य यही है कि, ज्ञानेन्द्रियजनित अनुभवादि संस्कार (भावना) एवं कर्मेन्द्रियजनित अभ्यासित संस्कार (वासना) ही अन्तरङ्ग प्रकृतिविशिष्ट आत्मा के धर्म्म–ज्ञानादि स्वाभाविक आत्मधर्म्मों को आवृत कर उसे कर्मविधा दैवर्गिकी, तथा अविद्यारूपा आसुरी दैवी आसुरीसम्पत् में अभिनिविष्ट कर देते हैं । इसी अभिनिवेशात्मक–संस्कार–सन्निबन्धन से इन उभय सम्पत्तियों में से किसी एक के साथ आत्मा का सन्निबन्धन हो जाता है । शुभ भावनावासना से दैवीसम्पत् का निर्माण होता है अशुभ–भावनावासना से आसुरीसम्पत् का उदय होता है । अच्छा और बुरा दोनों वासना पर निर्भर है । यदि भावनावासना नहीं है तो न पुण्य है न पाप है न अच्छा है न बुरा है । न पाप है न पुण्य है ।

११२–मधुधर्म्मात्मक परधर्म्म, एवं अधर्म्मात्मक परधर्म्म—

जिस प्रकार आसुरीसम्पज्जनित पाप आत्मा को परतन्त्र बनाता है एवमेव दैवीसम्पज्जनित पुण्य से भी आत्मस्वातन्त्र्य आवृत हो जाता है । आत्मस्वातन्त्र्य के लिए दोनों का परित्याग अनिवार्य्य है । तभी स्वातन्त्र्यरूपा विदेहमुक्ति का उदय सम्भव है । इसी आधार पर–'उभे पाप–पुण्ये विधूय' सिद्धान्त स्थापित हुआ है । दोनों इसीलिए आत्मस्वातन्त्र्यता के आवरक हैं कि दोनों ही आगन्तुक हैं । स्वधर्म्म आगन्तुक नहीं है अपितु यह नित्य है प्रकृतिस्वरूप (अन्तरङ्गप्रकृतिस्वरूप) है । सांस्कारिक धर्म्म आगन्तुक हैं अतएव इन्हें 'स्वधर्म्म' न कह कर आगन्तुक, अतएव आश्रितधर्म्म ही कहा जायगा । 'धर्म्मिणा (आत्मना) ध्रियते' निर्वचन से दोनों ही आत्माके द्वारा धृत रहने से 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत होते हैं । इन दोनों धर्म्मों में से शुभ-

---

ॐ न धर्म्मशास्त्रं पठतीति कारणं, न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
'स्वभाव' एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥

संस्कारात्मिका दैवीसम्पत् से अभ्युदय होता है, अतएव इसे 'सद्धर्म्म' कहा जाता है। एवं अशुभसंस्कारात्मिका आसुरीसम्पत् प्रत्यवायजननी बनती हुई 'अधर्म्म' नाम से व्यवहृत हुई है। सद्धर्म्म से आत्मधर्म्म आवृत अवश्य होजाता है, परन्तु उसकी स्वरूपहानि नहीं होती। अतएव इसे 'धर्म्म' कोटि में अन्तर्भूत मान लिया जाता है। परन्तु अधर्म्म से आत्मस्वरूपावरण के साथ साथ आत्मपतन भी होजाता है, अतएव एवंविध (अशुभसंस्कारात्मक) आश्रितधर्म्म को 'अधर्म्म' कहना अन्वर्थ बन जाता है।

११३–धर्म्म, एवं अधर्म्मात्मक द्वन्द्वनिवर्त्तक धर्म्मबुद्धियोग—

मान लेते हैं दैवीसम्पत् अभ्युदयजननी है। परन्तु है तो यह भी आत्मस्वरूप के स्वाभाविक धर्म्म को आवृत करने वाली ही। आगन्तुक भला हो, अथवा बुरा, अन्ततोगत्वा वह आगन्तुक ही है पराया ही है। सद्सद्गुणित भला होने पर भी आगन्तुक आगन्तुक ही रहेगा। इस आगन्तुकभाव से ही दैवी, आसुरीसम्पत्–लक्षण उभयविध आश्रितधर्म्म (धर्म्म, अधर्म्म) आत्मा की स्वाभाविकता के विरोधी बनते हुए त्याज्य अधर्म्म कोटि में ही निविष्ट हैं। 'अन्यत्र धर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात्' (कठोप० १।२।१४ के अनुसार धर्म्म–अधर्म्मातीत आत्मा कभी इन द्वन्द्वभावों को अपना उपकारक मान सकता है। धर्म्म संस्कार आत्मा में अनुकूल तरङ्गें उत्पन्न करता है, अधर्म्म संस्कार प्रतिकूल तरङ्गें उत्पन्न करता है। धर्म्म संस्कारानुगत सुखानुभव में भी आत्मा स्वकेन्द्र को छोड़ देता है, अधर्म्म संस्कारजनित दुःखानुभव में भी आत्मा स्वप्रतिष्ठा से च्युत होजाता है। स्वाभाविक, स्थिरतालक्षणा, आत्मशान्ति का दोनों में ही अभाव है। अतएव इस दृष्टि से दोनों ही त्याज्य बन रहे हैं। अधर्म्म से होने वाले अनर्थ स्पष्ट हैं। धर्म्म से होने वाले अनर्थों का भी सुखानुभवतारतम्य से अनुमान लगाया जासकता है। किसी व्यक्ति को धर्म्म (पुण्य) संस्कारवश कहीं से सम्पत्ति प्राप्त हुई। जिस प्रकार सरोवर में फैंका गया ढेला क्षणमात्र के लिए सरोवर की शान्ति भङ्ग कर देता है एवमेव विषयसम्पत् ने आत्मशान्ति को क्षणभर के लिए विचलित कर दिया। आगन्तुक सम्पत्ति ने काम–लोभ को उत्साहित किया। सम्पत्ति–परिग्रह बढ़ने लगा। इसप्रकार अनर्थपरम्परा ने जन्म ले डाला। कहना पड़ेगा, और मानना पड़ेगा कि, क्षणविरामात्मक यह पुण्यानुगत संस्कार भी अन्ततः शान्ति का प्रतिबन्धक ही है। तभी तो धर्म्म जनित सुख भी 'अनुकूलवेदना' (मुलाया हुआ दुःख) नाम से ही व्यवहृत हुआ है। सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि, कामना के अनुग्रह से उत्पन्न भावना–वासना–संस्कार–ग्रन्थिबन्धनरूप धर्म्माधर्म्माभिनिवेश आत्मस्वरूपधर्म्म का प्रतिबन्धक बनता हुआ अपने परिपाक के अनुपात से समय समय पर–'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' के अनुसार उत्पीड़ित किया करता है। इसे कैसे हटाया जाय ?, आत्मा की स्वाभाविक शान्ति का उदय कैसे हो ?, इस प्रश्न का एक समाधान आर्षविज्ञानुगत यही 'धर्म्मबुद्धियोग' है।

११४–भोग, प्रतिबन्धकरूप, एवं समत्व, लक्षणा संस्कारनिवर्त्तिका उपायत्रयी—

अभिनिवेशात्मक संस्कारों को हटाने का एक मात्र अर्थ है–इनके साथ होने वाली आत्मा की ग्रन्थि को हटाना। ग्रन्थिभेदन ही संस्कारनिवृत्ति है। ग्रन्थिभेदनात्मिका यह संस्कारनिवृत्ति तीन उपायों से सम्भव है उन्हीं का क्रमिक दिग्दर्शन कराया जारहा है। अपेक्षाबुद्धि–गर्भित मानस कामना के द्वारा ज्ञान–कर्म्मेन्द्रियप्रवर्तित भावना–वासनात्मक संस्कार, तद्ग्रन्थिबन्धन–द्वारा आत्मा में अभिनिविष्ट (अभिष्यक्त–संसक्त) देवासुरसम्पत् (जिनसे आत्मस्वरूप आवृत होरहा है) की निवृत्ति के ये तीनों उपाय क्रमशः भोग, प्रतिबन्धकरूप, समत्व,

इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जिनमें से पहिले क्रमप्राप्त 'भोग' नामक प्रथमसोपान की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। गुणत्रयानुगत प्रकृतिसिद्ध कर्म परिपाक (संस्कारभोग) ही 'भोग' है। बतलाया गया है कि, गुणत्रयी के विषमभाव से प्रत्येक अध्यात्मसंस्था में तीनों गुणों का उद्रेक रहता है। इनमें सत्त्वगुण सुखानुयायी है, रजोगुण दुःखानुयायी है एवं तमोगुण मोहानुयायी है। सुखप्राप्ति सत्त्व से, दुःखप्राप्ति रज से एवं मोहप्राप्ति तम से होती है। रजोगर्भित सत्त्व सद्धर्म है, रजोगर्भित तम अधर्म है। सद्धर्म देवधर्म है, अधर्म असुरधर्म है, मानवात्मा दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इस रूप से जीवन में तीनों का भोग होता रहता है। कभी मनुष्य सुखी देखा जाता है, कभी दुःखार्णव में निमग्न हुआ जाता है, एवं कभी स्तब्ध सा प्रतीत होने लगता है। जीवन पर दृष्टि डालिए, तीनों का प्रत्यक्ष होजायगा। आपके जीवन में आपको जितना सुख मिलता है, वह सुखांश सत्त्वगुणानुगत देवधर्म (शुभसंस्कार) का भोग है। जितना दुःख मिलता है, वह रजोगुणानुगत असुरधर्म (अशुभसंस्कार) का भोग है। एवं स्तब्धीभावमूलक-वृत्ति-लक्षणा मोह तमोऽनुगत पशुधर्म का भोग है। तात्पर्य यह है कि, सत्त्वानुगत देवधर्म, रजोऽनुगत-असुरधर्म एवं तमोऽनुगत, पशुधर्म तीनों का 'सुख-दुःख-मोह' रूप से आपके जीवन में भोग होता रहता है। कभी आप अपने आप को सुखी पाते हैं, तो कभी दुःखी पाते हैं, कभी आप कुण्ठित देखे जाते हैं। जिस समय आप सुखी हैं, स्वीकार कीजिए उस समय आपके सत्त्वात्मक शुभसंस्कार का भोग होरहा है। दुःखदशा में रजोमय अशुभसंस्कार का भोग होरहा है, एवं मोहदशा में तमोमय अशुभसंस्कार का भोग होरहा है। इसप्रकार आपके जीवन में क्रमभेद से तीनों गुणात्मक संस्कारों का भोग होता रहता है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, राग-द्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥
२—तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं 'सत्त्वं' तदुपधारयेत् ॥
३—यत् तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्-'रजः' प्रतिपं विद्यात् सततं हारि देहिनाम् ॥
४—यत् तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं 'तमः' तदुपधारयेत् ॥

—मनुः १२।२६ श्लो० २८,२९ ।

सम्पूर्ण जीवन को छोड़िए, केवल एक अहोरात्र में ही तीनों के भोगों का प्रत्यक्ष कर लीजिए। दिन-रात में अनेक अवसर तो ऐसे आते हैं, जिनमें हमारा मन प्रसन्न रहता है, हम अपने अन्तर्जगत में शान्ति का अनुभव करते हैं। कई अवसर आते हैं, जिनमें मन अशान्त-म्लान-दुःखी बन जाता है। एवं ऐसे भी अवसर आजाते हैं, जिनमें हम अपने आपको भूल कर कुण्ठित से विचार-विवेक शून्य से बनते हुए किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाते हैं, प्रमादी की सी दशा होजाती है। इसप्रकार अपने एक दैनिक जीवन में ही तीनों भावों का

अनुभव करते रहते हैं । ये तीनों अनुभव ही तात्कालिक कर्म्मों का उपचयलक्षण भोग माना गया है । जो संस्कार आत्मधरातल पर सञ्चित हैं, वे इस गुणानुगता भोगत्रयी के रूप से ही क्रमशः क्षीण होते रहते हैं । इस क्रमिक भोग से जिस समय सञ्चित संस्कार निःशेष होजाते हैं उस समय आत्मा पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो जाता है । इस भोग के सम्बन्ध में हमारा प्रयास व्यर्थ है । प्रकृति के अनुसार जब जिस सञ्चितकर्म्म व्यूह का जो क्रमिकक्रम प्रारब्ध बन जाता है उसका उसी क्रम से भोग होता रहता है । यही संस्कारोपशम का पहिला प्राकृतिक 'भोग' रूप उपाय है ।

दूसरा उपाय है– प्रतिबन्धकत्व' । आत्मा में जैसे, एवं जिस जाति के भावना-वासना-संस्कार प्रतिष्ठित हैं उनसे विजातीय संस्कारों के आ जाने से (विजातीय संस्कारों के सञ्चित संस्कारों की अपेक्षा सबल होने पर) पूर्वसंस्कार उसी प्रकार अभिभूत हो जाते हैं, जैसे सौर प्रकाश के आक्रमण से (दिन में) रहती हुई भी चन्द्रज्योत्स्ना स्वस्वरूप से अभिभूत हो जाती है । सत्त्वगुणानुगता दैवीसम्पत् भी देवप्राणभेद से अनेक जातियों में विभक्त है, एवं तमोगुणानुगता आसुरीसम्पत् भी असुरप्राणभेद से अनेक जातियों में विभक्त है । दैवी-सम्पत्तियाँ आसुरीसम्पत्तियों की, तथा आसुरीसम्पत्तियाँ दैवीसम्पत्तियों की जैसे प्रतिबन्धिका हैं तथैव इनमें परस्पर भी प्राणभेदानुगता जातिभेद से पारस्परिक प्रतिबन्धकता विद्यमान रहती है । परस्पर विरुद्ध इन सम्पत्तियों की गौण-प्रधानता से इनका परस्पर अभिभव हुआ करता है । इस अभिभव से अभिभूत संस्कार स्वपराक्रम-प्रदर्शन में असमर्थ हो जाता है । मान लीजिए-किसी व्यक्ति में आसुरीसम्पत् विकसित है, इसके प्रभाव से इसका आत्मा दुःखानुयायी बन रहा है । इससे बचने का एक यह भी उपाय है कि वह व्यक्ति आसुरीसम्पत् के विरोधी दैवीसम्पद्भाव का अनुगमन (संचय) करे । चन्द्रकान्तमणि के संयोग से जैसे विद्यमान भी अग्नि की दाहकता नष्ट हो जाती है एवमेव आत्मस्थित आगन्तुक धर्म्मलक्षण आसुरीसम्पत्-रूप अशुभसंस्कार तद्विरुद्ध सबल आगन्तुक धर्म्मलक्षण दैवीसम्पत्रूप शुभसंस्कार के आजाने से नष्ट हो जाते हैं । सुकृत के सञ्चय से अवश्य ही दुष्कृत का विनाश सम्भव है । भगवदाराधन नैगमिक-आगमिक अनुष्ठानादि के बल से उत्पन्न शुभसंस्कारों से निश्चयेन सञ्चित दुष्कृत नष्ट हो जाते हैं । आगन्तुक धर्म्मात्मक सञ्चित संस्कारों के नाश का यही 'प्रतिबन्धकत्व' रूप दूसरा उपाय है ।

तीसरा उपाय है 'समत्व' । भोग और प्रतिबन्धकत्व उक्त दोनों उपायों की अपेक्षा यही सर्वश्रेष्ठ, और श्रेष्ठ उपाय है । कारण स्पष्ट है । समत्व से विद्याबल की अभिवृद्धि होती है एवं विद्याबलाभिवृद्धि से अविद्याबल स्वतः निर्बल बन जाता है । विद्याबल साक्षात् ज्ञानज्योतिर्लक्षण प्रदीप्त विद्युत् है । जिस प्रकार उत्तप्त लौह-खण्ड पर गिरने वाले जलकण तत्क्षण विलीन हो जाते हैं तथैव प्रबुद्ध विद्याबलोदय से उत्पन्न, एवं उत्पन्न होने वाले संस्कार तत्क्षण भस्मसात् हो जाते हैं । प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि कर्म्मसंस्कारबन्धनों को निःशेषावस्था में परिणत कर डालता है, जैसाकि-'ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (गी० ४।३७।) इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है । इस तृतीय उपाय की सर्वश्रेष्ठ-श्रेष्ठता का एक दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए, एवं समन्वय करने से पहिले भोग, और प्रतिबन्धकत्वलक्षण दोनों उपायों के तत्त्व का अन्वेषण कर लीजिए । संस्कारतत्त्व की स्वरूपमीमांसा करते हुए पूर्व में हमनें इनकी सञ्चित प्रारब्ध, भुक्त, ये तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं । । इन तीन के अतिरिक्त तात्कालिक कर्म्मों के सम्बन्ध में एक चौथा विभाग और मानना चाहिए, जिसका आगामी संस्कारों से सम्बन्ध है ।

११५–कर्म्मस्वरूपसम्पादिका प्रक्रम–अभिक्रम–व्यूहन–त्रयी—

प्रक्रम, अभिक्रम, व्यूहन इन तीन तत्त्वों के समन्वय से संचित संस्कारों का स्वरूप सम्पन्न होता है। कृत्स्नार्थ कर्म्म प्रक्रम है, पुरुषार्थकर्म्म अभिक्रम है, एवं अनेक पुरुषार्थकर्म्मों की समष्टि 'व्यूह' है। आप अपने घर से निकल कर देवदर्शन के लिए जाते हैं। यह गमनकर्म्म आपका पुरुषार्थकर्म्म है, क्योंकि गमन से पुरुष का (आपका) देवदर्शनरूप अर्थ (फल) सिद्ध होता है। इस पुरुषार्थलक्षण गमनकर्म्म का स्वरूप अनेक क्रियाओं से सम्पन्न हुआ है। एक पाँव आगे रखना, एक पीछे रखना इस क्रम से अनेक पादगतियों के धाराक्रम से इस एक गमन का स्वरूप बनता है। गमनकर्म्म पुरुषार्थरूप 'क्रतु' नामक कर्म्म है। पादगतिरूप अनेक गतिकर्म्मों के समन्वय से क्योंकि इस एक 'क्रतु' रूप पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है, अतएव यह अवान्तर गतिकर्म्म–'क्रत्वर्थकर्म्म' (क्रतु के स्वरूप निर्म्माता अवान्तर कर्म्म) कहलाए हैं। कल्पना कर लीजिए–एक पादगति एक प्रक्रम है जिस एक पादगति के लिए लोकभाषा में–'पौंवड़ा' शब्द व्यवहृत हुआ है। प्रत्येक पौंवड़े में भी यद्यपि सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम अवान्तर असंख्य गतियों का समावेश रहता है एक पैर से दूसरे पैर पर्य्यन्त व्याप्त एक प्रक्रम में भी अवान्तर गतिरूप अनेक प्रक्रम व्यवस्थित हैं। परन्तु सूक्ष्मत्वात् उनकी ओर न जाकर हम एक पादगतिरूप एक प्रक्रम को ही यहाँ एक क्रत्वर्थ कर्म्म मान लेते हैं, जो विज्ञानभाषा में 'प्रक्रम' कहलाया है जिस गतिकर्म्म में स्थिति–गति दोनों भावों का समन्वय है। घर से निकल कर देवमन्दिर पर्य्यन्त पहुँचने में मार्ग के तारतम्य से एकपादगतिलक्षण ऐसे अनेक प्रक्रमकर्म्मों का अनुगमन करना पड़ता है तब कहीं जाकर 'दर्शन करने गए हैं' इस एक पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अवान्तर क्रियाओं के तारतम्य से ही तो एक गति का स्वरूप निर्म्माण माना गया है *। तात्पर्य्य कहने का यही है कि क्रत्वर्थकर्म्मरूप कर्म्म 'प्रक्रम' है। इन अनेक प्रक्रमों से सम्पन्न पुरुषार्थरूप कर्म्म 'अभिक्रम' है यही भावना–वासनात्मक एक कर्म्मसंस्कार है। अपने जीवन में हम अनन्त प्रक्रमगर्भित ऐसे ऐसे असंख्य अभिक्रमकर्म्मों का अनुगमन करते हैं। फलतः आत्म–धरातल में आज तक अभिक्रमकर्म्मों की एक निधि हो जाती है। आज तक योग्यतया पुरुषार्थलक्षण–अभिक्रमकर्म्मों की समष्टि ही 'कर्म्मव्यूह' (कर्म्मों का संस्कारों का ढेर) कहलाता है, जिसे व्यवहार में 'संचित–संस्कार' कहा गया है।

प्रक्रमकर्म्मगर्भित–अभिक्रमकर्म्मों की समष्टिरूप 'संचितसंस्कारसमष्टि' ही कर्म्मव्यूह है, एवं इन्हीं के उपरामण का हमें विचार करना है। कर्म्मव्यूहात्मक जन्मान्तरीय संचितसंस्कारपुञ्ज में से प्रवर–जन्मप्रवृत्ति के मूलभूत किसी एक अभिक्रमकर्म्मसंस्कार का व्यापार हुआ इससे जन्मरूप भोग हुआ। आगे चल कर कोई संचित अभिक्रमकर्म्म का व्यापार आयुर्भोग का मार्ग बना कोई सांसारिक सम्पत्तिरूप मार्ग बना, कोई सुखभोग का, कोई दुःखभोग का, कोई भोगमार्ग का प्रवर्त्तक बना। जो जिसका प्रवर्त्तक बनता गया, वह अभिक्रमकर्म्म क्षीण होता गया। संचितकर्म्मव्यूह में से भोगानुगत (व्यापाराधीन) बने हुए इन कतिपय अभिक्रमकर्म्मों की समष्टि ही 'प्रारब्धकर्म्म' नाम से व्यवहृत हुई जिसका अवसान केवल भोग पर ही माना गया है।

---

* गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि'–'प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः' के अनुसार प्रारब्ध–अभिक्रमकर्म्मों की निवृत्ति एकमात्र उपभोग पर ही निर्भर है। जिस समत्वयोगलक्षण निष्कामकर्म्म योग को सर्वश्रेष्ठ-श्रेष्ठ कहलाया जाता है, वह भी प्रारब्धकर्म्मों को निःशेष बनाने में एकान्ततः असमर्थ ही है। जब तक तीर हाथ में है, तभी तक उसे रोका जा सकता है। जब तीर हाथ से निकल गया तब उसे रोकना तीरन्दाज की शक्ति के बाहिर है। ठीक यही अवस्था यहाँ समझिए। सञ्चितसंस्कारव्यूह के अभिक्रमकर्म्म जब तक व्यापारानुगामी नहीं बन जाते, जब तक वे सञ्चित बने रहते हैं, एवं तब तक उनका समत्वयोग से नियन्त्रण भी किया जा सकता है। परन्तु जब वे अभिक्रमकर्म्म व्यापारोन्मुख बन जाते हैं, आरब्ध हो जाते हैं, तब सिवाय भोग के अन्य किसी भी उपाय से उनका निवारण सम्भव नहीं है।

११६–भाग्यवाद की जटिल समस्या, और उसका निराकरण—

आज का भाग्यवादी भारतीय प्रजा के सम्मुख आज एक बड़ी जटिल समस्या उपस्थित कर रहा है। प्रसङ्गोपात्त उसका भी निराकरण कर लेना चाहिए। सर्वसाधारण के मुख से यह सुना जाता है कि 'जैसा हमारे भाग्य में लिखा है हमें वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। भाग्य की रेखा कभी नहीं मिट सकती"। इसी किंवन्ती के आधार पर यह प्रश्न खड़ा होता देखा गया है कि "जब कि भाग्य में लिखा मिट नहीं सकता तो सुखप्राप्ति के लिए शास्त्रों में विहित-धर्म्म-कर्म्म अनुष्ठान जप, आदि विधि-विधानों का क्या प्रयोजन ?" एक मनुष्य रोगी हुआ है अपने भाग्य से। रोग मिटना लिखा होगा, तो वह नियत समय पर मिट ही जायगा। यदि उसके भाग्य में यह लिखा होगा कि-'तुम्हारी इस रोग से मृत्यु होगी' तो वह भाग्यानुसार मर ही जायगा। यदि भाग्य में सुख पाना है, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि दुःख पाना लिखा है तो उसे कोई भी विधि–विधान मिटा नहीं सकता। फिर शास्त्रज्ञ आचार्यों का यह कहना कि, 'रोगशान्ति के लिए मृत्युञ्जय का जप करो अमुक अनु दान करो, दान करो,' इत्यादि का क्या अर्थ ?। भाग्यवाद की इसी समस्या में पड़ कर आज भारतवर्ष पुरुषार्थहीन बन गया है। यदि किसी ज्योतिषी ने यह आश्वासन दिला दिया कि–'तुम्हारे भाग्य में बहुत सम्पत्ति है,' तो तत्काल हम पुरुषार्थ को नमस्कार कर लेते हैं। क्या ज्योतिष का फलादेश मिथ्या है ?, क्या भाग्यवाद निस्तत्त्व है ? क्या विधि-विधान निरर्थक हैं ?, नहीं, सर्वथा नहीं। फिर भाग्यवाद का क्या अर्थ ? तब तो कर्म्मवाद को ही प्रधान मानना चाहिए। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें पहिले 'भाग्य कहते किसे हैं ?' इस प्रश्न की ही मीमांसा करनी चाहिए।

प्रथम–अभिक्रमात्मक जन्मान्तरीय सञ्चितसंस्कारव्यूह का नाम है–'भाग्यवाद,' एवं वर्तमानजन्मानुगत कर्म्मव्यूहों का नाम है–'कर्म्मवाद,' जो उत्तरजन्मक बनते हैं एवं जो संस्काररूप भाग्यवादरूप में परिणत होता जाता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि पूर्वजन्म में हमनें जैसे शुभ–अशुभ कर्म्म किए वे उनसे उत्पन्न शुभ–अशुभ संस्कारों में से कुछ का तो पूर्वजन्म में ही भोग-द्वारा क्षय हो गया। अभिक्रमानुगत-परम्पराक्रम में जिनके भोग का पूर्वजन्म में अवसर नहीं आया वे संस्कार आत्मा में सञ्चित रह गए। इन पूर्वजन्मानुगत–शुभाशुभ–कर्म्मसंस्कारों की समष्टि ही भारतीय परिभाषा में–'भाग्य' नाम से व्यवहृत हुई–'भाग्यं कर्म्म शुभाशुभम्' (जन्मान्तरकृतशुभाशुभकर्म्मभिरुत्पन्ना अतएव 'कर्म्म' नाम्नैव प्रथिता'–भोगवञ्चिता' शुभाशुभसंस्काराः–भाग्यम्)।

प्रकृति के अनुसार तो यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वजन्म में सञ्चितसंस्काररूप 'भाग्य' के अनुसार ही सुख-दुःख-रोगादि की प्रवृत्ति होनी चाहिए। और ऐसा ही होता भी है। परन्तु जो भाग्य वर्तमान जन्म की प्रवृत्ति बनता है उसके सञ्चितभाग्य, प्रारब्धभाग्य भेद से दो विभाग हो जाते हैं। जो सञ्चित अभिव्यक्त्यात्मक भाग्य (संस्कार) व्यापाराधीन नहीं बनता वह तो सञ्चितभाग्य है एवं जो अभिव्यक्त्यात्मक भाग्य (संस्कार) फल पकड़ता है वह प्रारब्धभाग्य कहलाता है। सञ्चितभाग्य को उपायविशेष से नियन्त्रित किया जा सकता है किन्तु प्रारब्धभाग्य का किसी भी उपाय से निरोध सम्भव नहीं है। यदि हमने कोई उपाय नहीं किया, तो उभयविध भाग्य प्रारब्धरूप से मुक्त होकर ही भोग्य बनेगा। यदि उपाय किया तो सञ्चितभाग्य की चिकित्सा हो सकेगी। 'भाग्य का लिखा टलता नहीं' इस किंवदन्ती का उपाय न करने की दशा में यह अर्थ होगा कि-'उभयविध भाग्य का लिखा टलता नहीं'। एवं उपाय करने पर यह अर्थ होगा कि-'सञ्चितभाग्य का लिखा उपाय से टल सकता है किन्तु प्रारब्धभाग्य का लिखा नहीं टल सकता'। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि शास्त्रोक्त विधि-विधानों से सञ्चितभाग्यरूप दुष्कृत को सुकृतरूप में परिणत किया जा सकता है। क्या प्रारब्धभाग्य के सम्बन्ध में विधि-विधान सर्वथा निरर्थक हैं ?। नहीं। यह तो सत्य है कि विधि-विधान प्रारब्धभाग्य को क्षीण नहीं कर सकते और एतावता ही यदि विधि-विधानों को निष्प्रयोजन बतलाया जाय, तब भी ठीक है। परन्तु विधि विधानों से आत्मा में एक ऐसा सबल संस्कार उत्पन्न हो जाता है जिसके प्रवेश से आत्मा सबल हो जाता है। इस सबलता का फल यह होता है कि विधि-विधानों के अभाव में प्रारब्धभाग्यवश निर्बल बना हुआ जो आत्मा प्रारब्धभाग्य के भोग से अविद्यावश से केन्द्रविच्युत बनता हुआ कातर हो जाता है विधि-विधान-कर्म्म जनित सुकृतसंस्कारबल से आत्मा की वह निर्बलता नष्ट हो जाती है। और वह शान्तिपूर्वक प्रारब्धभाग्यानुगत भोगों को भोगने में समर्थ हो जाता है। मान लीजिए-किसी को प्रारब्धभाग्यवश शनैश्चरदशा का सामना करना पड़ा। ज्योतिर्विद ने आदेश दिया तुम नीलम पहिनो। नीलम पहिनने से महादशा का भोग रुक जायगा यह बात तो नहीं है। प्रारब्धभाग्यवश महादशा का फल तो इसे अवश्य भोगना पड़ेगा। परन्तु इस भोग से होने वाली अशान्ति से यह अवश्य बचा रहेगा। क्योंकि नीलम में शनिप्राण की प्रधानता है। इसे धारण करने से यथाऽऽकर्षणसिद्धान्तानुसार नीलमगतप्राणीय शनिप्राण का सीधा आक्रमण इस नीलम पर होगा। और इसप्रकार शनिदशाऽनुगामी आत्मा शनिप्राण के साक्षात् आक्रमण से बचा रह जायगा। प्रारब्धभाग्यजनित अनिवार्य्य भोगों में भी हमारा आत्मा अपनी स्थिति से च्युत न होकर अपितु वह धैर्य्यपूर्वक-शान्तिपूर्वक इनके अनुगमन में समर्थ हो जाय, एकमात्र इस शान्ति-स्वरूपरक्षा-भावापत्ति के लिए ही अनिवार्य्य भाग्य के सम्बन्ध में भी महर्षियों ने विधि-विधानों की उपयोगिता स्वीकार की है। मानते हैं विधि-विधानों से सञ्चित भाग्य के प्रारब्धभाग्यरूप अभिक्रम (व्यापार शील सांस्कारिक पुरुषार्थकर्म्म) का नाश सम्भव नहीं है। परन्तु विधि-विधानाभाव में इन प्रारब्धभाग्यजनित भोगों से आत्मा निर्बल बना रहता हुआ जैसे प्रत्यवायोन्मुख (पतनोन्मुख) बना रहता है वैसे विधि विधानानुगमन में इस अभिक्रम के रहते पर भी सबलता के कारण यह प्रत्यवायोन्मुख नहीं बनने पाता। विधि-विधान-जनित सुकृत संस्कारात्मक धर्म्मभाग अभिक्रम (प्रारब्ध) को नष्ट करने में असमर्थ रहता हुआ भी लोकमायानुसार भाग्यगित मिटाने में असमर्थ रहता हुआ भी आत्मा को प्रत्यवाय से बचाने में अवश्य समर्थ हो जाता है और इसप्रकार प्रारब्धकर्म्मों के लिए आदिष्ट विधि-विधानात्मक अनुष्ठानादि कर्म आत्मा को एक प्रकार के भय से बचाने में समर्थ हो जाता है। अभिक्रमात्मक प्रारब्धभाग्य से सम्बन्ध

रखने वाले शान्ति-स्वस्त्ययन-प्रवर्त्तक विधि-विधानात्मक-धर्म्म की इसी उपादेयता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
—गी० २।४०।

निष्कर्ष यह निकला कि, धर्म्म-कर्म्म-उपासना-अनुष्ठानादि सत्कर्म्मों से सञ्चितभाग्य का अवरोध हो जाता है, प्रारब्धभाग्यजनित भोग भोगने का बल प्राप्त हो जाता है। यही इन विधि-विधानों की अनिवार्य्य (सञ्चितभाग्यापेक्षया) और आपेक्षिक (प्रारब्धभाग्यापेक्षया) उपयोगिता है। एक तत्त्व का और विश्लेषण कर लीजिए। मान लीजिए, एक व्यक्ति प्रारब्धकर्म्मवश रुग्ण हुआ, जिसका भोग केवल रुग्णता पर विश्रान्त है। इस प्रारब्धकर्म्म से व्यक्ति रुग्ण अवश्य हो गया है किन्तु इससे मृत्युभोग नहीं है। कौन जानता है कि—रोगात्मक भोग के जनक इस प्रारब्ध अभिक्रम के रोगात्मक भोगरूप से क्षीण होते ही सञ्चित-भाग्यव्यूह में से वह अभिक्रम प्रारब्धरूप में परिणत होने वाला है जिसका भोग है-'मृत्यु'। यदि प्रारब्ध कर्म्मदशा में वह व्यक्ति मृत्युञ्जयादि विधि-विधान कर रहा है अथवा तो तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण से करवा रहा है, तो तज्जनित सुकृतबल से (आगे जाकर प्रारब्धभाग्यरूप में परिणत हो जाने वाला, किन्तु) अभी सञ्चितभाग्यरूप में ही परिगत मृत्युभोगजनक, सञ्चित (किन्तु प्रारब्धोन्मुख) वह अभिक्रम क्षीण बन जाता है। इसप्रकार प्रारब्धभाग्यजनित रोगात्मक भोग में बलप्रदानद्वारा शान्तिप्रदान करने के साथ साथ इसके बल से रोगी मृत्युभोगजनक सञ्चित भाग्य के चयद्वारा महाभयरूप मृत्यु से भी त्राण पा सकता है। किस समय कौन सा सञ्चित अभिक्रम प्रारब्धरूप में परिणत होकर क्या अनिष्ट कर देता है ? यह हम सामान्य व्यक्तियों के लिए जैसे अज्ञात विषय है, एवमेव शास्त्रीय विधि-विधानों से जनित सुकृत संस्कारबल किस समय किस सञ्चितभाग्य, और प्रारब्धभाग्य में क्या परिवर्त्तन कर देता है ?, यह भी अज्ञात विषय ही है। तभी तो इस संस्कारिक भाग्यवाद को 'अदृष्ट' कहा गया है। मान लीजिए-सुकृतसंस्कारजनक अनुष्ठानादि धर्म्म-कर्म्मों से न तो रोगभोगात्मक प्रारब्धभाग्य में ही कोई शान्ति मिली न मृत्युभोग का ही अवरोध हो सका। फिर भी इसे निरर्थक इसलिए नहीं माना जा सकता कि इस धर्म्मानुष्ठान से उत्पन्न सुकृत संस्कार इस जन्म में न सही, किसी न किसी जन्म में प्रारब्धदशा में आकर अवश्य ही सुखानुगामी बनेगा। धर्म्मपथ प्रत्येक दशा में अभ्युदयजनक ही है। इससे यदि तात्कालिक फल नहीं होता, तो एतावता ही इसे अनुपादेय नहीं ठहराया जा सकता। शास्त्रोक्त विधि-विधानात्मक धर्म्म-पथ की इसी सार्वकालिक-आवश्यक उपादेयता का समर्थन करते हुए भगवान् कहते हैं—

पार्थ ! नैवेह, नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतोंल्लोकान्-उषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
—गीता ६।४०,४१।

प्रारब्धकर्म्म की अतिशय प्रबलता से मान लीजिए आजन्मजीवन धर्म्ममार्ग का अनुसरण करते हुए भी एक परम धार्मिक व्यक्ति जीवन पर्य्यन्त दुःखी ही बना रहा। क्या ऐसे व्यक्ति के धर्म्मजनित सुकृत व्यर्थ चले गए ?। भगवान् कहते हैं—नहीं। इन सुकृत–संस्कारों के बल से इसे परलोक में सद्गति प्राप्त होगी। एवं उत्तर जन्म में श्रीसम्पन्न कुल में यह जन्म लेगा। 'अच्छा' तथा 'अच्छा' ही रहेगा। मलेरिया न रहने पर खाया हुआ कुनैन अपने संस्कारबल से प्रारब्धवश होने वाले मलेरिया को अवश्य ही निर्बल बना देगा। इसीलिए तो भगवान् ने कहा है कि, प्रारब्धकर्म्मवाद (भाग्यवाद) की समस्या सुलझाने में बड़े बड़े विद्वान् भी कुण्ठित हो जाते हैं। मानवीय मन अपने बल पर इनका इदमित्थमेव निर्णय कर डाले यह असम्भव है। जिन तत्त्ववेत्ताओं ने अपनी योगदृष्टि से इन तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, उनका वचनरूप शास्त्र ही हमारे लिए अभ्युदय का एकमात्र निरापद पन्था है। कितना भी स्पष्टीकरण किया जाय तथापि प्रारब्ध तत्त्वज्ञानशून्यों के लिए मादृश प्रारब्धतत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति के द्वारा किया गया यह 'प्रारब्धतत्त्वसमस्यासमन्वय' सर्वात्मना सन्तोषजनक नहीं बन सकता—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' इत्येव शरणीकरणीयम् *।

११७—समत्वोपाय की सर्वव्यापक-श्रेष्ठता—

प्रकृतमनुसरामः। 'भोग रूप प्राकृतिक उपाय से प्रारब्धभाग (प्रारब्धसंस्कार) तो अवश्य क्षीण हो जाते हैं, परन्तु सञ्चितभाग (अनारब्ध संस्कार) ज्यों के त्यों सुरक्षित रह जाते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि, इस प्राकृतिक भोगक्रम से इस जन्म में न सही, तो किसी न किसी जन्म में तो सञ्चित संस्कारों का क्षय हो ही जायगा। फिर पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता ?। पाश्चात्यशिक्षासंस्कार से सुसंस्कृत एक मित्र सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर विनोद में कहा करते हैं कि—"भाई जब तुम यह कहते हो कि, बिना प्रयास के भी एक दिन सञ्चित संस्कारों का प्रारब्धद्वारा होने वाले भोग से एकान्ततः उपक्षय हो ही जायगा तो फिर हम धर्म्म–कर्म्म के पचड़े में हम क्यों पड़ें। ये कर्म्माचरण करने वाले पीछे कभी मुक्त हो जायेंगे हम थोड़ी देर में स्वयं पहुँचेंगे"। इस वाक्य-विनोद को इसलिए हमें निःसत्त्व मानना पड़ेगा कि विधि विधानात्मक धर्म्माचरणलक्षण पुरुषार्थ न करने से प्रारब्धकर्म्मजनित शुभा-शुभभोग अविरामरूप से आत्मा को उत्पीड़ित करते रहेंगे। धर्म्म–कर्म्म के पचड़े के अतिरिक्त दूसरा जो भी कुछ हम करेंगे, करते हैं, वह अकर्म्म–विकर्म्म का ही तो पचड़ा माना जायगा। उनके अनुसार ! वे कामनाएँ तो विशेषरूप से उद्बुद्ध होंगी ही, इसके अतिरिक्त विनोद-प्रेमी मित्रों का यह दुःस्वप्न भी टूट जायगा कि सञ्चित कर्म्मों का प्रारब्धरूप से स्वतः एवं भोग हो जायगा। सञ्चित कर्म्मों का भोग अवश्य हो जायगा परन्तु वर्त्तमान जीवन में हम जो कर्म्म करेंगे, उनके तात्कालिक संस्कारों को हम कैसे, किस साधन से रोक सकेंगे ?। आगामी संस्कारों का आगमन न कभी निरुद्ध होगा, एवं न मित्रों का दुःस्वप्न कभी सत्य हो सकेगा।

---

* भाग्यवाद और पुरुषार्थवाद की विस्तृत तात्त्विक मीमांसा के लिए देखिए—[illegible] सामयिक निबन्ध का 'दुःखस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय खण्ड।

१

तात्पर्य्य—गुणानुगत भोग–उपाय से प्रारब्धकर्म्ममात्र का ही क्षय होगा। सञ्चित का एवं आगामी कर्म्म, इन दो का क्षय भोगोपाय से न हो सकेगा। सात्त्विक संस्कारभोग सुखात्मक है, राजस संस्कारभोग दुःखात्मक है, एवं तामस संस्कारभोग मोहात्मक है यह पूर्व में कहा जा चुका है। तीनों गुण परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। तीनों में अनन्य शत्रुता है। तीनों परस्पर एक दूसरे का अभिभव करते रहते हैं। बढ़ा हुआ सत्त्वगुण रजस्तमोगुणों का, बढ़ा हुआ रजोगुण सत्त्व–तमोगुणों का, एवं बढ़ा हुआ तमोगुण सत्त्व–रजोगुणों का अभिभव करता रहता है। तीनों इस अभिभवधर्म्म से परस्पर शत्रु अवश्य हैं, परन्तु चमत्कार यह है कि, तीनों एक दूसरे के आश्रित बने रहते हैं। रजस्तम को मूल बना कर ही सत्त्वगुण प्रतिष्ठित रहता है, सत्त्व–तम को मूल बना कर ही रजोगुण विकसित होता है एवं सत्त्व–रज को आधार बना कर ही तमोगुण स्वव्यापार में समर्थ बनता है। गुणप्रसङ्ग में माता को पुत्रजननप्रयुक्त परम सुख भी है, एवं जननप्रयुक्त कष्ट भी है। हमारा सत्त्वानुगत प्रत्येक सुख दुःखमूलक है, रजोऽनुगत प्रत्येक दुःख सुखमूलक है, एवं तमोऽनुगत प्रत्येक मोह सुखदुःखमूलक है। इसप्रकार परस्पर आश्रयता, परस्पर अभिभव, परस्पर मिथुनता को आगे कर के ही तो गुणानुगता भोगत्रयी प्रवृत्त होती है, जैसाकि—'अन्योऽन्याभिभव-आश्रय-जनन-मिथुन-वृत्तयश्च गुणाः' (सांख्यकारिका) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्त से भी प्रमाणित है। भोगानुगत सत्त्वगुण मलिनसत्त्व है। शुद्धसत्त्व गुणमर्य्यादा से अतीत है। मलिनसत्त्वानुगत कर्म्म गुणात्मक बनते हुए जहाँ बन्धन के प्रवर्तक हैं वहाँ शुद्धसत्त्वानुगत कर्म्म गुणात्मक बनते हुए बलवद्योगात् बन्धननिवर्त्तक माने गए हैं।

जैसे गुणानुगत भोग से प्रारब्ध का उपक्षय होता है, वैसे प्रतिबन्धकत्व नामक दूसरे उपाय से सञ्चित संस्कारों का उपक्षय नहीं होगा, अपितु अभिभवमात्र होगा। 'पुण्येन पापमपनुदति पापेन पुण्यमपनुदति' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार कर्म्म जनित पुण्यसंस्कार से सञ्चित अशुभ संस्कारों का अभिभव हो जायगा। तात्पर्य्य-भोगोपाय में प्रारब्धात्मक पुण्य–पापात्मक दोनों संस्कारों का उपक्षय होता है। एवं प्रतिबन्धक उपाय से पाप, अथवा तो पुण्य, दोनों में से एक सञ्चित संस्कार का अभिभव होता। यहाँ आकर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, धर्म्माचरणात्मक प्रतिबन्धकत्व नामक उपाय भी आत्मबन्धमुक्ति का कारण नहीं बन सकता। शास्त्र-सिद्ध धर्म्माचरण ही कर्म्म योग है। कामनामय इस कर्म्म योग से माना कि प्रारब्धभोगों में आत्मा उत्पीड़ित नहीं होता। साथ ही सञ्चित संस्कारों में से अशुभ संस्कारों का अभिभव भी हो जाता है। परन्तु इससे न तो सञ्चित संस्कारों का आत्यन्तिक उच्छेद ही होता, एवं न आगामी संस्कारों का ही निरोध होता। अतएव—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा—अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म' के अनुसार यज्ञ–तपो–दान–इष्ट–आपूर्त-इत्यादि-लक्षण धर्म्मात्मक शास्त्रीय कर्म्म भी कामना के सम्बन्ध से गुणात्मक बनते हुए पुरुष के परम पुरुषार्थ-लक्षण आत्मबन्धनविमोक के कारण नहीं बन सकते। प्रतिबन्धोपाय में परम्परया प्रचलित कर्म्म यागनिष्ठा के इस काम–प्राप्तिलक्षण गुणभाव को लक्ष्य बना कर ही भगवान् ने 'त्रैगुण्यविषया वेदाः'—'कामात्मानः स्वर्गपरा' — 'भोगैश्वर्य्य-प्रसक्तानाम्'—इत्यादि रूप से इस काम्यकर्म्म योग का पूर्ण विरोध किया। और साथ ही इस सम्बन्ध में यह संशोधन अनिवार्य्य माना कि, त्रिगुणभाव–निराकरण के लिए तुम्हें अपने इस धर्म्म पथ से कामना का बहिष्कार करना पड़ेगा। कामनिर्गमन से प्रवृत्तिमूलक यह कर्म्म निवृत्तिमूलक बन जायगा। एवं निवृत्तिमूलक ऐसा कर्म्म निष्कामकर्म्मयोग बन जायगा, जिससे आगामी संस्कारों का भी निरोध हो जायगा, सञ्चित संस्कारों का भी उपक्षय हो जायगा, एवं प्रारब्धभोग–मुक्ति में आत्मा निर्लिप्त भी न

होगा। यही वह तीसरा 'समत्व' नामक उपाय है जो अपने इसी अतिशय से योग, और काम्यकर्म्मयोगात्मक प्रवित्तिधर्म नामक दोनों उपायों की अपेक्षा ज्येष्ठ, तथा श्रेष्ठ बन रहा है।

११८–निष्कामकर्म्मयोगलक्षण समत्वयोग–

काम्यकर्म्म योग प्रवृत्तिकर्म्म है, एवं यह मलिन सत्वानुगत है। अतएव यह स्वयं भी संस्कारबन्धनप्रवर्त्तक बन रहा है, तथा आगामी संस्कारबन्धननिवृत्ति में भी यह असमर्थ है। हाँ केवल सञ्चित संस्कारों का अभिभव इससे सम्भव है। निष्कामकर्म्मयोग निवृत्तिकर्म्म है, यह शुद्ध सत्वानुगत बनता हुआ गुणातीत है। अतएव यह स्वयं भी संस्कारबन्धननिरपेक्ष है एवं आगामी संस्कारबन्धन का भी अपरोधक है तथा इससे प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि-द्वारा सञ्चित संस्कारों का भी आत्यन्तिक उपक्षय हो जाता है। जो कर्म्म कर रहे हैं, वे आगे जाकर सञ्चित-संस्काररूप में परिणत होते हुए आत्मबन्धन के कारण न बनें जो पहिले से सञ्चितकर्म्म हैं-वे प्रारब्धरूप में परिणत न हो कर तत्रैव नष्ट हो जावें प्रारब्धकर्म्म जनित भोगों से आत्मा उत्पीड़ित न हो, यह कर्म्ममोचन विधि एकमात्र इस निष्कामकर्म्म योग पर ही निर्भर है। आत्मा स्वरूपतः से सच्चिदानन्दघन है। आनन्द विज्ञान तथा तीनों आत्मा के अमृतधर्म्म हैं। एवं विनाश, बन्ध दुःख ये तीनों मृत्युधर्म्म हैं। जब तक प्रवृत्तिप्रधान काम्यकर्म्म का साम्राज्य है तब तक तीनों मृत्युधर्म्म सुरक्षित हैं, अतएव तब तक अमृतधर्म्म का विकास असम्भव है। धर्म्म पथ वही अमृतात्मक है जो निवृत्तिप्रधान है। निवृत्तिप्रधान निष्कामकर्म्म योगा-नुष्ठान से आत्मा में संस्कारबन्धनरूप से अभिनिविष्ट वासना का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है एवं सत्यात्मक सत्ताविरोधी विनाश विज्ञानविरोधी बन्ध तथा आनन्दविरोधी दुःख तीनों मृत्युधर्म्मों से आत्मा छुटकारा पा जाता है। यही निष्कामकर्म्मयोग बुद्धिगत, अतएव आत्मगधर्म्मसम्बन्ध से 'धर्म्मबुद्धियोग' कहलाया है, जिसका मौलिकस्वरूप अनुष्ठानप्रकार तथा अन्यान्य अतिशय बतलाने वाली विद्या ही 'आर्षविद्या' कहलाई है।

११६–धर्म्मयोग, और धर्म्मबुद्धियोग—

लोकप्रचलित–काम्यकर्म्मयोग पुनरावृत्ति संस्कारों का जनक बनता हुआ 'धर्म्मयोग' अवश्य है। परन्तु कामना (जीवेच्छा) की प्रधानता से इससे इस धर्म्मयोग में श्रुतिप्रमाणातिक्रम, अतएव अवज्ञा, अतएव च अभिनिवेशात्मकसंस्कारबन्धननिवर्त्तिका विद्याबुद्धि का सम्बन्ध है विद्यायोग से साक्षात् योग नहीं हो पाता। अपितु कामनात्मक संस्कारबन्धनरूप अभिनिवेश से यह बुद्धि अपने आपको कामनात्मक मन के प्रति समर्पित करती हुई अपने सहज श्रुतिप्रमाणधर्म्म से वञ्चित होकर अन्तत के अविद्याभाव की अनुगामिनी बन जाती है। 'बुद्धियोग' सम्बन्ध से वञ्चित ऐसा धर्म्मयोग कामनाप्राधान्य से स्वर्गादि सुखों का साधक बनता हुआ भी अपने कामनात्मक त्रिगुणभाव से अन्ततः आत्मबन्धन का ही कारण बना रह जाता है। एवंविध कर्म्मयोग ही भगवान् की दृष्टि में त्याज्य सिद्ध हुआ है। कर्म्मयोग की इस अभिनिवेशात्मिका विभीषिका से बचाने के लिए सांख्यवादियों ने यह उपाय हमारे सामने रक्खा कि कर्म्म का एकान्ततः *परित्याग कर देना चाहिए। सांख्यनिष्ठों के इस उपाय का भगवान् ने प्रबल शब्दों में इसलिए खण्डन* किया कि, कर्म्म आत्मा का स्वरूप है अतएव उसका एकान्ततः परित्याग असम्भव है। इसके अतिरिक्त कर्म्म अपने स्वरूप से स्वयं बन्धन का भी कारण नहीं है। कर्म्मत्याग अनभिमत कर्म्म बन्धन का कारण नहीं, कर्म्म त्यागभ्यास में लोकसंग्रहात्मक लोक–अभ्युदय का अभाव, इन्हीं तब कारणों से कर्म्मात्यन्तविमोक्ष-

सर्वथा सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) का कोई महत्त्व नहीं। काम्यकर्म योग प्रत्येक दशा में बन्धन का कारण, कर्म त्यागलक्षणा ज्ञानयोग असम्भव, ऐसी दशा में हम किस मार्ग का अनुसरण करें ?, इसी प्रश्न के समाधान के लिए भगवान् ने निष्कामकर्म योग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। शास्त्रसिद्ध, वर्णाश्रमानुगत आधिकारिक व यथावत कर्मों को ईशकामानुगत बना देने से काम्यकर्मयोग निष्कामकर्म योग बन जाता है। और ऐसे कर्म योग से उत्पन्न संस्कार अभिनिवेशात्मक बन्धन के कारण नहीं बन पाते। अपितु बन्धन निवर्त्तक बन जाते हैं। जिस प्रकार राजर्षिविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'अनासक्ति' है, ब्रह्मविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'ईश्वरानन्यता' है, सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'अन्तर्ज्योति' है, एवमेव इस आर्षविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'निष्कामकर्म' माना गया है। ज्यों ज्यों आप समदर्शनानुगत-विषमवर्त्तनात्मक निष्कामकर्म रूप धर्म का अनुगमन करते जायेंगे त्यों त्यों अभिनिवेशात्मक संस्कारबन्धन शिथिल होते जायेंगे। यही इस धर्मबुद्धियोग की साध्यावस्था कहलाएगी। अभिनिवेश की आत्यन्तिक निवृत्ति पर धर्मबुद्धियोगानुगता बुद्धि ब्रह्म के साथ युक्त होती हुई सिद्ध-धर्म बुद्धियोगसम्पत् प्राप्त कर लेगी। इसप्रकार धर्मबुद्धियोगैकसाध्य धर्म बुद्धियोग से कालान्तर में सिद्धधर्मबुद्धियोग प्राप्त हो जाएगा। लाभालाभ, जयपराजय, शुभाशुभ, आदि सांसारिक द्वन्द्वभावों से जिसे आप विचलित न पायें, जिसे आप सदा लोक-अभ्युदय के लिए कर्म में प्रवृत्त देखें जिसे सदा आत्मप्रसाद से सम्पन्न देखें समझ लीजिए उसने धर्मबुद्धियोग-निष्ठा प्राप्त करली। एवंविध योगी ही गीतापरिभाषानुसार 'कर्म योगी' है। एवंविध योग ही गीतासम्मत कर्मयोग है जिसका निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से समर्थन हुआ है—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
>
> —ईशोपनिषत्

१२०–धर्ममार्ग, और नीतिमार्ग–

एवंविध धर्म बुद्धियोग ही भारतीय 'समत्वयोग' है जिसे वर्त्तमानभाषा में हम 'साम्यवाद' कह सकते हैं जिसका 'धर्मनीतिमूलक साम्यवाद' नामक पूर्व परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। जिसका निष्कर्ष यही है कि धर्म मूला नीति ही भारतीय साम्यवाद है जिसका आधार विधाता बना हुआ है। धर्म मूला नीति ही भारतीय राजनीति है, जो धर्म में ही अन्तर्भूत है। अतएव राजनीति का सञ्चालक भारतीय शासक वस्तुतः वहाँ धर्म का ही संरक्षक माना गया है। वर्त्तमान युग में शिक्षित प्रजा जिसे राज-नीति कहती है वह राजनीतिपथ भारतीय परिभाषा में अधर्मपथ ही कहलाया है। क्यों कि धर्मवञ्चिता अधर्मसिक्ता ऐसी राजनीति से कभी आत्मशान्ति नहीं मिल सकती। 'पोलीटिक्सि' नाम से प्रतीच्यमात्र में प्रसिद्ध राजनीति को आधार बनाने वाला विषमदर्शनानुगत-समवर्त्तनात्मक कल्पित साम्यवाद वस्तुगत्या विषमवाद ही है, जिसका मूल आधार भूतोत्पत्ति ही माना गया है जो कि भूतोत्पत्ति 'उत्-नति' निर्वचन के अनुसार आरम्भदशा में भूतसमृद्धि का कारण बनती हुई भी अन्ततोगत्वा समूलविनाश का ही कारण बनती है, जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है–

> अधर्मेणैधते तावत् ! ततो भद्राणि पश्यति ।
> ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
>
> —मनु ४।१७४

पुरुष किस मार्ग से अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करे ?, इस प्रश्न के उत्तर में उसके सम्मुख धर्म और नीति, ये दो मार्ग उपस्थित होते हैं। धर्म्मसाधन धर्म्ममार्ग है, नीतिसाधन अधर्म्म मार्ग है। पिपीलिका से आरम्भ कर सर्वतो व्यायाम् स्वयम्भू पर्य्यन्त एकरूप से–अखण्डरूप से–अविभक्तरूप से व्याप्त अव्ययात्मा (ईश्वरात्मा) की आनन्द–विज्ञान–मनःप्राणो-मयलक्षणा विद्या (ज्ञान) एवं तत्प्रतिष्ठ प्राण–अप्–वाक्–अन्नाद-लक्षण कर्म्म ही अव्ययात्मा के स्वस्वधर्म्म कहलाए हैं। इन अव्ययविद्या-कर्म्मों को स्वस्वरूप से विकसित करने वाली धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य नाम की विद्याबुद्धिचतुष्टयी ही आत्मस्वस्वधर्म्म को विकसित करने के कारण 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत हुई है। विद्याबुद्धिचतुष्टयी से सर्वथा विरुद्ध अधर्म्म–अज्ञान–अनैश्वर्य्य–आसक्ति, लक्षणा अविद्याबुद्धिचतुष्टयी से क्योंकि अव्ययात्मा के आनन्दादिलक्षण स्वस्वधर्म्म स्वविकास से वञ्चित हो जाते हैं। अतएव इस अविद्याबुद्धिचतुष्टयी को 'अधर्म्म' नाम से व्यवहृत किया गया है एवं यही धर्म्म और नीतिलक्षण अधर्म्म की एक परिभाषा मानी गई है जिसका निष्कर्ष यही है कि, आत्मधर्म्मों को विकसित करने वाले कर्म्म धर्म्म हैं एवं आत्मधर्म्मों को आवृत करने वाले कर्म्म अधर्म्म हैं। सम्पूर्ण विश्व में एक अव्ययात्मा प्रतिष्ठित है 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' के अनुसार यही 'ईश्वर' कहलाया है। इस एक विश्वेश्वर को लक्ष्य बना कर विश्वात्मानुगत शान्ति–आनन्द–की प्राप्ति के लिए विश्वकल्याणार्थ किया जाने वाला कर्म्म धर्म्म है। योऽयमात्माऽनवच्छिन्न जीवात्मा प्रतिशरीर में विभक्त है। इस जीवात्मा को लक्ष्य बना कर जीवात्मानुगत शान्ति–आनन्द–की प्राप्ति के लिए व्यक्तिस्वार्थ किया जाने वाला कर्म्म ही अधर्म्म है। कारण स्पष्ट है। विश्वेश्वरानुगत विश्वाभ्युदय-साधक कर्म्म परमार्थकर्म्म बनता हुआ सर्वसमाज का अभ्युदयकारक है। एवं जीवानुगत व्यक्तिस्वार्थलक्षण कर्म्म स्वार्थकर्म्म बनता हुआ दूसरों के आत्मक्लेश का कारण है। आत्मीयत्व, किन्तु परस्वहानि प्रवर्तक होने से ही जीवानुगत कर्म्म अधर्म्म है। व्यक्तिस्वार्थलक्षण यही अधर्म्म नीतिरूप है। प्रत्यक्ष दृष्ट है कि व्यक्तिगत स्वार्थों में लिप्त नैतिक पुरुष अहोरात्र अध्यवसाय–व्यवसायलक्षण कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए भी परिणाम में सदा अशान्त ही बने रहते हैं। स्वप्न में भी इन्हें वास्तविक शान्ति (आत्मशान्ति) उपलब्ध नहीं होती। हाँ यह सच है कि, जिस प्रकार एक मद्यपी मद्यपान के अभ्यास से दुःखप्रद मद्यपानकर्म्म में शान्ति का अनुभव किया करता है, एवमेव व्यक्तिस्वार्थमूलक नीतिमार्गानुगामी नैतिक पुरुष चिर अभ्यास के अनुग्रह से इस अशान्ति–दुःख को ही शान्ति–सुख मान बैठता है। देखा गया है कि नैतिक पुरुष एक व्यक्ति की स्वार्थरक्षा के लिए, एक व्यक्ति की सुख-सुविधा के लिए अनेक व्यक्तियों की सुख-सुविधा की उपेक्षा कर देते हैं। न केवल उपेक्षा ही कर देते हैं अपितु व्यक्तिस्वार्थरक्षा के लिए यदि अनेकों की स्वार्थहानि भी होती है, तो उसे भी यह आवश्यक समझ लेते हैं। इनकी नैतिक बुद्धि अहर्निश इसी व्यापार में व्यग्र–अशान्त बनी रहती है कि कैसे अपना भला किया जाय ?, फिर चाहे अपने भले के लिए दूसरों का सर्वनाश ही क्यों न हो जाय। 'आत्मोदयः–परग्लानि–र्नीतिरित्यभिधीयते' इस सूत्र को लक्ष्य बनाने वाले ये नैतिक महापुरुष ! परहानिपूर्वक स्वकल्याण की कामना करते हुए परग्लानिप्रवर्त्तक कर्म्म के अनुग्रह से विश्व में अशान्ति का प्रचार करते रहते हैं, परस्पर मनोमालिन्य, क्रोध, ईर्ष्या मात्सर्य्य के जनक बनते रहते हैं। अपनी क्षुद्रबुद्धि से क्षुद्र स्वार्थ को प्रधानता देने वाले मूढोऽवलिप्तात्मा ऐसे नैतिकों की नीति से जब महाविप्लव के अवसर उपस्थित हो जाते हैं तो उस दशा में ये स्वतन्त्र बन जाते हैं। विश्वशान्ति के लिए जिन शान्ति–मार्गों का इनकी ओर से आविष्कार होता है दम्भात्मक उन उपायों से शान्ति के स्थान में अशान्ति ही अधिकमात्रा से प्रवाहित होती है। शान्ति के नाम

पर अशान्ति का प्रसार करना ही इन अवसरों पर इनका प्रधान पुरुषार्थ बन जाता है, जैसाकि धर्म्मबिम्बित, अतएव स्वार्थपरार्थमूला वर्त्तमाननीति के दुष्परिणामों से सर्वथा प्रमाणित है।

उधर धर्म्म मूला नीति में विश्वात्मा लक्ष्य बना रहता है। धार्मिक पुरुष का यह दृढ़ प्रत्यय रहता है कि, सब शरीरों में वह एक ही ईश्वरात्मा प्रविष्ट है। अतएव उनकी यह निष्ठा हो जाती है कि विश्वशान्ति से ही स्वात्मशान्ति-सुख सम्भव है। इस व्यापक निष्ठादृष्टि के प्रभाव से यह निःस्वार्थ विश्वाभ्युदयार्थ ही कर्म्मों में प्रवृत्त होता है। अतएव प्रारब्धकर्म्म जनित दुःखादि के आक्रमण होने पर भी इसकी धर्म्मात्मसंस्था स्वाभाविक शान्ति से च्युत नहीं होने पाती। यह विश्वास कीजिए कि, नैतिक पुरुषों के कर्म्म जहाँ भूतमात्राप्रधान हैं, वहाँ धार्मिक पुरुषों के कर्म्म प्राणमात्राप्रधान हैं। प्राण स्वस्वरूप से अमृत है, अतएव तत्प्रधान कर्म्म संस्कारबन्धन से पृथक रखते हुए भूतासक्ति में आत्मा को आसक्त नहीं होने देते। भूतसमृद्धि भी मिल जाती है और उसकी आसक्ति न होने से आत्मशान्ति भी सुरक्षित रह जाती है। ऐहलौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। एवं यही-'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' लक्षण धर्म्ममार्ग का सर्वोत्कृष्टत्व है। भूत स्वस्वरूप से मृत्यु है। अतएव तत्प्रधान कर्म्म संस्कार-बन्धन-प्रवृत्ति के कारण बन जाते हैं। मरने मर के लिए आरम्भ में भूतासक्तिपरायण नैतिक पुरुष भूतसम्पत्ति प्राप्त अवश्य कर लेते हैं। परन्तु प्राप्ति में, प्राप्त के संरक्षण में संस्कारबन्धन में, परग्लानि में शरीर आपाद-मस्तक इस भूतपराधता में अशान्ति का ही साम्राज्य रहता है। पार्थिव आधिभौतिक-पदार्थों से संश्रयित, अतएव केवल ऐहलौकिक क्षणिक सुखप्रवर्त्तक भूतमात्राप्रधान नीतिमार्ग में, एवं दिव्य-आधिदैविक तत्त्वों से संश्रयित, अतएव-उभयलौकिक शाश्वतशान्तिप्रवर्त्तक प्राणमात्राप्रधान धर्म्म मार्ग में यही महान अन्तर है जिसे लक्ष्य बना कर ही जीवनयात्रानिर्वाह के साधनभूत धर्म्म और नीति नामक दोनों मार्गों में से किसी एक का अनुसरण करना चाहिए।

१२१-आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगनिरूपण—

अनेक दृष्टियों से आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग के स्वरूप-विश्लेषण की चेष्टा की गई। 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्' (१३।४) के अनुसार मन्त्रद्रष्टा महर्षियों के द्वारा आविष्ट शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमानुगत कर्म्म' ही 'धर्म्म योग' कहलाया। भगवान् ने इसका लोकसंग्रहदृष्टि से सौम्य अपरत्व किया परन्तु संशोधन के साथ। श्रुतिसिद्धप्रकारानुगत कर्म्म योग स्वर्गादि काम्य फलों से अभिनिवेश का जनक बन रहा था। फलकामनात्मित-परित्याग को लक्ष्य बना कर भगवान् ने इस कर्म्म योग को बुद्धियोगत्व प्रदान की। इसी संशोधन से ऋषिसम्प्रदायप्रवर्त्तित वह कर्म्म योग 'निष्कामकर्म्म योगात्मक'-'धर्म्मबुद्धियोग' कहलाया जिसके समर्थक वचन-श्री मू बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथम खण्ड में उद्धृत कर दिए गए हैं (देखिए पृ० १८० से १८६ पर्य्यन्त)। धर्म्मबुद्धियोगानुगता आर्षविद्या का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

इति-बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मक द्वितीयप्रकरण

'धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामक

प्रथमसम्भः

(२)-१

श्री

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितियप्रकरणान्तर्गत

'धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथमस्तम्भ-उपरत

(२)-१

श्रीः

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
द्वितीयप्रकरणे
'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामक
द्वितीयस्तम्भ

(२)–२

में स्वच्छन्द विहार करता रहता है, एवमेव हृदयस्थ आत्मा अपने प्राणात्म से इस प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अतएव प्राणात्मक यह धाममण्डल हृदयस्थ आत्मा का 'विभूतिमण्डल' कहलाया है। यही मण्डल 'महिमामण्डल' नाम से व्यवहृत हुआ है। वस्तुपिण्ड हृदयस्थ आत्मा का पहिला प्रपश्चिस्थान (व्याप्तिस्थान) है अतएव विज्ञानभाषा में यह वस्तुपिण्ड 'पदम्' कहलाया है। बहिर्मण्डल आत्मा का द्वितीय प्रपश्चिस्थान है अतएव यह 'पुनःपदम्' कहलाया है। हृदय 'हृत्पृष्ठ' है, पिण्डात्मक 'पद' 'अन्तःपृष्ठ' है मण्डलात्मक 'पुनःपद' 'बहिःपृष्ठ' है। हृत्पृष्ठात्मक तत्त्व मनोमय आत्मा है यही उक्थ है, यही 'पशुपति' है। अन्तःपृष्ठात्मक तत्त्व प्राण है यही अर्क है यही 'पाश' है। बहिःपृष्ठात्मक तत्त्व वाक् है यही अशीति है यही 'पशु' है। मन प्राण–वाक् –उक्थ–अर्क–अशीति,–पशुपति–पाश–पशु, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध विश्वस्य यही तत्त्व 'प्रजापति' कहलाया है जो अपने हृत्पृष्ठ की अपेक्षा से अनिरुक्त, अन्तःपृष्ठ की अपेक्षा से स्वयंभू एवं बहिःपृष्ठ की अपेक्षा से सर्व नामों से प्रसिद्ध हुआ है। हृदय भी यही है अन्तःपृष्ठ भी यही है, बहिःपृष्ठ भी यही है– प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं किञ्च'।

३–ईश्वर के विविध विवर्त, और उसके विविध ऐश्वर्य–विवर्त–

प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुक्तप्रजापति ही तद्वस्तु का 'ईश्वर' है। इस उक्थात्मक हृद ईश्वर (अन्तर्यामी) का प्राण–वाङ्मय बहिर्मण्डल ही इसका 'ऐश्वर्य' है। महिमामण्डल ही ऐश्वर्य है। सौर प्रकाशमण्डल सूर्येश्वर का ऐश्वर्य है, चान्द्र ज्योत्स्नामण्डल चन्द्रेश्वर का ऐश्वर्य है। पार्थिव रथन्तरमण्डल पृथिवीश्वर का ऐश्वर्य है नभस्वान्मण्डल आत्मस्वेश्वर (स्वयम्भू) का ऐश्वर्य है सरस्वान्मण्डल पारमेष्ठ्य ईश्वर का ऐश्वर्य है। स्व पर सू च पृथिवी के केन्द्रस्थ ईश्वरों के नभस्वान् सरस्वान्–अरप्रकाश चान्द्रज्योत्स्ना–रथन्तरलक्षण ऐश्वर्यों को अपने ऐश्वर्यमण्डल में युक्त रखने वाला अपारपारीण विश्वस्रोत–परिवेष्टित अव्यक्त नामक गोलधीपुरुषेश्वर का ऐश्वर्यमण्डल अनाधनन्त पप्माकाश है। पप्माकाशात्मक ऐश्वर्य से युक्त महामायावच्छिन्न ऐसे ऐसे असंख्य ईश्वर, और उनके ऐश्वर्यों को अपने गर्भ में रखने वाला परात्परलक्षण परमेश्वर है। यही सर्वेश्वर है, और यही उसका सर्वैश्वर्य है। आत्मा ईश्वर है आत्मप्राणगर्भित वाङ्मण्डल ऐश्वर्य है। यही विभूति, वैखानस साहसी पुनःपद वषट्कार, महिमा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जीवात्मा भी ऐश्वर्यशाली उसी ईश्वर का अंश बनता हुआ आध्यात्मिक ईश्वरता से तदभिन्न है। अतएव सम्पूर्ण विश्वैश्वर्य उसी का ऐश्वर्य है। जीवेश्वर–तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा से जीवात्मा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का अधिष्ठाता बन रहा है। यही 'ऐश्वर्य' नाम की भग'-सम्पत्ति है जिसके सम्बन्ध से जीव में भगवत्ता का समावेश हो रहा है।

४–विभूति, एवं योग-लक्षण ऐश्वर्य–

विभूतिलक्षण ऐश्वर्य ही 'आत्मवित्त' माना गया है। यह आत्मवित्त, अन्तर्वित्त बहिर्वित्त, भेद से दो भावों में विभक्त है। प्राणप्रधान वित्त अन्तर्वित्त है भूतप्रधान वित्त बहिर्वित्त है। प्राण इन्द्रियवर्ग, शरीर स्त्री, पुत्र, आदि अन्तर्वित्त में अन्तर्भूत हैं। एवं मनुष्य पशु आदि चेतनद्रव्य, तथा अन्न, वस्त्र, आभरण उपान धातु (रुपया पैसा) आदि अचेतनद्रव्य दोनों का बहिर्वित्त में अन्तर्भाव है। आत्मा इन उभय वित्तों में विभूतिसम्बन्ध भोगसम्बन्ध तथा बन्धनसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। बहिर्वित्त–

सीमा पर्य्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है, इसी आधार पर श्रुति का "यावद्वित्तं, तावदात्मा" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का विभूति सम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य्य (आत्मविकास) पूर्णरूप से विकसित है। कारण-विभूतिसम्बन्ध असङ्गसम्बन्ध है। असङ्गधर्म्मावच्छिन्न पद्म जैसे जल में रहता हुआ भी जलासक्ति से पृथक् रहता है, एवमेव असङ्गधर्म्मावच्छिन्न आत्मा असङ्गलक्षण विभूतिसम्बन्ध से सङ्गधर्म्मावच्छिन्न विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयासक्ति से निर्लिप्त रहता है। यदि उभयवित्त के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का बन्धनसम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य्य सङ्ग-विषयासक्ति से आवृत होता हुआ अपना विकासात्मक ऐश्वर्य्यधर्म्म खो देता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, योग और विभूति, इन दो सम्बन्धों में ही अन्तर्बहिः-उभयविधानुगत आत्मा का ऐश्वर्य्य नामक भग स्वधर्म्मात्मक स्वस्वरूप से विकसित रहता है। अतएव भगवान् ने बुद्धियोग के विकास के लिए अव्ययात्मा के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों को ही उपादेय माना है। देखिए!

> एतां विभूतिं, योगं च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
> सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥
>
> —गी० १०।७।

५ ऐश्वर्य्य की साध्य, तथा सिद्धावस्थाएँ—

आत्मैश्वर्य्य ही वित्तैश्वर्य्य की प्रतिष्ठा है, एवं आत्मैश्वर्य्य ही भूतैश्वर्य्य की आधारभूमि है। स्थिति का यों स्पष्टीकरण कीजिए। आत्मा अपने भगधर्मात्मक से ऐश्वर्य्यशाली है विभूतिमान् है, महिमायुक्त है। ऐसे विभूतिमान् आत्मा के साथ युक्ता बुद्धि भी ऐश्वर्य्यशालिनी बनी रहती है। एवं विद्याबुद्धि से युक्त मन मानव संकल्प तथा विचारधारा, तद्युक्त ऐश्वर्य्यशाली बने रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में ही ऐश्वर्य्य रहता है। लोकभाषा में ऐसे व्यक्तियों के लिए ही 'निगमगौरव' उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्य्यविकास से इनका अन्तर्जगत् सर्वत्र पूर्णभाव के ही दर्शन करता रहता है। इस पूर्णभावना के आकर्षण से वस्तु-भूतैश्वर्य्य अपने आप इनका भोग्य बन जाता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर्जगत् में यह भावना रखते हैं कि, हम उस ऐश्वर्य्यशाली ईश्वर के अंश हैं हममें सब कुछ है, हमारा सब कुछ है उनकी इस अस्तिम् (त्) सद्भावना का नाम ही 'ऐश्वर्य्य' है। इसी आत्मैश्वर्य्यभावना से भूतैश्वर्य्य अनिमन्त्रित ही इनका क्रीतदास बन जाता है। ठीक इसके विपरीत जिनकी यह भावना रहती है कि, हम तो दरिद्री हैं हमारे पास क्या रक्खा है हमारे पास यह नहीं-यह नहीं, उनका आत्मैश्वर्य्य इस मनोभावनात्मक अनैश्वर्य्य से अभिभूत हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी नास्तिम् (त्) असद्भावना के अनुगामी पुरुषों का पहिले से विद्यमान भूतैश्वर्य्य भी उच्छिन्न हो जाता है एवं आत्मैश्वर्य्यमूलक आगामी भूतैश्वर्य्य से भी ये वञ्चित रह जाते हैं। जिस धर्म्म से आत्मा अपने ऐश्वर्य्यधर्म्म से विकसित होकर भूतैश्वर्य्य पर अपना प्रभुत्व रखने में समर्थ होता है विद्याबुद्धिमन्त्र वही धर्म्म ऐश्वर्य्य का हेतु बनता हुआ (आत्मैश्वर्य्योदय का कारण बनता हुआ) तात्कर्म्यन्याय से 'ऐश्वर्य्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। आत्मानुगत ऐश्वर्य्य महिमा-भगलक्षणात्मक है, यही सिद्ध ऐश्वर्य्य है, यही प्राप्तव्य है। बुद्ध्यनुगत ऐश्वर्य्य ऐश्वर्य्यसाधक ऐश्वर्य्य है, यही साध्य ऐश्वर्य्य है, यही 'ऐश्वर्य्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है, जो 'अस्मिताबुद्धि' नामकी अविद्याबुद्धि को हटा कर आत्मा के महिमालक्षण ऐश्वर्य्योदय का कारण बनती है।

श्री

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

द्वितीयस्तम्भ

१–अस्मिता के प्रतिद्वन्द्वी 'ऐश्वर्य्य' का स्वरूपोपक्रम–

ऐश्वर्य्य, और अस्मिता, दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या के स्वरूपपरिचय से पहिले इन दोनों का स्वरूप–परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। प्रत्येक वस्तुतत्त्व दृश्य, स्पृश्य, भेद से दो भागों में विभक्त रहता है। जिस वस्तु को हम अपने चर्म्मचक्षुओं से देखते हैं वही दृश्यभाग है, जो हमारी स्पर्शसीमा से बहिर्भूत है। जिस वस्तु को हम अपने हाथों से छूते हैं वही स्पृश्यभाग है, जो हमारी दृष्टिसीमा से बहिर्भूत है। जिसे हम देखते हैं, उसे छू नहीं सकते। एवं जिसे हम छूते हैं, उसे देख नहीं सकते। दृश्यभाग 'वस्तुपिण्ड' कहलाया है, स्पृश्यभाग 'वस्तुमण्डल' कहलाया है। वस्तुपिण्ड ऋग्वेदात्मक है, वस्तुमण्डल सामवेदात्मक है। दोनों के मध्य में मुक्त आत्मप्रधाना गतितत्त्व यजुर्वेद है। यजुर्वेद रस है, ऋक्–रूप पिण्ड सामरूप मण्डल दोनों बलोनाम हैं। रसलक्षण यजुर्वेद 'रसवेद' है, पिण्डलक्षण ऋग्वेद 'छन्दोवेद' है एवं मण्डललक्षण सामवेद 'वितानवेद' है। इन तीनों तात्त्विक वेदों का विशद वैज्ञानिक निरूपण उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्ड में द्रष्टव्य है। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, प्रत्येक पदार्थ को हम पिण्ड, और मण्डल, इन दो भागों में विभक्त पाते हैं। पिण्ड हमारे स्पर्श का लक्ष्य बनता है, मण्डल हमारी दृष्टि का विषय बनता है।

२–यजुर्म्मय वस्तु, ऋङ्मय वस्तुपिण्ड, एवं साममय वस्तुमण्डलात्मक सर्वमूर्त्ति प्रजापति–

वस्तुपिण्ड की मूलप्रतिष्ठा वस्तु का हृदय (केन्द्र–गर्भ) माना गया है। 'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' के अनुसार केन्द्र के आधार पर वस्तुपिण्ड प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र में प्रतिष्ठित आगति–गति–स्थिति–रूप अन्तर्य्यामी प्रजापति ही उस वस्तुपिण्ड के आदान–विसर्गात्मक कर्म्म की आधारभूमि बन रहा है। केन्द्रस्थ यही अन्तर्य्यामी विज्ञानभाषा में 'उक्थ' कहलाया है। यह उक्थतत्त्व ही वस्तुपिण्ड का आत्मा है, जो आत्मतत्त्व मन–प्राण–वाङ्मय माना गया है। मनोरूप से यह आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित रहता है, जैसाकि–'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि यजुःश्रुति से प्रमाणित है। उक्थरूप यह मनोमय आत्मा हृदय में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि पृथिवीकन्द (विषुवद्) के केन्द्र में उक्थ (बिम्ब) रूप सूर्य्य प्रतिष्ठित है। जैसे बिम्बात्मक (उक्थात्मक) सूर्य्य से चारों ओर रश्मियाँ विनिर्गत हैं, एवमेव इस उक्थात्मक मनोमय हृदयस्थ आत्मबिम्ब से प्राणरश्मिरूप रश्मियाँ धारागारेण समन्तात् विनिर्गत हैं। धारागारेण परिधि विस्तृत प्राणात्मक यही रश्मिमण्डल वस्तुपिण्ड का बहिर्म्मण्डल कहलाया है, यही सामवेद के सम्बन्ध से 'साममण्डल' कहलाया है। जिसप्रकार एक दाहक अपने रश्मिमण्डल

में स्वच्छन्द विहार करता रहता है, एवमेव हृदयस्थ आत्मा अपने प्राणरस से इस प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अतएव प्राणात्मक यह धाममण्डल हृदयस्थ आत्मा का 'विभूतिमण्डल' कहलाया है। यही मण्डल 'महिमामण्डल' नाम से व्यवहृत हुआ है। वस्तुपिण्ड हृदयस्थ आत्मा का पहिला प्रपतिस्थान (व्याप्तिस्थान) है, अतएव विज्ञानभाषा में यह वस्तुपिण्ड 'पदम्' कहलाया है। बहिर्मण्डल आत्मा का द्वितीय प्रपतिस्थान है, अतएव यह 'पुनःपदम्' कहलाया है। हृदय 'हृत्पृष्ठ' है, पिण्डात्मक 'पद' अन्तःपृष्ठ है, मण्डलात्मक 'पुनःपद' 'बहिःपृष्ठ' है। हृत्पृष्ठात्मक तत्त्व मनोमय आत्मा है, यही उक्थ है, यही 'पशुपति' है। अन्तःपृष्ठात्मक तत्त्व प्राण है, यही अर्क है, यही 'पाश' है। बहिःपृष्ठात्मक तत्त्व वाक् है, यही अशीति है, यही 'पशु' है। मन-प्राण-वाक्, उक्थ-अर्क-अशीति, पशुपति-पाश-पशु, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध त्रिलोकी यही तत्त्व 'प्रजापति' कहलाया है, जो अपने हृत्पृष्ठ की अपेक्षा से अनिरुक्त, अन्तःपृष्ठ की अपेक्षा से उद्गीथ एवं बहिःपृष्ठ की अपेक्षा से सर्व नामों से प्रसिद्ध हुआ है। हृदय भी यही है, अन्तःपृष्ठ भी यही है, बहिःपृष्ठ भी यही है– 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं किञ्च'।

३–ईश्वर के विविध विश्व, और उनके विविध ऐश्वर्य–विवर्त–

प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुक्तप्रजापति ही वस्तु का 'ईश्वर' है। इस उक्थात्मक हृदय ईश्वर (अन्तर्यामी) का प्राण-वाङ्मय बहिर्मण्डल ही इसका 'ऐश्वर्य' है। महिमामण्डल ही ऐश्वर्य है। सौर प्रकाशमयमण्डल सूर्येश्वर का ऐश्वर्य है, चान्द्र ज्योत्स्नामयमण्डल चन्द्रेश्वर का ऐश्वर्य है। पार्थिव रथन्तरमयमण्डल पृथिवीश्वर का ऐश्वर्य है, नभस्वान्मण्डल अव्यक्तेश्वर (स्वयम्भू) का ऐश्वर्य है, सरस्वान्मयमण्डल परमेष्ठ्य ईश्वर का ऐश्वर्य है। स्व-पर-सू-च-पृथिवी के केन्द्रस्थ ईश्वरों के नभस्वान्-सरस्वान्-बृहत्साम-चान्द्रज्योत्स्ना-रथन्तरसाम ऐश्वर्यों को अपने ऐश्वर्यमण्डल में भुक्त रखने वाला प्रजापति त्रिलोकी-परिवेष्टित ब्रह्म नामक षोडशीपुरुषेश्वर का ऐश्वर्यमण्डल अनायन्त बना करता है। पञ्चात्मक ऐश्वर्य से युक्त महामायावच्छिन्न ऐसे ऐसे सर्वज्ञ ईश्वर, और उनके ऐश्वर्यों को अपने गर्भ में रखने वाला परात्पर परमेश्वर है। यही सर्वेश्वर है, और यही उनका सर्वै-श्वर्य है। आत्मा ईश्वर है, आत्मप्राणगर्भित वाङ्मण्डल ऐश्वर्य है। यही विभूति, वसवस्य, साहस्री, पुनःपद, परपद, महिमा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जीवात्मा भी ऐश्वर्यशाली उसी ईश्वर का अंश बनता हुआ आध्यात्मिक ऐश्वर्यरूप से अभिन्न है। अतएव सम्पूर्ण विश्वैश्वर्य उसी का ऐश्वर्य है। जीवेश्वर-तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा से जीवात्मा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का अधिष्ठाता बन रहा है। यही 'ऐश्वर्य' नाम की भग-व्याप्ति है, जिसके सम्बन्ध से जीव में भगवत्ता का समावेश हो रहा है।

४–विभूति, एवं योग-सम्बन्ध प्रकरण–

विभूतिलक्षण ऐश्वर्य ही 'आत्मवित्त' माना गया है। यह आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त भेद से दो भागों में विभक्त है। प्राणप्रधान वित्त अन्तर्वित्त है, भूतप्रधान वित्त बहिर्वित्त है। प्राण, इन्द्रियवर्ग, शरीर, स्त्री, पुत्र आदि अन्तर्वित्त में अन्तर्भूत हैं। एवं मनुष्य, पशु आदि चेतनद्रव्य, तथा भूमि, गृह, प्रासाद, उद्यान, धातु (रूपया पैसा) आदि अचेतनद्रव्य इनकी बहिर्वित्त में अन्तर्गत हैं। आत्मा इन उभय वित्तों में विभूतिसम्बन्ध, योगसम्बन्ध तथा बन्धनसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। बहिर्वित्त–

सीमा पर्य्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है इसी आधार पर श्रुति का "यावद्वित्तं तावदात्मा" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का विभूति सम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य्य (आत्मविकास) पूर्णरूप से विकसित है। कारण-विभूतिसम्बन्ध असङ्गसम्बन्ध है। असङ्गधर्म्मावच्छिन्न पद्म जैसे जल में रहता हुआ भी जलासक्ति से पृथक् रहता है, एवमेव असङ्गधर्म्मावच्छिन्न आत्मा असङ्गलक्षण विभूतिसम्बन्ध से सङ्गधर्म्मावच्छिन्न विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयासक्ति से निर्लिप्त रहता है। यदि उभयवित्त के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभय वित्त के साथ आत्मा का बन्धनसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य्य सङ्ग-विषयासक्ति से आवृत होता हुआ अपना विकासात्मक ऐश्वर्य्यधर्म्म खो देता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, योग और विभूति, इन दो सम्बन्धों में ही अन्तर्वित्त-बहिर्वित्तानुगत आत्मा का ऐश्वर्य्य नामक भग स्वधर्म्मात्मक स्वस्वरूप से विकसित रहता है। अतएव भगवान् ने बुद्धियोग के विकास के लिए अव्ययात्मा के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों को ही उपादेय माना है। देखिए !

एतां विभूतिं, योगं च, मम यो वेत्ति तत्त्वत ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय ॥
—गी० १०।७।

५ ऐश्वर्य्य की साध्य, तथा सिद्धावस्थाएँ–

आत्मैश्वर्य्य ही वित्तैश्वर्य्य की प्रतिष्ठा है, एवं आत्मैश्वर्य्य ही भूतैश्वर्य्य की आधारभूमि है। स्थिति का भी स्पष्टीकरण कीजिए। आत्मा अपने 'अव्ययभावधर्म्म' से ऐश्वर्य्यशाली है विभूतिमान् है, महिमायुक्त है। ऐसे विभूतिमान् आत्मा के साथ युक्ता बुद्धि भी ऐश्वर्य्यशालिनी बनी रहती है। एवं विद्याबुद्धि से युक्त मन मानस संकल्प तथा विचारधारा, सबकुछ ऐश्वर्य्यशाली बने रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में ही ऐश्वर्य्य रहता है। लोकभाषा में ऐसे व्यक्तियों के लिए ही 'निगृहीतात्म' उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्य्यविकास से इनका अन्तर्जगत् सर्वत्र पूर्णभाव के ही दर्शन करता रहता है। इस पूर्णभावना के आकर्षण से बाह्य-भूतैश्वर्य्य अपने आप इनका भोग्य बन जाता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर्जगत् में यह भावना रखते हैं कि, हम उस ऐश्वर्य्यशाली ईश्वर के अंश हैं हममें सब कुछ है, हमारा सब कुछ है उनकी इस आस्तिक्यलक्षणा सद्भावना का नाम ही 'ऐश्वर्य्य' है। इसी आत्मैश्वर्य्यभावना से भूतैश्वर्य्य अनिमन्त्रित ही इनका क्रीतदास बन जाता है। ठीक इसके विपरीत जिनकी यह भावना रहती है कि हम तो दरिद्री हैं हमारे पास क्या रक्खा है हमारे पास यह नहीं-वह नहीं, उनका आत्मैश्वर्य्य इस मनोभावनात्मक अनैश्वर्य्य से अभिभूत हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी नास्तिक्यलक्षणा असद्भावना के अनुगामी पुरुषों का पहिले से विद्यमान भूतैश्वर्य्य भी उच्छिन्न हो जाता है एवं आत्मैश्वर्य्यमूलक आगामी भूतैश्वर्य्य से भी वे वञ्चित रह जाते हैं। जिस धर्म्म से आत्मा अपने ऐश्वर्य्यधर्म्म से विकसित होकर भूतैश्वर्य्य पर अपना प्रभुत्व रखने में समर्थ होता है विद्याबुद्धिगत वही धर्म्म ऐश्वर्य्य का हेतु बनता हुआ (आत्मैश्वर्य्योदय का कारण बनता हुआ) तात्कर्म्यन्याय से 'ऐश्वर्य्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। आत्मानुगत ऐश्वर्य्य महिमा-मण्डलात्मक है यही सिद्ध ऐश्वर्य्य है, यही प्राप्तव्य है। बुद्ध्यनुगत ऐश्वर्य्य ऐश्वर्य्यसाधक ऐश्वर्य्य है, यही साध्य ऐश्वर्य्य है, यही 'ऐश्वर्य्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है, जो 'अस्मितबुद्धि' नामकी अविद्याबुद्धि को हटा कर आत्मा के महिमालक्षण ऐश्वर्य्योदय का कारण बनती है।

६–आत्मविकास की प्रतिबन्धिका अस्मिता–

आत्मा ईश्वर है, ईश्वर की ईश्वरता ही उसका ऐश्वर्य्य है। आत्मा स्वभावतः अपने व्यापक पूर्ण-प्रकाश धर्म्म' से विकासशील है। यह विकास ही आत्मेश्वर की ईश्वरता है। फलतः आत्मविकास ही 'ऐश्वर्य्य' है। व्याप्य-अपूर्ण-तमःधर्म्म 'अनात्मधर्म्म' हैं। इनके समावेश से आत्मा का स्वाभाविक विकास उसी प्रकार अवरुद्ध हो जाता है जैसे कि धूमवृत अग्नि (धौ) अपने प्रभु रश्मिलक्षण विकासधर्म्म से वञ्चित रह जाता है। किंवा स्पर्शजनित ऊष्मा के प्रत्याघात से जैसे पुष्पकलिका का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जिन अनात्मधर्म्मों से आत्मा अपने विकासात्मक ऐश्वर्य्य से अभिभूत हो जाता है, आत्मविकासप्रतिबन्धक वही आगन्तुक धर्म्म (किंवा आत्मधर्म्मविरोधी अधर्म्म) 'अस्मिता' कहलाता है। आत्मसंकोच ही अस्मिता है।

७–स्मित, हास, और अट्टाट्टहास-स्वरूपदिग्दर्शन, एवं अस्मिताभाव–

'स्मिङ्–ईषद्धसने' के अनुसार विकास ही ईषत्–हसन अर्थात् स्मितभाव है। जिस वृत्ति के लिए लोक में 'मन्दस्मित' शब्द प्रयुक्त हुआ है वही स्मितभाव है। मन्दमुस्कान ही ईषत्–हसन है वही स्मितभाव है और यही आत्मैश्वर्य्य का प्रथम प्रतीक है। हास (हँसी) तत्त्व स्मित, हास, अट्टाट्टहास भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। जिस हास्य में दन्तपङ्क्ति के दर्शन नहीं होते, किसी प्रकार की शब्दध्वनि नहीं होती, वह शान्त मन्दहास ही 'स्मितहास' कहलाता है। यह हास सर्वोच्चकोटि में प्रतिष्ठित है। आत्मतत्त्वानुगामी उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित रहने वाले विद्वानों का 'स्मितहास' ही माना गया है। जिस हास्य में दाँत दिख जाते हैं 'हा–हा–ही–ही' शब्दध्वनि प्रवाहित रहती है विषयसुखानुगत दन्तदर्शन–शब्दध्वन्यात्मक वही हास 'हास' नामक हास माना गया है। विषयभोगानुगामी मध्यभूमिका में प्रतिष्ठित रहने वाले लौकिक मनुष्यों का लक्षण यही 'हास' बना रहता है। जिस हास्य में दाँतों के साथ साथ मुखविवर भी अतिशयरूप से चौड़ा हो जाता है नाक–कान–आँख–हाथ–पैर, किम्बहुना सम्पूर्ण शरीर जिसमें अपनी स्वाभाविक मृदुता छोड़ कर विकृताङ्ग बन जाता है अहाहा–ओ हो हो–इत्यादि रूप से जिस में शब्दध्वनि तारस्वर का भी अतिक्रमण कर जाती है जिसे देख–सुन कर पास बैठने–चलने वाले शान्तप्रकृतिक पुरुष म्लान हो पड़ते हैं, भयानक रूप से आक्रोश वही हास 'अट्टाट्टहास' कहलाता है। विचारशुद्धि से अनन्यतानुबन्ध रखने वाले अविद्यासंस्कार से एकान्ततः वञ्चित रहने वाले असत्संस्कारानुगामी, असुरधर्म्मा अविवेकी ही इस अट्टाट्टहास की आलम्बनभूमि बना करते हैं। स्मितहास आत्मैश्वर्य्य का अनुगामी है हासात्मक हास विषयैश्वर्य्य का अनुगामी है एवं अट्टाट्टहास विषयाढ्य–विषयाढ्यादि महाविषी का अनुगामी है। क्योंकि स्मितहास आत्मैश्वर्य्यानुगामी है अतएव वैज्ञानिकों ने ऐश्वर्य्यविघातक संकोच को 'अस्मिता' नाम से व्यवहृत करना ही अन्वर्थ समझा है। अस्मिता शब्द आत्मैश्वर्य्यमूलक स्मितभाव (विकासभाव) का ही अभाव सूचित कर रहा है।

८–आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक स्मितहास, और तद्विरोधिनी अस्मिता–

स्मितभाव ही आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक है हास और अट्टाट्टहास आत्मैश्वर्य्य से वञ्चित हैं। अतएव स्मितभावात्मक ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विता में ऋषियों ने 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग ही समीचीन माना है। स्मित भाव ही आत्मैश्वर्य्य का प्रतीक क्यों है? हास और अट्टाट्टहास को आत्मैश्वर्य्यानुगामी क्यों नहीं माना गया? जब कि हसनलक्षण विकास हास और अट्टाट्टहास में भी विद्यमान है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के

लिए हमें 'स्मित' भाव के वैज्ञानिक भाव का स्पष्टीकरण करना पड़ेगा। बतलाया गया है कि अस्मितालक्षण ऋबोधधर्म्म के प्रवेश से आत्मा का विश्वलक्षण स्वाभाविक ऐश्वर्य्य अभिभूत होजाता है। फलस्वरूप अस्मि ताभुक्त पुरुषों के मुख से सदा हीन-वीर्य्यतासूचक वाक्य निकला करते हैं। ऐसे व्यक्ति पदे पदे कष्ट, तज्जनित शोक, एवं तज्जनित अश्रुपात के अनुगामी बने रहते हैं। क्या ऐश्वर्य्यलक्षण विश्वधर्म्म' के अनुयायी पुरुष 'हम पूर्ण सुखी हैं, हमारे पास सब कुछ है, हमें क्या कमी है' इत्यादि वाक्यप्रयोगों के द्वारा अपने ऐश्वर्य्य धर्म्म का बड़े आटोप के साथ बखान किया करते हैं ?, क्या आत्मैश्वर्य्यानुगामी पुरुष प्राप्त भूतैश्वर्य्यों से अतिशयरूप से आह्लादित बन कर हास्यात्मक हास किंवा अट्टाहास के अनुगामी बन जाते हैं ?, क्या आत्मै श्वर्य्य के प्रतीक ये ही धर्म्म धर्म्म' हैं ?, मीमांसा कीजिए।

९—आत्माभिमान, एवं आत्मातिमान का स्वरूपदिग्दर्शन—

सुनते हैं, एक बार देवता और असुरों में भयानक संघर्ष (युद्ध) छिड़ गया। दोनों शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर व्यूह(मोर्चा) बना कर युद्ध में प्रवृत्त हो गए। इस देवासुरसंग्राम में अधिक संख्या वाले असुर पराजित हो गए, एवं विजयश्री ने देवताओं का संवरण किया। ऐसा क्यों हुआ ?, इसका उत्तर देते हुए श्रुति ने यह कहा है कि, देवता अभिमानी थे किन्तु असुर अतिमानी थे। आत्माभिमानी देवता संख्या में थोड़े रहते हुए भी जीत गए, एवं आत्मातिमानी असुर संख्या में अधिक रहते हुए भी हार गए-'ते हासुरा - अतिमानेनैव पराबभूवुः (शत० ५।१।१।१)। प्राकृतिक आत्मा 'मान' है। यह 'मान' तत्त्व अभिमान अतिमान, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। अभिमानात्मक मान का अन्तर्जगदनुगत 'आत्मा से सम्बन्ध है। एवं अतिमानात्मक मान का बहिर्जगदनुगत शरीर से सम्बन्ध है। विद्याबुद्धिउपकृत आध्यात्मिक ही अभिमान है एवं यही 'आत्माभिमान' कहलाता है जो कि आत्मविकास का प्रधान साधन माना गया है। अपने आपको (आत्मा को) साक्षात् ईश्वर का अंश समझते हुए इसे सच्चिदानन्दघन मानना, तथा अपने अन्तर्जगत में परिपूर्णता का अनुभव करना कभी आत्मा को हीन न मानना, कभी मुख से- 'हम तो दास हैं, दासानुदास हैं अकिञ्चन हैं निर्धन हैं असमर्थ हैं' ऐसे हीनता-सूचक वाक्य न निकालना अपितु ठीक इसके विपरीत सदा 'हम साक्षात् ब्रह्म के अंश हैं अतएव सब विध सम्पत्तियों से परिपूर्ण हैं सब समर्थ हैं' यह भावना करते रहना यही 'आत्माभिमान' है। एवंविध आत्माभिमान का उदय कैसे, और कब होता है ?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयत् ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥२॥

—गीता ६।५, ६।

१०—'उद्धरेदात्मना आत्मानम्' का तात्त्विक समन्वय—

'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए आत्मा को कभी नहीं गिराना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का शत्रु है एवं आत्मा ही आत्मा का मित्र है" प्रथम श्लोक का यही अक्षरार्थ है। सर्वसाधारण मनुष्य

इस भगवद्वचन का यों समन्वय करते देखे-सुने जाते हैं कि—'हमें अपने आप ही अपना उद्धार करना चाहिए, कभी अपने आप को नहीं गिराना चाहिए। हम स्वयं ही अपने आपके मित्र हैं एवं स्वयं ही अपने आपके शत्रु हैं'। इस अर्थ से वे इस तात्पर्य पर पहुँचते हैं कि—'पुरुष को किसी के भरोसे नहीं रहना चाहिए। अपितु स्वावलम्बी बन कर अपनी शक्ति से काम लेना चाहिए। अपने आत्मबल पर भरोसा कर सभी से कर्त्तव्यपथ पर आगे बढ़ना चाहिए। जो मनुष्य अपने बल से काम नहीं लेते वे दुःखी बने रहते हैं। जो अपने बल से काम लेते हैं वे सुखी बन जाते हैं'। व्यवहारनीति की दृष्टि से इस तात्पर्य का हम अभिनन्दन कर सकते हैं। परन्तु तत्त्वदृष्ट्या इसी अर्थ पर विश्राम नहीं किया जा सकता। आत्मना—आत्मानम् इस वाक्य में भगवान् ने एक आत्मा को तृतीयान्त माना है, एक को द्वितीयान्त माना है। इसी विभक्तिभेद से यह प्रमाणित है कि 'आत्मना' पृथक् आत्मा है, एवं 'आत्मानम्' पृथक् आत्मा है। दोनों स्वरूपतः, एवं व्यक्त्या वास्तव में भेद से अध्यात्मसंस्था में तत्त्वदृष्ट्या दो आत्मभाव प्रतिष्ठित हैं। दोनों यहाँ समन्वित हैं, समानाव से प्रतिष्ठित हैं। एक आत्मा 'प्रत्यगात्मा' कहलाया है, जीवात्मा 'शारीरक' कहलाया है। प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान बनता हुआ 'अज' (अजन्मा) है, नित्यकूटस्थ है। शारीरक आत्मा कर्माभिभूत क्षरप्रधान बनता हुआ यथाभावानुरूप से पुरुष-सम्बन्ध से 'आवागमन-विवर्त' -लक्षण जन्मभाव से आक्रान्त है। प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बना कर वहाँ भगवान्—'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं, वहाँ जन्म-मरण-धर्मा शरीरगामिनामी शारीरक आत्मा को लक्ष्य बना कर—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' यह सिद्धान्त स्थापित कर रहे हैं। शरीर में रहता हुआ भी अपने विभूतिलक्षण से प्रत्यगात्मा जहाँ सर्वभूतों में (सर्वप्राणिशरीरों में) अविकार बनता हुआ एक है, वहाँ विशिष्टलक्षण से शारीरक आत्मा अविरत बनता हुआ प्रतिशरीर में भिन्न है, नाना है। वेदान्तदर्शनानुगत ऐकात्म्यवाद जहाँ प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बना रहा है, वहाँ सांख्यनिष्ठ (श२।) दर्शनानुगत नानात्मवाद शारीरक आत्मा को उद्देश्य मान रहा है। अव्ययसाक्षात्कार भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण उपदेश अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा को यहाँ लक्ष्य बना रहा है, वहाँ सम्भ्रान्त अर्जुन के सारे शङ्कादि प्रश्न शारीरक आत्मा को लक्ष्य बना रहे हैं। अर्जुन की प्रश्नावली का मूलाधार है शारीरक आत्मा, एवं भगवान् की उत्तरावली का मूलाधार है प्रत्यगात्मा। सम्पूर्ण अष्टादशाध्याय ग्रन्थ में इति पर्यन्त इन्हीं दोनों आत्मविवर्त्तों को लक्ष्य बना कर प्रवृत्त हुआ है। उक्त वचन का 'आत्मना' प्रत्यगात्मा का संग्राहक है, एवं 'आत्मानम्' शारीरक आत्मा का संग्राहक है। 'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए'—वाक्य का यही तात्पर्य है कि, 'ईश्वरलक्षण प्रत्यगात्मा से जीवलक्षण शारीरक आत्मा का उद्धार करना चाहिए'। प्रत्यगात्मा धर्मज्ञानादि चतुर्विध भगसम्पत्तियों से परिपूर्ण है। स्वरूपतः शारीरकात्मा भी यद्यपि है परिपूर्ण ही, परन्तु अधर्म-अज्ञानादि चतुर्विध क्लेश-सम्पत्तियों के आवरण से यह स्वाभाविक प्रत्यगात्मा की परिपूर्णता से वञ्चित रह जाता है। यही इसकी दुःखप्रवृत्ति का मूल कारण है। इस मूलकारण के निराकरण के लिए जीवात्मा का आवरण हटाना पड़ेगा, तदर्थ चतुर्विध बुद्धियोगों में से किसी एक का अनुगमन करना पड़ेगा, तद्द्वारस्वार्थ सहायक प्रत्यगात्मा का अनुसरण करना पड़ेगा। इस परम्परा से जीवात्मा ईश्वरात्मा के द्वारा ही उद्धार में समर्थ बन सकेगा। ठीक इसके विपरीत यदि यह जीवात्मा अविद्याबन्धुरूपी का ही अनुगामी बना रहा, तो प्रत्यगात्मा के उद्बोधन से वञ्चित रहता हुआ यह अपना अपकार कर बैठेगा। प्रत्यगात्मानुग्रह से वञ्चित इस जीवात्मा का अपकार (पतन) अनिवार्य बन जाएगा। इसी सम्पूर्ण परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए भगवान् ने कहा है—

'प्रत्यगात्मा से शारीरक आत्मा को शक्तिशाली बनाओ। प्रत्यगात्मा की उपेक्षा कर शारीरक आत्मा को पतनोन्मुख न बनाओ'। अपने आप से ही अपना उत्थान सम्भव है इस वाक्य का 'अपने' शब्द जीवात्मा का सूचक है एवं 'आप' शब्द ईश्वरात्मा का सूचक है। यही अपना (जीवात्मा का) आप (प्रत्यगात्मा) है। जो अपना आपा बिगाड़ लेता है, वही पतित होता है। इसी आधार पर यह लोकसूक्ति प्रचलित है कि 'अमुक ने अपना आपा सुधार लिया, अमुक ने अपना आपा बिगाड़ लिया'।

११–ईश्वरेच्छानिबन्धना महती समस्या—

प्रथम श्लोक के 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्' इस पूर्ववचन का समन्वय तो हो गया। परन्तु इसी समन्वय ने–'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन' इस उत्तर वचन के समन्वय में एक जटिल समस्या उपस्थित कर दी। प्रसङ्गोपात्त उसका भी निराकरण कर लीजिए। समस्या है ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में। पूर्वपरिभाषा के अनुसार उत्तर वचन के 'आत्मैव' का अर्थ होगा–प्रत्यगात्मा एवं 'आत्मनः' का अर्थ होगा–शारीरक आत्मा, जिसका अर्थ होगा यह कि 'ईश्वर ही जीवात्मा का मित्र है एवं ईश्वर ही जीवात्मा का शत्रु है'। विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार अनन्तकल्याणगुणाकर-परमकारुणिक-बना हुआ ईश्वर भी क्या राग–द्वेषमूलक मित्रता–शत्रुता–भावों का अनुगामी बना रहता है ?। क्या वह समदर्शी नहीं है ? क्या वह भी जीववर्ग की भाँति किसी जीव का मित्र, और किसी जीव का शत्रु बना रहता है ?। उत्तर में हाँ भी कहा जा सकता है, और ना भी कहा जा सकता है। इन परस्पर विरुद्ध दोनों उत्तरों के समन्वय के लिए ही 'ईश्वरेच्छा' से सम्बन्ध रखने वाली समस्या की मीमांसा अपेक्षित है।

आस्तिक प्रजा का यह विश्वास है कि, बिना ईश्वर की इच्छा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। 'ईशानी किरपा बिना ना पान पाया हाली शके' इस गुर्जरभाषासूक्ति के अनुसार प्रत्येक कर्म की प्रवर्तिका ईश्वरेच्छा ही है जिस ईश्वर की ईच्छा को हम 'ईश्वरकृपा' भी कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में ताकार्यवादियों (नास्तिकों) के अनेक विसंवाद उपस्थित होजाते हैं। वे आस्तिक प्रजा से प्रश्न कर बैठते हैं कि, 'यदि ऐसा है तब तो संसार में कोई बुरा काम है ही नहीं। मद्यपान चोरी हिंसा, परदारगमन अभक्ष्यभक्षण, आदि आदि जितने भी असत्कर्म हैं, उन सबका मूल भी यदि ईश्वरेच्छा ही है, तो इन्हें बुरा क्यों कहा जाय ?, क्यों कहा जाता है ?। दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि –'देखते हैं, एक चोर चोरी करने से पहिले जगदम्बा–भैरव–आदि में से किसी नियत इष्टदेव से प्रार्थना करता है कि 'यदि आज मैं चोरी करने में सफल होगया, तो आपको अमुक भेंट से सन्तुष्ट करूँगा। यह भी मान लेते हैं और यह मान्यता सत्य भी है कि, इष्टदेवानुग्रह से चोरी कर्म में वह सफल होजाता है। प्रश्न होता है कि, क्या ईश्वर चोरी जैसे निन्द्य कर्म का भी सहायक बन जाता है ?। सभी पापकर्म यदि पुण्यकर्मों की भाँति ईश्वरेच्छा से ही सम्बद्ध हैं तो पापकर्मों से बचाने के लिए प्रवृत्त होने वाला शास्त्रोपदेश तो व्यर्थ है ही इसके साथ साथ संसारशासकसम्राट् ईश्वर पर एक बहुत बड़ा कलङ्क भी आरोपित होजाता है। यदि वही, उसकी इच्छा ही असत्कर्मों की भी प्रवर्तिका है, तो इसका दण्ड हमें क्यों मिले ?। निश्चय है इसीलिए तो समस्या और भी जटिल बन जाती है स–मस्या के निराकरण के लिए आत्मसोपानपरम्परा का अन्वेषण अभिप्रेत है।

१२–आध्यात्मिक–आत्मसोपानपरम्परा—

सांसारिक विषयों तथा सांसारिक कर्मों का भोक्ता कौन ?, उत्तर है–'भोक्तात्मा'। भोक्तात्मा का क्या स्वरूप ? उत्तर है–'आत्मा इन्द्रिय, मन का समुच्चितरूप। अर्थप्रधान वैश्वानर, क्रियाप्रधान तैजस, ज्ञान-प्रधान प्राज्ञ तीनों की समष्टि 'आत्मा' है, यही देहाभिमानी शारीरक आत्मा है। ज्ञानकर्मेन्द्रियवर्ग, और प्रज्ञानमन दोनों इस आत्मा के कर्मों के सहायक हैं। प्रज्ञानमनोयुक्त इन्द्रियवर्ग से ही आत्मा भावना–वासना-रूप से सांसारिक कर्मभोग में समर्थ बनता है। अतएव भोगलक्षण से 'आत्मा–इन्द्रिय–मन' तीनों को ही हम 'भोक्तात्मा' कहेंगे जैसा कि–'आत्मे–न्द्रिय–मनो-युक्तं 'भोक्ते' त्याहुर्मनीषिणः' इत्यादि उप-निषच्छ्रुति से प्रमाणित है। इसमें पहिला स्थान इन्द्रियों का है। अनन्तर वै०तै०प्रा०–मूर्ति पार्थिव कर्मात्मा का स्थान है। अनन्तर चान्द्र प्रज्ञानात्मा (मन) का स्थान है। अनन्तर सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि) का स्थान है। अनन्तर पारमेष्ठ्य महानात्मा का स्थान है। अनन्तर स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा का स्थान है। एवं सर्वान्त में प्रत्यगात्मा नामक अव्ययपुरुष प्रतिष्ठित है 'अव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा, सा परा गतिः'। आरम्भ के 'आत्मपरिचयप्रतिपत्ति' नामक प्रकरण में इस आत्मसोपानपरम्परा का विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। प्रकृत में इस दिग्दर्शन से यही निष्कर्ष निकलता है कि, अव्ययेश्वर, अव्यक्त, महान्, विज्ञान प्रज्ञान आत्मा, इन्द्रियवर्ग इन सात सोपानों का इसी क्रम से अध्यात्मसंस्था में वितान हुआ है। इन सात संस्थाओं में अव्ययेश्वर नाम की पहिली संस्था 'प्रत्यगात्मा' (ईश्वर) है एवं आत्मा नाम की छठी संस्था 'शारीरकात्मा' (जीव) है। अव्यक्त महान्, इन दो संस्थाओं का प्रधानतः प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है एवं प्रज्ञान इन्द्रियवर्ग इन दो संस्थाओं का प्रधानरूप से शारीरक आत्मा से सम्बन्ध है। चौथी विज्ञानात्मसंस्था प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहती हुई 'देहलीदीपकन्याय' से दोनों की अनुग्राहिका बनी हुई है। तात्पर्य यह निकला कि अव्ययेश्वर, अव्यक्त, महान्, अमृत विज्ञान, चारों की समष्टि प्रत्यगात्मसंस्था है। एवं मर्त्य विज्ञान प्रज्ञान आत्मा, इन्द्रियवर्ग, चारों की समष्टि शारीरक-आत्मसंस्था है।

१— १-अव्ययेश्वरः—ऐश्वरः (विश्वाध्यक्षः षोडशी)—विश्वेश्वरः

२— २-अव्यक्तात्मा—स्वायम्भुव (स्वयम्भूः)——स्वयम्भूः

३— ३-महानात्मा—पारमेष्ठ्यः (परमेष्ठी)——परमेष्ठी

४-विज्ञानात्मा-सौरः (अमृतम्) (अमृतसूर्य्य) —सूर्य्यः

४— १-विज्ञानात्मा-सौरः (मर्त्यम्) (मर्त्यसूर्य्य)

५— २ महानात्मा—चान्द्रः (चन्द्रमा)——चन्द्रमाः

६— ३ भूतात्मा——पार्थिवः (सौम्यापृथिवी) —महिमापृथिवी

७— ४-इन्द्रियाणि—पार्थिवानि (सौम्यापृथिवी)

— ●—शरीरम्——भौमम् (भूपिण्ड)——भूपिण्डः

—सत्यात्मा (आध्यात्मिक-परमात्मा)

—शारीरक आत्मा (आध्यात्मिकः जीवात्मा)

इति—नु—आध्यात्मम्

जीवः

इति—नु—आधिदैवतम्

ईश्वरः

पूर्णमिदम् { ——पूर्णमदः

बदेवेह—— }—तदमुत्र

'पूर्णमेवावशिष्यते'

१३-ईश्वरेच्छासहकृत असङ्ग कर्म्मों की अवस्थानता—

उक्त आध्यात्मिक आत्मसोपानपरम्परा को लक्ष्य बना कर ही ईश्वरेच्छा से सम्बन्ध रखने वाली पूर्वोक्त बलिक-समस्या की मीमांसा कीजिए। आध्यात्मिक ईश्वर अव्ययेश्वर है। इसकी इच्छा ही ईश्वरेच्छा है, यही निष्कामकर्म्माभिधा उसीपरायणा नाम की ईश्वरकामना है जिसका विशद स्वरूप पूर्वपरिच्छेदों में 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि श्लोकार्थप्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है। इस ईश्वरकामना का सर्वप्रथम तत्तदभिव्यक्तिपरिचित अव्यक्तात्मा से सम्बन्ध होता है। अव्यक्तात्मा के द्वारा ईशकामना अव्यक्त के अभिव्यक्तिपरिचित महानात्मा में अवतरित होती है। महानात्मा के द्वारा ईशकामना महत्तत्त्वाभिव्यक्तिपरिचित अमृतसूर्य्यात्मक, अतएव धर्म्म-ज्ञान-

वैराग्य–ऐश्वर्य नाम की भगवत्पुष्टी से युक्त अव्यक्त व विद्याबुद्धयात्मक विज्ञानात्मा में प्रविष्ट होती है, और वहाँ जाकर ईश्वरकामना का एक प्रकरण समाप्त हो जाता है। अव्ययेश्वर से आरम्भ कर अमृतविज्ञानात्मा पर्य्यन्त उपस्थित अविकलरूपा, निष्कामभावाभिन्न विद्याबुद्धियुक्त अव्यक्त मनोवृत्ति अव्यक्त व बन्धननिर्वर्तक ईश्वरेच्छा का अजरामर–अव्याहत साम्राज्य रहता है। इस इच्छा से युक्त शारीरक आत्मा के जितने भी कर्म हैं, वे सब निष्कामकर्म्मात्मक अबन्धनकर्म हैं। ऐसी ईश्वरेच्छा से प्रयुक्त जीवात्मा के सभी कर्म सत् हैं। ऐसे पुरुषों की कभी असत्कर्म में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। यदि ऐसे पुरुष कभी किसी असत्कर्म में प्रवृत्त भी देखे सुने जाते हैं तो इसमें कोई गुप्त लोककल्याण निहित रहता है जो मानवीय दृष्टि से परे की वस्तु है। 'नास्य कृतं च कर्मणा लोकत्र मीयते न मातृवधेन–न पितृवधेन' (कौ. ब्रा. उप. ३।१।) के अनुसार ईश्वरेच्छा को मूल मानने वाला व्यक्ति यदि अपनी माता (परशुरामवत्) तथा पिता को भी मार डालता है तब भी उसे तज्जनित पातक नहीं होता–'लिप्यते न स पापेन'। क्योंकि, उसका सर्वकर्म्म लोककल्याण की इच्छा में समर्पित रहता है जो कि प्रत्यक्षरूपेण सर्वथा अवद्य है। श्रुति का तात्पर्य यही है कि, एवंविध योगयुक्तात्मा शान्त पुरुष से पहिले तो किसी भी निन्द्य कर्म की सम्भावना ही नहीं है। यदि वह लोकनिमित्त स्वधर्म्मपालन के लिए कभी किसी निन्द्य कर्म में प्रवृत्त देखा भी जाता है, तो हमें विश्वास करना चाहिए कि, ईश्वरेच्छायुक्त उसका वह निन्द्य कर्म्म भी अवश्य ही आगे न कोई लोककल्याण होने वाला है। वीतराग परमहंसों के आचार–व्यवहार विहार देख–सुन कर हम आश्चर्यमुग्ध बन रह जाते हैं। परन्तु विश्वास कीजिए, वे विधि–निषेध से परे हैं। न अमृत उनका भला ही कर सकता, न मृत्यु उनको हानि ही पहुँचा सकता। विधि–निषेधात्मक शास्त्रोपदेश अस्मदादि उन लौकिक मनुष्यों के लिए अनिवार्य्य हैं, जो लोकप्रवृत्तिपरायण इन्द्रियपरायण हैं। सूर्य्य को देखिए न मूत्रविसर्जन से मूत्र उसे दोषयुक्त नहीं बना सकता। यही नहीं जिन अपवित्र वस्तुओं के साथ इसका सम्बन्ध हो जाता है वे स्वयं दोषरहित बन जाती हैं। अथवा सूर्य्य जैसे–जड़–प्रवर्ग्य–अन्नमात्र में विभूति के सम्बन्ध से रहता हुआ भी वस्तुगत शुभ–अशुभ–संस्कार बन्धन में आसक्त नहीं होता, तथैव सर्वतः ईश्वरकामना से युक्त जीवात्मा सर्वत्र समदर्शी बनता हुआ विभूति के सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी निर्लिप्त बना रहता है। अवतारपुरुष, मुक्तयोगी, अनन्यनिष्ठ भक्त सब इसी स्थिति के उदाहरण हैं। भगवान् राम शास्त्रनियम की उपेक्षा कर अछूत्या भी शबरी के उच्छिष्ट बेर खा सकते हैं। परन्तु हम नहीं खा सकते। कारण हम भगवान् नहीं हैं। ईश्वरकामना के अनुयायी अभी हम नहीं बन पाए हैं। जिस दिन हम भी वैसे बन जावेंगे तब सब कुछ हमारे लिए भी क्षम्य मान लिया जायगा। निष्कर्ष यही है कि, अमृतविज्ञानात्मिका विद्याबुद्धियुक्त ईश्वरकामना सम्यक्रूप से विकसित, अव्याकृत से अनाहत रहती हुई अबन्धना बनी रहती है। ऐसी ईश्वरकामना से युक्त जीवात्मा के सभी कर्म सत्कर्म माने गए हैं।

१४–ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में समस्यात्मक प्रश्नोत्थान—

आध्यात्मिक जीव वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्ति शारीरक आत्मा है। इसके उत्तर भाग में तो इन्द्रियकर्म प्रतिष्ठित है एवं पूर्वभाग में प्रज्ञानमन एवं तत्पूर्वभाग में महद्विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है जिनमें मर्त्यभाग के सम्बन्ध से अभिनिवेश–अस्मिता–आसक्ति–अविद्या इन चतुर्विध क्लेश–सम्पत्तियों के उदय की योग्यता मानी गई है। अव्यक्त–महान्–द्वारा परम्परया अमृतविज्ञानात्मा में आगत अव्ययेश्वर की कामना का अमृतविकास के

द्वारा मर्त्यविज्ञानात्मा में आगमन होता है तद्द्वारा मर्त्यविज्ञानसन्निकृष्टावस्थित प्रज्ञानमन में यह ईशकामना युक्त होती है, प्रज्ञानमनोद्वारा प्रज्ञानमन सन्निकृष्टावस्थित शारीरकजीव में ईशकामना का आगमन होता है। एवं जीवद्वारा यह ईशकामना जीवसन्निकृष्टावस्थित इन्द्रियवर्ग के साथ संयुक्त होती है। मर्त्यविज्ञान से आरम्भ कर इन्द्रियवर्ग पर्य्यन्त व्याप्त ईशकामना का शारीरक-आत्मानुगत यही दूसरा प्रक्रम है। इसप्रकार अव्ययेश्वर-गता यही मूलभूता ईश्वरेच्छा अव्ययेश्वर से आरम्भ होकर तदुत्तरवर्त्ती अव्यक्त-महान्-अमृतविज्ञान-मर्त्यविज्ञान प्रज्ञान-आत्मा में परम्परया मुक्त होती हुई इन्द्रियवर्ग पर विश्राम करती है। इन्द्रियेच्छा जीवेच्छा प्रज्ञानेच्छा, मर्त्यविज्ञानेच्छा, अमृतविज्ञानेच्छा महदिच्छा, अव्यक्तेच्छा ये सातों आध्यात्मिक इच्छाएँ परम्परया प्रविष्ट अव्ययेश्वरेच्छा के ही तात्त्विकरूप हैं। और इस दृष्टि से जीवेच्छा-मानसेच्छादि से अनुकृत यच्चयावत् सत्कर्म्म ईश्वरेच्छामूलक ही मानें गए हैं। तत्प्रयुक्त बिना ईश्वरेच्छा के सहयोग के मनुष्य 'तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्तः'। यहीं यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि ऐसा है, तो क्या चोरी-हिंसा-आदि निन्द्य कर्म्म भी ईश्वरेच्छा से होते हैं? किं इस प्रश्न का उक्त ईश्वरेच्छा के परम्परानुगत भोग की दृष्टि से यह भी दिया जा सकता है कि, 'हाँ निन्द्य कर्म्म भी ईश्वरेच्छा से ही सम्बन्ध रखते हैं। इसी पर दूसरा यह प्रश्न उठ जाता है कि यदि ऐसा है, तो शास्त्रोपदेश का क्या प्रयोजन? हम क्यों निन्द्य कर्म्मों का निन्द्य फल भोगते हैं?, और ईश्वर भी क्या गुणात्मक असत्कर्म्म का प्रेरक बन कर अपने ईशत्व से वञ्चित होता हुआ कलङ्कभाजन बन जाता है?।

१५-'पयोदक दुर्गे वृष्टम्' का तात्त्विक समन्वय, एवं प्रश्नसमाप्ति—

उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में हमें यह कहना पड़ेगा कि, प्रवृत्तिमूलक वैदिक लौकिक यच्चयावत् शास्त्रीय सत्कर्म्म तथा प्रवृत्ति-तमोमूलक लौकिक यच्चयावत् व्यावहारिक असत्कर्म, तथा निन्द्य कर्म्म, इन सब कर्म्मों का मूल ईश्वरेच्छा नहीं है अपितु जीवेच्छा है। क्या जीवेच्छा उक्त परम्परानुगता ईशकामना के भोग से ईश्वरेच्छा का ही रूपान्तर नहीं है?, है, और अवश्य है। फिर किस आधार पर जीवेच्छा का ईश्वरेच्छा से पार्थक्य माना गया?। एकमात्र इसी प्रश्न के उत्तर पर समस्या का निराकरण हो रहा है, जो उत्तर निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

> यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
> एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥
>
> —कठोपनिषत् ४।१४।

एक बहुत बड़ा पर्वत है। उस विशाल पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर एक दुर्ग (किला) बना हुआ है। दुर्ग अनन्ताकाश से वेष्टित है। अनन्ताकाश के क्रोड में इन्द्र-पर्जन्य-धूम-ज्योति-शरीस-वायु-के समन्वय से समुत्पन्न मेघ आ जाते हैं। पानी दुर्ग पर बरसने लगता है। दुर्ग पर बरसा हुआ पानी पर्वत पर आता है पर्वत से निर्झरित हो कर यह धरातल पर आ जाता है। भूतमय धरातल पर आया हुआ पानी इतस्ततः विभक्त बनता विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होता हुआ धरातल में व्याप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—मेघा-धारभूत अनन्ताकाश जलाधारभूत आकाशस्थ मेघ मेघविस्तृतजल, दुर्ग, पर्वत पयोदकप्रवाहक धरातल सब स्वच्छ हैं निर्मल हैं। परन्तु धरातल के विभक्त विभिन्नमार्ग अस्वच्छ हैं मलिन हैं। इन विभिन्न पथों के अनुगमन से ही स्वच्छ-निर्मल भी जल अस्वच्छ और मलिन हो जाता है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समन्वित। अनन्ताकाश के स्थान में अनन्ताकाशात्मक, अतएव 'आकाशात्मा' नाम से प्रसिद्ध 'प्रत्यगात्मा नामक अव्यये-

श्वर है। नभस्वान्-आकाशलक्षण अव्ययात्मा का भी इसी में अन्तर्भाव है। महानात्मा मेघस्थानीय है। महानात्मा में परिपूर्ण सोमरस जलस्थानीय है। विज्ञानात्मसम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा दुर्गस्थानीय है। शारीरकआत्मा के सोमसम्पर्क परमासोम से क्रमशः बनता हुआ पर्वत स्थानीय है। पाञ्चभौतिक पार्थिव शरीर पर्वतोपत्यकाक्रम परखण्ड है। इसप्रकार अनन्ताकाश मेघ जल दुर्ग, पर्वत, पर्वतोपत्यका-स्थानीय अव्ययात्म-गर्भित अव्ययेश्वर, महानात्मा सोम, प्रज्ञानात्मगर्भित विज्ञानात्मा, शारीरकआत्मा, शरीर, ये सब आध्यात्मिक पर्व स्वस्वरूप से अनन्यप्रकाशविशिष्ट् स्वच्छ हैं, निर्मल हैं। सब में वही अखण्ड अभिन्न-निर्मल चारुरस, और उपनिषत्कारा शश्वत् एकरूपमना प्रवाहित है। परन्तु विभिन्न-विभक्त-मार्गस्थानीय विषयानुगत इन्द्रियवर्ग अपनी पराग्-वृत्ति के कारण विषयासक्त बनता हुआ अस्वच्छ है मलिन है। इसके सम्पर्क में आते ही महानात्मयुक्त चैतन्यरस, एकरूपा एकरूपमना स्वस्वरूप से स्वच्छ-निर्मल रहती हुई भी विभिन्न ऐन्द्रियक धर्म्मों की ओर अनुधावन करने से अस्वच्छ-मलिन हो जाती है। इन्द्रियानुगत पृथक् धर्म्मों का जलरूपमना ने अनुगमन क्यों किया ?, इसका उत्तरदायित्व भी वस्तुतः जीवात्मा पर नहीं है। कारण-जिन इन्द्रियों से जीवात्मा विभिन्न धर्म्मात्मक बाह्य गुणात्मक विषयों की ओर अनुधावन करता है उन इन्द्रियों का स्रष्टा स्वयं प्रजापति की ओर से बहिर्मुख है। सभी इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं। बहिर्मुख इन्द्रियवर्ग यदि बाह्य विषयों की ओर अनुधावन करे, तो इसमें इन्द्रियों का, और जीवात्मा का क्या दोष है। व्यक्त-विभक्त-लक्षण अतएव मृत्युधर्म्माक्रान्त जीवात्मा पराङ्मुख इन्द्रियवर्ग के अनुग्रह से यदि विभिन्न धर्म्मानुधावन करता हुआ मर्त्यरूप बन जाता है तो इसमें इसका क्या दोष है। इस स्वाभाविक-प्राकृतिक-मृत्युधर्म्म से बचने का एक उपाय है। वही उपाय बुद्धियोग कहलाया है। इन्द्रियसंयमपूर्वक इन्द्रियों को अन्तर्मुख बनाइए, बाह्य धर्म्मानुधावन अवरुद्ध हो जायगा। जीवात्मा का विद्याबुद्धि से योग हो जायगा। विद्याबुद्धि का अव्ययेश्वर से स्वाभाविक योग है। तद्योगानुगत बुद्धियोग से जीवात्मा का भी अव्ययेश्वर से योग हो जायगा। फलतः अव्ययेश्वर के अमृतधर्म्म का जीवात्मा से योग हो जायगा और इसप्रकार जीवात्मा अमृतधाम का लेगा। इस बुद्धि-योगात्मक उपाय का निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठोपनिषत् ४।१।१।

इन्द्रियार्थानुगत बाह्यविषयसम्पर्कजनकरूप आवरण का कृष्ण-धारणा (जाला मल) है जिसमें होकर आने वाली श्वेतरश्मियां भी सूर्य्यरश्मियां कृष्णवर्णा में परिणत हो जाती हैं। सूर्य्यरश्मिप्रकाश स्वस्वरूप से सर्वथा श्वेत-निर्मल-स्वच्छ है। आप अपने चक्षु-पथ के आगे काला काच लगा कर देते हैं। इस में होकर आने वाला श्वेत भी प्रकाश आपके लिए काला बन जायगा। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। इन्द्रियार्थों के अनुग्रह से अध्यात्मसंस्था में प्रतिबिम्बनरूप से प्रतिष्ठित भावना-वासनात्मक संस्कार गुणात्मक कृष्णताभावात्मक आवरण हैं। आगत संस्कार प्रज्ञानमन में प्रतिष्ठित होकर मनोमय बन जाते हैं। मन पर विद्यात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित है। विज्ञानबुद्धि के प्रकाश से ही यो प्रज्ञानमन प्रकाशित होता है। सूर्य्यज्योति ही प्रतिफलन के सम्बन्ध से चन्द्रमा की ज्योतिः स्वरूप में परिणत करती है। सूर्य्यस्थानीय विज्ञानात्मा (विद्या बुद्धि) का प्रकाश स्वतः निर्मल है। परन्तु चन्द्रस्थानीय प्रज्ञानात्मा मन) संस्कारसम्बन्ध से कृष्ण बन

रहा है। अतएव तदागत निर्मल भी विज्ञानप्रकाश मलिन बन रहा है। संस्कारात्मक मन क्षेत्र में मुक्त यही विज्ञानात्मा अविद्यात्मक है। यही अविद्याबुद्धि है जो मन के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने स्वाभाविक विद्याबुद्धिधर्म्म से वञ्चित हो रही है। मन में विज्ञानद्वारा आया हुआ आत्मज्योतिरंश, तथा ईशकामना संस्कार-सम्बन्ध से इसप्रकार स्वाभाविक सत्त्वगुणविकास से अभिभूत होकर आगन्तुक तमोगुण की अनुग्राहिका बन जाती है। संस्कारादिमिश्र यही ईशकामना गुणसम्बन्ध से 'जीवकामना' कहलाने लग जाती है। यही जीवेच्छा उत्थाप्याकांक्षा कहलाई है जिसका बुद्धियोगप्रकरण में विश्लेषण किया जा चुका है। संस्कारस्तेन यह इच्छा जीवेच्छा है, यही पतन का निम्न कर्म्मप्रवृत्ति का मूल कारण है और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि,—'ईश्वरेच्छा कभी निम्न कर्म्मों को प्रेरणाबल प्रदान नहीं करती'। संस्कार तथापि इच्छा है यही, जो परम्परया आगत है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि, 'निम्न कर्म्मप्रवृत्ति भी ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है'। इसप्रकार पूर्वकथनानुसार इस समस्या के हाँ—ना—दोनों ही उत्तर हो सकते हैं। हमारे अपने सांस्कारिक दोष से ईश्वरेच्छा जहाँ हमारे (जीवात्मा के) दुःख का कारण बन जाती है वहाँ हमारे अपने साध्य बुद्धियोग से ईश्वरेच्छा हमारे बन्धनों की निवृत्ति का कारण बन जाती है। संस्कारबन्धनस्तेन वही प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा का शत्रु बन कर उसे पतनोन्मुख बना देता है, एवं संस्कारबन्धनाभाव में वही प्रत्यगात्मा शारीरक आत्मा का मित्र बन कर उसे संसारसागर से बचा ले जाता है।

१६—आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः-बुद्धियोगानुष्ठानेन, एव आत्मैव रिपुरात्मन -आसक्तिबन्धनेन

तत्त्व का समन्वय भी कीजिए कि, न ईश्वर हमारी भलाई में सहयोग देता, न बुराई में। हम स्वयं उसकी ज्योति से अपनी भलाई भी कर सकते हैं, बुराई भी। हमारी आँखों के सामने काला कांच है। अपने स्वभाव से सर्वत्र फैलती हुई श्वेत—सूर्य्यज्योति हमें काली दिखाई देने लगती है। इसमें न तो सूर्य्यज्योति का अनुग्रह है न निग्रह है। उसे श्वेत बनाए रखना भी हमारा अपना पुरुषार्थ है काला बना कर देखना भी हमारा पुरुषार्थ है। इसी आधार पर—'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा स्वकर्म्मसूत्रग्रथितो हि लोकः' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। उपयोग करने वाले की योग्यता से अच्छी वस्तु बुरी भी बन जाती है अच्छी भी बनी रहती है। ईशज्योति सर्वत्र सम है। हम अपने दोष से (संस्कारसे) उसे मलिन बना कर उसे अपना शत्रु बना कर तद्द्वारा निम्न कर्म्मों का भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं बुद्धियोग से उसे स्वस्वरूप में विकसित रखते हुए तद्द्वारा अबन्धनकर्म्मों का भी अनुगमन कर सकते हैं। इसी तत्त्व को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है—'आत्मा (प्रत्यगात्मा ही बुद्धियोगसम्बन्ध से) आत्मा का (शारीरकआत्मा का) मित्र बन कर आत्मा का (इस का) उद्धार कर देता है, एवं आत्मा ही (आसक्तिसम्बन्ध से) आत्मा का शत्रु बन कर आत्मा को गिरा देता है—'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः'-बुद्धियोगानुष्ठानेन, एवं 'आत्मैव रिपुरात्मनः'—आसक्तिबन्धनेन।

१७—'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य' इत्यादि उत्तर श्लोकसमन्वय—

'उद्धरेदात्मनात्मानम्०' इत्यादि प्रथम श्लोक के समन्वय की चेष्टा की गई। 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य' इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी समन्वय का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् कहते हैं-जिस शारीरक आत्मा (जीवात्मा) के द्वारा (बुद्धियोगानुष्ठान से) प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) जीत लिया जाता है उस शारीरक आत्मा का प्रत्यगात्मा बन्धु बन जाता है। अर्थात् स्वस्थान में प्रतिष्ठित प्रत्यगात्मा उस शारीरक आत्मा के

लिए बन्धु सिद्ध हो जाता है जो शारीरिक आत्मा योगानुष्ठान से संस्कारावरणों को हटाता हुआ प्रत्यगात्मा के निर्मल ज्ञानप्रकाश को अपने अधिकार में कर लेता है तस्यात्मन'-(शारीरात्मन') आत्मा (प्रत्यगात्मा) बन्धु (भवति), येनात्मना (शरीरात्मना) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) जितः-'यही अन्वयक्रम है-जिसका 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित' इस वाक्य से समर्थन हुआ है। ठीक इसके विपरीत जो शारीरक आत्मा इन्द्रियानुगत सांसारिक विषयों की आसक्ति में आबद्ध हो जाता है उसका अपना आत्मस्वरूप प्रत्यगात्मा अनात्मभाव से अनात्मरूप में परिणत हो जाता है। संस्कारबन्धन से अनात्मा बने हुए (आत्मविकास से वञ्चित बने हुए) शारीरकआत्मा का वह प्रत्यगात्मा बन्धु न रह कर शत्रु बन जाता है। और उस दशा में वह प्रत्यगात्मा ही (इस शारीरक आत्मा के साथ) शत्रुवत् व्यवहार करने वाला सिद्ध हो जाता है। 'शत्रुवत्' का तात्पर्य यही है कि प्रत्यगात्मा अपनी ओर से न बन्धु है, न शत्रु है। जीवात्मा की योग्यता के तारतम्य से ही वह बन्धुवत् और शत्रुवत् बन जाता है। 'सांसारिकविषयासक्त्यपराधात् अनात्मनः (आत्मस्वरूपवञ्चितस्य जीवात्मनः) शत्रुत्वे (प्रत्यगात्मनि शत्रुभावे परिणते सति) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव जीवात्मना सह) शत्रुवत् वर्तेत' यही अन्वयक्रम है जिसका- अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् इस वाक्य से समर्थन हुआ है।

१८-मनो-वाक् का 'अहंश्रेयो' वाद—

प्रकरणप्राप्त आत्मोद्धार-आत्मपतन की मीमांसा चलती रही। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया था कि देवता आत्माभिमान से बच गए, एवं असुर आत्माभिमान से हार गए (५।११।६)। आत्मा से यहाँ सर्वानुभूत प्रत्यगात्मा (अव्ययेश्वर) अभिप्रेत है। इस आत्मा का पूर्ण विकास ही आत्माभिमान है जिसका केवल अन्तर्जगत् से सम्बन्ध माना गया है। बहिर्जगत की यहाँ गति नहीं है। जिसका यों विश्लेषण किया गया है कि-"एकबार मन, और वाक् में अहंश्रेयोभाव को लेकर संघर्ष चल पड़ा। मन कहता था मैं तुम से बड़ा हूँ क्योंकि मैं जैसा संकल्प करता हूँ तुम्हें वैसा ही व्यापार करना पड़ता है। वाक् कहती थी, मैं तुम से बड़ी हूँ। मैं न होती, तो तुम्हारा संकल्प कभी कर्मरूप में परिणत न होता। इसप्रकार मन वाक् को स्वानुगत बतलाता था एवं वाक् मन को स्वानुगत बतला रही थी। दोनों जब निर्णय में असमर्थ हो गए, तो प्रजापति (प्रत्यगात्मा) के समीप पहुँचे। प्रजापति ने यह निर्णय कर डाला कि, 'तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है'। प्रजापति के इस निर्णय से असन्तुष्ट होकर वाक् ने अपना रोष इन शब्दों में प्रकट कर डाला कि- हे प्रजापते! आपने आज मुझ मन की अपेक्षा क्षुद्र कहा है। अतएव आज से मैं आपके लिए 'अहव्यवाहिनी' ही बनी रहूँगी। फलस्वरूप तब से उस वाक् ने प्रजापति के लिए हव्यवहन करना छोड़ दिया'। अतएव आज भी यज्ञ में प्रजापति के लिए जो कर्म किया जाता है वह उपांशु (वाग्व्यापार-विना मनसा के) ही किया जाता है" (देखिए शत० १।४।५।८ब्रा०)।

१९-अभिमान, एवं अतिमान-व्यवहारों का पार्थक्य—

तात्पर्य आख्यान का यही है कि, इसतत्त्व प्रत्यगात्मा ही प्रजापति है। वह अनिरुक्त है एवं यहाँ वाक् का प्रवेश है। वाक् निरुक्त का है 'प्राजापत्यं'(प्राजापत्य कर्म उपांशु ही होता है। 'यतो' वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' के अनुसार यहाँ वाक् का गमन सर्वथा अवरुद्ध है। और यही आत्माभिमान का यथार्थ परिचय है। अपना नहीं, प्रत्यगात्म लक्षण (स्वकीया) अपने आपको परिपूर्ण मान आत्मरूप में प्रकट करना अपने आपको निरुक्त

शील । विनय-शीलता का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, आप अपने आपको अल्पज्ञ-मूर्ख-निर्धन कह कर घोषित करते रहें । अपितु 'योऽस्मि सोऽस्मि' के अनुसार आपका विनय केवल—'सब ठीक है, भगवान् का अनुग्रह है, सब आनन्द है, जीवनयात्रा का निर्वाह हो रहा है', एवंविध सामान्य वचनों के द्वारा ही प्रकट होना चाहिए । एवं आत्माभिमान केवल आत्मसम्पत्ति है । अतएव यह केवल अन्तर्जगत् की ही वस्तु बनी रहनी चाहिए । एवं इसके लिए आपको सदा सतर्क बना रहना चाहिए । आपकी इन्द्रियाँ शरीर, आदि भी भौतिक बनते हुए वाङ्मय ही हैं । क्योंकि पाँचों भूतों का मूल वाक्तत्त्व ही है । अतएव आपका आत्माभिमान यदि इन्द्रियों पर, शरीर पर थोड़ा भी झलक आया, तो आत्माभिमान का स्वरूप बिगड़ जायगा आत्माभिमान वागभिमानरूप में परिणत होकर अभिमानी असुरों की भाँति पराभव का कारण बन जायगा । आपकी वाणी, आँख नाक, हाथ, पैर, मस्तक आदि की किसी भी चेष्टा में अभिमान की झलक नहीं रहनी चाहिए । क्योंकि बाह्य चेष्टानुगत अभिमान आत्माभिमान न रह कर वागभिमान बन जाता है । साथ ही विनय का अनुचित उपयोग करते हुए आपको ऐसी चेष्टाओं का प्रदर्शन भी नहीं करना चाहिए जिससे कि आप सर्वथा दीन–हीन–मूर्ख–प्रतीत होने लगें । यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ रहा है कि आज आत्माभिमान वागभिमानरूप में परिणत हो रहा है । विद्या–वैभव से सम्पन्न व्यक्ति अपनी वाणी से चेष्टाओं से अपना बखान करते नहीं अघाते । विद्याभिमानी ऐसे अकड़ कर-ऐसे छाती तान कर चलते हैं मानों इन्होंने विश्वविजय कर लिया हो । चाहे जिसको मूर्ख नास्तिक कह बैठना प्रजाजनों का उत्पात करते रहना, 'सर्वं परिभवा' का चीत्कार करते रहना यही इनका विद्याभिमान है जो निश्चयेन किसी समय पराभव का कारण बन जाता है । यही दशा धनाभिमानियों की है । अपने समकक्षों को छोड़ कर अन्य साधारण व्यक्तियों से बात करने में भी ये धनमदान्ध अपनी मान हानि समझते हैं । धनाभिमान से विद्वानों का अपमान करना अपनी कुशलता–चातुर्य्य का बखान करते रहना ही इनकी जीवनचर्य्या बनी रहती है । निश्चयेन विद्याभिमानवत् धनिकों का यह धनाभिमान भी एकदिन इनके सर्वनाश का ही कारण बन जाता है । इसके साथ ही आत्माभिमान के तात्त्विक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहने कारण विनयपथ के अनुगामी कितने एक विद्वान् भी हम 'कुछ नहीं जानते हम तो मूर्ख हैं' इत्यादि दीन शब्दों में अनुचित विनय का प्रदर्शन करना अपना कर्त्तव्य मान बैठते हैं । एवमेव विनयशील कितनें एक धनिक जीर्ण-मलिन वस्त्र पहिने हुए, हमारे पास क्या रक्खा है हम तो आपके दास हैं इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते रहने में ही अपना गौरव समझने की भूल करते रहते हैं । ऐसा विनय भी एक प्रकार की आत्मप्रतारणा बनता हुआ वागभिमान बन कर पराभव का कारण बन जाता है एवं पूर्वोक्त उद्दण्डतालक्षण वागभिमान भी पराभव का कारण बन जाता है । 'असन्नेव स भवति–असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' श्रुति कह रही है कि–'विनय के भ्रम में पड़ कर यदि तुम 'कुछ नहीं है–हम क्या जानते हैं' इस न–न का पारायण करते रहे तो इस अल्पधारणात्मक अभिमान से तुम स्वयं किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठोगे । न मिथ्या विनय का प्रदर्शन उचित न उद्दण्डतात्मक वागभिमान का प्रदर्शन उचित । क्योंकि दोनों ही अभिमानरूपेण पराभव के हेतु बन रहे हैं । भगवान् के अनुग्रह से सब कुछ ठीक है इस सामान्यवाक्प्रयोग के अतिरिक्त जो व्यक्ति बात बात में भगवन्नाम का सम्पुट लगाते हुए अपने विद्यावैभव का बखान करते नहीं अघाते भगवान ने उन्हें समंजस प्राणी कहा है । एवं ऐसे वागभिमानियों की पराभवमूला वृत्तियों का दिग्दर्शन कराते हुए ही भगवान ने कहा है–

२ —वागभिमानी दाम्भिक विद्वानों, शासकों, तथा धनिकों का आत्यन्तिक पराभव—

"कभी शान्त न होने वाली कामना के कुचक्र में फँस कर दम्भ, मान मद से युक्त होते हुए व्यक्ति मोहवश असत्-परिग्रहों का संचय करते हुए आमरणान्त सर्वथा अपवित्र बने रहते हैं (गी० १६।१०)। ऐसे अनात्मवादी दम्भी पुरुषों की कामचिन्ता कभी नहीं मिटती। काम-भोग परायण अतएव सदा चिन्ता-कुल ऐसे व्यक्तियों का जन्म-मृत्यु प्रवाह प्रलयावस्था में ही रुकता है (१६।११)। एवंविध कामकामी पुरुष सैंकड़ों आशापाशों से आबद्ध रहते हैं। आशानुगत काम, और कामनिरोधजनित क्रोध से युक्त रहते हुए ये पुरुष अपने काम-भोग की पिपासा शान्त करने के लिए ही अन्याय से धनसंचय करते नहीं अघाते (१६।-१२)। 'आज मैंने (भगवान् की कृपा से) यह पा लिया, कल मेरा अमुक मनोरथ सिद्ध होजाएगा, मेरे कोष में अमुक सम्पत्ति है कल और भी सम्पत्ति मिल जाएगी (१६।१३) मैंने अपने बाहुबल से अमुक शत्रु को मार दिया है दूसरों को भी मार डालूँगा मैं सर्वसमर्थ हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ बलवान् हूँ सुखी हूँ (१६।१४) आढ्य (बहुधनसम्पन्न करोड़पति) हूँ, अभिजनवान् (विद्वान-वक्ता) हूँ मेरा जैसा आज (इस नगर में) कौन है मैं यज्ञ करूँगा दान करूँगा, प्रसन्न हूँगा" इसप्रकार ये वागभिमानी अज्ञान से विमोहित बने रहते हैं (१६।१५)। अपने आप को स्वयं ही बड़ा मानने का अभिमान करते हुए, अन्यायोपार्जित धनसे धनी, छद्मवेषी परिकरवर्गों के द्वारा प्राप्त मान से मानी मदोन्मत्त बने हुए ऐसे ही वागभिमानी केवल अपने नाम के लिए ही दम्भपूर्वक बिना ही शास्त्रविधि के पूजन-पाठ-उपासना-कथा-यज्ञ-आदि का आडम्बर किया करते हैं (१६।१७)। क्या दशा होती है इन अभिमानियों की अन्त में ?, सुनिएगा।

> तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
> क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
> आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
> मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

अन्य तु— एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

२१—स्मितहासानुगत उपांशुभावनिबन्धन आत्मैश्वर्य्य—

उक्त विवेचन से कहना यही है कि आत्मा वाक्मर्य्यादा (शब्दमर्य्यादा) से अतिभूत है। अतएव आत्मसौन्दर्य्य शब्दातीत बन कर ही विकसित होता है। शब्दों के द्वारा बखान करने से आत्मसौन्दर्य्य अभिभूत होजाता है। फलस्वरूप एवंविध वागभिमान से मनुष्य पराभूत होजाता है। तुमभले अपने आपको महान् परन्तु मुख से इस महत्ता का बखान मत करो, यही आत्माभिमान है और यही आत्मोद्धार का अन्यतम मार्ग है। अपना को यदि आप शब्दों के द्वारा प्रकट करते हैं तो यह वागभिमान है। अतएव महत्ता का बखान न करने के साथ साथ दैन्यसूचक शब्दों का भी प्रयोग मत करो। वागभिमान से पृथग्भूत आत्माभिमानपूर्वक यह दुर्भाव ही आत्मोद्धार के लिए निःश्रेयस-पथ है। एवंविध आत्माभिमान में न दम्भमय हास होता न अट्टहास

होता। होता है केवल उपांशु-आत्ममूलक मन्दहास, स्मितहास। आत्मवीर्य्यशाली महापुरुषों के मुख पर मन्दहास की प्रतिच्छाया सर्वदा अङ्कित रहती है। जिनका आत्मवीर्य्य वागभिमान से, एवं अन्यान्य अधर्म्मादि पाप्मा-संस्कारों के समावेश से हीनवीर्य्य बन जाता है उनका आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग शरीर, सब कुछ मुर्झा जाते हैं। यह मुर्झाव ही स्मितभाव की विरोधिनी, ऐश्वर्य्य की विरोधिनी 'अस्मिता' है। स्मित, हास, अट्टहास तीनों में से स्मितभाव ही आत्मविकास का सूचक है। अतएव आत्मविकासलक्षण, स्मितभावा-त्मक ऐश्वर्य्यभग के प्रतिद्वन्द्वी आत्मसंकोचलक्षण अनैश्वर्य्यभावात्मक क्लेश के लिए 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग करना अनुरूप माना गया है, जिस अस्मिता के स्वरूपविश्लेषण के लिए ही हमें आत्माभिमान-आत्मातिमान का स्वरूप बतलाना पड़ा है। और यही ऐश्वर्य्य, तथा अस्मिता-भावों का संक्षिप्त तात्त्विक विश्लेषण है जिसके आधार पर ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपज्ञान अवलम्बित है।

२२-ईश्वर का ऐश्वर्य्य—

प्रत्येक वस्तु का हृद्य आत्मा उस वस्तु का प्रातिस्विक ईश्वर माना गया है। इस प्रातिस्विक हृद् ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाला तद्वस्तु का महिमामण्डल ही तद्वस्तु का ऐश्वर्य्य माना गया है। एवं अब तक व्यक्तिभेद से विभिन्न बन हुए प्राणी-संस्था के अध्यक्ष (साक्षी) आध्यात्मिक ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले ऐश्वर्य्य का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अब दो शब्दों में समष्ट्यात्मक, विश्वव्यापक, आधि-दैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का स्वरूपपरिचय करा देना भी आवश्यक होगा। आनन्द-विज्ञान-मनोमय विद्यामय को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाला, मनःप्राणवाङ्मय कर्म्माक्षर को स्वस्वरूपनिर्म्माता बनाए रखने वाला ब्रह्मेन्द्रविष्णुसोमाग्निलक्षण-क्षरानन्त्यकारक-परामकृति नामक अक्षर को निमित्तकारण बनाए रखने वाला, प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नादलक्षण-पञ्चक्षरात्मक-अपराप्रकृति नामक आत्मक्षर को उपादानकारण बनाए रखने वाला अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-समष्टि से षोडशकल बने रहने वाला वेद लोक-देव-भूत-पशु-लक्षण-पञ्चक्षरात्मक विश्वप्रकृति से युक्त वाक्-आप-अग्नि इस शुक्रत्रय से शुक्रसमा-रूप में परिणत रहने वाला एवं अपेक्षया विश्वमूर्ति-अपपेक्षया विश्वकर्त्ता-अन्यापेक्षया विश्वाधार नामों से प्रसिद्ध तत्त्वविशेष ही 'ईश्वर' है। इस आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता ही 'ऐश्वर्य्य' कहलाया है।

उक्त लक्षण आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता ज्ञानैश्वर्य्य, क्रियैश्वर्य्य, अर्थैश्वर्य्य, भेद से तीन भावों में विभक्त मानी गई है। ज्ञानज्योतिर्म्मयलक्षण ज्ञानैश्वर्य्य है, यही इसका प्रथम, तथा मुख्य ऐश्वर्य्य है। क्रियात्मक कर्म्मप्रपञ्च उसका क्रियैश्वर्य्य है यही इसका विश्वस्वरूपसंरक्षक दूसरा ऐश्वर्य्य है। पाञ्चभौतिक अर्थप्रपञ्च उसका अर्थैश्वर्य्य है यही इसका विश्वात्मक तीसरा ऐश्वर्य्य है। ज्ञान-क्रिया-अर्थात्मिका इन ऐश्वर्य्यत्रयी से नित्य युक्त विश्वेश्वर सर्वत्र विकसित हो रहा है। त्रिविध ऐश्वर्य्यशाली इस ईश्वर की ईश्वरता इस लिए अक्षुण्ण है कि, यह स्वयमेव मायातीत विश्वातीत अखण्ड-व्यापक परात्पर परमेश्वर के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण किए हुए है। परात्पर परमेश्वर के परमैश्वर्य्यप्रदान से ही यह ईश्वर ऐश्वर्य्यशाली बना हुआ है। और यही आधिदैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन है।

२३–जीव का ऐश्वर्य्य—

जिस प्रकार महामायावच्छिन्न ईश्वर मायातीत परात्पर परमेश्वर का अंश है, तथैव विश्वगर्भ में रहने वाला योगमायावच्छिन्न प्रज्ञावर्ग (अस्मदादि जीववर्ग) उस महामायी, ऐश्वर्य्यसम्पन्न विश्वेश्वर का अंश माना गया है। वह कारण है, यह कार्य्य है। कारण के धर्म्म ही तो कार्य्यस्वरूप के निर्म्माता माने गए हैं। दूसरे शब्दों में—ईश्वरकारण के अंशात्मक–जीवकार्य्य में भी कारणेश्वर में मुक्त उक्त तीनों ऐश्वर्य्यधर्म्मों का योग सिद्ध हो जाता है। ऐश्वर्य्यशाली ईश्वर जैसे अपने ज्ञानैश्वर्य्य से सर्वज्ञ, क्रियैश्वर्य्य से सर्वशक्ति, तथा अर्थैश्वर्य्य से सर्ववित् बना हुआ है, एवमेव तदंशभूत जीवात्मा भी 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' के अनुसार ज्ञान–क्रिया–अर्थ नामक तीनों ऐश्वर्य्यों से नित्य युक्त रहता हुआ परिपूर्ण है। जो वह है सो यह है। जो वहाँ है, सो यहाँ है, और तत्त्वदृष्ट्या यह समतुलन यथार्थ बन रहा है।

२४–ईश्वरांशभूत, अतएव एश्वर्य्यशाली भी जीव का अनैश्वर्य्य–

किन्तु ! किन्तु इसलिए कि देखते हैं त्रिविध ऐश्वर्य्यशाली बना रहता हुआ भी जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, अल्पवित्–भावों का उपासक प्रतीत हो रहा है। 'अमुक विषय हमारी समझ में नहीं आया,' इस रूप से यह अपनी अल्पज्ञता का परिचय दे रहा है। 'हम अमुक काम करने में सर्वथा असमर्थ हैं' इस रूप से अपनी अल्पशक्ति का अभिनय कर रहा है। एवं 'हमारे कोष में अमुक वस्तु–सम्पति का अभाव है' इस रूप से अपनी अल्पवित्ता का परिचय दे रहा है। आत्मसीमा में ज्ञान–कर्म्म–अर्थ, तीनों ऐश्वर्य्यों के परिपूर्ण मात्रा से विद्यमान रहते हुए भी जीवात्मा अपने आपको इन ऐश्वर्य्यों से वञ्चित मान रहा है। आज हमारे कोष में धन नहीं, अन्न वस्त्र नहीं, उसको अन्न नहीं, उसको शान्ति नहीं इत्यादि रूप से देखो तब न–न भावात्मक अनैश्वर्य्य में ही यह जीवात्मा निमग्न देखा–सुना जा रहा है। जब इसके अन्तर्जगत् में समस्त ऐश्वर्य्यत्रयी विद्यमान है तो फिर क्यों जीवात्मा की यह दुर्दशा हुई ?, इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'अस्मिता' शब्द का जन्म हुआ है।

२५–लौकिक उदाहरण, और अस्मिता—

अस्मिता का जन्म होता क्यों है ? क्यों जीवात्मा आध्यात्मिक अव्ययेश्वर–के स्वाभाविक ऐश्वर्य्य–भोग से वञ्चित रह कर अपने आपको ज्ञान–क्रिया–अर्थैश्वर्य्यों से शून्य समझ लेता है ? इत्यादि प्रश्नों का एकमात्र कारण है अस्मितामयमात्मक विषयों के साथ जीवात्मा का प्रतिबन्धन–सम्बन्ध। सभी भौतिक विषय तमोगुण–प्रधान बनते हुए केवलरूप आत्मविकास से वञ्चित हैं। इसी आत्मविकासाभाव से उनमें जड़ता का उदय हो रहा है। जड़ता एक प्रकार का वह संकोचधर्म्म है, जिसके आलम्बन से चिद्घन आत्मा का चिद्विकासलक्षण ऐश्वर्य्य अभिभूत हो जाता है। यह विषयसंस्कारात्मिका जड़ता का मूल कारण बनती है उद्भवस्थानीय प्रजावर्गस्थ जीवेच्छा। इसके सहयोग से स्पन्दन–आगत विषयसंस्कार पहिले प्रज्ञानमन में प्रतिष्ठित होते हैं। प्रज्ञानद्वारा प्रज्ञानमन्परिष्कृत विज्ञानात्मा (बुद्धि) में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस परम्परागत अस्मितासंस्कार से विज्ञानात्मा का ऐश्वर्य्यात्मक स्वाभाविक ऐश्वर्य्यभाव अभिभूत हो जाता है बुद्धि 'अस्मिता' बन जाती है। संकुचित हो जाती है। अस्मिता (अविकसिता–संकुचिता) ऐसी बुद्धि ही अनैश्वर्य्यलक्षण लोक की प्रवृत्ति का कारण

न जाती है। अस्मितारूपिणी बुद्धि ऐश्वर्य्यात्मक अव्ययेश्वर नामक अपने मूलात्मा के विकासानुग्रह से वञ्चित हो जाती है। अतएव रहते हुए भी आत्मैश्वर्य्य के जीवात्मा इस अस्मिताबुद्धि के निग्रह से बालवत् अपने आपको असमर्थ बना लेता है।

२६–बाल-वृद्ध-भावानुगता अस्मिता का स्वरूपदिग्दर्शन–

संकुचित बुद्धि का नाम ही अस्मिता है, जिसका लौकिक उदाहरण बालक माना जा सकता है। एक बालक की बुद्धि प्रकृत्या अस्मिताभाव में परिणत रहती है। अतएव वह बात बात पर रोने लगता है, दुःखी हो जाता है। प्रचण्ड शब्द सुनने से, किसी के धमका देने से वह चमक पड़ता है और भयत्रस्त बन कर दौड़ कर माता के अञ्चल में जा घुसता है। जनसमुदाय (भीड़) को देख कर वह हक्का बक्का बना रह जाता है। चन्द्रमा से मन का निर्म्माण हुआ है। चन्द्रमा षोडशकल माना गया है। एक वर्ष में चन्द्रमा की एक कला मन में प्रतिष्ठित होती है। इसप्रकार सोलह वर्ष में चन्द्रमा की सोलह कलाएँ मन को परिपूर्ण बनाती हैं। इससे पहिले पहिले चान्द्र मन अपूर्ण ही बना रहता है। चान्द्र मन ही बुद्धि का आधार है। क्योंकि सोलह वर्ष से पहिले पहिले बालक का मन अपूर्ण रहता है अपरिपक्व रहता है, अस्थिर रहता है। अतएव तब तक तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि का भी पूरा विकास नहीं हो पाता। यही बालभावात्मिका स्वाभाविकी अस्मिता है। इसी आधार पर 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। कारण स्पष्ट है। पूर्ण-स्थिर चन्द्रमा पर ही सूर्य्य का पूर्ण स्थिर प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है। १६ वर्ष से पहिले अपूर्ण बने हुए चान्द्र प्रज्ञान (मन) पर सौर विज्ञान पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित नहीं होने पाता। अतः इससे पहिले पहिले ही बाल-बुद्धि पर माता-पिता आचार्य्यादि का अनुशासन चल सकता है। १६ वर्ष के अनन्तर चान्द्र षोडश कलाओं की परिपूर्णता से सौर विज्ञान पूर्णमात्रा से उदित हो जाता है बालक बालकपना छोड़ कर स्वतन्त्रमति बन जाता है। अतएव १६ से आगे इस पर अनुशासन नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है तो वह विद्रोही बन जाता है। इस अवस्था में तो सुहृद्भाव से ही इसका निग्रहानुग्रह किया जा सकता है। १६ वर्ष पर्य्यन्त का व्यक्ति बालक है इसकी बुद्धि अस्मिता है अपरिपक्वा है। अतएव इस अवस्था पर्य्यन्त इससे किसी विषय पर परामर्श (राय) नहीं लिया जा सकता। १६ वर्ष के अनन्तर ही लौकिक बुद्धि का परिपाक आरम्भ होता है। शतायुपुरुष की आयु के १०० वर्ष ५०–५० भेद से दो भागों में विभक्त हैं। पहिले ५० वर्ष पर्य्यन्त मानव-बुद्धि का उत्तरोत्तर उद्ग्राभ (चढ़ाव) है उत्तर के ५० वर्ष पर्य्यन्त निग्राभ (उतार) है। फलतः १६ वर्ष से आरम्भ होने वाले बुद्धिविकास की अन्तिम विश्रामभूमि ५० वाँ वर्ष बन जाता है। यहाँ से आगे के ५० वर्षों में यद्यपि बुद्धि रहती तो है अभिज्ञताबल से परिपक्व, किन्तु इन्द्रियशैथिल्य से इस वयोवस्था में अनवधानता (भूलना-विस्मृति) दोष का समावेश हो जाता है। अतएव ५० वर्ष से ऊपर की आयु का पुरुष लोकव्यवहारसञ्चालन में प्रमाद कर बैठता है। इसीलिए भारतीय वैज्ञानिकों ने यह आदेश दिया है कि, ५० के अनन्तर पुरुष लोकव्यवहार का परित्याग कर वानप्रस्थाश्रमी बन जाना चाहिए–'वनं पञ्चाशतो व्रजेत्'। तात्पर्य्य ५०–से आगे तथा १६ से नीचे नीचे पुरुष की बुद्धि लोकव्यवहारदृष्ट्या अस्मिताभावात्मिका बनी रहती है। अतएव इन दोनों अवस्थाओं में (बालक को, और वृद्ध को, दोनों को) परामर्श की अपेक्षा रहती है। इस लौकिक-व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा भी तात्त्विक अस्मिताभाव का समन्वय किया जा सकता है। बालक की अस्मिता प्राकृतिक है, पञ्चाशत्क की अस्मिता आगन्तुक है। बालक की अस्मिता

न्ता है। वंशजों के पूर्वगौरव के स्मरणमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रबुद्ध हो जाता है, अस्मिता हट जाती है।
रन के कारण भारतों की विरुदावली ने अनेक बार पराजित होते हुए क्षत्रियों को विजयलाभ कराया है।
के लिए समुद्रतट पर समवेत वानरसमूह जब लङ्कागमन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो
ओर की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जो मारुति अपने आपको समुद्रोल्लङ्घन में
माने हुए इस मीमांसा से तटस्थ बने एक ओर बैठे थे। जब इन्हें इनके स्वाभाविक ऐश्वर्य्यबल का
कराया जाता है, तो तत्क्षण आपकी अस्मिता पलायित हो जाती है। परिणाम क्या होता है?,
ऐसे ऐसे शतशः उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनमें पहिले से विद्यमान
कारण दबा रहता है। एवं अस्मिता के उपाधिविरोधी के द्वारा हटा देने पर
जाता है।

व्य का अभिनय—

अस्मिता के सम्बन्ध से जीवात्मा की बुद्धि आत्मैश्वर्य्य-
जाती है। इस स्थिति का यों भी समन्वय कर
बने हुए जीवात्मा की बुद्धि भी अस्मिता
उस ऐश्वर्य्यशाली परमात्मा के साथ योग नहीं होने
इनके योग में अस्मिता-प्रतिबन्धन का समावेश हो रहा
जीवात्मा में परम्परया मुक्त भी अणुऐश्वर्य्य उसी
कि कृष्णभाव के द्वारा आगत श्वेतरश्मि भी कृष्णरूप में

प्राप्तवयस्कता से कालान्तर में अपने आप छूट जाती है। प्राप्तवयस्क की अस्मिता छूटती है एकमात्र ऐश्वर्य-बुद्धियोगात्मक भक्तियोग से, जिसके सम्बन्ध में भी एक लौकिक उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है।

२७—काम्य ऐश्वर्य्य की अनित्यता—

मान लीजिए—देशाधिपति शासक लोकैश्वर्य्य से सम्पन्न है। इस ऐश्वर्य्यसम्पन्न शासक के वेतनभोगी अनुचर शासक के ऐश्वर्य्य से अनुप्राणित रहते हैं, शासक के ऐश्वर्य्य के भक्त (भाग-अवयव) बने रहते हैं। यही उस अनुचरवर्ग का 'भक्तित्व' है। इस भक्तित्व के प्रभाव से अनुचरवर्ग की अस्मिता छूटी रहती है। शासक का अनुचरवर्ग प्रजावर्ग के किसी सम्पन्न धनिक की अपेक्षा आर्थिक दशा में कोई महत्त्व नहीं रखता। धनिक-कोट्यधिपति है शासकानुचर अधिक से अधिक १ —२ मास कर लेता है। इसप्रकार धनैश्वर्य्य की दृष्टि से सम्पन्न धनिक की अपेक्षा शासकानुचर अत्यन्त निम्न श्रेणि में प्रतिष्ठित है। परन्तु शासक के भक्तित्व से धनिक जहाँ वञ्चित है वहाँ शासकानुचर शासक के उस भक्तित्व से अनुप्राणित है जो भक्तित्व धनिक के वित्तैश्वर्य्य से कहीं अधिक महत्त्वशाली है। यही कारण है कि सम्पन्न भी धनिक जहाँ शासनसत्ता से भयत्रस्त बना रहता है वहाँ शासकानुचर इस भय से विमुक्त बना रहता है। यही नहीं अपितु इसी भक्तित्व के अनुग्रह से शासक का एक क्षुद्र सेवक (चपरासी) भी सम्पन्न धनिक के लिए 'आप तो उनके खास आदमी हैं' इस सूक्ति-उच्चारणपूर्वक सम्मान्य बन जाता है। जब तक अनुचर शासक का अनुचर है तभी तक वह इस लोकास्मिता पर विजय प्राप्त किए रहता है। जिस दिन वह अपने अधिकारलक्षणात्मक भक्तित्व से गिर जाता है उस दिन इसमें वही अपने स्वरूप के अनुरूप अस्मिता प्रकट हो जाती है। यही भक्तिलक्षण-आगन्तुक ऐश्वर्य्य का लौकिक उदाहरण है जिसका अमभाव से सम्बन्ध है। अतएव इत्थंभूत ऐश्वर्य्य 'अनन्यभक्तियोग' अलभ्य है जिससे शाश्वत ऐश्वर्य्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

२८—ऐश्वर्य्यबोध का अभाव, एवं अस्मिता का आक्रमण, तथा तन्मूला दुःखप्रवृत्ति—

यह भी देखा सुना गया है कि, कभी कभी रहती हुई भी ऐश्वरता (स्वराडैश्वसामर्थ्य) अज्ञान के कारण विकसित नहीं हो पाती और उस दशा में वह दुःखी—असमर्थ बना रहता है। अपने ही घर में द्रव्य गड़ा हुआ है। हमें उसका बोध नहीं है। द्रव्याभावजनित दुःख हम पर आक्रमण करते रहते हैं। हम में सम्पूर्ण योग्यताएँ प्रतिष्ठित हैं, परन्तु कुचक्रियों ने—'तुम कुछ नहीं तुम कुछ नहीं' कह कर अपने स्वार्थसाधन के लिए हमें अस्मिता में व्याप्त रखा है। परिणामस्वरूप हम अपने आपको सर्वथा अयोग्य मानते हुए पराजित बन जाते हैं। वर्तमान शिक्षापद्धति में संग्रहीत कल्पित इतिहासों ने हीं तो भारतवर्ष की स्वाभाविक ईश्वरता को अस्मिता के आवरण से आवृत कर लिया है। 'हम कौन थे कौन हैं?' इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने वाला इतिहास हमें यह सिखा रहा है कि—'तुम अरण्य थे जंगली थे बर्बरोपासक थे, तात्पर्य्य—कुछ न थे'। इस प्रकार शिक्षण से हमारा पूर्वैश्वर्य्य अभिभूत होता जा रहा है। महाभारत युद्धप्रसङ्ग में शल्य की इसी नीति ने कर्ण के स्वाभाविक ऐश्वर्य्य को अभिभूत कर डाला था। यह भी तो सत्य है कि हम वाणी के द्वारा अस्मिता का भी प्रवेश करा सकते हैं और अस्मिता हटा कर ऐश्वर्य्य का समावेश भी करा सकते हैं। युद्ध करते हुए दो मल्लों में से जिस मल्ल के प्रति जनता—'शाबास बहादुर, मार लिया' इत्यादि उत्साहवर्द्धिनी वाणी का प्रयोग करती रहती है निश्चयेन उस मल्ल में शब्दशक्तिप्रवेश के द्वारा उत्साहक स्फूर्त्तिबल का उदय हो

जाता है । वीरों के पूर्वगौरव के स्मरणमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रबुद्ध हो जाता है, अस्मिता हट जाती है । राजस्थान के चारण भाटों की बिरुदावली ने अनेक बार पराजित होते हुए क्षत्रियों को विजयलाभ कराया है । सीतान्वेषण के लिए समुद्रतट पर समवेत वानरसमूह जब समुद्रागमन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो सहसा मारुति की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जो मारुति अपने आपको समुद्रोल्लङ्घन में असमर्थ पाते हुए इस मीमांसा से तटस्थ बने एक ओर बैठे थे । जब इन्हें इनके स्वाभाविक ऐश्वर्यबल का परिचय कराया जाता है, तो तत्क्षण आपकी अस्मिता पलायित हो जाती है । परिणाम क्या होता है ! यह सर्वविदित है । एवमेव ऐसे ऐसे शतशः उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनमें पहिले से विद्यमान भी ऐश्वर्य आगन्तुक अस्मिता के कारण दबा रहता है । एवं अस्मिता के उपायविशेषों के द्वारा हटा देने पर स्वतः सिद्ध ऐश्वर्य मेघापाये सूर्यवत् प्रकट हो जाता है ।

२९—आगन्तुक अस्मिता के द्वारा ऐश्वर्य्य का अभिभव—

ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए । आगन्तुक अस्मिता के सम्बन्ध से जीवात्मा की बुद्धि आत्मैश्वर्य्योद्‌भावक ऐश्वर्य्यबुद्धिभूत अपने विद्याबुद्धिभाव से वञ्चित रह जाती है । इस स्थिति का यों भी समन्वय कर लीजिए कि अस्मिता के सम्बन्ध से अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–अल्पवित् बने हुए जीवात्मा की बुद्धि भी अस्मिता (अविकसिता) बन जाती है । इस अस्मितबुद्धि का उस ऐश्वर्य्यशाली अव्ययात्मा के साथ योग नहीं होने पाता । योग है और अवश्य है । परन्तु उसके और इसके योग में अस्मिता–प्रतिबन्धन का समावेश हो रहा है । अस्मिता अनैश्वर्य्यलक्षणा अपूर्णभाव है । तद्द्वारा जीवात्मा में परम्परया युक्त भी अव्ययैश्वर्य्य उसी प्रकार अस्मिताभाव में ही परिणत हो रहा है जैसे कि कृष्णाभ्र के द्वारा आगत श्वेतरश्मि भी कृष्णरूप में परिणत हो जाती है ।

३०—साक्षी सुपर्णसखा के सान्निध्य से अस्मिता की निवृत्ति—

कैसे यह अस्मिता हटे ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए ही प्राचीनों की ओर से सख्य–मित्रयोग का आविष्कार हुआ है । संकोच उस समय अकस्मात् विकासरूप में परिणत हो जाता है, जब कि संकोचशाली व्यक्ति का किसी अपने से अधिक बलशाली सजातीय व्यक्ति से सम्बन्ध हो जाता है । लौकिक उदाहरणों से स्थिति का समन्वय कीजिए । अपरिचित, एतावता ही विजातीय व्यक्ति के सामने एक बच्चे की विनोदवृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं, अस्मिताभाव में परिणत हो जाती हैं । वही बच्चा परिचित, एतावता ही सजातीय माता–पिता–भगिनी–आदि के सामने आते ही पुष्पवत् विकसित हो पड़ता है । पूज्य–गुरुजनादि के सम्मुख हमारी मानस भावना उनके आधिकारिक बलापात से दबी रहती है । परन्तु एक मित्र के सामने हमारा अन्तर्जगत् विकसित हो पड़ता है । सांसारिक अपूर्णता की मूलकारणभूता अस्मिता तभी हट सकती है जबकि जीवात्मा अपने सजातीय बन्धु का आश्रय ले लेता है । आध्यात्मिक अव्ययेश्वर के अतिरिक्त इसका नित्य बन्धु दूसरा और कोई नहीं है जो सदा छायावत् इसके साथ युक्त रहता है । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि श्रुति के अनुसार साक्षीसुपर्ण नाम से प्रसिद्ध अव्ययात्मलक्षण परमात्मा तथा भोक्तासुपर्ण नाम से प्रसिद्ध शारीरकआत्मलक्षण जीवात्मा सयुक्–सखा (अभिन्नमित्र) हैं । जीवात्मा अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–अल्पवित् मित्र है, परमात्मा सर्वज्ञ–सर्वशक्ति–सर्ववित् मित्र है । जिस निर्धन का मित्र एक सम्पन्न धनिक हो, वह कभी भ्र

नहीं पा सकता, क्योंकि उस धनिक मित्र के साथ इस निर्धन मित्र का अनन्य सम्बन्ध रहा। सजातीय परिपूर्ण ईश्वरबन्धु के साथ जिस दिन इस अपूर्ण जीव का 'भक्ति' सम्बन्ध हो जाता है उस दिन उसकी परिपूर्णता इसकी अपूर्णता को भी परिपूर्णभाव में परिणत कर देती है, और यहीं जाकर जीव की अपूर्णतालक्षणा अस्मिता का एकान्ततः उच्छेद हो जाता है।

३१–अस्मितानिवर्त्तिका ईश्वरोपासना—

ज्ञान–क्रिया–अर्थैश्वर्यघन ईश्वर की उपासना का अर्थ है–उसका अहर्निश चिन्तन। इस चिन्तनरूप ध्यानभक्तिप्रवाह से उसकी ऐश्वर्यमयी रश्मि इसमें प्रवाहित होने लगती है। यही ईश्वरोपासना है जो अस्मितानिवृत्ति का मुख्य उपाय माना गया है। अपूर्णताजनिता दुःखनिवृत्ति की कामना से सम्बन्ध रखने वाली यह उपासना उपासना न रह कर काम्य भक्तियोग बन जाता है जिसे भक्तसम्प्रदाय में 'प्रेमाभक्ति'–'अनुरागो–पासना'–इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। इस काम्या भक्ति में क्या क्या दोष हैं ?, इसका अनुष्ठानप्रकार क्या है ?, इसका मूल लक्ष्य आत्मा कौन है ? उपासना और भक्ति में क्या तारतम्य है ?, इस काम्यभक्ति का भगवान ने स्थापन क्यों अनिवार्य माना है ?, इत्यादि भक्ति–उपासना सम्बन्धी यावत् प्रश्नों की मीमांसा त्रिकाण्डात्मिका 'भक्तियोगपरीक्षा' में की जा चुकी है। अतः यहाँ विश्लेषण अनावश्यक है। प्रकृत में विषयसङ्गति के लिए यही कह देना पर्याप्त होगा कि—

३२–काम्यभक्तियोगानुगता दोषपरम्परा—

'काम' तत्त्व प्रत्येक दशा में त्रिगुणभाव का उत्तेजक है। त्रिगुणभाव प्रत्येक दशा में आसक्ति का प्रवर्तक है एवं आसक्ति प्रत्येक दशा में आत्मबन्धन का कारण है। हमारा सांसारिक दुःखों से छुटकारा हो, हम अपनी अपूर्णता छोड़ कर परिपूर्ण बन जाँय इस कामना में ईश्वरकामना के साथ साथ सांसारिक उत्कण्ठा–कांक्षा–लक्षणा लोककामना का भी समावेश बना रह जाता है। अतएव ऐसी कामनामयी सगुणोपासना काम्य सगुण धर्मवत् आसक्ति का आत्यन्तिक निराकरण करने में असमर्थ बनी रह जाती है। जिस प्रकार–'त्रैगुण्य–विषया वेदा' के अनुसार काम्यकर्म त्रिगुणभावात्मक बनते हुए भगवान् की दृष्टि में त्याज्य हैं, एवमेव त्रिगुणात्मिका सगुणभावात्मिका काम्य–भक्ति भी भगवान की दृष्टि में अपरमार्थ ही बना हुआ है। कामना–मयी भक्ति में प्रेम का अतिरेक सम्भव है तन्मयता भी आ सकती है सांसारिक अस्मिता भी हट सकती है। परन्तु इसमें चिदात्मा का उदय नहीं होता। अव्ययेश्वर ही चिदात्मा है, और यह गुणातीत है–'अनादि–त्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः'। उधर कामभाव के सम्बन्ध से काम्य भक्तियोग का लक्ष्य बनता है–अक्षरगुणक–त्रिगुणभावात्मक सगुणेश्वर। निर्गुण चिदात्मा और सगुण–सविकार जीवात्मा, दोनों के मध्य में काम, तदनुरूपी गुणभाव तदुपयोगी प्रेमभाव आदि आदि अनेक विजातीय तत्त्व भक्तियों का समावेश हो जाता है जिनके कारण जीवात्मा का उस निर्गुण परमात्मा के साथ अनन्य सम्बन्ध नहीं हो पाता। यही काम्यभक्तियोग में प्रथम दोष है। दूसरा दोष है–ज्ञानवैराग्य का तिरस्कार। चिदात्मा ज्ञानप्रधान है इसी ज्ञान के सम्बन्ध से यह आसक्ति से सर्वथा विनिर्मुक्त रहता हुआ वैराग्यमूर्ति है। ज्ञान–वैराग्यलक्षण निर्गुण चिदात्मा का और अज्ञान–आसक्ति लक्षण सगुण जीवात्मा के मध्य में जब तक समानाधिकरण का अभाव है तब तक चिदात्मा की ज्ञान–वैराग्य–भावनाओं के अनुग्रह से जीवात्मा वञ्चित बना रहता है। ज्ञान–वैराग्य–वञ्चित

ऐसी भक्ति के अनुयायी भक्त प्रेमविभोर बन कर आँसू बहा सकते हैं, तन्मय हो सकते हैं, सम्भवतः परमपद भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कर्त्तव्यनिष्ठा से इनकी विच्युति हो जाती है। अतएव ऐसे काम्य-भक्तिमार्ग में काम्य कर्मयोगवत् वैय्यक्तिक स्वार्थसाधन तो हो जाता है परन्तु लोकाभ्युदयात्मक लोकसंग्रह नहीं होने पाता। प्रत्यक्ष में देख लीजिए न-गुणातिमका काम्यभक्ति दासभाव से भक्त को अस्मिता की अनुगामिनी बना रही है। आस्तिक प्रजा भगवद्विग्रहों के सम्मुख अपनी दासता का बखान करती नहीं अघाती। दासभावना अच्छी हो अथवा बुरी, दासभावना चिर अभ्यास में आकर कालान्तर में अवश्यमेव अस्मिता की जननी बन जाती है। प्रेमभाव से मनोव्यापक स्वरूप नहीं रहने पाता। फलतः एवंविध भक्तिमार्ग में वर्णाश्रमानुगत स्वाधिकारसिद्ध कर्त्तव्यकर्म से भी विच्युति हो जाती है। इन्हीं सब कारणों से कामनामयी यह भक्ति गीताशास्त्र से हेयाचरण ही मानी गई है।

३३—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष—

लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकप्रचलित इसी काम्य-भक्तियोग का कामना-संशोधनपूर्वक अव्यये-श्वरानन्यतासमावेश के द्वारा संशोधन कर इसे निष्कामभावात्मक बुद्धियोगस्वरूप प्रदान करते हुए इसका 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' रूप से गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है, जो ऐश्वर्य्यबुद्धियोग ज्ञान-वैराग्यपरिपूर्णा-निर्गुणभक्ति निष्कामोपासना आत्मोपासना ईश्वरानन्यता, आदि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार काम्य कर्मयोग ऋषिवंश में प्रचलित था एवमेव काम्यभक्तियोग प्रधानतः क्षत्रिय राजाओं में ही प्रधानरूप से परम्परया प्रचलित था। अतएव तन्मूला, तत्प्रकारप्रवर्तिता विद्या गीता में—'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्' इत्यादि रूप से 'राजविद्या' नाम से व्यवहृत हुई है। अतएव इसे हमनें 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ माना है।

३४—प्राचीनाभिमता योगत्रयी का गीताचार्य्य के द्वारा संशोधन—

काम्य-कर्मयोग में वर्णाश्रमसिद्ध काम्य कर्म्म का संग्रह अवश्य था परन्तु उसमें ईशभावना का अभाव था। कर्मठ मीमांसकों की दृष्टि में 'कर्म्म' ही ईश्वर बना हुआ था। इसी कर्म्माभिनिवेश से यह काम्य कर्मयोग हेय बन रहा था। भगवान् ने कामनात्यागपूर्वक इसको बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की। निष्काम-भावात्मक निष्काम-कर्मयोग में ईश्वरभावना का समावेश हुआ परन्तु गौणरूप से। प्रधानता कर्म्म की ही रही। एवमेव काम्य भक्तियोग में ईशभावना का समावेश अवश्य था, परन्तु प्रेमातिरेक के कारण इसमें वर्णाश्रमसिद्ध कर्मसंग्रह उपेक्षणीय बन रहा था। भक्तों की दृष्टि में ईश्वरनामसंकीर्तन ही प्रधान कर्म्म बना हुआ था। इसी भक्ति-अस्मिता से यह काम्य भक्तियोग हेय बन रहा था। भगवान् ने कामनापरित्याग से इसे बुद्धियोगरस प्रदान की। निष्कामभावात्मक इस भक्तियोग में ईश्वरानन्यतापूर्वक वर्णाश्रमानुगत लोकसंग्रहात्मक वर्णाश्रमकर्म का भी समावेश हुआ। ईश्वरभावना प्रधान बनी, कर्मभाव तदनुगामी बना। एवमेव कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में कर्म्म का समावेश कर इसे भी बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान की गई और तद्द्वारा इसे 'ज्ञानबुद्धियोग' रूप में परिणत किया गया। ज्ञान अवश्य प्रधान बना रहा परन्तु नियतकर्म्म का भी समावेश होगया। इसप्रकार कामनामय कर्मयोग में कामत्याग के द्वारा ———— कर्म्मसमावेश के द्वारा, एवं कर्म्मत्यागमय ज्ञानयोग में कर्म्मसमावेश।

नियमों का संशोधन किया। यही कारण है कि, गीता में प्रतिपादित कर्म्म–भक्ति–ज्ञान तीनों में से किसी भी योग पर दृष्टि डालिए, अधिकारसिद्ध कर्म्म का पक्षपात सर्वत्र समर्पित उपलब्ध होगा। भगवान् अर्जुन को कर्म्मयोग का उपदेश दे रहे हैं साथ साथ क्षत्रियवर्णोचित युद्धकर्म्म की प्रधानता की ओर भी उसका ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। 'भक्तोऽसि' कहते हुए 'युद्धयस्व' कहना भी नहीं भूलते। ज्ञानी कहलाते हुए भी उसे कर्म्ममार्ग पर आरूढ़ कर रहे हैं। वह कर्म्म वह भक्ति वह ज्ञान किस काम के जिनमें क्रमशः व्यक्तिस्वार्थ, कर्त्तव्योपेक्षा तथा कर्म्मत्यागभाव समाविष्ट हो।

२४—प्राचीनाभिमता योगत्रयी की गीताचार्य्य के द्वारा आत्यन्तिक उपेक्षा—

प्राचीनाभिमत इन तीनों योगों का लक्ष्य यद्यपि आत्मतत्त्व ही बनता है। परन्तु अव्ययगर्भित अक्षर अक्षरगर्भित क्षर, तथा क्षरगर्भित विकारक्षर इन तीन आत्मविवर्तों को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए ज्ञान–भक्ति–कर्म्म योग नामक प्राचीनयोग समत्वलक्षण उस बुद्धियोगतत्त्व से वञ्चित हैं जिसका समबलक्षण अव्ययभाव से सम्बन्ध माना गया है। अव्ययगर्भित अक्षर अव्यक्त है कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का यही आधार है। यहाँ केवल ज्ञान का संग्रह है। अतएव आत्मा के अर्द्ध कर्म्मांश से वञ्चित ऐसा ज्ञानयोग समत्व के स्थान में विषमता का ही जनक बना हुआ है।

अक्षरगर्भित क्षर व्यक्ताव्यक्त है। काममयात्मक लोकसंग्राहक कर्म्म से वञ्चित भक्तियोग की प्रतिष्ठा यही व्यक्ताव्यक्त तत्त्व बनता है। यहाँ अव्यक्तानुगत ज्ञान का एवं व्यक्तानुगत कर्म्म का, संग्रह यद्यपि दोनों का ही है। तथापि इस अव्यक्त ज्ञान से कामात्मिका शान्ति, तथा व्यक्त वैयक्तिक स्वार्थ–जनक कर्म्म से लोकसंग्रह का विघात हो रहा है। अव्यक्तलक्षणा यह यहाँ स्वात्मविषमता का कारण बन रहा है वहाँ व्यक्त कर्म्मविभ्रम यह लोकविषमता का भी कारण बना हुआ है। फलतः ज्ञानयोगवत् ऐसा भक्तियोग भी समत्वलक्षण योगधर्म्म से बहिष्कृत है। क्षरगर्भित विकारक्षर व्यक्त है। काममयात्मक, लोक–अभ्युदय से वञ्चित प्रवृत्तिलक्षण कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा यही व्यक्ततत्त्व बनता है। यहाँ ज्ञानयोगवत् कर्म्म का तो अभाव नहीं है तथापि ज्ञान का सर्वथा अभाव है। दूसरे शब्दों में यहाँ केवल कर्म्म का ही संग्रह है। अतएव आत्मा के अर्द्ध ज्ञानभाग से वञ्चित ऐसा कर्म्मयोग भी ज्ञानयोगवत् विषमता का ही जनक बना रहता है। धन–धान्यादि पत्नी–पुत्रादि ऐहलौकिक, तथा स्वर्गादि पारलौकिक, इन व्यक्तिगत स्वार्थों को उद्देश्य बना कर व्यक्तात्मा (क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा) के आधार पर कामनापूर्वक किया गया शास्त्रसम्मत–विहित कर्म्म ही प्राचीनाभिमत 'कर्म्मयोग' है। सांसारिक दुःखों से त्राण पाने के लिए, साथ ही अभिलषित धन–कामना की पूर्ति के लिए केवल कामनापूरक कर्म्मों की सिद्धि को उद्देश्य बना कर व्यक्ताव्यक्तात्मा (अक्षरगर्भित क्षरात्मा) के आधार पर कामनापूर्वक की गई इष्टदेवोपासना ही प्राचीनाभिमत 'भक्तियोग' है। सांसारिक कर्म्मों से घबरा कर इन से बचने के लिए सर्वविध कर्म्मों का ऐकान्तिक परित्याग कर अपने आपको विशुद्ध ज्ञानभाव में परिपक्व करने के उद्देश्य को लक्ष्य बना कर अव्यक्तात्मा (अक्षरात्मा) के आधार पर किया गया कर्म्मत्यागात्मक निवृत्तिकर्म्मसंन्यासानुगमन ही प्राचीनाभिमत 'ज्ञानयोग' है। तीनों योग क्रमशः ज्ञानाभाव, कर्म्मभाव कर्म्माभाव से अपूर्ण बनते हुए त्रिगुणात्मक हैं अतएव त्याज्य हैं। पूर्वोक्त बुद्धियोग की विलुप्ति से पहिले तीनों योगों का ही भारत में साम्राज्य था साथ ही तीनों क्रमशः ऋषिवंश राजवंश विप्रवंश में परम्परया प्रतिष्ठित-प्रचलित थे। भगवान् ने अर्जुन के प्रति बुद्धियोग का उपदेश करते हुए लोकसंग्रह की दृष्टि

से इन लोकप्रचलित तीनों प्राचीन योगों का भी गीताशास्त्र में समह कर लिया परन्तु संशोधन पूर्वक। कर्म्मयोग में कामत्यागपूर्वक, भक्तियोग में कामत्यागपूर्वक, एवं ज्ञानयोग में कर्म्मसमावेशपूर्वक भगवान् ने तीनों में अव्ययभावना प्रतिष्ठित की। फलतः तीनों अपूर्ण योग इस संशोधन से पूर्ण बन गए, समत्वलक्षण बुद्धियोग की प्रतिच्छाया से युक्त होते हुए बुद्धियोगरूप में परिणत हो गए। गीता के द्वारा संशोधित वे ही तीनों योग गीतापरिभाषा में धर्म्मबुद्धियोग (कर्म्मयोग) ऐश्वर्य्यबुद्धियोग (भक्तियोग), एवं ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग) नामों से व्यवहृत हुए, जिनमें से आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग का स्वरूप पूर्व स्तम्भ में बतलाया जा चुका है राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग प्रक्रान्त है, एवं सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग का विश्लेषण अगले स्तम्भ में किया जायगा।

३६—गीताभिमता योगचतुष्टयी—

जिस प्रकार प्राचीनाभिमत तीनों योगों की प्रतिष्ठा क्रमशः अव्यक्त-व्यक्ताव्यक्त-व्यक्त नामक आत्मविवर्त्त से एकमेव भगवान् के द्वारा संशोधित बुद्धियोगात्मक इन तीनों योगों के आधार कौन बने। इस प्रासङ्गिक प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। यह बतलाया जा चुका है कि, बुद्धियोग का उस सर्वेश्वर अव्ययात्मा से सम्बन्ध है, जिसके गर्भ में अव्ययस्ताक्षर व्याकाम्यक अक्षरगर्भित क्षर, एवं क्षरगर्भित विकारक्षर, तीनों पूर्वोक्त आत्मविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। अव्ययब्रह्म सर्वेश्वर हैं, इसका वाचक प्रणव माना गया है, एवं यह योगपरिभाषानुसार अविद्या अस्मिता, राग-द्वेष (आसक्ति), अभिनिवेश क्लेशों से सर्वथा शून्य, धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य, इन चारों भगों से नित्य परिपूर्ण, अतएव पूर्ण भगवान् माना गया है। प्रणव में अकार, उकार, मकार, ये तीन मूलमात्रा हैं, एवं अर्द्धमात्रा अमृततत्त्व है। यही तुरीय पद माना गया है। इन चार पदों से उस सर्वेश्वर के सर्वाव्यय विद्याव्यय, कामाव्यय, कर्म्माव्यय, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं। सर्वाव्यय सर्वात्मक है, यही वैराग्यबुद्धियोग नामक 'बुद्धियोग' का आधार बना हुआ है। विद्याव्यय आनन्द-विज्ञानमय है यही ज्ञानबुद्धियोग नामक 'ज्ञानयोग' का आधार बना हुआ है। कामाव्यय मनोमय है, यही ऐश्वर्य्यबुद्धियोग नामक 'भक्तियोग' का आधार बना हुआ है। कर्म्माव्यय प्राणवाङ्मय है, एवं यही धर्म्म-बुद्धियोग नामक कर्म्मयोग' का आधार बना हुआ है। तात्पर्य यही है कि, आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाङ्मय पञ्चकोशात्मक अव्ययपुरुष के आनन्दादि पञ्चकोशात्मक सर्वाव्यय, आनन्दविज्ञानमय विद्याव्यय, मनोमय कामाव्यय, प्राणवाङ्मय कर्म्माव्यय ये चार विवर्त्त हैं। ये ही चारों अव्ययविवर्त्त क्रमशः सर्वात्मा, विद्यात्मा, कामात्मा, कर्म्मात्मा इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। सर्वात्मा वैराग्यभग-प्रधान है विद्यात्मा ज्ञान-भग-प्रधान है कामात्मा ऐश्वर्य्यभग-प्रधान है, एवं कर्म्मात्मा धर्म्मभग-प्रधान है। वैराग्यभग से युक्त सर्वात्मा-लक्षण सर्वाव्यय अपनी सर्वता के कारण 'सर्वाव्यय' है। ज्ञानभग से युक्त विद्यात्मा-लक्षण अव्यय 'पराव्यय' है। ऐश्वर्य्य भग से युक्त कामात्मा-लक्षण अव्यय 'परावराव्यय' है। एवं धर्म्मभग से युक्त कर्म्मात्मा-लक्षण अव्यय 'अवराव्यय' है। अवराव्यय से क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा अनुगृहीत है परावराव्यय से अक्षरगर्भित क्षरात्मा अनुगृहीत है, पराव्यय से अक्षरात्मा अनुगृहीत है। अवराव्यय के सहयोग से समन्वित केवल विकारक्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मयोग जहाँ काम्य कर्म्मयोग है, वहाँ यही अवराव्यय के सहयोग से निष्कामभाव में परिणत होता हुआ धर्म्मबुद्धियोग है। परावराव्यय के सहयोग से समन्वित, केवल क्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित भक्तियोग जहाँ काम्य भक्तियोग है, वहाँ यही परावराव्यय के सहयोग से निष्कामभाव में

परिणत होता हुआ ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है। परात्मा के सहयोग से प्रभावित केवल अक्षरात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग जहाँ कर्म्मत्यागात्मक ज्ञानयोग है, वहाँ यही परात्मा के सहयोग से कर्म्मभाव में परिणत होता हुआ ज्ञानबुद्धियोग है। एवं अव्ययात्मा से युक्त सांख्ययोग वैराग्यबुद्धियोग है, जो भगवान् की अपनी मौलिक सम्पत्ति है। प्राचीनाभिमता योगत्रयी, तथा गीताभिमता योगचतुष्टयी, दोनों में क्या तारतम्य है, जिसका निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

प्राचीनाभिमता योगत्रयी—

१—अक्षरात्मा (अध्यक्षात्मा) —ज्ञानाधारः (कर्म्मत्यागलक्षणो ज्ञानयोगः)।

२—अक्षरगर्भित—क्षरात्मा (व्यक्ताव्यक्तात्मा) —भक्त्याधारः (कर्म्मनाश्यो भक्तियोगः)।

३—क्षरगर्भित—विकारक्षरात्मा (व्यक्तात्मा) —कर्म्माधारः (कर्म्मनाश्यः कर्म्मयोगः)।



गीताचार्य्याभिमता—योगचतुष्टयी—

१—आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः-अव्ययः-सर्वात्मा—सर्वानुभावकः (ब्रह्म मात्रा)——सर्वात्मकः

२—आनन्दविज्ञानमयः-अव्ययः————विद्यात्मा-अव्यक्तात्मानुभावकः (अक्षरः)—परात्मकः

३—मनोमयः-अव्ययः————ज्ञानात्मा-व्यक्ताव्यक्तात्मानुभावकः (क्षरः) परावरात्मकः

४—प्राणवाङ्मयः अव्ययः————कर्म्मात्मा-व्यक्तात्मानुभावकः (क्षरः)——अवरात्मकः



१—सर्वात्मकः—वैराग्यभागोपेतः—वैराग्यबुद्धियोगाधारभूमिः (सिद्धान्ता बुद्धियोगः)।

२—परात्मकः—ज्ञानभागोपेतः—ज्ञानबुद्धियोगाधारभूमिः (संशोधित-ज्ञानयोगः)।

३—परावरात्मकः—ऐश्वर्य्यभागोपेतः—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारभूमिः (संशोधित—भक्तियोगः)।

४—अवरात्मकः—धर्म्मभागोपेतः—धर्म्मबुद्धियोगाधारभूमिः (संशोधित—कर्म्मयोगः)।



१७—अध्यात्मसंस्था-युक्त चतुर्विध मनस्तन्त्र—

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग की आधारभूमि मनोमय अव्ययात्मा है। यही अव्ययात्मा 'सर्ववशीयस्' नामक मन कहलाया है। अव्ययात्मा से गर्भित, किन्तु प्रधानतया महदात्म-ब्रह्म से युक्त जो भक्तियोग जीवेच्छा के सम्बन्ध से भक्ति-ऐश्वर्य्यभाव में परिणत रहता है, यहाँ इस

कामममय श्वोवसीयस्-अव्ययमन से युक्त होकर ईश्वरकामना के सम्बन्ध से निष्काम-भक्तियोगरूप में परिणत हो जाता है। अध्यात्मसंस्था में युक्त मनस्तत्त्व का वैज्ञानिकों ने चतुर्धा विश्लेषण किया है। वे चारों आध्यात्मिक मन क्रमशः 'चिदात्मा, चित्त, प्रज्ञान, वेदनीय' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। सुख-दुःखानुभूति का आधारभूत संकल्प-विकल्पात्मक इन्द्रियमन ही 'वेदनीयमन' कहलाया है। 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' लक्षण के आधार पर ही इसे इन्द्रियमन कहा गया है। 'वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मनांसि' इस वेदसम्मत इन्द्रियपञ्चक में युक्त मन यही संवेदनीय इन्द्रियमन है जिसका पार्थिव स्तोमत्रिवृदादि के त्रियाव (२७) स्तोमात्मक चौथे आपोलोक में प्रतिष्ठित भास्वरसोम से निर्म्माण हुआ है। पार्थिव सोमात्मक यही इन्द्रियमन पहिला 'वेदनीय' मन है, जिसके लिए 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' प्रसिद्ध है। 'पञ्चमयो मनो ज्ञेयम्' से भी यही मन अभिप्रेत है। दूसरा है प्रज्ञानमन। 'अन्यत्र मे मनाऽभूत्-न प्राज्ञासिषम्' में पठित मन ही प्रज्ञानमन है। सर्वेन्द्रियों के सहयोग से यह जहाँ 'सर्वेन्द्रिय' कहलाया है वहाँ उक्त इन्द्रियलक्षण से अतीत रहता हुआ 'अनीन्द्रिय'-'अतीन्द्रिय' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। चन्द्रमा इस मन का प्रभव है। इन्द्रियमन बहिर्म्मन था यह प्रज्ञानमन अन्तर्म्मन है। 'यत् प्रज्ञानमुत चेतो०' इत्यादि यजुर्मन्त्र से इसी चान्द्र सोमात्मक प्रज्ञानमन का स्वरूपविश्लेषण हुआ है और यही अध्यात्मसंस्था में युक्त दूसरा मन है। तीसरा मन 'चित्त' नाम से प्रसिद्ध है। अव्ययात्मा चिदात्मा है। यह महानात्मा में गर्भ धारण करता है। चित् (अव्यय) के गर्भीभूत होजाने से महानात्मा भी चिन्मय बन जाता है और चिद्युक्त महानात्मा का यही चित्तत्त्व विषयबुद्धिलक्षण विज्ञानात्मा से नित्य संश्लिष्ट है। अतएव 'सत्त्वात्परो महानात्मा' इत्यादिरूप से विज्ञानात्मा को भी सत्त्व (चित्त) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। योगमाया के सम्बन्ध से यह महन्मन गुणात्मक बना रहता है। पारमेष्ठ्य महत्सोम ही इसका प्रभव है। पारमेष्ठ्य सोमात्मक यही महन्मन 'चित्त-सत्त्व गुण-' आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव सोमात्मक वेदनीय-इन्द्रियमन पार्थिव-कृष्णाग्नि (भूम्याग्नि) के सम्बन्ध से, चान्द्र सोमात्मक-प्रज्ञान-अनिन्द्रियमन कृष्णचन्द्र के सम्बन्ध से दोनों मन स्वरूप से कृष्ण हैं। परन्तु विज्ञानज्योति के सम्मिलन से तथा गर्भीभूत चिज्ज्योति के सम्बन्ध से चित्तलक्षण महन्मन स्वरूपतः ज्योतिर्म्मय है। इसी के सम्बन्ध से चान्द्रप्रज्ञान, और पार्थिव वेदनीय मन भी ज्योतिष्मान् बन रहे हैं।

चौथा मन 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। 'श्वश्वोवसीयस्मनं मेध्यमेवसाक्षस्त्वनं परम्' के अनुसार यह मन श्वोवसीयस्मन है। लक्षणात्मक महन्मन, रूपात्मक प्रज्ञानमन, प्रज्ञाप्राणात्मक इन्द्रियमन तीनों इसी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, तीनों इसी के मात्रायुक्त विवर्त हैं। यही अपने 'वसु स्याम' काम से वसीयान् बनता हुआ 'श्वोवसीयस' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' वाला मन यही मन है। मनआदी करणात्मा है, यह चौथा अव्ययमन कारणात्म है, आत्मलक्षण है। रस-बलात्मक, आनन्दमय यही मन अपनी अन्तश्चिति, बहिश्चिति से चिदात्मस्वरूप में परिणत रहता है। बलगर्भिता रसचिति ही आनन्द-विज्ञान है, यही मुक्तिसाक्षिणी अन्तश्चिति है। रसगर्भिता बलचिति ही प्राण-वाक् है, यही सृष्टिसाक्षिणी बहिश्चिति है। अन्तश्चिति ही अव्यय का पररूप है, बहिश्चिति ही अव्यय का अपररूप है एवं दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव उभयात्मक मन दोनों चितियों से अनुप्राणित रहता हुआ अव्यय का परावररूप है। क्योंकि इसी के आधार पर, इसी की मुमुक्षा-सिसृक्षा-कामना से अन्तः-बहिश्चितियों का विकास हुआ है। अतएव इस अव्ययमन को अवश्य ही 'चिदात्मा' कहा जा सकता है। आनन्द-विज्ञानात्मिका

अन्तश्चिति ही परात्परलक्षण चिदात्मा है । माया–मायामिका परिच्छिन्नचिति ही अक्षरात्मलक्षण कर्मात्मा है । एवं मध्यस्थ मनोमय अव्यय ही भूमात्मा है यही परात्परात्मा है । इसप्रकार अव्यय, महत्त्वर, प्रज्ञानघर, ऐन्द्रियक विश्वरवर, इन चार तत्त्वों के आधार पर क्रमशः चिदात्मा चित्त, प्रज्ञान, वेदनीय, इन चार मनस्तत्त्वों का उदय हो जाता है । इन चारों में से ऐश्वर्यलक्षण बुद्धियोगानुगमन में चौथे चिदात्मा नामक अव्ययमन के साथ ही अनन्यता स्थापित करनी पड़ती है । जिस दिन ऐश्वर्यबुद्धियोगोदय के हेतुभूत साम्य ऐश्वर्यबुद्धियोग से इस चिदात्मलक्षण अव्ययमन का विकास हो जाता है उस दिन अव्ययेश्वर के विविध ऐश्वर्य का विकास हो जाता है । ऐश्वर्यविकास ही चिदात्मा का अनुग्रह है । चितिभावात्मक चयन ही इस अनुग्रह का फल है । चयन ही आत्मशान्ति है । बिना चिति के आत्मा असन्तुष्ट रहता हुआ अशान्त बना रहता है । आत्मचिति (आत्मबल) से वञ्चित प्राणी कभी शान्ति–लाभ नहीं कर सकता । 'चैन' (शान्तिसुख) मिलेगा 'चयन' (आत्मचिति) से, तद्रूप चिदात्ममन के प्रति आत्मसमर्पण करने से । इसके अभाव में प्राणी 'अचेत्' बना रहता हुआ अशान्ति के गर्त में पड़ा रहता है । 'अचेत्' (अचयन–अचिति–स्वनिर्गमनलक्षणा अशान्ति) की निवृत्ति के लिए ही ऐश्वर्यबुद्धियोगलक्षण आसक्तिनिवर्तक, निष्काममनोयोग अनुष्ठेय माना गया है जिसे सफल बनाने के लिए हमें पहिले आध्यात्मिक मनस्तत्त्व का विश्लेषण करना पड़ेगा, तद्द्वारा चिति–(शान्ति)–धर्म प्रवर्तक श्वोवसीयस–नामक अव्ययमन को लक्ष्य बनाना पड़ेगा । एवं सर्वभूत अव्ययमन के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण करने के लिए गीताशास्त्र प्रतिपादित साम्य ऐश्वर्यबुद्धियोग का अनुगमन करना पड़ेगा ।

१–चिदात्मा—अव्ययमनः—श्वोवसीयसं मनः—आत्ममनः]—अव्ययम्

२–चित्तम्—महन्मनः—गुणात्मकं मनः—आभ्यन्तरमनः

३–प्रज्ञानम्—अनिन्द्रियकमनः–सर्वेन्द्रियमनः—अन्तर्मनः

४–वेदनीयम्—इन्द्रियमनः—मर्त्यमनः—बहिर्मनः

(२–४) [illegible]

३७–ऐश्वर्यात्मक विकास के विविध स्वरूप—

ऐश्वर्यलक्षण विकास तथा आसक्तिलक्षण संकोच दोनों प्रवृत्तियों का अनेक दृष्टि से समन्वय किया जा सकता है । पुष्पकलिका पर दृष्टि डालिए । कलिका (कली–डोडी) आसक्त है संकुचिता है अविकसिता है । वही ऐश्वर्यलक्षण विकासभाव में आकर पुष्पविधया अधिक देश में व्याप्त हो जाती है । जो पद्मकलिका आसक्त दशा में अणुपरिमित प्रदेश में प्रतिष्ठित थी, वही ऐश्वर्य की अनुगामिनी बन बन कर (खिल कर) प्रादेशमित प्रदेश घेर लेती है । तात्पर्य विकासाभाव में जिस की तथा स्वल्पदेश में प्रतिष्ठित थी, विकासदशा में उसी की तथा बहुदेशव्यापिनी बन जाती है । आसक्ति का विकास देशलक्षण था, पुष्पकलिका का विकास अधिकदेशव्याप्तिलक्षण है दोनों ऐश्वर्यों के स्वरूप में विभिन्नता है । सूर्यबिम्ब विवक्षावस्था से स्वल्पप्रमाण प्रदेश में प्रतिष्ठित है । वही रश्मियों के प्रसार से सम्पूर्ण त्रैलोक्यमण्डल में व्याप्त हो रहा है । यह रश्मिमण्डल सूर्यबिम्ब की महिमा है यही इसका ऐश्वर्यात्मक विकास है । यदि सूर्य का इस महिमारूप में विकास न होता तो पार्थिव प्रजा सूर्यप्रकाशाभाव से सर्वथा वञ्चित रह जाती । यह विकास

उक्त दोनों विकासों से विभिन्नजातीय है। पालक स्वशरीरसीमा से युक्त रहता हुआ दरुत्वमूलक विकास का अनुगामी बनता है। पुष्पकलिका स्वशरीरसीमा से प्रबद्ध हो कर अधिकदेशव्याप्तिमूलक विकास की अनुगामिनी बनती है। सूर्य्यानुगत विकास न तो सूर्य्यबिम्बात्मक सूर्य्यशरीर की दृढ़ता से सम्बन्ध रखता, न पुष्पकलिका की भांति तत्स्थानीय स्वयं सूर्य्यपिण्ड अधिक देश का अवगाहन करता। अपितु सूर्य्यपिण्ड से निकलने वाली रश्मियों का रश्मिमण्डल ही इसका विकासात्मक स्वरूप बनता है। बच्चे की बुद्धि का आयतन नहीं बढ़ता, अपितु उसकी मृदुता-कोमलता हट जाती है, वह स्थिरभावापन्न हो जाती है। यही बुद्धिस्थैर्य्य 'प्रौढ़ि' कहलाई है। यही प्रौढ़ता है। पुष्प में ठीक इससे उल्टा है। पुष्पकलिका कठिन होती है दृढ़ होती है। पुष्प मृदु होता है। मृदुभाव में परिणत होकर अधिक प्रदेश में व्याप्त हो जाने वाला यह पुष्पकलिका का ऐश्वर्य्य बालैश्वर्य्य से विभिन्न है। सूर्य्य में न काठिन्य है, न मृदुता है, एवं न अधिक देशावगाहित्व ही है। अपितु रश्मिरूप से इसका ऐश्वर्य्य विकसित होता है। इसप्रकार तत्तत् पदार्थों के तत्तत् विभिन्नगुणक-प्राकृतिक स्वरूपधर्म्मों के अनुरूप ही तद्विकासलक्षण तदैश्वर्य्य विभक्त हो रहे हैं।

३८-महिमा, और विकास का पार्थक्य—

महिम्न को लक्ष्य बना कर ही ऐश्वर्य्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। ईश्वरता सामर्थ्य एक वस्तुतत्त्वविशेष है। इस ईश्वरता का भाव ही 'ऐश्वर्य्य' कहलाया है। महिमा-शाली पुरुष ही ऐश्वर्य्य-सम्पत्ति से सम्पन्न बना रहता है। पूर्व के ऐश्वर्य्यस्वरूप-दिग्दर्शन से महिमा, और विकास की अभिन्नता सिद्ध हो रही है। परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। महिमालक्षण ऐश्वर्य्य भिन्न वस्तुतत्त्व है, एवं ऐश्वर्य्यविकास भिन्न वस्तुतत्त्व है। उदाहरण के द्वारा समन्वय कीजिए। ऐश्वर्य्यलक्षण महिमा के रहने पर भी यदि उसका विकास नहीं होता तो इस विकास के अभाव में ऐश्वर्य्य के रहते हुए भी अनैश्वर्य्यमूला अस्मिता का प्रवेश हो जाता है। एक स्थान पर प्रज्वलित दीपक रक्खा है। दीपार्चिमण्डल (दीपप्रकाशमण्डल) दीपबिम्ब (लौ) का ऐश्वर्य्य है महिमा है। हमने उस दीपक को किसी कपाटादि के द्वारा से ढांक दिया। इस समय आवरण से दीप-प्रभालक्षण ऐश्वर्य्य का नाश तो नहीं हुआ, परन्तु उसका विकास आवरण बद्ध बन गया। अतएव जो दीपक अपने ऐश्वर्य्य की विकासदशा में अन्धकार को अभिभूत कर देता था, वही दीपक आगन्तुक कपाटावरणरूप परिग्रह (संश्लेष) के सम्बन्ध से ऐश्वर्य्य के विकास से वञ्चित रहता हुआ अन्धकाराभिभव में असमर्थ बन गया। अविद्यालक्षणा अस्मिता में विद्यमान भी ऐश्वर्य्य के विकास का अभिभव कर डालती है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, आवरण की प्रबलता पर ही ऐश्वर्य्य का विकास अवरुद्ध होता है। आवरण की सजातीयता पर, तथा आवरण की निर्बलता पर ऐश्वर्य्य का विकास सर्वथा अभिभूत नहीं होता। उदाहरण वही दीपक बन रहा है। दीपार्चि के चारों ओर कांच का आवरण लग रहा है। कांच आवरण अवश्य है, परन्तु यह सजातीय आवरण है। अतएव प्रकाशात्मक ऐश्वर्य्य का प्रकाशरूप विकास अवरुद्ध नहीं हो पाता। एक रंगीन वस्त्र से कांच को ढक दिया। यह आवरण अभिप्राय के सम्बन्ध से प्रकाश के लिए विजातीय अवश्य है, परन्तु यह निर्बल है साथ ही रंगीनवर्णों के कारण अंशतः सजातीय भी। अतः इस आवरण के रहने पर भी प्रकाशैश्वर्य्य का विकास एकान्ततः अवरुद्ध नहीं होता। मन्दप्रकाश-विकास सुरक्षित रह जाता है। कनाडूना मोटा कपड़ा विजातीय आवरण अवश्य है परन्तु सूत्रपरमाणुओं के घनीभूत न होने से एवं च विजातीय भी आवरण निर्बल बन रहा है। अतः ऐसा निर्बल-विजातीय आवरण भी प्रकाशविकास की तथा

अभिभूत नहीं कर रहा। घनकृष्ण घन अभिप्रायपरिपूर्ण, अतएव घामच्छद रूप लौहादि विघातीय आवरण भी हैं प्रकाशापेक्षया मलवत् भी हैं। इनके आगमन से प्रकाशविकास अवश्यमेव सर्वात्मना आवृत्त होजाता है।

३६—चतुर्विध आवरणों के कारण ऐश्वर्य का अभिभव, एवं तन्मूला दुःखप्रवृत्ति—

ठीक यही स्थिति ज्ञानमय—मनोमय आत्मेश्वर के सम्बन्ध में घटित हुई है। आत्मेश्वर ज्ञानज्योतिर्मय दीपार्चि—(लौ)—स्थानीय है। सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था में तथा अध्यात्मसंस्था के मोग परिग्रह पर्यन्त व्याप्त आत्मपरिग्रहलक्षण शिखासामग्रत्व—स्थानीय है। इसीसे यह ऐश्वर्यशाली बना हुआ है। मलिन सत्त्वगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न सत्त्वसंस्कार सजातीय आवरण है। यह अभ्रस्थानीय है। इसके रहने पर भी आत्मैश्वर्य-विकास अवरुद्ध नहीं हो पाता। एवंविध प्राणी (जीवात्मा) को असत् कर्म्मप्रवृत्तिकाल में 'एवं मा कुरु' इत्यादि रूप से आत्मनिरोध प्राप्त होता रहता है। सत्त्वकर्म्मानुयायी एक व्यक्ति यदि लोभादिवशात् किसी असत्कर्म्म में प्रवृत्त होना चाहता है तो विवेकशील आत्मा उसे रोक देता है। क्योंकि सजातीय सत्त्वसंस्कारावरण उस आत्मविकास का अवरोधक नहीं बन सकता। रजोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न रजःसंस्कार, विजातीय अवश्य है परन्तु यह आत्मविकासापेक्षया निर्बल है। अतएव इसे इतरेतरावरणीय माना जा सकता है। यहां भी आत्मविकास सामान्यरूप से जागरूक बना हुआ असत्कर्म्मप्रवृत्ति का सामान्यरूप से निरोध करता रहता है। 'मत करो बहुत बुरा कर्म है' यह तक निषेधात्मक सत्त्वसंस्कारदशा में होता है। 'न करो तो अच्छा है', यह सामान्य निषेधात्मक रजःसंस्कारदशा में होता है। रजोमिश्रित तमोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न रजोगुणमिश्रित तमःसंस्कार विजातीय आवरण है परन्तु रजःसम्बन्ध से इसे घनभाव में परिणत होने का अवसर नहीं मिला है। यही घन काले मेघावरण से समतुलित आवरण है। अतएव यहाँ आत्मविकास आवृत तो हो जाता है, परन्तु सूक्ष्म विद्युत्स्थानीय रजोगुणकणिकाओं के द्वारा स्वल्प आत्मविकास कभी कभी जीवात्मा पर अनुग्रह करता रहता है। जिस प्रकार मन्दायु मनुष्य मध्य मध्य में सचेत होता रहता है, एवमेव रजोमिश्रित तमःसंस्कारसंस्कृत का असत्कर्म्मप्रवृत्ति में 'अरे बुरा कर रहे हैं इस रूप से कभी कभी उद्बोधन होता रहता है। विशुद्ध तमोगुणानुगत कर्म्मों से उत्पन्न विशुद्ध तमोगुणात्मक तमःसंस्कार विजातीय है और आत्मविकासापेक्षया अतिप्रबल बलवान् भी। अतएव यह तमोलक्षण मल—आवरण अति—भास्वान घोर—काला विजातीय लौह आवरणों से समतुलित है। इस महामलावरण पर इसकी सहसा से प्रविष्ट हो जाती है तो आत्मैश्वर्य्यविकास सर्वथा अभिभूत हो जाता है। आत्मज्ञानज्योति सर्वथा अन्तर्मुख बन जाती है। रहता हुआ भी आत्मैश्वर्य इस तमःसंस्कारमिश्रण की अभिमलता से आच्छादित बन जाता है। और इस दशा में पहुँच कर जीवात्मा उस ज्योतिर्मय परमात्मा के अनुग्रह से सर्वथा वञ्चित हो जाता है। जो जीवात्मा सत्त्व-रज-रजोमिश्रित मोहदशा में असत्कर्म्मप्रवृत्ति को आत्मानुग्रह से किसी समय बुरा समझता था, वही जीवात्मा विशुद्ध तमोदशा में पहुँच कर आत्मज्योति से वञ्चित होता हुआ अनन्त—सर्व—लोकनाश निन्द्य कर्म्मों में प्रवृत्त होता हुआ पद् पद् लक्षित भी तो अपने आपको हीन मानने के लिये तय्यार नहीं होता। सर्वज्ञानविमूढ ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में धर्म्म सदाचार, शास्त्र उपासना आदि सभी विभूतियाँ सर्वथा कल्पित, एवं निरर्थक ही बनी रहती हैं। एवं उस ज्ञाननिधि आत्मेश्वर की दृष्टि में क्रमशः अभिभूत एवंविध मूढों का एकान्ततः सर्वनाश हो ही जाता है 'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्–विद्धि–नष्टानचेतसः'। 'अचेतसः' का तात्पर्य है-विज्ञानात्मलक्षण मनोमय आत्मानुग्रह

का अभाव। कुहरा, श्वेतमेघ, सामान्य कृष्णमेघ, घनकृष्णमेघ चारों आवरण क्रमशः अभ्र, श्वेताभ्र, कृष्णाभ्र, घनकृष्णा, नामक इन चारों जीवावरणों से समतुलित होते हुए क्रमशः अस्मदुत्कर्षावरण, रजःसंस्कारावरण, तमोमिश्रित तमोऽसंस्कारावरण एवं विशुद्ध तमोऽसंस्कारावरण इन चारों के साथ आवरण है। कुहरा श्वेतमेघादि चारों आवरणों से सूर्यप्रकाशात्मक ऐश्वर्य का नाश नहीं होता अपितु उस ऐश्वर्य के विकास का अभिभवमात्र रहता है। विकासाभाव से रहता हुआ भी सूर्यैश्वर्य (सूर्यप्रकाशमण्डल) जैसे अन्धकार को हटाने में असमर्थ रह जाता है एवमेव रहता हुआ भी आत्मैश्वर्य अस्मितावरण से संकुचित रहता हुआ तमोमूला अशान्ति के निराकरण में असमर्थ बना रहता है। वास्तव–आत्मा (जीवात्मा) परमात्मा का अंश होने से स्वस्वरूप से सच्चिदानन्द-घन है, अतएव सत्यकामसत्य यह भी ऐश्वर्यभाव से सम्पन्न है। तथापि अस्मितालक्षणा अविद्या के आवरण से इसके ऐश्वर्य का विकास अभिभूत हो जाता है अत एव सर्वशक्तिशाली भी आत्मा अपने आपको शक्तिहीन मान बैठता है। और अस्मितालक्षणा यह शक्तिहीनता ही इसके अशान्तिलक्षणा दुःख का कारण बन जाती है।

४०—स्वाभाविक, और आगन्तुक विकास—

विकास आगन्तुक स्वाभाविक, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। आत्मविकास स्वाभाविक है, इसे बाहिर से नहीं लाना पड़ता। अपितु इस पर आए हुए अस्मितावरण को हटा देने मात्र से यथाकाल स्वयंमेव यह स्वतः प्रकट हो जाता है, जैसा कि—'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि' इत्यादि वचन से सिद्ध है। लोकविकास आगन्तुक है। इसे प्रयत्नपूर्वक बाहिर से संचित करना पड़ता है। जिस प्रकार भूतज्योति की प्रतिष्ठा प्राणज्योति मानी गई है एवमेव आगन्तुक लौकिक–भौतिक विकास की मूलप्रतिष्ठा स्वाभाविक–आत्म–विकास ही बना करता है। जिस प्रकार भूतज्योति के आयतन से प्राणज्योति विकसित हो पड़ती है एवमेव भौतिक आगन्तुक विकास से आध्यात्मिक आत्मविकास पुष्पित–पल्लवित हो जाता है। एक लौकिक मनुष्य पूर्ण बुद्धिमान् रहता हुआ भी अकिंचन दारिद्र्य के अनुग्रह से आगन्तुक भूतविकास से वंचित होता हुआ सर्वथा असमर्थ् बन जाता है—'दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी' प्रसिद्ध है। भूतसम्पत्ति के द्वारा आगत धन विभव आत्मसंस्था में स्फूर्ति उत्पन्न कर देता है, यह प्रत्यक्ष है। इसप्रकार आगन्तुक विकास से नूतन शक्तिसंचय के द्वारा आत्मविकास प्रकट हो जाता है, जिसका उदाहरण बालक बन रहा है। शिशु शरीर में आत्मा और शरीर, ये दो विभाग हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण भेद से शरीर तीन हैं। स्थूलशरीर भूतमात्राप्रधान है, सूक्ष्मशरीर प्राणमात्राप्रधान है एवं कारणशरीर प्रज्ञामात्राप्रधान है। अस्थिमांसादि सप्त धातुसमष्टिरूप प्रत्यक्ष दृष्ट भौतिक शरीर भूतमात्राप्रधान स्थूलशरीर है। प्राणापानव्यानसमानोदानलक्षण पञ्च प्राण-समष्टिरूप प्राणात्मक तत्त्व प्राणमात्राप्रधान सूक्ष्मशरीर है। एवं विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञान (बुद्धियुक्त मन) मानस–प्रज्ञामात्राप्रधान कारणशरीर है। कारणशरीर ऐन्द्रियक ज्ञान का अधिष्ठाता है सूक्ष्मशरीर शरीरव्यापार का प्रवर्तक है, एवं स्थूलशरीर आयतन है। शरीरत्रयेण ये तीनों शरीर भूतात्मक हैं। यही आध्यात्मिक भूतसम्पत्ति है। अव्यक्तस्वरूप महत्तत्त्व में प्रतिष्ठित प्रत्यगात्मा से नित्य संश्लिष्ट शारीरक आत्मा आत्मा है। यही आध्यात्मिक आत्मसम्पत्ति है। शिशु की यह आत्मसम्पत्ति तब तक स्वविकास–प्रचार में सर्वथा असमर्थ बनी रहती है जब तक कि इसकी शरीरत्रयीलक्षणा भूतसम्पत्ति भला प्रकार विकसित नहीं हो जाती। बुद्धिमनोमय–(मनात्मक कारणशरीर), शक्ति (प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर) एवं शरीरायतन तीनों भूतसम्पत्तियाँ अस्मिता भाव में परिणत हैं। अतएव न शिशु में बुद्धि का विकास है न बल का विकास है, न शरीर में दृढ़ता है।

अतएव यह सर्वथा अल्पबुद्धि–हीनबल–तामसभाव बना हुआ है। अतएव यह अपने को अपने आप पर प्रतिष्ठित रखने में असमर्थ है। भूख लगती है तो रो पड़ता है। भयभीत हो डर जाता है। आत्मनिर्भरता का सर्वथा अभाव रहता है। प्रत्येक क्रिया में पराश्रय की खोज किया करता है। इन भावनाओं से भय पाने के लिए माता पिता का सहारा ढूँढा करता है। इस पराधीनता से इसका अन्तर्जगत दुःखी बना रहता है। यही शिशु बल पाकर कैशोरभाव को प्राप्त हुआ तब युवावस्था में पदार्पण कर लेता है, तो इसके तीनों शरीर, तीनों भूतसम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। शिशु–अवस्थानुगता मूढ़ताभिव्यक्ति दूर हो जाती है। अतएव बाल्यावस्थानुगत दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। आत्मनिर्भरता का उदय हो जाता है। सिद्ध है कि, दुःख का एक कारण अस्मिता भी है। अस्मिता परतन्त्रता की जननी है, परतन्त्रता अपूर्णता की जननी है, अपूर्णता शून्यता की जननी है एवं शून्यता ही दुःख–दुःख है। इस शून्यता को पूर्ण करने के लिए मनुष्य यदि पराश्रय का अवलम्बन लेता है तो शून्यता अधिक मात्रा में प्रबल हो जाती है। परतन्त्रतानुगता पूर्णता शून्यताभिवृद्धि का कारण बनती हुई और अधिक दुःख का कारण बन जाती है। एकमात्र सुख तो आत्मनिर्भरता पर ही अवलम्बित है। यह आत्मनिर्भरता आत्मैश्वर्य–विकास पर ही अवलम्बित है। आत्मैश्वर्य–विकास अस्मितानिवृत्ति पर ही अवलम्बित है। एवं अस्मितानिवृत्ति राजविद्यानुगत 'ऐश्वर्यबुद्धियोग' (ऐश्वर्योदय के हेतु भूत साम्य बुद्धि योग) पर ही अवलम्बित है। परतन्त्रतामूलक अस्मिता नाम के आवरण को हटाने का प्रकार बतलाने वाली विद्या ही गीताशास्त्र में 'राजविद्या' नाम से व्यवहृत हुई है। एवं राजविद्यानुगत ज्ञान ही राजगुह्य इत्यादि नाम से व्यवहृत हुआ है जिसके समर्थक वचन गी० ५ प्र० में उद्धृत हो चुके हैं।

४१–ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का सारोपसंहार—

अनेक दृष्टियों से ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूप–विश्लेषण किया गया। 'राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिदमुत्तमम्' के अनुसार भूतैश्वर्यमूलक वैदिक राजर्षियों में परम्परया से अनुगत सर्वथा आत्मनिष्ठा ऐश्वर्यलक्षणा भक्ति ही 'भक्तियोग' कहलाया। लोकसंग्रहक भगवान् ने भगवद्भक्ति से गीता बन के साथ अपने इस बुद्धियोगशास्त्र (गीताशास्त्र) में इसका भी संग्रह किया। विस्मृतस्वरूपानुगत सर्वथा भक्तियोग कामनाप्रधान बनता हुआ अस्मितावृद्धि का कारण बन गया था। भगवान् ने आत्मनिष्कामभावात्मक संशोधन के द्वारा इस काम्य भक्तियोग को निष्कामभाव प्रदान कर इसे बुद्धियोगलक्षण का अनुगामी बनाया। भगवान् के द्वारा संशोधित एवंभूत निष्कामबुद्धियोगात्मक 'ऐश्वर्य–बुद्धियोग' की सर्वात्मना अभिव्यक्ति विद्या ही 'राजविद्या' कहलाई।

इति–बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मक द्वितीयप्रकरण
'ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः
द्वितीयस्तम्भ
(२)–२

श्री

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
द्वितीयप्रकरणान्तर्गत
'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
द्वितीयस्तम्भ-उपरत

(२)-२

श्री

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके द्वितीयप्रकरणे

ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः तृतीयस्तम्भ

(२)-३

श्री

ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

तृतीयस्तम्भ



१–अविद्याचतुष्टयीरूप आवरण—

'अविद्या–अस्मिता–राग–द्वेष–अभिनिवेशाः, पञ्च क्लेशाः' (पा० यो सू) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा को उसकी अपनी ईश्वरानुगता भगवत्ता से वञ्चित रखने वाले क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश भेद से पाँच भागों में विभक्त माने गए हैं । इत्थमेव चिज्ज्योतिर्लिन–प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान बनता हुआ ज्ञानात्मा है यही ज्ञानाव्यय आनन्द–विज्ञान–मनोमय माना गया है । आनन्द–विज्ञान–मनोमय अव्यय ही मुक्तिसाक्षी 'विद्याव्यय' माना गया है। जिसका तात्पर्य यही है कि, ज्ञानात्मक अव्यय ही विद्यात्मक अव्यय है । अतएव अव्ययात्मज्ञान को हम 'विद्या' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं । जिस प्रकार अविद्या का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान है अस्मिता का प्रतिद्वन्द्वी ऐश्वर्य्य है, राग–द्वेष का प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य है अभिनिवेश का प्रतिद्वन्द्वी धर्म्म है, एवमेव अव्ययविद्या किंवा विद्याव्यय का प्रतिद्वन्द्वी अविद्याभाव माना गया है । अव्ययात्मिका ज्ञानज्योति 'विद्या' है । इस विद्यात्मिका ज्ञानज्योति के स्वाभाविक विकास को आवृत कर देने वाला विद्याविरोधी आवरण ही 'अविद्या' है । अविद्याग्रस्त विद्याव्यय से युक्त जीवात्मा ही उक्त पञ्च क्लेशों की आधारभूमि बना रहता है । अविद्याग्रस्त विद्याव्यय ही अविद्याव्यय है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट किया जाने वाला है ।

२–विद्या–अविद्यात्मक अव्यय के सूर्य्यनिबन्धन चार–चार विवर्त्त—

विद्याव्यय स्वस्वरूप से एकात्मक है यही सर्वाव्यय है । एवमेव अविद्याव्यय भी स्वस्वरूप से एकात्मक ही है एवं यही असर्वाव्यय है । सर्वात्मक विद्याव्यय बुद्धिगत विद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार भागों में विभक्त हो जाता है । एवमेव असर्वात्मक अविद्याव्यय बुद्धिगत अविद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार भागों में विभक्त हो जाता है । बुद्धितत्त्व आध्यात्मिक आत्मसंस्थानपरम्परा के मध्य में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे कि बुद्धिप्रभव सूर्य्य आधिदैविक संस्थारूप पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित है । पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य के ऊपर महान् परमेष्ठी, अव्यक्त स्वयम्भू एवं 'षोडशीपुरुष' नामक ईश्वराव्ययपुरुष, ये अमृतात्मा प्रतिष्ठित हैं । एवमेव सूर्य्य से नीचे चन्द्रमा, पार्थिव वैश्वानरात्मा भूपिण्ड, ये तीन मर्त्यात्मा प्रतिष्ठित हैं । मध्यस्थ सूर्य्य का अमृतात्मानुगामी ऊर्ध्वभाग अमृतसूर्य्य है मर्त्यात्मानुगामी अधोभाग मर्त्यसूर्य्य है । इसप्रकार मध्यस्थ सूर्य्य अमृत–मर्त्य इन दोनों आत्मसम्पत्तियों से युक्त बना हुआ है । सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृत का साम्राज्य है नीचे नीचे मृत्यु का साम्राज्य है, जैसाकि–'तपतकिम्बावापोनमादित्यान् मत्र तन्मृत्युनाप्तम्' (शत० १ ।५।१।४।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है । मध्यस्थ सूर्य्य में प्रकार–पार्थिव दोनों धर्म्मों का समन्वय प्रत्यक्ष प्राप्त है । अत–'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार मध्यस्थ सूर्य्य में दोनों धर्म्मों की सत्ता सिद्ध हो जाती है ।

३–विश्वमध्यस्थ हिरण्यगर्भमूर्ति सूर्य्य, एवं उसके चार विभूति–विवर्त—

अवधानपूर्वक मध्यस्थ सूर्य्य पर दृष्टि डालिए। क्योंकि गीताशास्त्र की बुद्धियोगचतुष्टयी का आधार बुद्धिप्रवर्तक यही सूर्य्य है। मध्यस्थ सूर्य्य का ऊर्ध्वानुगत अमृतलक्षण अर्द्धभाग एक स्वतन्त्र तत्व है जिसे वैज्ञानिकों ने 'सावित्राग्नि' नाम से व्यवहृत किया है। यह सावित्राग्नि अमृताग्नि है यही अमृतलक्षण अपौरुषेय वेदतत्व है जिसका उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड में विस्तार से निरूपण हुआ है। प्राणवेदात्मक सावित्राग्निलक्षण अमृताग्निरूप अमृतसूर्य्य के गर्भ में ऊर्ध्वस्थित उक्त तीनों अमृतात्माओं के प्रवर्ग्यांश युक्त रहते हैं। महान् परमेष्ठी अव्यक्त स्वयम्भू षोडशी अव्ययपुरुष, इन तीनों ऊर्ध्वस्थित अमृतात्माओं के प्रवर्ग्यभाग इस अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से युक्त रहते हैं। फलस्वरूप इन तीन प्रवर्ग्यांशों से तथा अपने अमृतात्म भाग से अमृतसूर्य्य चतुष्कलपरियुक्त बन रहा है। अमृताग्निलक्षण प्राणवेदात्मक अमृतसूर्य्य का प्राणवेदानुगृहीत वेदात्मक कर्म्म ही 'धर्म्म' है। अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित महान्–परमेष्ठी के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत हृद्–उक्–थो–क्थ पारमेष्ठ्य तत्व ही 'ऐश्वर्य्य' है। अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से युक्त अव्यक्त स्वयम्भू के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत अव्यक्त तत्त्व ही 'ज्ञान' है। एवं अमृतसूर्य्य में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से युक्त षोडशी अव्ययात्मा के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत सनातन तत्त्व ही वैराग्य है। वैराग्य अव्ययात्मा की प्रातिस्विक विभूति है। अमृतसूर्य्य में यह वैराग्यविभूति आती है षोडशी पुरुषात्मा से। ज्ञान अव्यक्त स्वयम्भू की प्रातिस्विक सम्पत्ति है जैसा कि पूर्व स्तम्भ के 'सर्वाभिमानिमता योगमयी' विषयनिरूपण में स्पष्ट किया जा चुका है। अमृतसूर्य्य में यह ज्ञानविभूति आती है अव्यक्त स्वयम्भू से। ऐश्वर्य्य महान्–परमेष्ठी की प्रातिस्विक विभूति है। महिमामण्डल को ही पूर्व स्तम्भ में हमने ऐश्वर्य्य कहा है। प्राणमण्डल ही महिमामण्डल माना गया है। परिमण्डलरूप आपः तत्त्व ही पारमेष्ठ्य ऐश्वर्य है। अतएव तत्सम्बन्ध से तद्रूपा विभूति अवश्यमेव 'ऐश्वर्य्य' नाम से व्यवहृत की जा सकती है। अमृतसूर्य्य में यह ऐश्वर्य्यविभूति आती है महान् परमेष्ठी से। धर्म्म अमृतसूर्य्य की प्रातिस्विक विभूति है। कारण प्राकृतिक आधिकारिक–नियत–कर्म्म ही धर्म्म है। नियत कर्म्मात्मक धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माना गया है वेदतत्त्व– वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ। अमृतसूर्य्य अमृतभाव से अमृतवेदात्मक (त्रिगुणात्मवातीत वेदात्मक) माना गया है। अतएव वेदात्मक धर्म्मतत्त्व को अवश्य ही अमृतसूर्य्य की प्रातिस्विक विभूति माना जा सकता है। इसप्रकार पुरुष स्वयम्भू परमेष्ठी, इन तीन अमृतात्माओं की वैराग्य ज्ञान ऐश्वर्य्य, नाम की विभूतियों के प्रवर्ग्यसम्बन्धद्वारा आगमन से एवं स्वानुगत धर्म्मविभूति से ऊर्ध्वस्थिता अमृतात्मत्रयी से अनुगत अमृतसूर्य्य धर्म्म ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य्य इन चार विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। यही सावित्राग्नि ही 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है। यही आधिदैविक विश्व का 'बुद्धि' तत्त्व है जो कि विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ विश्व का सञ्चालन कर रहा है। इसी आधार पर पुराणपुरुष ने कहा है–'हिरण्यगर्भो भगवानेष–'बुद्धि' रिति स्मृतः (महाभारत)।

चतुर्विध–विभूतिभावानुगतोऽमृतसूर्य्य —

१–विश्वाध्यक्षः—पारमेष्ठ्यपुरुष —वैराग्यविभूतियुक्त	(अमृतात्मा)	—सैषा–अमृतसंस्था
२–विश्वादिः—अव्यक्तस्वयम्भूः–ज्ञानविभूतियुक्त	(अमृतात्मा)	(अमृतात्मसोपानपरम्परा)
३–विश्वोपादानम्–महान्परमेष्ठी—ऐश्वर्य्यविभूतियुक्त	(अमृतात्मा)	
४–विश्वसाक्षी—अमृतसूर्य्यः—धर्मविभूतियुक्त	(अमृतात्मा)	



१–पुरुषप्रवर्ग्यांशगर्भितः— —अमृतसूर्य्य -वैराग्योपेत	स एष अमृतसूर्य्यः—
२–स्वयम्भुप्रवर्ग्यांशगर्भित—अमृतसूर्य्य-ज्ञानोपेत	चतुर्विधविभूतियुक्त
३–परमेष्ठिप्रवर्ग्यांशगर्भित—अमृतसूर्य्य-ऐश्वर्य्योपेत	
४–स्वानुगतविभूतिगर्भित —अमृतसूर्य्य-धर्म्मोपेत	



४–हिरण्यगर्भ सूर्य्य के चार पाप्मा–विवर्त–

मध्यस्थ सूर्य्य के ऊर्ध्वानुगत–अमृतात्मानुगत–अमृतलक्षण अर्द्ध भाग से सम्बन्ध रखने वाली विभूतिचतुष्टयी की मीमांसा के अनन्तर मध्यस्थ सूर्य्य के अधोभागानुगत–मर्त्यात्मानुगत–मृत्युलक्षण अर्द्ध भाग से सम्बन्ध रखने वाली पाप्मा–चतुष्टयी की मीमांसा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस प्रकार सूर्य्य का ऊर्ध्वभागानुगत अमृतलक्षण तत्त्व 'सावित्राग्नि' नाम से व्यवहृत हुआ है, तदनुगत प्राणवेद त्रयीलक्षण वेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवमेव अधोभागानुगत–मृत्युलक्षण तत्त्व 'गायत्राग्नि' नाम से तथा तदनुगत भूतवेद (त्रिगुणात्मक वेदतत्त्व पौरुषवेद) गायत्रीमात्रिकवेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भूतवेदात्मक गायत्राग्निलक्षण मर्त्याग्निरूप मर्त्य सूर्य्य के गर्भ में अधोऽवस्थित चन्द्रमा–पार्थिवदेवसत्यात्मा–भूपिण्ड, इन तीनों मर्त्यात्माओं के प्रवर्ग्यांश भुक्त रहते हैं।

आगन्तुक इन तीन प्रवर्ग्यांशों से, तथा अपने [illegible]–अर्द्ध भाग से मर्त्यसूर्य्य भी अमृतसूर्य्यवत् चतुष्पर्वा बना हुआ है। मर्त्याग्निलक्षण भूतवेदात्मक मर्त्यसूर्य्य का भूतवेदानुबद्ध त्रिगुणभाव ही अपधर्म्मलक्षण अभिनिवेश तत्त्व है। मर्त्य सूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित चन्द्रमा के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत मेहरूप तत्त्वविशेष ही अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता है। मर्त्यसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से भुक्त पार्थिव देवसत्य के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत तमोरूप तत्त्वविशेष ही अज्ञानलक्षण 'मोह' (अविद्या) है। एवं मर्त्यसूर्य्य में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से भुक्त भूपिण्ड के प्रवर्ग्यांश से अनुगृहीत भूत नामक तत्त्वविशेष ही रागद्वेषात्मक 'आसक्ति' है। आगत पार्थिवा आसक्ति भूपिण्ड का प्रातिस्विक पाप्मा है, मर्त्यसूर्य्य में यह आसक्ति पाप्मा आता है भूपिण्ड से। मोहलक्षणा अविद्या पार्थिव देवसत्य का प्रातिस्विक पाप्मा है। मर्त्यसूर्य्य में यह मोहपाप्मा आता है पार्थिव देवसत्य से। अनैश्वर्य्यलक्षणा अस्मिता चन्द्रमा का प्रातिस्विक पाप्मा है। मर्त्यसूर्य्य में यह अस्मिता पाप्मा आता है चन्द्रमा से। अपधर्म्मलक्षण अभिनिवेश मर्त्यसूर्य्य का प्रातिस्विक पाप्मा है।

तथाच भूपिण्ड पार्थिव–देवसत्य चन्द्रमा इन तीन मर्त्य आत्माओं के आसक्ति मोह अस्मिता नामक तीन

पाप्माओं के प्रथमसम्बन्ध द्वारा आगमन से एवं नामानुगत अभिनिवेश-पाप्मा से अध्यात्मरक्षित मर्त्यलक्षणी मे मनुगत मर्त्यमृत्यु अभिनिवेश नाम आसक्ति अभिमता इन चार विषय-मार्गों में परिगत हो जाता है ।

चतुर्विध-पाप्मभावानुगतो मर्त्यमृत्यु —

१–मृत्युभावी–मर्त्यमृत्यु —अभिनिवेशपाप्मभावेन युक्तः (नग्नपत्नी)
२–मनोभावी–मर्त्यचन्द्रमा –नोद पाप्मभावेन युक्तः (नग्नपत्नी)
३–प्राणभावी–मर्त्यदेवतः–अभिमानपाप्मभावेन युक्तः (मर्त्यपत्नी)
४–भूतभावी—मर्त्यभूमिः–आसक्तिपाप्मभावेन युक्तः (मर्त्यपत्नी)
}—ऐषा मर्त्यप्रजा (मर्त्यप्रजोपासनारहस्य)

—•—

१–सत्यानुगतपाप्मगर्भितः ——मर्त्यमृत्यु —अभिनिवेशयुक्तः
२–चन्द्रपाप्मांशगर्भितः——मर्त्यमृत्युः—नाद युक्तः
३–पार्थिव दे प्र अंशगर्भितः—मर्त्यमृत्युः—अभिमानयुक्तः
४–भूमिपाप्मांशगर्भितः—मर्त्यमृत्युः—आसक्तियुक्तः
}—ह एष मर्त्यमृत्युः चतुर्विधपाप्मयुक्तः

—•—

४–अमृतविभूतिचतुष्टया, एव मर्त्य पाप्मा–चतुष्टयी का अनान्तर्यात्मक आन्तर्य–

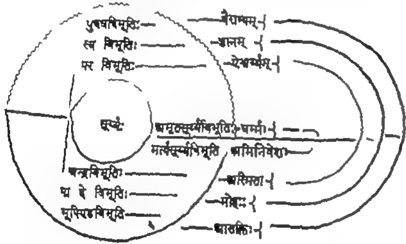
लौकिक वैरपर्यन्तसम्बन्ध ही आसक्ति का जनक बना करता है । भूपिण्ड भूतविग्रहप्रधान है । अतएव भूपिण्डानुगत पाप्मा को अवश्य ही 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत किया जासकता है जो भूपिण्ड अमृतात्मत्रयी में से पार्थिवी पुरुषात्मा में तथा जो भूपिण्डानुगत आसक्तिभावना पुरुषात्मपशुगता वैराग्यविभूति से अनुशीलित है । इस प्रकार का मर्त्यभूपिण्ड एवं तदनुगता आसक्ति, उस प्रकार का पुरुषात्मा, एवं तदनुगत वैराग्य, दोनों का अनान्तर्य (प्रतिद्वन्द्वित्व) ही इन का आन्तर्य (सन्तुलन) है । एक के रहने पर दूसरा नहीं रहता यही इन दोनों का सम्बन्धात्मक सन्तुलनसम्बन्ध है । पार्थिवगर्भस्थ में सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव वरुणप्रधान आत्मीय आकर्षण ही अनैश्वर्यरूपा अभिनिवेश का जनक बना करता है । पार्थिवदेवतत्त्व 'देवपति वा यदेव वरुणप्रधान' इस श्रुति के अनुसार आकर्षणप्रधान है । अतएव पार्थिव देवतत्त्वानुगत पाप्मा को अवश्य ही अभिनिवेश नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । यह पार्थिव देवतत्त्व अमृतात्मत्रयी में से महान् परमेष्ठी से तथा पार्थिव देवतत्त्वानुगत अभिनिवेशपाप्मा महान्–परमेष्ठ्यनुगता ऐश्वर्यविभूति से अनुशीलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं । चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र देवतात्मा ही लालसा–वासना–संस्कारक्षेत्र से अज्ञानलक्षण मोह का जनक बनता है । चान्द्र देवतात्मा ही अविरत–प्रवृत्त मोह का कारण है । अतएव चन्द्रमानुगत पाप्मा को अवश्य ही 'मोह' नाम से व्यवहृत किया जासकता है । यह चन्द्रमा अमृतात्मत्रयी में से आध्यात्मिक आत्मा से तथा चन्द्रमानुगत मोह–पाप्मा अध्यात्मसत्यानुगता ज्ञानविभूति से अनुशीलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी [redacted] । मर्त्य–मृत्यु मर्त्य–गायत्री–मात्रिक वेदात्मक बतलाया गया है । मृत्यु के सम्बन्ध से यह वेद त्रिगुणमायात्मक बन जाता है । त्रिगुणात्मा ही अधर्मलक्षण अभिनिवेश का जनक माना गया है । अतएव मर्त्यमृत्यु–युक्त मर्त्य वेदात्मक पाप्मा को अवश्य ही 'अभिनिवेश' नाम से व्यवहृत किया जासकता है । यह मर्त्यमृत्यु अमृतात्मचतुष्टयी में से अन्त के अमृतमृत्यु से तथा मर्त्यमृत्यु अनुगत अभिनिवेश पाप्मा अमृतमृत्युनुगत धर्मविभूति से अनुशीलित है । दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं ।

अमृत—मृत्युभावनिबन्धनो हिरण्यगर्भप्रजापतिः सूर्य्यः—विद्या—अविद्यात्मकः—

[सैषा—आधिदैवतसंस्था]

१—षोडशीपुरुषाव्यय—वैराग्ययुक्तः—अमृतात्मा
२—अक्षरस्वयम्भूः—ज्ञानयुक्त—अमृतात्मा
३—महान्परमेष्ठी—ऐश्वर्य्ययुक्तः—अमृतात्मा
४—अमृतसूर्य्यः—धर्मयुक्तः—अमृतात्मा

—तदिदममृतम्



अथ—उभयोर्योगः

१—वैराग्यसूर्य्यः
२—ज्ञानसूर्य्यः
३—ऐश्वर्य्यसूर्य्यः
४—धर्मसूर्य्यः
विद्यासूर्य्यः

—विद्याविद्यात्मकः सूर्य्यः

४—अभिनिवेशसूर्य्यः
३—अस्मितासूर्य्यः
२—मोहसूर्य्यः
१—आसक्तिसूर्य्यः
अविद्यासूर्य्यः

४—मर्त्यसूर्य्यः—अभिनिवेशयुक्तः—मर्त्यात्मा
३—चन्द्रमा—अस्मितायुक्तः—मर्त्यात्मा
२—पार्थिववैश्वानर—मोहयुक्तः—मर्त्यात्मा
१—भूपिण्डः—आसक्तियुक्त—मर्त्यात्मा

—तदिदं मर्त्यम्

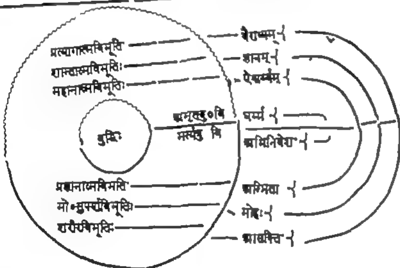
६-ईश्वरानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय—

एक स्वाभाविक प्रश्न । बुद्धियोगपरीक्षा के आरम्भ में 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' की मीमांसा करते हुए हमने वहाँ आधिदैविक ईश्वरस्वरूप का निरूपण किया है। वहाँ यह स्पष्ट किया है कि, आधिदैविक ईश्वरसंस्था में केवल विभूति का ही साम्राज्य है, उसमें पाप्मा का आत्यन्तिक अभाव है। अब यहाँ मर्त्यसूर्य्य के सम्बन्ध से ईश्वरसंस्था में भी अभिनिवेशादि पाप्माओं का सम्बन्ध बतलाया जा रहा है। 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (पा० यो०सू०) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्तानुसार भी ईश्वर अभिनिवेशादि क्लेश-पाप्माओं से अपरामृष्ट (असम्पृक्त) ही सिद्ध हो रहा है। फिर यहाँ किस आधार पर ईश्वरसंस्था में पाप्माओं का सम्बन्ध बतलाया गया ?, यही स्वाभाविक प्रश्न है। उत्तर में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, आध्यात्मिक जीवसंस्था के समतुलन की दृष्टि से ही 'ईश्वरीय विवर्त' में पाप्मानुबन्धी का योग बतलाया गया है। 'अशनाया वै मृत्युः, मृत्युः पाप्मा' इत्यादि श्रुति के अनुसार सक्रियकामना-लक्षणा अशनाया ही मृत्यु है, यही पाप्मा है। और 'एकोऽहं बहु स्याम्' के अनुसार सक्रियकामना से युक्त रहता हुआ ईश्वर भी अवश्य ही मृत्युविध पाप्माओं से युक्त है। मर्त्यसूर्य्य-मर्त्यचन्द्रमा-मर्त्यपार्थिव वैश्वानर-मर्त्यभूपिण्ड चारों मृत्युलक्षण ही पाप्मा बने हुए हैं। परन्तु इतनी पुष्टि भी न तो यह पाप्मानुबन्धी ईश्वर के साथ लिप्त ही होती, न विभूत्यनुबन्धी ही लिप्त होती। कारण यही है कि यह मनोमय अव्ययेश्वर विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्यस्थान में प्रतिष्ठित रहने से दोनों ओर के समतुलन से समभावापन्न बना हुआ है। विभूतिलक्षण पुण्य एवं पाप्मालक्षण पाप दोनों के रहते हुए भी 'पुण्य-पापे उभे विधूय' के अनुसार दोनों से निर्मुक्त बन रहा है। अतएव त्रिधानुबद्ध विभूति-पाप्माओं से युक्त रहता हुआ भी यह 'नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त' कहलाया है। अध्यात्म 'इन्द्र' है, यही विश्वेन्द्र है, यही अव्ययेश्वर उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। अतएव-'इन्द्रो ह वै गायत्री' के अनुसार इन्द्र भी गायत्री नाम से प्रसिद्ध हो गया है। तात्पर्य यही है कि विभूतिवत् पाप्मा (मृत्यु) भी ईश्वरसंस्था में है अवश्य। परन्तु अव्ययलक्षण बुद्धियोग (ब्रह्मनिष्ठता और स्थितप्रज्ञता) से यह इसमें लिप्त नहीं रहता। इसीलिए ही 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' प्रकरण में ईश्वर में पाप्मा का अभाव बतला दिया गया है।

७-जीवानुगता विभूति, एवं पाप्मा का समन्वय—

जीवसंस्था में मृत्युभाव इसलिए प्रधान बन जाता है कि इसकी उत्पत्ति सूर्य्य से नीचे अवस्थित मृत्युभाव से सम्बन्ध रखती है। आधिदैविक संस्था के ईश्वर, अव्यक्त स्वयम्भू, महान् परमेष्ठी, अमृतसूर्य्य, मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा, पार्थिववैश्वानर, भूपिण्ड ये आठ पर्व आध्यात्मिक संस्था में प्रत्यगात्मा, शान्तात्मा, महानात्मा, अमृतविज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि), मर्त्यविज्ञानात्मा (अविद्याबुद्धि), प्रज्ञानात्मा (कर्मेन्द्रियमन), वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्ति भोक्ता वैश्वानर, शरीर, इस रूप से यथापूर्व सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं। धर्म-ज्ञानादि भेद से बुद्धि आठ मानी गई है। एक ही बुद्धि आठ भावों में क्या परिणत हो जाती है ? इस प्रश्न के समतुलन के लिए आधिदैविक संस्था में उक्त विभूत्यनुबन्धी, तथा पाप्मानुबन्धी का भेद बतलाया गया है। जैसा वहाँ (अधिदैवत में) है, वैसा ही यहाँ (अध्यात्म में) है। उस पूर्ण का अंशभूत यह भी पूर्ण ही है। दोनों समतुलित हैं। वह आदित्यपुरुष है। 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार आदित्य-पुरुष ही यह है। वेदादि-'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' 'योऽसौ-सोऽहम्, योऽहं सोऽसौ' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। परिलेख के द्वारा दोनों के उभय-समतुलन का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

सर्वसंग्रह' (सैषा-अध्यात्मसंस्था)—
—अष्टौ पुरुष'-इति हि प्राचानिका आहु—



८–भक्तिदंवत–अध्यात्मानुगत आत्मविमर्श के उपक्रमोपसंहारस्थान—

आरम्भ में अविद्याग्रस्त विद्यात्मा को अविद्यात्मा बतलाया गया है। अमृत–मर्त्यात्मक सूर्यमण्डल के विद्यात्मक अमृत स्वर भाग मण्डल में मुक्त विद्याभिन्न सूर्यचतुष्टयी से युक्त आधिदैविक अमृतस्वयम्भू महान्‌परमेष्ठी, अव्यक्तस्वयम्भूगर्भित षोडशीपुरुष विद्याभाग (सूर्यविद्याभाग) से युक्त रहता हुआ विद्याग्रस्त विद्यात्मा है। अमृतमर्त्यात्मक सूर्यमण्डल के अविद्यात्मक मर्त्य सौर भाग मण्डल में मुक्त अविद्याभिन्न सूर्यचतुष्टयी से युक्त आधिदैविक मर्त्य सूर्य–चन्द्रमा–पार्थिव वैश्वानर, तीनों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला भूपिण्डावच्छिन्न षोडशीपुरुष अविद्याभाग। (सूर्य–अविद्याभाग) से युक्त रहता हुआ अविद्याग्रस्त अविद्यात्मा है। विद्यात्मा का उपक्रम षोडशी से है उपसंहार भूपिण्ड पर है। अविद्यात्मा का उपक्रम भूपिण्ड से है उपसंहार षोडशी पर है। यही स्थिति अध्यात्मसंस्था में समन्वित। अमृत–मर्त्याभिन्न बुद्धि के विद्यात्मक अमृत भाग मण्डल में मुक्त विद्याभिन्न बुद्धिचतुष्टयी से युक्त आध्यात्मिक विद्याबुद्धि, पारमेष्ठ्य महान्, स्वायम्भुव शान्तात्मा तीनों को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला प्रज्ञानात्मा विद्याभाग (विद्याबुद्धि) से युक्त रहता हुआ विद्याग्रस्त विद्यात्मा है। अमृत–मर्त्याभिन्न बुद्धि के अविद्यात्मक मर्त्य भाग मण्डल में मुक्त अविद्याभिन्न बुद्धिचतुष्टयी से युक्त, आध्यात्मिक अविद्याबुद्धि, चान्द्र प्रज्ञानात्मा पार्थिव योनरूपम्, तीनों मर्त्यअमसंस्थाओं को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला महानात्मा अविद्याभाग (अविद्याबुद्धि) से युक्त रहता हुआ अविद्याग्रस्त अविद्यात्मा है। विद्यात्मा का उपक्रमस्थान प्रज्ञानात्मा है उपसंहारस्थान शरीर है। अविद्यात्मा का उपक्रम स्थान शरीर है, उपसंहार स्थान प्रज्ञानात्मा है। इसप्रकार मध्यस्था विद्याविद्याभिन्न बुद्धि के विद्या अविद्याभागों के तारतम्य से यही प्रज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा (विद्यात्मा) रूप से विकसित हो रहा है एवं यही प्रज्ञानात्मा महानात्मा (अविद्यात्मा) रूप से अनुगत बन रहा है। बुद्धिगत विद्या अविद्याभाग ही प्रज्ञानात्मा के विकास–संकोच के कारण हैं, यही निष्कर्ष है।

९–सिद्ध–साध्यावस्थापन्ना बुद्धियोगचतुष्टयी का पार्थक्य—

स्थिति की स्पष्टता के लिये बुद्धियोग के साध्य–सिद्ध–रूपों का स्पष्टीकरण कर लीजिए। 'बुद्धियोग–स्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण में हमने स्वयं 'अव्ययपुरुष' को भी बुद्धियोग बतलाया है एवं अव्यय–पुरुष (विद्यात्मा) की निष्कामोपभूता वैराग्यादि धर्मान्वित बुद्धि को भी बुद्धियोग कहा है। दोनों में अव्ययात्मक बुद्धियोग तो 'सिद्धबुद्धियोग' है एवं बुद्ध्यात्मक बुद्धियोग 'साध्यबुद्धियोग' है। सिद्धयोग बुद्धयोग है तदनुगामी योगी 'बुद्धयोगी' है। साध्ययोग बुद्धानयोग है तदनुगामी योगी बुद्धानयोगी है। बुद्धयोगी 'आरूढ' है बुद्धानयोगी 'आरुरुक्षु' है। 'ददामि बुद्धियोगं तं' प्राप्तकालाद्भवम्यम् इत्यादि श्लोकपठित 'योग' शब्द सिद्धावस्थापन्न अव्ययात्मक–बुद्धियोग का वाचक है एवं–'तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः–कर्मसु कौशलम्'–'बुद्धियोगमुपाश्रित्य' इत्यादि श्लोकपठित योग शब्द साध्यावस्थापन्न बुद्ध्यात्मक बुद्धियोग का वाचक है। सिद्धबुद्धियोग ■ वास्तविक बुद्धियोग है। साध्य बुद्धियोग तो सिद्धबुद्धियोग के स्वरूप का कारण बनता हुआ बुद्धियोग का हेतुभूत मात्र है। अतएव सिद्धयोग–चतुष्टयी को जहाँ वैराग्यबुद्धियोग ज्ञानबुद्धियोग ऐश्वर्यबुद्धियोग धर्मबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहृत किया गया है वहाँ साध्ययोगचतुष्टयी वैराग्यहेतुकबुद्धियोग ज्ञानहेतुकबुद्धियोग ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोग, धर्महेतुकबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहृत हुआ है।

१०–प्राचीनाभिमता योगत्रयी के आधारभूत आत्मविवर्त्त—

विद्यात्मना का उपक्रमस्थान प्रत्यगात्मा बतलाया गया है, उपसंहारस्थान शरीर बतलाया गया है। 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत राजविद्या' नामक पूर्व के द्वितीय स्तम्भान्तर्गत प्राचीनाभिमता योगत्रयी तथा गीताभिमता योगचतुष्टयी नामक परिच्छेदों में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, योगत्रयी का मूलाधार आत्मा क्रमशः' अव्यक्तात्मा, व्यक्ताव्यक्तात्मा, व्यक्तात्मा, नामक अक्षरात्मा, अक्षरगर्भितक्षरात्मा, क्षरगर्भित विकारक्षरात्मा है। सप्तपुरुष अक्षरात्मा सृष्टि-उपादानभूत क्षरानुगामी बनता हुआ मर्त्यधर्म्माक्रान्त है। षोडशीपुरुष, अव्यक्त स्वयम्भू महान परमेष्ठी तीनों आध्यात्मिक अमृतात्मसंस्थाओं में अमृताव्यय का प्राधान्य है। अतएव इस त्रयी को 'अव्ययसंस्था' कहा जासकता है। चन्द्रमा, पार्थिव वैश्वानरात्मा, भूपिण्ड, इन तीनों आधिदैविक मर्त्यात्मसंस्थाओं में, एवं चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव मोक्तात्मा भौम शरीर, इन तीनों आध्यात्मिक मर्त्यात्मसंस्थाओं में मर्त्यक्षर का प्राधान्य है। अतएव इस त्रयी को 'क्षरसंस्था' कहा जा सकता है। अमृत-मर्त्यात्मक आधिदैविक सूर्य्य, अमृत-मर्त्यात्मिका आध्यात्मिकी बुद्धि इनमें अमृतमर्त्यात्मक मध्यस्थ अक्षर का प्राधान्य है। अतएव इसे 'अक्षर संस्था' माना जा सकता है। इस अक्षरसंस्था का ऊर्ध्वानुगत अमृताक्षर तो अव्ययसंस्था का अनुग्राहक बना रहता है, एवं अधोऽनुगत मर्त्याक्षर क्षरसंस्था का अनुग्राहक बना रहता है। अविद्यात्मा का उपक्रमस्थान शरीर बतलाया गया है, उपसंहारस्थान प्रत्यगात्मा माना गया है। वस्तुतः विद्यात्मा का उपक्रम प्रत्यगात्मा है उपसंहार अमृतबुद्धि है। एवं अविद्यात्मा का उपक्रम शरीर है उपसंहार मर्त्या बुद्धि है। प्रत्यगात्मोपक्रमानुगत अमृता बुद्ध्युपसंहारात्मिका अमृतात्मसंस्था गीताभिमता योगचतुष्टयी की आधारभूमि है। एवं शरीरोपक्रमानुगता मर्त्य बुद्ध्युपसंहारात्मिका मर्त्यात्मसंस्था प्राचीनाभिमता योगत्रयी की आधारभूमि है। मर्त्या बुद्धि अक्षरात्मा है यही अव्यक्तात्मा है यही प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग की आधारभूमि है। मर्त्य प्रज्ञानात्मा (मन) अक्षरगर्भित क्षरात्मा है यही व्यक्ताव्यक्तात्मा है, यही प्राचीनाभिमत भक्तियोग की आधारभूमि है। मर्त्य शरीर क्षरगर्भित विकारक्षर है, यही व्यक्तात्मा है यही प्राचीनाभिमत कर्म्मयोग की आधारभूमि है। मर्त्य पार्थिव भोक्तात्मा इस प्राचीनाभिमता मर्त्या योगत्रयी का अनुग्राहक है। मर्त्यभावप्रधाना यह योगत्रयी अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से विद्याबुद्धि–मूलक अव्ययात्मक बुद्धियोगलक्षण से सर्वथा वञ्चित रह जाती है।

११–गीतासम्मता योगचतुष्टयी के आधारभूत आत्मविवर्त्त—

अब गीताभिमता योगचतुष्टयी का समन्वय कीजिए। गीतायोग की आधारभूमि अमृतात्मसंस्था है। यहाँ अव्यय, अक्षर, क्षर तीनों का समन्वय है जब कि प्राचीन योग अक्षर–क्षरानुगत बनता हुआ भी अव्यय–सम्पत्ति से वञ्चित था। अमृतात्मसंस्था का उपसंहार यद्यपि अमृतात्मिका बुद्धि ही बन रही है। तथापि 'नामृतं मृत्युमिर्विना'–'अमरं मृत्यावमृतम्' इत्यादि के अनुसार इसका उपसंहार मर्त्य शरीर पर मान लिया जाता है और यही प्रत्यगात्मप्रधाना सवात्मना की सर्वव्याप्तिलक्षणा बन रहा है। प्रत्यगात्मरूप अव्यय आनन्द–विज्ञान–मन: प्राण–वाङ्मय है। इसके समष्टि–व्यष्टिरूप से दो विवर्त्त अधिदैवत और अध्यात्म में प्रविष्ट रहते हैं। समष्टिरूप अव्यय का उपक्रम प्रत्यगात्मा है उपसंहार शरीर है। अधिदैवत में षोडशी उपक्रम है। इस अव्ययपारिवृत्त सर्वव्यय की पाँच कलाएँ अव्यय–अक्षर–क्षर–भेद से त्रिसंस्थ बन कर सर्वत्र व्याप्त हो रही है। अधिदैवत में षोडशी, अव्यक्त स्वयम्भू महानपरमेष्ठी अध्यात्म में प्रत्यगात्मा स्वायम्भुव शान्तात्मा पारमेष्ठ्य महानात्मा तीनों की समष्टि में आनन्दविज्ञानप्रधान अव्ययात्मा का भाग है यही पहिली अव्ययात्म–

संस्था है। अधिदैवत में विद्याविद्यात्मक सूर्य्य, अध्यात्म में विद्याविद्यात्मिका बुद्धि इन दोनों में मनःप्रधान अव्ययात्मा का भोग है यही दूसरी अक्षरात्मसंस्था है। अधिदैवत में चन्द्रमा पार्थिव देवसत्य, भूपिण्ड, अध्यात्म में चान्द्र मन पार्थिव महानात्मा भौम शरीर तीनों की समष्टि में प्राणवाक्प्रधान अव्ययात्मा का भोग है यही तीसरी अव्ययात्मसंस्था है। प्रथम संस्था आनन्दविज्ञानाव्ययानुगता अव्ययसंस्था है, द्वितीयसंस्था मनोऽव्ययानुगता अक्षरसंस्था है तीसरी संस्था प्राणवागव्ययानुगता क्षरसंस्था है। यही षोडशीपुरुषाव्यय की सम्प्राप्ति का संक्षिप्त सन्धान है। इस समष्टि षोडशी–अव्यय की प्रातिस्विक विभूति वैराग्य है अतएव बुद्धियोग त्रिबुद्धियोग है अव्यक्त विद्याबुद्ध्यनुगत ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोग साम्यबुद्धियोग है। इस वैराग्य-बुद्धियोग में साम्य की प्रधानता है अतएव इस बुद्धियोग में साम्यबुद्धियोग अन्तर्भूत है। केवल वैराग्यबुद्धि योग के अनुष्ठान से ही शेष तीनों बुद्धियोग गतार्थ बन जाते हैं। अतएव ऐश्वर्य–धर्म–ज्ञानबुद्धियोग–नामक तीनों बुद्धियोगों में भी भगवान ने योगबुद्धियोग का समावेश माना है, जैसाकि तत्समर्थक वचनों के द्वारा भूमिका खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है।

१२–अध्यात्मानुगत एक ही बुद्धियोग के चार विभिन्न योगविवर्तों का समन्वय—

आनन्दविज्ञानाव्यय, मनोऽव्यय प्राणवागव्यय, ये तीन इसके व्याख्यात्मक विवर्त हैं। प्रथम विवर्त स्वायम्भुव अव्ययात्मा से अनुप्राणित है दूसरा विवर्त पारमेष्ठ्य महानात्मा से अनुप्राणित है, तीसरा विवर्त अमृत-बुद्धि से अनुप्राणित है। प्रथम विवर्त का उपक्रम भी अव्ययात्मा है उपसंहार भी अव्ययात्मा ही है। द्वितीय विवर्त का उपक्रमोपसंहार दोनों महानात्मा ही है। उस तीसरे विवर्त का उपक्रमोपसंहार दोनों विद्या-बुद्धि ही है। आनन्दविज्ञानाव्ययानुप्राणित अव्ययात्मा ज्ञानबुद्धियोग की आधारभूमि है। मनोऽव्ययानुप्राणित महानात्मा ऐश्वर्यबुद्धियोग की आधारभूमि है। प्राणवागव्ययानुप्राणित अमृतविज्ञानात्मा धर्मबुद्धियोग की आधारभूमि है। अव्ययात्मानुगत आनन्दविज्ञानाव्यय 'परात्पर' है। महानात्मानुगत मनोऽव्यय 'परावर तत्त्व' है। विद्याबुद्ध्यनुगत प्राणवागव्यय 'अवराव्यय' है। परात्पर ज्ञानप्रधान है परावराव्यय ऐश्वर्यप्रधान है अवराव्यय धर्मप्रधान है। तीनों अव्यय मिलते हुए अवश्य योगात्मक हैं। सर्वाव्ययानुगत इस संयुक्त वैराग्य-बुद्धियोग में तथा अव्ययाव्ययानुगत अवश्य नामक शेष बुद्धियोगत्रयी में यही वह महान् अन्तर है जिसके तात्त्विक विश्लेषण के बिना गीताभिमत योगचतुष्टयी के विभक्त रूपों का समन्वय असम्भव बन जाता है। विभक्त आत्मसंस्थाओं के आधार पर सर्वथा विभक्त चारों बुद्धियोगों का जब तक विश्लेषण नहीं कर लिया जाता, तब तक गीता के 'बुद्धियोग' तत्त्व से परिचय प्राप्त करना असम्भव है। वही अव्यय, वही आत्मा वही योग, फिर कैसे एक योग चार भागों में विभक्त हो गया? प्रश्नसमस्या के निराकरण के लिए ही प्रकृत में यह तद्–भाष्य योगविश्लेषण हुआ है जिसका निम्न लिखित परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण सम्भव है—

सिद्ध–साध्य–योगचतुष्टयी–परिलेखा —

(१)

१–गोपरीपुरुषोऽव्ययः —	सत्त्वात्मा	वैराग्यबुद्धियोगात्मा	वैराग्यहेतुकविद्याबुद्धियोगः
२–अव्यक्तस्वयम्भूः —	शान्तात्मा	ज्ञानबुद्धियोगात्मा	ज्ञानहेतुकविद्याबुद्धियोगः
३–महान्परमेष्ठी —	महानात्मा	ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मा	ऐश्वर्य हेतुकविद्याबुद्धियोगः
४–अमृतसूर्यः —	अमृतविज्ञानात्मा	धर्मबुद्धियोगात्मा	धर्म हेतुकविद्याबुद्धियोगः
अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	सिद्धबुद्धियोगचतुष्टयी	साध्यबुद्धियोगचतुष्टयी

(२)

१–अव्यक्तलक्षणवैराग्यहेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन——सिद्धलक्षण–अध्यात्मक–वैराग्यबुद्धियोगोऽयः

२–अव्यक्तलक्षणज्ञानहेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन——सिद्धलक्षण–अध्यात्मक–ज्ञानबुद्धियोगोऽयः

३–अव्यक्तलक्षणऐश्वर्यहेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन—सिद्धलक्षण–अध्यात्मक–ऐश्वर्यबुद्धियोगोऽयः

४–अव्यक्तलक्षणधर्म हेतुकविद्यानुगतबुद्धियोगेन—सिद्धलक्षण–अध्यात्मक–धर्मबुद्धियोगोऽयः

(३)

१–वैराग्यममोपेता——आसक्तिरूपे शनिर्वापिता——वैराग्यबुद्धिः—स्वरूप –वैराग्यबुद्धियोगः—साध्यः

२–ज्ञानभावापेता——मोहरूपे शनिर्वापिता———ज्ञानबुद्धि —स्वरूपः–ज्ञानबुद्धियोगः——साध्य

३–ऐश्वर्यभावोपेता——अस्मितारूपे शनिर्वापिता——ऐश्वर्यबुद्धि–स्वरूप–ऐश्वर्यबुद्धियोग –साध्य

४–धर्मभावापेता——अभिनिवेशरूपे शनिर्वापिता—धर्मबुद्धि——स्वरूप–धर्मबुद्धियोग——साध्य

१–अव्यक्तवैराग्यहेतुकवैराग्यबुद्धियोगेन विकसित—सर्वाध्यात्मक —वैराग्यबुद्धियोग ——सिद्ध

२–अव्यक्तज्ञानहेतुकज्ञानबुद्धियोगेन विकसितः——परात्मपरात्मक ——ज्ञानबुद्धियोगः——सिद्ध

३–अव्यक्तऐश्वर्यहेतुकैश्वर्यबुद्धियोगेन विकसित –परात्परात्मपरात्मक–ऐश्वर्यबुद्धियोग –सिद्ध

४–अव्यक्तधर्महेतुकधर्मबुद्धियोगेन विकसितः—परात्परात्मक —धर्मबुद्धियोग —— सिद्ध

(४) १–वैराग्यहेतुकसाम्यबुद्धियोगेन—वैराग्याव्ययलक्षणा—स्थितबुद्धियोगोदयः

२–ज्ञानहेतुकसाम्यबुद्धियोगेन——ज्ञानाव्ययलक्षणा——स्थितबुद्धियोगोदयः

३–ऐश्वर्यहेतुकसाम्यबुद्धियोगेन–ऐश्वर्याव्ययलक्षणा–स्थितबुद्धियोगोदयः

४–धर्महेतुकसाम्यबुद्धियोगेन—धर्माव्ययलक्षणा——स्थितबुद्धियोगोदयः



[५]—विद्याव्ययस्य-उपक्रमोपसंहारौ—

आधिदैवतम् —— अध्यात्मम्

१–षोडशीपुरुषाव्ययः——अव्ययात्मा]—विद्याव्ययस्य–उपक्रमस्थानम्

२–अव्यक्तस्वयम्भूः——शान्तात्मा
३–महान् परमेष्ठी——महानात्मा }—विद्याव्ययस्य–मध्यस्थानम्

४–अमृतसूर्यः — अमृतविज्ञानात्मा]—विद्याव्ययस्य–उपसंहारस्थानम्



(६)—अविद्याव्ययस्य-उपक्रमोपसंहारौ—

आधिदैवतम् —— अध्यात्मम्

४–मर्त्यसूर्यः——मर्त्यविज्ञानात्मा]—अविद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्

३–चन्द्रमा——प्रज्ञानात्मा
२–पार्थिववैश्वानरः——पार्थिवभोक्तात्मा }—अविद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्

१–भूपिण्डः——शरीरम्]—अविद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्



(७)-अन्यदृष्ट्या विद्याव्ययस्योपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	
		]—विद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्
१—षोडशीपुरुषाव्ययः	प्रत्यगात्मा	—विद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्
२—अव्यक्तस्वयम्भूः	शान्तात्मा	
३—महान् परमेष्ठी	महानात्मा	
४—अमृतसूर्य्यः	अमृतविज्ञानात्मा	
५—मर्त्यसूर्य्यः	मर्त्यविज्ञानात्मा	
६—चन्द्रमाः	प्रज्ञानात्मा	
७—पार्थिवदेवसत्यम्	पार्थिवमोक्तात्मा	
८—भूपिण्डः	शरीरम्	]—विद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्

(८) अविद्याव्ययस्योपक्रमोपसंहारौ—

अधिदैवतम्	अध्यात्मम्	
१—भूपिण्डः	शरीरम्	]—अविद्याव्ययस्योपक्रमस्थानम्
२—पार्थिवदेवसत्यम्	पार्थिवमोक्तात्मा	—अविद्याव्ययस्य मध्यस्थानम्
३—चन्द्रमाः	प्रज्ञानात्मा	
४—मर्त्यसूर्य्यः	मर्त्यविज्ञानात्मा	
५—अमृतसूर्य्यः	अमृतविज्ञानात्मा	
६—महान्परमेष्ठी	महानात्मा	
७—अव्यक्तस्वयम्भूः	शान्तात्मा	
८—षोडशीपुरुषाव्ययः	प्रत्यगात्मा	]—अविद्याव्ययस्योपसंहारस्थानम्

(९)

भूपिण्डमवलम्ब्य भूतात्मविद्यया आत्मदर्शनम्
शरीरमवलम्ब्य भूतात्मविद्यया आत्मदर्शनम्
}—अविद्यात्मदर्शनम्—सैषा अनात्मदृष्टिः
(अत्र आत्मा उपसंहारः, शरीर–उपक्रमः)

षोडशीपुरुषात्मानमवलम्ब्य अनात्मविद्यया आत्मदर्शनम्
प्रत्यगात्मानमवलम्ब्य अनात्मविद्यया आत्मदर्शनम्
}—विद्यात्मदर्शनम्—सैषा आत्मदृष्टिः
(अत्र आत्मा–उपक्रमः, शरीर उपसंहारः)

(१०) आत्मसोपानपरम्परानुगता—अव्ययसंस्थात्रयी—

अधिदैवतम् — अध्यात्मम्

१
- १ षोडशीपुरुषात्मा —प्रत्यगात्मा
- १ अव्यक्तस्वयम्भूः —शान्तात्मा
- १ महान्परमेष्ठी —महानात्मा

}—अमृतात्मप्रधाना 'अव्ययसंस्था' प्रथमा

२
- १ अमृतसूर्यः —अमृतविज्ञानात्मा
- २ मर्त्यसूर्यः —मर्त्यविज्ञानात्मा

}अमृतमर्त्याक्षरप्रधाना 'अक्षरसंस्था' द्वितीया—

३
- १ चन्द्रमा —प्रज्ञानात्मा
- २ पार्थिववैश्वानरः—पार्थिवभौतात्मा
- ३ भूपिण्डः —शरीरम्

}—मर्त्यक्षरप्रधाना– क्षरसंस्था तृतीया

(११)—प्राचीनाभिमता योगत्रयी, तदाधारभूताः—आत्मविवर्तमात्रास्त्र—

शरीरोपक्रमानुगता–मर्त्या–कृष्ण पर्युपसंहारात्मिका मर्त्यात्मसंस्था प्राचीनाभिमतयोगप्रतिष्ठा–

अधिदैवतम् —— अध्यात्मम्

मर्त्यसूर्यः —— मर्त्यबुद्धिः —— अक्षरात्मा (अव्यक्तात्मा) —— ज्ञानयोगाधारभूमिः
चन्द्रमा —— प्रज्ञानात्मा —— अक्षरगर्भितक्षरात्मा (व्यक्ताव्यक्तात्मा)—भक्तियोगाधारभूमिः
भूपिण्डः —— शरीरम् —— क्षरगर्भितविक्षरात्मा (व्यक्तात्मा)—कर्मयोगाधारभूमिः

१–अव्यक्तक्रमानुगतो योगः–ज्ञानयोगः
२–अव्यक्तव्यक्तक्रमानुगतो योगः–भक्तियोगः
३–व्यक्तक्रमानुगतो योगः–कर्मयोगः

— पार्थिवदेवसत्यानुगता-पार्थिवमोक्षात्मा योगानुगता
अविद्याबुद्धियोगसाधनम्
यथाभूतरूपं योगफलम्



(१२)—गीताभिमता योगचतुष्टयी, तदाधारभूता –आत्मविवर्तभावाश्च—

आत्मोपक्रमानुगता-अमृता-शुक्र-पसंहारात्मिका शरीरोपसंहारात्मिका वा अमृतमर्त्यात्मसंस्था–

गीताभिमतयोगप्रतिष्ठा

तत्र—सर्वाव्ययानुगता वैराग्यबुद्धियोगानुगता आत्मसंस्था प्रथमा—

अव्ययोपक्रमात्मिका, शरीरोपसंहारात्मिका, सर्वात्मिका

सर्वाव्यय — | अधिदैवतम् | अध्यात्मम्

१–आनन्दमयोऽव्ययः, २–विज्ञानमयोऽव्ययः —
१–गोश्रीपुरुषाव्ययः –अव्ययात्मा
२–अव्यक्तस्वयम्भूः—शान्तात्मा
३–महान् परमेष्ठी——महानात्मा
— वैराग्यबुद्धियोगगर्भितः–ज्ञानबुद्धियोगः

३–मनोमयोऽव्ययः —
४–अमृतसूर्यः——अमृतविज्ञानात्मा
५–मर्त्यसूर्यः——मर्त्यविज्ञानात्मा
— वैराग्यबुद्धियोगः–ऐश्वर्यबुद्धियोगः

४–प्राणमयोऽव्ययः, ५–वाङ्मयोऽव्ययः —
६–चन्द्रमा——प्रज्ञानात्मा
७–पार्थिवदेवसत्यम्——पार्थिवमोक्षात्मा वैराग्यबुद्धियोगः–धर्मबुद्धियोगः
८–भूपिण्डः——शरीरम्

पार्थिवदेवसत्यानुगता–पार्थिव–मोक्षात्मा योगानुगता
धर्म–ज्ञान–ऐश्वर्यगर्भिता वैराग्यबुद्धिः–योगसाधनम्
असङ्गभावेन सर्वात्मप्रतिष्ठा योगफलम्
स एषः–सर्वात्मानुगतो वैराग्यबुद्धियोगः–सर्वात्मकः

(१२)—प्राचीनाभिमता–संशोधिता–बुद्धियोगात्मिका–योगत्रयी, तदाधारभूतान्यात्म–त्रिवर्त्तानि च—

१–आनन्दविज्ञानमयाव्ययानुगता, अव्ययात्ममूला अव्ययात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका अमृतप्रधाना–प्रथमा संस्था
—'ज्ञानबुद्धियोगभूमिः'—

२–मनोमयमव्ययानुगता, महानात्ममूला, महानात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका–अमृतप्रधाना–द्वितीया संस्था
—'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगभूमिः'—

३–प्राणवाङ्मयाव्ययानुगता, विज्ञानात्ममूला, विज्ञानात्मोपक्रमोपसंहारात्मिका–अमृतप्रधाना तृतीया संस्था
—'धर्म्मबुद्धियोगभूमिः'—

१–अक्षरत्रयः, आनन्दविज्ञानमयः 'पराव्यय' (ब्रह्मस्त्वा)–तदनुगतः–ब्रह्मस्त्व–अव्ययात्मा
—ज्ञानबुद्धियोगाधारः—

२–अक्षरत्रयः, मनोमयः 'परावराव्ययः' (ब्रह्मस्त्वा)–तदनुगतः–ब्रह्मस्त्व–महानात्मा
—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः—

३–अक्षरत्रयः, प्राणवाङ्मयः 'अवराव्ययः' (ब्रह्मस्त्वा)–तदनुगतः–ब्रह्मस्त्वः–विज्ञानात्मा
—धर्म्मबुद्धियोगाधारः—

४–सर्वत्रयः, आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः–सर्वात्मा तदनुगतः–सर्वः सत्त्वात्मा–
—वैराग्यबुद्धियोगाधारः—

स एषः–गीताशास्त्रान्वयः

१३–पातञ्जल योगसूत्र के 'अविद्या' शब्द का समन्वय—

जिसप्रकार वैराग्य की प्रतिद्वन्द्विनी राग–द्वेषात्मिका आसक्ति है, ऐश्वर्य्य की प्रतिद्वन्द्विनी अस्मिता है, धर्म्म का प्रतिद्वन्द्वी अभिनिवेश है, एवमेव ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी 'मोह' माना गया है जिसके लिए योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी को 'अविद्या' शब्द से व्यवहृत करना समीचीन माना जासकता है तथापि विज्ञानदृष्ट्या इसे अविद्या न कह कर 'मोह' कहना ही अन्वर्थ बनता है। कारण स्पष्ट है। जो रागात्मिका चारों बुद्धियाँ चारों 'अविद्याबुद्धि' हैं वहाँ ज्ञानात्मिका चारों बुद्धियाँ 'विद्याबुद्धि' है। विद्या का प्रतिद्वन्द्वी शब्द अविद्या ही हो सकता है। विद्यातत्त्व धर्म्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य्य, इन चार भावों में विभक्त होता हुआ चार पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत हुआ है। ऐसी दशा में चारों विद्याओं के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ 'अविद्या' शब्द केवल ज्ञानविद्या के लिए प्रयुक्त नहीं होसकता। यदि समुदाये दृष्टाः शब्दाः–अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' न्याय से चारों अविद्याबुद्धियों के लिए प्रयुक्त अविद्याशब्द अवयवभूता ज्ञानविद्या का प्रतिद्वन्द्वी मान कर उपाय से योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है तो इसापत्ति है। तब तो ज्ञानवत् धर्म्म–ऐश्वर्य्य–वैराग्य, इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया जासकता है। परन्तु देखते हैं–सूत्रकार ने इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए अविद्या–

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक-विपर्यय-अभिनिवेश, अस्मिता, रागद्वेष, नामों का ही महत्त्व किया है। जब तीनों के लिए नियत नामों का उल्लेख हुआ है तो चौथे ज्ञान की प्रतिद्वन्द्विता के लिए भी 'मोह' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए था और इस विज्ञानदृष्टि से 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च-क्लेशाः' का रूप 'मोहास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' यही होना चाहिए था। सम्भव है सूत्रकार ने-'ज्ञान का उदय विद्या से होता है, अविद्या ज्ञान की शत्रु है'-इत्यादि लोकव्यवहार (लोकव्यवहार) के आधार पर सामान्य जनों की सुविधा के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया हो। अस्तु, वक्तव्य यही है कि, स्मृतिविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग के स्वरूपपरिचय के लिए ज्ञान, और तत्प्रतिद्वन्द्वी मोह इन दो तत्त्वों का स्वरूपज्ञान अपेक्षित है। इसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१४-उभयज्योतिःप्रवर्त्तक अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा—

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।' इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार आत्मा अमृत-मृत्यु, इन दोनों भावों से युक्त है। अमृतभाव ज्ञान है, मृत्युभाव कर्म है। ज्ञान की विरजातीयावस्था 'रस' है, कर्म की विरजातीयावस्था 'बल' है। रसावस्था में परिणत कर्म मग्न रहता है। अतएव सर्वबलविशिष्ट परात्पर रसैकघन बनता हुआ विशुद्ध ज्ञानात्मा (रसात्मा) बन रहा है। इस कर्मानुबन्धविरहित विरजातीय परात्पर को ही मायातीत माना गया है। योगातीत यही परात्पर अपने अकिञ्चित् प्रदेश से 'महामाया' नामक सीमा-भावप्रवर्त्तक मायाविशेष से सीमित होकर 'अव्ययपुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस अव्ययेश्वर में रसात्मक ज्ञानवत् बलात्मक कर्म का भी उद्रेक होजाता है। रस-बल की साम्यावस्थात्मक यही अव्ययात्मा 'ज्ञानकर्मात्मा' कहलाया है। ज्ञानरूपा यह ज्ञानात्मा है, कर्मरूपा कर्मात्मा है। ज्ञानभाग अवश्य अमृत है, कर्मभाग अवश्य मृत्यु है। दोनों के साम्य से यह अव्ययपुरुष समत्वलक्षण बुद्धियोग से नित्य-मुक्त रहता हुआ नित्यमुक्त है। यही ज्ञानकर्मोभयमूर्ति अव्ययात्मा आध्यात्मिक-हृदयस्थित 'प्रत्यगात्मा' है, जिसे हमनें 'सर्वाव्यय' नाम से व्यवहृत किया है, एवं जिसे अर्थभागलक्षण 'वैराग्यबुद्धियोग' की आधारभूमि बतलाया गया है। ज्ञान और कर्म के समत्वलक्षण वैराग्य से यह प्रत्यगात्मा स्वस्वरूप से नित्य शान्त है योगयुक्त है आपूर्य्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ है। यह स्वाभाविकी नित्या शान्ति ही इसकी स्वस्थता है। नित्य स्वस्थ इस ज्ञानकर्ममूर्त्ति प्रत्यगात्मा का ही नाम है-'अन्तर्ज्योति'। अन्तःप्रकाश ही आत्मप्रकाश है, आत्मप्रकाश ही आत्मज्योति है, यही अन्तर्ज्योति है।

इस अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मप्रकाश के ज्ञानज्योति, भूतज्योति, भेद से दो विवर्त माने गए हैं। रसात्मिका ज्ञानज्योति ज्ञानज्योति है बलात्मिका कर्मज्योति भूतज्योति है। संकुचित तत्त्व का विकसितरूप ही उस तत्त्व का ज्योतिर्भाव है। यह आत्माव्यय ज्ञान, और कर्मरूप से ही विकसित हुआ है। अतएव उसके स्वत: विकसित ज्ञान और कर्मतत्त्व को अवश्य ही ज्योतिः शब्द से व्यवहृत किया जासकता है। उभय-ज्योतिर्मूर्त्ति यह प्रत्यगात्मा अपने ही ज्ञान-कर्म-विकास से ज्योतिष्मान् बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म-ज्योति 'स्वर्ज्योति' बना हुआ है। अमृतलक्षणा ज्ञानज्योति, मृत्युलक्षणा कर्मज्योति, इन दोनों ज्योतियों से ज्योतिष्मान् बना हुआ स्वज्योतिर्मय प्रत्यगात्मा ही 'अन्तर्ज्योति' है यही विज्ञानभाषा में 'पुरुषज्योति' नाम से व्यवहृत हुआ है।

(१३)—प्रार्थनात्मिका–संशोधिता–बुद्धियोगात्मिका–योगत्रयी, तदाधारभूतान्यासन–चित्रानि च—

१–आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयस्थ, अव्ययात्मानुगता, अव्ययात्मयोगक्षेमोपसंहारात्मिका अमृतप्रधाना–प्रथमा संस्था
—'ज्ञानबुद्धियोगभूमिः'—

२–मनोमयप्राणानुगता महानात्मभूता, महानात्मयोगक्षेमोपसंहारात्मिका–अमृतप्रधाना–द्वितीया संस्था
—'ऐश्वर्यबुद्धियोगभूमिः'—

३–प्राणवाङ्मयस्थानुगता, विज्ञानात्मभूता, विज्ञानात्मयोगक्षेमोपसंहारात्मिका–अमृतप्रधाना तृतीया संस्था
—'धर्मबुद्धियोगभूमिः'—

—•—

१–पद्मासनबन्धः, आनन्दविज्ञानमयः 'पद्मासन' (बाहुस्त्वा)–तदनुगतः–बाहुस्त्वा–अव्ययात्मा
—ज्ञानबुद्धियोगाधारः—

२–भद्रासनबन्धः, मनोमयः 'भद्रासनम्', (बाहुस्त्वाः)–तदनुगतः–बाहुस्त्वा–महानात्मा
—ऐश्वर्यबुद्धियोगाधारः—

३–सिद्धासनबन्धः प्राणवाङ्मयः 'सिद्धासन' (बाहुस्त्वाः)–तदनुगतः–बाहुस्त्वाः–विज्ञानात्मा
—धर्मबुद्धियोगाधारः—

—•—

४–स्वस्तिकबन्धः आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः–सर्वात्मयः, तदनुगतः–सर्वः समन्वयात्मा–
—वैराग्यबुद्धियोगाधारः—

स एष–गीताशास्त्रान्वयः

१३–पातञ्जल योगसूत्र के 'अविद्या' शब्द का समन्वय—

जिसप्रकार वैराग्य की प्रतिद्वन्द्विनी राग–द्वेषात्मिका आसक्ति है, ऐश्वर्य की प्रतिद्वन्द्विनी अस्मिता है धर्म्म का प्रतिद्वन्द्वी अभिनिवेश है एवमेव ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी 'मोह' माना गया है जिसके लिए योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी को 'अविद्या' शब्द से व्यवहृत करना समीचीन माना जासकता है तथापि विद्यासम्प्रदाय इसे अविद्या न कह कर 'मोह' कहना ही उपयुक्त मानता है। कारण स्पष्ट है। जो रागात्मिका चारों बुद्धियें यहां 'अविद्याबुद्धि' हैं वहां भगात्मिका चारों बुद्धियें 'विद्याबुद्धि' हैं। विद्या का प्रतिद्वन्द्वी शब्द अविद्या ही हो सकता है। विद्यात्मक धर्म्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य्य, इन चार भागों में विभक्त होता हुआ चार पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत हुआ है। ऐसी दशा में चारों विद्याओं के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ 'अविद्या' शब्द केवल ज्ञानविद्या के लिए प्रयुक्त नहीं होसकता। यदि 'समुदाय प्रवृत्ताः शब्दाः–अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' न्याय से चारों अविद्याबुद्धियों के लिए प्रयुक्त अविद्याशब्द अवयवभूत ज्ञानविद्या का प्रतिद्वन्द्वी मान कर व्यास से योगदर्शन में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है तो ग्राह्मसिद्ध है। तब तो ज्ञानवत् धर्म्म–ऐश्वर्य्य–वैराग्य, इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया जासकता है। परन्तु देखते हैं–सूत्रकार ने इन तीनों के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए अविद्या–

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक–नियत–अभिनिवेश, अस्मिता, रागद्वेष, नामों का ही ग्रहण किया है। इन तीनों के लिए नियत नामों का उल्लेख हुआ है तो चौथे ज्ञान की प्रतिद्वन्द्विता के लिए भी 'मोह' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए था और इस विज्ञानदृष्टि से 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च–क्लेशाः' का रूप 'मोहास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' यही होना चाहिए था। सम्भव है सूत्रकार ने–'ज्ञान का उदय विद्या से होता है अविद्या ज्ञान की शत्रु है'–दार्शनिकशिरोमणि इस लोकव्यवहार (लोकव्यवहार) के आधार पर सामान्य जनों की सुविधा के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया हो। अस्तु, वक्तव्य यही है कि, सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग के स्वरूपपरिचय के लिए ज्ञान, और तत्प्रतिद्वन्द्वी मोह, इन दो तत्त्वों का स्वरूपज्ञान अपेक्षित है। इसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१४–उभयज्योतिःप्रवर्तक अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा—

"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।" इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार आत्मा अमृत–मृत्यु इन दोनों भावों से युक्त है। अमृतभाव ज्ञान है, मृत्युभाव कर्म है। ज्ञान की विश्वातीतावस्था 'रस' है, कर्म की विश्वातीतावस्था 'बल' है। रसावस्था में परिणत कर्म सुप्त रहता है। अतएव सर्वबलविरहित परात्पर रसैकघन बनता हुआ विशुद्ध ज्ञानात्मा (रसात्मा) बन रहा है। इस कर्मात्यन्तविरहित विश्वातीत परात्पर को ही योगातीत माना गया है। योगातीत यही परात्पर अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से 'महामाया' नामक सीमा–भावप्रवर्तक मायाविशेष से सीमित होकर 'अव्ययपुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस अव्ययेश्वर में रसात्मक ज्ञानवत् बलात्मक कर्म का भी उद्रेक हो जाता है। रस–बल की साम्यावस्थारूप यही अव्ययात्मा 'ज्ञानकर्मात्मा' कहलाता है। ज्ञानदृष्ट्या यह ज्ञानात्मा है, कर्मदृष्ट्या कर्मात्मा है। ज्ञानभाव अमृतलक्षण अमृत है, कर्मभाव मृत्युलक्षण मृत्यु है। दोनों के साम्य से यह अव्ययपुरुष समत्वलक्षण बुद्धियोग से नित्य–युक्त रहता हुआ नित्ययुक्त है। यही ज्ञानकर्मोभयमूर्ति अव्ययात्मा आध्यात्मिक–हृदयस्थित 'प्रत्यगात्मा' है जिसे हमने 'सर्वाव्यय' नाम से व्यवहृत किया है एवं जिसे सर्वयोगलक्षण 'वैराग्यबुद्धियोग' की आधारभूमि बतलाया गया है। ज्ञान और कर्म के समत्वलक्षण वैराग्य से यह प्रत्यगात्मा स्वस्वरूप से नित्य शान्त है, सोमपीथ है आपूर्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ है। यह स्वाभाविकी नित्या शान्ति ही इसकी स्वस्थता है। नित्य स्वस्थ इस ज्ञानकर्ममूर्ति प्रत्यगात्मा का ही नाम है–'अन्तर्ज्योति'। अन्तःप्रकाश ही आत्मप्रकाश है, आत्मप्रकाश ही आत्मज्योति है यही अन्तर्ज्योति है।

इस अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मप्रकाश के ज्ञानज्योति, भूतज्योति भेद से दो विवर्त माने गए हैं। रसात्मिका ज्ञानज्योति ज्ञानज्योति है बलात्मिका कर्मज्योति भूतज्योति है। संकुचित तत्त्व का विकसितरूप ही उस तत्त्व का ज्योतिर्भाव है। यह आत्मात्मक ज्ञान और कर्मरूप से ही विकसित हुआ है। अतएव उसके स्वत विकसित ज्ञान, और कर्मतत्त्व को अवश्य ही ज्योतिः शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। उभय–ज्योतिर्मूर्ति यह प्रत्यगात्मा अपने ही ज्ञान–कर्म–विकास से ज्योतिष्मान् बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म–ज्योति 'स्वज्योति' बना हुआ है। अमृतलक्षणा ज्ञानज्योति, मृत्युलक्षणा कर्मज्योति, इन दोनों स्वज्योतियों से ज्योतिष्मान् बना हुआ स्वज्योतिर्घन प्रत्यगात्मा ही 'अन्तर्ज्योति' है यही विज्ञानभाषा में 'पुरुषज्योति' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१५–विश्वनिबन्धन पुरुषज्योति–प्रकृतिज्योतिः–विमर्श—

वैज्ञानिकों ने कहा है—पुरुषज्योति पाँच ज्योतियों के द्वारा विश्वानुगता बनी रहती है। प्रश्न होता है कि, पुरुषज्योतिर्लक्षणा अन्तर्ज्योति (आत्मज्योति) को विश्वानुगता बना देने वाली उन पाँच ज्योतियों का क्या स्वरूप है ?। इस प्रश्न का समाधान हुआ है– बहिर्ज्योति के द्वारा। 'प्रकृतिं–पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि' सिद्धान्तानुसार पुरुषतत्त्व प्रकृतितत्त्व से नित्य युक्त है। प्राणाः, आपः, वाक् अन्नम् अन्नादः, भेद से प्रकृतितत्त्व (बहिरङ्गप्रकृति) पञ्चधा विभक्त माना गया है। पञ्चज्योतिर्लक्षणा यह प्रकृतितत्त्व ही भूतात्मक पञ्च पर्वा विश्व का उपादान माना गया है। क्योंकि पञ्चज्योतिर्लक्षणा यही बहिरङ्गप्रकृति पञ्चभूतात्मक विश्वविवर्त्त का कारण (उपादान) बनती है अतएव इस प्रकृतिज्योति को अवश्य ही 'बहिर्ज्योति' नाम से व्यवहृत किया जासकता है। जिस प्रकार अन्तर्ज्योतिर्लक्षणा पुरुषज्योति ज्ञान–कर्म के भेद से ज्ञानज्योति भूतज्योतिः इन दो भावों में विभक्त रहती है, एवमेव बहिर्ज्योतिर्लक्षणा प्रकृतिज्योति भी ज्ञान–कर्म के भेद से दो ही भावों में विभक्त मानी गई है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि अन्तर्ज्योति के दोनों पर्व जहाँ साम्यावस्था में परिणित रहते हैं वहाँ बहिर्ज्योति के दोनों पर्व विषमावस्था में परिणित रहते हैं। अन्तर्ज्योति के ज्ञान–कर्म साम्यावस्था के कारण जहाँ विज्ञानघन ज्ञानज्योतिप्रधान है वहाँ बहिर्ज्योति के ज्ञान–कर्म विषमावस्था के कारण भूर्त्ततासम्बन्ध से भूतज्योतिप्रधान है। अतएव उभयात्मिका भी पुरुषज्योति विज्ञान–सत्ता से केवल 'ज्ञानज्योति' नाम से, एवं उभयात्मिका भी प्रकृतिज्योति केवल भूतज्योति नाम से व्यवहृत कर दी गई है। उभयात्मिका पुरुषज्योति के ज्ञान ज्योति अन्तर्ज्योति आत्मज्योतिः, ज्योतिषांज्योतिः इत्यादि अनेक नाम हैं। उभयात्मिका प्रकृतिज्योति के भूतज्योति बहिर्ज्योति विश्वज्योति, ज्योति इत्यादि अनेक नाम हैं। पुरुषज्योति आत्मा है प्रकृतिज्योति इस आत्मा का शरीर है। जिस प्रकार आत्मा शरीर से नित्य युक्त है एवमेव यह पुरुषज्योति प्रकृतिज्योति से नित्य युक्त है। पञ्चपर्वात्मक प्राकृतिक विश्व ही प्रकृतिज्योति है पञ्चपर्वात्मक विश्वात्मा ही पुरुषज्योति है। विश्वात्मा विश्व का आधार है, बहिर्ज्योति अन्तर्ज्योति के स्वरूपविकास का आधार है

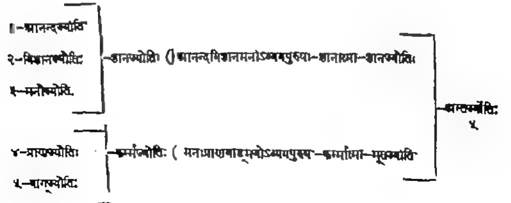
१६–पुरुष, एवं प्रकृति–ज्योतियों के पाँच पाँच अवान्तर विवर्त—

प्राणज्योति अपूज्योति वागज्योति अन्नादज्योति अन्नज्योति ये ही पाँच प्रकृतिज्योतियें हैं जिनकी समष्टि का नाम 'विश्वज्योति' है। प्राणज्योति से प्राणमय स्वयम्भू का अपूज्योति से महत्परमेष्ठी का वागज्योति से विज्ञानसूर्य्य का अन्नादज्योति से पृथिवी का एवं अन्नज्योति से चन्द्रमा का विकास हुआ है। प्राणात्मक स्वयम्भू आपोमय परमेष्ठी, अमृतावाङ्मय अमृतसूर्य्य इन तीन बहिर्ज्योतियों की समष्टि ज्ञान–लक्षणा बहिर्ज्योति है। मर्त्यवाङ्मय मर्त्य सूर्य अन्नमय चन्द्रमा अन्नादमयी पृथिवी, इन बहिर्ज्योतियों की समष्टि कर्मलक्षणा बहिर्ज्योति है। इसप्रकार पञ्चज्योतिर्लक्षणा इस प्रकृतिज्योति में भी पुरुषज्योतिर्वत् ज्ञान कर्म दोनों ज्योतियों का उपभोग हो रहा है। प्रकृतिज्योति का ज्ञानज्योतिर्भाग पुरुषज्योति के ज्ञानज्योतिर्भाग से एवं प्रकृतिज्योति का कर्मज्योतिर्भाग पुरुषज्योति के कर्मज्योतिर्भाग से अनुगृहीत रहता है। तब ही पुरुषज्योति के ज्ञान–कर्ममय ज्योतिर्भाग प्रकृतिज्योति के ज्ञानकर्ममय ज्योतिर्भाग से विश्वानुगत बने रहते हैं। आनन्दज्योति, विज्ञानज्योति, मनोज्योति, प्राणज्योति वागज्योति ये ही पाँच पुरुषज्योतियें हैं, जिनकी समष्टि का

नाम ही 'आत्मज्योति' है। आनन्दज्योति से अव्यक्त स्वयम्भूलक्षणा प्राणज्योति, विज्ञानज्योति से परमेष्ठी-लक्षणा अन्नज्योति, मनोज्योति से वागलक्षणा सूर्यज्योति, प्राणज्योति से अप्लक्षणा चन्द्रज्योति, एवं वाग्ज्योति से अन्नादलक्षणा पृथिवीज्योति अनुप्राणित है। इन पाँचों भूतज्योतियों से (प्रकृतिज्योतियों से) पाँचों ज्ञानज्योतियाँ (पुरुषज्योतियाँ) चिरयानुगत बनी हुई हैं। ज्योति वस्तुतः ज्ञानात्मक रस का ही नाम है। वही ज्ञानरस बलग्रन्थितारतम्य से, किंवा बलग्रन्थि के उत्तरोत्तर घनीभूत होने से पाँच रूपों में परिणत हो जाता है। बलग्रन्थितारतम्यानुगता ज्ञानज्योति के बलप्रधान रूप ही 'कर्म्म' कहलाए हैं। ज्ञान का बलानुगत रूप ही कर्म्म है। अतएव कर्म्म को भी 'ज्योति' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि पञ्चधा विभक्त पुरुषज्योति ही अन्तर्ज्योति है, यह ज्ञान-कर्म्म भेद से द्विधा विभक्त है, एवं यह साम्यावस्थापन्ना है। पञ्चधा विभक्त प्रकृतिज्योति ही बहिर्ज्योति है, यह भी ज्ञानकर्म्म भेद से द्विधा विभक्त है, एवं यह विषमावस्थापन्ना है। पञ्चज्योतिर्लक्षणा आत्मा, पञ्चज्योतिर्लक्षणा प्रकृति, दोनों की समष्टि 'पुरुष' है। एवं-'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुरुषसंस्था में मुक्त आत्मज्योति भी पञ्चधा विभक्त है, प्रकृतिज्योति भी पञ्चधा विभक्त है। निम्न लिखित परिलेखों से इस प्रतिपादित ज्योति-विवर्त्त का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है।

१—आत्मज्योतिः (ज्ञानज्योतिः—अन्तर्ज्योतिः—पुरुषज्योतिः)
२—विश्वज्योतिः (भूतज्योतिः—बहिर्ज्योतिः—प्रकृतिज्योतिः)

१—आत्मज्योतिः



२–विश्वज्योतिः

१–सत्यज्योतिः
२ ब्रह्मज्योतिः
३–यागज्योतिः

–ज्ञानज्योतिः (प्राण–मन्–वाङ्मयी–प्रकृतिः)–ज्ञानप्रकृतिः –ज्ञानज्योतिः

४–अन्नज्योतिः
५–अन्नादज्योतिः

–कर्मज्योतिः (वाक्–अन्न–अन्नादमयी–प्रकृतिः)–कर्मप्रकृतिः–भूतज्योतिः

–विश्वज्योतिः ५

पुरुषात्मा	–प्रकृत्यात्मा	–अभिव्यक्तम्	अध्यात्मम्				
१–आनन्दगर्भितः	–अव्ययलक्षण	–स्वयम्भू	शान्तात्मा	पुरुषज्योतिर्ज्योतिः	प्रकृतिज्योतिः	ब्रह्मज्योतिः	
२–विज्ञानगर्भितः	–अक्षरलक्षण	–परमेष्ठी	महानात्मा				
३–मनोगर्भितः	–क्षरलक्षणः	–अमृतसूर्यः	विद्याबुद्धिः				–पञ्चज्योतिरयं पुरुषः पुरुषत्वेन प्रकृत्या च उभयथा पञ्चज्योतिः
३–मनोगर्भितः	–क्षरलक्षण	–मर्त्यसूर्यः	अविद्याबुद्धिः	पुरुषज्योतिर्ज्योतिः	प्रकृतिज्योतिः	भूतज्योतिः	
४–प्राणगर्भितः	–अन्नलक्षण	–चन्द्रमा	मनः				
५–वाग्गर्भितः	–अन्नादलक्षण	–भूपिण्डः	शरीरम्				
आत्मज्योतिः	–विश्वज्योतिः						
पुरुषज्योतिः	–प्रकृतिज्योतिः						

१७–बन्धननिवर्त्तक-प्रवर्त्तक-पुरुष-प्रकृति-ज्योतिर्विवर्त—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुति के अनुसार आत्म-ज्योतिर्लक्षणा पुरुषज्योति ही विश्वज्योतिर्लक्षणा प्रकृतिज्योति की आधारभूमि है। अव्ययात्मलक्षणा आत्मज्योति ही तो शान्तात्मादि लक्षणा प्रकृतिज्योति-पञ्चक में परम्परया अवतीर्ण हुई है। स्वस्थान में यही आत्मज्योति है, विश्वस्थान में यही भूतज्योति है। आत्मज्योति निरुपाधिक है, भूतज्योति सोपाधिक है। निरुपाधिक आत्मज्योति त्रिगुणभाव से अभिभूत है, सोपाधिक भूतज्योति त्रिगुणभावाक्रान्त है। गुणातीता आत्मज्योति अपने ही गुणात्मक भूतज्योतिर्लक्षण आवरण से उसी प्रकार आवृत हो जाती है, जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वोत्पन्न जाल से, पुरुष स्वोत्पन्न केशलोमों से, लौह स्वोत्पन्न किट्ट (जंग) से, तथा दुग्ध स्वोत्पन्न 'सार' (सर-मलाई) से आवृत हो जाता है। अधिदैवतसंस्था में ज्ञान-कर्म-उपासक षोडशी-पुरुष (ईश्वर) है। पूर्वकथनानुसार अधिदैवत संस्था पुरुषप्रधाना है। पुरुष के ज्ञान-कर्मभाग साम्यावस्था-पन्न हैं। इस साम्यभाव के कारण, गीता के शब्दों में समत्वलक्षण बुद्धियोगप्रभाव से प्रकृत्यनुगत भूतज्योति का आवरण उसे आवृत करने में असमर्थ रह जाता है। अतएव यहाँ स्वज्योतिर्घन आत्मा सदा स्वस्वरूप से विकसित रहता है। परन्तु अध्यात्मसंस्था का प्रभव पुरुषरूप से 'प्रकृतिवश' बनता है। प्राणी-सृष्टि भूतप्रधाना है। भूतरूप का उपक्रम भी प्रकृति है, उपसंहार भी प्रकृति है, जैसाकि-'अव्यक्तादीनि भूतानि, अव्यक्तनिधनान्येव' इत्यादि गीतावचन से प्रमाणित है। अध्यक्ष (साक्षी) अव्ययपुरुष रहता है, परन्तु सर्जन (उत्पत्ति) प्रकृति के द्वारा ही होता है-'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्'। प्रकृति बीजसर्ग का मूलप्रभव है। प्रकृति गुणात्मिका बनती हुई सत्त्व-रज-तमोमयी है। अतएव प्रकृतिभाव से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान भी त्रिगुणभाव में परिणत हो जाता है, एवं कर्म भी त्रिगुणात्मक बन जाता है। बतलाया गया है कि अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मा का आनन्दविज्ञानमनोमय भाग ज्ञानज्योति है, मन-प्राणवाङ्मय भाग कर्मज्योति है, यही भूतज्योति है। इसप्रकार केवल आत्मज्योतिर्लक्षण अन्तर्ज्योति (ज्ञानज्योति) में ही ज्ञानात्मा, कर्मात्मा, के सम्बन्ध से ज्ञान-भूत, दोनों ज्योतियों का उपभोग सिद्ध हो रहा है। यह भूतज्योति आत्मा का स्वरूपधर्म है, अतएव यह बन्धननिवर्त्तिका बनती हुई आत्मस्वरूप में ही अन्तर्भूत है। अतएव आत्मानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतियों को केवल 'ज्ञानज्योति' नाम से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। एवमेव बहिर्ज्योतिर्लक्षण विश्व का शान्तात्मा-महानात्मा-विज्ञानबुद्धिमय भाग ज्ञानज्योति है, अविद्याबुद्धि-मन-शरीरमय भाग कर्मज्योति है, यही भूतज्योति है। इसप्रकार केवल विश्वज्योतिर्लक्षण बहिर्ज्योति (भूतज्योति) में भी ज्ञानात्मा, कर्मात्मा के सम्बन्ध से ज्ञान भूत, दोनों ज्योतियों का उपभोग सिद्ध हो रहा है। यह उभयात्मिका भूतज्योति आत्मा का परधर्म है, अतएव यह बन्धननिवर्त्तिका बनती हुई आत्मस्वरूप से पृथक् मानी गई है। अतएव विश्वानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतियों को केवल 'भूतज्योति' नाम से ही व्यवहृत किया गया है।

(१) आत्मज्योतिः, पुरुषज्योतिः, अन्तर्ज्योतिः, ज्ञानज्योतिः, स्वर्ज्योतिः—

१–आनन्दविज्ञानमनोमयोऽव्यय —ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः
२–मनःप्राणवाङ्मयोऽव्ययः———कर्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः
} ज्ञानज्योतिः १

(२)–विश्वज्योतिः, प्रकृतिज्योतिः, बहिर्ज्योतिः, भूतज्योतिः, परज्योतिः—

१–शान्तात्म–महानात्म–विज्ञानबुद्ध्यात्ममयः—ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः
२–अविद्याबुद्ध्यात्म–प्रज्ञानात्म–शरीरात्ममयः–कर्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः
} भूतज्योतिः २

१८–शुद्धसत्त्वानुगता सिद्धविद्या—

कहा गया है कि –'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः' के अनुसार ज्ञानकर्मव्याप्तिलक्षण प्रत्यगात्मलक्षण अव्ययपुरुष गुणातीत बनता हुआ निर्गुण है। इस निर्गुणभाव के कारण ही विद्याबुद्धि चतुष्टयी से समन्वित गीतानुगता बुद्धियोगचतुष्टयी निर्गुणभावप्रवर्तिका बनती हुई अकल्पना सिद्ध हो रही है। अव्ययात्मानुगत अन्तर्ज्ञान तथा अन्तःकर्म्म विशुद्धसात्त्विक ज्ञान, एवं विशुद्ध निष्कामकर्म्म है। यह ज्ञान और कर्म्म दोनों स्वस्वरूप से एकत्वानुगत समत्वभाव से सम्बद्ध हैं। नानात्वलक्षण भूतभाव का प्रवेश यहाँ सर्वथा असम्भव है। गुणातीत यही आत्मज्ञान विशुद्ध सात्त्विक ज्ञान कहलाया है, आत्मकर्म्म विशुद्ध सात्त्विक कर्म कहलाया है। एवंविध सात्त्विक ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित सात्त्विक निष्कामकर्म्म ही ज्ञानबुद्धियोगानुगत सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा बनता है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही ज्योतिर्विवर्तों का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण हुआ है।

१६–गुणानुगत–ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व का त्रिविध विवर्त—

अब दो शब्दों में गुणानुगत ज्ञानकर्म्मभावों का भी स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लीजिए। प्रकृतिज्योति की सीमा में मुक्त ज्ञानात्मा कर्म्मात्मा दोनों क्रमशः गुणत्रयी के सम्बन्ध से तीन तीन भावों में विभक्त हो रहे हैं। यह विश्व ही इस विश्वज्योति का प्राधान्य है। शान्तात्मानुगत ज्ञान सत्त्वगुणात्मक ज्ञान है, तदनुगत अविद्याबुद्धि–सहकृत कर्म्म सत्त्वगुणात्मक कर्म्म है। यह पहिला ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व ही भाष्योनाभिमत 'ज्ञानयोग' की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मानुगत निर्गुणलक्षण ज्ञानकर्म्म से युक्त होकर गीताभिमत 'ज्ञानबुद्धियोग' में परिणत हो जाता है। महानात्मानुगत ज्ञान रजोगुणात्मक ज्ञान है, तदनुगत प्रज्ञानमनः–सहकृत कर्म्म रजोगुणात्मक कर्म्म है। यह दूसरा ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व ही भाष्योनाभिमत भक्तियोग की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मसम्पत्ति से युक्त होकर गीताभिमत 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' में परिणत हो जाता है। अविद्या-बुद्ध्यनुगत–ज्ञान तमोगुणात्मक ज्ञान है, तदनुगत शरीरात्मसहकृत कर्म्म तमोगुणात्मक कर्म्म है। यह तीसरा ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व ही भाष्योनाभिमत कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यगात्मसम्पत्ति से युक्त होकर

र्मसमन्वित 'कर्म्मबुद्धियोग' स्वरूप में परिणत हो जाता है। तात्पर्य्य यह निकला कि, प्राकृतात्मविवर्तों में से शान्तात्मा महानात्मा अमृतविज्ञानात्मा, ये तीन तो ज्ञानात्मा हैं एवं मर्त्यविज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा शरीरात्मा, तीन कर्म्मात्मा हैं। शान्तात्मानुगत ज्ञान एवं मर्त्यविज्ञानात्मक कर्म्म सात्त्विक ज्ञानकर्म्म द्वन्द्व है। महानात्मानुगत ज्ञान एवं प्रज्ञानात्मक कर्म्म राजस ज्ञानकर्म्म द्वन्द्व है। अमृतविज्ञानात्मक ज्ञान एवं शरीरात्मक कर्म्म तामस ज्ञान कर्म्मद्वन्द्व है। शान्तात्मक ज्ञान सत्त्वानुगत 'ज्ञान' है महानात्मक ज्ञान रजोऽनुगत 'विज्ञान' है * विद्याबुद्ध्यात्मक ज्ञान तमोऽनुगत 'अज्ञान' है। इसप्रकार शान्तात्म-महानात्म-विद्याबुद्ध्यात्मक प्राकृत ज्ञान सत्त्व-रज-स्तमोभेद से ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। यही गुणाभिन्न ज्ञानत्रयी का दिग्दर्शन है। अविद्याबुद्ध्यनुगत कर्म्म सत्त्वानुगत 'कर्म्म' है प्रज्ञानात्मक कर्म्म रजोऽनुगत 'विकर्म्म' है। एवं शरीरात्मक कर्म्म तमोऽनुगत 'अकर्म्म' है। इसप्रकार अविद्याबुद्ध्यात्म-प्रज्ञानात्म-शरीरात्मात्मक प्राकृत कर्म्म सत्त्व-रज-स्तमोभेद से कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। ज्ञान और कर्म्म यह प्राकृतिक द्वन्द्व अनुकूलवेदनात्मक सुख की प्राप्ति का कारण माना गया है, जो स्वतः दुःख ही है। विज्ञान विकर्म्म और अज्ञान-अकर्म्म, दोनों द्वन्द्व प्रतिकूलवेदनात्मक दुःख की प्राप्ति के कारण माने गए हैं। सुख-साधक दो हैं दुःखप्रवर्त्तक चार हैं। अतएव अन्तर्ज्योतिर्लक्षण सत्त्वात्मा के अनुग्रह से वञ्चित बहिर्ज्योतिर्लक्षण प्राकृतात्मा के निविडपाश में बद्ध जीवात्मा प्रकृत्या अधिकांश में दुःखी ही बने रहते हैं। तन्निवारणार्थ ही सत्त्वात्मानुगत-बुद्धियोगशास्त्र (गीता) प्रवृत्त हुआ है।

१	१-शान्तात्मा	(ज्ञानात्मा)-सत्त्वानुगतं ज्ञानम्—ज्ञानम्	—[illegible] ज्ञानत्रयी (ज्ञानज्योतिः) ([illegible]नुगतम्)	[illegible]ज्योतिर्लक्षण-प्राकृतात्मा [illegible]
	२-महानात्मा	(ज्ञानात्मा)-रजोऽनुगतं ज्ञानम्—विज्ञानम्		
	३-विद्याबुद्ध्यात्मा	(ज्ञानात्मा)-तमोऽनुगतं ज्ञानम्—अज्ञानम्		
२	१-अविद्याबुद्ध्यात्मा	(कर्म्मात्मा)-सत्त्वानुगतं कर्म्म—कर्म्म	—[illegible] कर्म्मत्रयी ([illegible]ज्योतिः) ([illegible]नुगतम्)	
	२-प्रज्ञानात्मा	(कर्म्मात्मा)-रजोऽनुगतं कर्म्म—विकर्म्म		
	३-शरीरात्मा	(कर्म्मात्मा)-तमोऽनुगतं कर्म्म—अकर्म्म		

* यहाँ विद्या से त्रयीविद्या अभिप्रेत है जो सूर्य्यमूला है [illegible] [illegible] विद्या है, जिसके सम्बन्ध में—'त्रैगुण्यविषया वेदा' कहा गया है। एवं जो [illegible] [illegible] की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है।

१	१-शान्तात्मानुगतं—ज्ञानलक्षणं-'ज्ञानम्' २-अविद्याबुद्ध्यनुगतं—कर्मलक्षणं-'कर्म'	ज्ञानकर्मात्मा—प्राचीनाभिमतज्ञानयोगाधारः
२	१-महदात्मानुगतं-विज्ञानलक्षणं-'ज्ञानम्' २-प्रज्ञानात्मानुगतं-विकर्मलक्षणं-'कर्म'	विज्ञानविकर्मात्मा—प्राचीनाभिमतभक्तियोगाधारः
३	१-विद्याबुद्ध्यनुगतं-अज्ञानलक्षणं-'ज्ञानम्' २-शरीरानुगतं—अकर्मलक्षणं-'कर्म'	अज्ञानाकर्मात्मा—प्राचीनाभिमतकर्मयोगाधारः

२०-प्राकृतात्मत्रयी, एवं तदनुगता प्राचीनाभिमता योगत्रयी—

अज्ञानात्मक कर्मात्मा कर्मासक्ति का प्रवर्तक बनता हुआ ही काम्य कर्मयोग की प्रतिष्ठा बनता है। यहाँ ज्ञान अतिशय रूप से कर्मासक्ति के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव अज्ञानात्मक ज्ञान, अकर्मात्मक कर्म इस प्रकार ज्ञान कर्म दोनों के रहते भी यह योग केवल 'कर्मयोग' ही कहलाया है। विज्ञानात्मक विकर्मात्मा आत्मासक्ति का प्रवर्तक बनता हुआ ही काम्य भक्तियोग की प्रतिष्ठा बनता है। विज्ञानविकर्मात्मक यह आत्मा ज्ञानकर्मादित्रयी के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ ज्ञानकर्मात्मा के ज्ञान भाग से, अज्ञानात्मक कर्मात्मा के कर्मभाग से दोनों से युक्त बना हुआ है। भाग-धारा-बना हुआ है। अतएव उभयात्मक यह योग 'भक्तियोग' कहलाया है जिसका अर्थ है ज्ञानरूप आधिदैविकतत्त्व, कर्मरूप आधिभौतिकतत्त्व इन दोनों का समन्वित रूप। ज्ञानात्मक कर्मात्मा ज्ञानासक्ति का प्रवर्तक बनता हुआ ही कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा बनता है। यहाँ कर्म अतिशयरूप से ज्ञानासक्ति के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव ज्ञानात्मक ज्ञान, कर्मात्मक कर्म इन दोनों के रहते भी यह योग केवल 'ज्ञानयोग' ही कहलाया है। ज्ञान आधिदैविक तत्त्व माना गया है, कर्म आधिभौतिक तत्त्व माना गया है। ज्ञानात्मक कर्मात्मा ज्ञानप्राधान्य से आधिदैविक है, अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत ज्ञानयोग में साध्य-साधन दोनों आधिदैविक माने गए हैं। विज्ञानात्मक विकर्मात्मा उभयात्मक न उभयात्मक है। अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत भक्तियोग में साध्य आधिदैविक माना गया है, साधन आधिभौतिक माना गया है। अज्ञानात्मक अकर्मात्मा कर्मप्राधान्य से आधिभौतिक है। अतएव तदनुगत प्राचीनाभिमत कर्मयोग में साध्य, साधन दोनों आधिभौतिक माने गए हैं जैसा कि कर्म-ज्ञान-भक्ति-परीक्षाप्रकरणों में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

१	ज्ञानात्मकं ज्ञानम्—आधिदैविकम्—साध्यम् ज्ञानात्मकं कर्म्म—आधिदैविकम्—साधनम्	—ज्ञानकर्म्मात्मानुगतो ज्ञानयोग—आधिदैविकः
२	विज्ञानात्मकं ज्ञानम्—आधिदैविकम्—साध्यम् विकर्म्मात्मकं कर्म्म—आधिभौतिकम्—साधनम्	—विज्ञानविकर्म्मात्मको भक्तियोग—दैविकभौतिकः
३	कर्म्मात्मकं ज्ञानम्—आधिभौतिकम्—साध्यम् कर्म्मात्मकं कर्म्म—आधिभौतिकम्—साधनम्	—अज्ञानाकर्म्मात्मकः कर्मयोग—आधिभौतिकः

२१—निरूपिता योगत्रयी की प्रासङ्गिकी विषम समस्या—

समस्या का अभी पूरा पूरा स्पष्टीकरण इसलिए नहीं हुआ है कि वृद्धव्यवहार के अनुसार 'अकर्म्म' का अर्थ निरर्थक कर्म्म माना गया है, विकर्म्म का अर्थ शास्त्रविरुद्ध कर्म्म माना गया है, तथा कर्म्म का अर्थ शास्त्रसिद्ध कर्म्म माना गया है। एवमेव अज्ञान का अर्थ मोह, विज्ञान का अर्थ विरुद्धज्ञान एवं ज्ञान का अर्थ शास्त्रज्ञान माना गया है। उधर *प्राचीनाभिमता योगत्रयी ज्ञान–कर्म्म–क्रमावलीम्बनुगता* भले ही हो, परन्तु है यह शास्त्रसिद्धा। वेदशास्त्र के कर्म्मप्रधान ब्राह्मणभाग के आधार पर वेदोक्त कर्म्म कर्म्मयोग प्रतिष्ठित है। आरण्यक भाग के आधार पर कर्म्म भक्तियोग प्रतिष्ठित है। एवं उपनिषद्भाग के आधार पर ज्ञानयोग प्रतिष्ठित है। और तीनों योग क्रमशः शास्त्रसिद्ध गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यस्त, तीनों आश्रमों से अनुगत हैं। अकर्म्म तो उसे कहना चाहिए, जिसका कोई फल न हो। विकर्म्म तो उसे माना जाना चाहिए, जिसमें शास्त्रविधि की उपेक्षा हो। अज्ञान तो उसे कहना चाहिए, जहाँ बुद्धि कुण्ठित होजाती हो, विज्ञान तो उसे मानना चाहिए, जिसमें शास्त्रज्ञान की उपेक्षा हो। देखते हैं—वेदोक्त कर्म्म—भक्ति—ज्ञान तीनों ही योग शास्त्रसिद्ध ज्ञान—कर्म्मात्मक बने हुए हैं। फिर योगत्रयी के सम्बन्ध में अज्ञान—अकर्म्मादि को किस आधार पर मूलप्रतिष्ठा मान लिया गया ?, यह एक समस्या उपस्थित होजाती है जिसके निराकरण के लिए उक्त द्वन्द्व-त्रयी के त्रिपुट्भाव का स्पष्टीकरण आवश्यक बन रहा है।

२२—आत्मानुगता ज्ञानकर्म्मत्रयी के सहजसिद्ध त्रिपुट्भाव—

मनस्तत्त्व ज्ञानमय है प्राणतत्त्व क्रियामय है वाक्तत्त्व अर्थमय है। मनोमय ज्ञान 'ज्ञान' है, प्राणमयी क्रिया 'कर्म्म' है एवं वाङ्मय भूत 'अर्थ' है। दार्शनिकपक्ष में 'ज्ञान—कर्म्मा—र्था' पर ही सब कुछ विभान्त

है। तृतीय विशुद्धभाव के कारण ज्ञानानुगत–मनःप्राणवाङ्मय हुए कर्मात्मा के पृथक् पृथक् तीन विवर्त हैं। यद्यपि तीनों विवर्तों का पूर्व लेखों में अनेकधा विश्लेषण किया जा चुका है, तथापि यहाँ भी प्रकरणत्रयी के समन्वय के लिए उनका दिग्दर्शन आवश्यक बन जाता है। पहिले क्रमप्राप्त निष्कम्प (मनःप्राणवाङ्मय) मन का ही विश्लेषण कीजिए। मनोमय मन आनन्द है इसी के आधार पर 'अपने मनमें ही मगन, मन के मन में ही तुष्ट' इत्यादि किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। मनोमय प्राण 'विज्ञान' है इसी के आधार पर–'मनोयोगपूर्वक–विचारबुद्धिपूर्वक काम करता है' यह किंवदन्ती प्रचलित है। मनोमयी वाक् 'मन' है एवं इसी के आधार पर–'उनका काम ज्ञानपूर्वक हुआ है अतएव उनका शिल्पकर्म (वाङ्मय कर्म) उनके ज्ञान की प्रतिकृति है' यह किंवदन्ती प्रचलित है। इसप्रकार एक ही अव्ययमय विशुद्धभाव से आनन्द–विज्ञान–मनोभावों में परिणित हो रहा है यही पहिला मनस्तत्त्व है, यही अमृतात्मा किंवा ज्ञानात्मा है यही अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मज्योति है। प्राणमय मन 'मन' है, प्राणमय प्राण 'प्राण' है प्राणमयी वाक् 'वाक्' है। इसप्रकार एक ही अव्ययप्राण विशुद्धभाव से मनःप्राण–वाग्भावों में परिणत हो रहा है यही दूसरा प्राणतत्त्व है यही ब्रह्मात्मा किंवा कर्मात्मा है यही आत्मज्योति तथा विश्वज्योति का परस्पर सम्बन्ध है। वाङ्मय मन 'वाक्' है वाङ्मय प्राण 'आपः' है, वाङ्मयी वाक् 'अग्नि' है। इसप्रकार एक ही अव्ययवाक् विशुद्धभाव से वाक्–आप–अग्नि–भावों में परिणत हो रही है। यही तीसरा वाक्तत्त्व है यही शुक्रात्मा किंवा अर्थात्मा है, यही बहिर्ज्योतिर्लक्षण विश्वज्योति है। इसप्रकार 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' के अनुसार क्रमशः मन–प्राण–वाङ्मय वही अव्ययात्मा विशुद्धभाव से अमृतात्मलक्षण ज्ञानात्मा ब्रह्मात्मलक्षण कर्मात्मा शुक्रात्मलक्षण अर्थात्मा इन तीन विवर्त–भावों में परिणित होरहा है। आनन्दविज्ञानमनोमय मनोविवर्त अव्ययानुगत बनता हुआ अव्ययात्मा है मनःप्राणवाङ्मय प्राणविवर्त अक्षरानुगत बनता हुआ अक्षरात्मा है एवं वाक्–आप–अग्निमय वाग्विवर्त क्षरानुगत बनता हुआ क्षरात्मा है। यही अव्ययात्मा मनस्त्वेन विश्वाधार बनता हुआ अव्ययात्मा है यही ब्रह्मात्मा प्राणत्वेन विश्वकर्त्ता बनता हुआ अक्षरात्मा है एवं यही अव्ययात्मा वाक्त्वेन विश्व बनता हुआ क्षरात्मा है। वाङ्मय शुक्रात्मा विश्व है प्राणमय ब्रह्मात्मा विश्वकर्त्ता है, एवं मनोमय अमृतात्मा विश्वाधार है। ये तीनों विवर्त अक्षरोपलक्षित एक के तीन विवर्त हैं, यही चौथा सर्वाधार है जिसे पूर्व में हमनें सर्वात्मा कहा है एवं जिसे सर्वात्मक वैराग्यबुद्धियोग की आधारभूमि बतलाया गया है। ज्ञान कर्म–विज्ञान–विकर्म अज्ञान–अकर्म उक्त तीनों रूपों की मूलप्रतिष्ठा व्यवस्थात्मक तीनों विवर्त ही बनते हैं। ज्ञानकर्म सत्त्वनियत है विज्ञानविकर्म रजोनियत है अज्ञान–अकर्म तमोनियत है। मनःप्राण वाग्भाव के विशुद्धभाव की भाँति यह गुणत्रयी भी विशुद्धभाव में ही परिणत रहती है। सत्त्वगुणात्मक सत्त्व मनोमय आनन्द से सत्त्वगुणात्मक रज मनोमय विज्ञान से सत्त्वगुणानुगत तम मनोमयी वाक् से अनुगृहीत है, यही पहिला मनस्तत्त्व है। रजोगुणात्मक सत्त्व प्राणमय मन से रजोगुणात्मक रज प्राणमय प्राण से रजोगुणात्मक तम प्राणमयी वाक् से अनुगृहीत है। तमोगुणात्मक सत्त्व वाङ्मयी वाक् से तमोगुणात्मक रज वाङ्मय आपः से तमोगुणात्मक तम वाङ्मय अग्नि से अनुगृहीत है।

२३–अमृत ब्रह्म शुक्र–समष्टिरूप चतुष्पाद् अव्ययब्रह्म का मात्रा, और अमात्रा–भाव—

तमोगुणमयी शुक्रात्मा की प्रतिष्ठा है रजोगुणमयी ब्रह्मात्मा की प्रतिष्ठा है एवं सत्त्वगुणमयी अमृतात्मा की प्रतिष्ठा है। सत्त्वगुणानुगत अमृतात्मा ज्ञानकर्मात्मा है रजोगुणानुगत ब्रह्मात्मा विज्ञानविकर्मात्मा है, एवं

तमोगुणानुगत शुक्रात्मा अशनायात्मकर्मात्मा है । त्रिगुणात्मक इन तीनों आत्मविवर्तों में सत्त्वगुणानुगत अमृतात्म-विवर्त गुणत्रय की प्रतिच्छाया से युक्त रहता हुआ भी अपने सत्त्वानुगत-अव्ययानुगत-विशुद्धसत्त्वानुगत-स्वरूप से गुणातीत माना गया है । विशुद्ध सत्त्वात्मक समष्टिलक्षण सर्वाव्यय, और सत्त्वानुगत अमृताव्यय, दोनों अभिन्न हैं । अतएव सर्वाव्ययवत् इस असर्वाव्ययलक्षण–सत्त्वात्मक अमृतात्मविवर्त को भी गुणातीत ही माना जायगा । गुणत्रयी का वास्तविक विकास होता है दूसरे महानात्मविवर्त में । तीसरा शुक्रात्मविवर्त गुणत्रयी का आत्यन्तिक विकसितरूप है अतएव शुक्रात्मक विवर्त से अनुगत गुणभाव गुण न कहला कर 'आवरण' नाम से व्यवहृत हुआ है । शुक्रात्मानुगता गुणत्रयी 'आवरण' है, महानात्मानुगता गुणत्रयी 'गुण' है, अमृतात्मानुगत गुणभाव 'कला' है, एवं सर्वाव्ययानुगत निर्गुणात्मक गुणभाव (विशुद्धसत्त्वभाव) 'माया' है । मायानुगत सर्वाव्यय, कलानुगत अमृतात्मा गुणानुगत महानात्मा एवं आवरणानुगत शुक्रात्मा, यही चतुष्पाद्ब्रह्म है जिसके तीन पाद मायात्मक (व्यक्तपात्मक) हैं, चौथा पाद अमायिक है । इसी आधार पर–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' अनुगम प्रतिष्ठित हुआ है । इन आत्मविवर्तों को लक्ष्य बनाते हुए ही हमें ज्ञान–कर्म द्वन्द्वों का समन्वय करना है । अतः समन्वय से पहिले परिलेखद्वारा उक्त विवर्त चतुष्टयी को लक्ष्य बना लेना चाहिए ।

(१)–१–आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मय–सर्वाव्ययः—'माया'——शुक्र–निर्गुणात्मा (विश्वातीतः)

२–आनन्दविज्ञानमनोमय———असर्वाव्ययः–'कला'——शुक्र–विशुद्धसत्त्वात्मा (विश्वाधारः)

३–मनःप्राणवाङ्मय————असर्वाव्ययः–'गुण'——शुक्र–गुणात्मा (विश्वकर्त्ता)

४–वागापोऽग्निमयः————असर्वाव्ययः आवरण–शुक्र–आवरणात्मा (विश्वम्)



(२)–१–निर्गुणात्मा —अव्ययात्मा—तदेव———सर्वज्योतिः ⎫
२–सत्त्वात्मा———अमृतात्मा–अमृतम् } अन्तर्ज्योतिः ⎭ –आत्मज्योतिः
३–गुणात्मा———महानात्मा–तदेव ब्रह्म ⎫
४–आवरणात्मा—शुक्रात्मा–तदेव शुक्रम् ⎭ बहिर्ज्योतिः] –विश्वज्योतिः

–प्रजापतिः (आत्मन्वी)



(३)-१-शान्तात्मा—अव्ययः—परात्परः पुरुषः—अमात्रिकः—अव्ययस्फोटः
२-अमृतात्मा—अव्ययात्मा——अकारात्मकः—वर्णस्फोटः
३-महात्मा—अक्षरात्मा——उकारात्मकः—स्वरः
४-शुक्रात्मा—क्षरात्मा——मकारात्मकः—वर्णमात्रा
—ब्रह्मोपनिषत् 'ओम्' इति

(४)-

१
१-मनोमयं मनः —आनन्दः (ज्ञानम्) ज्ञानात्मकं ज्ञानम्
२-मनोमयः प्राणः —विज्ञानम् (क्रिया) —ज्ञानाश्रिता क्रिया
३-मनोमयी वाक् —मनः (अर्थः) —ज्ञानात्मकोऽर्थः
—आनन्दविज्ञानमनोमयं 'मनः'—ज्ञानम्
—'मनस्तत्त्वम्'—

२
१-प्राणमयं मनः —मनः (ज्ञानम्) —क्रियात्मकं ज्ञानम्
२-प्राणमयः प्राणः —प्राणः (क्रिया) —क्रियाश्रिता क्रिया
३-प्राणमयी वाक् —वाक् (अर्थः) —क्रियात्मकोऽर्थः
—मनःप्राणवाङ्मयः 'प्राणः'—क्रिया
—'प्राणतत्त्वम्'—

३
१-वाङ्मयं मनः —वाक् (ज्ञानम्) —अर्थात्मकं ज्ञानम्
२-वाङ्मयः प्राणः—आपः (क्रिया) —अर्थाश्रिता क्रिया
३-वाङ्मयी वाक् —अग्निः (अर्थः) —अर्थात्मकोऽर्थः
—वागापोऽग्निमयी 'वाक्'—अर्थः
—'वाक्तत्त्वम्'—

(५)-१-मनस्तत्त्वम् —ज्ञानात्मा —'अमृतम्'—ज्ञानकर्मात्मा
२-प्राणतत्त्वम् —कर्मात्मा —'ब्रह्म' —विज्ञानविकर्मात्मा
३-वाक्तत्त्वम् —अर्थात्मा —'शुक्रम्' —अज्ञानाकर्मात्मा

(६)—प्रकारान्तरेण—

१—आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घन—सर्वाव्ययः—परात्परः (माया) —सर्वाधारो निराधारः

२—आनन्दविज्ञानमयोऽव्ययः ————पुरुषः (कला) —विश्वाधारो निर्गुणः

३—मनोमयोऽव्ययः ——————प्रकृतिः (गुणाः) —विश्वकर्त्ता सगुणः

४—प्राणवाङ्मयोऽव्ययः ——————विकृतिः (आवरणम्) —विश्वप्रभवः साकारः



(७)—गुणानुगतविवर्त्तभावाः—

(सर्वसंग्रहः)—

१—आनन्दविज्ञानघन—मनोमय—प्राणगर्भिता—वाक्—सत्यात्मा—सर्वाव्ययः]—सर्वात्मा (१)—सर्वतन्त्रम्

आनन्दमयं मनः (मनः) —सत्त्वानुगतं सत्त्वम् (सत्त्वम्) —पराव्ययः
२—विज्ञानमयं मनः (प्राणः) —सत्त्वानुगतं रजः (सत्त्वम्) —परावराव्ययः —अव्ययात्मा (२)—सत्त्वतन्त्रम्
मनोमयं मनः (वाक्) —सत्त्वानुगतं तमः (सत्त्वम्) —अवराव्ययः

मनोमयः प्राणः (मनः)—रजोऽनुगतं सत्त्वम् (रजः)—शान्तात्मा
३ प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—रजोऽनुगतं रजः (रजः)—महानात्मा —अक्षरात्मा (३) रजस्तन्त्रम्
वाङ्मयः प्राणः (वाक्)—रजोऽनुगतं तमः (रजः)—विज्ञानात्मा

वाङ्मयी वाक् (मनः)—तमोऽनुगतं सत्त्वम् (तमः)—विज्ञानात्मा
४ आपोमयी वाक् (प्राणः)—तमोऽनुगतं रजः (तमः)—प्रज्ञानात्मा —क्षरात्मा (४) तमस्तन्त्रम्
अग्निमयी वाक् (वाक्)—तमोऽनुगतं तमः (तमः)—शरीरात्मा



१—सर्वज्ञत्वलक्षणः——सर्वात्मयः——संन्यासबुद्धियोगस्य–आधारभूमिः
२—सत्त्वज्ञानानुगतः——परात्मय——ज्ञानबुद्धियोगस्याधारभूमिः
३—सत्त्वज्ञानानुगतः——परापरात्मयः——ऐश्वर्यबुद्धियोगस्याधारभूमिः
४—सत्त्वज्ञानानुगतः——अपरात्मयः——धर्मबुद्धियोगस्याधारभूमिः

—गीताभिमता–योगचतुष्टयी (निर्गुणा–योगचतुष्टयी)

१—रजस्त्वानुगतः——शान्तात्मा——कर्मसंन्यासपूर्वकज्ञानयोगस्याधारभूमिः
२—रजस्त्वानुगतः——महानात्मा——ज्ञानकर्मसमुच्चययोगस्याधारभूमिः
३—रजस्त्वानुगतः——विज्ञानात्मा——ज्ञानकर्मयोगस्याधारभूमिः

—प्राचीनाभिमता योगत्रयी (सगुणा–योगत्रयी)

१—तमस्त्वानुगतः——विज्ञानात्मा——सात्त्विकज्ञानस्याधारभूमिः
२—तमस्त्वानुगतः——प्रज्ञानात्मा——लौकिकैश्वर्यस्याधारभूमिः
३—तमस्त्वानुगतः——शरीरात्मा——लौकिककर्मस्याधारभूमिः

—लोकाभिमता योगत्रयी (अपरा–योगत्रयी)

२४–गुणानुगता ज्ञानकर्मत्रयी के त्रिरूप (६)—

ज्ञान विज्ञान अज्ञान, तीनों शब्द उक्त त्रिगुणभाव के आधार पर तीन तीन अर्थों से समन्वित रहते हैं। पहिले ज्ञानार्थत्रयी का ही समन्वय कीजिए। ज्ञान के अर्थ होते हैं–तत्त्वज्ञान, शास्त्रज्ञान, व्यवहारज्ञान। आत्मज्ञान तत्त्वज्ञान है, आत्मतत्त्वबोधक शब्दज्ञान शास्त्रज्ञान है, लोकव्यवहारोपयोगी लौकिक ज्ञान व्यवहार-ज्ञान है। यही स्थिति विज्ञानात्मक ज्ञान की है। 'वि' उपसर्ग के विशेष, विविध, विरुद्ध, तीन अर्थ हुए हैं। फलतः विशेषज्ञान भी विज्ञान है, विविधज्ञान भी विज्ञान है, विरुद्धज्ञान भी विज्ञान है। विशेषज्ञानात्मक विज्ञान तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। विविधज्ञानात्मक विज्ञान शास्त्रज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। एवं विरुद्धज्ञानात्मक विज्ञान व्यवहारज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। यही स्थिति अज्ञानात्मक ज्ञान की समझिए। 'अज्ञान' शब्द सम्बन्धी 'नञ्' अभावार्थक नहीं है, अपितु यहाँ का 'नञ्' परोक्ष, अनुमान, अल्प, अर्थों का ही समर्थक बना हुआ है। परोक्षज्ञान भी अज्ञान है, अनुमानात्मक ज्ञान भी अज्ञान है, अल्पज्ञान भी अज्ञान है। परोक्षज्ञानात्मक अज्ञान तत्त्वज्ञान से, अनुमानात्मक (तार्किक) अज्ञान शास्त्रज्ञान से, एवं अल्पज्ञानात्मक अज्ञान व्यवहारज्ञान से समनुगत है। यही ज्ञान–विज्ञान–अज्ञान शब्दों के त्रिगुणभाव का संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

इसीप्रकार कर्म्म–विकर्म्म–अकर्म्म तीनों शब्द भी त्रिवृद्भाव के आधार पर तीन तीन अर्थों में विभक्त हो रहे हैं। तात्त्विक कर्म्म शास्त्रीय कर्म्म, व्यावहारिक कर्म्म तीनों 'कर्म्म' कर्म्म शब्द से संग्रहीत हैं। आत्मज्ञानात्मक तत्त्व ज्ञान से सहजकर्म्म (यथार्थकर्म्म) लक्षण आत्मनिष्पन्दन तात्त्विक कर्म्म अनुगृहीत हैं। आत्मज्ञानोपयिक शब्दज्ञानात्मक शास्त्रज्ञान से शास्त्रीय कर्म्म अनुगृहीत हैं। एवं लोकव्यवहारलक्षण व्यवहारज्ञान से व्यावहारिक कर्म्म अनुगृहीत हैं। यही पहिली कर्म्मत्रयी है। विशेषकर्म्म, विविधकर्म्म, विरुद्ध–कर्म्म, तीनों 'विकर्म्म' शब्द से संग्रहीत हैं। विशेष कर्म्म विशेष ज्ञानाधार पर, विविध कर्म्म विविध ज्ञानाधार पर, एवं विरुद्ध कर्म्म विरुद्ध ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित हैं। यही दूसरी विकर्म्मत्रयी है। अशेष कर्म्म, ममात्मक सांस्कारिक अनुभवलक्षण कर्म्म अल्पकर्म्मात्मक (निरर्थककर्म्मात्मक) कर्म्म, तीनों अकर्म्म अकर्म्म शब्द से संग्रहीत हैं। यही तीसरी अकर्म्मत्रयी है जिसे अशेष कर्म्मात्मक अकर्म्म तत्त्वज्ञान से अनुभवकर्म्मात्मक अकर्म्म शास्त्रज्ञान से तथा अल्पकर्म्मात्मक अकर्म्म व्यवहारज्ञान से अनुगृहीत माना गया है।।

निष्कर्ष. त्रिवृद्भाव से ज्ञानत्रयी, कर्म्मत्रयी, दोनों के ९–९ विवर्त हो जाते हैं। पूर्वप्रदर्शित गुणागुणत्व ९ विवर्त्तभावों के साथ क्रमशः इन ९ ज्ञानकर्म्मद्वन्द्वों का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध लक्षण ज्ञान से ही उस विप्रतिपत्ति का भलीभांति निराकरण होजाता है, जिसका पूर्व में उल्लेख हुआ है। इदम्व्यवहार लोकव्यवहार है लोकव्यवहार लौकिक ज्ञान–कर्म्ममूलक है। एवं लौकिक ज्ञानत्रयी, कर्म्मत्रयी का अर्थ होता है व्यवहारज्ञान, विरुद्धज्ञान अल्पार्थकज्ञान एवं व्यवहारकर्म्म, विरुद्धकर्म्म निरर्थक–कर्म्म। उधर प्राचीनाभिमत योगत्रयी की ज्ञान–कर्म्मत्रयी के ज्ञान–विज्ञान–अज्ञान, तथा कर्म्म–विकर्म्म–अकर्म्म, शब्दों का दूसरा अर्थ है। एवमेव गीताभिमत संयोजित योगत्रयी की ज्ञान–कर्म्मत्रयी का दूसरा ही अर्थ है। अर्थभेद से तीनों योगत्रयों के लिए प्रयुक्त तीनों ज्ञानकर्म्मद्वन्द्व अपनी त्रिवृद्भावानुगत विभिन्न अर्थमर्यादा से सर्वथा निर्विरोध समन्वित हो रहे हैं, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है

१–तत्त्वज्ञानम्——(१)–तात्त्विककर्म्म
२–शास्त्रज्ञानम्——(२)–शास्त्रीयकर्म्म
३–व्यवहारज्ञानम्—(३)–व्यावहारिककर्म्म
—ज्ञानत्रयी–कर्म्मत्रयी

१–विशेषज्ञानम्—(४)–विशेषकर्म्म
२–विविधज्ञानम्—(५)–विविधकर्म्म
३–विरुद्धज्ञानम्—(६)–विरुद्धकर्म्म
—विज्ञानत्रयी–विकर्म्मत्रयी

१–अशेषज्ञानम्—(७)–अशेषकर्म्म
२–अनुभवज्ञानम्—(८)–अनुभवकर्म्म
३–अस्मज्ञानम्—(९)–अस्मकर्म्म
—अज्ञानत्रयी–कर्म्मत्रयी

[illegible]

१–तत्त्वज्ञानम्——ज्ञानम्
२–सात्त्विककर्म्म——कर्म्म
—ज्ञानकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगतः–परात्मभावः)—ज्ञानबुद्धियोगाधारः

१–विशेषज्ञानम्——विज्ञानम्
२–विशेषकर्म्म——विकर्म्म
—विज्ञानविकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगतः–परावरात्मभावः)—
ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः

१–अशेषज्ञानम्——अज्ञानम्
२–अशेषकर्म्म——अकर्म्म
—अज्ञानाकर्म्मात्मा (सत्त्वानुगतः–अवरात्मभावः)—
धर्म्मबुद्धियोगाधारः

[illegible]

१–राजसज्ञानम्——ज्ञानम्
२–राजसिककर्म्म——कर्म्म
—ज्ञानकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–शान्तात्मा)—ज्ञानयोगाधारः

१–विविधज्ञानम्——विज्ञानम्
२–विविधकर्म्म——विकर्म्म
—विज्ञानविकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–महानात्मा)
—भक्तियोगाधारः

१–अनुभवज्ञानम्——अज्ञानम्
२–अनुभवकर्म्म——अकर्म्म
—अज्ञानाकर्म्मात्मा (रजोऽनुगतः–विज्ञानात्मा)
—कर्म्मयोगाधारः

- १–व्यवहारज्ञानम्——ज्ञानम्
- २–व्यावहारिककर्म्म——कर्म्म

—ज्ञानकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः— विज्ञानात्मा)—ज्ञानयोगाधारः

- १–विरुद्धज्ञानम्—विज्ञानम्
- २–विरुद्धकर्म्म—विकर्म्म

—विज्ञानविकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः–प्रज्ञानात्मा)—सेवायोगाधारः

- १–असत्यज्ञानम्—अज्ञानम्
- २–असत्यकर्म्म—अकर्म्म

—अज्ञानकर्म्मात्मा (तमोऽनुगतः —शरीरात्मा)—कर्म्माधारः

सर्वसंग्रह —

१

- ०–सर्वात्मम — { क्रियात्मा (ज्ञानात्मा) / कर्म्मात्मा (कर्म्मात्मा) } ज्ञानकर्म्मात्मैव—वैराग्यबुद्धियोगाधारः(१)
- १–परात्मम — { तत्त्वज्ञानम् (ज्ञानात्मा) / सात्त्विककर्म्म (ज्ञानात्मा) } ज्ञानकर्म्मात्मा——ज्ञानबुद्धियोगाधारः (२)
- २–परावरात्मम: { विशेषज्ञानम्(विज्ञानात्मा) / विशेषकर्म्म (विकर्म्मात्मा) } विज्ञानविकर्म्मात्मा-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगाधारः (३)
- ३–अवरात्मम: { परोक्षज्ञानम्(अज्ञानात्मा) / परोक्षकर्म्म (अकर्म्मात्मा) } अज्ञानाकर्म्मात्मा–धर्म्मबुद्धियोगाधारः (४)

२

- १–शान्तात्मा { शास्त्रज्ञानम् (ज्ञानात्मा) / शास्त्रीयकर्म्म (कर्म्मात्मा) } ज्ञानकर्म्मात्मा——ज्ञानयोगाधारः (१)
- २–महानात्मा { विविधज्ञानम्(विज्ञानात्मा) / विविधकर्म्म (विकर्म्मात्मा) } विज्ञानविकर्म्मात्मा-कर्म्मभक्तियोगाधारः (२)
- ३–विज्ञानात्मा { अनुभवज्ञानम् (अज्ञानात्मा) / अनुभवकर्म्म (अकर्म्मात्मा) } अज्ञानाकर्म्मात्मा-कर्म्मकर्म्मयोगाधारः (३)

से ही उत्पन्न होता है। अपने विचारों के अनुरूप कामना के प्रतिबन्ध से सफल न होने पर ही संघर्ष का जन्म होता है। शरीर शिरोऽग्नि का संघर्ष ही शारीराग्नि के शिव-शान्त-सौम्य भाव को भुला कर उसे रुद्र अशान्त आग्नेय भाव में परिणत कर देता है। कामप्रत्याघातजनित इस संघर्ष से उत्पन्न प्रबुद्ध शारीराग्नितप ही क्रोध है, अतएव क्रोध को 'क्रोधाग्नि' नाम से व्यवहृत किया गया है। कामप्रत्याघातजनित संघर्ष से उत्पन्न क्रोध ही अशान्तिमूलक क्षोभ है। इस क्रोधात्मक क्षोभ से-'हम अमुक सम्पत्ति की कामना करते हैं' इस मानस-काममय संस्कार का अभिभव होजाता है। हमें यह मान होने लग जाता है कि अमुक व्यक्ति के काम ने ही हमारी इच्छा का अपरोध किया है। इस संस्काराघात से हमारा मन आकुल हो पड़ता है, मन ही मन हम झुँझला पड़ते हैं। इस झुँझलाहट का, मानस क्षोभ का प्रभाव पड़ता है उस बुद्धि पर, जो प्रतिबिम्बरूप से 'मन' पर प्रतिष्ठित रहती है। फलस्वरूप इस कामप्रत्याघातजनित मानस क्षोभ से तत्-प्रतिक्रिया बुद्धि भी क्षुब्ध पड़ती है। बुद्धि का क्षोभ बुद्धि के स्वाभाविक उस विकास का अपहरण कर लेता है जो विकास स्थितप्रज्ञता लक्षण व्यवसाय कहलाता है। 'तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि' से इसी अपहरण का स्पष्टीकरण हुआ है। शान्त समुद्र में एक नौका चली चली जारही है। नौका में यात्री बैठा है। वायु का झोंका आता है, समुद्र में ज्वार आजाता है पानी, नाव, यात्री, सब कुछ अस्थिर हो पड़ते हैं। कामसमष्टि कामसमुद्र है*, इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानमन, शरीर, प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञानबुद्धि नौका है भोक्ता जीवात्मा यात्री है। काम का प्रतिबन्ध वायु है। इसके प्रत्याघात से पहिले समुद्र (जल) स्थानीया कामना क्षुब्ध होती है, कामक्षोभ से मन क्षुब्ध होता है, मानस क्षोभ से बुद्धि क्षुब्ध होजाती है, बुद्धिक्षोभ से यात्री जीवात्मा की स्वाभाविक शान्ति उत्क्रान्त हो जाती है। क्षोभ के चरम सीमा पर पहुँचते ही जैसे नौकास्थ यात्री हक्का बक्का बना रह जाता है किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है, एवमेव क्षोभात्मक क्रोध के चरमसीमा पर पहुँचते ही बुद्धि का स्वाभाविक 'इदमित्थमेव कर्त्तव्यम्' लक्षण निश्चयात्मक व्यवसायधर्म्म कुण्ठित हो जाता है, कुछ सुझाई नहीं देता या यदा परिमूर्छित होजाती है। यह क्रोधावस्था की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ कुण्ठित भाव ही विज्ञानभाषा में 'मोह' किंवा 'संमोह' कहलाया है। तात्पर्य्य यही निकला कि ज्ञान-कर्म्म द्वन्द्वों के पारस्परिक संघर्ष से उपमर्दित, कामप्रत्याघातजनित क्षोभ की चरमसीमा से उत्पन्न जो एक जड़ात्मक संस्कारविशेष है वही 'मोह' कहलाया है, जो दार्शनिकसम्प्रदाय में 'मुग्धावस्था' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

२७—सङ्ग—काम—क्रोध—संमोह—स्मृतिविभ्रम—बुद्धिनाश की मोहमूला परम्पराएँ—

'मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः, परिशेषात्' (शा. सू. ३।२।१०) के अनुसार मुग्धावस्था में जाग्रत, सुषुप्ति, दोनों सम्पत्तियों का उपभोग होता है। आधा जगना आधा सोना। इसी का नाम मुग्धावस्था है। जाग्रत दशा में चक्षु-मुख-हस्त-पादादि की जो चेष्टाएँ रहतीं हैं वे भी यहाँ विद्यमान हैं। साथ ही सुषुप्त्यवस्था में जो विवेकादि धर्म्म अस्त हो जाते हैं वे भी यहाँ उपलब्ध हैं। आँख खुली है, देख रहे हैं, यही

*"कामं समुद्रमाविवेशाह। समुद्र इव हि कामः।
नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति। न समुद्रस्य"।
—तै॰ ब्रा॰ २।२।५।६।

जाग्रत–धर्म्म है । परन्तु सामने से कौन निकल गया इसका बोध नहीं यही सुप्त–धर्म्म है । बोलते हैं सुनते हैं चलते हैं, परन्तु कुछ का कुछ बोल पड़ते हैं कुछ का कुछ सुन पाते हैं कहीं के कहीं पैर पड़ने लगते हैं । इसप्रकार वस्तुतः मुग्धावस्था में जाग्रत–सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं के धर्म्म समाविष्ट रहते हैं । आध्यात्मिकी ज्ञान–कर्म्म चेष्टाओं को अव्यवस्थित दशा में परिणत कर देने वाला मोहजनित जड़धर्म्म ही मोह है यही चित्त (मनोयुक्तबुद्धि, किंवा बुद्धियुक्त मन) का वैचित्र्य है वैचित्र्य ही मोह है । जिस प्रकार मेघावरण से रहता हुआ भी प्रभाप्रतिबिम्ब अवरुद्ध हो जाता है एवमेव मोहावरण से रहता हुआ भी स्मृतिलक्षण ज्ञानज्योतिर्बिम्ब अवरुद्ध हो जाता है । फलस्वरूप मोहाग्रह से वैद–स्मृति का अवरोध हो जाता है और यों मोह स्मृतिभ्रंश का जनक बन जाता है । स्मृतिभ्रंश कर्म्मनिर्णयात्मिका बुद्धि के शास्त्रार्थविवेक का उच्छेदक बनता हुआ बुद्धिस्वरूप का ही उच्छेदक बन जाता है । विवेकाभाव ही बुद्धिनाश है । विवेकाभाव में कर्म्मविवेक जाता रहता है और यों काम–क्रोध–मोह–स्मृतिभ्रंश–बुद्धिनाश–परम्परा से जीवात्मा किसी दिन सर्वात्मना विमूढ़ बनता हुआ नष्ट हो जाता है, जिस विनाश के इस पारम्परिक इतिहास का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है–

> ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ॥
> सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥१॥
> क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ॥
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥२॥
>
> —गीता २।६२,६३,।

२८–कलिला बुद्धि का स्वरूपसमन्वय, एवं मोहपाशनिरसनोपायप्रदर्शन—

जिसप्रकार शैवालों से स्वच्छ भी जल की स्वच्छता मलिनता के रूप में परिणत हो जाती है एवमेव इस मोहावरण से स्वच्छ भी आत्मज्योति की स्वच्छता मलिनता के रूप में परिणत हो जाती है । मोहानुगत यह मलिनता ही निगमभाषा में 'कलिल' कहलाई है । कलिल शब्द के 'कल–इल' ये दो विभाग हैं । कल शब्द विभाग–लक्षण का सूचक है ('कल संख्याने) इसीसे 'कला' शब्द निष्पन्न हुआ है । एवमेव 'कलिल–इल' से कलिलशब्द सम्पन्न हुआ है । प्रज्ञान मन ही कामना के द्वारा सर्वप्रथम मोह का संग्राहक बनता हुआ संमोहरूप में परिणत होता है । स्वयं अनेकरूप से प्रज्ञानमन कलानुगत (विभिन्नसंस्कारयुक्त) विभिन्न विषयों का अनुगामी बनता हुआ नानाभावात्मक कलाभाव में आसक्त रहता है । मोहसंस्कार स्वयं नानात्व से कलात्मक है । इनके समावेश से प्रज्ञानमन का नामरूपात्मक इतरेतर कलाभाव में परिणत होता हुआ कलिलवत् 'कलिल' बन जाता है । पृथिवी, सूर्य्य चन्द्रमा ग्रह, नक्षत्रादि कलाभावों के सम्बन्ध से ही विश्व 'कलिल' कहलाया है जैसाकि–'अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये, सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये' (श्वे० उप० ५।१४,४।१४) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है । बुद्धि अपने स्वरूप से व्यवसायात्मिका बनती हुई एकत्वयुक्त है । अतएव कलाभाव से असंपृक्त है । 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !' के अनुसार व्यवसायबुद्धि एकाकिनी रहती हुई कलाभावों से अभिभूत है । कलिल मन (विषयसंस्कारस्य कलाभावात्मक–मोहयुक्त मन) से युक्त बुद्धि मनोगत कलाभाव से युक्त होकर अव्यवसायरूप में परिणित होती हुई 'कलिला'

बन जाती है, जैसाकि–'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। 'यह करूँ कि यह, यहाँ रहूँ कि वहाँ'–इसप्रकार की नानासंकल्पानुगता–अनिश्चयात्मिका विचारधारा ही कलिला-बुद्धि का आधार बनती है। इसी के अनुग्रह से श्रुत एवं श्रोतव्य से अन्तर्जगत् के क्षण क्षण में उद्वेग-अशान्तिमय-दुःख परम्पराओं का स्रोत प्रवाहित रहता है।

किसी ने निन्दा कर दी, व्याकुल हो गए। किसी ने सम्पत्ति का अपहरण कर लिया, खिन्न होगए। अमुक ने हमारे साथ यह किया था, अमुक यह कर बैठेगा, अमुकने अमुक समय ऐसा कह दिया था, अमुक के ऐसा करने की सम्भावना है, इन सांसारिक श्रुत-श्रोतव्य-प्रवादों से सचमुच अन्तर्जगत् क्षुब्ध बना रहता है। ऐसा क्यों होता है, जबकि, आत्मा असङ्ग है ?। भगवान् कहते हैं–यह मोहकलिला बुद्धि का ही अनुग्रह है। जबतक बुद्धि कलिला रहेगी, तब तक निश्चयेन श्रुत-श्रोतव्य वेदना के कम्पन बने रहेंगे। मोहकलिल हट दो, आत्मज्योति का उदय होजायगा, और उस ज्ञानभूमिका में पहुँचने के अनन्तर तुम्हारे लिए कोई कुछ ही कहता सुनता रहे, निन्दा, अथवा स्तुति करता रहे, न निन्दाश्रवण से दुःख होगा, न स्तुतिश्रवण से हर्ष होगा। श्रोतव्य-एवं श्रुत-जनित वेदना से बचने का एकमात्र द्वार है–बुद्धि को मोहकलिलात्मक मनः-धारा से उन्मुक्त करना—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
—गीता० २।५२

२६–नञर्थ का समन्वय—

* रजोगुण एवं तमोगुण के समन्वय से उत्पन्न अतएव सत्त्वगुण के विरोधी इस मोहकलिल को मन से कैसे हटाया जाय ?, गीताभिमत ज्ञानबुद्धियोग इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी अज्ञान ही मोह है, यही स्वतामती के साथ कलिलभाव का जनक बनता है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य चारों के प्रतिद्वन्द्वी अधर्म्म–अज्ञान–अवैराग्य–अनैश्वर्य्य, इन चारों के 'नञ्' का अर्थ क्या है ?, यह भी मार्मिक समस्या है, जिसका निराकरण कर लेना प्रासङ्गिक होगा। 'नञ्' का अर्थ अभाव भी होता है, 'नञ्' का अर्थ 'अन्य' भी होता है। धर्म्माभाव, ज्ञानाभाव, वैराग्याभाव, ऐश्वर्य्याभाव, क्या अधर्म्म-अज्ञानादि से यह अभावात्मक नञर्थ अभिप्रेत है ?। नहीं, इसलिए कि अभाव किसी कर्म्मफलरूप का जनक नहीं बना करता। 'नास्ति' ही अभाव है, न होना ही अभाव है। धर्म्माभाव ही यदि 'अधर्म्म' होता, तो इसे कभी भवबन्धन का कारण न माना जाता। अधर्म्म एक वस्तुतत्त्व माना गया है, इसके अशुभ

---

* नालं परं कर्म्मनिबन्धकृन्तनं मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्त्तनात्।
न यत् पुनः कर्म्मसु सज्जते मनो रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा॥
—श्रीमद्भागवत ६।२।४६।

संस्कारों की उत्पत्ति मानी गई है जो प्रमाण से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यही स्थिति 'अज्ञान' की है। भगवान् ने अज्ञान से ज्ञान को आवृत मानते हुए यह स्पष्ट किया है कि, अज्ञानावृत ज्ञान ही मोहरूप में परिणत होता है—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'। अभावात्मक अज्ञान तो अपदार्थ है, शून्य है। इससे आवरण असम्भव है। आवरक वही बनता है जिसका भाव होता है, सत्ता होती है। एवमेव सात्त्विकभावरूप अवैराग्य का 'नञ्' भी इसलिए अभावार्थक नहीं माना जा सकता कि, अवैराग्यरूप राग को भगवान् ने 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' इत्यादि रूप से कामरूप कार्य्य का कारण माना है। यही स्थिति अनैश्वर्य्य की है। अस्मितालक्षण अनैश्वर्य्य आत्मैश्वर्य्य का उसी प्रकार आवरक माना गया है जैसे कि अज्ञान ज्ञान का आवरक। इसी आधार पर कहा जा सकता, और माना जा सकता है कि, अधर्म्मादि के 'नञ्' भावों का 'अभाव' अर्थ नहीं है। फलतः इन 'नञ्' भावों की अल्पार्थकता ही सिद्ध हो जाती है। 'अल्पो धर्मः—अधर्मः', अल्पं ज्ञानं—अज्ञानम्, अल्पम् वैराग्यं—अवैराग्यम्' अल्पं अनैश्वर्यं—अनैश्वर्य्यम्' यह अल्पार्थक निर्वचन ही तत्त्वसम्मत माना जाएगा। जिसका तात्पर्य्य यही निकलेगा कि—अधर्म्मावृतो धर्म्म एव अधर्म्म', अज्ञानावृतं—ज्ञानमेवाज्ञानम्, अवैराग्यावृतं वैराग्यमेव अवैराग्यम्, अनैश्वर्य्यावृतं—ऐश्वर्य्यमेव अनैश्वर्य्यम्। इसी से यह भी तत्त्व निकल आया कि अधर्म्मादि अविद्याचतुष्टयी के आगमन से धर्म्मादि भावों का उत्क्रमण नहीं होता, अपितु अभिभवमात्र होता है। आवरण हटा दीजिए, छिपे धर्म्मादि धर्म्म प्रकट हो जाएँगे। नञर्थ के इस समन्वय के अनन्तर प्रकृत सम्भ के मूलभित्तिरूप मोहानुबन्धिभावों को लक्ष्य बनाइए।

३०—मोहपरम्परानुगता ज्ञानलवदुर्विदग्धता—

'अमान्यता' इत्यादि, एवं विशेषतः अज्ञात ज्ञान [illegible] अज्ञानावृत ज्ञान है यही 'अज्ञान' लक्षण मोह है यही मन का प्रथम बन्धन है। कुछ जानना, कुछ न जानना ही अज्ञान है यही 'पुष्पेऽपि सम्पत्ति' लक्षण मोह है जिस मोहाभिभूतचित्त को 'अर्धदग्ध' कहा जाता है। इसी के लिए 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'ट्रेन' के आने का ज्ञान है, किन्तु किस समय प्लेटफार्म स्टेशन पर खड़ी होगी, यह अज्ञात है। इन अज्ञातज्ञान सम्बन्ध से मोह उत्पन्न हो जाता है, भय हो जाता है—कहीं ट्रेन निकल न जाय। सन्देह भय बनती है। ज्ञान का स्वरूप 'प्रमा' माना गया है। 'एवमित्थमेव नान्यथा' लक्षण निश्चयात्मक ज्ञान ही 'प्रमाज्ञान' है। इस प्रमाज्ञान में जब अज्ञान समाविष्ट [illegible] जाता है, तो यही अनिश्चयात्मक बनता हुआ संशयज्ञान भ्रमज्ञान आदि विविध भावों में परिणत हो जाता है। शुद्धज्ञान में भी भय का अभाव है, शुद्ध अज्ञान (जड़ता) में भी भय का अभाव है। महामूर्खराज भी निर्भय है, ज्ञानतपस्वी भी निर्भय है। एक की निर्भयता अज्ञानमूला है, एक की निर्भयता चिन्मूला है। भयभरता बनता है वह मध्यस्थ जिसका ज्ञान अज्ञान से आवृत रहता है—

> यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
> द्वावेव सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

३१–मोहनिवर्त्तिका ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या—

मोह से भय, एवं भय की चरमसीमा मृत्यु। इसप्रकार मोह ही कालान्तर में अकालमृत्यु–मृत्युभाव का प्रवर्त्तक बन जाता है। मिथ्याज्ञानात्मक मोह जहाँ भय का कारण है, वहाँ तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान निःश्रेयस का प्रवर्त्तक है–'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'। भयप्रवर्त्तक अज्ञान की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है–अभयप्रवर्त्तक तत्त्वज्ञान का अनुगमन। बतलाया गया है कि मोहात्मक अज्ञान अपने बलाभाव से प्रज्ञान की स्थिर प्रज्ञा को विचलित कर देता है। प्रज्ञा के अस्थिर होने से तन्मयीभूता बुद्धि विवेकशून्या बन जाती है। विवेकशून्या बुद्धि ही अस्थिर प्रज्ञा के द्वारा जीवात्मा को प्रज्ञापराध में प्रवृत्त करती रहती है एवं यह प्रज्ञापराध (नास्तिकी–मूर्खता) ही स्वाभाविक योगसम्पत्ति से जीवात्मा को वञ्चित रखता हुआ इसे अति, हीन, मिथ्या योगादि विषम योगों में प्रवृत्त रखते हुए इसके अज्ञानमूलक–भयानुगत–दुःख का कारण बना रहता है। अपनी आत्मशक्ति की सीमा से अधिक कर बैठना अतियोग है। आत्मशक्ति से कम करना हीन-योग है। आत्मशक्ति के विपरीत करना अयोगात्मक मिथ्यायोग है। भोजन करना चाहिए पाव भर, खा गए एक सेर, यही अतियोग है। एक छटाँक ही खाया, यह हीनयोग है। खाया तो पाव भर ही, किन्तु प्रकृतिविरुद्ध खाया, यही मिथ्यायोग है। तीनों विषमयोगों का मूलप्रवर्त्तक प्रज्ञापराध है, प्रज्ञापराध की प्रवर्त्तिका मोहग्रस्ता अस्थिरबुद्धि है, और तन्मय मोहात्मक यह अज्ञान ही प्रज्ञापराधजनित दुःख का कारण है जिसकी ऐकान्तिक निवृत्ति के लिए ही ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वरूपनिरूपण हुआ है।

३२–सिद्धजाति में उत्पन्न सिद्ध कपिल की सिद्धविद्या, एवं तदनुगत ज्ञानबुद्धियोग—

सिद्धजाति में उत्पन्न, अतएव 'सिद्ध' नाम से प्रसिद्ध महर्षि कपिल ही इस सिद्धविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक थे। अव्यक्तप्रधानानुगत, अतएव अव्यक्तात्मक–कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग (प्राचीनाभिमत-ज्ञानयोग) के पक्षपाती कपिल का केवल अव्यक्ता प्रकृति पर ही विश्राम था। उनका ज्ञानयोग 'पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः' के अनुसार अव्ययसम्पत्ति से वञ्चित था। 'भवन्ति साक्षा मूढाना मत एव दृष्टगविद्या'–'अहं सर्वस्य प्रभवः' इत्यादि सिद्धान्त उनकी अव्यक्तदृष्टि से परे की वस्तु बने हुए थे। भगवान् ने * 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' कहते हुए इस अव्यक्ताभिनिविष्टा ज्ञाननिष्ठा (सांख्यनिष्ठा) का खण्डन किया, और लोकसंग्रहदृष्टि से इसे बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की।

---

* अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

—गीता ७।२४

अबुद्धयः–बुद्धियोगरहस्यानभिज्ञाः, न तु मूर्खाः। सिद्धकपिलस्य पूर्णज्ञाननिष्ठत्वात्। बुद्धियोगस्तु महता कालेन विलुप्त आसीत्। तद्विलुप्त्यैव च तात्का-सांख्यनिष्ठाया प्राधान्यमासीत्तद्युगे।

बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान अवश्य की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठावत् (संयोजित कर्मयोगलक्षण मत्स्य' बुद्धियोगवत्) संन्यासनिष्ठा (संयोजित-ज्ञानयोगलक्षण ज्ञानबुद्धियोग) भी 'नि:श्रेयसकरावुभौ' के अनुसार अभ्युदयप्रद मान ली गई। तथापि दोनों के समतुलन में लोकसंग्रह के पक्षपाती भगवान् ने 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' कहते हुए मध्य बुद्धियोगात्मक निष्कामकर्मयोग को ही प्रधानता इसलिए प्रदान की कि व्यक्तप्रकृतिप्रधान मानव के लिए कर्मयोगानुगत व्यक्त कर्म जहाँ अव्यक्त क्लेश से वंचित न रहते हुए सहज बने रहते हैं वहाँ अव्यक्तप्रकृतिप्रधान-ज्ञानयोगानुगत-अव्यक्तकर्म अव्यक्त क्लेश के, साथ साथ विशेषरूप से लोक अभ्युदय के भी संग्राहक नहीं बनते। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त-चेतसाम्'-'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' इत्यादि से इस संन्यासनिष्ठा की अत्यन्तदुर्गमता स्पष्ट ही प्रमाणित हो रही है। निम्न लिखित वचन भी सिद्धनिष्ठानुगत इस ज्ञानबुद्धियोग की इसी कठिनता का समर्थन करता हुआ इस ओर भगवान् के सामान्य पक्षपात को ही व्यक्त कर रहा है-

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
>
> —गीता० ७।३।

जिस युग में वेदतत्त्वप्रवर्तक अभिनिवेशन के साथ देवलब्धिप्रवर्तक युग का सम्बन्ध था, उस वेदयुग में प्रकृतिसिद्ध इस पृथिवी पर ही 'त्रायभुवनकोश' के आधार पर त्रैलोक्यव्यवस्था व्यवस्थित थी। निरत से (समुद्र से) आरम्भ कर हिमालयपर्यन्त रहने वाली पार्थिव प्रजा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी, इसके सम्राट् मनु थे अधिवासी-भूस्थानपाल् भरत आदि थे। हिमालय से आरम्भ कर मेरुतलौ पर्वत के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कहलाता था इसमें रहने वाली प्रजा 'देवयोनि' (तिर्यग्योनि) कहलाती थी वायु यहाँ के लोकपाल् थे। एवं मेरुतली से आरम्भ कर सुमेरुपर्यन्त का भूप्रदेश द्युलोक कहलाता था, यहाँ की प्रजा देवदेवता नाम से प्रसिद्ध थी अधिपति यहाँ के 'इन्द्र' थे। अन्तरिक्ष में रहने वाली देवयोनिप्रजा यक्ष विद्याधर, गन्धर्व किन्नर पिशाच सिद्ध, राक्षस, अप्सरा भूत, आदि अनेक जातियों में विभक्त थी। यक्षजाति कोषरक्षा में नियुक्त थी। विद्याधर, गन्धर्व किन्नर, अप्सरा, ये चार वर्ग मनोविनोदात्मक कला के अध्यक्ष-प्रचारक थे। पिशाचजाति राजविभाग का संचालन करती थी। यक्षकर्म राक्षसजाति के अधीन था। भूतजाति सेनाध्यक्ष था। भूतगणों के अवरसेनापति (कप्तान) रुद्रादि थे प्रधानसेनापति (कमाण्डर् इन चीफ) स्वामिकार्तिकेय थे। इस सेनाविभाग के प्रधानमन्त्री (आर्मी-मिनिस्टर) भूतपति रुद्र थे। धार्मिक प्रजा अवश्य ही इस ऐतिह्य घटना का समर्थन नहीं करेगी। क्योंकि अन्यान्य तत्त्वों की विलुप्ति के साथ साथ वैदिक ऐतिह्य तत्त्व भी आज लुप्त हो चला है। तदीयोपासना से सम्बन्ध रखने वाले प्राणात्मक विद्याधरादि प्रायोविध देवयोनियाँ हैं। एवं तदनुरूप मानुषीविध विद्याधरादि ऐतिहासिक व्यक्तियाँ थीं इस रहस्य का स्पष्टीकरण उसी दिन सम्भव बनेगा जिस दिन आर्यप्रजा तत्परता से वेदशास्त्र के स्वाध्याय में प्रवृत्त होगी। वक्तव्यांश यही है कि, देवयोनिविशेष ही 'सिद्ध' कहलाए थे। इस जाति में [illegible] कपिल का जन्म हुआ था, अतएव आस्था इनका भी 'सिद्ध' नाम से ही प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। ज्ञाननिष्ठ कपिलसिद्ध से ही यह जाति धन्य बनी थी। अतएव विभूतिनिरूपणा में भगवान् ने

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' कहते हुए इन्हें मुख्य स्थान प्रदान किया । ये ही सिद्ध सांख्यनिष्ठात्मक–ज्ञानयोग के प्रथम प्रवर्त्तक थे । अतएव इनका संप्रोक्त ज्ञानबुद्धियोग–रूप योग 'सिद्ध' नाम से ही गीताशास्त्र में प्रसिद्ध हुआ ।

३३–सिद्धकपिलानुगता सिद्धविद्या—

जिस प्रकार 'ईश्वरानन्यत्व' राजविद्या का रहस्य था, एकमेव गुह्य सिद्धविद्या का रहस्य 'अन्तर्ज्योति' माना गया है । सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग से अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मज्ञान का ही उदय होता है । ज्योतिर्विवर्त का 'अन्तः–बहिः', भेद से दो भागों में पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनका सूर्य–चन्द्रमा के द्वारा भलीभांति समन्वय किया जा सकता है । सूर्य चन्द्रमा, दोनों ही ज्योतिष्मान् हैं परन्तु दोनों की ज्योतियों के स्वरूप में परोक्षत्व का अन्तर है । सूर्य जहाँ चारों ओर से प्रकाशित है वहाँ चन्द्रमा अपने सूर्याभिमुख अर्द्ध भाग से ही प्रकाशित रहता है । सूर्य को जैसे स्वप्रकाश प्रसार के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं है वैसे चन्द्रमा स्वप्रकाश प्रसार में स्वतन्त्र नहीं है । अपने ही प्रकाश से स्वात्मना प्रकाशित सूर्य जहाँ 'स्वज्योति' कहलाता है, परमेव अन्य (सूर्य) प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रमा अर्द्धभाग से प्रकाशित रहता हुआ 'परज्योति' कहलाता है । चन्द्रमा में मुख्य चामत्कृत अत्रिप्राण ही चान्द्र परज्योति का आधार बना हुआ है । पुराणों में चन्द्रमा अत्रि के पुत्र माने गए हैं । अत्रिप्राणविज्ञान के अनुसार अत्रिप्राण पारदर्शकता का प्रतिबन्धक माना गया है । पारदर्शकता के प्रतिबन्ध से ही चामत्कृत पदार्थों का स्वरूप निर्माण हुआ है । षोडशी प्रजापति के अव्ययप्रधान अक्षरात्मा क्षरप्रधान क्षरात्मा क्षरप्रधान शुक्रात्मा, इन तीन विवर्तों में से क्षरात्मक शुक्रविवर्त ही चामत्कृत भौतिक विश्व का उपादानकारण बनता है । वाक्, आपः अग्नि–भेद से यह शुक्र तीन भागों में विभक्त है । वाग्शुक्र अत्रि है आपः शुक्र भृगु है एवं अग्निशुक्र अङ्गिरा है । वाक्–आपः–अग्नि–रूप अत्रि–भृगु–अङ्गिरा इन तीनों पारमेष्ठ्य शुक्रों से ही चामत्कृत–भौतिकसृष्टि (मैथुनीसृष्टि) का विकास हुआ है । इन तीनों में आपः शुक्रमूर्ति भृगुतत्त्व आपः वायु सोमः भेद से तीन भागों में विभक्त है । अग्निशुक्रमूर्ति अङ्गिरा भी अग्नि–यम–आदित्य–भेद से तीन भागों में विभक्त है । परन्तु वाक्शुक्रमय अत्रि एकावस्था में ही परिणत रहता है । अतएव 'न त्रि' निर्वचन से इस अत्रिप्राणतत्त्व से चामत्कृत बने हुए पारदर्शकताप्रतिबन्धक वाक्शुक्रात्मक पारमेष्ठ्य प्राण को वैज्ञानिकों ने 'अत्रि' नाम से व्यवहृत किया है । इसके अतिरिक्त यह सौरप्रकाश को भी खाता है । जिस मृत्पिण्ड में अत्रिप्राण पूर्णरूप से विकसित रहता है, उस वस्तु में से सौररश्मियां आरपार नहीं जा सकतीं । सूर्यरश्मियों को क्योंकि अत्रि खा जाता है अतएव अत्रिशब्द का 'अत्तीति अत्रिः' यह निर्वचन भी विज्ञानसम्मत माना जा सकता है । पार्थिव अत्रिप्राण के प्रवर्ग्यभाग से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है अतएव इसे अत्रिपुत्र माना गया है । इसी अत्रिप्राण के सम्बन्ध से चन्द्रमा में पारदर्शकताप्रतिबन्धकत्व धर्म का उदय हुआ है । इसी धर्म से सूर्यरश्मियाँ चन्द्रमा के आर–पार (आरपार) नहीं निकल सकतीं । फलस्वरूप सौरप्रकाश प्रतिफलित हो जाता है । बहिर्मुख यही चान्द्रप्रकाश 'परज्योति' है । इसप्रकार भूतज्योतियों में ही सूर्यज्योति 'स्वज्योति' है चान्द्रज्योति परज्योति है । स्वज्योति अन्तर्ज्योति है परज्योति बहिर्ज्योति है ।

बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान अवश्य की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठात्मक (संयोगित कर्मयोगलक्षण अव्यय बुद्धियोगात्मक) सांख्यनिष्ठा (संयोगित-ज्ञानयोगलक्षण ज्ञानबुद्धियोग) भी 'निःश्रेयसकरावुभौ' के अनुसार अभ्युदयप्रदा मान ली गई। तथापि दोनों के समतुलन में लोकसंग्रह के पक्षपाती भगवान् ने 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' कहते हुए अव्यय बुद्धियोगात्मक निष्कामकर्म योग को ही प्रधानता इसलिए प्रदान की कि, व्यक्तप्रकृतिप्रधान मानव के लिए कर्मयोगानुगत व्यक्त कर्म वहाँ अव्यक्तक्लेश से बहिर्भूत रहते हुए स्वस्थ बने रहते हैं वहाँ अव्यक्तप्रकृतिप्रधान-ज्ञानयोगानुगत-अव्यक्तकर्म अव्यक्तक्लेश के साथ साथ विशेषरूप से लोक अभ्युदय के भी संग्राहक नहीं बनते। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्'-'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' इत्यादि से इस सांख्यनिष्ठा की अव्यवहार्यता स्पष्ट ही प्रमाणित हो रही है। निम्न लिखित वचन भी सिद्धविद्यानुगत इस ज्ञानबुद्धियोग की ऐसी कठिनता का समर्थन करता हुआ इस ओर भगवान् के समान्य पक्षपात को ही व्यक्त कर रहा है-

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
>
> —गीता० ७।३।

जिस युग में वेदतत्त्वप्रवर्त्तक ब्रह्मर्षिवर्ग के साथ वेदात्मबुद्धिप्रवर्त्तक प्रभु का सम्बन्ध था, उस वेदयुग में प्रकृतिसिद्ध इस पृथिवी पर ही 'पाञ्चभुवनकोश' के आधार पर त्रैलोक्यव्यवस्था व्यवस्थित थी। सिन्धु से (समुद्र से आरम्भ कर हिमाचलपर्य्यन्त रहने वाली पार्थिव प्रजा मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी, इनके सम्राट् मनु थे अधिष्ठाता-राजराजन्यपाद् भारत अग्नि थे। हिमालय से आरम्भ कर मालवन्ती पर्वत के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कहलाता था इसमें रहने वाली प्रजा 'देवयोनि' (विभ्रंशयोनि) कहलाती थी, वायु यहाँ के राजराजन्य थे। एवं मालवन्ती से आरम्भ कर सुमेरुपर्य्यन्त का भूप्रदेश द्युलोक कहलाता था यहाँ की प्रजा देवदेवता नाम से प्रसिद्ध थी अधिपति यहाँ के इन्द्र थे। अन्तरिक्ष में रहने वाली देवयोनिप्रजा यक्ष विद्याधर गन्धर्व किन्नर, पिशाच सिद्ध, राक्षस अप्सरा, भूत, आदि अनेक जातियों में विभक्त थी। यक्षजाति कोषरक्षा में नियुक्त थी। विद्याधर, गन्धर्व किन्नर, अप्सरा ये चार वर्ग मनोविनोदात्मक संगीत के अध्यक्ष-प्रचारक थे। पिशाचजाति रक्षविधान का संचालन करती थी। राजकर्म राक्षसजाति के आधीन था। भूतजाति सेनाध्यक्ष था। भूतगणों के अवरसेनापति (कप्तान) गणपति थे प्रधानसेनापति (कमाण्डर् ओफ चीफ) स्वामिकार्तिकेय थे। इस सेनाविभाग के प्रधानमन्त्री (आर्मी-मिनिस्टर) भूतपति रुद्र थे। आधुनिक प्रजा अवश्य ही इस ऐतिह्य घटना का समर्थन नहीं करेगी। क्योंकि अन्यान्य तत्त्वों की विलुप्ति के साथ साथ वैदिक ऐतिह्य तत्त्व भी आज लुप्त हो चुका है। तत्त्वोपासना से सम्बन्ध रखने वाले प्रायात्मक विद्याधरादि प्राणविध देवयोनियाँ हैं। एवं तदनुरूप भारतीय विद्याधरादि ऐतिहासिक व्यक्तियाँ थीं इस रहस्य का स्पष्टीकरण उसी दिन सम्भव होगा जिस दिन भारतप्रजा तत्त्वदृष्टि से वेदशास्त्र के स्वाध्याय में प्रवृत्त होगी। कहना यही है कि, देवयोनिविशेष ही 'सिद्ध' कहलाए थे। इस जाति में ही कपिल का जन्म हुआ था अतएव आगे इनका भी 'सिद्ध' नाम से ही प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। ज्ञाननिष्ठ कपिलऋषि से ही यह जाति धन्य बनी थी। अतएव विभूतिभावना में भगवान् ने

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' कहते हुए इन्हें मुख्य स्थान प्रदान किया । ये ही सिद्ध सांख्यनिष्ठात्मक–ज्ञानयोग के प्रथम प्रवर्त्तक थे । अतएव इनका संशोधित ज्ञानबुद्धियोग–रूप योग 'सिद्ध' नाम से ही गीताशास्त्र में प्रसिद्ध हुआ ।

३३–सिद्धकपिलानुगता सिद्धविद्या—

जिस प्रकार 'ईश्वरानन्यत्व' राजविद्या का रहस्य था, एवमेव इस सिद्धविद्या का रहस्य 'अन्तर्ज्योति' माना गया है । सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग से अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मज्ञान का ही उदय होता है । ज्योतिर्विवर्त्त का अन्तः–बहिः, भेद से दो भागों में पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनका सूर्य–चन्द्रमा के द्वारा भलीभाँति समन्वय किया जा सकता है । सूर्य्य चन्द्रमा दोनों ही ज्योतिष्मान् हैं परन्तु दोनों की ज्योतियों के स्वरूप में महोदधि का अन्तर है । सूर्य्य जहाँ चारों ओर से प्रकाशित है वहाँ चन्द्रमा अपने सूर्य्यानुगत अर्द्ध भाग से ही प्रकाशित रहता है । सूर्य्य को जैसे स्वप्रकाश प्रसार के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं है, वैसे चन्द्रमा स्वप्रकाश प्रसार में स्वतन्त्र नहीं है । अपने ही प्रकाश से सर्वात्मना प्रकाशित सूर्य्य जहाँ 'स्वज्योति' कहलाया है, एवमेव अन्य (सूर्य्य) प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रमा अर्द्ध भाग से प्रकाशित रहता हुआ परज्योति कहलाया है । चन्द्रमा में मुख्य भास्वर अत्रिप्राण ही चान्द्र परज्योति का आधार बना हुआ है । पुराणों में चन्द्रमा अत्रि के पुत्र माने गए हैं । अत्रिप्राणविज्ञान के अनुसार अत्रिभाव पारदर्शकता का प्रतिबन्धक माना गया है । पारदर्शकता के प्रतिबन्ध से ही भास्वर पदार्थों का स्वरूप निर्म्माण हुआ है । सावित्री प्रजापति के अव्ययप्रधान अक्षरात्मा अक्षरप्रधान क्षरात्मा क्षरप्रधान शुक्रात्मा, इन तीन विवर्त्तों में से क्षरात्मक शुक्रविवर्त्त ही भास्वर भौतिक विश्व का उपादानकारण बनता है । वाक् , आपः अग्नि–भेद से यह शुक्र तीन भागों में विभक्त है । वाक्शुक्र अत्रि है, आपः शुक्र भृगु है एवं अग्निशुक्र अङ्गिरा है । वाक्–आप–अग्नि–मय अत्रि–भृगु–अङ्गिरा, इन तीनों पारमेष्ठ्य शुक्रों से ही भास्वर–भौतिकसृष्टि (मैथुनीसृष्टि) का विकास हुआ है । इन तीनों में आप शुक्रमूर्त्ति भृगुतत्त्व आपः वायु सोमः भेद से तीन भागों में विभक्त है । अग्निःशुक्रमूर्त्ति अङ्गिरा भी अग्नि–यम–आदित्य–भेद से तीन भागों में विभक्त है । परन्तु वाक्शुक्रमय अत्रि एकावस्था में ही परिणत रहता है । अतएव 'न त्रि' निर्वचन से इस अतिशयरूप से भास्वर बने हुए पारदर्शकताप्रतिबन्धक वाक्शुक्रात्मक पारमेष्ठ्य प्राण को वैज्ञानिकों नें 'अत्रि' नाम से व्यवहृत किया है । इसके अतिरिक्त यह सौरप्रकाश को पी जाता है । जिस भूतपिण्ड में अत्रिप्राण पूर्णरूप से विकसित रहता है, उस वस्तु में से सौररश्मियाँ आरपार्य्य नहीं बन सकतीं । सूर्य्यरश्मियों को क्योंकि अत्रि खा जाता है अतएव अत्रिप्राण का 'अत्तीति अत्रिः' यह निर्वचन भी विज्ञानसम्मत माना जा सकता है । पार्थिव अत्रिप्राण के प्रवर्ग्यभाग से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है अतएव इसे अत्रिपुत्र माना गया है । इसी अत्रिप्राण के सम्बन्ध से चन्द्रमा में पारदर्शकताप्रतिबन्धकरूप भस्म का उदय हुआ है । इसी भस्म से सूर्य्यरश्मियाँ चन्द्रमा के आर–पार (आरपार) नहीं निकल सकतीं । फलस्वरूप सौरप्रकाश प्रतिफलित हो जाता है । बस यही चान्द्रप्रकाश 'परज्योति' है । इसप्रकार भूतज्योतियों में ही सूर्य्यज्योति 'स्वज्योति' है चान्द्रज्योति पर ज्योति है । स्वज्योति अन्तर्ज्योति है परज्योति बहिर्ज्योति है ।

ठीक यही व्यवस्था आध्यात्मिक गीताविज्ञान के सम्बन्ध में चरितार्थ हुई है । पुरुष, प्रकृति, मन से अव्यक्तमक्षरा दो भागों में विभक्त है । इनमें पुरुषज्योति (आत्मज्योति) सूर्यस्थानीया–परात्परविद्या भास्वरज्योतिर्मयी है । एवं प्रकृतिज्योति चन्द्रस्थानीया परोरजा परावाक्‌रूपा ज्योतिर्मयी है । जिस प्रकार ११–२२ भेद से वैदिक में विभक्त भूतज्योति सूर्य–चन्द्रमा–तारक–विद्युत्–अग्नि भेद से पाँच भागों में विभक्त है एवमेव प्रकृतिसमोज्योतिर्मयी आध्यात्मिक भूतज्योति भी अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–भूतात्मा–भेद से पाँच ही भागों में विभक्त रहती है । आध्यात्मिक पुरुषज्योति इन आध्यात्मिक पाँचों प्राकृतज्योतियों से नित्य युक्त रहती है और 'अत्रायं स्वयंज्योतिः पुरुषः' इत्यादि श्रुति का इस दृष्टि से भी समन्वय हो रहा है । सूर्यज्योतिर्लक्षणा भूतज्योति से बुद्धि का एवं चान्द्रज्योतिर्लक्षणा भूतज्योति से प्रज्ञानमन का स्वरूप निर्माण हुआ है । इन दोनों आध्यात्मिक भूतज्योतियों के साथ परस्पर अन्तर्यामी अव्यक्तात्मा का सम्बन्ध रहता है । इन दोनों ज्योतियों के मध्य में यदि मोह नामक तम समाविष्ट हो जाता है तो बुद्धियुक्त अन्तर्ज्योतिर्मय ज्ञान अज्ञानरूप में परिणत हो जाता है । अज्ञानावृत ऐसी बुद्धि ही मोहमलिना अज्ञानबुद्धि कहलाती है । यही अज्ञानबुद्धि इसप्रकार उक्त अन्तर्ज्योति के अनुग्रह से वंचित रहती हुई अज्ञानावरणात्मक ज्ञानज्योति की जननी बनती हुई बुद्धिवृत्ति का आरम्भ बन जाती है । अव्यक्तपुरुषानुगता–ज्ञानलक्षणा–अव्यक्तविद्या के साथ बिना किसी प्रतिबन्ध के अन्तर्ज्योतिर्लक्षणा–बुद्धिविद्या का योग होने के लिए मध्यस्थ मोह नामक अज्ञानावरण का हटना आवश्यक है । मध्यस्थ मोह कैसे हट ?, आत्मज्योति की दृढ़ता, ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या इसी प्रश्न का समाधान कर रही है ।

३४–ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वरूपनिरूपण—

उपनिषदों के विश्लेषण द्वारा ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का विविध दृष्टियों से समन्वय किया गया । 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' के अनुसार कपिलादि सिद्धों में आत्मतत्त्वकृतप्रतिष्ठा अभ्यासनिष्ठा के अनुयायी भक्तिज्ञानुयायी सिद्धों में ही प्रधानरूप से परम्परया प्रवर्तित अन्तर्ज्योतिर्लक्षण ज्ञान ही सिद्धविद्या को मूलोपनिषत् बना । लोकरक्षक भगवान् ने लोकसंग्रहार्थ से महाभारतयुद्ध काल में इस भक्तिनिष्ठा का भी संग्रह किया । सिद्धसम्प्रदायानुगत प्राचीन ज्ञानयोग क्रम स्वयं जिन के द्वारा कहीं अवरुद्ध बना हुआ था वहीं भगवान् ने सम्प्रदायात्मक व्याख्यान के द्वारा उस क्रम परम्परा ज्ञानयोग का पुनः प्रवर्तन प्रदान करते हुए इस बुद्धियोगतत्त्व का अनुयायी बनाया । यही गीताशास्त्र में 'ज्ञानबुद्धियोगानुगता–सिद्धविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई ।

इति बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मक द्वितीयप्रकरण

'ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामक.

तृतीयस्तम्भ

(२)–३

श्री

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीयप्रकरणान्तर्गत 'ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक तृतीयस्तम्भ-उपरत

(२)-३

श्री

अथ बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
तृतीयप्रकरणे
'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः
चतुर्थस्तम्भ
(२)-४



श्री

वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

चतुर्थस्तम्भः

१–वैराग्य, और आसक्ति शब्दों के लोकप्रचलित अर्थ—

राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग में वैराग्य और तत्प्रतिद्वन्द्विनी आसक्ति, इस द्वन्द्व की मीमांसा अपेक्षित है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का स्वरूप बुद्धियोगप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। प्रचलित श्रद्धा–विश्वास के अनुसार 'वैराग्य' शब्द का अर्थ सांसारिक–परिग्रहों का त्याग समझा जा रहा है एवं 'आसक्ति' शब्द का अर्थ सांसारिक भोग–विषयों में तल्लीनता समझा जा रहा है। विधि–निषेधात्मक शास्त्रीय कर्म्मों का स्त्री पुत्र–वित्तादि लौकिक परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर शून्य–अरण्यों में निवास करने वाले सर्वपरिग्रहत्यागी काषायवस्त्रधारी वीतरागी ही वैराग्य के अनुगामी माने जा रहे हैं। ठीक इसके विपरीत सांसारिक प्रपञ्चों में निमग्न गृहस्थी ही आसक्ति के अनुगामी माने जा रहे हैं। निष्कर्षतः कर्म्ममात्र का परित्याग वैराग्य शब्द का एवं सांसारिक कर्म्म मात्र का अनुगमन आसक्ति शब्द का तत्पार्थ माना जा रहा है। वर्त्तमान भारत के प्राङ्गण में वही वीतराग है, जिसने सब कुछ छोड़ छाड़ कर एकान्तवास कर लिया है जिसका जनसमाज से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं है गीतापरिभाषानुसार जो सर्वथा अकर्म्मण्य है। केवल काषायवस्त्र दण्ड–ग्रहण एवं शिखासूत्रपरित्याग नमो–नारायणोच्चारण ही ऐसे वैराग्यपथिकों के परिचयचिन्ह हैं। कर्म्मत्यागलक्षणा प्राचीनाभिमत जिस सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) का पूर्व स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है वह सांख्यनिष्ठा ही सर्वसाधारण की दृष्टि में वैराग्य है। एवं 'आर्षविद्यानुगत–धर्म्मबुद्धियोग' नामक स्तम्भ में कामनालक्षण प्राचीनाभिमत जिस योगनिष्ठा (काम्य कर्म्म योग) का दिग्दर्शन कराया गया है वह योगनिष्ठा ही सर्वसामान्य की दृष्टि में 'आसक्ति' है।

२–प्राचीन व्याख्याताओं की वैराग्यदृष्टि, और उनका ज्ञानयोग—

प्राचीन दृष्टि से गीता केवल प्राचीनाभिमत ज्ञान–भक्ति–कर्म्म', इन तीन मार्गों का प्रतिपादन कर रही है। वैराग्य शब्द के उत्कर्ष का पक्षपात रखने वाले ज्ञाननिष्ठों का इस सम्बन्ध में यही मताभिनिवेश है कि गीता यद्यपि कर्म्म और भक्ति का भी निरूपण अवश्य करती है। परन्तु शास्त्रीय कर्म्म और भक्ति साक्षात् रूप से पुरुषार्थ नहीं है। पुरुष का परमपुरुषार्थ है 'मुक्ति'। मुक्ति का एकमात्र अर्थ है आत्मा को विशुद्ध ज्ञानस्थिति में प्रतिष्ठित कर लेना। कर्म्म' और भक्ति में कर्म्म का अनुराग तारतम्य से आत्मा पर आसक्त रहता है। अतएव कर्म्मानुगत कर्म्म और भक्ति कभी मुक्ति के कारण नहीं बन सकते। 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' के अनुसार कर्म्मात्मक कर्म्म भक्ति–मार्गों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही विशुद्ध ज्ञानोदय का कारण बना करती है। और सर्वविध कर्म्मत्याग से विकसित होने वाला ज्ञान ही

मुक्ति का प्रवर्तक है। कर्मत्यागलक्षण एवंविध वैराग्य ही मुक्तिप्रवर्तक बनता हुआ पुरुष का परम (अन्तिम) पुरुषार्थ है। सामान्य अधिकारियों के प्रारम्भिक अभ्यास के लिए साधनरूप से ही गीता में कर्म-भक्ति का समावेश कर लिया है। वस्तुतः गीता ज्ञानप्रधान अध्यात्मशास्त्र है, ज्ञानयज्ञशास्त्र है, वैराग्यशास्त्र है।

३–वैराग्यभावानुगत 'त्याग' शब्द के तात्त्विक अर्थ का उपक्रम——

प्राचीनाभिमत, सर्वपरिग्रहत्यागलक्षण वैराग्ययोग का अर्थ है–'ज्ञानयोग', जिसका 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक भूमिका-खण्ड में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है। केवल शब्दद्दृष्टि से प्राचीनों के इस मन्तव्य का, एवं वैज्ञानिकों के मन्तव्य का निर्विरोध समन्वय हो रहा है। वैज्ञानिकों का भी गीताशास्त्र के सम्बन्ध में यही मन्तव्य है कि, गीता आसक्तिपरित्यागपूर्वक वैराग्ययोग (बुद्धियोग) का ही उपदेश दे रही है। त्याग ही गीताशास्त्र का मुख्य उपदेश है। और इस दृष्टि से विज्ञानपक्षानुगामी भी यह कह सकता है कि, 'गीता वास्तव में वैराग्यशास्त्र' है। वैराग्ययोग ही पुरुष का प्रधान पुरुषार्थ है। और यहाँ आकर वह भी ज्ञानयोगपक्षपातियों की भाँति उनके कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग के सम्बन्ध में अपनी ओर से उपस्थित 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इस श्रुति को अपने विज्ञानसिद्ध आसक्तित्यागलक्षण वैराग्ययोग के समर्थन में उपस्थित कर सकता है। ज्ञानयोग भी त्यागप्रधान है, वैराग्ययोग भी त्यागप्रधान है। अन्तर केवल 'त्याग' शब्दार्थ में है। ज्ञाननिष्ठ कहते हैं कर्मत्याग त्यागशब्दार्थ है। वैराग्यनिष्ठ कहते हैं आसक्तित्याग त्यागशब्दार्थ है। दोनों में किस की परिभाषा उपादेय है? इस प्रश्न का समाधान सब से पहिले हमें गीताशास्त्र से ही करना चाहिए।

४–गीताशास्त्र में प्रयुक्त 'त्याग' शब्दानुगत स्थल, एवं उनका [illegible]समन्वय——

गीताशास्त्र में 'त्याग' की चर्चा ९ स्थलों पर आई है। उन स्थलों को अपनी दृष्टि के सामने रख लीजिए, और फिर यह अन्वेषण कीजिए कि, गीता अपनी दृष्टि से 'त्याग' शब्द का क्या अर्थ कर रही है?। केवल इसी प्रश्न के समाधान से सब कुछ समाहित हो जायगा। सुविधा के लिए वे ९ ही स्थल यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं——

१–अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ गी०१।९।

२–येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ १।३३।

३–क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप! ॥ २।३।

४–योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २।४८।

५–कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ २।५१।

६–जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥ ४।६।

७–त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४।२०।

८–निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४।२१।

९–ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ५।१०।

१०–कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५।११।

११–युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ५।१२।

१२–संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ ६।२४।

१३–यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥ ८।६।

१४–ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८।१३।

१५–श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्, ज्ञानात्–ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्म्मफलत्यागः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ गी० १२।१२ ।

१६–अहिंसा–सत्य–मक्रोध–स्त्याग–शान्ति–रपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १६।२।

१७–त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः–क्रोध–स्तथा लोभ–स्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १६।२१।

१८–सन्न्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक्केशिनिषूदन ! ॥ १८।१।

१९–काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा ॥ १८।२।

२०–त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञ–दान–तपः–कर्म्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १८।३।

२१–निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः परिकीर्त्तितः ॥ १८।४।

२२–यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८।५।

२३–एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८।६।

२४–नियतस्य तु सन्न्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ १८।७।

२५–दुःखमित्येव यत्कर्म्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ १८।८।

२६–कार्य्यमित्येव यत् कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ १८।९।

२७–न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १८।१० ।

२८–न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ १८।११।

२९–सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥ १८।४८।

३०–बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ १८।५१।

२१–विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्य समुपाश्रित ॥ १८।५२।

२२–अहङ्कार बल दर्पं काम क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्म्मम शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८।५३।

२३–ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥ १८।५४।



उक्त स्थलों में से 'कर्म्मे च महत्व' शूरा –'येषामर्थे काङ्क्षितम्' और 'त्यं मासम गत पार्थ' इन १–२–३ स्थलों के 'त्याग' शब्द का प्रकृत में सम्बन्ध नहीं है। शेष स्थलों में उपात्त त्याग शब्द ही प्रकृत वैराग्यचर्चा से सम्बन्ध रखता है। भगवान् कहते हैं–अर्जुन ! तुम योग में प्रतिष्ठित होकर आसक्ति-भाव सङ्ग का परित्याग कर सफलता–असफलता दोनों में समान बने रहते हुए ही कर्म करो, क्योंकि समत्व ही योग का स्वरूप माना गया है (४–गी २।४८)। भगवान् कहते हैं–'विद्वान् लोग बुद्धि (विद्या-बुद्धि) से युक्त रहते हुए (बुद्धियोग में प्रवृत्त रहते हुए) कर्म से उत्पन्न आसक्तिजनक फल का परित्याग करते हुए जन्मबन्धन से मुक्त होकर शाश्वतपद (मुक्ति) प्राप्त कर लेते हैं' (५–२।५१)। 'उ'म कर्म च मे विकर्म्मम्' (६–४।६) इत्यादि श्लोकपठित त्याग शब्द प्रकृत से असम्बद्ध है। भगवान् कहते हैं–कर्मफला-सक्ति का परित्याग कर सदा तृप्त रहने वाला स्वावलम्बी बना रहने वाला पुरुष कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी (आसक्तित्याग के प्रभाव से) कुछ नहीं कर रहा (७–४।२०)। भगवान् कहते हैं 'उत्पाद्यकामनाजन्या कामना से सम्बन्ध रखने वाले काम्य भोगों से पृथक् रहने वाला निराशी पुरुष संयमी बनता हुआ यथायावत् परिग्रहों की आसक्ति छोड़ देता है। ऐसा पुरुष शरीरयात्रानुबन्धी (जीवनसाधक) कर्मों में (उचितव्यवस्था द्वारा) प्रवृत्त रहता हुआ भी कर्मजनित लेपरूप किल्बिष से बचा रहता है (८–४।२१)। भगवान् कहते हैं–'जो पुरुष (शारीरिक आत्मा–जीवात्मा अपने स्वरूप) ब्रह्माधार (अव्यक्त) में अपने सम्पूर्ण कर्मों को समर्पित करता हुआ फलकामनासक्ति को छोड़ कर कर्म में प्रवृत्त रहता है वह उसी प्रकार अपने इन कर्मों से उत्पन्न संस्कारों से लिप्त नहीं होता, जैसे सदा पानी में रहता हुआ भी कमल का पत्ता पानी के लेप से लिप्त नहीं होता (९–५।१०)। भगवान् कहते हैं–योगी लोग (आत्मप्रधानात्मा वीतराग बन रहते हुए भी आगामी कामनात्मक कर्मों के लेप से) आत्मा को बचाए रखने के लिए काय–मन–बुद्धि–इन्द्रियों के द्वारा फल-कामासक्ति छोड़ कर कर्म किया करते हैं (१०–५।११)। भगवान् कहते हैं–'कर्मफल को छोड़ कर कर्म में युक्त रहने वाला पुरुष जहाँ चिरशान्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है वहाँ कामासक्तिपूर्वक कर्मफलों में आसक्त कामकामी पुरुष अध्यात्मयोग से वञ्चित रहता हुआ कर्मपाश में आबद्ध होजाता है (११–५।१२)। भगवान् कहते हैं–'अध्यात्माधिदैवमूलक कामसक्त मन से उत्पन्न होने वाले कामनामय संकल्प–विकल्प ही कामनाओं के जनक बनते हैं। इन मन्युपापद् कामनाओं का सर्वात्मना परित्याग कर अपने मन से इन्द्रियों का सर्वात्मना दमन करना चाहिए (१२–६।२४)। 'यं यं वापि स्मरन् भावम्०'– क्रमिस्यपाठरं मह

इन ११, १४ श्लोकों में पठित त्याग शब्द व्याख्यात है। भगवान् कहते हैं—'अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है एवं ध्यान से कर्म फल का परित्याग सर्वश्रेष्ठ है। इस कर्मफलत्याग से ही अन्त में शान्तिस्वरूप मोक्षपद प्राप्त होता है (१२–१२।१२)। 'अहिंसा सत्यमक्रोध' इत्यादि १६ वें श्लोक में पठित त्याग शब्द व्याख्यात है। भगवान् कहते हैं—'काम, क्रोध, लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं आत्मस्वरूप को आवृत करने वाले आवरण हैं। अतः इन तीनों का परित्याग कर देना चाहिए (१६–१६।२१)। अर्जुन भगवान् से प्रश्न करते हैं कि—'भगवन्! मैं संन्यास का रहस्य जानना चाहता हूँ, त्याग का मौलिक स्वरूप जानना चाहता हूँ' (१८–१८।१)। भगवान् उत्तर देते हैं—'अर्जुन! विद्वानों ने (कर्मों के परित्याग को संन्यास नहीं कहा है, (अपितु) काम्य कर्मों के परित्याग को संन्यास माना है (जिसका तात्पर्य यही निकलता है कि, कामना के परित्याग का ही नाम संन्यास है)। सम्पूर्ण कर्मों के फलत्याग को ही विचक्षणों ने त्याग माना है (२०–१८।२) किन्हीं एक (सांख्यनिष्ठ) विद्वानों का कहना है कि, कर्म दोषात्मक है अतः उसे छोड़ देना चाहिए। दूसरे एक (कर्म निष्ठ–योगनिष्ठ) यह कहते हैं कि, यज्ञ–दान–तपो–लक्षण विधानुमोदित कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। (इसप्रकार कर्म के सम्बन्ध में दो विभिन्न मत प्रचलित हैं (२ –१८।३)। अर्जुन! इस सम्बन्ध में (अब) तुमसे मैं अपना मत कहता हूँ। अर्जुन! सात्त्विक, राजस, तामस, भेद से त्याग तीन प्रकार का माना गया है (२१–१८।४)। (मेरी दृष्टि से) यज्ञ–दान–तप कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि (जो मनीषी इनके परित्याग को अच्छा समझते हैं उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि) ये तीनों कर्म (उन) मनीषियों के लिए भी पावन हो रहे हैं। अथवा तो मनीषियों की दृष्टि में तीनों कर्म दोषावह नहीं अपितु पावन हैं दोषनिवर्तक हैं। (२२–१८।५)। (क्या है, किस दशा में है, इन!) इन्हीं कर्मों को सब कि फलकामनासक्ति छोड़ते हुए सत्प्रवृत्ति से इनका अनुगमन किया जाता है। यही इस सम्बन्ध में मेरा निश्चित (अन्तिम) और सर्वश्रेष्ठ मत है। अर्जुन! प्रकृतिद्वारा नियत, स्वकर्मरूप, प्राकृतिक कर्तव्यकर्म का परित्याग असम्भव है (२१–१८।६)। मोहवश इसके परित्याग की चेष्टा करना तमोगुणानुगत तामस त्याग है (जो वस्तुतः त्याग नहीं है त्याग का दुरुपयोग है (२७–१८।७)। इस अमुक कर्म में बड़ा परिश्रम करना पड़ेगा कायक्लेश सहना पड़ेगा, यह निश्चय कर अपनी आलस्यप्रवृत्ति के अनुग्रह से कर्म का परित्याग कर देना राजस त्याग है। ऐसे त्यागी को भी त्यागफल नहीं मिला करता। (१५–१८।८)। आगे चल कर त्याग की वास्तविक परिभाषा करते हुए भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! मेरा यह मत असन्दिग्ध है इस कर्तव्यभावना से आवेशित, और फल–कामना का परित्याग करता हुआ जो पुरुष नियत कर्म में प्रवृत्त रहता है (उस पुरुष का कर्मानुगत ऐसा फलासक्तिपरित्यागभाव) त्याग ही सात्त्विक त्याग है (कर्मत्याग त्याग नहीं अपितु फल–कामनापरित्याग त्याग है) (२९–१८।९)। (फलकामनासक्तिपरित्याग का फल यह होता है कि, एतद्विध) त्यागी धीर के लिए न तो अकुशल कर्म (दोषावह ऐहलौकिक सांसारिक कर्म) द्वेष का कारण बनता एवं न कुशल कर्म (निर्दुष्ट पारलौकिक शास्त्रीय कर्म) राग का कारण बनता। सात्त्विक कर्मों से द्वेष नहीं करता शास्त्रीय कर्मों में लिप्त नहीं होता। अपितु अनायास समुपस्थित कर्मों में सामर्थ्य परिचित बन कर यह इनमें समभाव से प्रवृत्त रहता है। ऐसा यह त्यागी पुरुष नित्य सत्त्वस्थ बना रहता हुआ सर्वसंशयों से उन्मुक्त रहता है। 'निकटतम्–कि य कर्तव्यम्' ऐसा सत्यव्यामोहात्मक संशय इसे कभी नहीं होता' (२९–१८।१०)। (अर्जुन! सत्य इस त्याग का यही है कि) देहधारी के लिए सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग सर्वथा असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में त्यागी वही त्यागी कहलाएगा, जिसने कर्मफलों का परित्याग

कर लिया होगा' (२८-१८।११))। (अर्जुन ! तू समझता होगा कि, कर्म दोषयुक्त हैं। अरे कर्मों ही क्या ज्ञान भक्ति-आदि) यावत् आरम्भ दोषयुक्त हैं। (त्रिगुणात्मक विश्व में सर्वथा दोषरहित रहने के लिए कुछ भी नहीं है)। ऐसी स्थिति में प्रकृतिसिद्ध सहज कर्म यदि दोषयुक्त हैं, तब भी उनका परित्याग नहीं करना चाहिए। (वेदोक्त कर्म दोष नहीं है दोष है गुणात्मिका फलकामासक्ति, एवं इसी का परित्याग अपेक्षित है) (२६-१८।४८) (करना क्या चाहिए ?-सुन !)-विशुद्ध (विमल) बुद्धि से युक्त होकर धृतिगुण से आत्मसंयम रखता हुआ ऐन्द्रिक विषयलोलुपता को छोड़ कर रागद्वेष से बचा रह कर, एकान्तप्रिय बन !, अल्पाहारी बन !, अपने शरीर-वाणी, मन को वश में रख ! सदा ध्यानस्थ प्रत्यगात्मा को लक्ष्य बनाए रह !, अनासक्तिरूप वैराग्य को आधार बना ! अहङ्कार, बल दर्प, काम, क्रोध परपरिग्रह का परित्याग कर !, ममत्व से बचा रह ! । ऐसा करता हुआ निश्चयेन तू परमपद प्राप्त कर लेगा। (१ ,११,१२,१३)।

—●—

५-गीता-पठित 'त्याग' शब्द का निष्कर्षार्थ-

अब से इति पर्यन्त गीताशास्त्र का मनोयोगपूर्वक पारायण किया गया। यह चेष्टा की गई कि, कहीं 'त्याग' शब्द कर्मपरित्यागार्थ में उपलब्ध हो जाय। परन्तु चेष्टा न केवल व्यर्थ ही गई, अपितु सर्वत्र कर्मपरिग्रहण का समर्थन ही उपलब्ध हुआ। इसप्रकार गीताशास्त्र में प्रयुक्त त्याग शब्दों ने ही यह समाधान कर दिया कि, गीताशास्त्रोपवर्णित आत्मप्रधानलक्षण वैराग्ययोग प्राचीनाभिमत कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग से सर्वथा भिन्न वस्तु है जिसकी ओर से भगवान् न केवल उदासीन ही रहे हैं, अपितु 'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः' कहते हुए उसका आमूलचूल खण्डन ही कर रहे हैं। कर्म-समन्वय के द्वारा इसे बुद्धियोगनिष्ठ प्रधान ही है एवं यही संशोधित ज्ञानयोग गीता के शब्दों में 'ज्ञानबुद्धियोग' कहलाया है, जिसका पूर्वसन्दर्भ में विश्लेषण किया जा चुका है। गीता में त्यागशब्द सर्वत्र फल-काम-आसक्ति के परित्याग के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। फलकामासक्तिपरित्यागलक्षण प्रत्यगात्मनिबन्धन यह बुद्धियोग ही 'वैराग्यबुद्धियोग' कहलाया है, जो गीताशास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है एवं जिसके स्पष्टीकरण के लिए वैराग्य, आसक्ति नामक दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का वैज्ञानिक स्वरूप-परिचय अपेक्षित है तभी तदनुगत राजर्षिविद्या का स्वरूपनिर्वचन सम्पन्न बन सकता है।

६-गीताशास्त्र का तात्त्विक नामकरण—

ज्ञानकर्मसम सुवर्णाव्यय (अक्षरात्मा) कर्मगर्भित ज्ञानप्रधान आत्मस्वरूपमर्यादित परात्पर, कर्म-ज्ञानोभयप्रधान महत्प्रमाणविधृत परावराव्यय एवं ज्ञानगर्भित कर्मप्रधान प्रज्ञानकर्मपरिष्कृत-विज्ञानात्ममर्यादित अवराव्यय, इन आध्यात्मिक चारों आत्मभावों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म' ही क्रमशः वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म -बुद्धियोग, नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। आत्मज्ञानचतुष्टयी 'विद्या' है, आत्मकर्म चतुष्टयी 'योग' है। 'ब्रह्मविद्यायाम्' का अर्थ है-'सर्वाव्यय-पराव्यय-परावराव्यय-अवराव्यय-लक्षणायां राजर्षि-सिद्ध-राज-आर्षविद्यायाम्'। 'योगशास्त्रे' का अर्थ है-'सर्वाव्ययानुगतवैराग्य-पराव्ययानुगतज्ञान-परावराव्ययानुगतैश्वर्य-अवराव्ययानुगतधर्मबुद्धियोगशास्त्रे'। आत्मज्ञानचतुष्टयी आत्मकर्मचतुष्टयी है इसी के स्वरूपविश्लेषण के लिए गीता में विद्याचतुष्टयी का निरूपण हुआ है। योगचतुष्टयी आत्मकर्म

चतुष्टयी है । इसी के स्वरूपपरिचय के लिए गीता में योगचतुष्टयी का निरूपण हुआ है । अव्ययसम्बन्ध से ब्रह्मचतुष्टयी 'पुरुषविद्या' है, बुद्धिसम्बन्ध से योगचतुष्टयी बुद्धियोग है । फलतः 'ब्रह्मविद्यायां-योगशास्त्रे' का निष्कर्ष निकलता है—'अव्ययपुरुषविद्यायां योगशास्त्रे' । अव्ययपुरुष पुरुष है बुद्धियोग प्रकृति है । गीता ने पुरुषभक्तिलक्षणा आत्मविद्या की ओर 'ब्रह्मविद्यायां' से हमारा ध्यान आकर्षित किया है, एवं प्रकृतिभक्तिलक्षणा योग की ओर 'योगशास्त्रे' से हमारा ध्यान आकर्षित किया है । समष्टिरूप से गीताशास्त्र 'अव्ययविद्यानुगत योगशास्त्र' है । एवं व्यष्टिरूप से यही सर्वाव्ययविद्यालक्षण राजर्षिविद्यानुगत बुद्धियोगशास्त्र, पराव्ययविद्यालक्षण सिद्धविद्यानुगत ज्ञानयोगशास्त्र, परावराव्ययविद्यालक्षण राजविद्यानुगत भक्तियोगशास्त्र, एवं अवराव्ययविद्यालक्षण आर्षविद्यानुगत कर्मयोगशास्त्र, इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है, परन्तु करना नहीं चाहिए । क्योंकि पर-परावर-अवरविद्यानुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म वस्तुतः बुद्धियोगात्मक ही हैं । अतः गीता का वास्तविक नामकरण 'अव्ययविद्यायां बुद्धियोगशास्त्र' यही होना चाहिए, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१ ज्ञानकर्मसमय प्रत्यगात्मा—सर्वाव्ययः	आत्मब्रह्म-चतुर्गत वैराग्यकर्म्म
२ कर्मगर्भितज्ञानप्रधान पराव्ययः	आत्मब्रह्म-चतुर्गत ज्ञानकर्म्म
३ कर्मज्ञानोभयप्रधान परावराव्ययः	आत्मब्रह्म-चतुर्गत ऐश्वर्यकर्म्म
४ ज्ञानगर्भितकर्मप्रधान अवराव्ययः	आत्मब्रह्म-चतुर्गत धर्मकर्म्म
सेयं अव्ययविद्याचतुष्टयी	सेयं अव्यययोगचतुष्टयी

१ सर्वाव्ययविद्यालक्षणराजर्षिविद्यानामकब्रह्मविद्यायां	बुद्धियोगात्मकं	योगशास्त्रम्	प्रतीकोपासना बुद्धियोगात्मक- इति गीताशास्त्रसमाप्तिः
२ पराव्ययविद्यालक्षणसिद्धविद्यानामकब्रह्मविद्यायां	ज्ञानयोगात्मकं	योगशास्त्रम्	
३ परावराव्ययविद्यालक्षणराजविद्यानामकब्रह्मविद्यायां	भक्तियोगात्मकं	योगशास्त्रम्	
४ अवराव्ययविद्यालक्षणआर्षविद्यानामकब्रह्मविद्यायां	कर्मयोगात्मकं	योगशास्त्रम्	

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रं व्यपदिष्टम्

१–राजर्षिविद्यायां वैराग्यबुद्धियोगशास्त्रम्——ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्	
२–सिद्धविद्यायां ज्ञानबुद्धियोगशास्त्रम्——ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्	वैज्ञानिकदृष्ट्या व्यष्टिभावस्थ-
३–राजविद्यायां ऐश्वर्य्यबुद्धियोगशास्त्रम्——ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्	भानि गीताशास्त्राणि
४–आर्षविद्यायां धर्म्मबुद्धियोगशास्त्रम्——ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्	

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रम्–व्यष्टिदृष्ट्या

वैज्ञानिकदृष्ट्या समष्टिभावात्मकं गीताशास्त्रस्यास्य नामकरणम्–

ब्रह्मविद्यायां	योगशास्त्रे	वा	—तदिदं–अव्ययविद्यायां बुद्धियोगात्मकं गीताशास्त्रम्
आत्मविद्यायां	शारीरशास्त्रे	वा	
पुरुषविद्यायां	प्रकृतिशास्त्रे	वा	
अव्ययविद्यायां	बुद्धियोगशास्त्रे	वा	
सर्वविद्यायां	सर्वकर्म्मशास्त्रे	वा	



७–'भग' चतुष्टयी से अनुप्राणिता भगवद्विद्या, तथा भगवद्योग के चार-चार विवर्त–

आत्मविकास के लिए 'भग' शब्द नियत है एवं आत्मसंकोच के लिए 'क्लेश' शब्द नियत है। आत्मविकासलक्षण भग आत्मानन्द का कारण है, आत्मसंकोचलक्षण क्लेश आत्मदुःख का कारण है। भग और क्लेश सुख-दुःख के पर्य्याय नहीं हैं। अपितु भग सुख का जनक है क्लेश दुःख का जनक है। धर्म्म ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य इन चार भगों से आत्मा स्वस्वरूप से 'भ' भाव (विकासभाव) को प्राप्त हो जाता है। इससे आत्मा स्वभूमानन्द का भोक्ता बन जाता है। अधर्म्मलक्षण अभिनिवेश अज्ञानलक्षण मोह, रागद्वेषलक्षण आसक्ति, अनैश्वर्य्यलक्षण अस्मिता, इन चार क्लेशों से आत्मा स्वस्वरूप से क्षुद्रभाव को प्राप्त हो जाता है। इससे आत्मा आगन्तुक अल्पलक्षण दुःख का भोक्ता बन जाता है। क्लेशचतुष्टयी की निवृत्ति ही आत्म विकासोदय का कारण बनती है। यही गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। क्लेशचतुष्टयी स्वतः निवृत्त नहीं होती। अपितु जैसे अन्धकार की निवृत्ति के लिए प्रकाश का आगमन अपेक्षित है, एवमेव क्लेशनिवृत्ति के लिए भग प्रवृत्ति अपेक्षित है। भगचतुष्टयी की प्राप्ति का उपाय बतलाना ही गीता का दूसरा उद्देश्य है। अन्य शब्दों में

स्वभावतः दुःखी मनुष्य कैसे सुखी बने ?, गीताशास्त्र इसी प्रश्न के समाधान को मुख्य उद्देश्य बना रहा है। मनुष्य दुःखी रहता है क्लेशचतुष्टयी से, सुखी बनता है भगचतुष्टयी से। चार क्लेशों से दुःख के कारण भी चार हैं चार भगों से सुख के कारण भी चार ही हैं। *भगसम्पत्तिप्राप्ति का प्रकार ही भगक्रिया है। भगवान्* ने क्योंकि इन चार भगक्रियाओं का विश्लेषण किया है, अतएव भगवदभिन्न यह क्रिया आगे जाकर 'भगवद्विद्या' नाम से प्रसिद्ध हो गई है। भगवदभिन्न क्रियाचतुष्टयी ज्ञानप्रमाण है। इस क्रिया के आधार पर प्रतिष्ठित कर्मप्रमाण ही अनुष्ठेय भगयोगचतुष्टयी है, जो भगवद्विषयक 'भगवद्योग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भगविद्या किंवा भगवद्विद्या ब्रह्मविद्या है, आत्मधर्मभेद से यह चार भागों में विभक्त हो रही है। भगयोग *किंवा भगवद्योग बुद्धियोग है। भगधर्मभेद से यह भी चार ही भागों में विभक्त हो रहा है।* सर्वाभ्यस्तलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित वैराग्यभगात्मक बुद्धियोगोदय से तदुपनिबन्धनी रागद्वेषलक्षणा आसक्ति नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। पराभ्यस्तलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानभगात्मक बुद्धियोगोदय से तदुपनिबन्धनी अज्ञानलक्षण मोह नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। परावराभ्यस्तलक्षणा भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्यभगात्मक बुद्धियोगोदय से तदुपनिबन्धनी अनैश्वर्यलक्षण अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। एवं अवराभ्यस्तलक्षणा *भगवद्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित धर्मभगात्मक बुद्धियोगोदय से तदुपनिबन्धनी* अधर्मलक्षण अभिनिवेश नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। ब्रह्मविद्याभिन्न भगवद्विद्या से अनुगत बुद्धियोगात्मक भगवद्योग का प्रतिपादन करने वाले सम्पूर्ण गीताशास्त्र का यही निष्कर्ष है।

१–सर्वाभ्यस्तलक्षणा भगवद्विद्या—तदनुगतः—वैराग्यभगोपेतो बुद्धियोगः—तत आसक्तिक्लेशनिवृत्तिः
२–पराभ्यस्तलक्षणा भगवद्विद्या—तदनुगतः—ज्ञानभगोपेतो बुद्धियोगः—ततः—मोहक्लेशनिवृत्तिः
३–परावराभ्यस्तलक्षणा भगवद्विद्या—तदनुगतः—ऐश्वर्यभगोपेतो बुद्धियोगः—ततः—अस्मिताक्लेशनिवृत्तिः
४–अवराभ्यस्तलक्षणा भगवद्विद्या—तदनुगतः—धर्मभगोपेतो बुद्धियोगः—ततः—अभिनिवेशक्लेशनिवृत्तिः

ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥
—वायुपुराणान्तर्गत–प्रक्रियापादे १।४।

८–वैराग्यानुबन्धी परित्याग का सहज स्वरूप दिग्दर्शन—

अभिनिवेशनिवर्तक धर्मबुद्धियोग, अस्मितानिवर्तक ऐश्वर्यबुद्धियोग एवं मोहनिवर्तक ज्ञानबुद्धियोग तीनों का पूर्व स्तम्भों में क्रमिक निरूपण किया जा चुका है। प्रस्तुत स्तम्भ में गीताशास्त्र की हृदयरूपा वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या का ही स्वरूपविश्लेषण अपेक्षित है। स्तम्भारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि, वैराग्यशब्द के प्रचलित कर्मत्याग–परिग्रहत्याग–संन्यास–इन अर्थों का गीता के वैराग्य शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु त्यागलक्षण वैराग्य का गीताशास्त्र में कामनापरित्याग–फलपरित्याग–आसक्तिपरित्याग–ही अर्थ है। परित्याग भी आसक्तिपूर्वक नहीं, अपितु सहजभाव से। विचार का भी समन्वय कीजिए कि, 'हमने आसक्ति छोड़ दी' यह कहने भर से ही आसक्ति छूट नहीं जाया करती। अन्तर्जगत् में महत्त्वाकांक्षा चल रही है और कह रहे हैं—आसक्ति छोड़ दी। ऐसा परित्याग ग्रहण से भी अधिक भयावह है।

जानबूझ कर-आसक्ति को दोष समझते हुए उससे घृणा करते हुए उसे छोड़ना तो एक प्रकार की द्वेषासक्ति ही है, जो रागासक्ति से भी कहीं भयङ्कर है। राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति ही आसक्तित्याग है। वह त्याग किया नहीं जा सकता अपितु वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान से स्वतः हो जाता है। कर्म्मबुद्धियोगनिरूपण में यह स्पष्ट किया गया है कि निष्कामकर्म्म योग किया नहीं जाता, अपितु वह प्रकृत्या स्वयं होता है। ठीक यही स्थिति आसक्ति-निवृत्ति की है। प्रकृति वैसी बन जानी चाहिए, जिस में न राग हो, न द्वेष हो। छोड़ दिया, छोड़ते हैं, छोड़ देंगे छोड़ना चाहिए, कहना तो त्याज्य विषय के प्रति आसक्ति (द्वेषासक्ति) प्रकट कर रहा है। 'त्याग' का लक्ष्य इसी लिए तो दुर्लभ बना हुआ है। ईश्वरवत् निर्लेप बन कर रागद्वेषात्मक सर्वविध प्रपञ्चों में लोकसंग्रहदृष्ट्या प्रवृत्त रहते हुए भी उनमें आसक्ति न रहे, यही आसक्ति का सहज त्याग है। साक्षीरूप से ईश्वर कहाँ नहीं है, सर्वत्र है। क्या वह लिप्त होजाता है ?। नहीं। क्यों ?, इसलिए कि वह समत्वलक्षण वैराग्ययोग में समवस्थित है। यही साक्षीस्थिति सहजपरित्याग का आधार बनती है। साक्षीस्थिति में प्रतिष्ठित होने के अनन्तर यथयावत् द्वन्द्वात्मक व्यामोह स्वतः निवृत्त होजाते हैं। कुछ न छोड़ना ही सब कुछ छोड़ना है, सब ही कुछ छोड़ देना ही सब कुछ ग्रहण कर लेना है, और यही त्याग तथा ग्रहण की वैज्ञानिक मीमांसा है। सर्वगुण ही तो निर्गुण कहलाता है, सर्वाकार ही तो निराकार माना गया है। 'यथान् स्वरूपमात्रस्ते तेन तेन स युज्यते' के अनुसार वह जिससे मिलता है, तद्रूप ही प्रतीत होने लगता है। यह सर्वरूपता ही उसकी नीरूपता है। विषय अनुभव से सम्बन्ध रखता है, शब्दद्वारा त्याग-ग्रहण की मीमांसा असम्भव है। जिस प्रकार एक विषयासक्त कामकामी संसारी विवाह करता है धनसञ्चय करता है, पुत्र कलत्र का अनुगमन करता है, लौकिक धर्म्मों में तल्लीन रहता है। क्या वैराग्यबुद्धियोगी इन सब प्रपञ्चों से दूर रहेगा ?। नहीं, वह भी संसारी की ही भाँति पूरा संसारी बना रहेगा। यही क्यों इसके सांसारिक कर्म्म तो ऐसे सुव्यवस्थित होंगे जिन्हें देख सुन कर संसारी भी चकित होजायगा। क्या यही वैराग्य है ?, हाँ, निश्चयेन गीताप्रतिपादित यही वैराग्य है, सहजत्याग है। सहजात्मक त्याग ही गीता का वास्तविक त्याग है। 'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि' कहने वाले भगवान् ने अपने जीवन से भी तो त्याग का यही स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। भगवान् ने कभी गृहस्थाश्रम का परित्याग नहीं किया, भगवान् ने कभी नारी को नरकद्वार नहीं बतलाया कभी कफनी धारण नहीं पहिना कभी तीर्थं तीर्थं कुटियों में निवास कर माला नहीं जपी, संसार को मिथ्या कहने वाले वेदान्तियों की भाँति प्रजा को कौपीनधारण का आदेशोपदेश नहीं दिया। अपितु भगवान् यावज्जीवन यथायथ्य-व्यवस्थित यही सब कुछ करते रहे, जो एक संसारी करता रहता है। पूर्णब्रह्मात्मसुन्दर भगवान् का लौकिक सुख था उनके पत्नी थी पुत्र थे कला थे सब कुछ था। यथानुगत सभी कुछ था। इन सब प्रपञ्चों में तन्मय रहते हुए भी भगवान् भगवान् थे। यही पूर्णग्रहणात्मक पूर्णपरित्याग का वह उत्तम उदाहरण है, जो स्वयं वैराग्यावतार पर घटित हुआ है। वेदान्ती क्या कहते हैं क्या करते हैं, इसका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा लक्ष्य है गीताशास्त्र। इसी के सम्बन्ध में हमें यह अन्वेषण करना है कि गीता वैराग्य के सम्बन्ध में क्या कहती है त्याग की क्या परिभाषा बतलाती है ?। एवं साथ ही वैराग्ययोगावतार गीताचार्य स्वयं क्या करते हैं ?। भगवान् के जीवन से तथा भगवदुपदेशामृत गीताशास्त्र से उभयथा यही प्रमाणित होता है कि असमाधिस्थित्यागपूर्वक सत्कर्म्मतत्पर ही गीता का वैराग्ययोग है जिसके स्पष्टीकरण के लिए दो वैराग्यबुद्धियोगानुगत यथार्थविधि प्रवृत्त हुए हैं एवं जिनकी अनुभूति के लिए निम्न लिखित देवियवचनों का सदा लक्ष्य में रखना आवश्यक है—

१–तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥
२–योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
—गीता ६।४६-४७

९–गीता के द्वारा संयोजिता योगत्रयी—

प्रथम अध्याय से आरम्भ कर ६ ठे अध्याय की समाप्ति पर्य्यन्त पूरे ६ अध्यायों में बुद्धियोगानुगता यथार्थविद्या का प्रतिपादन हुआ है। उक्त दोनों श्लोक ६ ठे अध्याय के अन्तिम श्लोक हैं। इन्हीं पर यथार्थविद्या का उपसंहार हुआ है। अतएव इनमें भगवान् ने यथार्थविद्या का निष्कर्ष रख दिया है। कर्मयोग भक्तियोग ज्ञानयोग, तीनों का क्रमशः वाक्-प्राण-मन -कलाओं से सम्बन्ध माना गया है। वाग्व्यापार 'श्रम' कहलाता है प्राणव्यापार 'तप' कहलाता है, मनोव्यापार 'काम' कहलाता है। वाङ्मय श्रम, प्राणमय तप और मनोमय काम (कामना इच्छा) ये तीनों मनःप्राणवाङ्मय सर्वो ही प्रजापति के सामान्य सृष्ट्यनुबन्ध माने गए हैं जैसा कि–'सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत सोऽकामयत' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। कर्मयोग प्रमाणभाव वाक् से सम्बद्ध रहता हुआ आधिभौतिक है। भक्तियोग तपोमय प्राण से सम्बद्ध रहता हुआ मध्यस्थ होने से उभयात्मक है। ज्ञानयोग कामनामय मन से युक्त रहता हुआ आधिदैविक है। तात्पर्य कहने का यही है कि, उभयात्मक भक्तियोग मध्यस्थ तपोमय प्राण के सम्बन्ध से 'तपोयोग' भी कहला सकता है। भगवान् ने इन तीनों प्राचीन योगों को लोकसंग्रहदृष्टि से बुद्धियोगलक्षण प्रदान करते हुए गीताशास्त्र में तीनों का संग्रह किया। वे ही संयोजित तीनों योग ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग
(भक्तियोग), कर्म्मबुद्धियोग (कर्म्मयोग) नामों से व्यवहृत हुए हैं।

१०–'तपस्विभ्योऽधिको योगी०' इत्यादि श्लोकसमन्वय—

वैराग्यबुद्धियोगानुगत 'योगी' नाम से ज्ञानबुद्धियोगाधिष्ठाता 'ज्ञानी' नाम से ऐश्वर्यबुद्धियोगाधिष्ठाता प्राणात्मक तपःसम्बन्ध से 'तपस्वी' नाम से एवं कर्म्मबुद्धियोगाधिष्ठाता 'कर्म्मी' नाम से व्यवहृत हुआ है। सिद्ध विषय है कि गीताप्रतिपादित चारों योगों में वैराग्ययोग भगवान् का अपना मत होने से सर्वश्रेष्ठ है। एवं शेष तीनों योग परमतों के संयोजितरूप होने से गौण हैं। योगत्रयात्मिका योगत्रयी के अनुगामी ज्ञानी-तपस्वी-कर्म्मी की अपेक्षा प्रधान वैराग्ययोगानुगामी योगी का ही सर्वश्रेष्ठत्व स्वतः सिद्ध है। प्रथम श्लोक से इसी स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् ने कहा है–योगी (वैराग्यबुद्धियोगानुगामी) ज्ञानी तपस्वी, कर्म्मी, तीनों से उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित है। अतः हे अर्जुन ! (तुम्हें मेरी दृष्टि से) योगी ही बनना चाहिए।

१–वैराग्यबुद्धियोगः——बुद्धियोगः (योगः)–तद्योगाधिष्ठाता–'योगी' (सर्वात्मयानुगतः)
२–ज्ञानबुद्धियोग ——ज्ञानयोग (ज्ञानम्)–तद्योगाधिष्ठाता– ज्ञानी' (मनोमयपरात्मयानुगतः)
३–ऐश्वर्यबुद्धियोगः——भक्तियोगः (तपः)–तद्योगाधिष्ठाता 'तपस्वी' (प्राणमयपरावरात्मयानुगतः)
४–कर्म्मबुद्धियोगः——कर्म्मयोगः (कर्म्म)–तद्योगाधिष्ठाता–'कर्म्मी' (वाङ्मयावरात्मयानुगतः)

———

११–ज्ञानयोग, और कर्मयोग के सापेक्ष गौण–मुख्य-भाव—

चारों में वैराग्यबुद्धियोगात्मक 'योग' सर्वश्रेष्ठ है चारों योगियों में वैराग्यबुद्धियोगात्मक योग का अनुष्ठाता योगी श्रेष्ठ है, यही प्रथम श्लोक का तात्पर्य है। इसी प्रसङ्ग में यह भी जान लेना चाहिए कि, संयोजित प्राचीनाभिमत योगत्रयी में कौन मुख्य है एवं कौन गौण है ?। ज्ञान–कर्मोभय समन्वय से यद्यपि तीनों ही योग समत्वलक्षण बुद्धियोग से युक्त रहते हुए समान श्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव तीनों समानरूप से उपादेय हैं। तथापि अध्यात्मविकास अनुष्ठानसौकर्य्य, लोकसंग्रह आदि विशेषताओं के तारतम्य से तीनों में प्रथम–मध्यम–उत्तम भेद से श्रेणिविभाग माना जा सकता है। पहिले कर्मबुद्धियोगलक्षण कर्मयोग एवं ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, इन दोनों की गौणमुख्यता का समन्वय कीजिए। यद्यपि परात्म्यानुगत ज्ञानयोग अपरात्म्यानुगत कर्मयोगापेक्षया अध्यात्मविकास की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है। अतएव केवल अध्यात्मदृष्ट्या कर्मयोगापेक्षया ज्ञानयोग प्रधान, साथ ही श्रेयःपन्था है। तथापि अनुष्ठानसौकर्य्यादि अन्य सभी दृष्टियों से ज्ञानयोग कर्मयोगापेक्षया गौण ही बन रहा है। परात्म्यानुगत अव्यक्तात्मा ही ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अव्यक्त के सम्बन्ध से परात्मा भी अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है। इस अव्यक्तभाव के कारण ज्ञानयोगानुगत कर्म भी अव्यक्त बना रहता है। लोकसंग्राहक व्यक्त–सांसारिक–कर्मों में कहने भर के लिए उद्योग रहता है। प्रधानदृष्टि अध्यात्मज्ञान पर ही निर्भर रहती है। परात्मा का सम्बन्ध अवश्य है परन्तु वह अव्यक्तावस्था में परिणत होने से अपने स्वाभाविक विकास से अभिभूत है। और इस दृष्टि से तो अध्यात्मदृष्ट्या भी वह ज्ञानयोग कर्मयोगापेक्षया गौण ही सिद्ध हो रहा है, जिस दृष्टि से पूर्व में हमनें इसे मुख्य बतलाया था। व्यक्त कर्मानुगामी मानव के लिए यह अव्यक्तभाव क्लेशसाध्य बना रहता है, जैसाकि–'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। ज्ञानमय अपने इसी अव्यक्तभाव से व्यक्त विषयपरायण मानव के लिए ज्ञानयोग दुर्गमपथ है–'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'। 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' कहते हुए भगवान् सिद्धिविघातक ज्ञानयोग में स्वयं ही अनुष्ठानसौकर्य्य का भी अभाव मान रहे हैं। अव्यक्त विषयाभाव, अनुष्ठानसौकर्य्याभाव, सर्वोपरि लोकसंग्रहाभाव, इन्हीं सब कारणों से कर्मयोगापेक्षया ज्ञानयोग अवरभूमि में प्रतिष्ठित हो रहा है। उधर कर्मयोग व्यक्त–अपरात्मा–के विकाससम्बन्ध से अनुष्ठानसौकर्य्य से एवं सर्वोपरि लोकसंग्रहभाव से ज्ञानयोगापेक्षया प्रधान बन रहा है। कर्मगर्भित ज्ञानयोग कर्मत्यागानुगत सन्यासपथ है, ज्ञानगर्भित कर्मयोग कर्मपरिग्रहानुगत संसारपथ है। सन्यासपथ में वैयक्तिक अभ्युदय का प्राधान्य है, संसारपथ में वैयक्तिक अभ्युदय के साथ साथ सर्वसाधारण का अभ्युदय भी सुरक्षित है। आत्ममुक्तिलक्षण निःश्रेयसभाव दोनों पथों में समानरूप से प्रतिष्ठित है। एक के भी अनुष्ठान से दोनों सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु लोकसंग्रहादि पूर्वोक्त विशेषताओं की दृष्टि से सांख्यापेक्षया (ज्ञानयोगापेक्षया) योगपथ (कर्मयोगपथ) ही प्रधान एवं श्रेयःपन्था है, जैसा कि निम्न लिखित भगवद्वचन से प्रमाणित है—

१–सांख्य–योगौ पृथग्–बाला प्रवदन्ति, न पण्डिता ।
एकमप्यास्थित सम्यक्–उभयोर्विन्दते फलम् ॥

२–यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति, स पश्यति ॥

३–संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

४–सन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥

१२–कर्म्मयोग, और भक्तियोग के सापेक्ष गौण–मुख्य–भाव—

अब ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग का समन्वय कीजिए। ज्ञानयोग में कर्म्म गर्भीभूत है, कर्म्मयोग में ज्ञान गर्भीभूत है किन्तु भक्तियोग में ज्ञान–कर्म्म–वैराग्यबुद्धियोगत्रयं समनुगत हैं। अतएव ज्ञान–कर्म्मयोगापेक्षया भक्तियोग समत्वलक्षण बुद्धियोगके अधिक सन्निकट माना जायगा। पराभक्त्यनुगत ज्ञानयोग अपराभक्त्यनुगत कर्म्मयोग दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित पराऽपराभक्त्यनुगत–महानात्माधारेण प्रतिष्ठित भक्तियोग वास्तव में मध्यस्थ हृदयभाव के सम्बन्ध से ज्ञान–कर्म्मोभययोगापेक्षया हृन्मूला समत्वसम्पत्ति से विशेषरूप से मुख्य माना जायगा। आधिदैविक पराभक्तिसम्पत्ति से इसे ज्ञानयोग माना जायगा आधिभौतिक अपराभक्तिसम्पत्ति से इसे कर्म्मयोग कहा जायगा अतएव इस मध्यस्थ भक्तियोग के सम्बन्ध में–'एकमप्यास्थितः सम्यग्–उभयोर्विन्दते फलम्' सर्वात्मना चरितार्थ माना जायगा। विश्वरूपदर्शनपराऽपरोपलब्धि * इस भक्तियोगानुगत कर्म्म में कर्म्मयोगवत् आत्मविकास, अनुष्ठानलोकसंग्रहादि विशेषताएँ तो हैं हीं, इसके अतिरिक्त इसमें आत्मस्वरूपसमर्पणमूलक वह प्रपत्तियुक्त भी विकसित रहता है जिसका ज्ञान, तथा कर्म्मयोग में अभाव है। इसके अतिरिक्त जैसे शास्त्रीय ज्ञानयोग (संन्यास), तथा शास्त्रीय कर्म्मयोग (यज्ञादिकर्म्म) का अधिकार केवल सत्त्वगुणरजोगुणयुक्त उत्तमयोनियों (द्विजातिवर्ग) का ही है वैसे भक्तियोग में कोई अपेक्षा नहीं है। आत्मसमर्पणलक्षणा भक्ति का सब को समानाधिकार है। पापयोनियाँ भी इससे मुक्त हो जाती हैं +। समत्वलक्षण बुद्धियोग (वैराग्यबुद्धियोग) के सन्निकट रहने वाला समत्वलक्षण भक्तियोग ज्ञानकर्म्मयोगापेक्षया बुद्धियोग से शीघ्र

---

*–भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥
—गी॰११।५४

+–मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
—गी ९।३२

युक्त हो जाता है = । इन्हीं सब कारणों से हम भक्तियोग को कर्म्मयोगापेक्षया प्रधान, एवं श्रेयरूपन्या मानने के लिए स्वतन्त्र हैं । इसप्रकार सर्वश्रेष्ठ-सर्वश्रेष्ठ-सर्वाव्ययानुगत वैराग्यबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से दूसरा स्थान परावराव्ययानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक भक्तियोग का, तीसरा स्थान अवराव्ययानुगत कर्म्मबुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग का, एवं चौथा स्थान पराव्ययानुगत ज्ञानबुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग का सिद्ध हो जाता है । इसी से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, ज्ञानी की अपेक्षा कर्म्मी श्रेष्ठ है तदपेक्षया तपस्वी (भक्त) श्रेष्ठ है, एवं सर्वापेक्षया योगी श्रेष्ठ है । ज्ञानयोग प्रथम स्थान है कर्म्मयोग मध्यम स्थान है भक्तियोग उत्तम स्थान है एवं बुद्धियोग स्थानातीत है । परन्तु ध्यान रहे, यह गौण-मुख्यभाव संशोधिता मोक्षमयी से ही सम्बन्ध रखता है । प्राचीनाभिमत काम्यकर्म्मयोग साम्प्रदायिक भक्तियोग, एवं कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग तो गीता से सर्वथा बहिष्कृत ही हैं । इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर गीतानुगता योगचतुष्टयी के श्रेष्ठि-विभागों का समन्वय करना चाहिए ।

१-सर्वाव्ययानुगतो बुद्धियोग (वैराग्यबुद्धियोगः)-सर्वश्रेष्ठ-श्रेष्ठः

२-परावराव्ययानुगतो भक्तियोग (ऐश्वर्य्यबुद्धियोग)-उत्तमः

३-अवराव्ययानुगत कर्म्मयोगः (कर्म्मबुद्धियोगः)-मध्यमः

४-पराव्ययानुगतो ज्ञानयोग (ज्ञानबुद्धियोगः)-प्रथमः



१३-भूमोदर्क, चीयोदर्क, एवं तदनुगत मन्मना-उन्मनाभाव—

'तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' इत्यादि श्लोक से भगवान् ने यह सिद्ध किया कि, योगी (वैराग्यबुद्धियोगी) का स्थान सर्वोच्च है । इसके आगे ही-'योगिनामपि सर्वेषाम्' यह श्लोक पठित है । भगवान् कहते हैं-'सम्पूर्ण योगियों में भी जो योगी मद्गत अन्तरात्मा से श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है वह योगी मेरी दृष्टि में युक्ततम है'। इस कथन से यही ध्वनि निकल रही है कि, स्वयं वैराग्यबुद्धियोग में भी श्रेष्ठिविभाग प्रतिष्ठित है । दूसरे शब्दों में वैराग्यबुद्धियोग भी दो भागों में विभक्त है । प्रश्न स्वाभाविक बन जाता है कि उन दोनों वैराग्यबुद्धियोगों में क्या अन्तर है ? । प्रश्न-समाधान के लिए वैराग्यधिष्ठाता अव्यय के 'उन्मना, मन्मना' नाम के दो विवर्तों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । भूमोदर्क चीयोदर्क नामक दो पारिभाषिक शब्द क्रमशः उन्मना मन्मना-भावों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । यही अव्ययात्मा प्रकृति के द्वारा विश्वरूप बना है, यह भूमादृष्टि है, जिसका-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि तैत्तिरीय-श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है । वही यह सब कुछ बना है इसका तात्पर्य्य है-वही सब कुछ है । सब में वही है

=-तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गी० १।१०।

बन रही है। यही भूमादृष्टि है एवं इस दृष्टि का अनुयायी योगी परिणाम में भूमाभाव को ही प्राप्त करता है। इसी भूमापरिणाम के लिए 'भूमोदर्क' (उदर्क—परिणाम) शब्द व्यवहृत हुआ है। भूमानुगत योगी का अव्ययात्मा ही सृष्टव्याज से 'मन्मना' कहलाता है। यह अव्ययात्मा प्रकृति के द्वारा सब कुछ उत्पन्न कर सब से असङ्ग है पृथक् है यही धीरादृष्टि है, जिसका—'भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' इत्यादि श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। यही उत्तम आलम्बन है जिसका तात्पर्य यही है कि उसके आधार पर सब कुछ प्रतिष्ठित अवश्य है, परन्तु वह स्वयं इन सब से पृथक् है। यही धीरादृष्टि है एवं इस दृष्टि का अनुगामी योगी परिणाम में धीराभाव को ही प्राप्त करता है। इसी धीरापरिणाम के लिए 'धीरोदर्क' शब्द व्यवहृत हुआ है। धीरानुगत योगी का अव्ययात्मा ही उद्गमव्याज से 'उन्मना' कहलाता है।

१४—मन्मना अव्यय, और उन्मना अव्यय—

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। पाषाण—लोष्ट—काञ्चन—सब कुछ यही है, इस व्यापक भावना से सब—सब में—उसके अव्ययभाव समझना 'मन्मनाभाव' है। 'सब कुछ यद्यपि उसीमें है परन्तु वह किसी में नहीं है—(न त्वहं तेषु ते मयि) इस भावना से उसे सब से पृथक् समझना उन्मनाभाव है। अव्ययात्मा लोकवेदसम्मत नाम से प्रसिद्ध है। इस अव्ययात्मा की सर्वानुगता दृष्टि से यह अव्ययात्मा 'मन्मना' बन जाता है। एवं अव्ययात्मा की सर्वातीतगता दृष्टि से यही अव्ययात्मा 'उन्मना' बन जाता है। सांसारिक प्रपञ्चविरहित विशुद्ध अव्ययात्मा उन्मना है, सांसारिकप्रपञ्चयुक्त अव्ययात्मा मन्मना है। मन्मना अव्यय 'जगदात्मा सर्वेश्वर' है, उन्मना अव्यय 'विशुद्धात्मा ईश्वर' है। लोकसापेक्ष्य, निरपेक्ष्य, भेद से एक ही अव्ययात्मा के दो विभिन्न विवर्त हो जाते हैं। लोकसापेक्ष्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग मन्मनायोग है यही भूमोदर्कलक्षणा परमुक्ति का कारण बनता है जो भूमोदर्कमुक्ति 'सायुज्य' नाम से व्यवहृत हुई है एवं जो इसी जीवन में प्राप्त हो जाती है जिसे गीता ने 'विदेहमुक्ति' कहा है। निरपेक्ष्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग उन्मनायोग है, यही धीरोदर्कलक्षणा परमुक्ति का कारण बनता है जो धीरोदर्कमुक्ति 'कैवल्य' नाम से व्यवहृत हुई है जो क्रममुक्ति मानी गई है, एवं जिसके लिए—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। गीता में अव्ययात्मा के इन दोनों विवर्तों का यत्र तत्र पर्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है जैसाकि निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट है।

१—मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७।७॥
२—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना
मत्स्थानि सर्वभूतानि
॥गीता ९।४॥

—मन्मनाव्ययः

३–न चाहं तेष्ववस्थित

—गीता ९।४।

४–न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्

—गीता ९।५।

—उन्मनाव्यय

५–भूतभृन्

गीता ९।५।

—उन्मनाव्यय

६–न च भूतस्थ

—गीता ९।५।

—उन्मनाव्ययः

७–ममात्मा भूतभावनः

—गीता ९।५।

—उन्मनाव्ययः

८–गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

—गीता ९।१८

९–उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

—उन्मनाव्यय

१०–यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

—गीता १३।३०

—उन्मनाव्ययः

११-यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ —गीता ८।२२।	—मन्मनाव्ययः
१२-बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ —गीता ७।१९।	—उन्मनाव्ययः
१३-वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ —गीता ७।१९।	—मन्मनाव्ययः
१४-सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ —गीता ६।३१।	—उन्मनाव्ययः
१५-आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ —गीता ६।३२।	—मन्मनाव्ययः

—※—

१५-उन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण—

उन्मनाव्यय एवं मन्मनाव्यय, दोनों के स्पष्ट बोध के लिए हमें दो योगियों का उदाहरण बनाना पड़ेगा। किसी जनपदवासी नगर में अवस्था कर लीजिए दो बुद्धियोगी निवास करते हैं। दोनों ही लोकसंग्रहक कर्मों में पूर्ण उत्साह प्रदान कर रहे हैं। दोनों ही शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमानुरूप कर्त्तव्यकर्मों का फला-सक्तिपरित्यागपूर्वक अनुगमन कर रहे हैं, और यहाँ तक दोनों समान धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु इनों के बाह्य वातावरणों में जीवनचर्याओं में हम विभेद पाते हैं। एक योगी पुरुष संसार में

ही है, वह गृहस्थी भी है, यथावत् पारिवारिक स्थितियों का सुव्यवस्थित रूप से चला भी रहा है, लोककार्यों में भी भाग लेता है। परन्तु देखते हैं–उसका बाह्य वातावरण गम्भीर बना हुआ है। उदासीनभाव से ही वह सबका अनुगमन कर रहा है। सामान्य वेशभूषा साधारण भोजन, अतिशय मौनावलम्ब, और इन उदासीनताओं को आगे कर सांसारिक कर्म कलापों में प्रवृत्ति, यही इस योगी का बाह्य वातावरण है। अनुमान लगाने वाले जान लेते हैं कि यह योगी करता सब कुछ है सहयोग सब में प्रदान करता है, परन्तु वस्तुतः इन सब प्रपञ्चों में इसका मोह नहीं है। ऐसा योगी यद्यपि स्वयं सबके सम्पर्क में यथासमय आता रहता है, परन्तु जन साधारण अपनी ओर से इस योगी के बाह्य–उदासीन वातावरण से सम्पर्क रखने में घबराते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र से निर्भय बन कर परामर्श करने में समर्थ हो जाता है, वैसे इस योगी के सम्पर्क में जनसाधारण के पहुँचने का साहस नहीं होता। 'क्या कहेंगे, क्या समझेंगे' इस भय से एवंविध योगी लोकसंग्राहक बनता हुआ भी जनसाधारण के लिए एक जटिल समस्या बना रहता है। ऐसा योगी ही 'उदासीनवदासीन उन्मनायोगी' कहलाएगा। उन्मनाव्यक्तलक्षण विशुद्धात्मभावना को लक्ष्य बनाने से ही ऐसे योगी का बाह्य वातावरण ऐसा रूक्ष बना रहता है।

१६–मन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण–

अब दूसरे योगी के सम्पर्क में आइए। वह भी संसारी है, गृहस्थी है, मन्यग्राहक अनुचर, मित्र वाहन, आदि आदि सम्पूर्ण लोकवैभव उसके पास विद्यमान हैं। वह सुन्दर से सुन्दर वेशभूषा धारण करता है, सर्वोत्तम सुस्वादु भोजन करता है, सबसे प्रसन्नतापूर्वक मिलता जुलता है, मित्रगोष्ठियों में सोत्साह भाग लेता है मनोविनोदात्मिका क्रीड़ाओं का अनुगामी बना रहता है, बच्चों से हँसता खेलता है। तात्पर्य, इसका बाह्य वातावरण सर्वथा संसारानुगत बना रहता है। सर्वसाधारण समझते हैं–यह हमारे ही जैसा व्यक्ति है। उदासीनयोगी का गम्भीर वातावरण जनसाधारण को उसके आभ्यन्तरस्वरूप से अपरिचित रखता है। आप उसे पहिचान नहीं सकते। उसका बाह्य वातावरण उसके वास्तविक स्वरूप को ढँके रहता है। किन्तु आप इसे अपने समान ही एक संसारी व्यक्ति समझते हैं अपने से भी अधिक प्रपञ्ची। आपकी इस समझ से उसकी कोई हानि नहीं होती, आपका लाभ अवश्य हो जाता है। आप उससे भय नहीं करते, वह आपके लिए महत्व (मैहमा) नहीं रखता। उसके सम्पर्क से आप में कर्मविश्वास समाविष्ट हो जाता है। वह आप में बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करता आपको, आपके कर्म्म को हीन नहीं करता। प्रत्येक कर्म्म के लिए 'बहुत अच्छा' कहता हुआ वह आप में घुल मिल जाता है। और इसप्रकार वह आपके निश्छल सम्पर्क में आकर क्रम क्रमशः आपका उद्बोधन करा देता है। उसे कोई नहीं जानता वह सबको जानता है। वह आप सब में है आप सब उसमें नहीं है 'न त्वहं तेषु, ते मयि'। आप सभी जैसा प्रतीत होने वाला वह कब क्या लोकोपकार कर देता है! यह आपको तब विदित होता है जबकि फल आपके सम्मुख आता है। सर्वथा अज्ञातरूपा में रहने वाला सामान्य संसारी प्रतीत होने वाला ऐसा योगी ही 'मन्मना' कहलाता है। सर्वेश्वरानुगत वैराग्यबुद्धियोग ही इसकी प्रतिष्ठा बना रहता है। मन्मनाव्यक्तलक्षण सर्वात्मा को लक्ष्य बनाने से ही एवंविध योगी का बाह्य–वातावरण ऐसा स्निग्ध बना रहता है। आप यह जान नहीं सकते कि, यह अमुक काम किस दृष्टि से कर रहा है?। यदि यह उच्च श्रेणि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है तो इसमें भी लोकसंग्रह निहित है। यदि निम्न श्रेणि के व्यक्तियों के सम्पर्क में आप उसे देखते हैं तो विश्वास कीजिए, इसमें भी लोक का अभ्युदय ही निहित है। सावधान! कहीं आप से इस सम्बन्ध में भूल न हो जाय। इससे आप उसके अनुग्रह से वञ्चित

पढ़ जायेंगे। महाभारतयुग में पवित्र भारतभूमि को सौभाग्य से ऐसा ही योगी मिला। मानवस्वभाव की कौन कहे, ब्रह्मादि देव भी व्यामोह में पड़ गए। किसी ने उसे अपना लाडला पुत्र समझा, किसी ने अपना सखा माना तो दुर्बुद्धि दुर्योधनादि के लिए वह एक सामान्य मनुष्य ही बना रहा। उस युग में यदि सर्वात्मना किसी ने समझा तो थे वे एकमात्र कुरुकुलपितामह महात्मा भीष्म। स्वयं भीष्म के शब्दों में ही उस योगी का स्वरूपपरिचय प्राप्त करना चाहिए–'नाहं तं न वेद्मि' इत्यादि महाभारतसन्दर्भ से।

१७–'योगिनामपि सर्वेषाम्०' इत्यादि श्लोकसमन्वय–

हाँ तो प्रकृत विषय का समन्वय कीजिए। उन्मना योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुगामी योगी है, एवं मन्मना योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुगामी योगी है। एक (उन्मना) मानव ब्रह्मानुगत प्रज्ञानुगत से वञ्चित रहता हुआ योग मार्ग में प्रवृत्त हुआ है। दूसरा (मन्मना)–मद्गतान्तरात्मा श्रद्धावान् बना हुआ सब में पूर्ण मिल रहा है। उन्मनायोगी का वैराग्ययोग एक प्रकार से अव्यक्त ज्ञाननिष्ठा से समनुगत है। मन्मनायोगी का वैराग्ययोग अपने अव्ययस्वरूप से सर्वात्मना विकसित है। अतएव इन दोनों योगों में मन्मनायोग ही श्रेष्ठतम माना जायगा। एवं दोनों योगियों में मन्मनायोगी का स्थान ही सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। 'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी योगी का स्पष्टीकरण हुआ है। ईश्वरोपासनानुगत उन्मनाब्रह्मात्मक–ईश्वरप्रत्ययानुगत–वैराग्ययोगी केवल 'योगी' कहलाएगा (६।११), एवं भूमोपासनानुगत मन्मनाब्रह्मात्मक–सर्वात्मानुगत वैराग्ययोगी 'परमयोगी' कहलाएगा (६।१२)। 'तपस्विभ्योऽधिको योगी' इत्यादि पूर्व श्लोक में उन्मना वैराग्ययोगी का प्रतिपादन हुआ है। एवं–'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि उत्तर श्लोक में मन्मना योगी के स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है। इस दृष्टि से–'मन्मना भव' आदेशसिद्ध सर्वात्मानुगत ब्रह्मानुगत वैराग्यबुद्धियोग ही गीता का मुख्य सिद्धान्त बन रहा है जिसके स्वरूपपरिचय के लिए तदुपयोगिनी भावस्थिति का स्वरूपपरिचय ही अपेक्षित है।

१८–दुःखमूला आत्मदोषपरम्परा–

आत्मस्वरूपपूर्वक सर्वात्मभाव ही गीता का वैराग्यबुद्धियोग है। इस सम्बन्ध में वैराग्यबुद्धियोगानुगत उन्मना–मन्मना–विवर्तों की तात्त्विक मीमांसा की गई। अब मुख्य विषयीभूत वैराग्य–और भावस्थिति नामक प्रतिद्वन्द्वियों के वैज्ञानिकस्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दुःखनिवृत्ति का कारण है क्लेशनिवृत्ति। क्योंकि राग–अस्मिता–अविद्या–अभिनिवेश इन चार क्लेशों से ही दुःख का आगमन होता है। क्लेशनिवृत्तिपूर्वक दुःख की निवृत्ति कराने वाले बुद्धियोगात्मक गीताशास्त्र ने दुःख का विश्लेषण करते हुए आत्मविरोधी आवरणों को हमारे सम्मुख रक्खा है जो आवरण अनेक भावों में विभक्त माने गए हैं। मातृक, पैतृक, आत्मज, आदि विविध मलभिन्न आवरण ही क्लेश हैं। क्लेश ही आत्मविप्रकर्षणप्रद आवरणों का परिभव करते हुए आत्मदुःख के कारण बनते हैं। आत्मप्रकाश आवरणमलों को यदि 'आत्मदुःख' कहा जा सकता है तो क्लेशात्मक आवरणों को 'आत्मदोष' कहा जा सकता है। विचार कीजिए, भारतीय भूतात्मा किन किन दोषों से युक्त हो कर भवपथ पर अवतीर्ण होता है?

जाति, आयु, भोग, तीनों विविध जन्मान्तरीय संचित कर्मफलानुगत प्रारब्ध कर्म (संस्कार) से सम्बन्ध रखते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्णजातियाँ एवं अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ, ये चार

अष्टधा जातियाँ जातिपरिग्रह में अन्तर्भूत हैं । जन्मान्तरीय सञ्चित शुभा-शुभ संस्कार के प्रारब्ध संस्कारानुसार ही इन आठों जातियों में से किसी एक जाति (वर्णावर्ण) में प्राणी को जन्म लेना पड़ता है । सर्वव्यापक परमात्मा का अंशभूत, अतएव तदभिन्न योगमायावच्छिन्न जीवात्मा का सांस्कारिक कर्मवशात् जातिबन्धन में आकर सीमित हो जाना अपरिच्छिन्न आत्मा का परिच्छिन्न बन जाना ही इस आत्मा का सर्वप्रधान अविद्या-नामक (अविद्यासंस्काररूपा अविद्या नामक) प्रथम आत्मदोष है । जिन प्रारब्ध कर्मों की सामर्थ्य प्रेरणा से जीवात्मा जिस योनि में जन्म लेता है, वे प्रारब्धकर्म ही स्वस्वरूपानुसार तद्योनियुक्त जीवात्मा के अनुकूल प्रतिकूल भोगसंग्रह के कारण बनते हुए अनुकूल संस्कारानुगत अनुकूल वेदनात्मक सुख प्रतिकूल संस्कारानुगत प्रतिकूल वेदनात्मक दुःख इस सुख-दुःखद्वन्द्व के कारण बने रहते हैं । कभी सुख कभी दुःख कभी प्रसाद, कभी हास, कभी क्रन्दन, कभी रुदन, इस द्वन्द्वाक्रमण से आत्मा की स्वाभाविक शान्ति अभिभूत रहती है । आत्मा कभी हर्षातिरेक से क्षुब्ध बना रहता है कभी दुःखातिरेक से अवसन्न बना रहता है । सांस्कारिक, भोगानुगत प्रारब्ध कर्मों की सामर्थ्य प्रेरणा से इच्छा न रहते हुए भी जीवात्मा को–'अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः' के अनुसार बाध्य बन कर इन भोगात्मक द्वन्द्वभावों का अनुगामी बना रहना पड़ता है और यही दूसरा आत्मदोष है । जनक के सौम्य शुक्र, और जननी के आग्नेय शोणित, दोनों के मिथुनभाव में प्रविष्ट हो कर गर्भीभूत होने वाला औपपातिक जीवात्मा अतिशय दुःखमय गर्भाशयस्थल में नवमास पर्यन्त प्रतिष्ठित रहता है । कहते हैं, यदि जीवनदशा में प्राणी को उस दशा का स्मरण भी हो जाय, तो इस भय से इसके प्राण ही उत्क्रान्त हो जाय । 'मा देहि राम ! जननीजठरे निवासम्' प्रसिद्ध ही है । गर्भाशयस्थल के द्वारा नियन्त्रित होना तीसरा आत्मदोष है ।

अग्नीषोमादि बीजसूत्रों से सम्बन्ध रखने वाले कुलक्रमानुगत शुक्रदोष पितृदोष कहलाए हैं शोणित-दोष मातृदोष कहलाए हैं । माता-पिता के शुक्र-शोणित के प्रवर्ग्यभाग से कृतशरीरी जीवात्मा शुक्र-शोणित-जनित दाम्पत्यिक दोषों से भी अपने आपको नहीं बचा सकता । अन्तरिक्षीय महत्संस्था का भूगोलीय पार्थिव संस्था में रहने वाला स्वाभाविक योग ही ज्योतिष शास्त्र में 'लग्न' कहलाता है । इस लग्न से सम्बद्ध आकाश मण्डल ही विज्ञानभाषा में 'अयनपरिक्रोडी' कहलाई है । अयनपरिक्रोडी के केन्द्र का ही नाम 'लग्न' है । इस लग्नात्मक केन्द्र से सम्बद्ध आकाश में जिस आयुर्, जैसे भी ग्रह-नक्षत्रों का व्यत्यय में (गर्भाधान-काल में) जैसा भी योग रहता है तद् लग्न में गर्भाशय में प्रविष्ट होने वाले जीवात्मा में तद् क्रमानुसार ग्रहभावों का भी समन्वय होता है । यही प्राकृतिक दोष माना गया है । इसी को 'कालदोष' कहा गया है । नाडीदोष का भी इसी में अन्तर्भाव माना गया है । जिस पार्थिव भाग से प्राणी का शरीर पुष्ट-परिवर्द्धित होता है वह पार्थिव तत्त्व भी अपने गुण-धर्मों से इसका आधार बनता है यही 'देशदोष' कहलाया है । साथ ही तद्देशीय मानवस्वभाव की वर्तमान परिस्थिति से सम्बन्ध रखने वाले गुण दोष भी इसके प्रतिबिम्ब बने बिना नहीं रहते, जिनका देशदोष में ही अन्तर्भाव माना जायगा । आर्थिक परिस्थिति के अनुरूप प्राप्त होने वाला न्याययुक्त अन्न से गर्भाशय में परिपुष्ट प्राणी इस अन्नदोष से भी युक्त बना रहता है । शिक्षानुगत गुण-दोष भी इसके आवरक बने रहते हैं । इसप्रकार प्रारब्धकर्मजनित जन्मदोष (सीमादोष), आवरणदोष (जातिदोष) द्वन्द्वानुभूतिदोष, मातृदोष, पितृदोष ग्रहदोष, देशदोष अन्नदोष, शिक्षादोष आदि आदि अनेक दोषपरिग्रहों से युक्त हो कर ही कर्मभोक्ता (सांस्कारिक कर्मफलभोक्ता) प्राणी धरातल पर अवतीर्ण होता है ।

प्रारब्धकर्मजनित दोषों के कुफल तो इसे अनिवार्यरूप से भोगने ही पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त इस वर्तमान जन्म में यह अपने इन्द्रियदोषात्मक प्रज्ञापराधमूलक हीन–अति–मिथ्या–योगलक्षण प्रयोगों से अन्यान्य आवरणों का भी प्रवर्तक बन जाता है। पूर्व परम्परा का अवसान होने नहीं पाता उत्तर परम्परा उपस्थित हो जाती है। इसप्रकार असत्प्रेमादिगर्भित संचित संस्कारदोष तथा क्रियमाणसंस्कारदोष इन उभयविध दोषों से जीवात्मा के साक्षीभूत सत्यमात्मा की स्वाभाविक भगवत्सम्पत्ति आवृत हो जाती है। आत्मविकासलक्षणा भगवत्सम्पत्ति ही विद्यासम्पत्ति है। एवं आत्मसंकोचलक्षणा क्लेशसम्पत्ति ही अविद्यासम्पत्ति है। विद्यासम्पत्ति जहाँ आत्मशान्ति का मूल है वहाँ अविद्यासम्पत्ति आत्मक्रान्ति का मूल है। और इसप्रकार स्वयं कृत्रिम–दोषात्मक अविद्यादोष से मानव दुःखभाजन बना रहता है जिस दुःखानुभूति का मूल आधार रागद्वेषात्मक आसक्ति ही मानी गई है जिस राग द्वेष का निम्न लिखित निर्वचन किया जा सकता है।

१६–आसञ्जन, और आसक्ति–

सुप्रसिद्ध 'आसञ्जन' तत्त्व ही 'आसक्ति' है। आत्मा का प्रज्ञान मन के द्वारा विषय के साथ बद्ध हो जाना ही आसक्ति है। आसक्ति एक प्रकार का स्नेहतत्त्व (गोंद, श्लेष,) है। जो आत्मा को इतर विषयों के साथ चिपका देने वाला स्नेहतत्त्वविशेष ही आसक्ति है। आत्मा का मनो द्वारा विषय में बद्ध हो जाना लोकभाषा में 'मन का लगना' कहलाता है। विषय में मन का लगा रहना ही आसक्ति है। विषय के साथ होने वाला यह आसक्तियोग (मन का लगाव) अनुकूलयोग प्रतिकूलयोग, भेद से दो मार्गों में विभक्त माना गया है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा है दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व की ओर आ रहा है। दोनों व्यक्तियों का समसम्मुख–सम्बन्ध हो रहा है। इस समसम्मुख सम्बन्ध से दोनों के मुखाग्निमुख आग्नेय विद्युत् परस्पर एक दूसरे में संक्रान्त हो जाते हैं। उसकी विद्युत् इसमें इसकी विद्युत् उसमें प्रतिष्ठित हो जाती है। उभय सम्बन्धात्मक यह विद्युत् संक्रमण ही आसक्ति है, मन का लगाव है। कैसी आसक्ति !, कैसा लगाव ! समसम्मुख सम्बन्धानुगता अनुकूला आसक्ति, अनुकूल लगाव।

२० राग का तात्त्विक निर्वचन–

दोनों के शरीर पृथक् पृथक् हैं। शरीर नहीं मिल रहे, फिर सम्बन्ध हो रहा है। दोनों समान लक्ष्यानुगामी बने हुए हैं। इसी अनुकूलासक्ति को, अनुकूल लगाव को वैज्ञानिकों ने—'राग' नाम से व्यवहृत किया है। 'राग' शब्द में रकार' 'गकार ये दो (र–ग) अक्षर हैं। 'र' का अर्थ है 'दान' (देना), 'ग' का अर्थ है–'गति' (जाना)। 'रा' धातु दानार्थक है ('रा' दाने)। 'गम्' धातु गत्यर्थक है। दान, और गति, दोनों व्यापारों के समन्वितरूप का ही नाम 'राग' है। रात्–ददत्–गच्छति इति रागः' राग शब्द का यही तात्त्विक निर्वचन है। अपनी सम्पत्ति देते हुए सम्मुखावस्थित विषय की ओर जाना, प्रवृत्त होना ही 'राग' का तत्त्वार्थ है। यह अपनी विद्युत् उसमें देता हुआ उसका अनुगामी बन रहा है। वह अपनी विद्युत् इसमें देता हुआ इसका अनुगामी बना हुआ है। सिद्ध है कि, राग सदा दो वस्तुओं के समसम्मुख को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। राग त्रिविध बन कर ही स्वस्वरूप से विकसित होता है। 'रञ्जनं रागः–रज्यतेऽनेनेति रागः' निर्वचन भी प्रसिद्ध है। अनुकूलविषयरूपः अनुकूलविषयगामः, एवं अनुकूलव्यवहार सर्वथा तीनों ही अनुकूला आसक्तियाँ राग में अन्तर्भूत हैं।

२१-द्वेष का तात्त्विक निर्वचन—

राग से ठीक विपरीत 'द्वेष' भाव है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम उलटे पाँव जा रहा है, दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व उलटे पाँव आ रहा है। इस विपरीत गति से दोनों का मध्य स्थान में सम्पर्क हो जाता है। दोनों के पृष्ठभाग (पीठ) मिल जाते हैं। पृष्ठभाग अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु दृष्टि दोनों की सर्वथा विभिन्न रहती है। एक पूर्व की ओर देख रहा है, तो दूसरा पश्चिम की ओर देख रहा है। शरीर मिले हुए हैं, दृष्टि सर्वथा विभिन्न है, यही विपरीतयोग प्रतिकूलासक्ति है, यही प्रतिकूलासक्ति 'द्वेष' है। निरुक्त्यनुसार 'द्वेष' में 'दुर्-एषा' ये दो विभाग हैं। 'दुर्' शब्द दुर्भाव का सूचक है, 'एषा' शब्द इच्छाभाव का सूचक है। दुष्ट इच्छा, विपरीत इच्छा, विपरीत विषयासक्ति ही द्वेष है। 'मवेदर्णागमात्' न्याय से 'दुर्' के रकार का लोप हो जाने से सम्प्रदाय द्वेष शब्द सम्पन्न हुआ है। राग में यदि आत्मसमर्पण करते हुए विषय के साथ योग है, तो द्वेष में विषय से हटते हुए विषय के साथ योग है। आत्मयोग जितना राग में है, उतना ही द्वेष में है। नहीं क्यों, रागापेक्षया द्वेष में आत्मयोग दृढमूल बना रहता है।

रज्जु की सीधी ग्रन्थि (गाँठ) राग है विपरीत (उलटी) ग्रन्थि द्वेष है। सीधी गाँठ की अपेक्षा उलटी गाँठ का बन्धन अधिक दृढ होता है। राग में शरीर नहीं मिलते, दृष्टि मिलती है। द्वेष में दृष्टि नहीं मिलती, शरीर मिलते हैं। राग में आप दोनों अपने शरीर से पृथक् पृथक् प्रदेशों में खड़े हुए हैं। परन्तु आप उसे देख रहे हैं, वह आपको देख रहा है। दोनों का दृष्टिपरायण सम बना हुआ है। दोनों का सहयोग हो रहा है। शरीर से पृथक् स्थिति, किन्तु लक्ष्य एक यही रागोदाहरण है। आप उलटा मुँह करके खड़े हो गए, पीठ से पीठ मिला दी। शरीरापेक्षया आप मिल गए, परन्तु दृष्टियाँ सर्वथा विभिन्न हो गई। शरीर मिल रहे हैं परन्तु लक्ष्य सर्वथा विदूर हो गए हैं। सहयोग में असहयोग हो रहा है सम्बन्ध में असम्बन्ध हो रहा है आन्तर्य में अनान्तर्य हो रहा है, मेल में बेमेल पनप रहा है। शरीरों से समानस्थिति, किन्तु लक्ष्य विभिन्न, यही द्वेषोदाहरण है। राग में विषयागमनपूर्वक बन्धन है द्वेष में विषयगमनपूर्वक बन्धन है। सर्प, सिंह हिंसक सिंह-शत्रु आदि प्राणी, दुष्ट नर, आदि विषयों से हम बचते रहते हैं, इनसे विदूर रहना चाहते हैं, परन्तु इनके आकार से मन आक्रान्त बना रहता है। राग में विषय का सम्बन्ध है, द्वेष में विषयसंस्कार का सम्बन्ध है। विषयसम्बन्ध ऐन्द्रियक है संस्कारसम्बन्ध मानसिक है। इन्द्रियापेक्षया मन अधिक शक्तिशाली है। अतएव इन्द्रियानुगत रागात्मक विषयबन्धनापेक्षया मनोऽनुगत द्वेषात्मक संस्कारबन्धन अधिक दृढ बना रहता है।

२२-रागद्वेष के अनुकूल प्रतिकूल भाव—

जिस विषय से राग हो जाता है, जिससे आप राग रखते हैं वह विषय सदा आँखों में समाया रहता है। * बारबार मन उस ओर अनुधावन करता रहता है। जिस विषय के साथ संस्काररूप से द्वेष होता है वह विषय भी सदा आँखों में घूमा करता है। द्वेषात्मक दुःखानुयायी रागापेक्षया दुःखानुयायी द्वेषबन्धन अधिक दृढ होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, आप कभी मित्र को भूल सकते हैं, परन्तु शत्रु कभी नहीं

* "ओकःसारी वा इन्द्रः। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, एव तत्रापरं गच्छति"।

भुलाना या समझना। भुलाना चाहते हैं परन्तु वह भुलाना नहीं जानता। मानना पड़ेगा कि, रागसंसक्ति की अपेक्षा द्वेषासक्ति कहीं अधिक दृढमूल है। एक चमत्कार और देखिए। राग में दोनों मित्रों के मध्य में था, आत्मसम्पत् का परस्पर आदान-प्रदान है। द्वेष्यमान सम्पत् को तो अपहरण कर लेता है परन्तु द्वेष में भी आरम्भ में तो आदान-प्रदान अवश्य ही रहता है। परन्तु कालान्तर में द्वेषी में द्वेष्य धर्मों का प्रदान हो जाता है। द्वेषी मनुष्य उस द्वेष्य की विभूति को छीन ले लेता है परन्तु अपनी विभूति का प्रदान नहीं करता। कारण स्पष्ट है। द्वेष्य विषय प्रतिकूलता से ही सही, इसके मानस अवकाश में स्थानसम्पादन अवश्य कर लेता है। इसीलिए एक यह भी तत्त्व निकल आया कि, विशुद्ध चरित्रों से हीनचरित्रों से दुर्बुद्धि मनुष्यों से द्वेष रखने वाला मनुष्य भी उन आगन्तुक द्वेष्य धर्मों के सम्बन्ध से निकृष्ट हीनचरित्र दुर्बुद्धि बन जाता है। जिसके साथ द्वेष किया जाता है उसकी हानि नहीं होती द्वेष करने वाला स्वयं अपनी हानि कर बैठता है। यदि द्वेष्य व्यक्ति उत्कृष्ट विषय, उदात्त चरित्र बुद्धिमान हैं तो द्वेष रखने वाला मनुष्य भी उनके आगन्तुक द्वेष्य धर्मों के सम्बन्ध से उत्कृष्ट सच्चरित्र बुद्धियुक्त बन जाता है। रावण, कंस, शिशुपालादि ने भगवान् रामकृष्ण के साथ जीवन पर्य्यन्त द्वेष किया। परिणाम इस द्वेषासक्ति का यह हुआ कि, द्वेष्य रामकृष्ण के महान् धर्मों का द्वेषी रावणादि में समावेश हो गया और फलस्वरूप वे लोग उनसे द्वेष करते हुए मुक्त हो गए ×। निष्कर्ष यही निकला कि अनुकूलासक्ति राग है प्रतिकूलासक्ति द्वेष है। बन्धनत्वेन दोनों समान हैं। अतएव 'रागद्वेष' दोनों को हम 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं एवं इसके रागासक्ति द्वेषासक्ति ये दो विवर्त माने जा सकते हैं। आसक्तिलक्षण रागद्वेष के इसी तात्त्विक स्वरूप विश्लेषण के आधार पर दोनों के निम्न लिखित लक्षण हो जाते हैं—

१–अनुकूलासक्तिलक्षण—'राग'
२–प्रतिकूलासक्तिलक्षण—'द्वेष' } —आसक्ति

२३–रजोगुणमूलक कामक्रोधद्वन्द्व—

दूसरी दृष्टि से रागद्वेषद्वन्द्वों का समन्वय कीजिए। ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्मजनित वासना-संस्कार, दोनों संस्कार उपचाररूप से मनोधरातल पर प्रतिष्ठित रहते हैं। जन्मजनित संस्कार जन्मान्तर से भी प्रतिष्ठित हैं एवं वर्तमान जन्म में व्यवहारदशा में किये हुए ज्ञान-कर्मों से भी नवीन नवीन भावना-वासना-संस्कार उत्पन्न होकर उपचाररूप में परिणत होते रहते हैं। भावनासंस्काररूप उपचार ही आर्थिक काम (कामना-इच्छा) का जनक बनता है। मनोविज्ञान संस्कार उपचाररूप से मन पर अङ्कित रहता है स्वाभाविक तदनुसार ही से कामना हुआ करती है। यदि उपचारसंस्कार अनुकूल हैं तो उनसे निकलने वाली कामना भी अनुकूल

× उक्तः पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं, किमुताधोक्षजप्रियाः॥
—श्रीमद्भागवत

ही रहती है। यदि तत्त्वसंस्कार प्रतिकूल हैं, तो उनसे विनिर्गत कामना भी प्रतिकूल ही रहती है। अनुकूल कामना स्नेहगुणप्रधाना है प्रतिकूलकामना तेजोगुणप्रधाना है। स्नेहगुणप्रधाना अनुकूल कामना में मन प्रधान बना रहता है तेजोगुणप्रधाना प्रतिकूल कामना में शारीराग्नि प्रधान बना रहता है। मनःप्रधाना अनुकूल कामना स्नेहगुणक सौम्य मन सम्बन्ध से ग्रहणशीला बनी रहती है, शरीराग्निप्रधाना प्रतिकूलकामना तेजोगुणक आग्नेय शरीरसम्बन्ध से परित्यागशीला बनी रहती है। मनोऽनुगता स्नेहगुणप्रधाना ग्रहणशीला अनुकूलकामना ही 'काम' नाम से व्यवहृत हुई है। शरीरानुगता तेजोगुणप्रधाना परित्यागशीला प्रतिकूल कामना ही 'क्रोध' नाम से व्यवहृत हुई है। इसप्रकार तत्त्वसंस्कारपुञ्ज से अर्थस्वरूप में परिणत होकर निकलने वाली मानस कामना ही स्नेह–तेजोगुण भेद से अनुकूल–प्रतिकूल भावों में विभक्त होती हुई काममयी कामना क्रोधमयी कामना, इन दो भावों में विभक्त हो जाती है। इन दोनों की मूलप्रतिष्ठा 'रजोगुण' माना गया है। ज्ञानप्रधान सत्त्वगुण में कामना की निवृत्ति है अर्थप्रधान तमोगुण में कामना का अभिभव है। एवं क्रियाप्रधान रजोगुण में कामना का उदय है। ग्रहणभाव ही 'रजोभाव' है। रञ्जन ही 'रज' है ग्रहण ही रञ्जन है। यह ग्रहणभाव ग्रहणात्मक ग्रहण, परित्यागात्मक ग्रहण, दो भावों में विभक्त है। स्नेहानुगत ग्रहण ग्रहणात्मक ग्रहण है तेजोऽनुगत ग्रहण परित्यागात्मक ग्रहण है। ग्रहणात्मक ग्रहण का आधार 'काम' है, परित्यागात्मक ग्रहण का आधार 'क्रोध' है। दोनों रञ्जनात्मक हैं। अतएव दोनों का मूल रञ्जनात्मक रजोगुण ही माना जायगा, जैसाकि निम्नलिखित भगवद्वचन से प्रमाणित है –

> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
> महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
>
> —गी० ३।३७।

२४–रागासक्ति का उदाहरण—

रजोगुणानुगत–तमित अनुकूल संस्कारोत्थानाविच्छिन्न शारीराग्निगर्भित मन से निकलने वाली रश्मियाँ ही 'काम' नाम की अनुकूल कामना है। यह अनुकूल कामना अनुकूल विषय के ही अनुगत बनी रहती है। अतएव कामात्मिका अनुकूल कामना सुखानुगामिनी मानी गई है। सुख ही 'क' है, मन ही मकार है। 'क–अ–म्–अ' के अनुसार सुख में (सुखानुगत अनुकूल विषयग्रहण में) ओतप्रोत मन ही 'काम' है। इस 'काम' से होने वाला अनुकूल विषयानुगत अनुकूलकामनात्मक अनुकूल संस्कारबन्धन ही राग है, यही रागासक्ति है जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

अपने घर से निकल कर आप उद्यान में जाते हैं। मार्ग में आपकी दृष्टि किसी अतिशय सुन्दर दृश्य पर पड़ जाती है। आगे चलना रुक जाता है। आप वहीं खड़े रह जाते हैं, और मनोयोग पूर्वक उसे देखने में तन्मय बन जाते हैं। विशेषमनोयोगानुगता इस तन्मयता से 'उपलम्भिभेद' नामक स्वर गान्धर्वीमानसिक वेद से उस दृश्य का आकार आपके मनमें अङ्कित हो जाता है। और इसप्रकार उद्यानोद्देश्य से निकले हुए आप मार्ग में ही एक नवीन वस्तु का ग्रहण कर ले जाते हैं। आप आगे अवश्य निकल गए, सुन्दर दृश्य के सम्पर्क से अवश्य अलग हो गए। किन्तु जिस दृश्याकार के साथ आपका सम्बन्ध हुआ था वह मन पर बन गया। बस यहीं से ही तो वैज्ञानिकों ने उस बनने वाले आकारविशेष को 'वासनासंस्कार' कहा है। आपने

किसी दिन अतिथिसत्कार से सुस्वादु पक्वान्न पा लिया। भुक्त पक्वान्न कालान्तर में रस-मल के क्रमिक विभाजन से रसासृङ्मांसादिरूप में परिणत होकर अपना अस्तित्व खो बैठा। परन्तु वह अपने स्वाद की छाप आपके मन पर लगा गया। वह स्वाद-छाप आपके मन पर बस गई। इसप्रकार इन्द्रियों के द्वारा सम्पर्क में आने वाले विषयविशेष मनोयोग से स्वयं हटते हुए भी अपनी संस्कारात्मिका आकृति छोड़ जाते हैं। यही आकृति मन पर लगी हुई वासना नाम से प्रसिद्ध हुई है।

आप घर लौट आते हैं अन्यान्य कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं। अन्यान्य कर्म्मजनित वासनाओं से आवृत इरखजनित वह वासनासंस्कार थोड़ी देर के लिए अभिभूत बन जाता है। परन्तु कर्म्मव्यस्तता से उन्मुक्त होते ही वह संस्कार उद्बुद्ध हो पड़ता है। इस संस्कारोद्बोध का ही नाम 'स्मृति' (याद) है। स्वस्थापरोऽनुगमा वासना 'वासना' है एवं स्वस्थापरोद्बुद्धा वासना 'स्मृति' है। वासना का निर्म्माणरूप वासना है स्वापरूप स्मृति है। पूर्वावस्था वासना है उत्तरावस्था स्मृति है। इसी आधार पर वासना स्मृति की जननी मान ली गई है। इसप्रकार सञ्चित संस्कारात्मिका वह सुन्दराकाराकारात्मिका वासना स्मृति के द्वारा आपके मन को वासनासंस्कारानुगत (सम्बन्धी) उसी इरख की ओर-'चलो पुनः उसे देखें' इसप्रकार आकर्षित करती रहती है। यह संस्कारानुगत-आकर्षण-आकर्षण ही आलम्बन लक्षण 'राग' किंवा रागासक्ति है। स्मृति ही रागासक्तिलक्षण विषयबन्धन की जननी बनती है।

रागासक्तिजननी स्मृति का उदय क्यों, और कब होता है ? इस मार्मिक प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। बतलाया गया है कि, अन्यान्य कार्यों में व्यस्त हो जाने से तज्जनित संस्कारों के दमन से पूर्वसञ्चित संस्कार दब जाता है वासना को स्मृतिरूप में परिणत होने का अवसर नहीं मिलता। आसक्तिलक्षण संस्कारासक्ति विषयासक्ति भेद से दो भावों में परिणत रहता है। आन्तरिक राग संस्कारासक्ति है वैषयिक राग विषयासक्ति है। संस्कारानुगामिनी आत्मरुचि है, यही विषयरागासक्ति की (स्मृति द्वारा) जननी बनती है। विषयरागासक्ति बाह्या है वह संस्कारानुगामिनी पर प्रतिष्ठित रहती है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि विषयदर्शन (इरखदर्शन) काल में यदि विषयासक्ति है, तो संस्कारासक्ति का उदय होता है। एवं यही संस्कारासक्ति आगे चल कर तदनुबन्धी विषयासक्तिभाव की स्वरूपाय जननी बनती है। यदि विषयदर्शनकाल में विषयासक्ति का अभाव है तो तज्जनित संस्कार में मन आसक्त नहीं होने पाता, और उस दशा में इरखदर्शन करता हुआ भी मन संस्कारग्रहण करता हुआ भी मन उस संस्कार में आसक्त नहीं होता। संस्कारासक्ति-विरहित ऐसे मन में रहने वाली भी वासना स्मृति के द्वारा विषयासक्ति की जननी बनने में असमर्थ रह जाती है। अत सर्वप्रथम हमें उस आभ्यन्तर मूलासक्ति के सम्बन्ध में ही क्यों और कैसे ?, प्रश्नों का समन्वय करना चाहिये।

२५—कर्म्मतत्त्व के चार विवर्त, एवं रागासक्ति का समन्वय—

कर्म्मतत्त्व को चार भागों में विभक्त कीजिए, तभी इस सांस्कारिक-व्यामोह का भेदन हो सकेगा। जन्मान्तरीय संस्कार एक विभाग है। ऐहिक विषयसाक्षात्कार दूसरा विभाग है। विषयसाक्षात्कारजनित ऐहिक-संस्कार तीसरा विभाग है। ऐहिकसंस्कार से स्मृति के द्वारा उत्पन्न विषयसाक्षात्कारकर्षणा चौथा विभाग है। चारों में मूलतत्त्व जन्मान्तरीय वह सांस्कारिक प्रारब्ध कर्म्म है जिसकी सामर्थ्य प्रेरणा से आप बरबस उस

अवतीर्ण हुए हैं। जन्मान्तरीय संस्कारपुञ्ज में जो धर्म्म, जो गुण रहते हैं, आपका मन तदनुरूप ही धर्म्म-गुणक विषयसाक्षात्कार में प्रवृत्त होता है। जन्मान्तरीय संस्कारतारतम्य से ही ऐहिक जन्मानुगत विषयसाक्षात्कारों में तारतम्य का उदय होता है। यदि आपके प्रज्ञापराधतल पर जन्मान्तरीय सुन्दरदृश्यसंस्कार संचित हैं तभी आप अपने इस जीवन में सुन्दरदृश्य को देख कर प्रभावित हो सकते हैं। यदि जन्मान्तरीय सुन्दरदृश्य-संस्कार का अभाव है, तो इस जन्म में सुन्दर से सुन्दर दृश्य भी आपके मन को आकर्षित न कर सकेंगे। आप देखेंगे कि, कितने एक व्यक्ति तो सौन्दर्य्य का अवलोकन करते ही अपनापन खो बैठते हैं। उधर ऐसे भी कुछ व्यक्तियों की कमी नहीं जिनके मन के लिए सुन्दरता का कोई अर्थ ही नहीं है। कितने एक व्यक्तियों का मन जहाँ मृदङ्ग की थाप पर थिरकने लगता है, वहाँ कितने एक महापुरुष 'भाविषपुरोवर्त्ती मृदङ्गवादन'* को चरितार्थ बनाते रहते हैं। कितने एक व्यक्ति सामान्य शिक्षित होते हुए भी व्याख्यानकुशल बन जाते हैं। उधर कितने एक परिनिष्ठित सभा में सर्वथा मुनि बने रह जाते हैं। उसी विकट मरीचिका से एक व्यक्ति की आँखों से जहाँ पानी निकल पड़ता है, वहाँ अन्य व्यक्ति पत्थर-मूरत की भाँति उसे घवराता हुआ सीत्कार भी नहीं करता। निदर्शनमात्र है। प्रत्येक प्राणी की ऐन्द्रियक-विषयग्रहण-अनुभव-योग्यता उस प्राणी के जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कार की योग्यता से ही सम्बन्ध रख रही है। इससे तत्त्व यही निकलता है कि विषय-साक्षात्कारानुगता रागात्मिका की जननी जन्मान्तरीय संस्कारात्मिका रागासक्ति ही है। यही आभ्यन्तर मूलासक्ति है यही ऐहिक विषयसंस्कारासक्ति की जननी बनती है। उद्यान जाते हुए आपको मार्गस्थ सुन्दरदृश्यात्मक चक्षुरिन्द्रिय के विषय ने आकर्षित क्यों कर लिया ?, क्यों आप उसके प्रभाव से प्रभावित होकर वहीं खड़े रह गए ?, प्रश्न का समाधान वही जन्मान्तरीय संस्कारात्मिका दृश्यासक्ति है जो पहिले से आपके मनो धरातल पर संचित है। निश्चय कीजिए, यदि आप में बाह्य दृश्य सजातीय आभ्यन्तर दृश्यसंस्कार का (जन्मान्तरीय संस्कार का) अभाव रहता, तो कभी आप उस बाह्य सौन्दर्य्य से राग नहीं कर सकते थे। जिनमें दृश्यसौन्दर्य्य-संस्कार पहिले से नहीं रहता, उन पर ऐसे बाह्य सुन्दर दृश्यों का कोई प्रभाव नहीं होता। यही प्रथम क्षेत्र का विश्लेषण है।

जन्मान्तरीय दृश्यसंस्कारवश आप में "मैं इस दृश्य को देखता रहूँ—देखूँ" इसप्रकार की रागात्मिका कामना का उदय होता है। यहाँ थोड़ा समझना है। पूर्वखण्डों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, अध्यात्मकामना उचित, अनुचित भेद से दो भागों में विभक्त रहती है। सुन्दर-असुन्दर, अच्छे-बुरे, जो भी दृश्य मार्ग में आवेंगे, चक्षुरिन्द्रिय का स्वभावतः उनके साथ सम्बन्ध होगा ही। चक्षुर्व्यापार क्रिया है, क्रिया कामना को आधार बना कर ही प्रवृत्त होती है। फलतः प्रत्येक ऐन्द्रियक व्यापार में मानसकामना का अनिवार्य्य सहयोग सिद्ध हो जाता है। वह स्वभावकामना ही उचितकामनारूपा 'ईश्वरकामना' कहलाई है जिसका पूर्वखण्डों में—'निष्कामभावात्मिका कामना' रूप से विश्लेषण हुआ है। इस कामना में बुद्धि प्रधान रहती है, मन गौण रहता है। मनोगर्भिता बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली कामना ही स्वभावकामना है। जन्मान्तरीय-संस्कारावर्षण से आप सुन्दर दृश्य की ओर आकर्षित हों, अथवा यों ही आपका मन उस ओर चला जाय यदि आपका मन स्वभावकामना का अनुयायी है, तो पड़ा हुआ भी जन्मान्तरीय संस्कारावर्षण आपके मन को उस दृश्य विषयसंस्कार में आसक्त नहीं होने देगा। देखा विश्वेश्वर के विश्व की सुन्दरता का अवलोकन

* भैंस के आगे मृदङ्ग बजाना।

किया, आगे निकल गए। जैसे असुन्दर ने क्षोभ उत्पन्न नहीं किया, वैसे सुन्दर ने व्यामोह में नहीं डाला। और यों उपेक्षाकांक्षा के अनुग्रह से आप ऐहिक जन्मानुगत विषयसंस्कारासक्ति से बचे रह गए। इस कोटि में आगे की चक्रपरम्परा अवरुद्ध हो जाती है। न वासनासंस्कार को बद्धमूल बनने का अवसर मिलता, फलतः न स्मृति का उदय होता, एवं न भविष्य में उस रूप की लालसा ही होती।

ऐहिक जन्मानुगत विषयसंस्कार क्यों आसक्तिरूप में परिणत होता है? प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—उत्पाद्याकांक्षालक्षणा 'बीजकामना'। यही 'कृत्रिम कामना' कहलाती है। इस कामना में अधिष्ठात्री बुद्धि गौण रहती है, अपितु मन प्रधान रहता है। बुद्धिगर्भित मन से सम्बन्ध रखने वाली कामना ही बीज की कृत्रिम वैकारिक-कामना है। जन्मान्तरीय संस्कारपर्यन्त स्वयं बीजकामना प्रधान था। उसने ऐहिक जन्मानुगत बीज-कामना को प्रोत्साहित किया, मन वहीं रम गया। मन का यह रमना ही चिरकालिक अनुध्यान कहलाया। चिरकालिक इसी अनुध्यान से मन उस दृश्य विषयदर्शन में तल्लीन हो गया। तल्लीनता से उत्पन्न दृश्य-संस्कार के साथ इसी तल्लीनता से मन आबद्ध हो गया, और यों उत्पाद्याकांक्षा के अनुग्रह से मन विषयदर्शन जनित दृश्य संस्कार में आसक्त हो गया। क्यों आसक्त हो गया?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर बीजकामनामय मन का यही चिरकालिक विषयानुध्यान है, जिसका—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' इत्यादि शब्दों से विश्लेषण हुआ है।

'चिरकालिक अनुध्यान' चञ्चल मन के लिए एक कठिन समस्या है। मन किसी भी विषय पर चिर कालपर्यन्त जमा रहे, यह असम्भव है। अवश्य ही चञ्चल मन के चिरकालिक अनुध्यान-सम्बन्ध के लिए किसी अन्य स्थिर तत्त्व की अपेक्षा है। वह सहयोगी कौन है? चञ्चल भी मन कैसे अनुध्यान में समर्थ हो जाता है? इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विश्लेषण पूर्व खण्डों में किया जा चुका है—जहाँ का निष्कर्ष यही है कि आग्नेय-अतएव स्नेहगुणक मन चिपकना जानता है, परन्तु अपने सौम्यानुगत स्वाभाविक ऋतधर्म से ठहरना नहीं जानता। उधर आङ्गिरस, अतएव तेजोगुणक बुद्धितत्त्व अपने सावित्र्याग्न्यनुगत स्वाभाविक सत्यधर्म से ठहरना जानता है, परन्तु चिपकना नहीं जानता। आसक्तिबन्धन में चेप, और ठहराव, दोनों धर्म अपेक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जबकि स्नेह (चेप) धर्मा मन तेजो (ठहराव) लक्षणा बुद्धि को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है। चिरकालिकत्व बुद्धि से मिल जाती है, अनुध्यान मन से हो जाता है। दोनों के समन्वित रसात्मक मन से चिरकाल का अनुध्यान सम्पन्न हो जाता है, फलस्वरूप आसक्ति का उदय हो जाता है। यही बुद्धिसहयोग लोकभाषा में—'चिन्तन' कहलाता है। चिन्तन करना अनुध्यान करना बुद्धिव्यापार है। विषय की छाप लेता है मन, विषयाकार में परिणत होता है मन, एवं छाप को बद्धमूल बनाती है बुद्धि, यही रहस्य है। कैसी बुद्धि का सहयोग?, अपेक्षाबुद्धि का सहयोग। बुद्धितत्त्व के उपेक्षा-अपेक्षा-विवर्तों का भी पूर्व में ही विश्लेषण किया जा चुका है। उपेक्षाबुद्धि जहाँ उपेक्षाकांक्षा की जननी मानी गई है, वहाँ अपेक्षाबुद्धि उत्पाद्याकांक्षा की जननी मानी गई है। उपेक्षाबुद्धि में मन बुद्धि के आधीन रहता है। अपेक्षाबुद्धि में बुद्धि मन की अनुवर्तिनी बनी रहती है। उपेक्षा-बुद्धियुक्त मन बुद्धिलक्षण है, अपेक्षाबुद्धियुक्त मन मनोलक्षण है। बुद्धिलक्षण मन उपेक्षाकांक्षानुगामी बनता हुआ आसक्ति से पृथक् है। मनोलक्षण मन उत्पाद्याकांक्षानुगामी बनता हुआ आसक्ति से युक्त है। तात्पर्य—बुद्धियुक्त मन जन्मान्तरीय संस्कारपर्यन्त से उत्पाद्याकांक्षा के द्वारा बाह्य दृश्य विषयों के साथ सम्बद्ध

हुआ बुद्धिसम्बन्ध से मन वहीं चिरकालिक अनुध्यान में प्रवृत्त हो गया। इस चिरकालिक अनुध्यान से मन दृश्यविषयजनित संस्कार में आसक्त हो गया। क्यों मन वासनासंस्कार में आसक्त हो जाता है ? प्रश्न की यही संक्षिप्त मीमांसा है। जन्मान्तरीय संस्कारासक्ति के अनुग्रह से उत्पन्न-एवं सक्त बनी हुई मानस कामना का चिरकालिक अनुध्यान ही इस ऐहिक जन्मानुगता विषयसंस्कारासक्ति का मूलकारण है। यही दूसरे क्षेत्र का विश्लेषण है।

जन्मान्तरीय संस्काराकर्षण से आप दृश्य में प्रवृत्त हुए, विषयसाक्षात्कार की ओर अभिनिवेशपूर्वक आकर्षित हुए, तत्पश्चात्‌ कामनामूलक चिरकालिक अनुध्यान से अभावात्मक विषय से उत्पन्न तृतीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित दृश्य संस्कार में आपका मन आसक्त हो गया। यह सम्पत्ति अर्जित कर आप घर लौट आए, अन्यान्य कार्यों में व्यापृत हो गए। अन्यान्य कार्यों में व्यस्त रहने से कुछ समय के लिए उस संस्कार का अभिभव हो गया। परन्तु आसक्ति के अनुग्रह से यह दृश्यसंस्कार स्वतन्त्र उद्‌बुद्ध में परिणत हो जाता है। उद्‌बुद्ध से अर्क निकलना अनिवार्य है। प्रतिबन्धक जब तक रहेगा, अर्क न निकलेंगे। वहाँ प्रतिबन्धक हटे नहीं कि, उद्‌बुद्ध से अर्क निकले नहीं। अन्यान्य कार्यों की व्यस्तता उस दृश्यसंस्कारोद्‌बुद्ध के लिए प्रतिबन्धक सामग्री है। जब तक यह रहती है तब तक उसे अर्कप्रसार का अवसर नहीं मिलता। वहाँ आप उन अन्यान्य कार्यों से उपरत हुए नहीं कि, इस प्रतिबन्धक के हटते ही वहाँ से अर्क निकल पड़ेंगे। यही उद्‌बुद्धजनित, उद्‌बुद्धविनिःसृत अर्क-'स्मृति' कहलाते हैं। अन्यान्य कामों में पड़ कर थोड़ी देर के लिए आप उसे भूल जाते हैं, अवकाश मिलते ही 'फिर याद हो आती है' इस लोकप्रसिद्ध स्वाभाविक अनुभूति का यही तत्त्व है।

स्मृति ने उदित होकर क्या किया ?, प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए। काम से सङ्ग उत्पन्न होता है, अथवा सङ्ग से काम उत्पन्न होता है ?, इस प्रश्न के उत्तर पर ही स्मृतिविषयक प्रश्न का उत्तर निर्भर है। अतः दो शब्दों में पहिले इसी प्रश्न के उत्तर का अन्वेषण कर लीजिए। केवल ऐहिक जीवन को आधार बना कर ही इस प्रश्न के उत्तर की मीमांसा करनी पड़ेगी। नहीं तो इस काम-और सङ्ग (आसक्ति) परम्परा की थाह पा लेना असम्भव हो जायगा। कारण स्पष्ट है। जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारासक्ति (सङ्ग) का मूल पूर्वजन्मानुगत काम है। पूर्वजन्मानुगत काम का मूल उससे भी पूर्वजन्म का सञ्चित सङ्ग है। इसप्रकार एवं प्रवर्त्तित इस काम—सङ्ग—काम का पर्य्यवसान समझ लेना असम्भव बन रहा है। प्रश्न है केवल वर्त्तमान जन्म से सम्बन्ध रखने वाले सङ्गभावों, तथा कामभावों का। इस जन्म में सुन्दर दृश्य देखने की कामना क्यों हुई ?, इस प्रश्न का उत्तर तो जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारसङ्ग (आसक्ति) ही है। यदि जन्मान्तरीय संस्कारसङ्ग न होता, तो दृश्यदर्शनकामना का उदय असम्भव था। इस दृष्टि से दृश्यदर्शनात्मक काम (इच्छा) को हम जन्मान्तरीय संस्कारासक्ति की अपेक्षा से 'सङ्गजनित' मान सकते हैं। जन्मान्तरीय सञ्चित संस्कारसङ्ग उद्‌बुद्ध है इससे निकलने वाली दृश्यदर्शनाभिलाषा कामना (काम) अर्क है। और इस काम के सम्बन्ध में— 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' (जन्मान्तरीयसंस्कारासक्त्या दृश्यदर्शनानुगतेच्छोदयः) यह कहा जा सकता है।

जन्मान्तरीय सङ्ग से दृश्यदर्शन की कामना हुई, कामनाकर्षण से दृश्य देखा मन के चिरकालिक अनुध्यान से दृश्यविषय का ऐहिक जन्मानुगत नवीन संस्कारसङ्ग (दृश्यविषयदर्शनजनित दृश्यसंस्कारासक्ति) का उदय हो गया। दृश्यविषयात्मक सङ्ग (दृश्यसंस्कारासक्ति) का मूल क्या ? इसका उत्तर इस दृष्टि से

हुआ—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'। जिसका तात्पर्य यही है कि, जन्मान्तरीय सङ्ग से उत्पन्न काम का चिरकालिक अनुध्यान ही ऐहिक जन्मानुगत दृश्यसंस्कारसङ्ग का जनक है। दूसरे शब्दों में दृश्यकाम वहाँ सङ्ग से उत्पन्न था, यहाँ दृश्यसङ्ग काम से उत्पन्न है। जन्मान्तरीय सङ्ग से उत्पन्न काम (इच्छा) ने ही चिरकालिक अनुध्यान के द्वारा दृश्यविषयसंस्कार को सङ्ग रूप में परिणत किया है, जो सङ्ग ऐहिक जन्मानुगत एक स्वतन्त्र–नवीन उत्पन्न बन जाता है। जैसे जन्मान्तरीय संस्कारलक्षण सङ्गात्मक उत्पन्न से दृश्यदर्शनानुगत कामात्मक अर्थ का उदय हुआ था, एवमेव इस कर्मरूप काम के चिरकालिक अनुध्यान से उत्पन्न दृश्यसंस्काररूप–सङ्गात्मक नवीन उत्पन्न से भी दृश्यसंस्कार के पुनः दर्शनानुगत कामनात्मक अर्थ का उदय होना स्वाभाविक बन जाता है। यही कामना 'स्मृति' नाम से व्यवहृत हुई है। यह काम सङ्गजनित माना जाएगा जिसके लिए 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' कहा गया है। 'सङ्ग से काम, काम के चिरकालिक अनुध्यान से सङ्ग और इस सङ्ग से स्मृत्यनुगत–स्मृत्यात्मक काम' इसप्रकार वर्तमान जन्म में सङ्ग, और कामभावों का यही पौर्वापर्य माना जाएगा।

१—जन्मान्तरीयसञ्चितसंस्कारसङ्गात्—(जन्मान्तरीयोत्पन्नात्)— दृश्यदर्शनानुगतः—प्रथमक्षणस्य—कामो जायते (सञ्चितसङ्गात् दृश्यदर्शनेच्छा भवति)। भाष्यम्—'सङ्गात् सञ्जायते कामः'।

२—सङ्गोत्पन्नकामस्य चिरकालिकानुध्यानव्यापारेण दृश्यदर्शनात् संस्कारात्मकः स्वतन्त्रोत्पन्न-सञ्जायते। स एव स्वतन्त्रोत्पन्न—दृश्यसंस्कारात्मकः—कामजनितः सङ्गः। भाष्यम्—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'। दृश्यसंस्कारसङ्ग—कामात् सञ्जायते, इति भावः। 'कामात् सञ्जायते सङ्गः' इति निष्कर्षः।

३—ऐहिकजन्मानुगतः सङ्गः (दृश्यसंस्कारात्मकस्वरूपः स्वतन्त्रोत्पन्नः) दृश्यविषयकामनात्मकः भवति स्मृतिद्वारा। 'पुनरपि न विरमामि' सैव एवं सरूपः कामः—सङ्गात्–सञ्जायते। भाष्यम्—'सङ्गात् सञ्जायते कामः'।

१—सङ्गात् सञ्जायते कामः (जन्मान्तरीयसंस्कारात्मकस्य—दृश्यदर्शनकामोदयः)।

२—कामात् सञ्जायते सङ्गः (चिरकालिकानुध्यानात्मककामात्—दृश्यसंस्कारात्मकस्योदयः)।

३—सङ्गात् सञ्जायते कामः (ऐहिकजन्मानुगतनवीनसंस्कारात्मकस्य—दृश्यसंस्कारानुगतदृश्य—विषयं प्रत्यनुधावनम्)।

—◆—

जन्मान्तरीय सङ्ग से [१] उत्पन्न काम ने दृश्यविषय का साक्षात्कार कराया। विषय के सम्बन्ध कामभाव मन के चिरकालिक अनुध्यान से दृश्यविषय संस्कारात्मकरूप सङ्गभाव में [२] परिणत हो गया। इस नवीन सङ्ग को लेकर आप घर लौट आए। इस नवीनसङ्ग (कामजनित वास्तवसंस्काररूपविषय भावित) रूप उत्पन्न से अर्थ–रूप काम [३] का उदय हुआ, यही उत्तरभावी काम 'स्मृति' कहलाया। इस स्मृत्यात्मक काम ने उत्तेजित होकर क्या किया ? यह प्रश्न उपस्थित है। जिस दृश्य–भौतिक विषय के दर्शन से दृश्यात्मक

संस्कार आपके मनोधरातल पर अङ्कित हुआ है मान लीजिए उस नश्वर दृश्य भौतिक विषय का नाश हो गया। ऐसी स्थिति में तदनुरूपा दृश्यभावना (सत्ता) से उत्पन्न कामात्मिका स्मृति केवल स्मृति रूप में ही परिणत रह जायगी। आप उसे जीवनभर स्मरण कर कर भी प्राप्त न कर सकोगे। स्मृति समय-समय पर उदित होती रहेगी, आपकी स्वाभाविक शान्ति का उच्छेद करती रहेगी। इसप्रकार मूलदृश्य के स्वरूपनाश की दशा में आपकी यह उदित स्मृति केवल आत्मक्षोभ की जननी बनी रह जायगी। और यही उदित स्मृति का एक परिणाम माना जायगा।

मान लीजिए, आपके पुण्य से वह दृश्य विषय अभी सुरक्षित है, नष्ट नहीं हुआ है। उस अवस्था में क्या आपका स्मृत्यात्मक उदित काम निर्विघ्न उस दृश्य विषय पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लेगा?। यदि विश्व में केवल आपकी ही सत्ता रहती, तो ऐसा एकाधिपत्य सम्भव था और उस दशा में वह दृश्य अवश्यमेव बनता हुआ आपके क्षणिक सुख का कारण बन सकता था। परन्तु विश्व में आप ही तो नहीं हैं। और भी मनुष्य हैं उनके पास भी काममय मन है, रस है, दृश्यानुगत स्मृत्यात्मक काम है। उन्होंने भी उस सुन्दर दृश्य को देखा है उन पर भी उस दृश्य की छाप लगी हुई है। अतएव वे भी स्मृत्याकर्षण से उसे अपने अधिकार में लाने के लिए लालायित हैं। वस्तु एक, चाहने वाले अनेक। लक्ष्य एक, लक्ष्यवेधन करने वाले अनेक। आप सब में जो भी शक्तिशाली होगा वही उसे प्राप्त कर सकेगा। आपकी स्मृति से स्मृत्यात्मक काम ने आपको उस दृश्य विषय की ओर प्रवृत्त किया। आपने देखा कि एक दूसरा व्यक्ति भी उसे अपना लक्ष्य बना रहा है। इस स्थिति में आपके स्मृत्यात्मक काम का क्या परिणाम होगा? इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं। मानी हुई सब ही अनुभूत बात है कि, जिस वस्तु को हम चाहते हैं जो हमारी कामना का विषय बनी हुई है उसी पर यदि दूसरे की कामना का भी लक्ष्य है तो हमें उस अभिलषित-काम्य विषय की प्राप्ति में सन्देह हो जाता है। एक दृश्यभावगत एक लक्ष्यसूत्र अनेक काम समन्वय से विरुद्ध धर्मानुगत-विरुद्ध कामों का संघर्ष हो पड़ता है। इस पारस्परिक कामसंघर्ष से कामियों का शारीराग्नि प्रदीप्त हो पड़ता है। यही कामजनित शारीराग्निसंघर्ष 'क्रोध' कहलाता है। स्वकामप्रतिबन्धक अन्यकामाक्रमण से क्रुद्ध हमारा स्मृत्यात्मक काम संघर्ष में पड़ कर शारीराग्निप्रदीप्तिलक्षण क्रोध का जनक बन जाता है। इसप्रकार रागात्मक काम स्वप्रतिबन्धकता से द्वेषात्मक क्रोधरूप में परिणत हो जाता है। कामविषयीभूत दृश्यविषयरूप लक्ष्य गौण हो जाता है क्रोधविषयीभूत द्वेष्य व्यक्ति प्रधान लक्ष्य बन जाता है। 'जिसने हमारी कामना में विघ्न उपस्थित कर दिया, वह कैसे नष्ट हो उसका कैसे दमन हो' इस प्रत्यन्तरभावना का उदय हो जाता है। हम [illegible] बन जाते हैं। और यही उदित स्मृत्यात्मक काम का दूसरा परिणाम है।

२६—काम—क्रोध—लोभत्रयी का उद्गम—

मान लीजिए आप उन कामकामियों में सफल हैं। अतएव आप उन अन्य का दमन कर देते हैं, फलस्वरूप दृश्य विषय केवल आप ही के आधिपत्य में आ जाता है। क्या यह परिणाम सुखावह मान लिया जायगा? क्या इस एकाधिपत्यता में आपका रागात्मक काम अक्षुण्ण बना रहेगा?, नहि इत्याह। प्रथम प्रथम जिस कामना से आपने दृश्य विषय का साक्षात्कार किया था उसने आपके मन पर चिरकालिक अनुध्यान के साथ उसकी प्राप्त्यात्मक छाप देकर आपकी स्वाभाविक शान्ति का उच्छेद कर डाला।

प्रथमावरण में ही आत्मा के स्वाभाविक विकास के आगे एक धुँधली सी पतली सी दीवार खड़ी करदी। आपने इस क्षोभ की शान्ति का उपाय समझा-उस दृश्य विषय पर सदा के लिए एकाधिपत्य स्थापित कर लेना। आपकी सफलता से आपका उस पर एकाधिपत्य भी हो गया। परन्तु शान्ति उत्तरोत्तर घटती गई, अशान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। प्राप्त वस्तु के संरक्षण में प्राप्त वस्तु को अन्याक्रमण से बचाने में प्राप्त वस्तु के भोग्यानुरूप शक्तिसम्पादन में इत्यादि अनेक परिग्रहों में आपको फँसना पड़ा। इधर अविविक्त स्मृति के द्वारा ज्यों ज्यों आप दृश्य विषय से सम्पर्क बढ़ाते गए, त्यों त्यों संस्कारात्मक सहावरण उत्तरोत्तर इन आगन्तुक आवरण पुट-सम्पुटों से अधिकाधिक दृढमूल बनता गया। उत्तम के अधिकाधिक दृढमूल बनते रहने से उसमें निकलने वाला सर्वंकष काम (इच्छा) का शान्त होना तो एक ओर रहा अधिकाधिक बढ़ने लगा। अतिशय व्यापार कलता से भोग्यशक्ति जहाँ उत्तरोत्तर घटने लगी, वहाँ उत्सुकता से कामना उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। होते होते-गिरते-पड़ते-देखते देखते वह अवस्था (वृद्धावस्था) आपहुँची, जिसमें इन्द्रियवर्ग शिथिल हो गया। कामना चरमसीमा पर पहुँची, शक्ति का आत्यन्तिक ह्रास हो गया। इस अवस्था में आकर आपकी इन्द्रियाँ आपका शरीर ही कामानुरूप भोग्यपदार्थ के क्षोभ में परिवर्तित बन गया। फलस्वरूप आपने स्वयं आप ही को क्रोध का अधिष्ठान बना लिया। और भी आपके इस एकाधिपत्यकारक रागात्मक काम के ही द्वारा द्वेषात्मक क्रोध उत्पन्न हो गया। अशान्ति बढ़ी, सत्कर्मसंग्रह छूटा, तृप्ति हुई नहीं, क्रोध अतिथि बन गया। सर्वोपरि कामजनित आवरणपुटों की परम्परा से आत्मविकास के आगे मोटी दीवाल खड़ी हो गई। इसी लिए तो भगवान् ने रजोगुण से उत्पन्न इस काम-क्रोधद्वन्द्व को 'महाशनु'-'महापाप्मा' कहा है। काम की भूँख क्या कभी मिट सकती है। यह तो अभिलषित विषयप्राप्ति से उत्तर के साथ उत्तरोत्तर उसी प्रकार बढ़ती रहती है जैसे आज्याहुतिप्राप्ति से अग्नि शान्त होने की अपेक्षा उत्तरोत्तर प्रज्वलित होता रहता है*। इसीलिए भगवान् ने इसे 'महाशन' (बहुत खाने वाला कभी तृप्त न होने वाला) कहा है। इसके अतिरिक्त यह आत्मा के स्वाभाविक विकास को भी आवृत कर देता है। अतएव कामकामी-विषयभोगपरायण व्यक्ति का सदसद्विवेक नष्ट हो जाता है। वह किंकर्तव्यविमूढ बन जाता है। इसी आवरणधर्म के सम्बन्ध से भगवान् ने इसे 'महापाप्मा' कहा है। 'अशनाया वै पाप्मा' के अनुसार भोगलक्षणा कामनालक्षणा अशनाया स्वयं महापाप्मा है। यह स्वयं जैसे कभी तृप्त नहीं होती, एवमेव इसके सम्पर्क में रहने वाला नित्यतृप्त आत्मा भी अपनी स्वाभाविक तृप्ति से अभिभूत होजाता है। अतएव एकाधिपत्य हो अथवा अनधिकार, उभयथा यह कामशक्ति स्वसहचारिणी क्रोधशक्ति का आमन्त्रण करती हुई अन्ततोगत्वा आत्मविकासलक्षणा स्वाभाविक शान्ति की अन्यतम शत्रु ही बन रही है। इसे छोड़ देने वाला ही-'शान्तिमाप्नोति' न कामकामी'। इत्युपरत काम के "भी क्रमिक इतिहास का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा है-

१-काम एष, क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ गी० ३।३७।

*-न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

२–धूमनाव्रियते वह्नि, र्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतोगर्भ, स्तथा तेनदमावृतम् ॥ गी० ३।३८।

३–आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥ गी० ।३९।

४–काममाश्रित्य दुष्पूर दम्भ–मान–मदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ गी० १६।१

५–चिन्तामपरिमेयाश्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा 'एतावद्' दिति निश्चिताः ॥ गी० १६।११।

६–आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ गी० १६।१२

७–अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ गी० १६।१६।

८–त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
काम –क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ गी० १६।२१।

९–एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ गी० १६।२२।

१०–इन्द्रियाणि, मनो बुद्धि–रस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ गी० ३।४०।

११–तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ गी० ।४१।

२७–'कामात् क्रोधोऽभिजायते' का समन्वय–

काम–क्रोध–लोभ तीनों अभिन्न तत्त्व हैं। तीनों सहधर्मा हैं। साथ ही तीनों में 'काम' सब का मूल है। तदनुरूप काम भी पूर्वकथनानुसार क्रोध का जनक बन जाता है। एवं कामप्रतिबन्धात्मक प्रतिरूप काम का क्रोधजनकत्व भी स्पष्ट ही है। कामना का लक्ष्यीभूत काम्य विषय क्रोध का लक्ष्यीभूत होता लिए, दोनों में काम क्रोधमय मन रागात्मिका द्वेषात्मिका के द्वारा कम्पित हो जाता है। सम्पूर्ण विषयों में मन का व्याप्ति हो जाना ही कामक्रोधजनित दीनता लाभ जाता है। यही उक्त स्पृहात्मक काम का संक्षिप्त इतिवृत्त है या

विषयप्राप्ति दशा में उभयथा क्रोध और लोभ का प्रवर्तक बना हुआ है। लोभ आसक्तिस्वरूप में अन्तर्भूत है। अतएव इस प्रसङ्ग में भगवान् ने उसकी स्वतन्त्र गणना नहीं की है। इस क्रमोपदिष्ट का निष्कर्ष यही हुआ कि, ऐहिक जन्मानुगत सङ्ग से उत्पन्न काम अनुकूलता में कालान्तर में कामप्रतिबन्धक अथवा प्रतिकूलता में तत्काल शारीराग्निसंघर्षद्वारा 'क्रोध' रूप में परिणत हो जाता है। इसी कामपरिणाम को, स्मृतिपरिणाम को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है—'कामात् क्रोधोऽभिजायते'।

२८–'क्रोधाद्भवति संमोहः' का समन्वय–

संघर्षजनित क्रोधाग्नि से प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित स्मारक संस्कारों में हलचल मच जाती है। व्यवस्थित संस्कार अस्तव्यस्त हो जाते हैं। किस समय क्या करना चाहिए, कब क्या करना चाहिए, क्या क्या नहीं करना चाहिए? यह सब व्यापार मानस संस्कारों के आधार पर निर्भर है। संस्कारों की पृथक्-पृथक्रूप से (प्रज्ञान धरातल पर) व्यवस्थिति-व्यवस्थिति-ही विभक्त कर्म्मकलाप की आधारभूमि बनती है। विविक्तरूप से-व्यवस्थित रूप से प्रज्ञान धरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाले संस्कार ही 'उद्बुद्ध' संस्कार कहलाए हैं। उद्बुद्ध संस्कार ही तत्तत् स्मृतियों के द्वारा तत्तत् कर्म्मव्यवस्था के व्यवस्थापक बनते हैं। जिस प्रकार एक पात्र में विभक्त व्यवस्थितरूप से प्रतिष्ठित अनेक पदार्थ घातप्रत्याघात से अस्तव्यस्त होते हुए विभक्त-व्यवस्थित उद्बुद्धभाव को छोड़ कर अविभक्त-अव्यवस्थित-उन्मुग्धभाव में परिणत होते हुए एकाकार बन जाते हैं, ठीक इसी भाँति एक प्रज्ञानधरातल पर विभक्त-व्यवस्थित-उद्बुद्धरूप से प्रतिष्ठित-स्मृत्याधारभूत अनेक संस्कार शारीराग्निसंघर्षरूप क्रोध के घातप्रत्याघात से उन्मुग्धभाव में परिणत होते हुए एकाकार बन जाते हैं। संस्कारों की यह एकाकारानुगता उन्मुग्धावस्था ही 'संमोह' है। इसे ही 'वैचित्त्य' कहा गया है। 'क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है' यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है। इस अन्धता का तात्पर्य है—संस्कारों की उन्मुग्धता। कुछ ध्यान नहीं रहता। कुछ का कुछ हो जाता है। इसप्रकार कामजनित क्रोध ही आगे चल कर 'संमोह' का जनक बन जाता है—'क्रोधाद्भवति संमोहः'।

२६–'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः' का समन्वय–

व्यवस्थित-विभक्त-उद्बुद्ध संस्कार ही तो स्मृति को सुरक्षित रखते थे। जब स्मृतिस्वरूप संस्कार ही अपना स्वरूप संघर्ष में पड़ कर अस्तव्यस्त बना चुके, तो उस दशा में स्मृति कैसे व्यवस्थित रह सकती है? फलतः संमोह के अनन्तर ही स्मृतिविभ्रम हो जाता है—'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः'।

३ –'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः' का समन्वय–

बुद्धि अपार मानी गई है मन आधार माना गया है। आधार के आधार पर ही आधेय की स्वरूपरक्षा मानी गई है। अग्न्यात्मिका बुद्धि सौर सावित्राग्नि से प्रभूत होने के कारण आग्नेयी है अग्नि ही अन्नाद माना गया है। अन्नात्मक मन चान्द्र भास्वर सोम से प्रभूत होने के कारण सौम्य है। सोम ही अन्न माना गया है। अध्यात्मसंस्था में प्रज्ञानमन चन्द्रमा है, विज्ञानबुद्धि सूर्य है। इसलिए सौम्य, अतएव अन्नात्मक प्रज्ञानमन पर ही आग्नेयी, अतएव अन्नादात्मिका बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। प्रज्ञानमन संमोह से अशान्त हो जाता है इसकी अशान्ति से संस्कार अस्तव्यस्त हो जाते हैं। संस्कारानुविद्ध मन विभ्रम मनोऽनुविद्ध

स्कारों के आधार पर ही तो बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। साथ ही इन संस्कारों के आधार पर ही तो बुद्धि का "सद्विवेकलक्षण व्यापार सञ्चालित होता है। सदसद्विवेक ही तो बुद्धि का स्वरूपरक्षक है। तमोगुणजनित स्मृतिविभ्रम ने संस्कारावच्छिन्न मन को संस्कारों के सहित आन्दोलित कर दिया। अब बुद्धि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, तो कहाँ रहे?, अपना सदसद्विवेक व्यापार किस आधार पर सञ्चालित करे?। अतएव मानना पड़ेगा कि, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का व्यवसायधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है। व्यवसायधर्म्मोत्क्रान्ति ही बुद्धिविनाश है। इसी आधार पर भगवान् ने कहा है–स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः'।

३१– 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' का समन्वय–

तमोगुणप्रधान, द्वन्द्वबहुल, मायामय, संसारयात्रा का यात्री जीवात्मा है। इन्द्रियमनोयुक्त कर्त्तव्य-कर्म्मकलाप इस यात्री की यात्रा को निर्विघ्न पूरी करा देने वाला यात्रासाधन है। स्वयं संसार 'नौका' है, जिसमें कर्म्मसाधनों को लेकर यात्री यात्रा के द्वारा पार पहुँचने का प्रयास कर रहा है। बीच ही में सुन्दर दृश्य-रूपात्मक कामविघ्न उपस्थित हो जाता है। काम क्रोध को निमन्त्रण दे देता है। क्रोध संमोह का आमन्त्रण कर लेता है। संमोह स्मृतिविभ्रम को अतिथि बना लेता है। स्मृतिविभ्रम उस बुद्धि के 'इदमित्थमेव कर्त्तव्यम्' 'एवं कर्त्तव्यं इदं न कर्त्तव्यम्' इत्यादि लक्षण सदसद्विवेकात्मक व्यवसायधर्म्म को अभिभूत कर देता है, जो व्यवसायात्मिका बुद्धि उक्त संसारनौका को स्वविवेक बल से पार लगाने में स्वतन्त्र बनी रहती है। नौका के इस लेकव्या के मूर्च्छित होते ही यात्री नौका से उखड़ जाता है। कर्त्तव्यपथ भूल जाता है मूर्च्छित हो जाता है, अपना आत्मविकासलक्षण स्वरूप खो बैठता है और यों नाशपरम्परा का अन्तिम अभिनय समाप्त हो जाता है जिसका–'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' शब्दों में अर्जुन के प्रति साक्षेप प्रदर्शन हुआ है। स्मृत्यात्मक काम (कामना) उदित हो कर क्या करता है?, प्रश्न का यही गुत्थपूर्ण इतिवृत्त है, जिससे त्राण पाने के लिए ही गीताशास्त्र में वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या का आविर्भाव हुआ है।

३२–'ध्यायतो विषयान् पुंसः' का तात्त्विक समन्वय—

चतुर्धा विभक्त कर्म्मस्वरूप परिचय के प्रसङ्ग में 'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' इत्यादि रागात्मिकालक्षण इतिवृत्त का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। रागासक्ति की जननी स्मृति कामात्मिका है स्मृत्यात्मक यह काम जन्मान्तरीय रागासक्ति से अन्वित है। जन्मान्तरीय संस्कार जन्मान्तरीय रागासक्ति है यही प्रथम कर्म्मविभाग है। इस जन्मान्तरीय रागासक्तिरूप उक्थ से विनिर्गत काम (इच्छा) ऐहिक जन्मानुगत विषयतादात्म्यरूप ऐन्द्रियक कर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है यही द्वितीय कर्म्मविभाग है। जन्मान्तरीय रागासक्तिरूप सङ्कल्प से विनिर्गत अर्करूप काम के चिरकालिक अनुष्ठान से वह ऐन्द्रियक विषय का संस्कार प्रज्ञान धरातल पर उक्थरूप से सञ्चित हो जाता है। विषयतादात्म्यानुगत–कामजनित–ऐहिक–रागासक्तिरूप यह संस्कारोक्थ ही तीसरा कर्म्म विभाग है जो काम से उत्पन्न है। इस नवीन संस्कारासक्तिरूप उक्थोक्थ से विनिर्गत स्मृत्यात्मक काम से पुनः पुनः संस्कारानुगत भाव विषय की ओर मन का अनुधावन होता रहता है। यह विषयतादात्म्यरूपलक्षण ही चतुर्थ कर्म्म विभाग है, जो स्मृत्यात्मक काम से उत्पन्न है। इसप्रकार आध्यात्मिक कर्म्मसमूह को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन चारों में से गीताशास्त्र ने ऐहिक संस्कारात्मक उक्थ से ही कर्म्मपरम्परा का

उपक्रम किया है। सङ्ग से काम उत्पन्न हुआ, काम से विषयसाक्षात्कार हुआ। इसी काम के चिरकालिक अनुध्यान से (बड़ी भारी गहरे विषयदर्शन से) यह विषय तज्ज्ञानात्मक संस्काररूप से प्रज्ञान मनस्तत्त्व पर प्रतिष्ठित हो गया, और इसे लेकर आप घर लौट आए, यहाँ तक की स्थिति एक परम्परा है। इसके आगे से ही गीता के–'ध्यायतो विषयान्' इत्यादि श्लोक का आरम्भ होता है। घर आकर अन्यान्य कर्मों में यदि आप व्यस्त हो गए, तो वह दृष्टविषयसंस्काररूप सङ्ग यों ही (अभिभूत) पड़ा रह गया। यदि आपने चिरकालिक अनुध्यानपूर्वक उसका बार बार स्मरण किया, स्मरणात्मक काम का अनुगमन किया, तो इससे आपका मन इस संस्कारसङ्ग में आसक्त हो जायगा। इसी स्थिति का–'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' से स्पष्टीकरण हुआ है। इस सङ्ग से देखे हुए विषय को पुनः देखने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इसी का 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' से विश्लेषण हुआ है। इच्छानुसार यदि दुबारा आप उस दृश्य देखने में सफल हो गए, तो उस पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लिया तो कालान्तर में शक्तिह्रास से अभिलषित विषय संरक्षण की क्षमता से आपका शारीरयन्त्र क्षुब्ध हो जायगा। यदि अन्य कामप्रतिबन्धक के आ जाने से आपकी इच्छा सफल न हुई तो भी शारीरयन्त्र क्षुब्ध हो जायगा। इसप्रकार उभयथा तज्जनित काम शारीरयन्त्रक्षोभकारण क्रोध का जनक बन जायगा, जिसका–'कामात् क्रोधोऽभिजायते' से स्पष्टीकरण हुआ है। क्रोध कालान्तर में सत्यासत्यविवेकरहित–उन्मत्ततालक्षण सम्मोह में परिणत हो जायगा, जिसका–'क्रोधाद्भवति संमोहः' से विश्लेषण हुआ है। संमोह वैचित्त्य लक्षण स्मृतिविभ्रम का कारण बन जायगा, जिसके लिए–'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः' कहा गया है। स्मृतिविभ्रम से बुद्धिस्वरूपविनाशक अज्ञानभाव (सदसद्विवेकाभाव) का जन्म हो पड़ेगा, जिसका–'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः' से विश्लेषण हुआ है। इसप्रकार अन्ततोगत्वा अन्त का–'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' सर्वात्मना चरितार्थ हो जायगा, जिसे चरितार्थ न होने देने के लिए ही बुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या प्रवृत्त हुई है।

१–जन्मान्तरीयसञ्चितसंस्कारलेपः————प्रथमकर्मविभागः (संस्काररूपाणि कर्माणि)
२–ऐहिक-ऐन्द्रियकविषयसाक्षात्कारः————द्वितीयकर्मविभागः (कर्मरूपाणि कर्माणि)
३–ऐहिक ऐन्द्रियकविषयसंस्कारलेपः————तृतीयकर्मविभागः (संस्काररूपाणि कर्माणि)
४–ऐहिक-संस्कारानुगता विषयसाक्षात्कारपरम्परा-चतुर्थकर्मविभागः (कर्मरूपाणि कर्माणि)

१–प्रथमकर्मणा विषयसाक्षात्कार–ऐन्द्रियककर्माधारभूतस्य कामस्योदयः–
सङ्गात् सञ्जायते कामः (सङ्गात–जन्मान्तरीयसञ्चितसंस्कारात्मकात्–काम–साक्षात्कारेच्छा प्रादुर्भवति)।

२ विषयसाक्षात्काराधारभूतस्य कामस्य–जन्मान्तरीयसङ्गजनितस्य–चिरकालिकानुध्यानात्–द्वितीयकर्मणा समुत्पन्ने संस्कारे आसक्तिर्जायते। संस्कार आसक्त्योपलक्षणरूपेण परिणतो भवति–'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' (तत्रैव स्थितस्य मनसः–चिरकालिकानुध्यानात्–तेषु दृष्टविषयेषु–रागासक्तिरूपता भवति)। स एष सङ्गपदार्थः–जन्मभोक्ता–ऐहिकजन्मानुगतः।

३–तं गृहीत्वा गृहे परावर्तितास्तत्र भवन्तो भवन्तः। अत्र भगवानाह–

(१)–'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते'

"द्वितीयकर्मणा समुत्पन्ने संस्कारे यदि स्मृत्यात्मकक्रमेण पुनः पुनः संस्मरणं, तर्हि तस्मिन् मन आसक्तो भवति, तत्र रागासक्त्या सज्जते।

(२)–'सङ्गात् सञ्जायते कामः'

'रागासक्त्यासञ्जनात्–संस्कारानुगतयाऽविषयस्य पुनर्दर्शनकामना'।

(३)–'कामात्क्रोधोऽभिजायते'

पुनर्दर्शनकामसफलतायां, विफलतायां वा क्षोभयत्वा शारीराग्निक्षोभलक्षणस्य क्रोधस्योदयः'।

(४)–'क्रोधाद्भवति संमोहः'

'क्षोभलक्षणक्रोधात्–तत्तिरागानुकूलसंस्कारा–अस्तव्यस्ताः–अविभक्ताः–सन्तः–सम्मुग्धा जायन्ते'।

(५)–'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः'

'संस्काराणां अस्तव्यस्तत्वात्–विभक्त–व्यवस्थित–धर्मानुगताया स्मृतेरभावः।

(६)–'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः'

स्मृत्यभावे बुद्धिस्वरूपसंरक्षकस्य व्यवसायलक्षणविवेकधर्मस्योच्छेदप्रसङ्गः"।

तदित्थं—

१–ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
२–क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्–बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

—गीता २।६२-६३।



३३–राग, और द्वेष का जन्य–जनक भाव

रजोगुणानुगता रागासक्ति का स्वरूप परिचय कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि –'रजोगुणानुगत–संस्कृत अनुकूलसंस्कारलक्षणावच्छिन्न शारीराग्निगर्भित मन से निकलने वाली कामसंस्पर्श रश्मियाँ ही काम नाम की अनुकूल कामना है। अनुकूलकामनात्मिका अनुकूलसंस्कारकामनात्मिका ही रागासक्ति है। रागासक्ति कैसे क्यों हो जाती है? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही यहाँ से आरम्भ कर उक्त विषय पर्यन्त काम–परम्पराओं की प्रासंगिक मीमांसा करनी पड़ी। इसी रागासक्ति से द्वेषासक्ति का स्वरूप–परिचय भी उपलब्ध है। रागासक्ति का मूल यदि सुखानुशायी काम है तो द्वेषासक्ति का मूल दुःखानु–

स्थायी क्रोध है । उधर क्रोध काम से उत्पन्न रहता है । अतएव कामात्मिका रागासक्ति में ही क्रोधात्मिका द्वेषासक्ति का भी अन्तर्भाव माना जासकता है । प्रसङ्गोपात्त इसके सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न माना जायगा ।

२४–रागद्वेष का लक्षणसमन्वय—

रजोगुणानुगत–संचित प्रतिकूलसंस्कारोत्थानविक्षुब्ध मानस क्षोभगर्भित शारीराग्नि से निकलने वाली अर्चिःस्वरूपा रश्मियाँ ही 'क्रोध' नाम की प्रतिकूलकामना है । यह प्रतिकूलकामना प्रतिकूल विषय के ही अनुगत बनी रहती है । अतएव क्रोधात्मिका प्रतिकूल कामना दुःखानुशायिनी मानी गई है । दुःख में (दुःखानुबन्ध प्रतिकूल विषय के परित्यागात्मक भाव में) क्षोभमोह मन ही क्रोध है । इस क्रोधात्मिका प्रतिकूल कामना (द्वेषकामना) से युक्त प्रतिकूल–द्वेष्य–कामात्मक प्रतिकूल संस्कारबन्धन ही द्वेषात्मक राग है । यही द्वेषासक्ति है । आपकी दृष्टि प्रतिकूल–संचित संस्कारानुगत प्रतिकूल काम (इच्छा) से पुरोऽवस्थित प्रतिकूल विषय पर पड़ी । आपका मन क्लान्त हो गया, आपने वहाँ से जल्दी से जल्दी मनको निकालना आवश्य चाहा । परन्तु उसकी छाप आपके मनोपटल पर अङ्कित हो गई । यही छाप स्वल्पोत्कर्ष में परिणत हो गई । अब जब भी स्मृति के द्वारा वह उद्बुद्ध हो जाती है, वह द्वेष्य विषय नष्ट करते हुए भी आपको क्लान्त बनाता रहता है । यही द्वेषासक्ति का उदाहरण है । रागासक्ति से जहाँ अनुकूलवेदनात्मक सुख का अनुभव होता रहता है वहाँ इस द्वेषासक्ति में प्रतिकूलवेदनात्मक दुःख का अनुभव होता रहता है । इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने कहा है कि–'सुखानुशायित–कामानुबन्धी–अनुकूल भावना–वासनासंस्कार के साथ होने वाला प्रज्ञानमन का सामान्य ग्रन्थिबन्धन ही 'राग' है यही रागासक्ति है' । एवं–'दुःखानुशायित–क्रोधानुबन्धी प्रतिकूल भावना–वासनासंस्कार के साथ होने वाला प्रज्ञानमन का दृढ़–ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध ही 'द्वेष' है, यही द्वेषासक्ति है । इसी आधार पर इस दृष्टि से वैराग्यविरोधी राग–द्वेषद्वन्द्व का निम्न लिखित लक्षण किया जा सकता है ।

१–सुखानुशायित–कामानुबन्धि–अनुकूलभावनावासनासंस्कारैः ग्रन्थिगर्भितमनसः सामान्यग्रन्थि–बन्धनसम्बन्धः आसक्तिरूपो वा–'रागः' । सैषा रागासक्तिः ।

२ दुःखानुशायित–क्रोधानुबन्धि–प्रतिकूलभावनावासनासंस्कारैः–क्षोभगर्भितान्तेः–दृढग्रन्थिबन्धन–सम्बन्ध–आसक्तिरूपो वा–'द्वेषः' । सैषा द्वेषासक्तिः ।

३५–रागाकर्षणात्मक प्रेम के पाँच विभिन्न क्षेत्र—

अन्य दृष्टि से 'रागद्वेषात्मा' का समन्वय कीजिए । जिस भौतिक विषय का हमारा मन ग्रहण करना चाहता है उस विषय के प्रति मन का स्वाभाविक आकर्षण रहता है । एवं जिस विषय से हमारा मन हटना चाहता है उसके प्रति मन का विकर्षण रहता है । पहिले आकर्षणात्मकयोग का उदाहरण देखिए । पति का मन पत्नी की ओर पत्नी का मन पति की ओर स्वभावतः आकर्षित रहता है । पिता–पुत्र गुरु–शिष्य मित्र मित्र, इत्यादि स्थलों में दोनों का दोनों ओर समानाकर्षण है । आकर्षणात्मकयोग का अर्थ है मानस योग्य

रस का लक्ष्य की ओर प्रवाहित रहना । यही रसप्रवाह 'प्रेम' कहलाया है । अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक, परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक समानानुयोगिक समानप्रतियोगिक, एकतोऽनुयोगिक सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक, भेद से इस रसप्रवाहात्मक आकर्षण के पाँच विवर्त हो जाते हैं । पिता आदि परों का पुत्रादि अवरों के साथ जो स्वाभाविक प्रेमाकर्षण है वही अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक 'वात्सल्य' नामक आकर्षण है । वात्सल्यरस परों से प्रवाहित होकर अवरों की ओर जा रहा है । इस रस का योग अवरों से हो रहा है । अतएव इसे परप्रतियोगिक–अवरानुयोगिक कहा जाता है । इस स्थिति को ठीक उलट कर दीजिए । पुत्रादि अवरों का पितादि परों के साथ जो स्वाभाविक प्रेमाकर्षण है वही परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक 'श्रद्धा' नामक आकर्षण है । श्रद्धारस अवरों से प्रवाहित होकर परों की ओर जा रहा है । इस रस का योग परों से हो रहा है । अतएव इसे परानुयोगिक अवरप्रतियोगिक कहा जाता है । एक मित्र दूसरे मित्र के लिए समान है । 'समानशील-व्यसनेषु मैत्री' सिद्धान्तानुसार समान धर्मियों में ही मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होता है । एक मित्र से प्रवाहित होकर उसका प्रेमारस दूसरे मित्र की ओर जा रहा है, तो उस दूसरे मित्र का प्रेमारस इस प्रथम मित्र की ओर जा रहा है । प्रथम मित्र का प्रेमारस द्वितीय मित्र की अपेक्षा समानानुयोगिक, स्वापेक्षया समान प्रतियोगिक है, तो द्वितीय मित्र का प्रेमारस प्रथम मित्रापेक्षया समानानुयोगिक, एवं द्वितीय मित्रापेक्षया समानप्रतियोगिक बना हुआ है । दोनों के प्रेमारस परस्पर एक दूसरे के प्रति समानरूप से प्रवाहित हो रहे हैं । यही समानप्रतियोगिक–समानानुयोगिक प्रेमाकर्षण 'स्नेह' कहलाया है । श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह, तीनों आकर्षणों में आकर्षणसम्बन्धियों के चेतन होने से, सजीव हैं । गृह, वस्त्र, आभूषण, पुस्तक, उद्यान, अन्न, आदि जड़ पदार्थों के प्रति भी प्रेमारस प्रवाहित रहता है । प्रवाहित होकर वह इन जड़ पदार्थों में आबद्ध हो जाता है । इसी आधार पर–'आत्मवित्तं तावदात्मा' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इनमें न अनुयोगिकता है न प्रतियोगिकता । केवल हमारे रस का उनके साथ योग है । अतएव इस प्रेमाकर्षणात्मक 'काम' नामक आकर्षण को एकतोऽनुयोगिक कहा गया है । पाँचवें प्रेमाकर्षण में श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह–काम चारों आकर्षणों का समन्वय है, अतएव 'रति' नाम से प्रसिद्ध सर्वात्मक यह आकर्षण सर्वानुयोगिक–सर्वप्रतियोगिक कहलाया है । इसके सर्वपरानुयोगिक सर्वावरप्रतियोगिक–रत्याकर्षण एवं सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक, भेद से दो भेद माने गए हैं । हम श्रद्धाभाव से ईश्वर की उपासना करते हैं जिस उपासना का वासुदेवनन्दन वासुदेवस्वरूप से सम्बन्ध है । वात्सल्यभाव से उपासना करते हैं जिस उपासना का नन्दनन्दनस्वरूप से सम्बन्ध है । हम स्नेहभाव से उसकी उपासना करते हैं जो उपासना कृष्णसखा अर्जुन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध हुई है । पाषाण-धात्वादि मूर्त्यभिनिवेशोपासना (प्रतीकोपासना प्रतिमोपासना) का कामभाव से सम्बन्ध है । सूर्य चन्द्रादि लक्षण प्रतीकोपासना का भी इसी कामभाव में अन्तर्भाव है । इसप्रकार सगुणब्रह्म के सम्बन्ध में चारों प्रेमाकर्षणों का समन्वय हो रहा है । पर सगुणब्रह्म है, उपास्य है । उपासक जीवात्मा अवर है । सम्प्रदायक अवरों पर ईश्वर की न किसी पर श्रद्धा है न वात्सल्य है, न स्नेह है, न काम है, और यही वैज्ञानिक तत्त्वोपासना का तत्त्व है जिसका भक्तियोगपरीक्षाप्रकरणों में बहुधा प्रतिपादन किया जा चुका है । अतएव यह सर्वाकर्षण अवरप्रतियोगिक ही माना जायगा । उपासक की श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह कामवृत्तियों की उपास्य ईश्वर की ओर ही अनुगति रहती है । अतएव एवंविध सर्वाकर्षण 'परानुयोगिक' ही माना जायगा । क्योंकि परानुयोगिक–अवरानुयोगिक इस आकर्षण में चारों का समन्वय है, अतएव इस ईश्वरानुगत भक्त्याकर्षण का नाम 'रति'

नामक–सर्वपरानुयोगिक–स्वपरप्रतियोगिक रसाकर्ष ही कहेंगे। जिसका निष्कर्ष यही होगा कि सर्वरस–प्रवाहात्मक 'रति' प्रेम का एक क्षेत्र उपास्य स्वरूप माना है। इस रति से जीव भी उन्मुक्त हो जाता है *।

दूसरे रसाकर्षण का क्षेत्र दाम्पत्यभाव है। दाम्पत्यभावानुगत रसाकर्षण ही सर्वानुयोगिक सर्वप्रतियोगिक नाम का दूसरा रसाकर्षण है। पहिले पति के क्षेत्र से समन्वय कीजिए। पत्नी पति पर श्रद्धा करती है उसे आराध्य मानती है। पत्नी का श्रद्धारस पति के लिए प्रतियोगी है पति के लिए अनुयोगी है। जिस प्रकार स्वसन्तति की रुग्णावस्था में माता के अन्तर्जगत् में वात्सल्यरस उमड़ पड़ता है तथैव पति की रुग्णावस्था में भी 'माता' स्थानियकारिणी (मातृस्थानाधिकारिणी) पत्नी का वही वात्सल्यरस प्रवाहित होने लगता है, जो अनुभवैकगम्य है। पत्नी का यह वात्सल्यरस भी पत्नी का प्रतियोगी एवं पति के लिए अनुयोगी (अनुकूल) बन रहा है। 'सहधर्म्मं चरताम्' को चरितार्थ करने वाली पत्नी यावज्जीवन पति की सङ्गिनी बनी रहती है। पतिसुख में सुखानुभव करने वाली पतिदुःख में दुःखानुभव करने वाली पत्नी अपना मित्रानुगत स्नेहरस भी पति की ओर प्रवाहित रखती है। यहाँ भी पत्नी का यह स्नेहरस पत्नी के लिए प्रतियोगी, एवं पति के लिए अनुयोगी सिद्ध होरहा है। पति की कामानुगता रति, अधरोष्ठचूषणानुगत मासलैन्ध्य मन्दहास आदि के प्रति भी कामानुगता पत्नी आकर्षित रहती है। यही इसके कामरस का पति की ओर बहाव है। यहाँ भी पत्नी का कामरस इसके लिए प्रतियोगी है एवं पति के लिए अनुयोगी है। इसप्रकार पत्नी के मनोऽनुगत श्रद्धादि चारों रस 'पत्युनुयोगिक–पत्नीप्रतियोगिक' रस से सर्वात्मक बने हुए हैं। अतएव चतुर्विध इस रस–पुञ्जमय पत्नीप्रेम को अवश्य ही 'रति' कहा जासकता है। ठीक यही स्थिति पत्नी–क्षेत्र के सम्बन्ध में घटित हुए है। गहमहिषीरूपा–श्रीरूपा–पत्नी पति के लिए सर्वथा है सम्माननीया है जैसा कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' इत्यादि मनु स्मृतिवचन से प्रमाणित है। पति की वात्सल्यदृष्टि से भी पत्नी अनुगृहीत रहती है। स्नेहानुगति भी स्पष्ट प्रमाणित है। कामानुगत केशपाशकबरीकस्तूर्यादि विन्यासलक्षण कामरस प्रवाह भी सुसिद्ध है। पति के ये श्रद्धादि चारों रस स्वयं पति के लिए प्रतियोगी हैं एवं पत्नी के लिए अनुयोगिक है। पति के मनोऽनुगत श्रद्धादि चारों रस पत्न्यनुगत पतिप्रेम को अवश्य ही 'रति' कहा जासकता है। यही 'सर्वानुयोगिक–सर्वप्रतियोगिक' नामक दूसरा रसाकर्षण है, जिसका एक मात्र क्षेत्र दाम्पत्यभाव ही माना गया है। पत्नीप्रेम की प्रतिष्ठा पतिप्रेम है पतिप्रेम की प्रतिष्ठा पत्नीप्रेम है। उभयानुगता रति उभयसापेक्षा है। यही दाम्पत्य में आकर्षण का वैज्ञानिकस्वरूप है। निष्कर्षतः आकर्षणलक्षण रसप्रतिष्ठ ही हुआ करते हैं। सारांश यही हुआ कि, विश्वानुगत मानव स्वभावतः ही आकर्षणमय है एवं यह श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह–काम–गर्भित, भेद से चतुर्धा विभक्त है जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

---

*—कामं, क्रोध, भयं, स्नेह, ऐक्यं, सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
—श्रीमद्भागवत १० स्कं पू. २९ अ० १५ श्लोक।

जाती है। रागात्मक सम्बन्ध आकर्षणात्मक है, द्वेषात्मक सम्बन्ध विकर्षणात्मक है, यही तात्पर्य है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कामानुगत मानस आकर्षण का ही नाम राग, किंवा रागासक्ति है। अतएव रागासक्ति में मन रागानुगत भाव्य विषय की ओर सदा आकर्षित रहता है। क्रोधानुगत मानस विकर्षण का ही नाम द्वेष किंवा द्वेषासक्ति है। अतएव द्वेषासक्ति में मन द्वेषानुगत भाव्य विषय से सदा हटा रहता है। दूसरे शब्दों में आकर्षणगुणसम्प्रयोग ही राग है, विकर्षणसम्प्रयोग ही द्वेष है। यही रागद्वेषद्वन्द्व सम्बन्ध का तृतीय दृष्टिकोण है।

कामानुगताकर्षणसम्प्रयोग —राग
क्रोधानुगतविकर्षणसम्प्रयोगः—द्वेष } —आसक्तिः

कामानुगतमाकर्षणम्—वा—रागः
क्रोधानुगतं विकर्षणम्—वा—द्वेषः } —आसक्तिः

३७ कामक्रोधानुबन्धी रागद्वेषद्वन्द्व—

चौथी दृष्टि से रागद्वेषद्वन्द्व का समन्वय कीजिए। राग भी काममूलक है। द्वेष भी काममूलक है। रागकामना से रागासक्ति का उदय होता है, द्वेषासक्ति से द्वेषासक्ति का उदय होता है। इसप्रकार यद्यपि राग द्वेष दोनों का प्रवर्तक 'काम' ही है। तथापि इन दोनों में से रागमूलक काम को तो 'काम' शब्द से ही व्यवहृत किया जाता है। एवं द्वेषमूलक काम को 'काम' न कह कर 'क्रोध' कहा जाता है। कारण यही है कि रागमूलक काम शारीरपार्थिवगर्भित मन से विनिर्गत होता हुआ सुखानुगामी, अतएव सौम्य है। उधर द्वेषमूलक काम मनोगर्भित शारीराग्नि से विनिर्गत होता हुआ दुःखानुगामी, अतएव आग्नेय है। आग्नेयकाम क्रोध है, सौम्य स्नेह काम है। अतएव सौम्य मनःप्रधाना रागमूला कामना स्नेहलक्षणा आकर्षणासक्ति के द्वारा रागबन्धन की जननी बनती है। एवं आग्नेयप्राणप्रधाना द्वेषमूला कामना क्रोधलक्षणा विकर्षणासक्ति के द्वारा द्वेषबन्धन की जननी बनती है। द्वेषबन्धन प्राणाग्निप्राधान्य से बन्धनात्मक परित्यागात्मक बन्धन है। रागबन्धन मनःसोमप्राधान्य से बन्धनात्मक-ग्रहणात्मक बन्धन है। इसप्रकार रजोगुणाधारेण प्रतिष्ठित एक ही काम सोमाग्नि के तारतम्य से कामात्मक काम, क्रोधात्मक काम इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। कामात्मक काम 'काम' कहलाता है, क्रोधात्मक काम 'क्रोध' कहलाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि राग कामानुबन्धी है, द्वेष क्रोधानुबन्धी है। राग में काम का साम्राज्य है, किंवा काम में राग का साम्राज्य है। एवं द्वेष में क्रोध का, किंवा क्रोध में द्वेष का साम्राज्य है। ऐसी स्थिति में यदि काम को राग का, एवं क्रोध को द्वेष का जनक कह दिया जाय, तब भी अत्युक्ति न होगी।

कामजनित राग से सम्बन्ध रखने वाले इन अनुबन्धों में तादात्म्यविषयता रहती है। रागासक्ति के सत्त्व को अपना कर अनुकूल वेदनात्मक सुखानुभव करता हुआ कर्मफलभोक्ता कामकामी रागी उस सत्त्व को भी

१–परानुयोगिक–अवरप्रतियोगिक प्रेमाकर्षणम् –'श्रद्धा']–सत्वगुणाकर्षणम्

२–अवरानुयोगिक–परप्रतियोगिक प्रेमाकर्षणम् –'वात्सल्य' }

३–समानप्रतियोगिक–समानानुयोगिक प्रेमाकर्षणम् –'स्नेह' } –रजोगुणाकर्षणम्

४–एकतोऽनुयोगिक प्रेमाकर्षणम् –'काम']–तमोगुणाकर्षणम्

५–सर्वानुयोगिक–सर्वप्रतियोगिक प्रेमाकर्षणम् –'रति']–सर्वगुणाकर्षणम्



३६–आकर्षण–विक्षेपणात्मक रागद्वेषद्वन्द्व—

उभयपक्ष–मानस प्रेमाकर्षण में दोनों का दोनों ओर आकर्षण होता है। एक दूसरे ने परस्पर एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण कर रक्खा है। यह प्राकृतिक प्रेमाकर्षण ही 'राग', किंवा रागासक्ति है। ठीक इसके विपरीत इसी मानस रस का परस्पर विक्षेपण होना ही 'द्वेष' किंवा द्वेषासक्ति है। सामने आपका शत्रु खड़ा है। आपका मानस रस (क्लिष्ट) उसकी ओर खिंचा जा रहा है उसका रस आपकी ओर खिंचा जा रहा है। दोनों के रस का अणुमात्र भी स्पर्श नहीं हो रहा है। प्रश्न किया जा सकता है कि, पूर्व में द्वेषासक्ति का विश्लेषण करते हुए इसमें मानस रस का सम्बन्ध बतलाया गया है। अब यहाँ यह कहा जा रहा है कि, दोनों के रसों का स्पर्श भी नहीं हो पाता। यह कैसा पूर्वापरविरोध ?। उत्तर स्पष्ट है। 'संयोगा विप्रयोगान्ता' सिद्धान्तानुसार संयोग यदि वियोगान्त है, तो वियोग संयोगान्त है। राग का अर्थ है संयोग। विश्वास कीजिए–यह संयोगात्मक राग अवश्य ही 'अतिपरिचयादवज्ञा' के अनुसार किसी दिन वियोगात्मकरूप में परिणत हो जायगा और संयोगात्मक राग की यह वियोगाभिमुख दशा ही वियोगात्मक द्वेष रूप में परिणत हो जायगी। यों रागासक्ति ही किसी दिन द्वेषासक्तिरूप में परिणत हो जायगी। द्वेष का अर्थ है वियोग। यदि यह वियोग चिरस्थायी बना रहेगा, तो अवश्य ही यह किसी दिन संयोगरूप में परिणत हो जायगा और वियोगात्मक द्वेष की यह संयोगाभिमुख दशा ही संयोगात्मक रागरूप में परिणत हो जायगी। यों द्वेषासक्ति ही कालान्तर में रागासक्तिरूप में परिणत हो जायगी। राग का चरम परिणाम होगा द्वेष, द्वेष का चरम परिणाम होगा राग। सोम का आत्यन्तिक सम्बन्ध ही विकासात्मक अग्नि है, एवं अग्नि का आत्यन्तिक विकास ही संकोचात्मक सोम है। यही स्थिति अग्निगर्भित सौम्य मन से विनिर्गत कामानुबन्धी सोमगुणक राग की, तथा सोमगर्भित शारीराग्नि से विनिर्गत क्रोधानुबन्धी अग्निगुणक द्वेष के सम्बन्ध में घटित हुई है। जो राग है वही द्वेष है। जो द्वेष है, वही राग है। काम से ही रागोत्पत्ति है काम से ही द्वेषोत्पत्ति है। इस स्थिति को लक्ष्य में रख कर उत्तर का समन्वय कीजिए। द्वेष तभी बन सकता है जबकि पहिले दोनों रसों का संयोग हो। विभाग संयोग को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। योग ही वियोगप्रवृत्ति का कारण बनता है। सम्बन्ध होगा तभी तो सम्बन्धविच्छेद को अवसर मिलेगा। द्वेष में दोनों रसों का दोनों शत्रुओं के सामुख्य होते ही पहिले क्षण भर के लिए प्रज्ञापराध से सम्बन्ध हो जाता है। इस प्राथमिक–प्रासङ्गिक–संयोग के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध अपनी सम्मुखता छोड़ कर विमुखता में परिणत हो जाता है। इसप्रकार विक्षेपणात्मक द्वेष में भी मूल में सम्बन्धाभिमुख आसक्ति की सत्ता ही सिद्ध हो

वाली है। रागात्मक सम्बन्ध आकर्षणात्मक है, द्वेषात्मक सम्बन्ध विकर्षणात्मक है, यही तात्पर्य है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कामानुगत मानस आकर्षण का ही नाम राग किंवा रागासक्ति है। अतएव रागासक्ति में मन रागानुगत बाह्य विषय की ओर सदा आकर्षित रहता है। क्रोधानुगत मानस विकर्षण का ही नाम द्वेष, किंवा द्वेषासक्ति है। अतएव द्वेषासक्ति में मन द्वेषानुगत बाह्य विषय से सदा दूर रहता है। दूसरे शब्दों में आकर्षणात्मकयोग ही राग है, विकर्षणात्मकयोग ही द्वेष है। यही रागद्वेषद्वन्द्व समन्वय का तृतीय दृष्टिकोण है।

कामानुगताकर्षणात्मकयोगः—रागः
क्रोधानुगतविकर्षणात्मकयोगः—द्वेषः
}—आसक्तिः

कामानुगतमाकर्षणम्—वा—रागः
क्रोधानुगतं विकर्षणम्—वा—द्वेषः
}—आसक्तिः

३७ कामक्रोधानुबन्धी रागद्वेषद्वन्द्व—

चौथी दृष्टि से रागद्वेषद्वन्द्व का समन्वय कीजिए। राग भी काममूलक है। द्वेष भी काममूलक है। रागकामना से रागासक्ति का उदय होता है, द्वेषासक्ति से द्वेषासक्ति का उदय होता है। इसप्रकार राग-द्वेष दोनों का प्रवर्तक 'काम' ही है। तथापि इन दोनों में से रागमूलक काम को तो 'काम' शब्द से ही व्यवहृत किया जाता है। एवं द्वेषमूलक काम को 'काम' न कह कर 'क्रोध' कहा जाता है। कारण यही है कि रागमूलक काम [illegible] मन से विनिर्गत होता हुआ [illegible], अतएव सौम्य है। उधर द्वेषमूलक काम मनोगर्भित [illegible] से विनिर्गत होता हुआ [illegible], अतएव आग्नेय है। आग्नेयभाव [illegible] है, सौम्य स्नेह [illegible] है। अतएव सौम्य मनःप्रधाना रागमूला कामना स्नेहलक्षणा आकर्षणशक्ति के द्वारा रागबन्धन की जननी बनती है। एवं आग्नेयप्राणप्रधाना द्वेषमूला कामना [illegible] विकर्षणशक्ति के द्वारा द्वेषबन्धन की जननी बनती है। [illegible] से [illegible] परित्यागात्मक बन्धन है, रागबन्धन [illegible] से [illegible]—ग्रहणात्मक बन्धन है। इसप्रकार रजोगुणापेक्ष प्रतिष्ठित एक ही काम [illegible] के [illegible] से कामात्मक काम, क्रोधात्मक काम इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। कामात्मक काम 'राग' कहलाता है, क्रोधात्मक काम 'क्रोध' कहलाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि राग कामानुबन्धी है, द्वेष क्रोधानुबन्धी है। राग में काम का समावेश है, किंवा काम में राग का समावेश है। एवं द्वेष में क्रोध का, किंवा क्रोध में द्वेष का समावेश है। ऐसी स्थिति में यदि काम को राग का, एवं क्रोध को द्वेष का जनक कह दिया जाय, तब भी असङ्गति न होगी।

कामजनित राग से सम्बन्ध रखने वाले [illegible] [illegible] रहती है [illegible] के
स्वरूप को अपना कर अनुरूप [illegible] गुणानुबन्ध [illegible] [illegible] कामचारी रागी

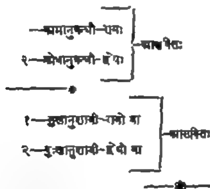
वैराग्य का अर्थ होगा है–काममूलक राग का अभाव। क्या वैराग्य शब्द से केवल काममूलक राग का ही अभाव अभिप्रेत है?। नहीं। अपितु वैराग्यशब्द राग द्वेष, मोह तीनों के अभाव का सूचक बन रहा है। कैसे? सुनिए।।

३६–कामक्रोधलोभमूलक–रागद्वेषमोह—

गीता ने रजोगुण से काम क्रोध की उत्पत्ति मानी है। क्रोध को लोभात्मक 'मोह' का भी उपलक्षण समझना चाहिये। और इस दशा में–'काम एषः, क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः' का अर्थ– काम एष, क्रोध एषः लोभ एषः रजोगुणसमुद्भवः' यह समझना चाहिये। अज्ञानात्मक ज्ञानलक्षण मोह लोभात्मक मोह भेद से मोह दो प्रकार का माना गया है। अज्ञानात्मक ज्ञानलक्षण मोह को पतञ्जलि ने 'अविद्या' शब्द से व्यवहृत किया है। एवं इस अज्ञानात्मक मोह का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान माना गया है जिसका स्थितप्रज्ञानुगत ज्ञानबुद्धियोग से सम्बन्ध है जिसका तृतीय खण्ड में विस्तार से उपवृंहण किया जा चुका है। दूसरा लोभात्मक मोह उस अज्ञानात्मक–ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी–मोह से पृथक् तत्त्व है। लोभात्मक मोह की प्रतिष्ठा अज्ञान नहीं है अपितु रागद्वेषासक्ति है। अतएव इसे रागद्वेषवत् आसक्तिस्वरूप में ही अन्तर्भूत माना जायगा। अतएव इसका प्रतिद्वन्द्वी रागद्वेषासक्तिवत् वैराग्य ही माना जायगा। 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' का मोह ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी अज्ञानात्मक मोह है। एवं–'मोहादारभ्यते कर्म' (१८।२५)–मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्' (१६।१०)–प्रमादो मोह एव च' (१४।१३)–का मोह वैराग्यप्रतिद्वन्द्वी आसक्तिलक्षण मोह है। ज्ञानप्रतिद्वन्द्वी मोह का मूल अज्ञान है वैराग्यप्रतिद्वन्द्वी मोह का मूल लोभात्मिका आसक्ति है। अतएव रागानुगत काम द्वेषानुगत क्रोध इन आसक्तिमूलों के साथ ही मोहानुगत लोभ का संग्रह हुआ है जैसाकि–'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधः–तथा लोभः' इत्यादि भगवद्वचन से प्रमाणित है। काम–क्रोध–लोभ तीनों सहचारी हैं समानधर्मी हैं अभिन्न तत्त्व हैं। राग कामानुबन्धी है द्वेष क्रोधानुबन्धी है, मोह लोभानुबन्धी है। अतएव काम–क्रोध को लोभ का एवं रागद्वेष को मोह का उपलक्षण माना जायगा। गीता ने रजोगुण से काम–क्रोध की उत्पत्ति मानी है जिसमें लोभ का भी समावेश करना पड़ेगा, और कहना पड़ेगा कि काम–क्रोध–लोभ, तीनों रजोगुणसमुद्भूत हैं। कामानुगत राग क्रोधानुगत द्वेष यदि रजोगुणमूलक बनते हुए रागात्मक (आसक्त्यात्मक) हैं, तो लोभानुगत मोह भी रजोगुणमूलक बनता हुआ अवश्य ही रागात्मक माना जायगा। 'राग' का अर्थ होगा आसक्ति। रागलक्षणा (रजोगुणलक्षणा) यह आसक्ति क्योंकि काम–क्रोध–लोभ–मूलक राग–द्वेष–मोह भेद से त्रिधा विभक्त रहती है। अतएव वैराग्य के राग शब्द से 'राग–द्वेष–मोह' तीनों का ग्रहण किया जायगा। और उस दशा में वैराग्य शब्द का अर्थ किया जायगा– राग–द्वेष–मोह–राहित्य'।

रागत्रयी:
- कामः—रजोगुणमूलः–अतएव रागात्मकः–कामराग–सन्मूलो रागः—अनुकूलरागः
- क्रोधः—रजोगुणमूलः अतएव रागात्मकः–क्रोधराग–सन्मूलो द्वेषः—प्रतिकूलरागः
- लोभः—रजोगुणमूलः–अतएव रागात्मकः–द्वेषराग–तन्मूलो मोहः—स्वच्छरागः

सुखानुशायी बनाने में व्यग्र बना रहता है। बच्चे के साथ राग है। अतएव इसके जैसे आप सुखानुभव कर रहे हैं, वैसे रागवशीभूत बच्चे को खिलाना-पिलाना-अच्छे पहिनाना-उसके लिए रमणसाधन (खिलौना) लाना आदि साधनों के द्वारा आप इसे भी सुखी बनाने में तल्लीन रहते हैं। प्रत्येक प्रकार से इसे सुख पहुँचाने का ध्यान रखता है। 'इसे सुख मिले इसे कोई कष्ट न हो' राग में इसी सुखानुबन्ध की प्रधानता रहती है, यो अन्ततोगत्वा दुःखानुबन्धप्राप्ति का कारण बन जाता है। यही वात्सल्यराग बालक के महाभिनिवेश [illegible] से आपके दुःख का कारण बन जाता है। क्रोधजनित द्वेष में ठीक इसके विपरीत है। द्वेष से सम्बन्ध रखने वाले सब अनुबन्धों में [illegible] रहती है। जिसके साथ द्वेष होता है उस पर सदा क्रोधभाव बना रहता है। शत्रु का नामस्मरण होते ही त्यौर मिच जाते हैं भृकुटी चढ़ जाती है। कैसे इसका सर्वनाश हो, कैसे यह दुःखी बने' यह जिघांसावृत्ति प्रबलता जागृत हो जाती है। राग में मन क्योंकि सुख में ओतप्रोत रहता है अतएव भगवान् पतञ्जलि ने राग का—'सुखानुशायी रागः' यह लक्षण किया है। यहाँ 'सुख' से 'काम' ही अभिप्रेत है। जिसका अर्थ होता है—'कामानुबन्धी रागः'। द्वेष में मन क्योंकि दुःख में ओतप्रोत रहता है। अतएव इसका योगदर्शन में—'दुःखानुशायी द्वेषः' यह लक्षण हुआ है। यहाँ दुःख से क्रोध ही अभिप्रेत है। अतएव इसका अर्थ होता है—'क्रोधानुबन्धी द्वेषः'। तात्पर्य कहने का यही है कि विषय-सम्बन्धानुगता [illegible] वृत्ति काम है, नाशानुकूला विषयवियोगानुगता [illegible] वृत्ति क्रोध है। राग एवंविध कामानुबन्धी है सुखानुशायी है। द्वेष एवंविध क्रोधानुबन्धी है, दुःखानुशायी है।



१८—रजोमूलक-काम-क्रोध-मोह—

रागद्वेषात्मक आसक्ति का अनेक दृष्टि से समन्वय किया गया। रागद्वेष दोनों क्रमशः काम-क्रोध-मूलक हैं। काम-क्रोध, दोनों तत्त्वतः कामासक्तिलक्षण हैं। काम ही तत्त्वतः दोनों का मूल है। अतएव योगशास्त्र-पठित 'राग, द्वेष' नामक दोनों क्लेशों की समष्टि को 'आसक्ति' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। अतएव पाँच क्लेशों के स्थान में इस सिद्धान्त के कारण चार ही क्लेश रह जाते हैं। चारों क्लेशों में से रागद्वेषात्मक आसक्ति क्लेश का प्रतिद्वन्द्वी आसक्तिनिवर्तक भाव ही वैराग्य नाम से प्रसिद्ध हुआ है। आसक्ति-क्लेश का स्वरूपानुसार स्वरूप परिचय कराया गया। अब तत्प्रतिद्वन्द्वी-आसक्तिनिवर्तक वैराग्य-भाव का दिग्दर्शन करा दिया जाता है। विषयरागाभाव का ही नाम 'वैराग्य' है। 'राग' काममूलक बतलाया गया है।

४०–'रजो रागात्मकं विद्धि' का समन्वय—

'रजो रागात्मकं विद्धि' (गी० १४।७) के अनुसार रजोगुण रागात्मक है आसञ्जनात्मक है। आसञ्जन क्योंकि कामासञ्जन–क्रोधासञ्जन–लोभासञ्जन भेद से तीन मार्गों में विभक्त है, अतएव रजोगुण भी तीन भागों में विभक्त हो जाता है। कामासञ्जनानुगत (कामरागानुगत) रजोगुण अनुकूलासक्ति का, क्रोधासञ्जनानुगत (क्रोधरागानुगत) रजोगुण प्रतिकूलासक्ति का एवं लोभासञ्जनानुगत (लोभरागानुगत) रजोगुण स्तम्भासक्ति का जनक बनता है। रजोगुणमूला अतएव रागात्मिका अनुकूलासक्ति ही 'राग' नाम से, रजोगुणमूला अतएव रागात्मिका प्रतिकूलासक्ति ही 'द्वेष' नाम से, एवं रजोगुणमूला, अतएव रागात्मिका स्तम्भासक्ति ही 'मोह' नाम से व्यवहृत हुई है। इस दृष्टि से राग–द्वेष–मोह–तीनों का रागात्मकत्व सिद्ध हो जाता है।

४१–त्रिगुणात्मक रजोगुण का त्रिवृद्रूप—

एक बात और। त्रिवृद्भाव के कारण मनःप्राणवाङ्मयी सत्त्व–रजस्तमोलक्षणा गुणत्रयी भी त्रिवृद्भाव में परिणत रहती है जिसका आर्षविधानुगत धर्मबुद्धियोगनिरूपक प्रथम खण्ड में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस त्रिवृद्भाव के कारण मध्यस्थ रजोगुण भी सत्त्वरूप रज, रजोरूप रज, तमोरूप रज, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। सत्त्वगुणात्मक रजोगुण काम का, एवं कामानुगत अनुकूलासक्तिलक्षण 'राग' का मूल बनता है। रजोगुणात्मक रजोगुण क्रोध का एवं क्रोधानुगत प्रतिकूलासक्तिलक्षण 'द्वेष' का मूल बनता है। तमोगुणात्मक रजोगुण लोभ का एवं लोभानुगत स्तम्भासक्तिलक्षण 'मोह' का मूल बनता है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण राग को सत्त्वानुगत, द्वेष को रजोऽनुगत, एवं मोह को तमोऽनुगत माना जा सकता है। सत्त्वगुण सुखानुशयी है। अतएव सत्त्वगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत काम, एवं कामानुगत राग को सुखानुशयी माना जायगा। रजोगुण दुःखानुशयी है। अतएव रजोगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत क्रोध एवं क्रोधानुगत द्वेष को दुःखानुशयी माना जायगा। तमोगुण स्तम्भशायी है। अतएव तमोगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत लोभ एवं लोभानुगत मोह को स्तम्भानुशयी माना जायगा, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१–सत्त्वगुणात्मकं–रजः–तन्मूलः कामः–तदनुगतासक्तिः–'रागः' (सुखानुशयी)

२–रजोगुणात्मकं–रजः–तन्मूलः क्रोधः–तदनुगतासक्तिः–'द्वेषः' (दुःखानुशयी)

३–तमोगुणात्मकं–रजः–तन्मूलः लोभः–तदनुगतासक्तिः–'मोहः' (स्तम्भानुशयी)

४२–वैराग्य का तात्त्विक स्वरूप—

सत्त्वगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'काम' से सम्बन्ध रखने वाले राग में प्रवृत्ति है। रजोगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'क्रोध' से सम्बन्ध रखने वाले द्वेष में निवृत्ति है। एवं तमोगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न 'लोभ' से सम्बन्ध रखने वाले मोह में स्तम्भन है। इसप्रकार त्रिवृद्भावापन्न एक ही

रजोगुण क्रम क्षोभ-लोभ द्वारा राग द्वेष-मोह का जनक बना हुआ है। अतएव वैराग्य के राग शब्द का उपलक्षणविधि (गर्भविधि) से रागसहचारी द्वेष मोह का भी संग्राहक माना जा सकता है। अतएव च वैराग्य का—'रागद्वेषमोहराहित्यं वैराग्यम्'-यह लक्षण किया जा सकता है।

४३–विषयानुगत रागद्वेषमोहत्रयी का अनुमानित साहचर्य—

राग-द्वेष-मोह तीनों में अनुमानित (काल्पनिक-कल्पित) साहचर्य माना गया है। कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति का मन कामात्मक राग से युक्त है। जबतक मन में कामात्मक राग रहेगा, तबतक क्रोधात्मक द्वेष तथा क्षोभात्मक मोह को अवसर न मिलेगा। एवमेव क्रोधात्मक द्वेष की सत्ता में राग-मोह को क्षोभात्मक मोह की सत्ता में रागद्वेष को अवसर न मिलेगा। राग प्रवृत्ति है, द्वेष निवृत्ति है मोह स्तम्भन है। जबतक प्रवृत्ति है, तबतक निवृत्ति-स्तम्भन सम्भव नहीं। जबतक निवृत्ति है, तबतक प्रवृत्ति स्तम्भन सम्भव नहीं। एवं जबतक स्तम्भन है तबतक प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्भव नहीं। तात्पर्य—तीनों एककालावच्छेदेन (एक समय में) मनोपरातल पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकते। प्रतिष्ठास्थान एक ही है परन्तु प्रतिष्ठाकाल तीनों का विभिन्न है। पहिरा एक है पहरा देने वाले ८ हैं। आठों सिपाही एक ही समय में पहरा नहीं देते। आठों का समय उस एक ही पहिरे के लिए दिनरात में ३-३-घन्टे से विभक्त है। कालभेदेन विभिन्न भी आठों पहिरेदारों का परस्पर साहचर्य है। कोई किसी का अनिष्ट नहीं करना चाहता। कोई किसी का बलप्रयोगपूर्वक स्थान नहीं छीनता। दूसरे के आजाने से पहिला अपना अधिकार इस दूसरे को देकर हट जाता है। आदान-प्रदानात्मक यही साहचर्यक्रम आठों में चलता रहता है। ठीक यही स्थिति यहां समझिए। मनोपरातल रूप पहिरा एक है। पहिरा देने वाले राग-द्वेष-मोह भाव तीन पहिरेदार हैं। रागदशा में द्वेष उसका स्थान नहीं छीनता द्वेषदशा में राग उस स्थान पर आक्रमण नहीं करता। मोहदशा में रागद्वेष तटस्थ बने रहते हैं। यही तीनों का अनुमानित साहचर्य है। अनुमानित इसलिए कहना पड़ा कि, तीनों स्वरूपतः सर्वथा विभिन्न हैं अतएव विरोधी हैं। अतएव तीनों साथ नहीं रह सकते। अनान्तर्यात्मक ऐसा साहचर्य (अनुकम्पात्मक ऐसा सम्बन्ध) ही अनुमानित (कल्पित) साहचर्य माना गया है। तीनों का, तीनों के मूलाधारभूत सत्त्व-रज-तमोगुणों का इसी अन्योऽन्याभिभवात्मक अनुमानित साहचर्य से परस्पर अभिभव होता रहता है। कभी राग द्वेष को दबा देता है कभी द्वेष राग को, तो कभी मोह राग द्वेष को दबा देता है। 'अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः' (सांख्यकारिका) से इसी अनुमानित साहचर्य का स्पष्टीकरण हुआ है। इस सम्बन्ध के आधार पर राग को द्वेष, तथा मोह का उपलक्षक मानते हुए वैराग्य का राग-द्वेष-मोह राहित्य लक्षण सम्पन्न बन जाता है।

तर्कानुगता बुद्धिलक्षिता उपलक्षणविधा से सम्बन्ध रखने वाले अनुमानित साहचर्य को प्रामाणिक मानते हुए यद्यपि उक्त प्रकारानुसार राग को द्वेष-मोह का उपलक्षक मान कर वैराग्य का 'रागद्वेषमोहराहित्य लक्षण किया जा सकता है। तथापि इस उपलक्षणविधा में पूर्ण अभिरुचि प्रकट नहीं की जा सकती। इसी स्वारस्य के अभाव से एक दूसरे दृष्टिकोण से राग को द्वेष, और मोह का संग्राहक माना जायगा। विज्ञानु कहते हैं—राग-द्वेष-मोह तीनों परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। कथन है भी यथार्थ। ऐसी दशा में—'अनानन्तर्य-मतयोरानन्तर्यम्' इस न्यायविधि का सहारा ले कर तीनों विरोधियों में कल्पित साहचर्य मानना व्यर्थ

ही तीनों विरोधियों के अविरोध की कल्पना कर एक से तीन का ग्रहण करना तर्कानुगत पक्ष अवश्य हो सकता है। किन्तु इसे तत्त्वानुगत–विज्ञानसिद्ध पक्ष नहीं कहा जा सकता। विज्ञानदृष्ट्या तो 'वैराग्य' का अर्थ केवल 'रागराहित्य' ही सिद्ध होता है। यही उपलक्षणविधात्मक कल्पित साहचर्य्य में अरुचि है। इसकी निवृत्ति के लिए ही पाठकों का ध्यान अन्य उस दृष्टिकोण की ओर आकर्षित किया जाता है, जिसका प्रधानविधा से ही सम्बन्ध है।

४४–संस्कारानुगता रागद्वेषमोहत्रयी का वास्तविक साहचर्य्य—

विषयानुगति मनोऽनुगति, भेद से राग–द्वेष–मोह त्रयी दो भागों में विभक्त मानी जा सकती है। जहाँ विषयानुगत राग द्वेष मोह वास्तव में परस्पर विरुद्ध हैं। जिस आलम्बन के साथ राग है वहाँ द्वेष नहीं। जिसके साथ द्वेष है उसके साथ राग नहीं। जिसके प्रति मोह है उसके प्रति राग–द्वेष नहीं। मित्र के साथ द्वेषाभाव है शत्रु के साथ रागाभाव है। इसप्रकार विषयानुगत रागादि वास्तव में परस्पर विरुद्ध होते हुए एकत्र नहीं रह सकते। परन्तु मन से परीत रागद्वेषमोह स्वरूपतः परस्पर विरोधी होते हुए भी एक ही प्रज्ञा धरातल पर एक ही काल में निर्विरोध प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बाह्य विषयानुगत राग–द्वेष–मोहों से उत्पन्न संस्कारात्मक रागद्वेषमोह संस्काररूप से (वासनारूप से) उसी प्रज्ञान धरातल पर उसी प्रकार एक ही समय में निर्विरोध प्रतिष्ठित रहते हैं, जैसे की परस्परात्यन्त विरुद्ध तम, और प्रकाश एक ही सजातीय धरातल पर एक ही काल में, एवं परस्परात्यन्त विरुद्ध पञ्चतन्मात्रानुगत पञ्चमहाभूत एक ही शरीर में एक ही समय में निर्विरोध प्रतिष्ठित रहते हैं। इस मनोऽनुगता रागादित्रयी का साहचर्य्य अनुमानित नहीं है अपितु वास्तविक है। अतएव इस वास्तविक साहचर्य्य की अपेक्षा से अवश्य ही राग से तत् सहचारी द्वेष का एवं द्वेष से तत्सहचारी मोह का ग्रहण कर वैराग्य का–'रागद्वेषमोहराहित्य' लक्षण करना सर्वात्मना अभिरुचि का कारण बन जाता है।

४५–मनोऽनुगत राग से युक्त रागद्वेषमोहत्रयी का वास्तविक साहचर्य्य—

अपिच विचार तो केवल 'राग' शब्द का ही है। कीजिए इस साहचर्य्य का आश्रय। केवल राग-शब्द को लक्ष्य बना कर ही स्थिति पर दृष्टि डालिए। आसक्ति ही राग है, राग ही आसक्ति है। अनुकूला सक्ति हो प्रतिकूलासक्ति हो किंवा सम्मोहासक्ति हो, आसक्तित्वेन तीनों आसक्ति हैं। आसक्ति का ही नाम जब राग है तब तीनों ही आसक्तिरूप हैं तो अवश्य ही राग–द्वेष–मोह तीनों को राग नाम से व्यवहृत किया जा सकता है तीनों का राग शब्द से ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्व कथनानुसार सत्त्वगुणानुगत रजोगुण ही कामद्वारा राग का रजोगुणानुगत रजोगुण ही क्रोधद्वारा द्वेष का एवं तमोगुणानुगत रजोगुण ही लोभ द्वारा मोह का जब जनक बना हुआ है, रजोगुण ही जब राग है, जबकि तीनों ही रजोगुणात्मक हैं तो इस दृष्टि से भी तीनों का रागधर्मत्व (रजोगुणत्व) कैसे हटाया जा सकता है?। इसप्रकार इस दृष्टि से भी रागादि तीनों का केवल राग शब्द से ग्रहण करना तत्त्वसम्मत बना हुआ है। राग शब्द का रजोगुणार्थ थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, लाइये 'आसक्ति' अर्थ को आधार बना कर ही विषय का समन्वय कीजिए। मन से परिगृहीत संस्कारात्मक राग–द्वेष–मोह, तीनों भाव रागद्वारा ही मनोधरातल पर प्रतिष्ठित हुए हैं, यह इसलिए मानना पड़ता है कि आसक्ति ही राग है। एवं जब आसक्ति

नहीं है तब तक न राग है न द्वेष है न मोह है। मन का स्वाभाविक-स्वरूपानुगत-स्नेहगुणक सौम्यरस ही मानस राग है यही मानस रागात्मक सौम्य रस आत्मराग, किंवा आत्मासक्ति है। इस आत्मराग के कारण ही अनुकूल कामना के द्वारा सुखानुशायी विषयसंस्कार के साथ मन का राग होता है। इसी आत्मराग से प्रतिकूलराग। के द्वारा दुःखानुशायी विषयसंस्कार के साथ मन का द्वेष होता है। इसी आत्मराग से सम्भ्रमकामना के द्वारा मोहमनानुशायी विषयसंस्कार के साथ मन का मोह होता है। आत्मराग (आत्मासक्ति) सम्बन्ध से विषयराग भी राग है विषयद्वेष भी राग है एवं विषयमोह भी राग है। बात यथार्थ है। यदि विषयराग से आत्मराग न हो तो आत्मा रागबद्ध ही न रहे। यदि द्वेष के साथ आत्मराग न हो, तो निश्चयेन आत्मा द्वेष से पृथक् हो जाए। एवमेव यदि आत्मा का मोह से राग न रहे, तो कभी आत्मा मोहग्रस्त न बने। दूसरे शब्दों में जबतक राग में आसक्ति न होगी, राग राग न बनेगा जबतक द्वेष में आसक्ति (राग) न होगी, द्वेष द्वेष न बनेगा। एवं जबतक मोह में आसक्ति न होगी, तबतक मोह मोह न बनेगा। राग-द्वेष-मोह, तीनों को मन से चिपकाने वाला मनोऽवस्थित स्नेहगुणक सौम्य राग ही है। राग-अनुराग-आसक्ति ही रागद्वेषमोहत्रयी की मूलप्रतिष्ठा है। इसप्रकार व्यापारभेदानुबन्धी राग-द्वेष-मोह भावों के परस्पर सर्वथा भिन्न रहने पर भी अवश्य इनके सहचारी होने पर भी विषयाश्रित-मनोऽनुबन्धी-मानव धरातल पर प्रतिष्ठित-व्यापारात्मक राग-द्वेष-मोह भावों के स्वरूपतः भिन्न होने पर भी इनका मानव धरातल पर क्योंकि निर्विरोध साहचर्य है इसलिए, इसके अतिरिक्त आत्मराग सम्बन्ध से तीनों के रागात्मक बन कर ही मनोधरातल पर प्रतिष्ठित होने से तत्त्वतः तीनों का 'राग' शब्द से ग्रहण किया जाना सर्वथा न्यायसम्मत बन जाता है। अतएव वैराग्य के-'राग-द्वेष-मोह राहित्य' इस लक्षण में किसी भी प्रश्न-आशङ्का को प्रविष्ट होने का अवसर नहीं मिल सकता। केवल राग (आत्मरागरूपा आसक्ति) के हट जाने से ही राग-द्वेष-मोह, तीनों हट जाते हैं। अतएव रागासक्ति (आत्मरागासक्ति) जहाँ राग-द्वेष-मोह की जननी है वहाँ आत्म-वैराग्य रागद्वेषमोह तीनों का निवर्तक बना हुआ है और यही रागद्वेषमोहात्मक भावों के प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य का तात्त्विक स्वरूपपरिचय है जिसके आधार पर वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या नाम की विद्या प्रतिष्ठित है।

४६—वैराग्यबुद्धियोगानुगता वैराग्यविद्या (राजर्षिविद्या)—

वैराग्यसमन्वित बुद्धि ही चार विद्याबुद्धियों में से 'वैराग्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है। एवं राग-द्वेषमोहमय बुद्धि ही चार अविद्याबुद्धियों में से 'आसक्तिबुद्धि' नाम की अविद्याबुद्धि है। वैराग्यबुद्धि के उदय से आसक्तिबुद्धि का प्रभाव चला जाता है, एवं आत्मा बन्धन से विनिर्मुक्त हो जाता है। यही इसकी सर्वानुभवसिद्धि है। यहाँ थोड़ा समझ लीजिए। वैराग्योदय से रागद्वेषादि नष्ट हो जाते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि, रागादि संस्कारों के साथ रहने वाला ग्रन्थिबन्धन टूट जाता है। रागद्वेषादि शरीर के धर्म हैं। जब तक शरीर है तब तक रागद्वेषादि का आत्यन्तिक अभाव असम्भव है। रागद्वेषात्मक विषयाकर्षण-परिग्रहण का भार इन्द्रियों पर, वैराग्य का भार आत्मा पर, इस विभक्तिकरण से रागद्वेषमोहमय संसार में सांसारिक कर्मों में यथेच्छ निमग्न रहता हुआ भी बुद्धियोगी वैराग्यप्रभाव से सदा तृप्त रहता है यही गीता की सर्व-परिग्रहत्यागात्मिका आत्मसंयमरूपा वैराग्यविद्या है जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

—गीता २।६४।

वैराग्यबुद्धि की विपर्य्ययभूता आसक्तिबुद्धि के उदय से बुद्धि का वैराग्यधर्म्म अभिभूत होजाता है । फलतः इन्द्रियवत् आत्मा भी आसक्त बन जाता है । इसी के अनुग्रह से आत्मा न केवल अपने सांसारिक रागादि संस्कारों में ही आसक्त होता, अपितु पुत्र-स्त्री-गृह-पशु-आदि बाह्य विषयों में भी यह आत्मसमर्पण कर देता है । फलतः इनके दुःख से भी यह दुःखी बना रहता है । इसप्रकार आसक्ति की कृपा से यह अपने और पराए, सर्वविध दुःखों का अधिष्ठान बना रहता है । इन सर्वविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए राग-द्वेषमोहलक्षणा आसक्ति का हटना आवश्यक है । इसके हटने से ही उदासीनलक्षण समत्वयोग का उदय होता है । इस समत्वयोगोदय का हेतुभूत योग ही वैराग्यहेतुक बुद्धियोग कहलाता है जो सम्यग्ज्ञान सिद्ध वैराग्य-योगोदय का हेतु बनता हुआ तत्कृत्य न्याय से स्वयं भी 'वैराग्यबुद्धियोग' ही कहलाता है । इस वैराग्यबुद्धियोग के कार्य्यकारण रहस्य का, अनुष्ठानप्रकार का विश्लेषण करने वाली विद्या ही वैराग्यविद्या कहलाती है ।

४७—आत्मस्थानत्रयी, और सम-विषम-योग, एवं समत्वयोगानुगता राजर्षिविद्या—

वैराग्यविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग का जहाँ आत्मस्थान से सम्बन्ध है वहाँ आसक्तिविद्यानुगत अवि-द्यायोग का शरीरस्थान, एवं संसारस्थान से सम्बन्ध है । इन तीनों स्थानों का भी सार्वत्रिक स्वरूप जान लीजिए । यह अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है कि आत्मा 'प्रजापति' कहलाता है । एवं प्रजापतिलक्षण आत्मा की 'मन-प्राण-वाक्' भेद से तीन कलाएँ मानी गई हैं । इन में मन 'आत्मा' कहलाता है, प्राण 'प्राण' कह-लाता है, वाक् 'पशु' कहलाती है । मनोलक्षण आत्मा 'उक्थ' है प्राणलक्षण प्राण 'अर्क' है, एवं वाक्-लक्षण पशु अशीति है । तीनों की समष्टि ही 'प्रजापति' है । इन तीनों में वाक्-लक्षण पशुरूप अशीतिभाव ही 'आत्मवित्त' कहलाता है । हृदय में प्रतिष्ठित उक्थरूप आत्मा अपने प्राणरूप अर्क से स्ववित्तपर्य्यन्त व्याप्त रहता है । इसी आधार पर—'यावद्वित्तं-तावदात्मा' यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है । वाङ्मय आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । सांसारिक भौतिक वाङ्मय वे विषय जिनके सम्पर्क से रागद्वेष के द्वारा मन पर विषयसंस्कारों का उदय होता है बहिर्वित्त कहलाए हैं । स्वयं मनः प्रतिष्ठित वाक् विषयजनित-आध्यात्मिक वाङ्मय-विषयसंस्कार आत्मा के अन्तर्वित्त हैं । अन्तर्वित्त शरीरानु-बन्धी हैं बहिर्वित्त संसारानुबन्धी हैं । इसी दृष्टि से उक्त लक्षण आत्मप्रजापति के हृदयस्थान, शरीरस्थान संसारस्थान, ये तीन स्थान हो जाते हैं । हृदयस्थान में हृदयाकाशरूप उक्थलक्षण आत्मा प्रतिष्ठित रहता है । शरीरस्थान में प्राणयुक्त वाङ्मय अन्तर्वित्त (संस्कार) प्रतिष्ठित रहते हैं । एवं संसारस्थान में प्राणयुक्त वाङ्मय बहिर्वित्त (भौतिक विषय) प्रतिष्ठित रहते हैं । बहिर्वित्तगर्भित संसारस्थान 'पुरुषात्मा' कहलाता है अन्तर्वित्तगर्भित शरीरस्थान 'शरीरात्मा' कहलाता है । एवं आत्मगर्भित हृदयाकाश दहराकाशापन्न दहरात्मा (दहरपुण्डरीक) कहलाता है जो अणिमाभावापन्न दहराकाश भूमाभावात्मक व महदाकाश से अभिन्न बनता हुआ व्यापक माना गया है । जैसा कि—'अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । दहराकाशान्वित आत्मा हृदयभाग से व्याप्त

है। इसी आधार पर सर्वकर्म-सर्वकाम-इस आत्मा को 'भावप्रधानात्मा' माना गया है। यही आत्मा नामक प्रथम हृदयाधारस्थान है। शरीरस्थान इस आत्मा का प्राणद्वारा प्रथम पर्वस्थान (व्याप्ति-स्थान) बनता है, अतएव शरीरस्थान 'पदम्' कहलाया है। संचारस्थान प्राणद्वारा आत्मा का द्वितीय पर्वस्थान बनता है। चूँकि इस्थानविमुक्त आत्मा प्राणरूप में शरीर में पुनः संचार में प्रवृत्त होता है अतएव मध्यस्थान 'पुनःपदम्' कहलाया है। 'पुनःपदम्' आत्मा का महिमामण्डल है, 'पदम्' आत्मा का वस्तुसिद्ध है, यह तथा गर्भीभूत है। इस दृष्टि से मनःप्राणवाङ्मय आत्मप्रधानत्रि त्रिस्थान बना हुआ है। त्रिस्थानात्मक प्रजापति का आत्मानुगत हृदयस्थान परिपूर्ण है। क्योंकि हृदय से चारों ओर समानरूप से आत्मरश्मियों का वितान होता है। अतएव हृदयस्थान समत्वयोगानुगत माना गया है। शरीरस्थानात्मक पद तथा संचारस्थानात्मक पुनःपद दोनों स्थान अपूर्ण हैं। अतएव विषम बनते हुए ये दोनों स्थान विषमयोगानुगत माने गए हैं। इन्द्र में शरीरस्थान शरीरस्थान की व्याप्ति है। शरीरानुगत इन्द्रियस्थान से आरम्भ कर शरीरपर्यन्त संचारस्थानपर्यन्त संचारस्थान की व्याप्ति है। शरीरानुगत इन्द्रियस्थान से आरम्भ कर संचारस्थानानुगत संचारस्थान पर्यन्त संचारस्थान में विषम हो जाना गया है। संचारस्थान से इच्छा द्वेष है। शरीरस्थान में विषम होना राग है। शरीरस्थान से इच्छा द्वेष है। एवं हृदयस्थान में प्रतिष्ठित रहना यही समयोगात्मक है यही समत्वभाव है। महत्त्वात्मक ब्रह्मलक्षण राग में भी विषमता है, परिस्पन्दात्मक महदलक्षण द्वेष में भी विषमता है। स्पन्दनात्मक सुख भाव में भी विषमता है। समता है केवल हृदयानुगति में। यह समताभाव ही अवलम्बित है–'समत्वयोग' पर सम्यक् वैराग्यबुद्धियोगलक्षण पर, जिसकी मूलप्रतिष्ठा राजर्षिविद्या मानी गई है। निम्न लिखित गीतावचन अनासक्तिलक्षणा वैराग्यभावप्रवर्त्तिका एवं राजर्षिविद्या का, एवं तदनुगत वैराग्यबुद्धियोगात्मक समत्वयोग का विश्लेषण कर रहे हैं—

१–योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा 'समत्वं' योग उच्यते ॥२।४८॥

२–इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५।१९॥

३–सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६।२९॥

४–आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥६।३२॥

४८ ज्ञान-भक्ति-वैराग्यबुद्धियोगानुगता राजर्षिविद्या–

राजर्षि सिद्ध गुह्य आर्ष, इन चारों विद्याओं में राजर्षिविद्या एवं वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म इन चारों बुद्धियों में वैराग्यबुद्धियोग ही श्रेष्ठ तथा श्रेष्ठ माना गया है। कारण स्वयं भगवान् ही इसके उपदेष्टा हैं। अतएव यह भगवान् का अपना प्रातिस्विक मत माना गया है। भगवान् कहते हैं— मनुष्य

अव्ययात्मक इस योग का सबसे पहले मैंने विवस्वान् को उपदेश दिया था। विवस्वान् ने स्वपुत्र वैवस्वत मनु को यह योग प्रदान किया। मनु से यह स्वपुत्र अयोध्याधिपति इक्ष्वाकु में प्रतिष्ठित हुआ। इसप्रकार प्रथमोपदिष्ट यह योग परम्परया राजर्षिवंशपरम्परा में उपदिष्ट होता रहा। अविद्यात्मक व्यवधान से कालान्तर में उस योग का स्वरूप विलुप्त हो गया था। आज उसी विलुप्तयोग का (इस शरीर से) मैं पुनः तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ। *'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः'* के कारण ही यह भगवद्विद्या *'राजर्षिविद्या'* नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रथमाविष्कार का श्रेय त्रेतायुग में जहाँ भगवान् को मिला, वहाँ महाभारतयुग में इसके जीर्णोद्धार का श्रेय भी भगवान् को ही प्राप्त हुआ। अतएव यह योग भगवान् का अपना सिद्धान्त माना गया। अतएव इसे गीताशास्त्र में योगक्रम की उपेक्षा के साथ प्रथम स्थान दिया गया। 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' के अनुसार अविद्यात्मक मोह, अस्मिता, रागद्वेषात्मिका आसक्ति, अभिनिवेश, यह क्लेशक्रम है। तदनुरूप ही ज्ञान-ऐश्वर्य्य-वैराग्य-धर्म्म यह योगक्रम माना जायगा। इस दृष्टि से गीता में ज्ञान-ऐश्वर्य्य वैराग्य-धर्म्म, इसी क्रम से योगों का प्रतिपादन होना चाहिए था। परन्तु देखते हैं, तीसरे राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग के सम्बन्ध में क्रमविपर्य्य हुआ है। आगे की योगत्रयी तो क्रमानुसार ही व्यवस्थित है। परन्तु तृतीय स्थान में प्रतिष्ठित वैराग्ययोग को प्रथम स्थान दिया गया है। यह स्थानप्राथम्य भी वैराग्ययोग का प्रधानत्व ही प्रतिपादन कर रहा है। निम्न लिखित गीतावचन वैराग्यबुद्धियोग, एवं तदनुगता राजर्षिविद्या इसी भगवन्मतत्व का समर्थन कर रहे हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥

इति बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके द्वितीयप्रकरणे

'वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः

चतुर्थस्तम्भः

(२)—४

उपरतञ्चेदं चतुःस्तम्भात्मकं–द्वितीयं प्रकरणम्

——२——

ॐ

'बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

'वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(२)-४

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा'

नामक–पूर्वखण्ड–का

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानु रत.विद्यास्वरूपनिर्वचन'

नामक

द्वितीयप्रकरण–उपरत

२

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-प्रकरणत्रयात्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक

पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण

३



श्री

बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार

(तृतीय प्रकरण)

३

१–प्रतिपादित विषय की रूपरेखा—

प्राचीनाभिमत कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-योगों का क्रमशः कर्म्मयोग–ज्ञानयोग–भक्तियोग-परीक्षा-नामक भूमिका-खण्डों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया। अनन्तर गीता का मूल सिद्धान्त 'बुद्धियोग' हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ। इसके स्वरूप–परिचय के लिए ही 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड लिपिबद्ध हुआ, जिसमें प्रधानतः दो प्रकरणों का समावेश हुआ है। 'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रकरण में बुद्धियोग के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा हुई। एवं 'बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण में क्रमशः धर्म्मबुद्धि-योग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, वैराग्यबुद्धियोग इन चारों बुद्धियोगों के साथ साथ तत्प्रतिष्ठाभूता आर्षविद्या, राजविद्या, सिद्धविद्या, राजर्षिविद्या, बुद्धियोगानुगता इन चारों विद्याओं का चार परिच्छेदों में स्वरूप–दिग्दर्शन कराया गया। यही अबतक प्रतिपादित विषय की रूपरेखा है।

२–तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि-मुक्ति-गुणचतुष्टयी—

तृप्ति, तुष्टि, पुष्टि, मुक्ति, इन चार आध्यात्मिक गुणों से कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा सुखी रहता है। पूर्णतृप्ति का नाम 'तृप्ति' है, अल्प तृप्ति का नाम 'तुष्टि' है। * ईश्वरानुग्रह का नाम पुष्टि है। भूतानुग्रह का नाम मुक्ति है। पूर्णतृप्तिलक्षणा तृप्ति सर्वात्म्यात्मा का स्वाभाविक गुण है, अल्पतृप्तिलक्षणा तुष्टि अव्यक्तात्मगर्भित मनोमय परात्म्यात्मा का स्वाभाविक गुण है, ईश्वरानुग्रहलक्षणा पुष्टि महानात्मगर्भित प्राणमय परावरात्म्यात्मा का स्वाभाविक गुण है एवं भूतानुग्रहलक्षणा मुक्ति विज्ञानात्मगर्भित वाङ्मय अवरात्म्यात्मा का स्वाभाविक गुण है। चारों आत्मगुण चार आत्मक्षेत्रों में विभक्त हैं। इन चारों में सर्वात्म्य क्योंकि सर्वात्मक है अतएव तदनुगत तृप्तिगुण के गर्भ में अन्य आत्मानुगत तुष्टि-पुष्टि-मुक्ति तीनों गुण अन्तर्भूत रहते हैं। अतएव च सर्वात्म्यात्मानुगत तृप्तिगुण के उदय से शेष आत्मानुगत तीनों आत्मगुण स्वतः उदित हो जाते हैं। चारों की अपेक्षा तृप्तिगुण का यही सर्वातिशायी माहात्म्य है।

---

* 'पोषणं तदनुग्रहः' के अनुसार शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय में भगवदनुग्रह को ही पोष किंवा पुष्टि माना गया है। ईश्वरधर्म्मसमावेश ही भगवदनुग्रह है। इस अनुग्रहसमावेश से जीव की अवस्था भूमारूप में परिणत हो जाती है। यह भूमा ही जीव की पुष्टि है। इसी पुष्टिसम्बन्ध से यह वैष्णविक सम्प्रदाय (वल्लभ-सम्प्रदाय) 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

३–भुक्तिगुणानुगत कर्मबुद्धियोग—

(१)–सम्पूर्ण भोग पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु हम इन्हें प्राप्त करने में असमर्थ बने रहते हैं। इसके साथ ही जिन भोगों का हम भोग करते हैं, वे ही भोग क्षणिक सुख उत्पन्न कर अन्ततोगत्वा दुःखप्राप्ति के ही कारण बन जाते हैं। यही पहिला दुःख है जिसके मूल में 'आसक्ति' अथवा 'अभिनिवेश' नामक क्लेश प्रतिष्ठित हो रहा है। भुक्ति हो रही है फिर भी शून्य है। भुक्ति के रहते भुक्ति का अभाव हो रहा है। अभिनिवेशमूला आसक्तिकर्मानुगता ऐसी भुक्ति सर्वथा अभुक्ति है। और यही दुःख का एक कारण है। इसकी निवृत्ति के लिए अव्ययब्रह्मानुगत भुक्तिगुण का समाश्रय आवश्यक है। तदर्थ अभिनिवेशलक्षणा आसक्ति का निराकरण अपेक्षित है। तदर्थ कर्मसंन्यासलक्षणा निवृत्ति का अनुगमन अपेक्षित है। एवं तदर्थ अव्ययब्रह्मानुगत–अभिनिवेशनिवर्त्तक–निवृत्तिकर्मात्मक–कर्मबुद्धियोगानुष्ठान आवश्यक है। यही गीताप्रतिपादित, भुक्तिगुणप्रवर्त्तक कर्मबुद्धियोग नामक उपाय है जो प्राचीनाभिमत सांख्यकर्मयोग का ही उपबृंहित रूप है।

४–बुद्धिगुणानुगत ऐश्वर्यबुद्धियोग—

(२)–चर–अचर, सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में योगात्मक–बुद्धियोगप्रवर्त्तक–ईश्वरतत्त्व प्रतिष्ठित है। परन्तु रहती हुई भी इस आत्मबुद्धि (ईश्वरतत्त्वसमावेशात्मक ईश्वरानुग्रह) से हम वञ्चित रह जाते हैं। ईश्वरतत्त्वाभिन्न बुद्धि न हो, यह बात नहीं है। जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध न हो, यह बात भी नहीं है। उसी की बुद्धि से अनुग्रह से इच्छा से जीव की अव्यक्तसंस्था में स्थिति है। बुद्धि योग को मिल रही है फिर भी वह शून्य है। बुद्धि के रहते बुद्धि का अभाव हो रहा है। अस्मितामूला आसक्तिकर्मानुगता ऐसी बुद्धि सर्वथा अबुद्धि है। अस्मिता ने ईश्वरीय बुद्धि के स्वाभाविक विकासलक्षण ऐश्वर्य को अनैश्वर्यरूप में परिणत कर रक्खा है। संकुचित बुद्धि ही अबुद्धि है एवं यह भी दुःख का एक कारण है। इस की निवृत्ति के लिए परात्परब्रह्मानुगत–बुद्धिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थ ईश्वरानन्यता अपेक्षित है। तदर्थ सम्बन्ध अस्मितावरण का निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थ परात्परानुगत–अस्मितानिवर्त्तक–ईश्वरानन्यतात्मक–ऐश्वर्य–बुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित, बुद्धिगुणप्रवर्त्तक–उपाय 'ऐश्वर्यबुद्धियोग' नामक उपाय है, जो प्राचीनाभिमत सम्यग्भक्तियोग का ही उपबृंहित रूप है।

५–तुष्टिगुणानुगत ज्ञानबुद्धियोग—

(३)–आप आज निर्धन हैं, अतएव आपके पास भोजन–वस्त्र–आदि परिग्रहों का आज अभाव है। आप पुरुषार्थ करते हैं पुरुषार्थ से प्रभूत द्रव्यप्राप्ति हो जाती है अर्थ के द्वारा आप सभी लौकिक परिग्रहों का प्रभूत मात्रा में संग्रह कर लेते हैं, अन्ततोगत्वा दरिद्रता छूट जाती है। आज आपके पास सभी साधन–सम्पत्तियाँ पर्याप्तमात्रा में विद्यमान हैं। परन्तु आश्चर्य है फिर भी आप तुष्टि का अनुभव नहीं कर रहे। सन्तोष नहीं हो रहा। लाख से सन्तोष न कर करोड़ का संग्रह किया करोड़ से सन्तोष न कर और अधिक की इच्छा की, ज्यों ज्यों संग्रह बढ़ता गया, त्यों त्यों असन्तोष घटने के स्थान में बढ़ने लगा। और ये सन्तोष–प्रद साधनसम्पत्तियों ने तुष्टिगुणविकास के स्थान में उसे अधिकाधिक आवृत ही कर दिया। फलस्वरूप सब कुछ रहते हुए भी आप निरन्तर असन्तुष्ट अतएव व्यग्र अतएव अशान्त, अतएव च दुःखी बन गए। ज्ञानगुणा–नुगता तुष्टि आप में आज भी प्रतिष्ठित है फिर भी आप उसके अनुकूल सम्बन्ध से वञ्चित हैं। तुष्टि रहते

तुष्टि का अभाव हो रहा है। कारण, अज्ञानात्मक मोह ने ईश्वरीय तुष्टि के स्वाभाविक विकासलक्षण अन्तर्ज्योतिःस्वरूप ज्ञान (अध्यात्मज्ञान) को अज्ञानरूप में परिणत कर रक्खा है। अज्ञानावृता मोहात्मिका बुद्धि ही अबुद्धि है, एवं यह भी दुःख का एक कारण है। इसकी निवृत्ति के लिए परात्परात्मानुगत तुष्टिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थं अन्तर्ज्योतिरनुगति अपेक्षित है। तदर्थं मध्यस्थ अतुष्टिलक्षण मोहावरण-निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थं विद्याविद्यानुगत मोहनिवर्त्तक-अन्तर्ज्योतिर्लक्षण-ज्ञानबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित-तुष्टिसुखप्रवर्त्तक उपाय 'ज्ञानबुद्धियोग' नामक उपाय है जो प्राचीनाभिमत कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का ही संशोधित रूप है।

६–तुष्टिगुणानुगत वैराग्यबुद्धियोग–

(४)–उक्त तीनों योग अव्ययपरमा को आधार बनाते हुए अव्ययात्मक हैं। अतएव तीनों केवल अपने अपने शान्ति–पुष्टि–मुक्ति–गुणों के ही संग्राहक बनते हैं। परन्तु चौथा सर्वाव्ययपरात्मानुगत वैराग्यबुद्धियोग क्योंकि सर्वात्मक है अतएव उससे स्वानुगत तुष्टिगुण के साथ साथ पर–अवर–अवरानुगत शान्ति–पुष्टि–मुक्ति–गुणों का भी संग्रह हो जाता है। आपके अन्तर्जगत् में दहराकाशगर्भित हृदयाकाश में रूपसंरूप–भारूप–आकाशात्मा–सर्वाव्यय साक्षीरूप से प्रतिष्ठित है, जो निराश्रय–स्वाश्रय रहता हुआ नित्यतृप्त है। तृप्तिगुणक, अतएव पूर्णात्मक इसी सर्वाव्यय से आपका (जीवात्मा का) अवच्छेदसम्बन्ध से उद्भव हुआ है—'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'। उस पूर्ण के पूर्ण को लेकर आप तत्त्वतः पूर्णरूप ही हैं। अतएव आप भी स्वरूपतः नित्य-तृप्त हैं। परन्तु देखते हैं, आप में तृप्तिगुण का अणुमात्र भी विकास नहीं देखा जा रहा। क्यों?, ऐसा क्यों हुआ?, उत्तर स्पष्ट है। बाह्यविषयजनित संस्कारों से सम्बन्ध रखने वाले आपके मन ने ही इस समस्या को जटिल बना दिया है। सौम्यगुणक मन रजोगुणात्मक है। सौम्यरजोगुण में अन्यनासक्ति प्रतिष्ठित है। इसी मानस रागासक्ति से ये बाह्य संस्कारबन्धन अनुकूल–प्रतिकूल–उदासीन–इन तीन सम्बन्धों के भेद से राग–द्वेष–मोह इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। रागद्वेषमोहात्मिका यह आसक्ति मन के द्वारा तत्-प्रतिष्ठ बुद्धि के विकासलक्षण वैराग्यधर्म्म को अभिभूत कर डालती है। बुद्धिगत तृप्तिप्रवर्त्तक वैराग्यधर्म्म अतृप्तिकर आसक्तिधर्म्मरूप में परिणत हो जाता है। यही रागासक्ति–द्वेषासक्ति–मोहासक्ति–त्रयी वह मध्यावरण है जिससे-बुद्धि से परे रहने वाले सर्वाव्ययात्मानुगत तृप्तिगुणाश्रय से आप वञ्चित रह जाते हैं। स्वाभाविक पूर्णता अपूर्णता के रूप में परिणत हो जाती है। अपूर्णता ही शून्यता है। शून्यता ही दुःख है। यही चौथा दुःख है जिसके मूल में आसक्ति प्रतिष्ठित है। इसकी निवृत्ति के लिए सर्वाव्ययपरात्मानुगत तृप्तिगुण का समाश्रय अपेक्षित है। तदर्थं अनासक्त्यनुगति अपेक्षित है। तदर्थं मध्यस्थ अतृप्तिलक्षण आसक्त्यावरण–निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थं राजर्षिविद्यानुगत—आसक्तिनिवर्त्तक—अनासक्तिलक्षण—वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताभिमत-तृप्तिसुखप्रवर्त्तक–अतएव तृप्तिगर्भित तुष्टि–पुष्टि–मुक्ति सुखप्रवर्त्तक–अतएव च सर्वदुःखनिवर्त्तक–उपाय 'वैराग्यबुद्धियोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जो सर्वाव्ययेश्वरावतार भगवान् कृष्ण का अपना प्रातिस्विक मत है।

७–पुरुषविद्याचतुष्टयी से अनुगता–पुरुषयोगचतुष्टयी—

आत्मलक्षणा विद्या सिद्धविद्या कहलाती है एवं आत्मलक्षण योग सिद्धयोग कहलाया है। आत्मविद्या पुरुषविद्या किंवा अव्ययविद्या है। आत्मयोग पुरुषयोग, किंवा अव्ययपयोग है। सर्वाव्ययपरमा निरुक्तात्मा

(गूढात्मा निर्गुणब्रह्म) है अतएव तद्रूपा सर्वाव्ययविद्या 'निर्गुणब्रह्मविद्या' कहलाई है। अव्यक्तात्मगर्भित परा-व्ययात्मा ईश्वरात्मा (सगुणब्रह्म) है अतएव तद्रूपा पराव्ययविद्या 'ईश्वरात्मविद्या' कहलाई है। महानात्म-गर्भित परावराव्ययात्मा जीवात्मा (सविकारब्रह्म) है अतएव तद्रूपा परावराव्ययविद्या 'जीवात्मविद्या' कहलाई है। विज्ञानात्मगर्भित अवराव्ययात्मा भूतात्मा (निरिन्द्रियात्मा वैकारिकब्रह्म) कहलाया है। अतएव तद्रूपा अवराव्ययविद्या 'भूतात्मविद्या' कहलाई है। सर्वाव्ययात्मिका अव्ययविद्या बुद्धिगुणात्मिका है। बुद्धिगुणयोगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध (नित्य) 'राजयोग' है। पराव्ययात्मिका अव्ययविद्या बुद्धिगुणात्मिका है। बुद्धिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'ज्ञानयोग' है। परावराव्ययात्मिका अव्ययविद्या बुद्धिगुणात्मिका है। बुद्धिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'ऐश्वर्ययोग' है। अवराव्ययात्मिका अव्ययविद्या बुद्धिगुणात्मिका है। बुद्धिगुण-योगात्मक अव्यययोग ही सिद्ध 'धर्मयोग' है। 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' इत्यादि श्लोक-पठित नाम सिद्धावस्थारूप-सिद्ध अव्ययविद्यानुगत-अव्यययोग का ही वाचक बन रहा है। यह सिद्धयोग बुद्धि पर अनुग्रह रखता है अतएव बुद्धिसम्बन्ध से इस अव्यययोग को भी 'बुद्धियोग' कहा जा सकता है। अतएव पूर्वप्रकरणों में हमने सिद्धयोगों का यत्र-तत्र 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत कर दिया है। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' का 'बुद्धियोग' शब्द सिद्ध 'बुद्धियोग'-का ही वाचक है। आत्मविद्याचतुष्टयी भी सिद्धा है, आत्मविद्यात्मिका योगचतुष्टयी भी सिद्धा है। इसके और जीव के मध्य में बुद्धि प्रतिष्ठित है। बुद्धि के द्वारा ही जीव का इस योगचतुष्टयी से सम्बन्ध होता है। इसलिए 'बुद्धिसम्बन्धेन प्राप्तव्यो योगः' निर्वचन से यह सिद्धयोग भी बुद्धियोग कहलाने लगा है।

८—प्रकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगता—प्रकृतियोगचतुष्टयी—

सिद्धविद्यात्मक-सिद्धयोगलक्षण महानात्मा (अव्ययात्मा) और शारीरकात्मा (जीवात्मा) के मध्य में बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है यह कहा गया है। प्रकृतिलक्षणा विद्या साध्यविद्या कहलाई है। प्रकृतिलक्षण योग साध्ययोग कहलाया है। प्रकृतिविद्या ही साध्यविद्या है, प्रकृतियोग ही साध्ययोग है। 'प्रकृति' अक्षर का नाम है। अव्यय-अक्षर-क्षर-तीनों में अक्षर मध्यस्थ है। उधर आध्यात्मिक संस्था में बुद्धितत्त्व मध्यस्थ है। अतएव बुद्धि ही अध्यात्मसंस्था में अक्षरात्मिका प्रकृति है। अतएव च 'प्रकृतिस्थ' का अर्थ-'बुद्धिस्थ' ही देखा-सुना जाता है। प्रकृतिभूता मध्यस्था इस बुद्धि के परस्थान में वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म-नामक सिद्ध-साध्यात्मक-सिद्धविद्यात्मक अव्ययात्मा प्रतिष्ठित है जैसाकि-'यो बुद्धेः परतस्तु सः' से प्रमाणित है। बुद्धि के अवरस्थान में मनोऽनुगत-इन्द्रियानुगत-शारीरिक मर्त्यभावात्मक-आसक्ति-मोह-अस्मिता-अभिनिवेशात्मक मृत्युतत्त्व प्रतिष्ठित है जो अमृतात्मा का आवरक माना गया है। उस ओर अमृतचतुष्टयी है इस ओर मृत्यु-चतुष्टयी है। मध्यस्थ बुद्धितत्त्व में मध्यस्थता के कारण-'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' के अनुसार दोनों धर्मों का समावेश अवश्य प्राप्त है। अमृतात्मानुगत वैराग्यादि सिद्धयोगों के जो अवधर्मांश बुद्धि में आकर बुद्धि की प्रातिस्विक वस्तु बन जाते हैं वे ही 'बुद्धिभग' कहलाए हैं। इनके आगमन से-योग से बुद्धि 'भ' भाव को (विकासभाव को) प्राप्त हो जाती है। अतएव 'भं गच्छति येषु स्थि' निर्वचन से बुद्धियुक्त इन अमृतात्म-प्रवर्त्यमार्गों को 'भग' कहा जाता है। एवमेव मर्त्यविश्वानुगत आसक्त्यादि अयोगात्मक योगों के जो अवधर्मांश मन की कृपा से बुद्धि में आकर बुद्धि की प्रातिस्विक वस्तु बन जाते हैं, वे ही 'बुद्धिक्लेश' कहलाए हैं। इनके आगमन से-योग से-बुद्धि क्लेशभाव को (संक्लेशभाव को) प्राप्त हो जाती है। अतएव 'क्लेशस्था-विकास्य

भवति येन बुद्धिः' निर्वचन से बुद्धियुक्त इन सर्व विश्व के प्रवर्त्त भागों को 'क्लेश' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। धर्मानुबन्ध वैराग्यादिरूपा भगचतुष्टयी के एवं आसक्त्यादि क्लेशचतुष्टयी के योगात्मक सम्बन्ध से (बुद्धि से) मध्यस्थ–प्रकृतिलक्षण एक ही बुद्धितत्त्व के–वैराग्यबुद्धि, ज्ञानबुद्धि, ऐश्वर्य्यबुद्धि, धर्म्मबुद्धि, ये चार विद्यात्मकरूप, एवं आसक्तिबुद्धि, मोहबुद्धि, अस्मिताबुद्धि अभिनिवेशबुद्धि, ये चार अविद्यात्मकरूप, सम्भूय आठ सोपाधिक विवर्त्त हो जाते हैं। आठों में विद्याबुद्धिचतुष्टयी 'प्रकृतियोग' है अविद्याबुद्धिचतुष्टयी 'प्रकृति-अयोग' है। प्रकृतियोगात्मक बुद्धियोग में बुद्धि प्रकृतिस्थ बनी रहती हुई एकत्वधर्म्मलक्षण व्यवसायरूप की अनुगामिनी बनी रहती है। प्रकृति–अयोगात्मक बुद्धियोगनिवृत्तिबुद्धि में बुद्धि प्रकृतिविभिन्न होती हुई अव्यवसायरूप की अनुगामिनी बन जाती है।

जिस प्रकार मध्यस्थ बुद्धि में अमृतात्मानुगत सिद्धयोग प्रवर्त्तसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं एवमेव अमृतात्मविद्याचतुष्टयी भी बुद्धि में मुक्त रहती है। निष्कामविद्या का बुद्धिमुक्त भाग ही 'अनासक्तिविद्या' कहलाता है। ईश्वरात्मविद्या का बुद्धिमुक्तभाग ही 'अन्तर्ज्योतिर्विद्या' कहलाता है। जीवात्मविद्या का बुद्धिमुक्त भाग 'ईश्वरानन्यताविद्या' कहलाता है। एवं भूतात्मविद्या का बुद्धिमुक्त भाग ही 'निष्कामकर्म्मविद्या' कहलाता है। अनासक्तिविद्या प्रकृतिविद्या है, वैराग्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। अन्तर्ज्योतिर्विद्या प्रकृतिविद्या है, ज्ञानबुद्धियोग प्रकृतियोग है। ईश्वरानन्यताविद्या प्रकृतिविद्या है, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। निष्कामकर्म्मविद्या प्रकृतिविद्या है धर्म्मबुद्धियोग प्रकृतियोग है। इसप्रकार जैसे पुरुषविद्या, पुरुषयोग चार चार भागों में विभक्त हैं एवमेव तत्सम्बद्ध बुद्धिलक्षण प्रकृति की विद्या, और योग भी चार चार भागों में ही विभक्त हो जाते हैं।

६–विकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगता–विकृतियोगचतुष्टयी—

योगानुष्ठाता स्वयं जीवात्मा विकृतिभावापन्न माना गया है। अतएव जीवात्मा के द्वारा अनुष्ठेय विद्याओं तथा विद्यानुगत योगों को हम 'विकृतिविद्यानुगत विकृतियोग' नाम से व्यवहृत करेंगे। पूर्व प्रकरणों में हमनें अनेक बार स्पष्ट किया है कि, पुरुषात्मिका विद्या सिद्धविद्या है पुरुषात्मक योग सिद्धयोग है। एवं प्रकृत्यात्मिका विद्या साध्यविद्या है तथा प्रकृत्यात्मक योग साध्ययोग है। वस्तुतः प्रकृतिविद्या और प्रकृतियोग भी पुरुषवत् सिद्धकोटि में ही अन्तर्भूत माने जायेंगे। पुरुषवत् प्रकृति भी अनादिनिधना है। उसकी विद्या उसका योग भी अनादि है। अतएव इसे भी सिद्ध पदार्थ ही माना जायगा। साध्यविद्या वही साध्य मानी जायगी, जिसका कर्म्म–करणपरिज्ञानद्वारा योगानुष्ठानप्रकार में उपयोग होगा। एवमेव साध्य योग भी वही साध्य माना जायगा जिसका जीवात्मा अनुष्ठान कर सकेगा। विकृतिविद्या ही अनुष्ठानप्रकार का प्रदर्शन करने वाली है जो विकृतिविद्या उपदेशात्मिका है। सिद्धविद्या का उपदेश करने वाली शब्दात्मिका–उपदेशलक्षणा विद्या ही साध्य विद्या मानी जायगी। साध्यविद्या वस्तुतः विद्या नहीं है। सिद्धविद्या ही विद्या है। साध्यविद्या तो सिद्ध–विद्यास्वरूपपरिचय का साधनमात्र है। एतावता ही साध्यसाधनन्याय से इस साधन को भी 'विद्या' कह दिया जाता है। एवमेव सिद्धयोग का उपदेश करने वाला शब्दात्मक उपदेशलक्षण योग ही साध्ययोग माना जायगा। साध्ययोग भी वस्तुतः योग नहीं है। सिद्धयोग ही योग है। साध्ययोग तो सिद्धयोगस्वरूपपरिचय का हेतुमात्र है। एतावता ही इस हेतुयोग को भी 'योग' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है।

निष्कामविद्यात्मक वैराग्ययोग से अनुप्राणित अनासक्तिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग के सिद्धविद्याभाग का (पुरुषविद्यागर्भित–प्रकृतिविद्याभाग का) उपदेश देने वाली विकृत्यनुगता–शब्दलक्षणा विद्या ही

'राजर्षिविद्या' कहलाई है। ईश्वरात्मविद्यात्मक ज्ञानयोग से अनुगृहीत ब्रह्मकर्मोत्तिर्विद्यात्मक ज्ञानबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश देने वाली विकृत्यनुगता साम्यविद्या ही उपदेशक के सम्बन्ध से 'सिद्धविद्या' कहलाई है। जीवात्मविद्यात्मक ऐश्वर्ययोग से अनुगृहीत ईश्वरानन्यताविद्यात्मक ऐश्वर्यबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश करने वाली विकृत्यनुगता साम्यविद्या ही उपदेशक के सम्बन्ध से 'राजविद्या' कहलाई है। भूतात्मविद्यात्मक धर्मयोग से अनुगृहीत निष्कामकर्मविद्यात्मक धर्मबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश करने वाली विकृत्यनुगता साम्यविद्या ही उपदेशक ऋषियों के सम्बन्ध से 'आर्षविद्या' कहलाई है। यही पुरुष-प्रकृति-विद्याचतुष्टयी की स्वरूपपरिचयप्रदात्री विकृतिविद्याचतुष्टयी का स्वरूप-दिग्दर्शन है। एवमेव पुरुषयोगात्मक वैराग्ययोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक वैराग्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साम्य योग 'वैराग्यहेतुक-बुद्धियोग' नाम से पुरुषयोगात्मक ज्ञानयोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक ज्ञानबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साम्य योग 'ज्ञानहेतुक बुद्धियोग' नाम से पुरुषयोगात्मक ऐश्वर्ययोग से अनुगृहीत प्रकृति-योगात्मक ऐश्वर्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साम्य योग 'ऐश्वर्यहेतुक बुद्धियोग' नाम से, तथा पुरुषयोगात्मक धर्मयोग से अनुगृहीत प्रकृतियोगात्मक धर्मबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक विकृतिभावात्मक साम्य योग 'धर्महेतुक बुद्धियोग' नाम से व्यवहृत किया जायगा। साम्यविद्यानुगता साम्ययोगचतुष्टयी (विकृति-विद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी) से, अनुष्ठान से सर्वप्रथम जीवात्मा का प्रकृतिविद्यानुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी से सम्बन्ध होगा। एवं प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी के द्वारा जीवात्मा का अन्ततोगत्वा पुरुषविद्यानुगता पुरुषयोगचतुष्टयी से सम्बन्ध हो जायगा। लक्ष्य है—पुरुषविद्यात्मिका पुरुषयोगचतुष्टयी। लक्ष्य प्राप्त करने वाला है—जीवात्मा। लक्ष्यप्राप्ति का अनुष्ठानात्मक साधन है—विकृतिविद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी। एवं साधन द्वारा लक्ष्य पर पहुँचने का द्वार है—प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी। तात्पर्य कहने का यही है कि, पुरुष-प्रकृति-विकृति, भेद से लक्ष्य-लक्ष्याधार उपस्थापनक्रम से विद्या, एवं तदनुगत साम्यविवर्त तीन विवर्तभावों में परिणत हो गए हैं। अवतक प्रतिपादित विषयों का निम्नलिखित परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।

(क)—प्रतिपादितविषयरूपरेखा—परिलेख—(१) १

- १—कर्मयोगपरीक्षा—कर्मयोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)
- २—ज्ञानयोगपरीक्षा—ज्ञानयोगनिरूपिका (१ खण्डात्मिका)
- ३—भक्तियोगपरीक्षा—भक्तियोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)
- ४—बुद्धियोगपरीक्षा—बुद्धियोगनिरूपिका (२ खण्डात्मिका)

पूर्वखण्डात्मिकायां बुद्धियोगपरीक्षायाम्—

- १—धर्मबुद्धियोगपरीक्षा
- २—ऐश्वर्यबुद्धियोगपरीक्षा
- ३—ज्ञानबुद्धियोगपरीक्षा
- ४—वैराग्यबुद्धियोगपरीक्षा

(ख)—तृप्ति, तुष्टि, पुष्टि, मुक्ति-गुणचतुष्टयी-परिलेख —(२)

१—पूर्णतृप्तिभावः—तृप्तिः
२—अर्धतृप्तिभावः—तुष्टिः
३—ईश्वरानुग्रहभावः—पुष्टिः
४—भूतानुग्रहभावः—मुक्तिः

—आत्मगुणचतुष्टयी



(ग)—गुणानुगता—योगचतुष्टयी—परिलेख—(३)

१—विज्ञानात्मगर्भितः—अव्ययात्मा मुक्तिगुणात्मकः—तदनुगतो योगः 'धर्मबुद्धियोगः' ।

२—महानात्मगर्भितः—परावराव्ययात्मा पुष्टिगुणात्मकः—तदनुगतो योगः 'ऐश्वर्यबुद्धियोगः' ।

३—प्रज्ञानात्मगर्भितः—पराव्ययात्मा तुष्टिगुणात्मकः—तदनुगतो योगः 'ज्ञानबुद्धियोगः' ।

४—सर्वात्मगर्भितः—सर्वात्मात्मा तृप्तिगुणात्मकः—तदनुगतो योगः 'वैराग्यबुद्धियोगः' ।



(घ)—पुरुषविद्याचतुष्टय्यनुगता—पुरुषयोगचतुष्टयी—परिलेखः—(४)
(सिद्धविद्यानुगता—सिद्धयोगचतुष्टयी)

१—सर्वाव्ययाभिन्ना—पुरुषविद्या—'निष्कलात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः अव्ययाभिन्ना विद्या वा)

२—पराव्ययाभिन्ना—पुरुषविद्या—'ईश्वरात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः अव्ययाभिन्ना विद्या वा)

३—परावराव्ययाभिन्ना—पुरुषविद्या—'जीवात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः अव्ययाभिन्ना विद्या वा)

४—अपराव्ययाभिन्ना—पुरुषविद्या—'भूतात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽव्ययः अव्ययाभिन्ना विद्या वा)

—सैषा पुरुषविद्याचतुष्टयी—सिद्धावस्थापन्ना



१—निरुद्धात्मविद्यात्मकबुद्धिगुणावच्छिन्नोऽव्ययमयोगः—बुद्धियोग—'वैराग्ययोगः' { योगात्मकोऽव्ययः— अव्ययात्मको योगो वा

२—ईश्वरात्मविद्यात्मकबुद्धिगुणावच्छिन्नोऽव्ययमयोग—बुद्धियोगः—'ज्ञानयोगः' { योगात्मकोऽव्ययः— अव्ययात्मको योगो वा

३—जीवात्मविद्यात्मकः बुद्धिगुणावच्छिन्नोऽव्ययमयोगः—बुद्धियोगः—'ऐश्वर्ययोगः' { योगात्मकोऽव्ययः अव्ययात्मको योगो वा

४—भूतात्मविद्यात्मको बुद्धिगुणावच्छिन्नोऽव्ययमयोग—बुद्धियोग—'धर्मयोग' { योगात्मकोऽव्ययः अव्ययात्मको योगो वा

—सैषा बुद्धियोगचतुष्टयी सिद्धान्तव्यवस्था

१—निरुद्धात्मविद्या—विद्या,—१—वैराग्ययोगो 'योगः'
२—ईश्वरात्मविद्या—विद्या,—२—ज्ञानयोगो 'योगः'
३—जीवात्मविद्या—विद्या—३—ऐश्वर्ययोगो 'योगः'
४—भूतात्मविद्या—विद्या,—४—धर्मयोगो 'योगः'
} —बुद्धिविद्याभिन्ना बुद्धियोगचतुष्टयी

(ख)-प्रकृतिविद्याचतुष्टयानुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी–परिलेखः–(४)

(सिद्धविद्यानुगता–सिद्धयोगचतुष्टयी)

१–निरुद्धात्मविद्याया –अव्ययात्माभिमता–प्रकृतिविद्या–'अनासक्तिविद्या' (विद्यात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
२–ईश्वरात्मविद्यायाः –अव्ययात्माभिमता–प्रकृतिविद्या–'अन्तर्ज्योतिर्विद्या' (विद्यात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
३–जीवात्मविद्यायाः –अव्ययात्माभिमता–प्रकृतिविद्या–'ईश्वरानन्यताविद्या' (विद्यात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
४–भूतात्मविद्यायाः —अव्ययात्माभिमता–प्रकृतिविद्या–'निष्कामकर्मविद्या' (विद्यात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मिका विद्या वा)
—सैषा प्रकृतिविद्याचतुष्टयी सिद्धावस्थापन्ना

१–अनासक्तिविद्यात्मकबुद्धिगुणानुयायी–प्रकृतियोगः–'वैराग्यबुद्धियोगः' (योगात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मको योगो वा)
२–अन्तर्ज्योतिर्विद्यात्मकबुद्धिगुणानुयायी–प्रकृतियोगः–'ज्ञानबुद्धियोगः' (योगात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मको योगो वा)
३–ईश्वरानन्यताविद्यात्मकबुद्धिगुणानुयायी–प्रकृतियोगः–'ऐश्वर्यबुद्धियोगः' (योगात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मको योगो वा)
४–निष्कामकर्मविद्यात्मकबुद्धिगुणानुयायी–प्रकृतियोगः–'धर्मबुद्धियोगः' (योगात्मिका बुद्धि–बुद्ध्यात्मको योगो वा)
—सैषा प्रकृतियोगचतुष्टयी सिद्धावस्थापन्ना

१–अनासक्तिविद्या—'विद्या'–(१)–वैराग्यबुद्धियोगो–'योगः'
२–अन्तर्ज्योतिर्विद्या—'विद्या'–(२)–ज्ञानबुद्धियोगो—'योगः'
३–ईश्वरानन्यताविद्या 'विद्या'–(३)–ऐश्वर्यबुद्धियोगो–'योगः'
४–निष्कामकर्मविद्या—'विद्या'–(४)–धर्मबुद्धियोगो—'योगः'

}—प्रकृतिविद्यात्मिका प्रकृतियोगचतुष्टयी

१–निस्वात्मविद्यात्मकस्तुरीयगुणावच्छिन्नोऽव्ययोग–पुरुषयोग –'ई'

२–ईश्वरात्मविद्यात्मकस्तुरीयगुणावच्छिन्नोऽव्ययोग—पुरुषयोग

३–दीक्षात्मविद्यात्मकः बुद्धिगुणावच्छिन्नोऽव्ययोग–पुरुष

४–सूत्रात्मविद्यात्मको बुद्धिगुणावच्छिन्नोऽव्ययोग–

—सैषा

–

१–निस्वात्मविद्या–विद्या,–१–वैराग्ययोगो

२–ईश्वरात्मविद्या– विद्या,–२–ज्ञानयोगो

३–दीक्षात्मविद्या—विद्या,–३–ऐश्वर्य

४–सूत्रात्मविद्या—विद्या,–४–धर्मयोग

(छ)–सर्वसंग्रहपरिलेख (७)

---

१ १–निरञ्जनात्मविद्या—वैराग्ययोगः——स्थितिगुणात्मकः (सिद्धपुरुषविद्या, योगश्च,–राजपविद्या, सत्यस्योगः

२–अनासक्तिविद्या—वैराग्यबुद्धियोगः—स्थितिगुणानुगतः (सिद्धप्रकृतिविद्या, योगश्च)–हारविद्या, हारयोगः

३–मार्षर्षिविद्या——वैराग्यहेतुकबुद्धियोग-स्थितिगुणोदयहेतुः (आत्मविकृतिविद्या, योगश्च)–अनुग्रेषविद्या अनुग्रेषयोगः

---

२ १–ईश्वरात्मविद्या—ज्ञानयोगः———मुक्तिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)

२–अन्तर्यामीविद्या ज्ञानबुद्धियोगः——मुक्तिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः) ,,

३–सिद्धविद्या——ज्ञानहेतुकबुद्धियोग-मुक्तिगुणोदयहेतुः (साध्यविद्या साध्ययोगः)

---

३ १–जीवात्मविद्या——ऐश्वर्ययोगः———मुक्तिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)

२–ईश्वरानन्यविद्या—ऐश्वर्यबुद्धियोगः—मुक्तिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः) ,,

३–राजविद्या—— —ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोग-मुक्तिगुणोदयहेतुः (साध्यविद्या साध्ययोगः)

---

४ १–भूतात्मविद्या——धर्मयोगः———मुक्तिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)

२–निष्कामकर्मविद्या–धर्मबुद्धियोगः——मुक्तिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)

३–आर्षविद्या——धर्महेतुकबुद्धियोग–मुक्तिगुणोदयहेतुः (साध्यविद्या, साध्ययोगः)

(ज)–योगीभावपरिलेखः–(८)

१–राजर्षिविद्यानुगतवैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुगतो योगी—(सुज्ञानयोगी–विवेकात्मा)
२–अनासक्तिविद्यात्मकवैराग्यबुद्धियोगे प्राप्तो योगी——(सुकर्मयोगी—सुकर्मात्मा)
३–निरञ्जनात्मविद्यात्मकवैराग्ययोगी समाहितो योगी——(सुभक्तयोगी योगी–सुभक्तात्मा)

(घ)—बुद्धिविद्याचतुष्टयानुगता -बुद्धियोगचतुष्टयी- परिलेख—(६)

(साम्यविद्यानुगता—साम्ययोगचतुष्टयी)

१—निरुद्धात्मनिष्ठामभिलक्ष्यात्मविद्यात्मकप्रवर्त्तिता— बुद्धिविद्या—'राजर्षिविद्या' (विद्यात्मक उपदेश, उपदेशात्मिका विद्या वा)
२—ईश्वरात्मविद्यामभिलक्ष्यमौलिविद्यात्मकप्रवर्त्तिता—बुद्धिविद्या—'सिद्धविद्या' („)
३—जीवात्मविद्यामभिलक्ष्येश्वरानन्दविद्यात्मकप्रवर्त्तिता—बुद्धिविद्या—'राजविद्या' („ „)
४—भूतात्मविद्यामभिलक्ष्यनिष्कामविद्यात्मकप्रवर्त्तिता——बुद्धिविद्या 'आर्षविद्या' („ „)

—सैषा बुद्धिविद्याचतुष्टयी लभ्यावस्थापना

—•—

१—राजर्षिविद्यानुगतस्तत्त्विकसुखोपलक्षणभूत—बुद्धियोग—वैराग्यहेतुकबुद्धियोग (योगात्मक उपदेश उपदेशात्मको योगो वा)
२—सिद्धविद्यानुगतस्तत्त्विकसुखोपलक्षणभूत——बुद्धियोगः—'ज्ञानहेतुकबुद्धियोग' („ „)
३—राजविद्यानुगतः पुष्टिसुखोपलक्षणभूत——बुद्धियोग —'ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोग' („ „)
४—आर्षविद्यानुगतो मुक्तिसुखोपलक्षणभूतः—बुद्धियोग— धर्महेतुकबुद्धियोग („ „)

—सैषा बुद्धियोगचतुष्टयी लभ्यावस्थापना

—•—

१—राजर्षिविद्या—'विद्या —(१)—वैराग्यहेतुकबुद्धियोगो— योगः'
२—सिद्धविद्या—'विद्या —(२)—ज्ञानहेतुकबुद्धियोगो—'योगः'
३—राजविद्या—'विद्या'—(३)—ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोगो-'योगः'
४—आर्षविद्या— विद्या' (४)—धर्महेतुकबुद्धियोगो—'योगः'

}—बुद्धिविद्यानुगता बुद्धियोगचतुष्टयी

—•—

(ञ)-विद्याभावपरिलेखः (१०)

१–वैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुगता–राजर्षिविद्या वैराग्यनिबन्धना, रागद्वेषमलोपशमना ।

—सैषा गीतायां प्रथमा विद्या ।

२–ज्ञानहेतुकबुद्धियोगानुगता–सिद्धविद्या–ज्ञाननिबन्धना अविद्यात्मकमोहोपशमना ।

—सैषा गीतायां द्वितीया विद्या ।

३–ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोगानुगता–राजविद्या–ऐश्वर्यनिबन्धना अस्मितोपशमना ।

—सैषा गीतायां तृतीया विद्या ।

४–धर्महेतुकबुद्धियोगानुगता–आर्षविद्या–धर्मनिबन्धना, अभिनिवेशोपशमना ।

—सैषा गीतायां चतुर्थी विद्या ।

१०–पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादित विद्याचतुष्टयी, तथा बुद्धियोगचतुष्टयी का स्वरूपविश्लेषण किया गया । अब इस सम्बन्ध में वे प्रश्न शेष रह जाते हैं कि, इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है ?, चारों बुद्धियोगों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है ?, कौन किस बुद्धियोग का अधिकारी है ? । इन्हीं शेष प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-प्रेमी पाठकों के सम्मुख 'गीताशास्त्रपरीक्षात्मक' बुद्धियोगपरीक्षा का 'उत्तरखण्ड' उपस्थित होने जा रहा है । प्रस्तुत पूर्वखण्ड में विद्या-नुगत जिस बुद्धियोग का परिचय कराने की चेष्टा हुई है, वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है । कालविक्रम से वेदतत्त्वविलुप्ति से सर्वोपरि साम्प्रदायिक संघर्ष के अनुग्रह से गीता का यह तत्त्व लुप्त हो चला था । वही आज उसी गीताचार्य श्रीमधुसूदन के अनुग्रह से पुनः दृष्टिपथानुगामी बनने जा रहा है । बुद्धियोगात्मक यह अभिनव किन्तु पुरातन प्रतीत दृष्टिकोण सम्प्रदायमत्त वर्त्तमान विद्वत्समाज का अनुरञ्जन करे अथवा न करे ?, यह प्रश्न तो पहिले से ही शेष प्रश्न बना आ रहा है । अतः इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही श्रेयः-पन्था है । हाँ; जो वास्तव में जिज्ञासु हैं श्रेयःपन्था के अन्वेषक हैं, और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं उनका दृष्टिकोण अवश्य ही वैसे जिज्ञासुओं का किसी सीमापर्य्यन्त अनुरञ्जन कर सकेगा । इसी बुद्धियोगानुरक्तिकामना के साथ प्रकरणत्रयात्मक–बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत होता है ।

—श्रीमद्धामनेन योगात्मात्ययप्रमुरूपो भगवान् मधुसूदनः

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३

इति–प्रकरणत्रयात्मिका–पूर्वखण्डात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं–तत्–सत्–ब्रह्मणे नमः

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

१–रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्'विधेयात्मा'–प्रसादमधिगच्छति ॥
(स एष–विधेयात्मा)

२–उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि 'युक्तात्मा' मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
—गी० ७।१८ (स एष–युक्तात्मा)।

३–योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे 'युक्ततमो' मतः ॥
—६।४७ (स एष–युक्ततमात्मा)
—एवं सर्वत्र

(ख)–योगभावपरिलेखः (६)

(१)–धर्मविद्यानुगत–वैराग्यबुद्धियोगानुगमनेन साधनभूतेन–बीजात्मना–अनासक्तिविद्यात्मक–वैराग्यबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च–निष्कामकर्मात्मकवैराग्ययोगात्मके पुरुषयोगे प्रवेशः–सैषा बीजात्मनः क्रमक्रमता, पूर्णमुक्तिधारा ।

(२)–ज्ञानविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोगानुगमनेन साधनभूतेन–बीजात्मना–अन्तर्ज्योतिर्विज्ञानात्मकज्ञानबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च ईश्वरात्मविद्यात्मकज्ञानयोगात्मके पुरुषयोगे प्रवेशः । सैषा बीजात्मना क्रमक्रमता पूर्णमुक्तिधारा ।

(३)–राजविद्यानुगत–ऐश्वर्यबुद्धियोगानुगमनेन साधनभूतेन–बीजात्मना–ईश्वरानन्यताविद्यात्मक–ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च बीजात्मविद्यात्मक–ऐश्वर्ययोगात्मके पुरुषयोगे प्रवेशः । सैषा बीजात्मनः क्रमक्रमता, पूर्णमुक्तिधारा ।

(४)–आर्षविद्यानुगत–धर्मबुद्धियोगानुगमनेन साधनभूतेन–बीजात्मना–निष्कामकर्मविद्यात्मक–धर्मबुद्धियोगात्मके प्रकृतियोगे प्रवेशः । तद्द्वारा च–बुद्धात्मविद्यात्मक–धर्मयोगात्मके पुरुषयोगे प्रवेशः । सैषा बीजात्मनः क्रमक्रमता, पूर्णमुक्तिधारा ।

(ञ)-विद्याभावपरिलेखः (१०)

१–वैराग्यहेतुकबुद्धियोगानुगता–राजर्षिविद्या वैराग्यनिबन्धना, रागद्वेषमोहोपशमना ।
—सैषा गीतायां प्रथमा विद्या ।

२–ज्ञानहेतुकबुद्धियोगानुगता–सिद्धविद्या–ज्ञाननिबन्धना अविद्यात्मकमोहोपशमना ।
—सैषा गीतायां द्वितीया विद्या ।

३–ऐश्वर्यहेतुकबुद्धियोगानुगता–राजविद्या–ऐश्वर्यनिबन्धना अस्मितोपशमना ।
—सैषा गीतायां तृतीया विद्या ।

४–धर्महेतुकबुद्धियोगानुगता–आर्षविद्या–धर्मनिबन्धना, अभिनिवेशोपशमना ।
—सैषा गीतायां चतुर्थी विद्या ।

१०–पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादित विद्याचतुष्टयी तथा बुद्धियोगचतुष्टयी का स्वरूपविश्लेषण किया गया । अब इस सम्बन्ध में ये प्रश्न शेष रह जाते हैं कि इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है ?, चारों बुद्धियोगों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है ?, कौन किस बुद्धियोग का अधिकारी है ? । इन्हीं शेष प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-प्रेमी पाठकों के सम्मुख 'गीतासारपरीक्षात्मक' बुद्धियोगपरीक्षा का 'उत्तरखण्ड' उपस्थित होने जा रहा है । प्रस्तुत पूर्वखण्ड में विद्यायुक्त जिस बुद्धियोग का परिचय कराने की चेष्टा हुई है, वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है । अज्ञातिक्रम से वेदतत्त्वविद्विभूति के सर्वोपरि सम्प्रदायविद् समर्थ के अनुग्रह से गीता का यह तत्त्व स्पष्ट हो चला था । वही आज उसी गीताचार्य श्रीमधुसूदन के अनुग्रह से पुनः दृष्टिपथानुगामी बनने जा रहा है । बुद्धियोगात्मक यह परिष्कृत किन्तु सूक्ष्मरूप प्रतीत दृष्टिकोण सम्प्रदायमत्त वर्तमान विद्वत्समाज का अनुरञ्जन करे अथवा न करे ! यह प्रश्न स्वतः से ही शेष प्रश्न बना आ रहा है । अतः इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही श्रेयःपन्था है । हाँ; जो वास्तव में जिज्ञासु हैं श्रेयःपन्था के अन्वेषक हैं, और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं परन्तु दृष्टिकोण अवश्य ही ऐसे जिज्ञासुओं का किसी सीमापर्यन्त अनुरञ्जन करेगा । इसी बुद्धियोगानुप्रेक्षाकामना के साथ प्रकरणत्रयात्मक-बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत होता है ।

—श्रीमदासनेन योगात्मप्रत्ययपुरुषो भगवान् मधुसूदनः

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३

इति-प्रकरणत्रयात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं-तत्-सद्-ब्रह्मणे नमः

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्री

प्रकरणत्रयात्मक-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक

पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

श्री

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–

सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक–तृतीयखण्डानुगता

'ग' कार विभागात्मिका

बुद्धियोगपरीक्षा (पूर्वखण्डात्मिका)

उपरता

प्रीयवामनया बुद्धियोगनिष्ठो योगेश्वरः–

भगवान् मधुसूदनः

इति शम्

श्रीः

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान जयपुर' के तत्त्वावधान से अनुप्राणित
एवं प्राच्य वैदिक-साहित्य की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा परिभाषाओं से समन्वित
राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपनिबद्ध

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

[निबन्धा—मोतीलालशर्म्मा—आङ्गिरसो भारद्वाजः]

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य—प्रथमवर्ष*	६	१)
२— —द्वितीयवर्ष*	४	१)
३— —तृतीयवर्ष*	४५०	१)
४— ,, —चतुर्थवर्ष	४७	१२)
५— ,, —पञ्चमवर्ष	१५	७)
६—शतपथभाष्य—वैज्ञानिकी विषयसूची *	१ ०	२)
७—ईशोपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड (१)	५	१२)
८— द्वितीयखण्ड (२)	५	१२)
९—माण्डूक्योपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य *	६	१)
१ —गीताविज्ञानभाष्यभूमिका—बहिरङ्गपरीक्षा	५	१३)
११— —आत्मपरीक्षा	५	११)
१२— —ब्रह्मकर्मपरीक्षा*	६	१५)
१३— ,, —कर्मयोगपरीक्षा*	५	१५)
१४— —बुद्धियोगपरीक्षा—पूर्वखण्ड	७	२)
१५—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—प्रथमखण्ड (१)	५	१२)
१६—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्ड (२)	५	१५)
१७— तृतीयखण्ड (३)	५	१५)
१८—आत्मविज्ञान—ब्रह्मविज्ञानोपनिषत्—प्रथमखण्ड (१)	५५	२)
१९— ,, —अधिदैवतविज्ञानोपनिषत्—द्वितीयखण्ड (२)	६	१५)
१ —भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता—प्रथमखण्ड (१)	५५	१२)

चिह्नाङ्कित ग्रन्थ परिसमाप्त हैं। पुनः प्रकाशित होने पर ही वे उपलब्ध हो सकेंगे।

([illegible])

२१—[illegible] ([illegible]) १ १॥)

२२—[illegible] १॥)

२३—[illegible]

२४—[illegible]

२५—मानव का [illegible]

२६—[illegible]

२७—[illegible] } [illegible] १)

२८—वेद का [illegible] २)

२९—क्या हम मानव हैं ? ॥)

३०—[illegible])

३१—[illegible] १)

३२—[illegible] १)

३३—[illegible] १)

[illegible]—

कृष्णचन्द्र [illegible]

[illegible]

राजस्थान [illegible]

[illegible]

[illegible] ([illegible]—राजस्थान)

